श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रील श्रीजीवगोस्वामिप्रभुपाद-विरचिते

श्रीभागवतसन्दर्भे

चतुर्थः

श्रीकृष्णसन्दर्भः

(सर्वसम्वादिनी एवं विनोदिनी टीकोपेतः)





श्रीहरिदास शास्त्री

सङ्गणकसंस्करणं दासाभासेन हरिपार्षददासेन कृतम्

श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रील श्रीजीवगोस्वामिप्रभुपाद-विरचिते

श्रीभागवतसन्दर्भे
चतुर्थः

("सर्वसम्वादिनी एवं विनोदिनी" टीकोपेतः)

श्रीकृष्णसन्दर्भः

श्रीवृन्दावनधामवास्तव्येन न्यायवैशेषिकशास्त्र, नव्यन्यायाचार्य्य,
काव्यव्याकरणसांख्यमीमांसा वेदान्ततर्कतर्कतर्क
वैष्णवदर्शनतीर्थाद्युपाध्यलङ्कृतेन
श्रीहरिदासशास्त्रिणा
सम्पादितः ।

सद्ग्रन्थ प्रकाशक :—
श्रीहरिदासशास्त्री
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस,
श्रीहरिदास निवास, कालीदह, पो० वृन्दावन ।
जिला–मथुरा (उत्तर प्रदेश)

प्रकाशक :—
श्रीहरिदासशास्त्री
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस,
श्रीहरिदास निवास।
पुराणा कालीदह।
पो०—वृन्दावन।
जिला—मथुरा। (उत्तर प्रदेश)

द्वितीयसंस्करणम्—पञ्चशतम्

प्रकाशनतिथि
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत
श्री-श्रील विनोदविहारी गोस्वामी प्रभु विरह तिथि
पौष कृष्णा द्वितीया १०।१२।८४
श्रीगौराङ्गाब्द ४९८

मुद्रकः—
श्रीहरिदास शास्त्री
श्रीहरिदास निवास, कालीदह,
पो० वृन्दावन, जिला—मथुरा,
(उत्तर प्रदेश) पिन—२८११२१

※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ※

विज्ञप्ति

"श्रीकृष्णसन्दर्भ" श्रीजीवगोस्वामि प्रणीत दर्शन ग्रन्थ है, यह ग्रन्थ श्रीभागवतसन्दर्भ एवं षट्सन्दर्भ नाम से सुविख्यात है, श्रीमद् भागवतस्थ सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन तत्त्व प्रतिपादन में प्रवृत्त होने के कारण—नाम—श्रीभागवतसन्दर्भ है, एवं तत्त्व, भगवत्, परमात्म, श्रीकृष्ण, भक्ति, प्रीति रूप षट् खण्ड में विभक्त हेतु षट् सन्दर्भ नाम हुआ है।

तन्मध्य में तत्त्व, भगवत्, परमात्म, श्रीकृष्णसन्दर्भ में श्रीमद् भागवतोक्त सम्बन्ध तत्त्व का प्रतिपादन हुआ है, भक्ति सन्दर्भ में अभिधेय तत्त्व भक्ति का, एवं प्रीति सन्दर्भ में प्रयोजन तत्त्व,—प्रीति का वर्णन है।

उत्तम शिक्षा के द्वारा ही मानवीय सर्वाङ्गीण ऐक्य सम्भव है, निखिल प्रमाण शिरोमणि श्रीमद् भागवत ग्रन्थ के अवलम्बन से सर्व मानवीय साध्य साधन में एकता स्थापन सम्भव है, इस में एक अद्वय ज्ञानतत्त्व ही परतत्त्व है, साधक की दृष्टि भेद से वह परतत्त्व ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् एवं श्रीकृष्ण रूप में दृष्ट होते हैं सुशील मृदुवदान्य एवं सर्वहित कारी श्रीकृष्णके आदर्श से प्रेरित होकर मानव सर्वक्षेत्रमें हार्दिक ऐक्य प्राप्त कर सकता है। कारण—श्रीकृष्ण ही एकमात्र घनीभूत परमानन्द हैं।

यह ग्रन्थ केवलमात्र श्रीमन्महाप्रभु श्रीचैतन्य देव प्रवर्त्तित वैष्णवधर्मावलम्बियों की धार्मिक भित्ति है, यह नहीं, किन्तु सर्वमानवीय आभ्युदयिक धर्मभित्ति यह ही है।

विश्वसमुज्ज्वलकारी शिक्षा एक मात्र वृन्दावनीय शिक्षा ही है, इस में ही निज कायिक वाचिक मानसिक समस्त आचरणों के द्वारा अपर को सदा उल्लसित देखने की पद्धति है।

श्रीमद् भागवत को प्रमाण रूप में स्थापन करना जिस प्रकार दुरूह व्यापार है, उससे भी अत्यन्त दुरूह है, श्रीमद् भागवत के अवलम्बन से श्रीकृष्ण तत्त्व, उनके परिकर तत्त्व, भक्ति तत्त्व एवं धामतत्त्वका प्रतिपादन।

सन्दर्भ ग्रन्थ में ही श्रीजीव गोस्वामी महोदय की अलोकसामान्य प्रतिभा द्वारा उक्त तत्त्व समूह का स्थापन निःसन्दिग्ध रूप से हुआ है।

यह ग्रन्थ केवल कपोलकल्पित नहीं है, किन्तु श्रुति प्रभृति प्रमाण सम्मत है, तथा श्रीमन् मध्वाचार्य्य श्रीरामानुजाचार्य्य प्रतिपादित शास्त्रसिद्धान्त सम्मत है, श्रीचैतन्यचरणानुचर श्रीरूपसनातन गोस्वामिद्वय के सन्तोषार्थ दाक्षिणात्य विप्रकुलोद्भव श्रीगोपालभट्ट गोस्वामिचरण के द्वारा संगृहीत ग्रन्थ ही प्रस्तुत सन्दर्भ का आदर्श है, ग्रन्थारम्भ में उसका उल्लेख इस प्रकार है—

'तौ सन्तोषयता सन्तौ श्रीलरूपसनातनौ
दाक्षिणात्येन भट्टेन पुनरेतद्विविच्यते।
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्तव्युत्क्रान्तखण्डितम्।
पर्य्यालोच्याथ पर्य्यायं कृत्वा लिखति जीवकः॥"

जिस ग्रन्थमें गूढ़ार्थ का प्रकाश, सारोक्ति, श्रेष्ठता, एवं विविध ज्ञातव्य विषय निर्दिष्ट रूपसे सन्निविष्ट है, उसे सन्दर्भ कहते हैं।

" गूढ़ार्थस्य प्रकाशश्च सारोक्तिः श्रेष्ठता तथा
नानार्थवत्त्वं वेद्यत्वं सन्दर्भः कथ्यते बुधैः" ॥

निखिल उपनिषद् समुद्र मन्थन पूर्वक महर्षिवेदव्यास—वेदान्त सूत्र अथवा ब्रह्मसूत्र का प्रणयन किये हैं, अनन्तर उक्त ब्रह्म सूत्रार्थ का तात्पर्य्य प्रकाश हेतु श्रीमद् भागवत ग्रन्थ प्रणयन किये थे, अतएव गरुड़ पुराणोक्त वचनानुसार "अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां" श्रीमद् भागवत ही वेदान्त सूत्र कार व्यासदेव कृत अकृत्रिम वेदान्तसूत्रभाष्य है, जिसका समन्वय--श्रीहरिदास शास्त्रिकृत 'वेदान्त दर्शन' नामक ग्रन्थ में समुपलब्ध है।

श्रीमद् भागवत में वर्णित है—'वदन्ति तत्तत्त्व विदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।

एवं अद्वय ज्ञानतत्त्व की ज्ञान योग भक्ति नामक साधनत्रय से त्रिधा अभिव्यक्ति होती है, परतत्व किसी भी अवस्था में निःशक्तिक नहीं है,साधक की दृष्टि से ही अनभिव्यक्तशक्तिक प्रतीत होते हैं। कारण— "परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" श्रुति संवाद है। अतः श्रीवेदव्यास के अभीप्सित ब्रह्म निःशक्तिक नहीं हैं, किन्तु सविशेष हैं, अनन्त शक्ति सम्पन्न ब्रह्म में शक्ति त्रय का प्राधान्य है, अन्तरङ्गाचिच्छक्ति, वहिरङ्गा माया शक्ति एवं तटस्था शक्ति—जीव शक्ति है।

चिच्छक्ति—नित्य ही स्वरूप में अवस्थित होने से उसका नाम स्वरूप शक्ति भी है।

मायाशक्ति—कभी भी ब्रह्म स्वरूप को स्पर्श नहीं करती है, अतः उसका नाम वहिरङ्गाशक्ति है, अन्तरङ्गा वहिरङ्गा उभय शक्ति के सहित ही जीवशक्ति का योग सम्भव है, तज्जन्य उसे तटस्थाशक्ति कहते हैं, जीव शक्ति विशिष्ट ब्रह्म का अंश ही जीव है, जीव,—ब्रह्मका चित्कण अंश है, स्वरूपतः ब्रह्म का दास है।

"दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन" श्रुति।

"कारणस्य आत्मभूता शक्तिः, शक्तेश्च आत्मभूतं कार्य्यम्" इस नियम से ब्रह्म नित्य सक्रिय शक्ति समन्वित हैं, शक्ति भी निरन्तर सक्रिय है, कारण, शक्ति नित्य सक्रिय न होने से उसका अस्तित्व का ज्ञान ही नहीं होगा। चिच्छक्ति की विलास वैचित्री के प्रकार भेद से ब्रह्म भी अनादि काल से विभिन्न रूप से अभिव्यक्त होते रहते हैं, उक्त चिच्छक्ति का ही विलास फल स्वरूप विभिन्न स्वरूप के विभिन्न धाम भी हैं, एवं तत्तत् धाम में उक्त विभिन्न स्वरूप निज निज स्वरूपानुकूल लीलादि में भी विलसित हैं। तज्जन्य, प्रत्येक धाम में ही स्वरूप शक्ति के विलासोपयोगी परिकरादि भी हैं, स्वरूप शक्ति का विलास विद्यमान होने के कारण ही उक्त स्वरूप समूह को भगवान् कहते हैं।

सच्चिदानन्द ब्रह्म वस्तु एवं उनकी शक्ति, तथा स्वरूप शक्ति का विलास वैचित्र्य नित्य होने के कारण, उक्त समस्त भगवत् स्वरूप, उनके धाम, एवं परिकर, लीलादि भी नित्य हैं।

परतत्त्व में स्वरूप शक्ति का विलास तारतम्य जब है, तब जिस अवस्था में स्वरूप शक्ति का विलास सुपरिस्फुट नहीं है, इस प्रकार एक स्वरूप स्वीकार करना भी कर्त्तव्य है, इस स्वरूप को निर्विशेष ब्रह्म कहते हैं, जहाँपर यह स्वरूप विद्यमान है, वह धाम भी निर्विशेष है, वहाँ चिच्छक्ति अवश्य है, किन्तु चिच्छक्ति का विलास नहीं है।

जिस में समस्त शक्ति की पूर्णतम रूप में अभिव्यक्ति है, इस प्रकार एक स्वरूप भी स्वीकार्य्य है, इस स्वरूप में ही ब्रह्म का ब्रह्मत्व की पूर्णतम अभिव्यक्ति है, इस स्वरूप का नाम ही नराकृति पर ब्रह्म व्रजेन्द्र नन्दन श्रीकृष्ण हैं, अद्वय ज्ञान तत्त्व रूप परतत्व की पर्य्याप्ति भी व्रजेन्द्र नन्दन श्रीकृष्ण में है। अतः

"यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे भक्ति रुत्पद्यते पुंसां शोकमोहभयापहा" के द्वारा एक अद्वय ज्ञान तत्त्व के नाम चतुष्टय का प्रदर्शन श्रीमद्भागवत में हुआ है ।

व्रजीय श्रीकृष्ण में समस्त शक्ति की पूर्णतम अभिव्यक्ति होने के कारण श्रीकृष्णचन्द्र ही पूर्णतम भगवान्, अथवा स्वयं भगवान् हैं, श्रीकृष्ण ही लीला पुरुषोत्तम हैं, "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्, कृष्ण वै परम दैवतम्" से उनका ही कथन हुआ है ।

श्रीकृष्ण की भगवत्ता,—अन्य निरपेक्ष है, श्रीकृष्ण,—स्वयं सिद्ध—सजातीय—विजातीय—स्वगत भेदत्रय शून्य हैं । अतएव श्रीकृष्ण ही अद्वय ज्ञान तत्त्व हैं ।

अन्यान्य भगवत् स्वरूप में श्रीकृष्ण की ही स्वरूप शक्ति का आंशिक विकाश है, एवं उन सब की भगवत्ता,— श्रीकृष्ण की भगवत्ता से विनिःसृत होने के कारण—वे सब कोई भी स्वयं भगवान् नहीं हैं ।

श्रीकृष्ण धाम का साधारण परिचायक शब्द श्री कृष्ण लोक है, इस की द्वारका, मथुरा, एवं गोकुल रूप में त्रिविध अभिव्यक्ति हैं । किन्तु द्वारका, मथुरा की अपेक्षा श्रीगोकुल का ही असमोर्द्ध्व वैशिष्ट्य है, श्रीगोकुल ही स्वयं रूप श्रीनन्द नन्दन का निजस्व धाम है । गोलोक उक्त धामका वैभव विशेष है ।

अपरापर भगवत् स्वरूप के विभिन्न धाम समूह का साधारण नाम 'परव्योम' है । परव्योमस्थ सविशेष धाम समष्टि के वहिर्देश में 'सिद्ध लोक' नामक एक निर्विशेष ज्योतिर्मय स्थान है, यह ही निर्विशेष ब्रह्म का धाम है ।

सिद्ध लोक के बाहर चिन्मय वेदाङ्ग जल पूर्ण कारणसमुद्र परिखावत् परव्योम को वेष्टन कर अवस्थित है । इस कारण समुद्र के बाहर वहिरङ्गामाया शक्ति का विलासस्थल—प्राकृत ब्रह्माण्ड है ।

श्रीकृष्ण की विलास मूर्त्ति—परव्योमाधिपति चतुर्भुज श्रीनारायण हैं, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध नामक उनके चतुर्व्यूह हैं । सङ्कर्षण के अंशावतार सहस्रशीर्षा पुरुष,कारणार्णव में स्थित हैं, इनका अपर नाम, महाविष्णु हैं, इनकी प्रथम पुरुष संज्ञा भी है । महाप्रलय में जीव निचय, इनके शरीर में अवस्थित होते हैं, एवं सृष्टि के प्रारम्भ में भगवदिच्छा से साम्यावस्थापन्ना त्रिगुणात्मिका प्रकृति के प्रति आप दृष्टि द्वारा शक्ति सञ्चार करते हैं, एवं निज देह में लीन जीव निवह को समर्पण करते हैं । प्रकृति क्षोभिता होकर विकार प्राप्त होती है, एवं उक्त पुरुष की शक्ति से प्रकृति से अनन्त ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है ।

कारणार्णवशायी प्रथम पुरुष, समष्टि ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी अथवा नियन्ता हैं, ब्रह्माण्ड सृष्टि के अनन्तर आप व्यष्टि ब्रह्माण्ड के अन्तर्य्यामिरूप से एक एक ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होते हैं, व्यष्टि ब्रह्माण्ड के अन्तर्य्यामी भी सहस्रशीर्षा पुरुष हैं, उनको द्वितीय पुरुष एवं गर्भोदकशायी भी कहते हैं । इनसे ब्रह्मा, विष्णु, एवं रुद्र का आविर्भाव होता है । रजोगुण को अवलम्बन कर ब्रह्मा चतुर्दश भुवन एवं व्यष्टि जीवकी सृष्टि करते हैं, तमोगुण को अङ्गीकार कर रुद्र,—प्रलय समय में ब्रह्माण्ड को विनष्ट करते हैं,श्रीविष्णु सत्त्व गुण के प्रति दृष्टि निक्षेप करतः ब्रह्माण्ड का पालन करते हैं ।

यह विष्णु ही व्यष्टि जीवान्तर्य्यामी हैं, चतुर्भुज हैं, एवं क्षीर समुद्र में अवस्थान हेतु उनको क्षीरोदशायी तृतीय पुरुष, अनिरुद्ध कहते हैं । पुरुषत्रय का नाम ही अन्तर्य्यामी है,सुतरां परमात्मा-नियन्ता हैं । पुरुषत्रय का कार्य्य वहिरङ्गा माया शक्ति के अवलम्बन से है । वे सब ही सङ्कर्षण के अंशांश हेतु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के अंश कलामात्र हैं ।

अन्तर्य्यामी में शक्ति विकाश निबन्धन अन्तर्य्यामी परमात्मवृन्द,शक्ति विकाश हीन निर्विशेष ब्रह्म से श्रेष्ठ हैं, इन सब के अंशी होने के कारण, परव्योमाधिपति नारायण—परमात्मवृन्द से श्रेष्ठ हैं, श्रीनारायण से द्वारका मथुराधिपति श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं, द्वारका मथुराधिपति श्रीकृष्ण से स्वयं भगवान्

नन्दनन्दन श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं ।

श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता केवल सन्दर्भ ग्रन्थ में श्री जीव गोस्वामि चरण के द्वारा अविसंवादित सत्य रूप में प्रतिपादित हुई है, एतद्व्यतीत परतत्त्व में शक्ति स्वीकार करने वाले आचार्यों के मत में श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् स्वीकृत नहीं हैं, मतवाद इस प्रकार है—श्रीकृष्ण—नारायण के अंश हैं, वासुदेव हैं, महाविष्णु का अवतार है, केशावतार हैं, कारणार्णवशायी का अवतार हैं, भूमापुरुष का अवतार हैं, अनिरुद्ध का अवतार हैं, विकुण्ठासुत हैं, वामन का अवतार हैं, राम का अवतार हैं ?

अतएव गौड़ीय सम्प्रदाय व्यतीत अन्यत्र श्रीकृष्ण स्वरूप, व्रज एवं व्रजपरिकर एवं व्रज भक्ति की नित्यता स्वीकृत नहीं है । अवतार ग्रहण के अनन्तर निज अंशो में श्रीकृष्ण लीन होते हैं । अतएव श्रीकृष्ण व्रजभक्ति, व्रज परिकर व्रज धाम, श्रीकृष्ण नाम को स्वीकार, एक मात्र भागवत सन्दर्भ से ही होता है । श्रीश्रीभागवत सन्दर्भ ग्रन्थ निखिल दर्शन शास्त्र समूह के मध्य में अपूर्व रत्न विशेष है । उस में भी श्रीकृष्ण सन्दर्भ कौस्तुभ मणि तुल्य है ।

स्वीय अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से नराकृति पर ब्रह्म श्रीकृष्ण, समस्त विरुद्ध धर्म का आश्रय हैं, उन में अणुत्व विभुत्व युगपत् वर्त्तमान हैं, एवं भगवद्धामादि भी "सर्वग, अनन्त, विभु कृष्ण तनुसम हैं ।"

भगवत् स्वरूप समूह के धाम, लीला एवं परिकरादि तत्तत् भगवत् स्वरूप के अनुरूप हैं । सुतरां स्वरूप शक्ति के विलास वैचित्री के तारतम्य के अनुसार अन्यान्य भगवत् स्वरूप के धाम, परिकर लीलादि से श्रीनारायण के धाम परिकर लीलादि श्रेष्ठ हैं, श्रीनारायण से द्वारका मथुरा का धाम माहात्म्य परिकर लीलादि श्रेष्ठ हैं । एवं द्वारका मथुरा से श्रीगोकुल के धाम माहात्म्य परिकर लीलादि का अपूर्व वैशिष्ट्य है ।

नन्द नन्दन श्रीकृष्ण,—गोकुल में, दास सखा पिता माता एवं प्रेयसी वृन्द के सहित दास्य सख्य वात्सल्य एवं मधुर रस आस्वादन करते हैं, एवं स्वीय परिकर वृन्द को अपूर्व आनन्द चमत्कारिता का आस्वादन कराते रहते हैं ।

श्रीकृष्ण के गोकुल परिकर वृन्द के मध्य में श्रीकृष्ण प्रेयसी वृन्द का विशेषत्व सर्वातिशायी है । वे सब श्रीकृष्ण क्रीड़ा तनु हैं, एवं प्रेयसी हैं, तथा श्रीकृष्ण के द्वारा अपरिणीत सम्बन्धान्वित हैं, अन्तरङ्ग प्रेम सम्बन्ध से ही श्रीकृष्ण के सहित स्वाभाविक सम्बन्धान्वित हैं, भङ्गुर सामाजिक विवाह बन्धनान्वित नहीं हैं । जिस प्रकार लक्ष्मी नारायण में आनुष्ठानिक सम्पर्क नहीं है । तद्रूप ही जानना होगा ।

उक्त प्रेयसीवृन्द के मध्य में अखण्ड रसवल्लभा वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिका की रूप, गुण माधुर्य्य एवं रस परिवेशन परिपाटी सर्वातिशायी है ।

अखण्ड रस स्वरूप चिदानन्द घन मूर्त्ति श्रीनन्दनन्दन में ही परब्रह्मत्व का चरम विकाश है, एवं अखण्ड रस वल्लभा श्रीमती राधिका में ही स्वरूप शक्ति की चरम अभिव्यक्ति है । सुतरां शक्ति शक्तिमान् के परम अभिव्यक्ति स्वरूप युगलित श्रीराधाकृष्ण ही परम स्वरूप हैं ।

उक्त विषय समूह प्रतिपादन निबन्धन निम्नोक्त षोड़श प्रकरण अङ्कित हुये हैं—

श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता का विचार, परमात्मा के स्थान, स्वरूपादि निर्णय, स्वरूप, एवं तटस्थ लक्षण, परमात्मा का आकार, (१) लीलावतार का विचार, श्रीकृष्ण बलराम का वैशिष्ट्य, अवतार समूह का नित्यत्व एवं प्रकार भेद, अंशत्व का विवरण, विभूति विमर्श प्रभृति । (२) स्वयं भगवत्ता का विचार

प्रपञ्च में श्रीकृष्णावतरण का हेतु निर्देश, स्वांश, विभिन्नांश, स्वयं भगवत्ता के सम्बन्ध में यावतीय सन्देह निरसन, केशावतारत्व का खण्डन, विष्णु पुराण, महाभारत, नृसिंह पुराण एवं हरिवंश पुराण के सहित प्रस्तुत ग्रन्थोक्ति का विरोध एवं समाधान, श्रीभगवान् का लीलावतार कर्त्तृत्व एवं पुरुषावतार कर्त्तृत्व। (३) श्रीकृष्ण स्वरूप की नित्यता, श्रीमद् भागवत के महावक्ता एवं श्रोतृवृन्द का तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही है, श्रीमद् भागवत में अभ्यास अर्थात् बहुश उक्ति श्रीकृष्ण की ही है। एवं उक्त उक्ति समूह 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'' परिभाषा वाक्य के प्रतिनिधि वाक्य हैं। श्रीकृष्ण प्रतिनिधि रूप श्रीमद् भागवत का भी मुख्य तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही है, श्रीकृष्ण का ही पारतम्य, एवं द्विभुजत्वादि का विचार (४)।

श्रीबलदेव, प्रद्युम्न, एवं अनिरुद्ध का स्वरूप। (५) श्रीकृष्ण का रूप, विभुत्व, स्वयं रूपत्व, नराकारत्व, (६) श्रीधामतत्त्व, श्रीवृन्दावन एवं गोलोक का एकत्व, पृथिवी में प्रकाश मान धाम समूह, अप्राकृतत्व, धाम का नित्यत्व, गोलोक का नित्यत्व (८) श्रीकृष्ण परिकर की वर्णना, (९) यादवादि की श्रीकृष्णपार्षदता, गोपी विरह का नित्य पार्षदत्व, गोपीवृन्द की गुणमय देहत्याग मीमांसा, (१०) श्रीकृष्ण के नन्द यशोदा पुत्रत्वादि (११) श्रीकृष्ण लीला रहस्य, अप्रकट एवं प्रकट लीला, मन्त्रोपासनामयी एवं स्वारसिकी उपासना, परिकर गण की अभिमानक्रिया, एवं उन का प्रकाश भेद, (१२) प्रकट एवं अप्रकट लीला का समन्वय, श्रीकृष्ण का व्रज में स्थिति काल निर्णय, पुनर्बार व्रजागमन वृत्तान्त, अप्रकट लीला में प्रवेश, नन्दादि का परम वैकुण्ठ में प्रवेश एवं श्री कृष्ण का द्वारका गमन (१३) श्रीमद् भागवत में श्रीकृष्ण का व्रजागमन अस्पष्ट क्यों? (१४)

अप्रकट लीलागत भावविचार, यादव, एवं व्रजवासि वृन्द का स्वरूप विचार महिषीवृन्द का स्वरूप निर्णय। (१५)

व्रजदेवी का माहात्म्य, स्वरूप, श्रीराधा का स्वरूप, उत्कर्ष, श्रीराधामाधव युगलमाधुरी (१६) प्रभृति वर्णन के द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ में सम्बन्ध तत्त्व निरूपित हुआ है।

श्रीजीव गोस्वामिरचित ग्रन्थावली—

षट्सन्दर्भ, सर्वसम्वादिनी, श्रीहरिनामामृत व्याकरण, सूत्र मालिका, धातु संग्रह, भक्ति रसामृतशेष, श्रीमाधवमहोत्सव, श्रीगोपाल चम्पू, संकल्प कल्प वृक्ष, श्रीगोपाल विरुदावली, श्रीगोपाल तापनी टीका, ब्रह्मसंहिता टीका, रसामृतसिन्धु टीका, उज्ज्वलनीलमणि टीका, गायत्री भाष्य, क्रमसन्दर्भ, बृहत्क्रमसन्दर्भ, वैष्णव तोषणी, श्रीराधाकृष्णार्चन दीपिका, श्रीराधाकृष्ण करपद चिह्न समाहृति प्रभृति हैं।

परिचय—

प्रसिद्ध श्रीकृष्ण चैतन्य मतीय भक्ति ग्रन्थ प्रणेता श्रीजीव गोस्वामि चरण हैं, लघु वैष्णव तोषणी नाम्नी श्रीमद् भागवतीय टीका के उपसंहार में आत्म परिचय उन्होंने इस प्रकार अङ्कित किया है—

ऊर्द्ध्वतन सप्तम पुरुष 'सर्वज्ञ' कर्णाटदेशीय ब्राह्मणवृन्द वरिष्ठ जगद् गुरु नाम से प्रख्यात थे, एवं तत्रत्य नृपति भी थे, आप सर्वशास्त्र विशारद एवं भरद्वाज गोत्रीय यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। सर्वज्ञ का पुत्र— अनिरुद्ध, यजुर्वेद के सुपण्डित महायशाः एवं वरेण्य थे। उनके रूपेश्वर एवं हरिहर पुत्रद्वय शास्त्र एवं शस्त्र विद्या में निपुण थे, अतः हरिहर के द्वारा पितृ प्रदत्त राज्य अपहृत होने पर रूपेश्वर पौरस्त्य प्रदेश में निवास किये थे। उनका 'पद्मनाभ' नामक रूप गुण विद्यादि सम्पन्न एक पुत्र थे, जिन्होंने नव हट्ट 'नैहाटि' ग्राम में आवास स्थापन किया था, पद्मनाभ के आठार कन्या एवं पाँच पुत्र थे, कनिष्ठ पुत्र का नाम मुकुन्द था, उनका 'कुमारदेव' परम आचार निष्ठ व्यक्ति थे। नैहाटि में धर्म विप्लव उपस्थित होने पर वाक्ला चन्द्र द्वीप में निवास किये थे।

कुमारदेव के अनेक पुत्र के मध्य में सनातन, रूप एवं अनुपम प्रसिद्ध थे। पितृ वियोग होने पर आप

सब गौड़ राजधानी के सन्निकटवर्त्ती साकुर्मा नामक पल्ली में विद्याशिक्षार्थ मातुलालय में निवास करते थे। अनन्तर उपयुक्त समय में गौड़राज हुसेन साह के मन्त्रित्व पद में सनातन रूप वृत होकर शाकर मल्लिक दवीर खास नाम से भूषित हुये थे। अनुपम के पुत्र ही श्रीजीव हैं।

श्रीजीव का पितृ वियोग बाल्य काल में ही हुआ था, श्रीजीव, बाल्यकाल से ही श्रीभगवान् में अनुरागी थे। बाल्योचित क्रीड़ा में पराङ्मुख होकर पुष्प चन्दनादिके द्वारा श्रीकृष्णार्चन का अनुष्ठान करते थे।

भक्ति रत्नाकर में उक्त है—

"श्री जीव बालक काले बालकेर सने।
श्रीकृष्ण सम्बन्धविना खेला नाहि जाने॥
कृष्ण बलराम मूर्त्ति निर्म्माण करिया।
करितेन पूजा पुष्प चन्दनादि दिया॥" (१।७१८)

श्रीजीव गोस्वामी की वंशवल्ली।

श्रीसर्वज्ञ (जगद्गुरु कर्णाटक राजा १२०३ शक)
|
अनिरुद्ध (१२३८ शक में राजा)
| |
हरिहर रूपेश्वर
|
पद्मनाभ १३०८ शक में जन्म
पुरुषोत्तम, जगन्नाथ, नारायण, मुरारि, मुकुन्द देव
|
कुमार देव
|
| | ३ श्रीसनातन, ४ श्रीरूप, श्रीवल्लभ (अनुपम)
| | |
(१३८६-१४७६) (१३९२-१४७६) (१३९५-१४३७)
|
श्रीजीव (१४३३-१५१८)।

श्रीचैतन्य देवकी प्रेरणा से श्रीरूप सनातन जीव हितकर कार्य्य में आत्म नियोग करने पर श्रीजीव में प्रबल विषय वितृष्णा का उदय हुआ, भक्ति रत्नाकर में उल्लेख इस प्रकार है—

"नानारत्न भूषा परिधेय सूक्ष्म वास।
अपूर्व शयन शय्या भोजन विलास।
ए सब छाड़िल किछु नाहिभाय चिते।
राज्यादि विषयवार्त्ता ना पारे शुनिते॥"

क्रमशः वृन्दावन निवासी श्रीरूप सनातन गोस्वामी के आकर्षण से श्रीजीव का मन गृह में संसक्त नहीं हुआ, एकदिन स्वप्न में श्रीमन् महाप्रभु को देखकर अधीर होकर परिजन वर्ग को कहे थे "मैं अध्ययन निमित्त नवद्वीप जाऊँगा" इस छल से आप बाक्ला चन्द्रद्वीप से नवद्वीप आये थे एवं श्रीवास अङ्गन में उपस्थित होकर श्रीनित्यानन्द प्रभु की कृपा प्राप्त किये थे।

" नित्यानन्द प्रभु महावात्सल्य विह्वल।
धरिला श्रीजीव माथे चरण युगल ॥ (भक्तिरत्नाकर १।६७५)

श्रीनित्यानन्द प्रभु ने कहा "मैं खड़दह से तुम्हारे निमित्त यहाँ आया हूँ, कुछ दिन नवद्वीप में अवस्थान कर तुम श्रीवृन्दावन जाओ।"

श्रीजीव,—श्रीनित्यानन्द प्रभु से आदेश प्राप्त कर नवद्वीप से काशी आये थे, एवं वहाँ शास्त्र अध्ययन पूर्वक श्रीवृन्दावन में आकर श्रीरूप सनातन के श्रीचरणाश्रित हुये थे। श्रीजीव, अलौकिक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे, उनका अवदान चिरकाल मनुष्य समाज को उद्भासित करता रहेगा।

एतत् ग्रन्थसह श्रीजीवकृत श्रीकृष्णसन्दर्भ की अणुव्याख्या 'सर्वसम्वादिनी" सन्निविष्ट है, उस में निम्नोक्त विषय समूह अङ्कित हैं।

अवतार तत्त्व विचार (१) श्रीकृष्ण का केशावतारत्वखण्डन (२) श्रीकृष्णनाम की श्रेष्ठता प्रयुक्त श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता (३) श्रीकृष्ण भजन की सर्वगुह्यतमता (४) श्रीचरणचिह्न (५) श्रीगोपी भजन की सर्व श्रेष्ठता प्रभृति (६)

श्रीहरिदास शास्त्री

❀ श्रीश्रीगौरगदाधरौ जयतः ❀

❀ सूचीपत्र ❀

मूल—१८९—श्लोक ५८१ लेख ३१७५ श्लोक



श्रीहरिदास शास्त्री

※ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ※

श्रील श्रीजीवगोस्वामि-प्रभुपाद-विरचिते

श्री भागवतसन्दर्भे

चतुर्थः

श्रीकृष्णसन्दर्भः

तौ सन्तोषयता सन्तौ श्रील-रूप-सनातनौ ।
दाक्षिणात्येन भट्टेन पुनरेतद्विविच्यते ॥१॥
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्त-व्युत्क्रान्त-खण्डितम् ।
पर्य्यालोच्याथ पर्य्यायं कृत्वा लिखति जीवकः ॥२॥

श्रीजीवगोस्वामि-प्रभुपाद-विरचिता

श्रीसर्वसम्वादिनी

श्रीकृष्णसन्दर्भानुव्याख्या

'अथ' इति निर्द्धारणम्,—बहुष्वेकस्य निर्णयः।

[मूलसन्दर्भे ५म अनु०] "एतत्" इति ;—यस्य शक्तित्वेनांशौ प्रकृति-शुद्धसमष्टिजीवौ ;—तयोरंशेन

कृष्णचन्द्रं प्रणम्याथ ह्लादिन्याश्लिष्टमीश्वरम् ।
सन्दर्भेषु चतुर्थस्य व्याख्यां कुर्वे यथामति ॥

परमात्मसन्दर्भ वर्णन के अनन्तर वर्णन क्रम से श्रीकृष्णसन्दर्भ का वर्णन करते हैं। "गूढ़ार्थस्य प्रकाशश्च सारोक्तिः श्रेष्ठता तथा, नानार्थवत्त्ववेद्यत्वं सन्दर्भः कथ्यते बुधैः" जिस प्रबन्ध में गूढ़ार्थ का प्रकाश, सारोक्ति, श्रेष्ठता एवं ज्ञातव्य विषय की बहुलता विद्यमान है। उसे सन्दर्भ कहते हैं,—यह सन्दर्भ भागवतसन्दर्भ षट् के मध्य में चतुर्थ सन्दर्भ है, सम्बन्धाभिधेय प्रयोजन वर्णनात्मक रूप षटसन्दर्भ में प्रथम तत्त्व भगवत, परमात्म, श्रीकृष्णसन्दर्भ में सम्बन्धितत्त्व का वर्णन है, भक्तिसन्दर्भ में अभिधेय तत्त्व एवं प्रीतिसन्दर्भ में प्रयोजन तत्त्व का वर्णन है। (१)

षट्सन्दर्भ एक परिपूर्ण भक्तिदर्शन ग्रन्थ है, अतएव प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में एक ही मङ्गलाचरण विन्यस्त है। "मद्भक्त पूजाभ्यधिका" भक्त का सन्तोष विधान करना ही भगवत् सन्तोष के प्रति प्रकृष्ट साधन है, तज्जन्य दाक्षिणात्य विप्रकुलोत्पन्न श्रील-गोपालभट्ट गोस्वामीचरण, भगवत् श्रीकृष्ण-चैतन्यानुचर श्रील-रूपसनातन के सन्तोषार्थ जिस भागवतसन्दर्भ का प्रणयनारम्भ किए थे। उक्त ग्रन्थ, स्थल विशेष में क्रमबद्ध, व्युत्क्रमयुक्त, एवं खण्डित था, तज्जन्य श्रीजीवगोस्वामिचरण, उक्त ग्रन्थ की पर्य्यालोचना करके क्रमबद्ध रूप से प्रणयन कर रहे हैं। द्वितीय श्लोक के अन्तिम भाग में 'लिखति जीवकः" प्रयोग है, उससे ग्रन्थ कर्त्ता श्रीजीवगोस्वामिचरण का परिचय प्राप्त होता है। जीव शब्द के उत्तर हीनार्थ में कन्-प्रत्यय से उक्त पद सिद्ध हुआ है। दैन्यातिशय्य बोधन के निमित्त ही उक्त पद का प्रयोग हुआ है, "भक्तिर्हि दैन्यबोधिनी" अकृत्रिम दैन्य प्रकाश से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। अपर पक्षीय व्याख्या में 'जीवयति सर्वजीवान् भागवतसिद्धान्तदानेनेति जीवकः" अर्थात् जो श्रीमद्भागवत सिद्धान्त प्रदान के द्वारा सर्व जीव को जीवित करते हैं, वह जीवक है। श्रीजीवगोस्वामिचरण की प्रतिभा के

१। अथ पूर्वं सन्दर्भत्रयेण यस्य सर्वपरत्वं साधितम्, तस्य श्रीभगवतो निर्द्धारणाय सन्दर्भोऽयमारभ्यते। अथ तत्र प्रथमस्य द्वितीये (भा० १।२।११) "वदन्ति" इत्यादिना तदेकमेव तत्त्वं ब्रह्मादितया शब्द्यत इत्युक्तम्। तदेव ब्रह्मादित्रयं तस्य तृतीये विविच्यते। ब्रह्म त्विह, (भा० १।३।३३)—

सर्वसम्वादिनी

परस्पर-संयुक्तेन वृत्तिसमूहद्वयेन (भा० १०।८७।३१) "न घटत उद्भवः प्रकृति-पुरुषयोरजयो-,रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत्" इत्युक्तत्वात्।

फल से ही मानव जीवित है, श्रीमद्भागवत प्रमाण से निर्दुष्ट परिपूर्ण भक्ति दर्शन का प्रणयन कर्त्ता आप ही हैं। स्वीय निरभिमानता को सूचित करने के लिए ही उत्तम पुरुष की क्रिया के परिवर्त्त में "लिखति" प्रथम पुरुष की क्रिया का प्रयोग हुआ। (२)

अनन्तर तत्त्व, भगवत्, परमात्म नामक सन्दर्भ त्रय में जिन भगवत् तत्त्व का सर्वश्रेष्ठत्व स्थापित हुआ है, उन श्रीभगवत्तत्त्व का परिचय, सुनिर्दिष्ट रूप से प्रदान करने के निमित्त ही चतुर्थ सन्दर्भात्मक श्रीकृष्णसन्दर्भ का आरम्भ हुआ है। कारण—'भगवान्' शब्द से श्रीराम, नृसिंह, वामनादि अनन्त भगवत् स्वरूप का ही ग्रहण होता है, उन सबके मध्य में निरपेक्ष सर्वश्रेष्ठ रूप में प्रकाशमान भगवत् स्वरूप कौन है? निखिल शास्त्र सार-स्वरूप श्रीमद्भागवत प्रमाण के द्वारा उक्त तत्त्व का निर्द्धारण के लिए ग्रन्थारम्भ करते हैं। ग्रन्थारम्भ का 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य्य है, परमात्मसन्दर्भ में सामान्य रूप से भगवत्तत्त्व निरूपण के अनन्तर विशेषरूप से भगवत्तत्त्व निरूपणार्थ प्रस्तुत ग्रन्थारम्भ होता है। "ओँकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मण पुरा, कण्ठं भित्वाविनिर्यातौ तस्मान् माङ्गलिकावुभौ", इस नियम से 'अथ' शब्द के द्वारा आनुषङ्गिक मङ्गल बोधित हुआ है। वस्तुत प्रकृत ग्रन्थ स्वयं ही मङ्गलात्मक है।

श्रीमद्भागवतस्थ (१।२।११)—

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥"

परतत्त्व एक ही अद्वय ज्ञान स्वरूप है, उपासक की ज्ञान-दृष्टि के क्रमसे एक ही तत्त्व ब्रह्म, परमात्म, भगवत् नाम से अभिहित होते हैं। अर्थात् स्वरूपानुसन्धानरत ज्ञानिगण—ब्रह्म रूप में भावना करते हैं, योगिगण—हृदय में परमात्म रूप में ध्यान करते हैं, भक्तगण—भक्तियोग के द्वारा अन्तर बाहर परम मनोहर सर्वसुहृत् श्यामलसुन्दर रूप में देखते हैं।

टीका—ननु तत्त्व जिज्ञासा नाम धर्मजिज्ञासैव धर्म एव हि तत्त्वमिति केचित् तत्राह वदन्तीति। तत्त्वविदस्तुतदेव तत्त्वं वदन्ति। किं तत्? यत् ज्ञानं नाम। अद्वयमिति, क्षणिक ज्ञानपक्षं व्यावर्त्तयति। ननु तत्त्वविदोऽपि विगीत वचना एव? मैवं तस्यैव तत्त्वस्य नामान्तरैरभिधानादित्याह। औपनिषदै ब्रह्मेति, हैरण्यगर्भैः परमात्मेति, सात्वतै भगवानिति शब्द्यते अभिधीयते॥

क्रमसन्दर्भः—वदन्तीति तैर्व्याख्यातम्; तत्र "विगीत वचनाः" इत्यत्र परस्परमितिशेषः। "तत्त्वस्य नामान्तरैरभिधानात्" इति धर्मिणि सर्वेषामभ्रमात्, धर्म एव तु भ्रमादिति। यद्वा किं तत्त्वं? इत्यपेक्षायामाह,- वदन्तीति, ज्ञानं चिदेकरूपम्; अद्वयत्वं,—चात्र स्वयं सिद्ध तादृश तत्त्वान्तराभावात् स्वशक्त्येक सहायत्वात् परमाश्रयं तं विना तासामसिद्धत्वाच्च। तत्त्वमिति परपुरुषता द्योतनया परमसुखरूपत्वं तस्य ज्ञानस्य बोध्यते। अतएव तस्य नित्यत्वञ्च दर्शितम्। अत्र श्रीमद्भागवताख्य शास्त्रे क्वचिदन्यत्रापि तदेकं तत्त्वं त्रिधा शब्द्यते, क्वचिद् ब्रह्मेति, क्वचिद् परमात्मेति, क्वचिद् भगवानिति

च। किन्त्वत्र व्यास समाधिलब्धाद् भेदाद् जीव इति च शब्द्यते। इति नोक्तमिति ज्ञेयम्।

तत्र शक्तिवर्गलक्षण तद्धर्मातिरिक्तं केवलं ज्ञानं ब्रह्मेति शब्द्यते, अन्तर्यामित्वमयमायाशक्तिप्रचुर चिच्छक्त्यंशविशिष्टं परमात्मेति; परिपूर्णसर्वशक्तिविशिष्टं भगवानिति। एवमेवोक्तं श्रीजड़भरतेन (भा० ५।१२।११) "ज्ञानं विशुद्धं परमात्ममेकमनन्तरं त्ववहिर्ब्रह्मसत्यम्। प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं, यद् वासुदेवं कवयो वदन्ति" इति। (भा० १०।२८।७) "तस्मैनमो भगवते ब्रह्मणे परमात्मने" इत्यत्र वरुणकृतस्तुतौ, अत्र टीका,—'परमात्मने सर्वजीवनियन्त्रे' इत्येषा; ध्रुवं प्रति श्रीमनुना च (भा० ४।११।३०) "त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्ते, आनन्दमात्र उपपन्न समस्तशक्तौ" इति। अत्रानन्दमात्रं विशेष्यम्। समस्ताः शक्तयो विशेषणानि विशिष्टो भगवानित्यायातम्। भगवच्छब्दार्थश्च विष्णुपुराणे प्रोक्तः,—(६।५।७९) "ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्यवीर्य्यतेजांस्यशेषतः, भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः।" इति॥

'वदन्ति" श्लोक की व्याख्या स्वामिपाद ने की है, उसमें एक अद्वय ज्ञान तत्त्व का उपासक योग्यता भेद से प्रकाश होता है। ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्—ज्ञानी, योगी, भक्त की दृष्टि के भेद से एकतत्त्व त्रिविध रूप से दृष्ट होता है। वर्जित है। एकतत्त्व में भी विभिन्न दृष्टि भङ्गी से जो मतद्वैध उपस्थित होता है, एवं स्वमत प्रतिपादन हेतु अपर मत को असम्यक् कहते हैं। इस प्रकार पारस्परिक निन्दित व्यवहार के प्रति हेतु है, धर्मांश में भ्रम, अर्थात् जो व्यक्ति ज्ञानोपदेश प्राप्त किया है, वह निर्विशेष मानता है। जो योगोपदेश में श्रद्धालु है, वह परमात्मा रूप से उक्त तत्त्व को मानता है। भक्ति में विश्वासी भक्तगण उक्त अद्वय ज्ञान तत्त्व को परिपूर्ण रूप से जान कर अपना प्रिय बनाते हैं। एकतत्त्व का नामान्तर से ही कथन होता है, अतएव धर्मी में भ्रम नहीं है, किन्तु धर्म में भ्रम है। किंवा परतत्त्व एक ही है, वह तत्त्व किस प्रकार है? उत्तर में कहते हैं,—एक अद्वय ज्ञानतत्त्व है, उनका ही तीन नाम हैं,—ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्। विवेक रूप को ज्ञान कहते हैं, वह चैतन्य स्वरूप है। अद्वय इसलिए है, जिस में स्वयं सिद्ध तत्त्वान्तर है हो नहीं। निज स्वरूपभूत शक्ति में महीयान् हैं, शक्ति का आश्रय भी उक्त ज्ञानतत्त्व है, उसके बिना शक्ति की पृथक् रूप से अवस्थिति नहीं होती है, शक्तिमान् के बिना शक्ति, असिद्ध होती है। "तत्त्व" कहने का अभिप्राय यह है—वह तत्त्व, परमपुरुषार्थ है, परमसुखरूप है, अतएव उक्त ज्ञान स्वरूप नित्य है। श्रीमद्भागवत शास्त्र में उक्त ज्ञानतत्त्व का त्रिविध नाम से सुस्पष्ट कथन है, अन्यत्र भी वर्णन है। स्थान विशेष में उन तत्त्व को ब्रह्म शब्द से कहते हैं, शास्त्र विशेष में परमात्मा नामोल्लेख है, भक्ति प्रधान शास्त्र में उक्त अद्वय ज्ञानतत्त्व ही भगवान् नाम से अभिहित होते हैं। किन्तु आश्चर्य्य का विषय यह है कि—श्रीमद्भागवतस्थ उक्त तत्त्व वर्णनात्मक श्लोक में उक्त तत्त्व का नामकरण के समय उक्त अद्वय ज्ञानतत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् एवं जीव नाम से कहते हैं, ऐसा नहीं कहा है। प्रत्युत व्यासदेव ने भक्तियोग के द्वारा समाधिस्थ होकर वर्णनार्थ जिस तत्त्व का दर्शन किया, उसमें पूर्ण अद्वय ज्ञानतत्त्व को पृथक् रूप से देखा, और जीव को पृथक् रूप से ही देखा है। माया प्रभाव रहित अद्वय ज्ञानतत्त्व को देखा, जीव को मायामोहित रूप से देखा है। शक्तिवर्गस्वरूप धर्मातिरिक्त केवल ज्ञान को ब्रह्म कहते हैं, अन्तर्यामित्वमय मायाशक्ति प्रचुरचिच्छक्त्यंश विशिष्ट को परमात्मा शब्द से कहते हैं, परिपूर्ण सर्वशक्ति विशिष्ट को भगवान् कहते हैं। श्रीजड़भरत ने भी कहा हैं,—विशुद्ध ज्ञानस्वरूप, व्यापक, ब्रह्म, सत्य, प्रत्यक्, प्रशान्तरूप भगवन्नामक पदार्थ है, कविगण जिन को वासुदेव कहते हैं। श्रीभागवतस्थ वरुणकृत स्तुति में उक्त है,—ब्रह्म परमात्मा भगवान् को प्रणाम। यहाँ की टीका,—परमात्मा - सर्वजीव नियन्ता, ध्रुव के प्रति श्रीमनु ने भी कहा है—प्रत्यगात्मा अनन्त भगवान् आनन्द स्वरूप हैं, उनमें स्वाभाविक समस्त शक्ति हैं। यहाँ आनन्दमात्र विशेष्य है, समस्त शक्ति विशेषण है, इससे समस्त शक्ति विशिष्ट ही भगवान् हैं, यह बोध होता है। "भगवत्" शब्द का अर्थ विष्णुपुराण में है—"अशेष ज्ञान-शक्ति-बलैश्वर्य्य-वीर्य्य-तेज को

"यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिसिद्धे स्वसम्विदा।
अविद्ययात्मनि कृते इति तत्ब्रह्मदर्शनम् ॥"३॥

सर्वसम्वादिनी

[मूल० ७म अनु०] "द्वितीयम्" इत्यनेन पृथिव्युद्धरणं द्विरपि कृतम्; लीला-साजात्येन त्वेकवद्वर्ण्यते। पूर्वं हि स्वायम्भुव-मन्वन्तरादौ पृथिवी-मज्जने तामुद्धरिष्यन् पश्चाच्च षष्ठ-मन्वन्तरजात-प्राचेतसदक्ष-कन्याया

भगवान् कहते हैं, जिन में हेयगुणादि नहीं है।"

श्रीमद्भागवत के (३।३२।३३) में उक्त है—

"यथेन्द्रियैः पृथग् द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः। एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥"

जिस प्रकार दुग्ध पदार्थ, श्वेतत्वादि बहुगुणाश्रय है, किन्तु पृथक् पृथक् इन्द्रिय द्वारा पृथक् पृथक् अनुभूत होता है। चक्षु के द्वारा श्वेतत्व, त्वक् द्वारा शीतलत्व, जिह्वा के द्वारा मधुरत्व की उपलब्धि होती है। उस प्रकार एक ही अखण्ड ज्ञानतत्त्व वस्तु की ज्ञानयोग से निर्विशेष रूप में योगमार्ग से परमात्म रूप में एवं भक्तियोग से भगवद्रूप में उपलब्धि होती है। एक ही अद्वयतत्त्व की निर्विशेष सविशेष रूप से उपलब्धि का दृष्टान्त माघकाव्य में है,—'यस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरिति विभाविता कृतिम्। विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥' जिस समय राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण को निमन्त्रण करने के लिए गगन पथ से देवर्षि नारद का आगमन द्वारका में हुआ था, उस समय का दृश्य इस प्रकार है,—प्रथम श्रीकृष्ण ने तेजःपुञ्ज रूप से नारद को देखा, निकटवर्ती होनेसे आकृति को देखकर शरीरी रूप से निर्द्धारण किया, सन्निकटवर्त्ती होनेसे चिरपरिचित नारद को जाना था। यहाँ नारद रूप से दर्शन ही जिस प्रकार मुख्य है, ज्योतिःपुञ्ज, शरीरी प्रभृति रूप से दर्शन गौण है, एक नारद का दर्शन, दूरत्व निकटत्व निबन्धन तारतम्य से हुआ है। परतत्त्व दर्शन में भी उक्त नियम को जानना आवश्यक है, अर्थात् भगवद्रूप में परतत्त्व वस्तु का साक्षात्कार ही मुख्य है, ज्योतिः प्रभृति का दर्शन गौण है। उक्त अखण्ड तत्त्ववस्तु में स्वीय स्वरूप शक्ति का वैचित्र्य समधिक विद्यमान होने पर भी उक्त तत्त्व के सहित तादात्म्य भावनाक्रान्त चित्त से स्वरूपशक्ति वैचित्र्य विशिष्ट स्वरूप साक्षात्कार की अयोग्यता निबन्धन निर्विशेष रूप में अभिव्यक्त तत्त्व को ब्रह्म नाम से कहते हैं।

(भा० १।३।३३) में उक्त ब्रह्म परमात्मा भगवान् का आविर्भाव विवरण वर्णित है,—

"यत्रेमे सदसद्रूपे प्रतिषिद्धे स्वसम्विदा। अविद्ययात्मनि कृते इति तत्ब्रह्मदर्शनम् ॥३३॥
यद्येषोपरता देवी माया वैशारदीमतिः। सम्पन्न एवेति विदु र्महिम्नि स्वे महीयते ॥"३४॥

टीका—तदेवमुपाधिद्वयमुक्त्वा तदपवादेन जीवस्य ब्रह्मतामाह यत्रेति। यत्र यदा इमे स्थूलसूक्ष्मरूपे स्वसंविदा स्वरूपसम्यक्ज्ञानेन प्रतिषिद्धे भवतः। ज्ञानेन प्रतिषेधार्हत्वे तमेव हेतुमाह, अविद्यया आत्मनि कृते कल्पिते इति हेतोः। तद् ब्रह्म, तदा जीवो ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः कथम्भूतम्? दर्शनम्—ज्ञानैक स्वरूपम्। (३३)

तथापि भगवन्मायायाः संसृतिकारणभूताया विद्यमानत्वात् कथं ब्रह्मता? तत्राह यदीति। यदीति—असन्देहे सन्देह वचनं, यदि वेदाः प्रमाणं स्युरितिवत्॥ वैशारदी,—विशारदः सर्वज्ञ ईश्वरः, तदीया देवी, संसारचक्रेण क्रीड़न्ती, एषा माया यदि उपरता भवति, किमित्युपरता भवेत्—तत्राह मतिर्विद्या, अयम्भावः—यावदेषा अविद्या आत्मना आवरण विक्षेपौ करोति तावन्नोपरमति। यदा तु सैव विद्यारूपेण परिणता तदा सदसद्रूपं जीवोपाधिं दग्ध्वा निरिन्धनाग्निवत् स्वयमेवोपरमेत्, इति—तदा सम्पन्नः ब्रह्म स्वरूपं प्राप्त एवेति विदुः, तत्त्वज्ञाः। किमतः? यद्येवं स्वेमहिम्नि परमानन्द स्वरूपे महीयते

पूज्यते विराजते इत्यर्थः। (३४)

उक्त श्लोक द्वय के द्वारा ब्रह्म तत्त्व का निरूपण हुआ है। "सत् एवं असत्" स्वरूपात्मक स्थूल सूक्ष्म देह,—अविद्या कर्त्तृक आत्मा में आरोपित है, आत्म विषयक ज्ञान आविर्भूत होनेसे उक्त स्थूल-सूक्ष्म देह का अध्यास का बोध होता है, उक्त ज्ञान का नाम ही ब्रह्म साक्षात्कार है। किन्तु विचार्य्य यह है कि—केवल जीवस्वरूप ज्ञान के द्वारा ही परिपूर्ण अध्यास की उपलब्धि नहीं होती है, कारण—परतत्त्व ज्ञानाधीन ही जीवस्वरूप का ज्ञान होता है, परतत्त्व विषयक ज्ञानाविर्भाव व्यतीत जीव का स्वरूप ज्ञान स्वतन्त्र रूप से नहीं हो सकता है।

क्रमसन्दर्भः—अथ जीवस्वरूपे भगवत्स्वरूपे च तत् सम्बन्धं वारयति, पूर्वाध्यायोक्तं ब्रह्म च लक्षयति, यत्रेति द्वाभ्याम्। यत्र—यस्मिन् दर्शने स्थूलसूक्ष्मरूपे शरीरे स्वसंविदा जीवात्मनः स्वरूपज्ञानेन प्रतिसिद्धे भवतः; केन प्रकारेण? वस्तुत आत्मनि न स्त एव, किन्तु अविद्ययैवात्मनि कृते अध्यस्त इत्येतत् प्रकारेणेत्यर्थः। तद्ब्रह्मदर्शनमिति यत्तदोरन्वयः। ब्रह्मणोदर्शनं साक्षात्कारः। यत्र स्वसंविदेत्युक्त्या जीवस्वरूपज्ञानमपि तदाश्रयमेव भवतीति तथा केवल स्वसंविदा ते निषिद्धे न भवतः, इति च ज्ञापितम्। ततश्च जीवत एवाविद्याकल्पित—माया-कार्य्य-सम्बन्ध-मिथ्यात्व-ज्ञापकजीवस्वरूपसाक्षात्करण तादात्म्यापन्नब्रह्मसाक्षात्कारो जीवन्मुक्तिविशेष इत्यर्थः। ईदृशमेव तन्मुक्तिलक्षणं श्रीकापिलेये—(३।२८।३५-३८) दर्शितम्।

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमृच्छति मनःसहसा यथार्चिचः।
आत्मानमत्रपुरुषोऽव्यवधानमेकमन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः॥
सोऽप्येतया चरमया मनसोनिवृत्त्या तस्मिन् महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये।
हेतुत्वमप्यसति कर्त्तरि दुःखयोर्यत् स्वात्मन् विधत उपलब्धपरात्मकाष्ठः॥
देहञ्च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमथदैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥
देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत् स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव साधुः।
तं स प्रपञ्चमधिरूढ़समाधियोगं स्वाप्नं पुनर्नभजते प्रतिबुद्धवस्तु॥

तस्मादस्य प्रारब्ध कर्ममात्राणामनभिनिवेशेनैवोपभोगः। एवोमेवोक्तम्—(ईशो ७) 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति। अथान्तिमां ब्रह्मसाक्षात्कार लक्षणां मुक्तिमाह-यदीति एषा जीवन्मुक्तिदशायां स्थिता। विशारदेन परमेश्वरेण दत्ता; देवी-द्योतमानामति विद्या, तद्रूपा या माया स्वरूपशक्तिवृत्तिभूतविद्याविर्भावद्वारलक्षणा सत्त्वमयी मायावृत्तिः, सा यद्युपरता निवृत्ता भवति, तदा व्यवधानाभासस्यापि राहित्यात् सम्पन्नोलब्धो ब्रह्मानन्दसम्पत्तिरेषेतिविदुर्मुनयः। ततश्च तत् सम्पत्ति लाभात् स्वेमहिम्नि स्वरूपसम्पत्तावपि महीयते पूज्यते प्रकृष्ट प्रकाशो भवतीत्यर्थः॥ (३३-३४)

जीव के स्वरूप में एवं भगवत् के स्वरूप में माया का सम्बन्ध नहीं है, उसको कह कर पूर्वाध्यायोक्त ब्रह्म का निरूपण करते है, "यत्र" दो श्लोकों के द्वारा। जिसके दर्शन से स्थूल-सूक्ष्म शरीर में आत्माध्यास निवृत्त हो जाता है, किस प्रकार से? वस्तुत आत्मा में उक्त देहद्वय नहीं है, किन्तु अविद्या के द्वारा ही आत्मा में अध्यास होता है। इस प्रकार ज्ञान से ही वह विदूरित होता है, वह ही ब्रह्म दर्शन है। 'यत् एवं तद्' का अन्वय होता है, ब्रह्म का दर्शन अर्थात् साक्षात्कार होता है। जीव का स्वरूप ज्ञान के द्वारा मायापसारण अध्यास निवृत्ति नहीं होती है, किन्तु परमात्म ज्ञानपूर्वक आत्मज्ञान से ही अविद्या निवृत्ति होती है। अतएव जीवद्दशा में ही अविद्या कल्पित मायाकार्य्य सम्बन्ध मिथ्यात्व ज्ञापक जीव स्वरूप साक्षात्कार ब्रह्म तादात्म्यपन्न होने से ही जीवन्मुक्ति होती है। इस प्रकार मुक्ति

इत्यादिना तत्र विविक्तमप्येकाकाराविर्भावतया संशयाभावात्तन्निर्द्धारणार्थं तत्तद्वचनं नोद्ध्रियते। श्रीभगवत्-परमात्मनोस्तु नानाविर्भावत्वात्तानि वचनानि तत्तन्निर्द्धारणार्थमुद्ध्रियन्ते। तत्रेश्वरो निराकारो नास्तीति प्राङ्निर्णीतम्। 'परमात्म'-शब्देन च सर्वान्तर्यामि-पुरुषः प्रतिपादितस्तेष्वेव सन्दर्भेषु। तथा च सति तस्मिस्तृतीयाध्यायारम्भ एवमाभास्यम्।

ननु पूर्वं ब्रह्मादितया त्रिधैव तत्त्वमेकमुक्तम्; तत्र ब्रह्मणः किं लक्षणं भगवत्-परमात्मनोर्वा, तत्र तत्र विशेषः कश्चिद्वा किमस्तीति श्रीशौनकादि-प्रश्नमाशङ्क्य श्रीसूत उवाच (भा० १।३।१)—

सर्वसम्वादिनी

अदितेर्गर्भोद्भवेन हिरण्याक्षेण सह युद्धेऽष्टम-मन्वन्तरजात-पृथिवी-मज्जने तामुद्धरिष्यन्नित्यर्थः। तत्रादौ "विधेर्घ्राणादन्ते नीरात्" इति पुराणान्तरम्; (सं-श्रीभा० १००, १०१)—

स्वरूप का वर्णन (भा० ३।२८।३५-३८) में है। जिस समय मन ध्येय का साक्षात्कार करता है, ध्येय का साक्षात्कार व्यतीत ध्यान कर्त्ता की मुक्ति नहीं होती है। उक्त साक्षात्कार से निरिन्धन अनल की भाँति अविद्या शान्त हो जाती है। अनन्तर विषय से मन उपरत होने पर विषय जनित सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता है, केवल आत्मानुभव ही होता है। शरीर की स्थिति मदिरामदान्ध व्यक्ति के परिधेय वसन के समान अननुसन्धान से रहता है। देह भी पूर्वसंस्कार से संस्कारायित होकर व्यवहार निर्वाहक होता है। किन्तु स्वप्रदृष्ट वस्तु की अनुभूति जाग्रत् काल में जिस प्रकार नहीं रहती है, उस प्रकार ही विषय ग्रहण से भी पुनर्बार भोगेच्छा नहीं होती है। मनः स्व-स्वरूप में परिनिष्ठित रहता है। अतएव प्रारब्ध कर्मों का भोग अनभिनिवेश से सी होता है। ईशोपनिषद् में भी उक्त हैं,—एकत्वानुभवकारियों का शोक-मोह का प्रसङ्ग ही कहाँ है। अनन्तर ब्रह्म साक्षात्कार स्वरूप अन्तिम मुक्ति का विवरण कहते हैं। जो व्यक्ति जीवन्मुक्ति दशा में स्थित है, वह परामुक्ति का अधिकारी होता है। विशारद परमेश्वर के द्वारा प्रदत्तामति, विद्या, वह माया,—भगवत् स्वरूपशक्ति वृत्तिभूत विद्याविर्भाव का द्वार है। वह सत्त्वमयी मायावृत्ति है, वह यदि निवृत्ता हो जाती है, तब व्यवधानाभास भी नहीं रहता है, तब वह सम्पन्न होता है, अर्थात् ब्रह्मानन्द सम्पत्ति लाभ करता है। यह कथन मुनिवृन्द का है। अनन्तर उक्त सम्पत्ति लाभ के पश्चात् स्वरूप सम्पत्ति में भी महीयान् होता है, पूजित होता, प्रकृष्ट प्रकाश की प्राप्त करता है। उक्त वचनों से एकाकार वृत्ति के द्वारा ब्रह्मतादात्म्यापन्न होनेसे ब्रह्माविर्भाव होता है। इस विषय में किसी प्रकार संशय नहीं है, अतएव उक्त ब्रह्मतत्त्व निर्द्धारणार्थ वचन समूह का उपस्थापन करना निष्प्रयोजन है। श्रीभगवत्तत्त्व एवं परमात्म तत्त्वाविर्भाव का तारतम्य विशेष रूप से है, अतः उक्त तारतम्य निर्द्धारण के लिए उक्त प्रमाण समूह का उल्लेख करते हैं। उक्त परमतत्त्व रूप ईश्वरतत्त्व निराकार नहीं है, इस विषय का निर्द्धारण भगवत्सन्दर्भ एवं परमात्मसन्दर्भ में विशेष रूप से हुआ है। परमात्म शब्द से सर्वान्तर्य्यामि पुरुष का बोध होता है। उपासना मार्ग में प्रादेशमात्र परिमित चतुर्भुजाकृति परमात्मा का वर्णन हैं। गीता में उक्त है,—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनस्तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया।।"

इसका विवेचन पूर्व सन्दर्भत्रय में हुआ है। भगवत् परमात्म तत्त्व ही विचारणीय है, ऐसा होने पर उक्त भगवत् परमात्म विचार सम्बन्धीय भागवत के (१।३।१) अध्यायस्थ विषयों का उट्टङ्कन करना आवश्यक है। उक्त अध्यायस्थ प्रथम श्लोक का विवरण से ही भगवत् परमात्म तत्त्व की समीचीन सङ्गति होगी।

(१) "जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः ।
सम्भूतं षोड़शकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥"४॥

यः श्रीभगवान् पूर्णषड़ैश्वर्य्यत्वेन पूर्वं निर्दिष्टः, स एव पौरुषं रूपं पुरुषत्वेनाम्नायते यद्रूपं तदेवादौ सर्गारम्भे जगृहे; प्राकृत-प्रलयेष्वस्मिन् लीनं सत् प्रकटतया स्वीकृतवान्। किमर्थम्? तत्राह—लोकसिसृक्षया। तस्मिन्नेव लीनानां लोकानां समष्टिव्यष्ट्युपाधिजीवानां सिसृक्षया प्रादुर्भावनार्थमित्यर्थः। कीदृशं सत्तद्रूपं लीनमासीत्तत्राह—महदादिभिः सम्भूतं मिलितमन्तर्भूतमहदादितत्त्वमित्यर्थः। "सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्यो नगापगाः" इत्यादौ हि सम्भवतिर्मिलनार्थः; तत्र हि महदादीनि लीनान्यासन्निति। तदेवं 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि' इत्यादौ महत्स्रष्टृत्वेन प्रथमं पुरुषाख्यं रूपं यच्छ्रूयते, यच्च ब्रह्मसंहितादौ कारणार्णवशायिसङ्कर्षणत्वेन श्रूयते, तदेव 'जगृहे' इति प्रतिपादितम्। पुनः कीदृशं तद्रूपम्? तत्राह,—षोड़शकलं तत्सृष्ट्युपयोगिपूर्णशक्तीत्यर्थः। तदेवं यस्तद्रूपं जगृहे, स भगवान्। यत्तु तेन गृहीतं तत्तु स्वसृज्यानामाश्रयत्वात् परमात्मेति पर्य्यवसितम् ॥

सर्वसम्वादिनी

अयं क्वचिच्चतुष्पात् स्यात् क्वचित् स्यान्नृवराहकः। कदाचिज्जलदश्यामः कदाचिच्चन्द्रपाण्डुरः ।।१।। इति।
उक्तश्च प्रलयश्चाक्षुषादौ देवादि-सृष्टिश्च चतुर्थे (भा० ४।३०।४९)—

उसका आभास इस प्रकार है,—(भा० १।३।१) अद्वयाखण्ड ज्ञानतत्त्व स्वरूप श्रीभगवान् उपासक की योग्यता के अनुसार ब्रह्म, परमात्मा, श्रीभगवान् रूप में साधक के निकट आविर्भूत होते हैं। उक्त अखण्ड मूर्तिमत् परतत्त्व वस्तु भगवान् विश्वसृष्टि के प्रारम्भ में विश्वसृजन् करने की इच्छा से महत्तत्त्व प्रभृति के सम्भूत षोड़शकला समन्वित अर्थात् लोक सृष्टि के लिए उपयुक्त परिपूर्ण शक्ति युक्त पुरुषाकार ग्रहण करते हैं। इसके पहले षड़ैश्वर्य्यपूर्ण रूप से जिन श्रीभगवान् का वर्णन हुआ है। उक्त श्रीभगवान् ही पुरुष आख्या से विभूषित रूप को विश्व सृष्टि के प्रारम्भ में ग्रहण किए थे। 'ग्रहण' शब्द का अर्थ प्रकटन है। प्राकृत प्रलय के समय इस स्वरूप में ही था, उन स्वरूप को ही आप ने प्रकट किया। यह पुरुषरूप पहले भी था, किन्तु कार्य्यक्षेत्र जगत् की स्थिति उस समय न होनेसे आप प्रकट नहीं थे। सम्प्रति प्रकट हुए, अर्थात् जगत् सृष्ट्यादि के निमित्त सृष्ट्यादि के उपयोगी क्रियाशक्ति का प्रकटन आपने किया। अर्थात् समष्टि जीव (हिरण्यगर्भ ब्रह्मा), व्यष्टि जीव एवं उसका अधिष्ठान चतुर्द्दशभुवन एवं देह समूह का प्रादुर्भाव करने के निमित्त ही उक्त रूप का प्रकटन किया। सृष्टि के पूर्व में समष्टि व्यष्टि-जीव एवं उसका अधिष्ठान उक्त पुरुषरूप में लीन था। किस प्रयोजन से पुरुषरूप प्रकटन किया? लोकसृजनेच्छा से। (भा० ३।५।२३) में वर्णित है—

"भगवानेक आसेदमग्र आत्मात्मनां विभुः। आत्मेच्छानुगतावात्मा नानामत्युपलक्षणः ॥"

टीका—तत्रसृष्टिलीलां वर्णयितुं ततः पूर्वावस्थामाह। इदं विश्वं, अग्रे सृष्टेः पूर्वं परमात्मा भगवान् एक एवास आसीत्। आत्मनां जीवानां आत्मास्वरूपम्, विभुः च। नान्यद्—द्रष्टृदृश्यात्मकं किञ्चिदासीत्। कारणात्मना सत्त्वेऽपि पृथक् प्रतीत्यभावादित्याह—अनानामत्युपलक्षणः। नानाद्रष्टृदृश्यादिमतिभिनोपलक्ष्यते इति तथा। यद्वा अकार प्रश्लेषं विनैवायमर्थः। यः सृष्टौ नानामतिभिः उपलक्ष्यते स तदा एकएवासीति। कुतः? आत्मेच्छा या माया अस्या अनुगतौ लये सति। यद्वा आत्मन

एकाकित्वेन अवस्थानेच्छायामनुवृत्तायामित्यर्थः ।।

किस प्रकार उक्त सद्रूप पुरुषाकार में लीन था, कहते हैं,—चिच्छक्ति समन्वित परमात्मा काल शक्ति के द्वारा क्षोभिता गुणमयी माया में प्रकृति द्रष्टा रूप में वीर्य्याधान करते हैं, अर्थात् जीवाख्याचिदाभास का अर्पण करते हैं। अनन्तर प्रलय के समय उक्त पुरुषरूप में उभयविध व्यष्टि समष्टि जीव एवं उसका अधिष्ठान चतुर्दश भुवन उनमें लीन था। उसका पुनर्बार प्रकाश करने के निमित्त, कहते हैं,—महदादि के सहित सम्भूत, अर्थात् महत्तत्त्व प्रभृति के सहित मिलित होकर था, अर्थात् महदादि तत्त्व समूह उनमें अन्तर्भूत होकर रहा। "सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्यो नगापगाः" पर्वत से निर्गत महानदी समूह परस्पर मिलित होकर समुद्र को प्राप्त करती हैं। यहाँ "सम्भूय" शब्द का मिलन अर्थ हुआ है, उस प्रकार "सम्भूत" शब्द का अर्थ भी मिलन है, अर्थात् प्रलय समय में महदादि तत्त्व समूह मिलित होकर उनमें लीन थे। (भा० ३।८।११) में उक्त है,—

"सोऽन्तः शरीरेऽर्पित भूतसूक्ष्मः कालात्मिकां शक्तिमुदीरयाणः।
उवास तस्मिन् सलिलेपदे स्वे यथानलो दारुनिरुद्धवीर्य्यः।।"

भगवान् निज शरीर के मध्य में भूतसूक्ष्म अर्थात् त्रिलोकगत देव-मनुष्यादि तत्त्व समूह को लीन करने पर भी पुनर्बार सृष्टि के समय उक्त तत्त्व समूह को प्रकट करने के निमित्त कालरूपा शक्ति को प्रेरण किये थे।। श्रीविष्णुपुराण में उक्त है.—विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः, प्रथमं महतः स्रष्टृ, द्वितीयं त्वण्ड संस्थितम्, तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते।।" श्रीविष्णु के पुरुष आख्या से विभूषित तीन रूप हैं, प्रथम—महत्तत्त्व का सृष्टिकर्त्ता कारणार्णवशायी महाविष्णु, द्वितीय—ब्रह्माण्ड मध्यस्थ प्रतिब्रह्माण्डान्तर्य्यामी गर्भोदकशायी प्रद्युम्न, एवं तृतीय—सर्वभूतान्तर्य्यामी क्षीरोदशायी अनिरुद्ध हैं। उक्त श्लोक में महत्तत्त्व के सृष्टिकर्त्ता रूप में जिनका वर्णन है, ब्रह्मसंहिता में उनको कारणार्णवशायिसङ्कर्षण रूप से कहा गया है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। सहस्रबाहु विश्वात्मा सहस्रांशः सहस्रसूः।।
नारायणः स भगवानापस्तस्मात् सनातनात्। आविरासीत् कारणार्णोनिधिः सङ्कर्षणात्मकः।।
योगनिद्रागतस्तस्मिन् सहस्रांश स्वयं महान्। तद्रोमविलजालेषु बीजं सङ्कर्षणस्य च।।
हैमान्यण्डानि जातानि महाभूतावृतानि च।।१३।। (ब्रह्मसंहिता)

आप ही भगवान् कारणर्णवशायी नित्यस्वरूप नारायण हैं, उनसे प्रथम प्रथम जिस कारण समुद्र की उत्पत्ति हुई, उसका नाम कारण-समुद्र है। वह नारायण सङ्कर्षणात्मक है, पहले गोलोक के आवरण के मध्य में चतुर्व्यूह का कथन है, उनमें से द्वितीय व्यूह सङ्कर्षण हैं। उनका अंश ही यह नारायण सहस्रांश स्वयं महान् नाम से ख्यात हैं। उनकी लीला को कहते हैं.—आप योगनिद्रा में अवस्थित हैं, अर्थात् स्वरूपानन्दरूप समाधि में अवस्थित हैं, आप अर्थात् जलको 'नारा' कहते हैं, मनुष्य को 'आप' कहते हैं, उस तत्त्व का आश्रय को नारायण कहते हैं।

टीका—अयमेव कारणार्णवशायीत्याह—नारायण इति सार्द्धेन। ताः आप एव कारणार्णोनिधिराविरासीत्, स तु नारायणः, सङ्कर्षणात्मकः, इति; पूर्वं गोलोकावरणतया यश्चतुर्व्यूह मध्ये सङ्कर्षणः सम्मतः, तस्यैवांशोऽयमित्यर्थः। तदुक्तं आपोनारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः, तस्य ता अयनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृत इति। तस्मादेव ब्रह्माण्डानामुत्पत्तिमाह—तस्य सङ्कर्षणस्य बीजं रोमविलजालेषु महाभूतावृतानि तु हैमानि अण्डानि जातानि।।१३।।

उस तत्त्व का ही प्रतिपादन (भा० १।३।१) "जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महादिभिः, सम्भूतं षोड़शकलमादौ लोकसिसृक्षया" के द्वारा हुआ है।

टीका—यदुक्तं अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभा इति तदुत्तरत्वेनावतारानानुक्रमिष्यन् प्रथम पुरुषावतारमाह—जगृहे, इति पञ्चभिः। महदादिभिर्महदहङ्कारपञ्चतन्मात्रैः सम्भूतं सुनिष्पन्नम्। एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि इति षोड़शकला अंशा यस्मिन् तत्। यद्यपि भगवद्विग्रहो नैवम्भूतः तथापि विराड़् जीवान्तर्यामिणो भगवतो विराड़्-रूपेण उपासनार्थमेवमुक्तमिति द्रष्टव्यम्।

क्रमसन्दर्भः—यस्य च तादृशत्वेन तत्र शयानस्यावयव संस्थानैः साक्षाच्छ्रीचरणादि सन्निवेशै र्लोकस्य विस्तरो विस्तारोविराड़ाकारः प्रपञ्चः कल्पितः—यथा तदवयवसन्निवेशस्तथैव (भा० २।१।२६)—"पातालमेतस्य हि पादमूलम्" इत्यादिना नवीनोपासकान् प्रति मनःस्थैर्य्याय प्रख्यापितः, नतु वस्तुतस्तदेव यस्य रूपमित्यर्थः। यद्वा, (ऋक्० १०।९०।१३-१४) "चन्द्रमा मनसो जातः" इत्यारभ्य "पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयन्" इत्यादि श्रुतेस्तैर्हेतुभूतैर्लोकविस्तारो रचित इत्यर्थः। तथा च मोक्षधर्मे नारायणीये (म० भा० शान्ति-प० ३३९।७२-७४) गर्भोदके शयानस्य रूपान्तरेण श्वेतद्वीपपतेर्वाक्यम्,—

"अस्मन्मूर्त्तिश्चतुर्थी या साऽसृजत् शेषमव्ययम्॥
स हि सङ्कर्षणः प्रोक्तः प्रद्युम्नं सोऽप्यजीजनत्। प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽहं सर्गो मम पुनः पुनः॥
अनिरुद्धात्तथा ब्रह्मा तन्नाभिकमलोद्भवः। ब्रह्मणः सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च॥"

तत्रैव वेदव्यासः (म० भा० शान्ति-प० ३४०।२८-३१)—

"परमात्मेति यं प्राहुः सांख्ययोगविदो जनाः॥
महापुरुष-संज्ञां स लभते स्वे कर्मणा। तस्मात् प्रभूतमव्यक्तं प्रधानं तद्विदुर्बुधाः॥
अव्यक्ताद्व्यक्तमुत्पन्नं लोकसृष्ट्यर्थमीश्वरात्। अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मेति कथ्यते॥
योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम्॥" इति।

तदेवं सङ्कर्षणस्य वैभवमुक्त्वा अनिरुद्धस्यापि आह,—अनिरुद्धो हीति, लोकेषु प्रत्येकं ब्रह्माण्डेषु; महानात्मा परमात्मा। व्यक्तत्वं प्राकट्यम् प्रद्युम्नादिति शेषः। सूतेन त्वभेदविवक्षया प्रद्युम्नः पृथङ्नोक्तः;—विष्णोस्तु त्रीणि "रूपाणि" इतिवत्। सेयं प्रक्रिया द्वितीयस्कन्धस्य षष्ठे दृश्यते, यथा (भा० २।६।३९)—"स एष आद्यः पुरुषः" इत्यादिपद्ये टीका,—'स एष आद्यो भगवान्, यः पुरुषावतारः सन् सृष्ट्यादिकं करोति" इत्येषा। एवम् (भा० २।६।४२) "आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य" इत्यस्य टीका—"परस्य भूम्नः पुरुषः प्रकृतिप्रवर्त्तकः। यस्य सहस्रशीर्षेत्याद्युक्तो लीलाविग्रहः, स आद्योऽवतारः" इत्येषा। तथा तृतीयस्य विंशे (भा० ३।२०।१२) "दैवेन" इत्यादिकं (भा० ३।२०।१७) "सोऽनु-" इत्यन्तं सटीक प्रकरणमत्रानुसन्धेयम्। तस्माद्विराट्त्वेन तद्रूपं न व्याख्यातम्। तस्माच्च वासुदेवस्थानीयो भगवान् पुरुषादन्य एवेत्यायातम्॥

"यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः। नाभिह्रदाम्बुजादासीत् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः॥२॥
यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः। तद्वै भगवतोरूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्ज्जितम्॥३॥"

टीका—कोऽसौ भगवानित्यपेक्षायां तं विशिनष्टि, यस्येति, यस्याम्भसि एकार्णवे शयानस्य विश्रान्तस्य। तत्र योगं समाधिः, तद्रूपां निद्रां विस्तारयतः, नाभिरेव ह्रदः, तस्मिन् यदम्बुजं तस्मात् सकाशात् ब्रह्मासीत् अभूत्। पाद्मे कल्पे स पौरुषं रूपं जगृहे। (२) कीदृशं रूपं जगृहे—तदाह यस्येति। ननु कीदृशो विग्रहस्तस्य योऽम्भसि शेते स्म तदाह। तत्तस्य भगवतोरूपन्तु विशुद्धं रज आद्यसम्भिन्नम्—अतएवोर्ज्जितं निरतिशयं सत्त्वम्। (३)

क्रमसन्दर्भः—अथ तस्य रूपद्वयस्य सामान्यत एकत्वेन स्वरूपमाह—तदिति; तच्छ्रीभगवतः पौरुषं रूपम्; वै प्रसिद्धौ, विशुद्धोर्ज्जित सत्त्वादिभि र्व्यक्तत्वात्—शक्ति स्वरूपयोरभेदाच्च तद्रूपमेवेत्यर्थः, उक्तञ्च द्वितीयं पुरुषव्यूहमधिकृत्य स्वरूपत्वं तद्रूपस्य (भा० ३।९।३) "नातः परं परम यद्भवतः स्वरूपम्"

इत्यत्र। विशुद्धं,—जाड्यांशेनापि रहितम्, स्वरूपशक्तिवृत्तित्वात्। "ऊर्ज्जितं, सर्वतोबलवत्, परमानन्दरूपत्वात्। (तै० २।७।१) "को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इति श्रुतेः। तस्मात् साक्षाद्भगवद्रूपत्वे तु कैमुत्यमेवायातम् ॥

(भा० ३।२०।१२-१७) का क्रमसन्दर्भ निर्दिष्ट सटीक प्रकरण—श्रीमैत्रेय उवाच—

"दैवेन दुर्वितर्क्येण परेणानिमिषेण च। जातक्षोभाद्भगवतो महानासीद् गुणत्रयात् ॥
रजः प्रधानात् महत स्त्रिलिङ्गो दैवयोदितात्। जातः ससर्जभूतादिर्वियदादीनि पञ्चशः ॥
तानि चैकैकशः स्रष्टुमसमर्थानि भौतिकम्। संहत्य दैवयोगेन हैममण्डमवासृजन् ॥
सोऽशयिष्टाब्धि सलिले अण्डकोषो निरात्मकः। साग्रं वै वर्षसाहस्रमन्ववात्सीत् तमीश्वरः ॥
तस्य नाभेरभूत् पद्मं सहस्रार्कोरुदीधितिः। सर्वजीवनिकायौको यत्र स्वयमभूत् स्वराट् ॥
सोऽनुविष्टो भगवता यः शेते सलिलाशये। लोकसंस्थां यथापूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया ॥१७॥

टीका—ब्रह्मा किमारभतेति प्रश्नस्य यक्षादीन् सृष्टवानित्युत्तरं वक्तुं पूर्वोक्तां सृष्टिमनुस्मारयति दैवेनेति सप्तभिः। मन्वादि प्रश्नानान्तूत्तराध्यायमारभ्य उत्तरं भविष्यति। दुर्वितर्क्येण दैवेन जीवादृष्टेन, प्रकृत्यधिष्ठात्रा महापुरुषेण, अनिमिषेण कालेन च हेतुना। भगवतोनिर्विकारात् जातक्षोभं सद्गुणत्रयं प्रधानं तस्मात् महानासीत्। तदुक्तं तन्त्रे—विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्याण्यथो विदुः, प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयन्त्वण्डसंस्थितम् तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ॥ इति ॥१२॥ महतो जातोभूतादिरहङ्कारः त्रिलिङ्ग स्त्रिगुणः, रजप्रधानादिति—स्वतः स्वस्य प्रधानस्यापि महतोऽहङ्कारोत्पत्तिकाले कार्य्यानुरूपं रजः प्रधानत्वं भवतीति भावः, पञ्चशः तन्मात्राणि महाभूतानि ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च तत्तद्देवताश्चेति पञ्च पञ्च ससर्ज्जेत्यर्थः ॥१३॥ भौतिकं हैममण्डमेकैकशः प्रत्येकं स्रष्टुमसर्थानि सन्ति संहत्य ससृजुः ॥१४॥ अन्ववात्सीत् अधिष्ठितवान् ॥१५॥ सहस्रार्काणामिव उरुर्दीधिति र्यस्य तत् सर्वजीव निकायानामोकः स्थानं पद्मम्। स्वराट् ब्रह्मा ॥१६॥ यः सलिलाशये गर्भोदकस्यान्तः शेते, तेने भगवतानुविष्टोऽधिष्ठितः सन् स स्वराट्। स्वया संस्थया नामरूपादिक्रमेण ॥१७॥

क्रमसन्दर्भः – स्वरूपानन्दास्वादनरूपयोगनिद्राप्राप्तशयितपुरुषावतार के साक्षात् श्रीचरणादि सन्निवेश के द्वारा लोक का विस्तार हुआ, अर्थात् विराड़ाकार प्रपञ्च कल्पित हुआ। उन पुरुष के अवयवसन्निवेश का वर्णन (भा० २।१।२६) में उक्त पुरुष का पादतल पाताल है। इत्यादि के द्वारा जो वर्णन है, वह वर्णन नवीन उपासक के प्रति मनःस्थिर करने के लिये कहा गया है। किन्तु वस्तुत उस प्रकार ही रूप नहीं है। ऋक् वेद में (१०।९०।१३-१४) वर्णित है—पुराण पुरुष के मन से चन्द्रमा, चरणों से भूमि, श्रवणों से दिक् समूह, एवं लोक समूह की कल्पना हुई है। उक्त कारणों से लोक समूह का विस्तार हुआ। मोक्षधर्म में नारायणीयोपाख्यान में वर्णित है—(महाभारत शान्ति पर्व ३३९।७२-७४) गर्भोदक में शयित रूपान्तर से श्वेत-द्वीप पति का वाक्य,—मेरी चतुर्थी मूर्त्ति ने अव्यय शेष को सृजन किया, उनको सङ्कर्षण कहते हैं। उनसे प्रद्युम्न की उत्पत्ति हुई, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध हुए। इस क्रम से पुनः पुनः सृष्टि होती है, अनिरुद्ध के नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्मा से स्थावर जङ्गमात्मक समस्त विश्व की उत्पत्ति हुई। उस प्रकरण में श्रीवेदव्यास ने कहा,—सांख्य तत्त्ववेत्तागण जिनको परमात्मा नाम से जानते हैं। अपने कर्म के द्वारा ही आपने महापुरुष संज्ञा प्राप्त की है, उनसे प्रभूत अव्यक्त का आविर्भाव हुआ, अव्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति हुई। लोक में अनिरुद्ध को महानात्मा कहते हैं। जिन्होंने सर्व लोक पितामह को प्रकट किया। सङ्कर्षण का प्रभाव वर्णन करने के पश्चात् अनिरुद्ध का वर्णन करते हैं. प्रत्येक ब्रह्माण्ड में महानात्मा रूप में प्रकट होते हैं, उनका प्राकट्य प्रद्युम्न से होता है। सूत के वर्णन में अनिरुद्ध के सहित अभिन्न करके वर्णित होनेसे प्रद्युम्न का पृथक् वर्णन नहीं हुआ। विष्णुके

२। तस्य पुरुषरूपस्य विसर्ग-निदानत्वमपि प्रतिपादयितुमाह सार्द्धेन (भा० १।३।२-३)—

(२) "यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः।
नाभिहदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥५॥
यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः ॥"६॥

सर्वसम्वादिनी

"चाक्षुषे त्वन्तरे प्राप्ते प्राक्सर्गे कालविप्लुते।
यः ससर्ज्ज प्रजा इष्टाः स दक्षो दैवचोदितः ॥"२॥ इति।

तीन रूप हैं, यहाँ जिस प्रकार नामतः पृथगुक्ति नहीं है, उस प्रकार जानना होगा। उक्त वर्णन प्रक्रिया (भा० २।६।३९) में है। वह आद्य पुरुष हैं। इस पद्य की टीका—वह ही आद्य भगवान् हैं। जिन्होंने पुरुष रूप को प्रकट कर विश्व सृष्ट्यादि कार्य्य किया है। इस प्रकार ही (भा० २।६।४२) 'आद्य अवतार पर पुरुष', इस पद्य की टीका—विभु पुरुष ही प्रकृति का प्रवर्त्तक हैं। जिनका सहस्रशीर्ष रूपलीला विग्रह है, वह ही आद्य अवतार है। उस प्रकार (भा० ३।१०।१२-१७) दैवेन पद्यस्थ टीका प्रकरण का अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है।

ब्रह्माने किस प्रकार सृजन् कर्म प्रारम्भ किया, पूछे जाने पर उत्तर में मैत्रेय ने कहा, जीवादृष्ट के द्वारा सृजन करने के अभिलाष से भगवान् ने कालरूप धारण किया, एवं उससे प्रकृति को क्षुब्ध किया, गुणत्रययुक्त उक्त क्षुब्ध प्रधान से महत्तत्त्व आविर्भूत हुआ। तन्त्र में कहा है,—श्रीविष्णु के तीन रूप हैं, कारणार्णवशायी प्रथम पुरुष, गर्भोदकशायी द्वितीय पुरुष, क्षीराब्धिशायी तृतीय पुरुष हैं। उनको जानने से जीव मुक्त होता है। महत् से अहङ्कार होता है, अहङ्कार स्वयं सत्त्व प्रधान होनेसे भी उत्पत्ति के समय त्रिगुणस्थ रजः का प्राधान्य होता है। पञ्च प्रकार को कहते हैं—तन्मात्रा महाभूत, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय उनके देवता पञ्च पञ्च का सृजन किया। भौतिक अण्ड स्वयं सृजन करने में सक्षम नहीं था। अतः उसे मिलाकर सृजन किया, एवं उसका अधिष्ठान भी बना। सहस्र सूर्य के समान जिसकी कान्ति है, इस प्रकार एक पद्म नाभि से उत्पन्न हुआ जो समस्त लोकों का स्थान है, उसमें स्वराट् ब्रह्मा प्रकट हुए। गर्भोदक के निम्नतल में भगवान् पद्माधार रूप में शयित थे, उनसे अधिष्ठित होकर ब्रह्मा स्वराट् हुए एवं नामादि क्रम से यथापूर्व सृजन कार्य्य किये। अतएव भगवान् रूप को विराट् रूप से नहीं कहा गया है। अतः वासुदेवस्थानीय भगवान् उक्त पुरुष से भिन्न हैं, यह अर्थ—प्रकरण लब्ध है।

उक्त रूपद्वय का सामान्यतः एकरूप से वर्णन करते हैं—उन श्रीभगवान् का पौरुष रूप, वै शब्द प्रसिद्धार्थक है। विशुद्धोर्ज्जित सत्त्वादि के द्वारा रूप प्रकट होनेसे शक्ति शक्तिमान् का अभेद ही है। इस प्रकार प्रकट रूप हैं, द्वितीय पुरुष व्यूह को लक्ष्य करके उनका स्वरूप वर्णन इस प्रकार हुआ है,—(भा० ३।९।३) आप का रूप अनुपम है, इससे श्रेष्ठ रूप और नहीं है। विशुद्ध शब्द का अर्थ है—मायिक, 'जड़ीय', गुणलेशशून्य, स्वरूपशक्ति वृत्तिभूत है। अर्जित,—सर्वतो बलवत्, परमानन्द स्वरूप होने से ही वैसा सम्भव है। तै० उपनिषद् में उक्त है,—यदि वह आकाश आनन्द स्वरूप नहीं होता तो कौन प्राण धारण करने में सक्षम होता। इस श्रुति से श्रीभगवद्रूप का ही निर्देश हुआ है। सृष्ट समस्त पदार्थों का आधार स्वरूप होनेसे ही उनको परमात्मा कहते हैं ॥१॥

उक्तपुरुष रूप का विसर्ग निदानत्व स्थापन करने के निमित्त सार्द्धश्लोक के द्वारा कहते हैं, (भा० १।३।२-३)—

जो गर्भोदक में शयनलीला, योगनिद्रारूप स्वरूपानन्द समाधि का विस्तार करते हैं, उनके नाभिकमल से

यस्य पुरुषरूपस्य द्वितीयेन व्यूहेन ब्रह्माण्डं प्रविश्य अम्भसि गर्भोदके शयानस्येत्यादि योज्यम्। यस्य च तादृशत्वेन तत्र शयानस्य अवयवसंस्थानैः साक्षाच्छ्रीचरणादिसन्निवेशैर्लोकस्य विस्तारो विराड़ाकारः प्रपञ्चः कल्पितः। यथा तदवयवसन्निवेशास्तथैव (भा० २।१।२६) "पातालमेतस्य हि पादमूलम्" इत्यादिना नवीनोपासकान् प्रति मनःस्थैर्य्याय प्रख्यापितः, न तु वस्तुतस्तदेव यस्य रूपमित्यर्थः। यद्वा, (ऋक्० १०।९०।१३) "चन्द्रमा मनसो जातः" इत्यारभ्य (ऋक्० १०।९०।१४) "पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकानकल्पयत्" इति श्रुतेस्तैर्हेतुभूतैर्लोकविस्तारो रचित इत्यर्थः। तथा च भारते मोक्षधर्मे नारायणीये गर्भोदके शयानस्य रूपान्तरेण श्वेतद्वीपपतेर्वाक्यम् (म० भा० शान्ति-प० ३३९।७२-७४)—

सर्वसम्वादिनी

[मूल० दम अनु०] "तृतीयम्" इति,—(मूले) "सात्वतं वैष्णवम्; तन्त्रं पञ्चरात्रागमम्; कर्मणां कर्माकारेणापि सतां श्रीभगवद्धर्माणाम्, यतस्तन्त्रान्नैष्कर्म्यं कर्मबन्ध-मोचकत्वेन कर्मभ्यो निर्गतत्वं तेभ्यो भिन्नत्वं प्रतीयत इति शेषः।"

विश्वस्रष्टा, प्रजापतिगण का पति ब्रह्मा उत्पन्न हुए थे।

टीका—कोऽसौ भगवानित्यपेक्षायां तं विशिनष्टि यस्येति। यस्याम्भसि एकार्णवे शयानस्य—विश्रान्तस्य। तत्र योगः समाधि स्तद्रूपां निद्रां विस्तारयतः, नाभिरेव ह्रदं तस्मिन् यदम्बुजं, तस्मात् सकाशात् ब्रह्मासीत्—अभूत्। पाद्मकल्पे—स पौरुषं रूपं जगृहे। (२) कीदृशं रूपं जगृहे तदाह यस्येति। ननु कीदृशो विग्रहस्तस्य योऽम्भसि शेते स्म तदाह।

क्रमसन्दर्भः—तस्य पुरुषरूपस्य विसर्गनिदानत्वमपि प्रतिपादयितुमाह सार्द्धेन। यस्य पुरुषरूपस्य द्वितीयेन व्यूहेन ब्रह्माण्डं प्रविश्याम्भसि गर्भोदके शयानस्येत्यादि योज्यम्। अत्र टीकायां पाद्मं इत्यत्र ब्राह्म इति वाच्यम्।

प्रथम पुरुष के अंश से द्वितीय व्यूह रूप पुरुष को प्रकट कर ब्रह्माण्ड में सन्निविष्ट होकर, प्रलय के समय गर्भोदक में शयन करते हैं, इस प्रकार पद्यस्थ वाक्य की योजना है। उक्त गर्भोदक में शयित पुरुष के अवयव संस्थान के द्वारा अर्थात् साक्षात् श्रीचरणादि सन्निवेश के द्वारा लोक का विस्तार हुआ, अर्थात् विराड़ाकार प्रपञ्च की कल्पना हुई। (भा० २।१।२६) में वर्णित है—

पातालमेतस्य हि पादमूलम् पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम्।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे॥

टीका—"विराड़् देह तज्जीव तदन्तर्य्यामिणाम् अभेदमारोप्य उपासनं कर्त्तव्यम्। इत्याशयेनाह पातालं पादमूलम् पादस्याधोभागम्। पातालादीनां तदवयवता विधीयते। पातालादीनि अतलान्तानि अधस्तनादारभ्य सप्तभूविवराणि। पठन्ति गृह्णन्ति" इत्यादि प्रमाण प्रदर्शनम्। पार्ष्णिप्रपदे - पादस्य पश्चात् पुरोभागौ॥ जितासनो जितश्वासो जितसङ्गो जितेन्द्रियः। स्थूले भगवतो रूपे मनः सन्धारयेद्धिया॥ विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसाम्। यत्रेदं व्यज्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च सत्॥(भा०२।१।२३-२४)

उपास्य में नवीन उपासक मनःस्थिर कर सके, एतन्निमित्त विश्वस्थ पदार्थ समूह को पुरुष के प्रत्येक देहावयव में सन्निविष्ट किया गया है। किन्तु उक्त पुरुष का उक्त विराड़् रूप ही वास्तविक है, इस प्रकार धारणा न करें। ऋक् वेद के (१०।९०।१३) में वर्णित है,—पुरुष के मन से चन्द्रमाकी उत्पत्ति हुई।

श्रीकृष्णसन्दर्भः

"अस्मन्मूर्त्तिश्चतुर्थी या सासृजच्छेषमव्ययम् ।।७।।
स हि सङ्कर्षणः प्रोक्तः प्रद्युम्नं सोऽप्यजीजनत् । प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽहं सर्गो मम पुनः पुनः ।।८।।
अनिरुद्धात्तथा ब्रह्मा तन्नाभिकमलोद्भवः । ब्रह्मणः सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ।।"९।।

तत्रैव वेदव्यासः (म० भा० शान्ति-प० ३४०।२८-३१)—

"परमात्मेति यं प्राहुः सांख्ययोगविदो जनाः ।।१०।।
महापुरुष-संज्ञां स लभते स्वेन कर्म्मणा । तस्मात् प्रसूतमव्यक्तं प्रधानं तद्विदुर्बुधाः ।।११।।
अव्यक्ताद्व्यक्तमुत्पन्नं लोकसृष्टचर्थमीश्वरात् । अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मेति कथ्यते ।।१२।।
योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्म्ममे च पितामहम् ।।"१३।। इति ।

सर्वसम्वादिनी

[मूल० ६म अनु०] "तुर्य्ये" इति,—धर्मस्य भागवत-मुख्यस्य कलायाः श्रद्धा-पुष्ट्यादि-साहित्येन पठितायाः श्रीभगवच्छक्ति-लक्षणाया मूर्त्तेश्च सर्गे प्रादुर्भावे । अनयोरेकावतारत्वं हरि-कृष्णाभ्यां सोदराभ्यामपि सह ।

इस प्रकार आरम्भ कर (ऋक्० १०।९०।१४) में कहा गया है, चरणद्वय से भूमि, तथा श्रोत्र से दिक् एवं अपरापर विश्व की उत्पत्ति हुई । उन उन अवयव को निमित्त करके लोक की रचना हुई । उस प्रकार महाभारत के मोक्षधर्मीय नारायणीय प्रकरण में उक्त है,—श्वेतद्वीपपति अनिरुद्ध ने कहा,—मेरी चतुर्थमूर्त्ति श्रीवासुदेव ने अव्यय शेष का सृजन किया, यह शेष—श्रीसङ्कर्षण नाम से अभिहित हैं, उनसे प्रद्युम्न उत्पन्न हुए । यद्यपि नरलीलात्मक द्वारका चतुर्व्यूह श्रीवासुदेव से श्रीप्रद्युम्न की सृष्टि हुई है, यहाँ देवलील वैकुण्ठ चतुर्व्युह श्रीसङ्कर्षण से प्रद्युम्न का प्रादुर्भाव वर्णित है, ईश्वरलीला का क्रम इस प्रकार ही है ।

श्रीप्रद्युम्न से अनिरुद्ध प्रकट हुए हैं, इस प्रकार प्रकट पुनः पुनः होता रहता है, अनिरुद्ध के नाभिकमल से ब्रह्मा का जन्म होता है, ब्रह्मा से स्थावर जङ्गमात्मक समस्त भूतों की सृष्टि होती है । उक्त प्रकरण में वेदव्यास ने कहा है—सांख्ययोग तत्त्वविद्गण जिनको परमात्मा कहते हैं । निज कर्मके द्वारा आप "महापुरुष" नाम से विभूषित होते हैं । उससे अव्यक्त उत्पन्न होता है, उक्त अव्यक्त को बुधगण प्रधान कहते हैं, लोकसृष्टिकर्त्ता परमात्मा के प्रभाव से—अव्यक्त से व्यक्त महदादि की सृष्टि हुई है । अनिरुद्ध को विद्वान्गण महानात्मा शब्द से कहते हैं । अनिरुद्ध सृष्टि कार्य्य में प्रवृत्त होकर लोक पितामह ब्रह्मा को सृजन किए । सङ्कर्षण का वैभव कथन के पश्चात् अनिरुद्ध का वैभव को कहते हैं, लोकेषु—प्रत्येक ब्रह्माण्ड में महानात्मा—परमात्मा—अनिरुद्ध हैं । प्रद्युम्न से ही आप प्रकट हुए हैं ।

यहाँपर अनिरुद्ध की उक्ति में संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तीन व्यूह का उल्लेख है, श्रीव्यास की उक्ति में सङ्कर्षण—अनिरुद्ध व्यूहद्वय का उल्लेख है, इस मतभेद का समाधान यह है, प्रद्युम्न के सहित अनिरुद्ध का अवान्तर भेद विद्यमान होने पर भी सूतोक्ति में उभय को अभेद करके ही कहा गया है, अतएव व्यूहद्वय हुआ है । चतुर्थ व्यूह वासुदेव स्थानीय श्रीभगवान् हैं । (भा० ११।४।३) श्लोक में उक्त है,— "भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः, पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान,—मवाप नारायण आदिदेवः ।।"

आदिदेव नारायण जब महत्स्रष्टा पुरुष संज्ञा को प्राप्त करते हैं, तब निज सृष्ट पञ्चभूत के द्वारा ब्रह्माण्ड की रचना करके उसमें अन्तर्य्यामी रूप में प्रविष्ट होकर द्वितीय पुरुष नाम से अभिहित होते हैं । टीकाकार स्वामिपाद ने इन को पुरुषावतार कहा है ।

तदेवं सङ्कर्षणस्य वैभवमुक्त्वानिरुद्धस्याप्याह—अनिरुद्धो हीति, लोकेषु प्रत्येकं ब्रह्माण्डेषु महानात्मा परमात्मा। व्यक्तत्वं प्राकट्यं प्रद्युम्नादिति शेषः। सूतेन त्वभेदविवक्षया प्रद्युम्नः पृथङ्नोक्तः;—"विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि" इतिवत्। सेयं प्रक्रिया द्वितीयस्य षष्ठे दृश्यते, यथा (भा० २।६।३९)—"स एष आद्यः पुरुषः" इत्यादिपद्ये टीका—"स एष आद्यो भगवान् यः पुरुषावतारः सन् सृष्ट्यादिकं करोति" इत्येषा। एवम् (भा० २।६।४२)—"आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य" इत्यत्र टीका—"परस्य भूम्नः पुरुषः प्रकृतिप्रवर्त्तको यस्य (ऋक्० १०।९०।१) "सहस्रशीर्षा" इत्याद्युक्तो लीलाविग्रहः, स आद्योऽवतारः" इत्येषा। तथा तृतीयस्य विंशे (भा० ३।२०।१२) "दैवेन" इत्यादिकं (भा० ३।२०।१७) "सोऽनु-" इत्यन्तं

सर्वसम्वादिनी

[मूल० १०म अनु०] "पञ्चमः" इति; (भा० ३।२४।१९—ग्रन्थकृद्विरचित-श्रीक्रमसन्दर्भे धृतानि पाद्म-वाक्यानि)—

पञ्चभूतों से विराज अर्थात् ब्रह्माण्ड निर्म्माण करके परमात्मा उसमें प्रविष्ट होते हैं, नियामक रूप में प्रविष्ट होते हैं, भोक्ता रूप में नहीं, कारण प्रचुर पुण्य विशिष्ट जीव ही उक्त पुर का भोक्ता होता है। उस प्रकार उक्ति ही (भा० २।६।३९) में है—

"स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः। आत्मन्यात्मनात्मानं स संयच्छति पाति च ॥"

टीका—अवतार कर्माणि संक्षेपतो दर्शयति। स एष आद्यो भगवान् यः पुरुषावतारः सन् सृष्ट्यादि करोति। आत्मात्मन्यात्मनात्मानमिति कर्त्ता, अधिकरणं, साधनं, कर्म, च स्वयमेवेत्यर्थः॥ पुरुषोऽवतारः सृष्ट्यादीनि च कर्माणीति संक्षेपोक्तिः॥ (३९)

आद्य—अर्थात् भगवान् पुरुषावतार होकर सृष्ट्यादि कार्य्य करते हैं, टीकाकार ने भी कहा है,—आद्य, भगवान् पुरुषावतार होकर सृष्ट्यादि कार्य्य करते हैं। एवं स्वयं कर्त्ता, अधिकरण, साधन, कर्म भी होते हैं। इस प्रकार (भा० २।६।४२) में उक्त है—

"आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य, कालः स्वभावः सदसन्मनश्च।
द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि, विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः॥"

टीका—अवतारान् विस्तरेणाह,—आद्य इति, यावदध्यायसमाप्ति,—परस्य भूम्नः पुरुषः—प्रकृति प्रवर्त्तकः। यस्य सहस्रशीर्षाद्युक्तो लीलाविग्रहः स आद्योऽवतारः। वक्ष्यते हि भूतै र्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्। स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः॥ यच्चोक्तम्—विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः। प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयन्त्वण्डसंस्थितम्। तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते, इति। यद्यपि सर्वेषामविशेषेण अवतारत्वमुच्यते, तथापि कालश्च स्वभावश्च सदसदिति कार्य्य कारणरूपा प्रकृतिश्च एताः शक्तयः। मन आदीनि कार्य्याणि, ब्रह्मादयो गुणावताराः, दक्षादयो विभूतयः॥ इति विवेक्तव्यम्। मनो—महत्तत्त्वम्। द्रव्यं महाभूतानि। क्रमोऽत्र न विवक्षितः। विकारोऽहङ्कारः। गुणः, सत्त्वादिः। विराट्—समष्टिशरीरम्। स्वराट् वैराजः। स्थास्नु—स्थावरं, चरिष्णु जङ्गमश्च—व्यष्टि शरीरम्॥ (४२)

टीकाकार ने लिखा है, पर अर्थात् भूमापुरुष श्रीभगवान् का प्रथमावतार पुरुष है, जो प्रकृति का प्रवर्त्तक है। ऋक् में भी उक्त है, सहस्रशीर्षापुरुषः—इत्यादि लीलाविग्रह, वह ही आद्य अवतार है। उस प्रकार (भा० ३।२०।१२) से आरम्भ करके (भा० ३।२०।१७) पर्य्यन्त श्लोक में उक्त विवरण है,

सटीकमेव प्रकरणमत्रानुसन्धेयम्। तस्माद्विराट्त्वेन तद्रूपं न व्याख्यातम्। तस्माच्च वासुदेवस्थानीयो भगवान् पुरुषादन्य एवेत्यायातम्॥

३। अथ तस्य रूपद्वयस्य सामान्यत ऐकविध्येन स्वरूपमाह (भा० १।३।३)—

(३) "तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम्" इति।

सर्वसम्वादिनी

"कपिलो वासुदेवाख्यस्तत्त्वं साङ्ख्यं जगाद ह। ब्रह्मादिभ्यश्च देवेभ्यो भृग्वादिभ्यस्तथैव च॥३॥
तथैवासुरये सर्ववेदार्थैरुपबृंहितम्। सर्ववेदविरुद्धश्च कपिलोऽन्यो जगाद ह।
साङ्ख्यमासुरयेऽन्यस्मै कुतर्क-परिबृंहितम्॥"४॥ इति।

श्रीधरस्वामिपाद की टीका को अवलोकन करना इस स्थल के लिए उपयोगी है। संक्षिप्त विवरण टीका का यह है—विकार रहित भगवान् महाविष्णु से प्रकृति क्षुब्धा होनेसे महत्तत्त्व का प्राकट्य होता है। यद्यपि प्रकृति क्षोभ के प्रति जीवादृष्ट, महापुरुष, एवं काल—कारण हैं। तथापि महापुरुष मुख्य कारण हैं, जीवादृष्ट एवं काल गौण कारण हैं। ईश्वर की इच्छा से महत्तत्त्व से अहङ्कार, पञ्च तन्मात्र, पञ्चमहाभूत, इन्द्रिय, इन्द्रियाधिष्ठात्री देवता, उत्पन्न होते हैं। ईश्वरेच्छा से उक्त समस्त तत्त्व मिलित होकर ब्रह्माण्ड सृष्ट होता है, उक्त ब्रह्माण्ड में ईश्वर (महाविष्णु) अंश से (अन्तर्य्यामी) रूप से प्रवेश करते हैं। उन स्वरूप का नाम गर्भोदकशायी हैं, इनकी नाभि से जीव समूह के अधिष्ठान स्वरूप पद्म आविर्भूत हुआ। उक्त पद्म से स्वयं ब्रह्मा प्रकट होते हैं। अतएव विराट् ब्रह्माण्ड ही पुरुष का रूप नहीं है, पुरुष उक्त विराट् ब्रह्माण्ड में अन्तर्य्यामी सहस्रशीर्षा रूप में अवस्थित होते हैं। यहाँ प्रणिधानयोग्य विषय यह है कि—"विवर्त्तवादिगण कहते हैं—जगत् मिथ्या है, केवल माया विवर्त्त मात्र है।" उक्त वाद का निरसन (भा० ३।२०।१७) के द्वारा हुआ है।

"सोऽनुविष्टो भगवता यः शेते सलिलाशये। लोकसंस्था यथापूर्वं निर्म्ममे संस्थया स्वया॥"

टीका—यः सलिलाशये गर्भोदकस्यान्तः शेते तेन भगवतानुविष्टोऽधिष्ठितः सन् स स्वराट्। स्वया संस्थया—नामरूपादिक्रमेण। प्रलय के पूर्ववर्त्ती काल में जिनके जिस प्रकार नामादि थे, प्रलय के पश्चात् ठीक उक्त रूप से ही उसका सृजन होता है। यह रीति अनादि काल से चलती आ रही है। इससे रज्जुसर्पवत् भ्रान्ति विजृम्भित जगत् है, इसका निरास हुआ, सत्यवस्तु की ही अभिव्यक्ति जगत् है, इसका स्थापन ही श्रीमद्भागवत में है, मायावाद का नहीं। श्रुति भी कहती है, "सदेव सौम्य इदमग्र आसीत्" जगत् सृष्टि के पूर्व में सत्य ही था, पहले जिस प्रकार था, वह ही अभिव्यक्त होता है, अतः जगत् मिथ्या नहीं है।

"यस्याम्भसि शयनस्य योगनिद्रां वितन्वतः। नाभिह्लदाम्बुजादासीत् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः॥"

यहाँपर महत्स्रष्टा पुरुष एवं ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट पुरुष को अभिन्न रूप से कहा गया है। अतएव श्रीवासुदेव स्थानीय भगवान् पुरुषावतार से भिन्न ही हैं, प्रकरण से इसका प्रकाश हुआ है॥२॥

उक्त पुरुषद्वय को एकरूप से, अर्थात् स्वरूप तटस्थ लक्षण के द्वारा कहते हैं—(भा० १।३।३) में वर्णित है—"यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः। तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्ज्जितम्॥

टीका—कीदृशं रूपं जगृहे तदाह—यस्येति। ननु कीदृशो विग्रहस्तस्य योऽम्भसि शेते स्म तदाह। तत् तस्य भगवतो रूपन्तु विशुद्धं,—रज आद्यसम्भिन्नम्। अतएवोर्ज्जितम्, निरतिशयं सत्त्वम्॥

अनन्तर तटस्थ एवं स्वरूप लक्षण के द्वारा पुरुष का निरूपण करते हैं। स्वरूप लक्षण—पुरुषाख्य

तत् श्रीभगवतः पौरुषं रूपं वै प्रसिद्धौ विशुद्धोर्जितसत्त्वाभिव्यक्तत्वाच्छक्तिस्वरूपयोरभेदान्न तद्रूपमेवेत्यर्थः। उक्तञ्च द्वितीयं पुरुषव्यूहमधिकृत्य स्वरूपत्वं तद्रूपस्य (भा० ३।९।३) "नातः परं परम यद्भवतः स्वरूपम्" इत्यत्र। विशुद्धं जाड्यांशेनापि रहितम्, स्वरूपशक्तिवृत्तित्वात्। ऊर्जितं सर्वतो बलवत्, परमानन्दरूपत्वात्; (तै० २।७।१) "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इति श्रुतेः। तस्मात् साक्षाद्भगवद्रूपे तु कैमुत्यमेवायातम्।।

४। तदेवं पुरुषस्य द्विधा स्थानकर्मणी उक्त्वा स्वरूपवदाकारं त्वेकप्रकारमाह (भा० १।३।४)—

सर्वसम्वादिनी

[मूल० १२श अनु०] "ततः" इत्ययमेव मातामहेन मनुना हरिरित्यनूक्तः।
[मूल० १३श अनु०] "अष्टमे" इत्ययमेवावेश इत्येके।

भगवद्रूप—रजः प्रभृति मायिक गुणों से अस्पृष्ट है, अप्राकृत है, विशुद्ध सत्त्व स्वरूप है, तटस्थ लक्षण—पुरुषरूप के अवयव संस्थान के द्वारा भू आदि लोक समूह कल्पित हैं।

श्रीभगवान् के उक्त पौरुषरूप—विशुद्ध सत्त्वोर्ज्जित रूप में प्रसिद्ध है। बलवत् विशुद्ध सत्त्व में उक्त पुरुषरूप अभिव्यक्त होनेके कारण, कार्य्य कारण का निर्देश अभिन्न रूप से ही हुआ है। विशुद्धसत्व—श्रीभगवान् के स्वरूपशक्ति के वृत्तिरूप है, स्वरूप एवं शक्ति अभिन्न होनेसे ही अभेद निर्देश हुआ है। श्रीभगवान् के पौरुषरूप विशुद्ध, एवं ऊर्ज्जित सत्त्वस्वरूप हैं। द्वितीय पुरुष व्यूह को लक्ष्य करके (भा० ३।९।३) में उनका स्वरूप वर्णन हुआ है—

"नातः परं परम यद्भवतः स्वरूपमानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्च्चः।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन् भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि।।"

टीका—हे परम! अविद्धवर्च्चः, अनावृतप्रकाशम् अतः अविकल्पम् निर्भेदं, अतएवानन्दमात्रम्। एवम्भूतं यद्भवतः स्वरूपम्। तत् अतो रूपात् परं भिन्नं न पश्यामि, किन्तु इदमेव तत्। अतः कारणात् ते तव अदः इदं रूपं उपाश्रितोऽस्मि। योग्यत्वादपीत्याह। एकम् उपास्येषु मुख्यम्। यतः विश्वसृजं—विश्वं सृजतीति। अतएव अविश्वं विश्वस्मादन्यत्। किञ्च भूतेन्द्रियात्मकं भूतानामिन्द्रियाणाञ्च आत्मानं कारणमित्यर्थः।।

ब्रह्मा कहते हैं—हे परम! दृश्यमान आपका रूप, आपका स्वरूप से भिन्न नहीं है, किन्तु मैं देख रहा हूँ, आपका स्वरूप ही आपका रूप है। यहाँपर रूप का ही स्वरूपत्व कथन हुआ है, अर्थात् जीव में जिस प्रकार जड़ देह एवं चिन्मय आत्मा का भान होता है, आपके स्वरूप में उस प्रकार देह देही भेद नहीं है, भगवान् चिन्मय स्वरूप हैं, अतएव भगवद्रूप ही भगवान् का स्वरूप है।

उक्त श्लोकस्थ श्रीभगवान् का पौरुष रूप, प्रसिद्ध विशुद्धसत्त्व का ऊर्ज्जित स्वरूप है। जाड्यांश से रहित है, कारण वह स्वरूपशक्ति के वृत्तिरूप है। ऊर्ज्जित शब्द से सर्वापेक्षा बलवत्त्व को जानना होगा। कारण—वह परमानन्दरूप ही है। (तै० २।७।१) श्रुति भी उक्त पुरुष को परमानन्द स्वरूप कहती है, "यदि आकाश अर्थात् परमात्मा आनन्द स्वरूप नहीं होते तो कौन व्यक्ति जीवित रहने की चेष्टा करता?" सुतरां स्वयं भगवद्रूप जो सर्वथा आनन्दमय हैं, मायिक नहीं हैं, कैमुत्य से उक्तार्थ का लाभ हुआ।।३।।

उक्त रूप से पुरुष के दो प्रकार स्थान कर्म का वर्णन करने के अनन्तर स्वरूपवत् एकरूप आकार

(४) "पश्यन्त्यदो रूपमदभ्र-चक्षुषा, सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् ।
सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकं, सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ।।"१४।।

अदः पौरुषं रूपम्, अदभ्रचक्षुषा भक्त्याख्येन, (गी० ८।२२) "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया" इत्युक्तेः, "भक्तिरेवैनं नयति भक्तिरेवैनं दर्शयति" इत्यादि श्रुतेश्च । तत्र

सर्वसम्वादिनी

[मूल० १५श अनु०] "रूपम्" इत्ययमपि वराहवत् प्रथम-षष्ठ-मन्वन्तरयोरवातरदत् । तद्वदेव च द्वितीय एकतयैव वर्णितः । (भा० २।७।१२)—

का वर्णन करते हैं । (भा० १।३।४) में वर्णित है- पुरुष का रूप, सहस्र हैं, अर्थात् अनन्त चरण, अनन्त ऊरु, बाहु, वदन, अद्भुत अनन्त मस्तक, कर्ण, नयन, नासिका, अनन्त मुकुट, वस्त्र, कुण्डल द्वारा शोभित हैं, उपासकगण अदभ्रचक्षु के द्वारा उक्त रूपका दर्शन करते हैं ।

टीका—"एतच्च योगिनां प्रत्यक्षमित्याह, पश्यन्तीति, अदभ्रं- अनल्पं ज्ञानात्मकं यच्चक्षु स्तेन, सहस्रमपरिमितानि यानि पादादीनि तैरद्भुतम् । सहस्रं मूर्द्धादयो यस्मिन् तत् । सहस्रं यानि मौल्यादीनि तैरुल्लसत् शोभमानम् ।।"

क्रमसन्दर्भः—तदेवं पुरुषस्य द्विधा स्थानकर्मणो उक्त्वा स्वरूपवदाकारन्त्वेकप्रकारमाह,—पश्यन्तीति,—अदः पौरुषं रूपम् । अदभ्र चक्षुषा—भक्त्याख्येन, (गी० ८।२२)—"पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया" इत्युक्तेः, "भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति" इत्यादि माठरश्रुतेश्च । तत्रप्रथमपुरुषस्य सहस्रपादादित्वं परमात्मसन्दर्भे व्यञ्जितम् । तृतीयस्याष्टमे तु द्वितीय पुरुष व्यूहमुपलक्ष्य (भा० ३।८।२४) "वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः" इति, (भा० ३।८।२९) "दोर्दण्ड- सहस्रशाखम्" इति च, तथा नवमस्य चतुर्दशे (भा० ९।१४।२)—"सहस्रशिरसः पुंसो नाभिह्रदसरोरुहात् ।
जातस्यासीत् सुतो धातुरत्रिः पितृसमो गुणैः ।।" इति ।

अपुरोवर्त्ती उक्त पुरुषरूप का दर्शन अदभ्रचक्षु से होता है, अर्थात् भक्तिचक्षु से भक्तयोगिगण दर्शन करते हैं। श्रीगीता के (८।२२) में उक्त है—

"पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।"

टीका—तत्प्राप्तौ भक्तेः सूपायत्वमाह,—पुरुष स इति । स मल्लक्षणः पुरुषोऽनन्यया तदेकान्तया "अनन्यचेताः सततम्" इति पूर्वोदितया भक्त्यैव लभ्यो लब्धुं शक्यो योगभक्त्या तु दुःशक्या तत्प्राप्तिरित्यर्थः, तल्लक्षणमाह,—यस्येति । सर्वमिदं जगत् येन ततं व्याप्तम् । श्रुतिश्चैवमाह,—"एकोवशी सर्वगः कृष्ण ईड्य, एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति, वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक स्तेनेदं, पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" इत्याद्या ।

भगवत् प्राप्ति के निमित्त भक्ति ही एकमात्र सरल उत्तम उपाय है, उस का प्रकार सुस्पष्ट रूपसे करते हैं, मत्स्वरूप पुरुषावतार का दर्शन एकान्त भक्ति से ही होता है, पहले आपने कहा भी है, अनन्यचित्त होकर जो जन मेरा स्मरण नित्य ही करता है, उसके लिए मैं सुलभ हूँ, वह ही नित्ययुक्त योगी है । योग भक्ति के द्वारा भगवत् प्राप्ति दुःशक्य है, उक्त पुरुष का लक्षण कहते हैं, जिनके द्वारा सर्व जगत् व्याप्त है, श्रुति भी कहती है,—एक, वशी, सर्वग कृष्ण ईड्य स्तुत्य हैं, एक होकर भी जो अनेक रूपों में प्रतिभात होते हैं, वृक्ष के समान अचल होकर निज स्वरूपशक्ति में अवस्थित हैं, उन पुरुष के द्वारा ही समस्त जगत् परिपूर्ण हैं।

प्रथमस्य सहस्रपादादित्वं परमात्मसन्दर्भे व्यञ्जितम्। तृतीयस्याष्टमे तु द्वितीयपुरुषस्य व्यूहमुपलक्ष्य श्रीमैत्रेयेण (भा० ३।८।२४)—"वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः" इति, (भा० ३।८।२९)—"दोर्द्दण्डसहस्रशाखम्" इति, (भा० ३।८।३०) "किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्गम्" इति च। तथा

सर्वसम्वादिनी

"मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः क्षौणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः।
विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे, आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान्॥"५॥ इति;

भक्ति उन पुरुष का दर्शन कराती है, भक्ति,—परमपुरुष को प्राप्त कराती है, इस प्रकार माठर श्रुति में वर्णित है। उनमें से प्रथम पुरुष का वर्णन—सहस्रपादादि रूप में परमात्मसन्दर्भ में सुस्पष्ट रूप से हुआ है, (भा० ३।८।२४) में द्वितीय पुरुष के व्यूह को लक्ष्य करके श्र मैत्रेय ने कहा है,—

"प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः सन्ध्याव्भ्रनीवेरुरुक्ममूर्ध्नः।
रत्नोदधारौषधिसोमनस्यवनस्रजो वेणुभुजाङ्घ्रि पाङ्घ्रेः॥"

टीका—कथम्भूतं पुरुषम्? हरितोपलाद्रेमरकतशिलामय पर्वतस्य प्रेक्षां शोभां क्षिपन्तं स्वलावण्यातिशयेन तिरस्कुर्वन्तम्, सन्ध्याव भ्रं नीविः परिधानं यस्य तस्य शोभां पीताम्बरेण क्षिपन्तम्। उरुरुक्ममूर्ध्नः अनेकसुवर्णशिखरस्य तस्य सकिरीटैः। रत्नानि च उदधाराश्च ओषधयश्च सौमनस्यानि च पुष्पसमूहाः सुमन स एव वा तेषां वनस्रजो वनमाला यस्य। वेणव एव भुजा यस्य, अङ्घ्रिपा एवाङ्घ्रयो यस्य, स चासौ स च तस्य। अयमर्थः—यदि तस्मिन् माला इव स्थिता रत्नादयो भवन्ति, वेणवश्च भुजा इव वृक्षाश्च पादा इव; तर्हि तस्य शोभां स्वीयरत्नमुक्तातुलसी पुष्पदामभि र्भुजैरङ्घ्रिभिश्च क्षिपन्तमिति॥

पुरुष की मरकतशीलामयपर्वतरूप में उत्प्रेक्षा करके, उनके बाहु समूह की पर्वतोपरिस्थ वेणु, चरण समूह की पर्वताधः स्थित वृक्ष रूप में उत्प्रेक्षा करने से करचरण का असंख्यत्व सूचित होता है। (भा० ३।८।२९) में उक्त है,—"परार्द्ध्यकेयूरमणिप्रवेकपर्य्यस्तदोर्दण्डसहस्रशाखम्।
अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्रमहीन्द्रभोगैरधिवीतवल्शम्॥"

टीका—महाचन्दनवृक्षरूपकेण निरूपयितुं तं विशिनष्टि,—परार्द्ध्यानि श्रेष्ठानि केयूराणि अङ्गदानि मणिप्रवेकाश्च मण्युत्तमास्तैः पर्य्यस्ता व्याप्ता दोर्दण्डा एव सहस्रम् अनन्ताः शाखायस्य। चन्दनवृक्षोऽपि केयूरादि तुल्यैः फलपुष्पादिभि र्व्याप्तशाखोभवति। अव्यक्तं प्रधानं मूलं अधोभागो यस्य। यद्वा अव्यक्तं ब्रह्म मूलं यस्य, ब्रह्माभिर्व्यक्तिरूपत्वात्। वृक्षस्यापिमूलं न व्यक्तम्। भुवनात्मकमङ्घ्रिपेन्द्रं वृक्षश्रेष्ठम्। अहीन्द्रस्यानन्तस्य भोगैः फणैः देहावयवै र्वा अधिवीताः संवेष्टिताः स्पृष्टावल्शाः स्कन्धा यस्या। वनस्पतेः शतवल्शो विरोहेतिश्रुतेः। सोऽपि सर्पै र्वेष्टितो भवति।

महाचन्दन वृक्षरूपक के द्वारा उक्त पुरुषावतार का वर्णन करते हैं. बहुमूल्य केयूर एवं उत्तम मणि समूह के द्वारा भुज समूह महाचन्दन वृक्ष की शाखा के समान सुशोभित हैं। अव्यक्त मूल ब्रह्म जिनका मूल हैं, वृक्ष पक्ष में अदृश्य जड़ समूह, भुवनरूप महावृक्ष के समान शोभित हैं, अहीन्द्र के फण के द्वारा स्कन्ध समूह सुशोभित हैं, वृक्ष पक्ष में सर्प वेष्ट्रित है। (भा० ३।८।३०) में वर्णित है—

"चराचरौको भगवन्महीध्रमहीन्द्रबन्धुं सलिलोपगूढ़म्।
किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्गमाविर्भवत् कौस्तुभरत्नगर्भम्॥"

नवमस्य चतुर्द्दशे श्रीशुकेन (भा० ९।१४।२)—

"सहस्रशिरसः पुंसो नाभिह्लदसरोरुहात्।
जातस्यासीत् सुतो धातुरत्रिः पितृसमो गुणैः ॥"१५॥ इति।

५। तत्र श्रीभगवन्तं सुष्ठु स्पष्टीकर्त्तुं गर्भोदकस्थस्य द्वितीयस्य पुरुषस्य व्यूहस्य नानावतारित्वं विवृणोति (भा० १।३।५)—

(५) "एतन्नानावताराणां निधानं वीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देव-तिर्य्यङ्नरादयः ॥"१६॥

सर्वसम्वादिनी

स्वायम्भुवीयस्यादौ ह्ययं दैत्यं हत्वा वेदानाहरत्। चाक्षुषान्तरे तु सत्यव्रते कृपामकरोदिति।

टीका—प्रेक्षां क्षिपन्तमित्यत्रैव पर्वतरूपकेण निरूपितमपि विशेषणान्तरैः पुनर्निरूपयति—भगवानेव महीध्रस्तम्। चराचराणामोकः स्थानम्। सोऽपि तथा। अहीन्द्रस्य बन्धुम्। सोऽप्यहीन्द्राणां बन्धुः। सलिलेन] उपगूढ़माकृतम्, पर्वतोऽपि मैनाकादिस्तथा। किरीटसहस्रमेव हिरण्यशृङ्गाणि यस्य, सोऽपि मेर्वादिस्तथा। यथा पर्वतस्य गर्भे क्वचित् रत्नमाविर्भवति तथा आविर्भवत् स्पष्टं दृश्यमानं कौस्तुभरत्नं गर्भे मूर्त्तिमध्ये यस्य तम् ॥

इसके पहले पर्वत रूपक के द्वारा पुरुष रूप वर्णित होने पर भी विशेषणान्तर के द्वारा पुनर्बार वर्णन करते हैं। भगवान् ही महीध्र 'पर्वत' के समान हैं, चराचर का ओक-स्थान हैं, अहीन्द्र बन्धु हैं। सलिल के द्वारा आवृत—मैनाकादि पर्वत के समान। सहस्रकिरीटधारी। शृङ्गमाला से शोभित। क्वचित् पर्वतगर्भ में रत्न भाण्डार होता है, भगवन्मूर्त्ति भी रत्नमय हैं।

क्रमसन्दर्भः—अव्यक्तमूलमिति। न व्यज्यते शास्त्रविद्भिर्न कथ्यते, मूलं यस्य तं सर्वमूलत्वेन मूलान्तररहितमित्यर्थः। अव्यक्तः—स्वयं भगवान्, तन्मूलमिति वा। भुवनरूपाणामङ्घ्रिपाणामिन्द्र-मीश्वरम् ॥

शास्त्रज्ञ व्यक्तिगण जिनका मूल अन्वेषण कर नहीं पाते हैं, अर्थात् जो सबके मूल हैं, उनको छोड़कर अपर मूल है ही नहीं। अव्यक्त अर्थात्—स्वयं भगवान्, अथवा अव्यक्त का भी मूलाश्रय श्रीभगवान् ही हैं। भुवनरूप महीरुह समूह का ईश्वर श्रीभगवान् ही मूल हैं। भा० ९।१४।२ में श्रीशुक ने कहा—सहस्रशीर्षा पुरुष के नाभिह्लदस्थित कमल से उत्पन्न ब्रह्मा के पुत्र 'अत्रि' पिता के समान गुणसम्पन्न थे। यह सहस्रशीर्षा पुरुष गर्भोदकशायी अर्थात् द्वितीय पुरुषावतार हैं।

क्रमसन्दर्भः—तदेतत् परमानन्दविलसितं तथैव मुहुर्घोषितमपि श्रीनारायणमारभ्य शंसितु मारभते—सहस्रेति ।।४।।

श्रीभगवान् का वर्णन सुस्पष्ट रूपसे करने के निमित्त गर्भोदकशायीरूप द्वितीय व्यूह का नानावतारित्व को कहते हैं। तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमुर्ज्जितम्।
पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्।
सहस्रमूर्द्ध श्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥

एतन्नानावताराणां निधानं वीजमव्ययम्। यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्य्यङ्नरादयः ॥

इस ब्रह्माण्डस्थित गर्भोदकशायी पुरुष नानावतार का निधान एवं अक्षय वीजस्वरूप हैं। इनके अंश के द्वारा देव तिर्य्यक् नरादि उत्पन्न होते हैं।

एतदिति ब्रह्माण्डस्थमित्यर्थः। निधानं सरोवराणां समुद्र इव सदैवाश्रयः। अतएवाव्यय-मनपक्षयं वीजमुद्गमस्थानम्। न केवलमवताराणां वीजं जीवानामपीत्याह—यस्यांशांशेनेति ॥

६। अथ प्राचुर्य्येण तदवतारान् कथयंस्तदैक्यविवक्षया तदंशांशिनामप्याविर्भावमात्रं गणयति विंशत्या; (भा० १।३।६)—

(६) "स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्य्यमखण्डितम् ॥"१७॥

सर्वसम्वादिनी

[मूल० १६श अनु०] "सुरा-" इत्ययमेव सुरप्रार्थनात् क्षौणीं दध्रे इति पाद्मे [कल्पे]। अन्यत्र तु तदर्थं कल्पादौ च प्रादुरभवदिति।

टीका—एतत्तु कूटस्थं न तु अन्यावतारवदाविर्भावतिरोभाववत् इत्याह—एतदिति। एतत्तु आदि नारायणरूपं निधीयतेऽस्मिन्निति निधानं कार्य्यावसाने प्रवेशस्थानमित्यर्थः। वीजम्—उद्गमस्थानमित्यर्थः। वीजत्वेऽपि नान्यवीजतुल्यं किन्त्वव्ययम्। न केवलं अवताराणां वीजमपितु सर्वप्राणिनामित्याह—यस्यांशो ब्रह्मा तस्यांशो मरीच्यादिस्तेन ॥

क्रमसन्दर्भः। अत्र श्रीभगवन्तं सुष्ठुस्पष्टीकर्त्तुं गर्भोदकस्थस्य द्वितीयस्य पुरुषव्यूहस्य नानावतारित्वं विवृणोति—एतदिति ब्रह्माण्डस्थमित्यर्थः। निधानं—सागराणां समुद्र इव सदैवाश्रयः। अतएवाव्ययमन-पक्षयम्। वीजमुद्गमस्थानम्; न केवलमवताराणां वीजं जीवानामपीत्याह, यस्यांशांशेनेति।

एतत्—अर्थात् ब्रह्माण्डस्थ, निधान—अर्थात् सरोवरसमूह का परम आश्रय जिस प्रकार परमाश्रय समुद्र है, उस प्रकार समस्त अवतारों का सदा ही आश्रय—प्रद्युम्न हैं। अतएव अव्यय—अर्थात् अपक्षय शून्य हैं। वीज—अर्थात् उद्गम स्थान, केवल अवतारों का उद्गम स्थान ही नहीं हैं। किन्तु जीवसमूह का भी उद्गम स्थान भी हैं।

तज्जन्य कहते हैं—'यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्य्यङ्नरादयः।" जिनका अंश ब्रह्मा हैं, उनके अंश मरीचि प्रभृति हैं, उनसे समस्त सृष्टि होती रहती हैं ॥५॥

अनन्तर विंशति श्लोक के द्वारा सर्वतोभावेन उनके अवतारसमूह का वर्णन करने में प्रवृत्त होकर सामान्य रूपसे उनके अंश एवं अंशी का आविर्भाव मात्र को कहते हैं—विंशति श्लोक के द्वारा। यहाँ अंश शब्द से अंशावतार से आवेशावतार को, एवं अंशी शब्द से आरम्भ करके स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पर्य्यन्त को जानना होगा। "आविर्भावमात्र" पद में मात्र शब्द साकल्य वाचक है, किन्तु अन्यव्यावर्त्तक नहीं है, विशेष ज्ञातव्य यह ही है कि—भगवत् स्वरूपसमूह मायारहित ब्रह्माण्ड में प्रकट होकर सत्‌शिक्षा का प्रवर्त्तन करते हैं। श्रीसूत ने निखिल भगवत् आविर्भाव का ही वर्णन किया है, केवल पुरुष अवतार का वर्णन नहीं किया है। कारण, अवतारों के मध्य में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का ही वर्णन है, भा० १।३।६ में उक्त है—उक्त देव अर्थात् पुरुष, प्रथमतः चतुःसन रूप में ब्राह्मण होकर दुश्चर अखण्डित ब्रह्मचर्य्य व्रतानुष्ठान किये थे।

टीका—सनत्कुमाराद्यवतारं तच्चरितञ्चाह—स एवेति। कौमार आर्षः प्राजापत्यो मानवः "इत्यादीनि सर्गविशेषनामानि, यः पौरुषं रूपं जगृहे, स एव देवः कौमाराख्यः सर्गमाश्रितः सन् ब्रह्माब्राह्मणो भूत्वा ब्रह्मचर्य्यं चचार। प्रथमद्वितीयादिशब्दा निर्देशमात्रविवक्षया।"

योऽम्भसि शयानो यश्च सहस्रपादादिरूपः स एव पुरुषाख्यो देवः, (भा० १।३।२८)— "एते चांशकलाः पुंसः" इत्युपसंहारस्यापि संवादात्। कौमारं चतुःसनरूपम्। ब्रह्मा ब्राह्मणो भूत्वा ॥

७। (भा० १।३।७)—

(७) "द्वितीयन्तु भवायास्य रसातलगतां महीम्।
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः शौकरं वपुः ॥"१८॥

अस्य विश्वस्योद्भवाय ॥

८। (भा० १।३।८)—

(८) "तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्म्मणां यतः ॥"१९॥

ऋषिसर्गमुपेत्य तत्रापि देवर्षित्वं श्रीनारदत्वमुपेत्य। सात्वतं वैष्णवं तन्त्रं पञ्चरात्रागमम्। कर्म्मणां कर्म्माकारेणापि सतां श्रीभगवद्धर्म्माणां यतस्तन्त्रान्नैष्कर्म्यं कर्म्मबन्धमोचकत्वेन

सर्वसम्वादिनी

[मूल० १७श अनु०] "धान्वन्तरम्" इत्ययं समुद्रमथनात् षष्ठे [मन्वन्तरे] काशिराजात् सप्तमे [मन्वन्तरे] इति ज्ञेयम्।

सन्दर्भः। जो गर्भोदक में शयित हैं, जो सहस्रपादादि रूप हैं, वह ही यहाँ देव पद से उक्त है। भा० १।३।२८ में उक्त है—"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृड़यन्ति युगे युगे ॥ "देव" शब्द से पुरुषार्थ कथन का कारण निर्देश करते हैं। अवतार प्रकरण के अन्तिम में उक्त है—ये सब पुरुष के अंश कला स्थानीय हैं। अतएव देव शब्द से "पुरुषार्थ" करना असङ्गत नहीं है। कौमार शब्द से चतुःसन—सनक, सनन्दन, सनातन सनत्कुमार को जानना होगा। श्लोकोक्त ब्रह्मा पद का अर्थ ब्राह्मण है ॥६॥

द्वितीयावतार में विश्वोत्पत्ति के निमित्त यज्ञेश्वर पुरुष रसातल प्राप्त पृथिवी को उद्धार करने के लिए वराह रूप को प्रकट किए थे।

टीका—वराहावतारमाह—द्वितीयमिति। अस्य विश्वस्य भवाय उद्भवाय। महीमुद्धरिष्यन्निति कर्मोक्तिः, एवं सर्वत्र अवतारस्तत् कर्मचोक्तमित्यनुसन्धेयम् ।७।

इस विश्व को उत्तोलन करने के निमित्त वराह अवतार हुए थे ॥७॥

भा० १।३।८ में उक्त है—तृतीय अवतार में ऋषिगण के मध्य में श्रीनारद रूप में प्रकट होकर भगवदुद्देश्य से अनुष्ठित कर्मों का नैष्कर्म्य स्थापन के निमित्त सात्वत तन्त्र कहे थे। सात्वत वैष्णवतन्त्र —पञ्चरात्र एवं आगम। कर्म से संसार बन्धन जीव का होता है। किन्तु भगवद्धर्म की प्रतीति कर्म की भाँति होने पर भी भगवद्धर्म कर्ममोचक है, अतः काम्यकर्म से वह स्वतन्त्र कर्म है। देवर्षि नारद ने सात्वत तन्त्र में उसका वर्णन सुस्पष्ट रूप से किया है।

टीका—नारदावतारमाह—तृतीयमिति। ऋषिसर्गमुपेत्य तत्र च देवर्षित्वमुपेत्येत्यर्थः। सात्वतं—वैष्णवं तन्त्रं पाञ्चरात्रागमम्। आचष्ट—उक्तवान्। यतस्तस्मात् निर्गतं कर्मत्वं बन्धहेतुत्वं येभ्यस्तानि निष्कर्माणि तेषां भावो नैष्कर्म्मं। कर्मणामेव मोचकत्वं यतो भवति तदाचष्टेत्यर्थः।

ऋषि सर्ग को अवलम्बन करके उसमें भी देवर्षि श्रीनारद होकर, सात्वत वैष्णवतन्त्र—पञ्चरात्र

कर्म्मभ्यो निर्गतत्वं तेभ्यो भिन्नत्वं प्रतीयत इति शेषः ॥

९। (भा० १।३।९)—

(९) "तुर्य्ये धर्म्मकलासर्गे नरनारायणावृषी ।
भूत्वात्मोपशमोपेतमकरोद्दुश्चरं तपः ॥"२०॥

स्पष्टम् ॥

१०। (भा० १।३।१०)—

(१०) "पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥"२१॥

आसुरि-नाम्ने विप्राय ॥

११। (भा० १।३।११)—

(११) "षष्ठमत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया ।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् ॥२२॥

अत्रिणा तत्सदृशपुत्रोत्पत्तिमात्रं प्रकटं याचितमिति चतुर्थस्कन्धाद्यभिप्रायः ।

सर्वसम्वादिनी

[मूल० १९श अनु०] "पञ्च-" इत्ययं कल्पेऽस्मिन्नादौ वाष्कलेरध्वरमगात्, ततो धुन्धोस्ततो बलेरिति

आगम का प्रणयन किया । कर्मरूप में प्रतीत होने से भी भगवद्धर्म कर्म नहीं है, कर्म मोचक है । अतः भगवद्धर्म को काम्यकर्म से पृथक् रूप में जानना होगा ॥८॥

चतुर्थावतार में धर्मपत्नी मूर्त्ति से नरनारायण ऋषि रूप में आविर्भूत होकर आत्मसंयम समन्वित कठोर तपस्या का अनुष्ठान किए थे । भा० १।३।९

टीका—नरनारायणावतारमाह- तुर्य्ये इति । तुर्य्ये—चतुर्थे, अवतारे, धर्मस्य कला अंशः, भार्य्येत्यर्थः । अर्द्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नीति श्रुतेः । तस्याः सर्गे । ऋषि भूत्वेत्येकावतारत्वं दर्शयति ।९। पद्यार्थ सुस्पष्ट है ॥९॥

भा० १।३।१० में उक्त है,—पञ्चमावतार में सिद्धगणों के अधिपति कपिल नाम से आविर्भूत हुए थे । आपने आसुरि नामक ब्राह्मण को तत्त्वसमूह का निर्णायक, काल प्रभाव से विलुप्त सांख्य शास्त्र का उपदेश प्रदान किए थे ।

टीका—कपिलावतारमाह,—पञ्चम इति । आसुरये—एतन्नाम्ने ब्राह्मणाय, तत्त्वानां ग्रामस्य सङ्घस्य विनिर्णयो यस्मिन् तत् सांख्यम् ॥१०॥

भा० १।३।११ में उक्त है,—षष्ठावतार दत्तात्रेय हैं । अनसूया के द्वारा वृत होकर अत्रि के पुत्ररूप में प्रकट हुए थे । एवं अलर्क तथा प्रह्लाद प्रभृति को आत्मविद्योपदेश प्रदान किये थे ।

टीका—दत्तात्रेयावतारमाह—षष्ठमिति । अत्रेरपत्यत्वं तेनैव वृतः प्राप्त सन् अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह—तुष्ट इति । वक्ष्यमाणत्वात् । कथं प्राप्तः ? अनसूयया मत्सदृशापत्यमिषेण मामेवापत्यं वृतवानिति दोषदृष्टिमकुर्वन्, इत्यर्थः । आन्वीक्षिकीं—आत्मविद्याम् । प्रह्लादादिभ्यश्च—आदिपदात् यदु हैहयाद्या गृह्यन्ते ।११।

क्रमसन्दर्भः । अत्रिणा तत् सदृश पुत्रोत्पत्तिमात्रं प्रकटं याचितमिति । भा० ४।१।२० "शरणं तं प्रपद्येऽहं य एव जगदीश्वरः । प्रजामात्मसमां मह्यं प्रयच्छत्विति चिन्तयन् ॥" चतुर्थ-स्कन्धाद्यभिप्रायः । एतद्वाक्येनानसूयया तु कदाचित् साक्षादेव श्रीमदीश्वरत्वेन पुत्रभावो वृतोऽस्तीति

एतद्वाक्येनानसूयया तु कदाचित् साक्षादेव श्रीमदीश्वरस्यैव पुत्रभावो वृतोऽस्तीति लभ्यते । उक्तश्च ब्रह्माण्डपुराणे पतिव्रतोपाख्याने--

'अनसूयाब्रवीन्नत्वा देवान् ब्रह्मेशकेशवान् । यूयं यदि प्रसन्ना मे बरार्हा यदि वाप्यहम् ।
प्रसादाभिमुखाः सर्वे मम पुत्रत्वमेष्यथ ॥२३॥ इति ।

आन्वीक्षिकीमात्मविद्याम् । श्रीविष्णोरेवावतारोऽयं दत्तः ॥

१२ । (भा० १।३।१२)—

(१२) "ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत ।
स यामाद्यैः सुरगणैरपात् स्वायम्भुवान्तरम् ॥"२४॥

स यज्ञस्तदा स्वयमिन्द्रोऽभूदित्यर्थः ॥

१३ । (भा० १।३।१३)—

(१३) "अष्टमे मेरुदेव्यान्तु नाभेर्जात उरुक्रमः ।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम् ॥"२५॥

उरुक्रम ऋषभो जातः ॥

सर्वसम्वादिनी

ज्ञेयम् । तथैव त्रिषु त्रिविक्रमत्वञ्च ।

[मूल० २०श अनु०] "अवतारे" इत्ययं सप्तदशे चतुर्युगे द्वाविंशे त्विति केचित्; आवेश एवायम् ।

लभ्यते । उक्तश्च ब्रह्माण्डपुराणे पतिव्रतोपाख्याने—"अनसूयाब्रवीन्नत्वा देवान् ब्रह्मेश केशवान् । यूयं यदि प्रसन्ना मे बरार्हा यदि वाप्यहम् । प्रसादाभिमुखाः सर्वे मम पुत्रत्वमेष्यथ" इति । आन्वीक्षिकीम्—ब्रह्मविद्याम् । श्रीविष्णोरेवावतारोऽयम् ।

चतुर्थस्कन्धस्थ पद्य के अभिप्रायानुसार प्रतीत होता है कि—अत्रि ने प्रकाश्य भाव से ही भगवत् सदृश पुत्र की प्रार्थना की, किन्तु साक्षात् रूप में प्रार्थना का प्रमाण ब्रह्माण्डपुराणस्थ पतिव्रता उपाख्यान में है,—"अनसूया प्रणाम कर ब्रह्मा, शम्भु, केशव को बोली,—आप सब यदि प्रसन्न हों, एवं यदि मैं बर प्राप्त करने की योग्या हूँ, तब कृपया पुत्रत्व को अङ्गीकार करें।" अनसूया की प्रार्थना के अनुसार श्रीविष्णु दत्तात्रेय रूप में आविर्भूत हुए थे। श्लोकोक्त "आन्वीक्षिकी" शब्द का अर्थ—आत्मविद्या है। चतुर्थ स्कन्ध का वचन एवं ब्रह्माण्डपुराणस्थ वचन में भिन्नार्थ सुस्पष्ट है। एक में भगवत् सदृश पुत्र की प्रार्थना, अपर में साक्षात् पुत्ररूप में प्रार्थना है। कल्प भेद से उभय वचन को सार्थक करना होगा ॥११॥

भा० १।३।१२ में सप्तमावतार का संवाद वर्णित है। सप्तमावतार यज्ञ, रुचिपत्नी आकूति से आविर्भूत हुए थे। एवं स्वीय पुत्र याम नामक देवगण के सहित स्वायम्भुव मन्वन्तर का पालन किये थे। उक्त यज्ञ भगवान् स्वायम्भुव मन्वन्तर में स्वयं इन्द्र भी हुए थे।

यज्ञावतारमाह—तत इति । स यज्ञः यामाद्यैः, स्वस्यैव पुत्रा नाम देवाः, तदाद्यैः सह स्वायम्भुव-मन्वन्तरं पालितवान् । तदा स्वयमिन्द्रोऽभूदित्यर्थः ॥१२॥

भा० १।३।१३ में अष्टमावतार उरुक्रम ऋषभदेव का वर्णन है। आग्नीध्र के पुत्र नाभि पत्नी मेरुदेवी से प्रकट हुए थे। इस अवतार में धीर व्यक्तियों के सर्वाश्रम नमस्कृत वर्त्म का प्रदर्शन हुआ है, अर्थात् परमहंसगण की पद्धति का प्रदर्शन हुआ है।

टीका—ऋषभावतारमाह—अष्टम इति । सर्वाश्रमनमस्कृतम् । अन्त्याश्रमम्, पारमहंस्यं, वर्त्म—धीराणां दर्शयन्, नाभेः आग्नीध्रपुत्रात् ऋषभो जातः ॥१३॥

१४ । (भा० १।३।१४)—

(१४) "ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः ।
दुग्धे मामोषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तमः ।।"२६।।

पार्थिवं वपू राजदेहं पृथुरूपं दुग्ध अदुग्ध । उशत्तमः कमनीयतमः ।।

१५ । (भा० १।३।१५)—

(१५) "रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषान्तरसंप्लवे ।
नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम् ।।"२७।।

चाक्षुषमन्वन्तरे तदन्ते य उदधिसंप्लवस्तस्मिन् । वैवस्वतमिति भाविनी संज्ञा सत्यव्रतस्य । प्रतिमन्वन्तरावसानेऽपि प्रलयः श्रूयते । श्रीविष्णुधर्मोत्तरे प्रथमकाण्डे— "मन्वन्तरे परिक्षीणे कीदृशी द्विज जायते" इत्यादि, श्रीवज्रप्रश्नस्य 'मन्वन्तरे परिक्षीणे' इत्यादि श्रीमार्कण्डेयदत्तोत्तरे—

सर्वसम्वादिनी

[मूल० २१श अनु०] "ततः" इत्यस्य पूर्वजन्मन्यपान्तरतमत्व-श्रवणादावेश इति केचित् । तत्सायुज्यादयं साक्षादंश एवेत्यन्ये ।

भा० १।३।१४ में नवमावतार पृथु का वर्णन है । ऋषिगण के द्वारा प्रार्थित होकर पार्थिव अर्थात् नृपति होकर आविर्भूत हुए थे । इस अवतार में पृथिवी विलुप्त ओषधिसमूह का दोहन हुआ था, तज्जन्य पृथु अवतार अतिशय कमनीय है ।

टीका—पृथ्ववतारमाह,—ऋषिभिरिति । पार्थिवं वपुः, राजदेहं पृथुरूपम् । पार्थवमिति पाठे पृथोरिदं पार्थवम् । औषधीरित्युपलक्षणम्, इमां पृथ्वीं सर्वाणि वस्तूनि दुग्ध—अदुग्धा अड़ागमाभावस्त्वार्षः । हे विप्राः तेन पृथ्वी दोहनेन सोऽयमवतार उशत्तमः कमनीयतमः । "वश कान्तौ" इत्यस्मात् ।।१४।।

भा० १।३।१५ में वर्णित है,—दशमावतार मत्स्यदेव, चाक्षुष मन्वन्तर में जल प्लावन होने पर स्वीय मत्स्यरूप को प्रकट करके तरणी रूपमें कल्पिता पृथिवी वैवस्वत मनु को स्थापनपूर्वक रक्षा किए थे ।

टीका—मत्स्यावतारमाह—रूपमिति । चाक्षुषमन्वन्तरे य उदधीनां संप्लवः, संश्लेषस्तस्मिन् । यद्यपि मन्वन्तरावसाने प्रलयो नास्ति तथापि केनचित् कौतुकेन सत्यव्रताय माया प्रदर्शिता । यथा अकाण्डे मार्कण्डेयाय इति द्रष्टव्यम् । महीमय्यां नावि नौकारूपायां मह्यामित्यर्थः । अपात् रक्षितवान् । वैवस्वतमिति भाविनी संज्ञा ।

श्रीमत्स्यदेव, सत्यव्रत की रक्षा किए थे । यह प्रसिद्ध भागवती कथा है, यहाँ पर "वैवस्वत" कहने का तात्पर्य्य यह है कि—सत्यव्रत ही उत्तर काल में वैवस्वत मनु हुए थे । सुतरां वैवस्वत मनु सत्यव्रत का ही भविष्यत् कालीन नाम है । चाक्षुष मन्वन्तर में जो जलप्लावन हुआ था, उससे सत्यव्रत की रक्षा किए थे । इस कथन में विचार प्रस्तुत करते हैं । किसी के मत में मन्वन्तर के अवसान में प्रलय नहीं होता है । चतुर्दश मन्वन्तर के अनन्तर ब्रह्मा के दिनावसान में नैमित्तिक प्रलय होता है । नित्य, नैमित्तिक, प्राकृत, आत्यन्तिक भेद से प्रलय चतुर्विध हैं । नित्य प्रलय—सुषुप्ति है । नैमित्तिक प्रलय—ब्रह्मदिवस के अवसान होने पर । प्राकृत प्रलय—ब्रह्मपरमायुः द्विपरार्द्धवत्सरावसान में होता है । आत्यन्तिक प्रलय—सर्व मुक्ति में होता है ।

"ऊर्मिमाली महावेगः सर्वमावृत्य तिष्ठति। भूर्लोकमाश्रितं सर्वं तदा नश्यति यादव ॥२८॥
न विनश्यन्ति राजेन्द्र विश्रुताः कुलपर्वताः। नौर्भूत्वा तु महीदेवी ......॥"२९॥ इत्यादि। एवमेव 'मन्वन्तरेषु संहारः" इत्यादि-प्रकरणं श्रीहरिवंशे तदीयटीकासु च स्पष्टमेव। ततश्चाक्षुषेत्युपलक्षणमेव ज्ञेयम् ॥

१६। (भा० १।३।१६)—

(१६) "सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम्।
दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः॥"३०॥

स्पष्टम् ॥

१७। (भा० १।३।१७)—

(१७) "धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च।
अपाययत् सुरानन्यान् मोहिन्या मोहयन् स्त्रिया॥"३१॥

विभ्रदित्युत्तरेणान्वयः। द्वादशमं धान्वन्तरं रूपं विभ्रत्, त्रयोदशमञ्च मोहिनीरूपं

सर्वसम्वादिनी

[मूल० २२श अनु०] "नरदेव-" इत्ययं चतुर्विंशे चतुर्युगे त्रेतायाम्।

वैष्णव दार्शनिक के मत में आत्यन्तिक प्रलय का अर्थ है,—मुक्ति, श्रीमद्भागवत के मत में मुक्ति भिन्न जगद्गत आत्यन्तिक प्रलय अस्वीकृत है।

मन्वन्तरावसान में प्रलय की वार्त्ता विष्णुधर्मोत्तर के प्रथमकाण्ड में है, यथा—"हे द्विज! मन्वन्तरान्ते जगत् की अवस्था कैसी होती है? वज्रनाभ के प्रश्नोत्तर में श्रीमार्कण्डेय कहते हैं—"मन्वन्तर के अवसान में महावेगवान् समुद्र, समस्त जगत् आवृत करके अवस्थित होता है, उस समय भूर्लोकस्थित समस्त पदार्थ विनष्ट हो जाते हैं, किन्तु हे राजेन्द्र! कुल पर्वतसमूह विनष्ट नहीं होते हैं। पृथिवी नौकारूप धारण करती है।" मन्वन्तर के अवसान में प्रलय की वार्त्ता श्रीहरिवंश पुराण की "मन्वन्तरेषु संहार" इत्यादि प्रकरणस्थ टीका में सुस्पष्ट रूप में उल्लिखित है। अतएव चाक्षुष मन्वन्तर में केवल वैवस्वत मनु की रक्षा आपने की है, यह उपलक्षण है—स्व प्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वं उपलक्षणत्वम्" एक वस्तु प्रतिपादन द्वारा अपर वस्तु प्रतिपादन का बोध होने से उसे उपलक्षण कहते हैं। अतएव उससे प्रतीति होती है कि—अन्य मन्वन्तरावसान में भी अन्यान्य मनु की उस प्रकार रक्षा करते हैं ॥१५॥

भा० १।३।१६ में लिखित है, सुर एवं असुरगण समुद्र मन्थन कार्य्य में प्रवृत्त होने पर विभु कूर्मरूप धारण कर स्वीय पृष्ठदेश में मन्दराचल को धारण किए थे।

टीका—कूर्मावतारमाह—कमठः कूर्मः, तद्रूपेण। एकादशे विभुर्दध्रे दधार ॥१६॥

भा० १।३।१७ में वर्णित है—त्रयोदशावतार में मोहिनीरूप धारण पूर्वक असुरगण को अमृत पान कराये थे।

टीका—धन्वन्तर्य्यवतारमाह—धान्वन्तरं धन्वन्तरिरूपम्। द्वादशमादि प्रयोगस्त्वार्षः, त्रयोदशमेव रूपं तच्चरितेन सह दर्शयति—अपाययदिति। अत्र सुधामित्यध्याहारः। मोहिन्या स्त्रियारूपेण अन्यान-सुरान् मोहयन् धन्वन्तरिरूपेण अमृतमानीय मोहिन्या अपाययदित्यर्थः॥

क्रमसन्दर्भः। विभ्रदित्युत्तरेणान्वयः, द्वादशं धान्वन्तरं रूपं विभ्रत् त्रयोदशञ्च मोहिनीरूपं विभ्रत्

बिभ्रत् । सुरानपाययत् सुधामिति शेषः । केन रूपेण ? मोहिन्या स्त्रिया तद्रूपेणेत्यर्थः । किं कुर्वन् ? अन्यान् असुरान् मोहयन्, धन्वन्तरिरूपेण सुधाञ्चोपहरन्निति शेषः । अजितस्यावतारा एते त्रयः ॥

१८ । (भा० १।३।१८)—

(१८) "चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद्दैत्येन्द्रमूर्जितम् ।
ददार करजैरूरावेरकां कटकृद्यथा ॥"३२॥

नारसिंहं रूपं बिभ्रत् ॥

१९ । (भा० १।३।१९)—

(१९) "पञ्चदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः ।
पादत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम् ॥"३३॥

कृत्वा प्रकटय्य ॥

२० । (भा० १।३।२०)—

(२०) "अवतारे षोड़शमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान् ।
त्रिसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम् ॥"३४॥

अवतारे श्रीपरशुरामाभिधे ॥

सर्वसम्वादिनी

[मूल० २४श अनु०] "ततः" इत्ययं कलेरब्दसहस्रद्वितये गते व्यक्तः । मुण्डितमुण्डः पाटलवर्णो द्विभुजः ।

सुरानपायत्, सुधामिति शेषः । केन रूपेण ? मोहिन्या स्त्रिया तद्रूपेणेत्यर्थः । किं कुर्वन् ? अन्यान् असुरान् मोहयन्, धन्वन्तरिरूपेण सुधाञ्चोपहरन्निति शेषः । अजितस्य अवतारा एते त्रयः (कूर्म धन्वन्तरि-मोहिनीति) ॥

धन्वन्तरि अवतार में सुधा आहरण किए थे । कूर्म, धन्वन्तरि एवं मोहिनी अवतारत्रय—श्रीअजित के हैं ॥१७॥

भा० १।३।१८ में उक्त है—चतुर्दशावतार में श्रीनरसिंह रूप धारण करके बलदर्पित दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपु को स्वीय उरु में स्थापन पूर्वक कट निर्माणकारी जिस प्रकार तृण को विदीर्ण करता है, तद्रूप अनायास से नख के द्वारा विदीर्ण किये थे ।

टीका—श्रीनृसिंहावतारमाह—नारसिंहं रूपं बिभ्रत् । एरका—अग्रन्थि तृणविशेषः ॥१८॥

भा० १।३।१९ में वर्णित है,—पञ्चदशावतार में वामनरूप को प्रकट कर बलिराजा के यज्ञभूमि में जाकर उनके निकट से स्वर्गराज्य को दान रूपमें ग्रहण करने के निमित्त त्रिपादभूमि की प्रार्थना किये थे ।

वामनावतारमाह,—पञ्चदशमिति, दुष्टानां मदं वामनयतीति वामनकं रूपं ह्रस्वं वा, प्रत्यादित्सुः तस्मादाच्छिद्य ग्रहीतुमिच्छुः ॥१९॥

भा० १।३।२० में लिखित है,—षोड़शावतार परशुराम हैं । राजन्यवर्ग को ब्राह्मण द्रोही देखकर क्रुद्ध होकर एकविंशतिबार पृथिवी को क्षत्रिय शून्य किए थे ।

परशुरामावतारमाह—अवतार इति । त्रिः—त्रिगुणं यथा भवति तथा सप्त कृत्वा सप्तवारान्

२१। (भा० १।३।२१)—

(२१) "ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्।

चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ॥"३५॥

स्पष्टम् ॥

२२। (भा० १।३।२२)—

(२२) "नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्य्यचिकीर्षया।

समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्य्याण्यतः परम् ॥"३६॥

नरदेवत्वं श्रीराघवरूपेण। अतः परमष्टादशे। अस्य साक्षात् पुरुषस्य स्कान्दे श्रीरामगीतायां विश्वरूपं दर्शयतो ब्रह्म-विष्णु-रुद्रकृत-स्तुतिः श्रुयते ॥

२३। (भा० १।३।२३)—

(२३) "एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी।

रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद्भरम् ॥"३७॥

सर्वसम्वादिनी

[मूल० २५श अनु०] "अथ" इत्ययं कल्किर्बुद्धश्च प्रति-कलियुग एवेत्येके। एतौ चावेशाविति विष्णुधर्म-मतम्। तथा हि (श्रीविष्णुधर्मे)—

एकविंशतिवारान् इत्यर्थः ॥२०॥

भा० १।३।२१ में वर्णित है—सप्तदशावतार श्रीव्यास हैं। आप पराशर पत्नी सत्यवती से जन्मग्रहण किए थे। लोकसमूह की हीन बुद्धि को देखकर आप वेदादि शास्त्राध्ययनाध्यापन का प्रवर्त्तन किए थे।

टीका—व्यासावतारमाह—तत इति। अल्पमेधसः अल्पप्रज्ञान् पुंसो दृष्ट्वा तदनुग्रहार्थं शाखाश्चक्रे ॥२१॥

भा० १।३।२२ में उक्त है—अष्टादशावतार श्रीरामचन्द्र हैं। देवकार्य्य सम्पन्न करने के निमित्त आपने समुद्रबन्धनादि के द्वारा स्वीय पराक्रम को प्रकट किए थे।

टीका—रामावतारमाह—नरेति। नरदेवत्वं राघवरूपेण प्राप्तः सन्। अतः परम् अष्टादशे।

स्कन्दपुराणीय श्रीरामगीता में श्रीरामचन्द्र, साक्षात् पुरुष नाम से अभिहित हैं। विश्वरूप प्रकटकारी श्रीरामचन्द्र की स्तुति ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रकृत है। अतः आपको साक्षात् पुरुष कहते हैं ॥२२॥

भा० १।३।२३ में वर्णित है—ऊनविंश एवं विंशावतार में भगवान् राम एवं कृष्ण, वृष्णि वंश में आविर्भूत होकर पृथिवी का भारापनोदन किए थे।

टीका—रामकृष्णावतारमाह—एकोनेति। विंशतितमे वक्तव्ये 'त'कार लोपश्छन्दानुरोधेन। रामकृष्णावित्येवं नामनी जन्मनी प्राप्य।

क्रमसन्दर्भः। भगवानिति—साक्षात् श्रीभगवत एवाविर्भावोऽयम्। न तु पुरुषसंज्ञस्य अनिरुद्धस्येति विशेषप्रतिपत्त्यर्थं तत्र तत्र साक्षाद्रूपत्वाच्छ्रीकृष्णरूपेण निजांशरूपत्वाद्रामरूपेणापि भारहारित्वं भगवत एवेत्युभयत्रापि भगवानहरद्भरमिति श्लिष्टमेव। अतो बलरामस्याप्यनिरुद्धावतारत्वं प्रत्याख्यातम्। श्रीकृष्णस्य वासुदेवत्वात् श्रीरामस्य च सङ्कर्षणत्वाद्युक्तमेव च तदिति ॥

भा० १।३।२३ श्लोकोक्त 'भगवान्' शब्द से प्रतिपन्न होता है कि—श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं।

भगवानिति साक्षात् श्रीभगवत एवाविर्भावोऽयम्, न तु पुरुषसंज्ञस्यानिरुद्धस्येति विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। तत्र तस्य साक्षाद्रूपत्वात् श्रीकृष्णरूपेण, निजांशरूपत्वाद्रामरूपेणापि भारहारित्वं भगवत एवेत्युभयत्रापि भगवानहरद्भरमिति श्लिष्टमेव। अतो रामस्याप्यनिरुद्धावतारत्वं प्रत्याख्यातम्। श्रीकृष्णस्य वासुदेवत्वात् श्रीरामस्य च सङ्कर्षणत्वाद् युक्तमेव च तदिति ॥

२४। (भा० १।३।२४)—

(२४) "ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥" ३८॥

कीकटेषु गयाप्रदेशे ॥

२५। (भा० १।३।२५)—

(२५) "अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः ॥" ३९॥

युगसन्ध्यायां कलेरन्ते ॥

सर्वसम्वादिनी

'प्रत्यक्षरूपधृग्देवो दृश्यते न कलौ हरिः। कृतादिष्वेव तेनैष त्रियुगः परिपठ्यते ॥६॥

पुरुषाख्य अनिरुद्ध का अवतार नहीं है। श्रीबलराम भी श्रीकृष्ण का साक्षात् अंश है। एतज्जन्य श्रीबलराम श्रीकृष्णलीला का साक्षात् सहायक हैं।

पृथिवी का भारापनोदनरूप श्रीकृष्णलीला का आनुकूल्य करते हैं, तज्जन्य "भगवान्" विशेषण से उभय को ही विशेषित किया गया है। अर्थात् उभय का भी भूभार रूप एक कार्य्य है। "भगवानहरत्भरं" यह पद श्लिष्ट है, भगवान् शब्द से उभय ही क्रोड़ीकृत हुए हैं। उभय की तुल्य भगवत्ता का प्रतिपादन उक्त 'भगवान्' विशेषण से ही होता है। श्रीबलराम भगवान् से अभिन्न होने पर श्रीबलराम, अनिरुद्ध का अवतार नहीं हैं, यह प्रतिपन्न उक्त श्लोक से ही हुआ है। श्रीबलराम एवं कृष्ण पुरुषावतार नहीं हैं, कारण, श्रीकृष्ण एवं बलराम अन्य व्यूह निरपेक्ष हैं, श्रीकृष्ण चतुर्व्यूह के मध्य में श्रीवासुदेव हैं, एवं श्रीबलराम भी उक्त व्यूहान्तर्गत साक्षात् सङ्कर्षण हैं। श्रीकृष्ण एवं बलराम से ही अन्यान्य व्यूह का प्रादुर्भाव हुआ है ॥२३॥

भा० १।३।२४ में उक्त है,—एकविंशावतार बुद्ध हैं। कलियुग प्रवृत्त होने पर असुर मोहन के निमित्त आप 'कीकट' गया प्रदेश में अञ्जनपुत्र रूप में आविर्भूत होंगे।

टीका—बुद्धावतारमाह—"ततः" इति। अञ्जनस्य सुतः। अजिनस्य सुत इति पाठे अजिनोऽपि स एव। कीकटेषु मध्ये गया प्रदेशे ॥२४॥

भा० १।३।२५ में लिखित है,—कलियुग के सन्ध्या समय में राजगण दस्यु सदृश होने पर जगत्पति विष्णुयशा ब्राह्मण से कल्कि नाम से आविर्भूत होंगे।

कल्क्यवतारमाह,—अथेति। युगसन्ध्यायां कलेरन्ते, विष्णुयशसो ब्राह्मणात् सकाशात् जनिता जनिष्यते।

युगसन्ध्या शब्द का अर्थ है, कलियुग के अन्तिम समय में ॥२५॥

२६। अथ श्रीहयग्रीव-हरि-हंस-पृश्निगर्भ-विभु-सत्यसेन-वैकुण्ठाजित-सार्वभौम-विष्वक्सेन धर्मसेतु-सुधाम-योगेश्वर-बृहद्भान्वादीनां शुक्लादीनाञ्चानुक्तानां संग्रहार्थमाह (भा० १।३।२६)—

(२६) "अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥"४०॥

हरेरवतारा असंख्येयाः सहस्रशः सम्भवन्ति, हि प्रसिद्धौ। असंख्येयत्वे हेतुः—सत्त्वनिधेः, सत्त्वस्य स्वप्रादुर्भावशक्तेः सेवधिरूपस्य। अत्रैव दृष्टान्तः—यथेति; अविदासिनोऽपक्षयशून्यात्, सरसः सकाशात् कुल्यास्तत्स्वभावकृता निर्झरा अविदासिन्यः सहस्रशः सम्भवन्तीति। अत्र येऽंशावतारास्तेषु चैष विशेषो ज्ञेयः। श्रीकुमारनारदादिष्वाधिकारिकेषु ज्ञान-भक्ति-शक्त्यंशावेशः, श्रीपृथ्वादिषु क्रियाशक्त्यंशावेशः, क्वचित्तु स्वयमावेशः, तेषां भगवानेवाहमिति वचनात्। अथ श्रीमत्स्यदेवादिषु साक्षादंशत्वमेव; तत्र चांशत्वं नाम-साक्षाद्भगवत्त्वेऽप्य-

सर्वसम्वादिनी

कलेरन्ते च सम्प्राप्ते कल्किनं ब्रह्मवादिनम्। अनुप्रविश्य कुरुते वासुदेवो जगत्स्थितिम् ॥७॥

अनन्तर भा० १।३।२६ में श्रीहयग्रीव, हरि, हंस, पृश्निगर्भ, विभु, सत्यसेन, वैकुण्ठ, अजित, सार्वभौम, विश्वक्सेन, धर्मसेतु, सुधामा, योगेश्वर, बृहद्भानु प्रभृति एवं शुक्लादि प्रभृति अवतार का उल्लेख नहीं हुआ है, वे सब भी पुरुषावतार हैं, उसको कहने के लिए एक श्लोक का उत्थापन करते हैं।

हे द्विजगण ! अपक्षयशून्य सरोवर से सहस्र सहस्र क्षुद्र प्रवाह निर्गत होते हैं, तद्रूप सत्त्वनिधि श्रीहरि से असंख्य अवतार आविर्भुत होते रहते हैं।

टीका—अनुक्तसर्वसंग्रहार्थमाह,—अवतारा इति। असंख्येयत्वेदृष्टान्तः, यथेति। अविदासिनः—उपक्षयशून्यात्। दसु, उपक्षय इत्यस्मात्। सरसः सकाशात् कूल्याः अल्पप्रवाहाः।

श्रीहरि के अवतार समूह असंख्य हैं, 'हि' शब्द का प्रयोग—प्रसिद्धि अर्थ में होता है। असंख्येय के प्रति कारण निर्देश करते हैं, श्रीहरि (पुरुष) सत्त्वनिधि हैं, असंख्यावतार प्रादुर्भाव शक्ति का एकमात्र आश्रय हैं। दृष्टान्त के द्वारा उसका स्पष्टीकरण करते हैं,—अक्षय सरोवर से सहस्र सहस्र प्रवाह निर्गत होने पर भी जिस प्रकार क्षय होने की सम्भावना उसमें नहीं है, उस प्रकार श्रीहरि से असंख्य अवतार आविर्भुत होने पर भी श्रीहरि पूर्ण ही रहते हैं, अक्षय सरोवर से आविर्भुत होने के कारण, प्रवाहसमूह जिस प्रकार नित्य होते हैं, तद्रूप श्रीहरि के अवतार समूह भी नित्य हैं।

उनमें से जो अंशावतार हैं, उनके सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञातव्य यह है—श्रीकुमार-नारद प्रभृति आधिकारिक अवतारसमूह में ज्ञान, भक्ति शक्त्यंश का आवेश है, अर्थात् श्रीनारद-कृष्ण द्वैपायन प्रभृति में भक्ति शक्त्यंश का आवेश है। श्रीसनकादि में ज्ञान शक्त्यंश का आवेश है, एवं श्रीपृथु महाराज प्रभृति में क्रियाशक्त्यंशावेश है। किसी किसी अवतार में साक्षात् भगवान् का ही आवेश होता है, कारण वे सब अवतार कहते हैं—"मैं ही भगवान् हूँ।" इस प्रकार उक्ति स्वयमावेश का ही लक्षण है। श्रीऋषभ देव की उक्ति उक्तानुरूप ही है। "प्रीति र्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत् (५।५।६) मैं ही वासुदेव हूँ, मुझमें जब तक प्रीति नहीं होती है, तब तक कोई व्यक्ति देहसम्बन्ध से मुक्त नहीं हो सकते हैं।"

श्रीमत्स्य देवादि में साक्षात् भगवान् अंश ही है। अद्वय ज्ञानस्वरूप तत्त्ववस्तु का 'अंश' होना कैसे

व्यभिचारि-तादृश-तदिच्छावशात् सर्वदैवैकदेशतयैवाभिव्यक्तशक्त्यादिकत्वमिति ज्ञेयम्। तथैवोदाहरिष्यते (ब्र० सं० ५।५०)—"रामादिमूर्त्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्" इति।

२७। अथ विभूतीराह (भा० १।३।२७)—

(२७) "ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः॥"४१॥

कला विभूतयः। अल्पशक्तेः प्रकाशाद्विभूतित्वम्, महाशक्तेस्त्वावेशत्वमिति भेदः॥

२८। तदेवं परमात्मानं साङ्गमेव निर्द्धार्य्य प्रोक्तानुवादपूर्वकं श्रीभगवन्तमप्याकारेण

सर्वसम्वादिनी

पूर्वोत्पन्नेषु भूतेषु तेषु तेषु कलौ प्रभुः। कृत्वा प्रवेशं कुरुते यदभिप्रेतमात्मनः॥'८॥ इति।

सम्भव है? उत्तर में कहते हैं—"अंशत्व" शब्द से जानना होगा कि—साक्षात् भगवान् होने पर भी अंश रूप में प्रकाशित होने के निमित्त श्रीभगवान् की अव्यभिचारिणी इच्छाशक्ति से सर्वदा शक्ति की एकदेशिक अभिव्यक्ति, अर्थात् भगवत् अवतारसमूह ही श्रीभगवत् स्वरूपगत निखिल असाधारण धर्मपूर्ण हैं। श्रीभगवदिच्छा का व्यभिचार कभी भी नहीं होता है। वह नित्या है, उक्त इच्छा भी केवल भक्ताभीष्ट पूर्त्तिकारिणी है। सुतरां भक्त सङ्कल्पानुरूप रूप-गुण-लीलादि का प्रकटन पूर्वक निरन्तर उक्त रूप में अवस्थित होते हैं। उसके अनुसार जिस स्वरूप में न्यून शक्त्यादि का प्रकाश होता है, उन्हें अंशावतार कहते हैं। इससे इस प्रकार धारणा नहीं होती है कि—अंशावतार भी कभी अंशी हो सकते हैं। अंशी, अंश रूप में प्रकट हो सकते हैं, किन्तु अंश का अंशी रूप में प्रकट होने की सम्भावना नहीं है। ब्रह्मसंहिता के ५।३९ में उक्त है—"रामादिमूर्त्तिषु कलानियमेन तिष्ठन् नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमपुमान् यो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥"

टीका—यः कृष्णः परमः पुमान् कलानियमेन रामादिमूर्त्तिषु तिष्ठन् भुवनेषु नानावतारं अकरोत् यः परमः पुमान् कृष्णः स्वयं समभवत्, अवतार, तं आदिपुरुषं गोविन्दं अहं भजामि।

जो रामादि मूर्त्ति में कला नियम से अर्थात् निर्दिष्ट न्यून शक्तिविशेष को प्रकाश करके भक्तानुग्रह हेतु निरन्तर विराजित हैं, जो अन्य निरपेक्ष सत्तास्वरूप स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं, किन्तु स्वयं प्रापञ्चिक लोक में प्रकट हुए थे, मैं उन आदि पुरुष गोविन्द का भजन करता हूँ। "तिष्ठन्" स्था धातु के उत्तर शतृ प्रत्यय द्वारा निष्पन्न पद है। स्था—गति निवृत्ति अर्थ, शतृ प्रत्यय का वर्त्तमान कालीनत्व अर्थ है।

इससे अंशावतार में प्रकटित शक्ति की गति निवृत्ति एवं सतत विद्यमानता का बोध होता है। अर्थात् कभी भी उक्त शक्ति का न्यूनाधिक्य अथवा अभाव नहीं होता है॥२६॥

अनन्तर विभूति का वर्णन करते हैं। भा० १।३।२७ में वर्णित है—महाप्रभावसम्पन्न ऋषिवृन्द, मनु, देवता, मनुपुत्रगण एवं प्रजापतिसमूह श्रीहरि की विभूति हैं। कला—शब्द से विभूति अर्थ जानना होगा, जहाँ पर अल्पशक्ति का प्रकाश होता है, उसको विभूति कहते हैं। महाशक्ति का प्रकाश जहाँ होता है, उसको आवेश कहते हैं। विभूति एवं आवेश में यह भेद है। जीव में विभूति एवं आवेशावतार का प्रकाश होता है। महत्तम जीव में श्रीभगवान् की स्वल्पशक्ति प्रकटित होने से विभूति, अधिक शक्ति का प्रकाश होने से आवेश होता है। लौह जिस प्रकार अग्नि संयोग से अग्नि साधर्म्य को प्राप्त करता है, वस्तुतः स्वरूप में लौह ही है, तद्रूप विभूति एवं आवेशावतार के सन्दर्भ में भी जानना होगा॥२७॥

निर्द्धारयति (भा० १।३।२८)—

(२८) "एते चांश-कलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति।

एते पूर्वोक्ताः, च-शब्दादनुक्ताश्च, प्रथममुद्दिष्टस्य पुंसः पुरुषस्यांशकलाः। केचिदंशाः स्वयमेव अंशाः साक्षादंशत्वेनांशांशत्वेन च द्विविधाः, केचिदंशाविष्टत्वादंशाः केचित्तु कला

सर्वसम्वादिनी

[मूल० २६श अनु०] "अवतारा" इति,—तत्र चैव विशेष इत्यत्रैतदुक्तं भवति।—भगवान् खलु त्रिधा

उक्त प्रकार से अंश के सहित परमात्मा का निरूपण करने के पश्चात् पूर्वोक्त अवतार समूह का अनुवादपूर्वक श्रीभगवान् का निरूपण, शक्ति प्रकटन के तारतम्य से कहते हैं। भा० १।३।२८ में वर्णित है, पूर्वोक्त अवतारसमूह कारणार्णवशायी नारायण के ही अंश एवं कला हैं। किन्तु श्रीकृष्ण, स्वयं भगवान् हैं।

टीका—"तत्र विशेषमाह—एते चेति। पुंसः परमेश्वरस्य,—केचिदंशाः, केचित् कलाः, विभूतयः। तत्र मत्स्यादीनामवतारत्वेन सर्वज्ञत्वे सर्वशक्तिमत्त्वेऽपि यथोपयोगमेव ज्ञानक्रियाशक्त्याविष्करणम्। कुमारनारदादिष्वधिकारिकेषु यथोपयोगमंशकलावेशः। तत्र कुमारादिषु ज्ञानावेशः, पृथ्वादिषु शक्त्यावेशः। कृष्णस्तु साक्षात् भगवान्—नारायण एव, आविष्कृत सर्वशक्तित्वात्। सर्वेषां प्रयोजनमाह—इन्द्रारयो दैत्याः तैर्व्याकुलम् उपद्रुतं लोकं मृडयन्ति सुखिनं कुर्वन्ति॥"

इसके पहले जिन अवतार समूह का उल्लेख हुआ है, और जिनका नामतः उल्लेख नहीं हुआ है, वे सब ही कारणार्णवशायी रूप प्रथम पुरुष के ही अंश कला हैं। अर्थात् कुछ तो अंश हैं, और कतिपय अवतार की विभूति हैं, अंश द्विविध हैं—साक्षात् अंश एवं अंश का अंश। "एते चांश" यहाँ के 'च' शब्द से ही अनुल्लिखित अवतारों का संग्रह हुआ है। कतिपय अवतार अंशाविष्ट होने से अंश संज्ञा से अभिहित होते हैं। कला शब्द से विभूति अर्थ जानना होगा। अवतार नामसंग्रह प्रकरण के विंशतितम अवतार रूप में जिनका नामोल्लेख है, वह श्रीकृष्ण हैं। किन्तु श्रीकृष्ण, अवतार नहीं हैं, सबके अवतारी हैं, स्वयं भगवान् हैं, अर्थात् कारणार्णवशायी रूप में जिनका उल्लेख प्रथम है, उन पुरुष का भी जो अवतारी हैं, उक्त भगवान् शब्द से कथित अवतारी ही श्रीकृष्ण हैं।

क्रमसन्दर्भः। जगृहे इति। तत्र ब्रह्मेति परमात्मेत्यत्र यो भगवान् निर्दिष्टः (भा० १।२।३०) "स एवेदम्" इत्यादौ च यस्यैवाविर्भावा महत्स्रष्ट्रादयो विष्णु पर्य्यन्ता निर्दिष्टाः, स भगवान् स्वयं श्रीकृष्ण एवेति पूर्वदर्शित शौनकाद्यभीष्टनिजाभिमतस्थापनाय परमात्मनो विशेषानुवादपूर्वकं दर्शयितुं तत् प्रसङ्गेनान्यानवतारान् कथयितुं तत्रैव ब्रह्म च निर्देशमारभते,—जगृहे इति। यः श्रीभगवान् पूर्णषडैश्वर्य्यत्वेन पूर्वं निर्दिष्टः, स एव पौरुषं रूपं पुरुषत्वेनाम्नायते, यद्रूपं तदेवादौ सर्गारम्भे जगृहे,—प्राकृतप्रलये स्वस्मिन् लीनं सत् प्रकटतया स्वीकृतवान्। किमर्थम्? तत्राह—लोकसिसृक्षया; तस्मिन्नेव लीलानां समष्टि-व्यष्ट्युपाधि जीवानां सिसृक्षया प्रादुर्भावनार्थमित्यर्थः। कीदृशं सत्—तद्रूपं लीनमासीत्? तत्राह—महदादिभिः सम्भूतं मिलितं, अन्तर्भूतमहदादितत्त्वमित्यर्थः। "सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्यो नगापगाः" इत्यादौ हि संभूतिर्मिलनार्थः। तत्र हि महदादीनि लीनान्यासन्निति। तदेवम् "विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः। एकन्तु महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम् तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते॥" इति नारदीयतन्त्रादौ महत् स्रष्टृत्वेन प्रथमं पुरुषाख्यं रूपं यत् श्रूयते (ब्र० सं० ५।१६) "तस्मिन्नाविरभूल्लिङ्गे महाविष्णुर्जगत्पतिः" इत्यादि; (ब्र० सं० ५।१८) नारायणः स भगवान् आपस्तस्मात् सनातनात्। आविरासीत् कारणार्णोनिधिः सङ्कर्षणात्मकः। योगनिद्रां गत स्तस्मिन् सहस्रांशः स्वयं महान्।" इत्यादि ब्रह्मसंहितादौ कारणार्णवशायिसङ्कर्षणत्वेन श्रूयते, तदेव जगृह इति

विभूतयः। इह यो विंशतितमावतारत्वेन कथितः, स कृष्णस्तु भगवान्, पुरुषस्याप्यवतारी यो भगवान् स एष एवेत्यर्थः। अत्र "अनुवादमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्" इति वचनात् कृष्णस्यैव भगवत्त्वलक्षणो धर्मः साध्यते, न तु भगवतः कृष्णत्वमित्यायातम्। ततश्च श्रीकृष्णस्यैव भगवत्त्वलक्षणधर्मित्वे सिद्धे मूलावतारित्वमेव सिद्धति, न तु ततः प्रादुर्भूतत्वम्। एतदेव व्यनक्ति—स्वयमिति। तत्र च स्वयमेव भगवान्, न तु भगवतः प्रादुर्भूततया,

सर्वसम्वादिनी

प्रकाशते—(१) स्वयंरूपः; (२) तदेकात्मरूपः; (३) 'आवेश'-रूपश्चेति। तत्र (१) अनन्यापेक्षरूपः

प्रतिपादितम्। पुनः कीदृशं तद्रूपम्? तत्राह—षोड़शकलं तत् सृष्ट्युपयोगिपूर्णशक्तिरित्यर्थः। तदेवं यस्तद्रूपं जगृहे, स भगवान्। यत्तु तेन गृहीतम्, तत्तु स्वसृज्यानामाश्रयत्वात् परमात्मेति पर्य्यवसितम्॥

भा० १।३।१ श्लोक में उक्त है—"जगृहे पुरुषं रूपं भगवान्" भगवान् ने पुरुष रूप धारण किया, वह भगवान् भा० १।२।११ में उक्त एक अद्वय ज्ञानतत्त्व रूप श्रीकृष्ण हैं, जिनका निर्देश ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् रूप से उक्त श्लोक में हुआ है। भा० १।२।३० में उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि—जिनके आविर्भाव रूप में महत् स्रष्टा विष्णु पर्य्यन्त सब का उल्लेख है। वह भगवान् स्वयं कृष्ण ही हैं। पूर्व दर्शित शौनकादि के अभीष्ट निजाभिमत स्थापन हेतु परमात्मा उनके अवतार एवं उक्त प्रसङ्ग में ब्रह्म का निर्देश करने के लिए कहते हैं—"जगृहे इति।" जो भगवान्—षड़ैश्वर्य्यपूर्ण रूप में पूर्व प्रकरण में निर्दिष्ट हुए हैं, वह ही पुरुष शब्द से अभिहित होते हैं। सृष्टि के आरम्भ में उस रूप को प्रकट करते हैं। प्राकृत प्रलय में विलीन होकर जो रूप था उसको प्रकट करके स्वीकार किये हैं, उसे कहते हैं,—महदादि मिलित तत्त्वसमूह, सं-पूर्व भू धातु का मिलन अर्थ प्रसिद्ध है। नदीसमूह मिलित होकर अम्भोधि को प्राप्त करती हैं। यहाँ 'सम्भूय' का मिलन अर्थ में प्रयोग हुआ है। प्रलय समय में श्रीभगवान् में समस्त तत्त्व विलीन थे, नारदीय तन्त्र प्रभृति में उनका ही वर्णन है—विष्णु के तीन रूप हैं, एक—कारणार्णवशायी महत्स्रष्टा, द्वितीय—गर्भोदकशायी, तृतीय—क्षीराब्धिशायी, इसमें महत् स्रष्टा रूप में जिस पुरुष का वर्णन है, ब्रह्म संहिता ५।१८ में भी वर्णन है वह नारायण से जल उत्पन्न हुआ, और उसमें सङ्कर्षणात्मक नारायण आविर्भूत हुए। इत्यादि ब्रह्मसंहितोक्त कारणार्णवशायी सङ्कर्षण रूप को ही आपने प्रकट किया। और उसका प्रतिपादन ही भा० "जगृहे" श्लोक से हुआ है। वह रूप किस प्रकार है, षोड़श कलायुक्त है। अर्थात् सृष्टि के उपयोगी पूर्ण शक्तिसम्पन्न हैं। उस प्रकार रूप का प्रकट जिन्होंने किया, वह ही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उन्होंने जिस रूप का ग्रहण किया है, वह सृष्ट पदार्थों का आश्रय होने से ही परमात्मा नाम से विख्यात है।

अनुवाद का कथन व्यतीत विधेय का कथन अयुक्त है। मानान्तर से प्राप्त का पुनः कथन ही अनुवाद है। उक्त नियम के अनुसार श्रीकृष्ण का ही भगवत्तालक्षण धर्म साधित होता है। भगवान् का श्रीकृष्णत्व नहीं। अर्थात् जो भगवान् है वह ही श्रीकृष्ण हैं, ऐसा नहीं। यदि कहा जाय कि भगवान् श्रीकृष्ण हुए हैं, तब श्रीकृष्ण का अवतारी अपर किसी को कहना होगा। किन्तु वैसा सम्भव नहीं है, श्रीकृष्ण—निरपेक्ष परतत्त्व हैं, उनकी भगवत्ता से ही अपर स्वरूपों की भगवत्ता है। श्रीकृष्ण की भगवत्ता स्वतः सिद्ध है। अतएव श्रीकृष्ण का भगवत्त्व लक्षण धर्मित्व सिद्ध होने से मूल अवतारित्व श्रीकृष्ण का ही है, किन्तु कारणार्णवशायी नारायण से श्रीकृष्ण आविर्भूत नहीं हुए हैं। अनुवाद विधेय का विचार इस प्रकार है—अनुवाद्यं—उद्देश्यं, प्राप्तस्य धर्मान्तरप्राप्तये कथनमुद्देशः, विधेयं—साध्यं, अप्राप्तस्य प्राप्तये कथनं विधेयं। मानान्तरेण प्राप्तस्य पुनः कथनं अनुवादः। प्रमाणान्तर के द्वारा प्राप्त

न तु वा भगवत्ताध्यासेनेत्यर्थः ; न चावतारप्रकरणेऽपि पठित इति संशयः ;—"पौर्वापर्य्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्" इति न्यायेन ; यथाग्निष्टोमे "यद्युद्गाता विच्छिद्यादुदक्षिणेन यजेत, यदि प्रतिहर्त्ता सर्वस्वदक्षिणेन" इति श्रुतेः,—तयोश्च कदाचिद्द्वयोरपि विच्छेदे प्राप्ते विरुद्धयोः प्रायश्चित्तयोः समुच्चयासम्भवे च परमेव प्रायश्चित्तं सिद्धान्तितं तद्वदिहापीति ।

सर्वसम्वादिनी

'स्वयंरूपः' ; (२) स्वरूपाभेदेऽपि तत्सापेक्ष-रूपादिः 'तदेकात्म-रूपः'; (३) जीवविशेषाविष्ट 'आवेशरूपः'।

वस्तु की धर्मान्तर प्राप्ति के निमित्त कथन का नाम अनुवाद है, एवं अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के निमित्त कथन को विधेय कहते हैं। प्रकृत स्थल में श्रीकृष्ण अनुवाद है, विंशतितम अवतार रूप में उक्त नाम प्राप्त है। "स्वयं भगवान्" विधेय है, कारण स्वयं भगवान् का परिचायक शब्द का प्रयोग इसके पहले में नहीं हुआ है, श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं, तज्जन्य श्रीकृष्ण में ही स्वयं भगवत्ता लक्षण धर्म साधित हुआ है। यदि स्वयं भगवान् का ही कृष्णत्व साधन करने की इच्छा होती तो मूल श्लोक में श्रीसूत का कथन "स्वयं भगवांस्तु कृष्णः" अर्थात् स्वयं भगवान् कृष्ण हैं, ऐसा होता।

'स्वयं' पद का प्रयोग होने से श्रीकृष्ण ही मूल अवतारी है, बोध होता है। स्वयं भगवान् शब्द का स्वाभाविक अर्थ यह है कि—श्रीकृष्ण स्वयं ही भगवान् हैं। भगवान् से आविर्भूत होने से अथवा आरोपित भगवत्ता के कारण आप भगवान् नहीं हैं।

भा० १।३ स्थित अवतार प्रकरण में अन्यान्य अवतार के सहित श्रीकृष्णनाम पठित होने से श्रीकृष्ण मूल अवतारी नहीं हैं, इस प्रकार संशय नहीं हो सकता है। कारण उक्त प्रकरण के उपसंहार में ही श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता कथित है। यहाँ पर जिज्ञास्य यह है कि—उक्त उभयविध वाक्य में—श्रीकृष्ण की अवतारान्तर्भूतता (१) (२) स्वयं भगवत्ता में। प्राबल्य किस का है? उत्तर,—स्वयं भगवत्ता का प्रकाशक वाक्य ही प्रबल है। मीमांसादर्शन में उक्त है,—"पौर्वापर्य्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्" इस नियम से (अर्थात् पूर्वप्रदर्शित विधि एवं पर प्रदर्शित विधि) उभय के मध्य में पूर्वविधि की दुर्बलता है। अर्थात् परविधि के द्वारा पूर्वविधि बाधित है। प्रकृतिवत् का दृष्टान्त,—प्रकृति शब्द—मीमांसा दर्शन का पारिभाषिक है,—"यत्र समग्रोपदेशः स प्रकृतिः।" यथा "दर्शपौर्णमासादिः" प्रकृतियज्ञ—विकृतियज्ञयोर्मध्ये प्रकृति यज्ञस्य प्राधान्यं, तद्वत्। अग्निष्टोम में विधि यह है—यज्ञ समाप्ति के समय यज्ञानुष्ठातृगण परस्पर अग्रगामी व्यक्ति के कटिदेश को धारण कर यज्ञवेदी की प्रदक्षिणा करें। परिक्रमण के समय यदि उद्गाता विच्छिन्न होता है, तब यजमान पुनर्बार दक्षिणा रहित यज्ञानुष्ठान करें। प्रतिहर्त्ता विच्छिन्न होने पर सर्वस्व दक्षिणा के द्वारा यज्ञानुष्ठान करें। उभय प्रकार प्रायश्चित्त का विधान है। कदाचित् प्रदक्षिणा के समय उद्गाता—प्रतिहर्त्ता विच्छिन्न होने से किस प्रकार प्रायश्चित्त विधेय है? उत्तर में कहते हैं—सदक्षिण अदक्षिण उभयविध यज्ञ ही करना होगा, ऐसा नहीं। कारण, परस्पर अत्यन्त विरुद्ध प्रायश्चित्तद्वय का समुच्चय होना असम्भव है, अर्थात् युगपत् दक्षिणाशून्य एवं दक्षिणायुक्त उभय यज्ञानुष्ठान करना कैसे सम्भव होगा? अतएव परविधि के द्वारा प्राप्त सर्वस्व दक्षिण यज्ञानुष्ठान ही विहित है।

ज्योतिष्टोम याग में वेदी चतुष्टय हैं। "अध्वर्य्युद्गातृ होतारो यजुःसामर्त्विजः क्रमात्।" सामवेदी ऋत्विक् को उद्गाता, ऋग्वेदीय ऋत्विक् को प्रतिहर्त्ता, यजुर्वेदीय ऋत्विक् को अध्वर्य्यु कहते हैं।

प्रकृत प्रसङ्ग में भी अवतारगण के मध्य में पाठ हेतु श्रीकृष्ण का अवतारत्व, एवं परवर्त्ती "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" वाक्य के द्वारा उनकी स्वयं भगवत्ता अर्थात् स्वयं अवतारित्व की प्रतीति

अथवा, 'कृष्णस्तु' इति श्रुत्या प्रकरणस्य बाधात् ; यथा शङ्करशारीरक-भाष्ये (ब्र० सू० ३।३।५०) —"श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः" इति सूत्रे, "ते हैते विद्याचित एव" इति श्रुतिः, मनश्चिदादीनामग्नीनां प्रकरणप्राप्तं क्रियानुप्रवेशलक्षणमस्वातन्त्र्यं बाधित्वा विद्याचित्त्वेनैव

सर्वसम्वादिनी

(२) तदेकात्मरूपोऽपि द्विविधः—(२क) 'तत्समः'; (२ख) 'तदंश'श्च। (३) आवेशोऽपि त्रिविधः—

होती है। परस्पर अत्यन्त विरुद्ध वाक्यद्वय का समुच्चय नहीं हो सकता है। समुच्चय शब्द का अर्थ समाहार है। अविरुद्ध एक जातीय वस्तु का समाहार हो सकता है, यथा—"त्रिभुवन" शब्द से भुवनत्रय का समाहरण हुआ है। श्रीकृष्ण यदि अन्यान्य अवतार के सजातीय होते तो उन सब के सहित श्रीकृष्ण का समुच्चय होता। जो अवतार है, वह अवतारी नहीं हो सकता, जो अवतारी है, उनका निरूपण अवतार में नहीं हो सकता है। अतएव अग्निष्टोम यज्ञीय श्रुति प्रसिद्ध सिद्धान्त के समान प्रकृत स्थल में भी पूर्व विधि का दौर्बल्य एवं परविधि का प्राबल्य स्वीकार करना होगा। पूर्वविधि हेतु अवतार सूचक वाक्य—"रामकृष्णाविति भुवौ भगवानहरद्भरम्" दुर्बल है। परविधि प्राप्त अवतारित्व द्योतक "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" वाक्य प्रबल है। बलवान् विधिवाक्य ही सर्वथा ग्राह्य है। अतः श्रीकृष्ण का अवतारत्व सूचक वाक्य को अग्राह्य करके अवतारित्व द्योतक वाक्य को ही अङ्गीकार करना होगा।

अथवा 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' वाक्य—श्रीमद् भागवत की सावधारणा श्रुति है। अवधारणार्थ का प्रकाशक 'तु' शब्द का प्रयोग यहाँ है। पुनः "कृष्णः भगवान् स्वयं" यह श्रुति अवधारणयुक्ता होने से अतिशय बलवती है। साधारणतः ही 'प्रकरण' से श्रुति बलवती होती है। उससे श्रीकृष्ण का अवतारत्व बाधित होकर सावधारणाश्रुत्युक्त स्वयं भगवत्ता निश्चित हुई है। श्रुति के द्वारा प्रकरण की बाधा होती है, उसका विवरण यह है—"श्रुतिलिङ्गप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् विप्रकर्षात्" इति पारमर्षसूत्रम् मीमांसादर्शनम्। ३।३।१४

उक्तिगत विरोध समाधान कल्प में महर्षि जैमिनि का कथन यह है—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या के समवाय स्थल में यथाक्रम से परप्रमाण की दुर्बलता है। अर्थात् श्रुति-लिङ्ग के मध्य में लिङ्ग दुर्बल, लिङ्ग वाक्य के मध्य में वाक्य दुर्बल। इस रीति से श्रुति का सर्वाधिक प्राबल्य है।

श्रुत्यादि की निरुक्ति—श्रुतिश्च शब्दः, क्षमता च लिङ्गं वाक्यं पदान्येव तु संहतानि।
सा प्रक्रिया यत् करणं साकाङ्क्षम् स्थानं क्रमो, योगबलं समाख्या॥

अर्थात् श्रुति—शब्द, लिङ्ग—क्षमता, वाक्य—पद संहति, प्रकरण—साकांक्षकरण, स्थान—क्रम, समाख्या—यौगिक शब्द, यथा निरपेक्षोरवः श्रुतिः, शब्दः—सामर्थ्यं लिङ्गं, समभिव्याहारो वाक्यम्। उभयाकाङ्क्षा-प्रकरणम्। देशसामान्यम् स्थानं, समाख्या यौगिकः शब्दः। निजार्थ प्रतिपादन हेतु पदान्तरापेक्षारहित शब्द ही श्रुति है। शब्द की अर्थ प्रकाशन सामर्थ्य का नाम लिङ्ग है, साध्यत्वादि वाचक द्वितीयादि का अभाव होने से तात्पर्य्य लब्ध शेषशेषिभाव बोधक पदद्वय के सहोच्चारण का नाम वाक्य, अङ्गाङ्गित्व में अभिमत परस्पराकाङ्क्षा—प्रकरण, देश का समानत्व—स्थान, यौगिक शब्द—समाख्या है। दृष्टान्त स्वरूप "श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः" ३।३।५० सूत्रस्थ शाङ्कर भाष्य में श्रुति का प्रामाण्य स्वीकृत है। वाजासनेयी अग्निरहस्य में "मनश्चित्" प्रभृति अग्नि की भाँति "विद्याचित्" का प्रकरण में पाठ हेतु क्रियापारतन्त्र्य प्रदर्शित हुआ है। अपर श्रुति में "विद्याचित्" ब्रह्मज्ञान का ही मोक्ष साधन सामर्थ्य सम्पन्न ज्ञान का ही साक्षात् उपदेश होने से, प्रकरण प्राप्त—अर्थात् क्रियाधिकरण पाठ हेतु "विद्याचित्" का क्रियापारतन्त्र्य निषिध्य होकर श्रुति प्राबल्य निबन्धन मोक्ष साधकत्व स्थापित

हुआ है। प्रस्तुत कृष्णस्तु विचार स्थल में भी उक्त रीति को जानना होगा। ब्रह्मसूत्रस्थ शाङ्करभाष्य का प्रकरण यह है—

"विद्यैव तन्निर्द्धारणात्" 'तु' शब्दः पक्षव्यावर्त्तकः, निर्द्धारणात्—अवधारणात् मनश्चिदादीनां विद्याङ्गता सिद्धति। सूत्रस्थ तु-शब्द का अर्थ, उक्त पूर्वपक्ष का निषेध करना है, अर्थात् पूर्वपक्ष उत्थित नहीं हो सकता है। श्रुति में निर्द्धारण वाक्य की विद्यमानता ही एकमात्र कारण है। अतः मनश्चिदादि अग्नि क्रियाङ्ग नहीं है। प्रत्युत स्वतन्त्र एवं उपासनाङ्ग है। श्रुति उसका अवधारण वाक्य 'तु' के द्वारा निश्चय करती है।

श्रुतिलिङ्गवाक्यैः प्रकरणं वाक्यैः प्रकरणं बाध्यमिति सूत्रत्रयार्थः। (रत्नप्रभा) तस्मात् श्रुतिलिङ्ग-वाक्यानि प्रकरणमपोह्य स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनामवगमयन्तीति सिद्धम् (भामती)। प्रकरण की बलवत्ता से स्वातन्त्र्य भङ्ग नहीं हो सकता है। कारण, श्रुति-लिङ्ग-वाक्य तीन ही प्रकरण की अपेक्षा बलवान् हैं। सुतरां उक्त तीनों के द्वारा स्वतः ही प्रकरण बाधित होता है। सूत्रस्थ शाङ्करभाष्य,—

"ननु लिङ्गमप्यसत्यामन्यस्यां प्राप्तावसाधकं कस्यचिदस्येत्यपास्य तत् प्रकरणसामर्थ्यात् क्रियाशेषत्व-मध्यवसितमित्यत उत्तरं पठति—"श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः" नैवं प्रकरणसामर्थ्यात् क्रियाशेषत्व-मध्यवसायस्वातन्त्र्यपक्षोबाधितव्यः, श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्। बलीयांसि हि प्रकरणात् श्रुतिलिङ्ग-वाक्यानीति स्थितं श्रुतिलिङ्गसूत्रे। तानि चेह,—स्वातन्त्र्यपक्षं साधयन्ति दृश्यन्ते। कथम्? श्रुतिस्तावत् "ते हैते विद्याचित एव" इति। तथा लिङ्गं "सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते" इति। तथा वाक्यमपि "विद्यया हैवैत एवम्विदश्चिता भवन्ति" इति। "विद्याचित एव" इति हि सावधारणेयं श्रुतिः क्रियानुप्रवेशेऽभीषामभ्युपगम्यमाने बाधिता स्यात्।

कतिपय व्यक्ति कहते हैं, अन्य क्रिया की प्राप्ति से लिङ्ग दर्शन असाधक होता है। अर्थात् कार्य्यकारी अथवा बोधक नहीं होता है। बोधक न होने से ही प्रकरण के बल से पूर्वोक्त विषयों की क्रियाङ्गता निश्चित हो सकती है? उत्तर प्रदान करते हैं—प्रकरण के बल से उक्त विषयों की क्रियाङ्गता स्थित करके स्वातन्त्र्य पक्ष का निरास नहीं कर सकते। कारण उक्त प्रकरण की अपेक्षा, श्रुति, लिङ्ग, वाक्य तीन प्रमाण ही बलवान् हैं। प्रकरण की अपेक्षा उक्त समूह का अधिक बल है, तज्जन्य प्रकरण स्वयं उससे बाधाप्राप्त होता है, अर्थात् स्व सम्बन्धित अर्थ प्रत्यायन में अक्षम होता है। यह नियम पूर्व मीमांसा के श्रुतिलिङ्गादि का बलाबल निर्णायक सूत्र में अभिहित है। श्रुति, लिङ्ग, वाक्य प्रमाणत्रय को उदाहृत अग्नि का स्वातन्त्र्यपक्ष साधन एवं क्रियाङ्गपक्ष निवारण में विनियोग करते हैं। श्रुति यथा—"वह यह मनश्चितादि अग्नि विद्याचित व्यतीत अपर कुछ भी नहीं हैं। अर्थात् साक्षात् क्रियाग्नि नहीं है।" लिङ्ग यथा—समुदाय प्राणी सब समय इस अग्नि का चयन करते हैं। क्रियाङ्ग अग्निसमूह सब समय सब प्राणियों के द्वारा गृहीत नहीं होते हैं। तज्जन्य मनश्चितादि अग्नि की ध्यान मात्रता की ही प्रतीति होती है। वाक्यरूपता की प्रतीति नहीं होती है। यथा—विद्या, अर्थात् ध्यानरूप उपासना के द्वारा उक्त समूह द्रव्य उन उन उपासक कर्त्तृक चित होते हैं। मनश्चितादि को अग्नि कहते हैं। वास्तविक वे सब अग्नि नहीं हैं, किन्तु अग्नि तुल्य हैं। अग्निरूप में चिन्तनीय अथवा ध्येय हैं। क्रियाङ्ग शब्द से "विद्याचित एव" श्रुति बाधित होगी। अर्थ प्रकाश में असमर्थ होकर मिथ्या होगी। यहाँ श्रुति शब्द का अर्थ है—साक्षात् अर्थ प्रत्यायक शब्द। "विद्याचित एव" उक्त शब्दद्वय के द्वारा साक्षात् अथवा मुख्य रूप से उक्तार्थ की प्रतीति होती है। उक्त कारण से ही वह श्रुति है।

नन्ववाह्यसाधनत्वाभिप्रायमिदमवधारणं भविष्यति। नेत्युच्यते। तदभिप्रायतायां हि "विद्याचितः" इतीयता विद्यास्वरूपसङ्कीर्त्तनेनैव कृतत्वादनर्थकमिदमवधारणं भवेत्। स्वरूपमेव ह्येषामवाह्यसाधनत्व-मिति। आवाह्यसाधनत्वेऽपि मानसग्रहवत् क्रियानुप्रवेशशङ्कायां तन्निवृत्तिफलमवधारणमर्थवद् भविष्यति।

स्वातन्त्र्यं स्थापयति, तद्वदिहापीति। अत एतत्प्रकरणेऽप्यन्यत्र क्वचिदपि भगवच्छब्दमकृत्वा तत्रैव (भा० १।३।२३) "भगवानहरद्भरम्" इत्यनेन कृतवान्। ततश्चास्यावतारेषु गणना तु स्वयं भगवानप्यसौ स्वरूपस्थ एव निजपरिजनवृन्दानामानन्दविशेषचमत्काराय किमपि

सर्वसम्वादिनी

(३क) भक्ति-(३ख) ज्ञान-(३ग) क्रिया-शक्तिप्राधान्येन।

तत्र (१) 'स्वयंरूपो' यथा श्रीब्रह्म-संहितायाम् (५।१)—

तथा "स्वपते जाग्रते चैवम्विदे सर्वदा सर्वाणि भूतान्येतानग्नीन् चिन्वन्ति" इति सातत्य दर्शनमेतेषां स्वातन्त्र्यणैव कल्पते। यथा साम्पादिके वाक्प्राणमये अग्नि होत्रे "प्राणं तदा वाचि जुहोति, वाचं तदा प्राणे जुहोति", इत्युक्त्वा उच्यते "एते अनन्ते अमृते आहुती जाग्रच्च स्वपंश्च सततं जुहोति" इति तद्वत्। क्रियानुप्रवेशे तु क्रियाप्रयोगस्याल्पकालत्वात् न सातत्येनैषां प्रयोगः कल्प्येत। न चेदमर्थवादमात्रमिति न्याय्यम्। यत्र हि विस्पष्टो विधायको लिङ्गादिरूप लभ्यते। युक्तं तत्र सङ्कीर्त्तनमात्रस्यार्थवादत्वम्, इह तु विस्पष्ट विध्यन्तरानुपलब्धेः सङ्कीर्त्तनादेवैषां विज्ञानानां विधानं कल्पनीयम्। तच्च यथा सङ्कीर्त्तनमेव कल्पयितुं शक्यते, इति सातत्यदर्शनात् तथा भूतमेव कल्प्यते। ततश्च सामर्थ्यादेषां स्वातन्त्र्यसिद्धिः, एतेन "तद्गत किञ्चेमानि भूतानि मनसा सङ्कल्पयन्ति, तेषामेव सा वृत्तिः, इति व्याख्यातम्। तथा वाक्यमपि "एवम्विदे" इति पुरुषविशेषसम्बन्धमेवैषामाचक्षाणं न क्रतु सम्बन्धं मृष्यते तस्मात् स्वातन्त्र्य पक्ष एव ज्यायान्निति।"

"विद्याचित एव" अवधारणात्मक श्रुति अवाह्यसाधनाभिप्राय से कथित है, ऐसा कहना ठीक नहीं हैं। उक्त अग्निसमूह आवाह्यसाधन अर्थात् मानस साधन है। ध्यान के अभिप्राय से कथित नहीं हुआ है। अपोह्य साधनाभिप्राय से अभिहित होने से "विद्याचितः" पर्यन्त कथन ही होता, 'एव'-कार का प्रयोग नहीं होता। उक्त शङ्कापनोदनार्थ अवधारणवाची 'एव' शब्द का प्रयोग हुआ है। सुतरां वह क्रियाङ्ग नहीं हो सकता है। कारण क्रिया का अनुष्ठान स्वल्पकाल व्यापी है। सुतरां उक्तानुष्ठान का सातत्य असम्भव है। श्रुति का कथन है—"सततं जुहोती" अतः वह निश्चित ही उपासना विशेष है, क्रिया का अङ्गविशेष नहीं है। वह अर्थवाद भी नहीं है। जहाँ सुस्पष्ट विधि है, वहाँ अर्थवाद सम्भव है, उदाहृत स्थल में विस्पष्ट विध्यन्तर उपलब्ध न होने से उल्लेख से ही ध्यानात्मक ज्ञान विधान की कल्पना की जाती है। किन्तु विधान की कल्पना कथन के अनुसार ही होती है। उदाहृत श्रुति में सातत्य कीर्त्तन है। सुतरां सातत्य रक्षा हेतु उक्त कल्पना विधेय है। इससे मनश्चित् प्रभृति का स्वातन्त्र्य सिद्ध होता है। इससे "तद्यत्" इसका समाधान भी हुआ। विचार का उपसंहार यह है कि—प्रदर्शित युक्ति में 'मनश्चित्' एवं वाक्चित् प्रभृति अग्नि का स्वातन्त्र्य पक्ष ही श्रेष्ठ रूप से स्थापित होता है।

अतएव अवतार प्रकरण में अन्य किसी भी अवतार के नामकरण के समय उक्त नाम को भगवत् शब्द के द्वारा विशेषित न करके श्रीकृष्णावतार प्रसङ्ग ही "भगवानहरद्भरम्" वाक्य में 'भगवत्' शब्द का प्रयोग किया है।

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् होने पर भी अवतारों की गणना में सन्निविष्ट होने का कारण यह है कि—साधारण अवतारगणों के तुल्य अवतीर्ण होने का हेतु श्रीकृष्ण में मुख्य रूपमें नहीं है। अर्थात् पृथिवी का भार अपनोदन करना ही श्रीकृष्णावतार का हेतु नहीं, उक्त कार्य्य का सम्पादन पुरुषावतारगण ही कहते हैं। किन्तु निज परिजनवृन्द को विशेष आनन्दित करने के लिए ही श्रीकृष्ण अवतीर्ण होते हैं।

श्रीकृष्ण, स्वयं भगवान् होकर भी लोक नयन गोचरीभूत होते हैं। यह ही जगद्गत भक्तगणों के

माधुर्य्यं निजजन्मादिलीलया पुष्णन् कदाचित् सकललोकदृश्यो भवतीत्यपेक्षयैवेत्यायातम्। यथोक्तं ब्रह्मसंहितायाम् (ब्र० सं० ५।३९)

"रामादिमूर्त्तिषु कलानियमेन तिष्ठ,-न्नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥"४२॥ इति।

अवतारश्च प्राकृतवैभवेऽवतरणमिति ज्ञेयम्। श्रीकृष्णसाहचर्य्येण श्रीरामस्यापि पुरुषांशत्वात्ययो ज्ञेयः। अत्र 'तु'-शब्दोऽंश-कलाभ्यः पुंसश्च सकाशाद्भगवतो वैलक्षण्यं बोधयति। यद्वा, अनेन 'तु'-शब्देन सावधारणा श्रुतिरियं प्रतीयते। ततः "सावधारणा श्रुतिर्बलवती" इति न्यायेन श्रुत्यैव श्रुतमप्यन्येषां महानारायणादीनां स्वयंभगवत्त्वं गुणीभूतमापद्यते। एवं पुंस इति भगवानिति च प्रथममुपक्रमोद्दिष्टस्य तस्य शब्दद्वयस्य

सर्वसम्वादिनी

'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥'१॥ इति।

प्रति उनका विशेष अनुग्रह है। इस विषय को प्रकाशित करने के लिए ही अवतारगणों में उनका नामोल्लेख हुआ है। पुरुष के अंशावतारत्व सूचित करने के निमित्त श्रीकृष्ण नामोल्लेख अवतार विवरण में नहीं हुआ है। कारण, ब्रह्मसंहिता ५।३९ में उक्त है—'श्रीगोविन्द कदाचित् स्वयं ही प्रपञ्च में अवतीर्ण होते हैं, एवं श्रीरामादि मूर्त्ति में समयोपयोगी शक्ति का प्रकाश करते हैं। उन श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

टीका—स एव कदाचित् प्रपञ्चे निजांशेन, स्वयमवतरतीत्याह—रामादीति। यः कृष्णाख्यः परमः पुमान् कलानियमेन तत्र तत्र नियतानामेवशक्तीनां प्रकाशेन रामादिमूर्त्तिषु तिष्ठन् तत्तन्मूर्त्तीः प्रकाशयन् नानावतारमकरोत्। य एव स्वयं समभवदवततार। तं लीलाविशेषेण सन्तमहं भजामीत्यर्थः। तदुक्तं श्रीदशमे देवैः, "मत्स्याश्वकच्छपवराहनृसिंहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतार त्वं पासि न त्रिभुवनञ्च यथाधुनेश, भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते।"

अप्राकृत वैभव से प्राकृतवैभव में भगवत् स्वरूपवृन्द का अवतरण को अवतार कहते हैं। अवतार शब्द का अर्थ--केवल अंश नहीं है। श्रीकृष्ण के साहचर्य्य से श्रीबलराम का भी पुरुषांशवतारत्व खण्डित हुआ। इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिए श्रीसूत ने ऊनविंश एवं विंश, अवतारद्वय को ही 'भगवान्' विशेषण से विशेषित किया है। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" वाक्य में 'तु' शब्द का प्रयोग है। उक्त 'तु' शब्द, अंश, कला से एवं पुरुष से स्वयं भगवान् कृष्ण को पृथक् करना है। अथवा 'तु' शब्द के द्वारा सावधारणा श्रुति की प्रतीति होती है, तज्जन्य उक्त श्लोकस्थ 'तु' शब्द का अर्थ 'एव' है। अर्थात् श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं। "सावधारणाश्रुतिर्बलवती" इस न्याय से महानारायण प्रभृति की स्वयं भगवत्ता श्रुत होने पर भी उन सब की स्वयं भगवत्ता गौण होती है। गुणीभूत शब्द का अर्थ—अप्रधानीभूत है। अर्थात् महानारायण प्रभृति की स्वयं भगवत्ता, अन्यान्य भगवत् स्वरूप की अपेक्षा से ही है। किन्तु श्रीकृष्ण की अपेक्षा से नहीं। यहाँ पर विशेष ज्ञातव्य विषय यह है कि—"जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः" इस वाक्य में जिस प्रकार पुरुष एवं भगवान् शब्द का प्रयोग हुआ है, उस प्रकार उपसंहार वाक्य "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" में, उपक्रम वाक्य में उल्लिखित पुरुष शब्द का सहोदर अर्थात् समानार्थ वाचक 'पुमान्' शब्द के सहित ही भगवच्छब्द का उल्लेख हुआ है। अतः उपक्रम वाक्यस्थ पुरुष एवं भगवान् शब्द का स्मरण उपसंहार वाक्यस्थ 'पुंसः' एवं 'भगवान्' शब्द से हुआ है।

तत्सहोदरेण तेनैव शब्देन च प्रतिनिर्द्देशात्तावेव खल्वेतावितिस्मारयति। उद्देशप्रतिनिर्द्देशयोः प्रतीतिस्थगितता-निरसनाय विद्वद्भिरेक एव शब्दः प्रयुज्यते तत्समवर्णो वा; यथा ज्योतिष्टोमाधिकरणे "वसन्ते वसन्ते च ज्योतिषा यजेत" इत्यत्र 'ज्योतिः'-शब्दो ज्योतिष्टोम-विषयो भवतीति। अत्र तत्त्ववाद-गुरवस्तु 'च'-शब्दस्थाने 'स्व'-शब्दं पठित्वैवमाचक्षते—"एते प्रोक्ता अवतारा मूलरूपी स्वयमेव। किं स्वरूपाः? स्वांशकलाः, न तु जीववद्विभिन्नांशाः; यथा वाराहे—

"स्वांशश्चाथ विभिन्नांश इति द्वेधांश इष्यते। अंशिनो यत्तु सामर्थ्यं यत्स्वरूपं यथा स्थितिः ॥४३॥
तदेव नाणुमात्रोऽपि भेदः स्वांशांशिनोः क्वचित्।
विभिन्नांशोऽल्पशक्तिः स्यात् किञ्चित् सामर्थ्यमात्रयुक् ॥"४४॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

(२क) 'तत्समो' यथा—तस्यैव (२क-१) 'परमव्योम-नाथः' इति प्रतिपत्स्यते; यथा परमव्योमावरणस्थस्तस्य

उपक्रम एवं उपसंहार वाक्य में विद्वद्गण एक प्रकार वाक्य का, अथवा उपक्रम वाक्यबोधक वाक्य का प्रयोग करते हैं, इससे वर्णितव्य विषय का तात्पर्य्यावधारण सुष्ठु रूपेण होता है। जिस प्रकार ज्योतिष्टोमाधिकरण में उक्त है, प्रति वसन्त ऋतु में ज्योतिः के द्वारा याग करें। यहाँ 'ज्योतिः' शब्द से ज्योतिष्टोम का बोध होता है। कारण, अधिकरण के प्रारम्भ में ज्योतिष्टोम शब्द का प्रयोग है, अन्तिम में तत् समान वर्ण ज्योतिः शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे ज्योतिष्टोम याग की इतिकर्त्तव्यता का बोध होता है। इससे प्रतिपन्न हुआ कि—भा० १।३।१ श्लोक में जिन पुरुष की कथा वर्णित है, वह पुरुष कुमारादि अवतारों का अवतारी हैं। किन्तु उक्त अवतारी का अवतार कौन है, इसका उल्लेख नहीं हुआ है। "एते चांशकलाः पुंसः" श्लोक के द्वारा उसका ही स्पष्टीकरण हुआ है। उक्त अवतारी पुरुष का भी अवतारी श्रीकृष्ण ही हैं। तत्त्ववादगुरु श्रीमन्मध्वाचार्यचरण स्वकृत पुराण प्रस्थान के विंशति पृष्ठ में लिखते हैं—"एते स्वांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारि व्याकुलं लोकं मृड़यन्ति युगे युगे॥ एते प्रोक्तावताराः, मूलरूपी स्वयमेव॥ श्रीमन्मध्वाचार्य्यचरण—"एते चांशकलाः" शब्द के स्थान में "एते स्वांशकलाः" पाठ को मानकर कहते हैं,—एते—अवतार प्रकरण में पठित अवतारसमूह कारणार्णवशायी प्रथम पुरुष के ही अवतार हैं, किन्तु मूलरूप, अवतारी स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं। अवतारसमूह—पुरुष के अंश कला हैं। जीववत् विभिन्नांश नहीं हैं। अत्र प्राचीन टीका—

"एते कौमारं सर्गमाश्रित इत्यादिना कल्की जगत्पतिरित्यन्तेन उक्ता अवताराः स्वांशकलाः स्वरूपांशावताराः। नत्वंशिनो भिन्ना इति स्वशब्दार्थः। नत्वत्यन्त भेदाभावेऽपि स्वांशः किं भिन्नाभिन्नः? नेत्याह—कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति। कृष्णमेघवत् कृष्णवर्णः भगवान् पद्मनाभः स्वयं मूलरूप्येव। अथवा नारसिंहादिवत् कृष्णो भगवान् पद्मनाभः कस्यांशः" इति शङ्कापरिहरति मूलरूप्येवेत्यर्थः॥ (सर्वमूलग्रन्थाः)

वराहपुराण में उक्त है—स्वांश एवं विभिन्नांश भेद से अंश दो प्रकार हैं। अंशी की सामर्थ्य, स्वरूप, स्थिति जिस प्रकार होती है, स्वांशमें उस प्रकार ही होती है। स्वांश के सहित अंशी का अणु मात्र भी भेद नहीं है। किन्तु विभिन्नांश, अल्पशक्ति एवं किञ्चित् सामर्थ्ययुक्त है। इस विषय में वक्तव्य यह है कि—अंशी के समान सामर्थ्यादि की बात कही गई है, वह केवल अंशांशी के ऐक्य को लक्ष्य करके ही है। समान जातीयत्व की दृष्टि से ही अभिन्न कथन हुआ है। अन्यथा उभय की सामर्थ्यादि एकरूप

अत्रोच्यते—अंशानामंशिसामर्थ्यादिकं तदैक्येनैव मन्तव्यम्। तच्च यथाविदासिन इत्यादौ तस्याक्षयत्वेन तासामक्षयत्वं यथा तद्वत्, अंशांशित्वानुपपत्तेरेव। तथा च श्रीवासुदेवानिरुद्धयोः सर्वथा साम्ये प्रसक्ते कदाचिदनिरुद्धेनापि श्रीवासुदेवस्याविर्भावना प्रसज्ज्येत; तच्च श्रुतविपरीतमित्यसदेव। तस्मादस्त्येवावतार्य्यवतारयोस्तारतम्यम्। अतएव तृतीयस्याष्टमे (भा० ३।८।३-४)—"आसीनमुर्व्यां भगवन्तमाद्यं, सङ्कर्षणं देवमकुण्ठधिष्ण्यम्।

विवित्सवस्तत्त्वमतः परस्य, कुमारमुख्या मुनयोऽन्वपृच्छन् ॥४५॥

स्वमेव धिष्ण्यं बहु मानयन्तं, यद्वासुदेवाभिधमामनन्ति"

इत्यादौ वासुदेवस्य सङ्कर्षणादपि परत्वं श्रूयते। यत्तु तेषां तथा व्याख्यानम्—तत्र "कृष्णस्तु" इत्यनर्थकं स्यात्, "भगवान् स्वयम्" इत्यनेनैवाभिप्रेतसिद्धेः। किञ्च, तैः स्वयमेव (ब्र० सू० २।३।४५) "प्रकाशादिवन्नैवं परः" इति सूत्रे स्फुटमंशांशिभेदो दर्शितः। अंशत्वेऽपि

सर्वसम्वादिनी

(२क-१अ) 'वासुदेवः'। (२ख) 'तदंशो' यथा—तदा(परमव्योमा)वरणस्थः (२ख-१) 'सङ्कर्षणादिः';

होने से अंशांशी विभाग विलोप होगा। कौन अंश है, एवं अंशी कौन है, निरूपण नहीं होगा। वस्तु के अभाव से शब्दद्वय निरर्थक होगा। उससे श्रीवासुदेव एवं श्रीअनिरुद्ध की एकता होगी। सुतरां अनिरुद्ध से वासुदेव की उत्पत्ति होने लगेगी, उससे श्रुति का विरुद्धाचरण होगा। अतएव अवतार अवतारी के मध्य में अवश्य ही तारतम्य विद्यमान है। अक्षय सरोवर से प्रणाली निर्गत होने पर तत्त्वदृष्टि से सरूपता तो है ही, किन्तु परिमाण एवं तदुचित सामर्थ्य से प्रत्येक ही भिन्न है। उस प्रकार ही अंशांशि विभेद में तारतम्य को जानना होगा।

भा० ३।८।३-४ में उक्त है—एक सनत्कुमार प्रभृति मुनिगण परतत्त्व अवगत होने के निमित्त पाताल में श्रीसङ्कर्षण के निकट उपस्थित हुए थे। उस समय अप्रतिहत ज्ञानसम्पन्न श्रीसङ्कर्षण देव श्रीवासुदेव की आराधना में रत थे। उक्त श्लोकद्वय के विवरण से ज्ञात होता है कि—श्रीसङ्कर्षण से श्रीवासुदेव श्रेष्ठ हैं, अन्यथा श्रीसङ्कर्षण देव श्रीवासुदेव का ध्यान क्यों करेंगे?

टीका—"कोऽसौ भगवान्? केभ्यश्च ऋषिभ्य आह कथञ्च त्वया प्राप्तमित्यपेक्षायामाह—आसीनमिति सप्तभिः।" उर्व्या—पातालतले—अकुण्ठसत्त्वम्—अप्रतिहतज्ञानम्। अतः सङ्कर्षणात् परस्य श्रीवासुदेवस्य। (३) तमेव विशिनष्टि स्वयमेव धिष्ण्यं, स्वीयमाश्रयं वासुदेवसंज्ञं परमानन्दरूपं ध्यान-पथेनानुभूय बहुमानयन्तं सर्वोत्कर्षेण पूजयन्तम्। प्रत्यग्धृतमन्तर्मुखीकृतं नेत्राम्बुजमुकुलं किञ्चिदुन्मीलयन्तम्। कृपावलोकेन सनत्कुमारादीनाम्युदयार्थम्।४।

श्रीमन्मध्वाचार्य्य कृत "एते स्वांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" श्लोक की व्याख्या में स्वांश के सहित अभिन्नता प्रदर्शन मूलक जो व्याख्या हुई है, उससे "कृष्णस्तु" पद की व्यर्थता अवश्यम्भावी है। "स्वयं भगवान्" कहने से ही अभिप्राय सिद्ध होता। कारण, समस्त भगवत् स्वरूप, यदि समान होते हैं, तब तो समस्त भगवत् स्वरूप ही स्वयं भगवान् हैं, स्वतन्त्र कृष्ण शब्दोल्लेख करने का प्रयोजन ही नहीं होता। और भी कहना है कि—तत्त्ववाद गुरुवर्य्य ने वेदान्तसूत्र २।३।४५ "प्रकाशादिवन्नैवं परः" भाष्य में सुस्पष्ट रूप से अंशांशी का भेद प्रदर्शन किया है। "अंशत्वेऽपि न मत्स्यादिरूपी पर एवंविधः। यथा तेजोंऽशस्यैव कालाग्नेः खद्योतस्य च नैक प्रकारता"। अंश होने पर भी मत्स्यादिरूपी पर (ईश्वर)

न मत्स्यादिरूपी पर एवम्विधो जीवसदृशः—यथा तेजोऽंशस्यैव सूर्य्यस्य खद्योतस्य च

सर्वसम्वादिनी

(२ख-२) 'मत्स्यादि'श्च। (३) आवेशश्च तत्(परमव्योम)स्थः—(३क) 'नारद'-(३ख) 'चतुःसन'-(३ग) 'शेष'-पृथ्वादयः।

भगवदंशरूप में कथित जीवसदृश नहीं हैं। जिस प्रकार तेज का अंश सूर्य्य, एवं तेज का अंश—खद्योत की एक प्रकारता नहीं है। अतएव अंशांशी में भेद सुस्पष्ट होने से ही कथन सार्थक हुआ है—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं, व्याख्या अति उत्तम है।

प्रश्न हो सकता है कि—सम्प्रदायाचार्य्य श्रीपाद मध्वाचार्य चरण "एते चांशकलाः" श्लोक में 'च' के स्थान में 'स्व' शब्द पाठ करके अंशांशी में अभेद स्थापन किए हैं। तब क्यों श्रीजीव गोस्वामिचरण अंशांशी में भेद प्रतिपादन करते हैं? उत्तर—श्लोक में 'च' शब्द के स्थान में 'स्व' शब्द प्रयोग करके विभिन्नांश जीव को स्वांश मत्स्यादि से पृथक् रूप में प्रदर्शन करना ही उद्देश्य है। "प्रकाशादिवन्नैवं परम्" सूत्र व्याख्या में उसका स्पष्टीकरण हुआ है।

श्रीमन्मध्वमुनि के मत में अखण्ड तेजोराशि तुल्य श्रीकृष्ण हैं, तेजोऽंश सूर्य्य तुल्य मत्स्यादि स्वांश हैं, एवं तेजोऽंश खद्योत तुल्य विभिन्नांश जीव है। अखण्ड तेज के अंश होने पर भी सूर्य्य एवं खद्योत में समानता नहीं है। उस प्रकार स्वांश एवं विभिन्नांश, अखण्ड परतत्व वस्तु हैं।

सूत्र "प्रकाशादिवन्नैवं परः" श्रीरामानुज भाष्य—'तु' शब्दश्चोद्यं व्यावर्त्तयति, प्रकाशादिवज्जीवः परमात्मनोऽंशः, यथा अग्न्यादित्यादेर्भास्वतो भारूपः प्रकाशोंशो भवति, यथा गवाश्वशुक्लकृष्णादीनां गोत्वादिविशिष्टानां वस्तूनां गोत्वादिनि विशेषणान्यंशाः, विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव। तथा च विवेचकाः विशिष्टे वस्तुनि विशेषणांशोऽयम्, विशेष्यांशोऽयम् इति व्यपदिशन्ति। विशेषणविशेष्ययो-रंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते। एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते। एवं जीव परयोर्विशेष्ययोरंशांशित्वं, स्वभावभेदश्चोपपद्यते। तदिदमुच्यते—नैवं पर इति। यथाभूतो जीवः, न तथाभूतः परः। यथैवेहि प्रभायाः प्रभावानन्यथाभूतः, तथा प्रभास्थानीयत्वात् स्वांशाज्जीवादंशी परोऽप्यर्थान्तरभूत इत्यर्थः। एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्यत्वकृतं स्वभाववैलक्षण्यमाश्रित्य भेदनिर्देशाः प्रवर्त्तन्ते, अभेदनिर्देशास्तु पृथक् सिद्ध्यनर्ह विशेषणानां विशेष्यपर्य्यन्तत्वमाश्रित्य मुख्यत्वेनो-पपद्यन्ते। 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् त्वमयमात्मेति शब्दा अपि जीवशरीरकब्रह्मवाचकत्वेनैकार्थाभिधायित्वादित्ययमर्थः प्रागेव प्रपञ्चितः।"

जीव अंश होने पर, ब्रह्म का एकदेश है, अथः जीवगत दोषसमूह की प्राप्ति ब्रह्म की अवश्य होगी। इस संशय निवारणार्थ शब्द में 'तु' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रकाशादिवत् जीव, परमात्मा का अंश है। जिस प्रकार अग्नि एवं सूर्य्य का भारूप प्रकाशांश होता है, जिस प्रकार गो, अश्व, शुक्लकृष्णादि गोत्वादि विशिष्ट वस्तुयों के गोत्वादि विशेषण अंश होते हैं। जिस प्रकार देही का देव मनुष्यादि देह अंश है, उस प्रकार अंश है। एक वस्तु के एकदेश को अंश कहते हैं। विशिष्ट एक वस्तु का विशेषण ही अंश हैं। विवेचकगण वैसा ही मानते हैं, उससे स्वभाव की विलक्षणता देखने में आती है। उस प्रकार जीव एवं परमेश्वर में स्वभावगत भेद है, उसको कहते हैं—अंश परमेश्वर नहीं है। जिस प्रकार प्रभा का प्रभाव अनन्यभूत है, उस प्रकार प्रभा स्थानीय स्वांश जीवस्वरूप से अंशी पर होकर भी अर्थान्तरभूत है। इस प्रकार जीव-परमेश्वर में विशेषण विशेष्य भाव को अवलम्बन कर स्वभाववैलक्षण्य को मानते हैं, उससे ही भेद निर्देश होता है। अभेद निर्देश भी होता है। कारण पृथक् सिद्ध्यनर्ह विशेषणसमूह का पर्य्यवसान विशेष्य में ही होता है। तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, इत्यादि में तच्छब्द ब्रह्म शब्दवत् 'त्वमयमात्मा'

शब्द भी जीवशरीरक ब्रह्म वाचक होने से एकार्थ का प्रकाशक है।

मध्वभाष्य—अनंशत्व श्रुतेर्गतिं चाह—"प्रकाशादिवन्नैवं परः"। अंशत्वेऽपि न मत्स्यादिरूपी पर एवम्विधः। यथा तेजोऽंशस्यैव कालाग्नेः खद्योतस्य च नैक प्रकाशता।

अनुव्याख्यानम्। अंशस्तु द्विविधो ज्ञेयः स्वरूपांशोऽन्य एव च विभिन्नांशोऽल्पशक्तिः स्यात् किञ्चित् साद्दश्यमात्रयुक्॥

अंश होने पर भी मत्स्यादि रूपी अवतारी नहीं होते हैं। उस प्रकार जीव अंश होने पर भी भिन्न है, तेज का अंश—कालाग्नि एवं खद्योत भी है। उभय में भिन्नता सुस्पष्ट है, तद्वत् जानना होगा।

गोविन्दभाष्य—प्रसङ्गादिदं विचिन्त्यते—"एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति" इति श्रीगोपालतापन्यां पठ्यते। स्मृतौ च "एकानेकस्वरूपायेत्यादि। अत्रांशिरूपेणैकोऽंश-कलारूपेण तु बहुधेत्यर्थः प्रतीयते। तत्र जीवांशान् मत्स्याद्यंशस्य विशेषोऽस्ति न वेति संशये अंशविशेषात् न स्तीति प्राप्ते "प्रकाशादिवन्नैवं परः" अंशशब्दितत्वेऽपि परो मत्स्यादि र्न एवं जीववन्न भवति। तत्र दृष्टान्तमाह,—प्रकाशेति। यथा तेजोंशो रविः, खद्योतश्च, तेजः शब्दितत्वेऽपि नैक रूप्यभक्। यथा जलांशः सुधामद्यादिश्च जलादिशब्दितत्वेनापि न साम्यं लभते तद्वत्" "स्मरन्ति च" स्वांशश्चाथ विभिन्नांश इति द्वेधाऽंश इष्यते। अंशिनो यत्तु सामर्थ्यं यत् स्वरूपं यथास्थितिः तदेव नानुमात्रोऽपि भेद स्वांशिनो क्वचित्। विभिन्नांशोऽल्पशक्तिः स्यात् किञ्चित् सामर्थ्यमात्र युक्" इति। सर्वेसर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोष-विवर्जिता" इति च। अयं भावः। "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमित्यादौ कृष्णाख्यस्य वस्तुनः स्वयं रूपस्य ये मत्स्यादयोंशा स्मृताः, नते जीववत् ततो भिद्यन्ते, तस्यैव वैदूर्य्यादिवत् तत्तत-भावाविष्कारात्। सर्वशक्तिव्यक्त्यव्यक्तिसव्यपेक्षो हि तत्तद्व्यपदेशः। यः कृष्णः कृत्स्नषाड्गुण्य व्यञ्जकोऽंशो, स एव। कृत्स्न तद्व्यञ्जको ह्येकव्यञ्जको वाऽंशः कला चेत्युच्यते। यथैकः कृत्स्न षट् शास्त्रप्रवक्ता सर्वविदुच्यते स एव क्वचिदकृत्स्नतद्वक्ता द्व्येकशास्त्रवक्ता च सर्ववित् कल्पोऽल्पज्ञश्चेति पुरुषबोधिन्यादिश्रुता राधाद्याः पूर्णाः शक्तयो दशमादिस्मृताः। गुणश्च सर्वातिशयि प्रेमपूर्णपरिकरत्व द्रुहिणादिविद्वत्तमविस्मापकवंशिमाधुर्य्यस्वपर्य्यन्तसर्वविस्मापकरूपमाधुर्य्यनिरतिशयकारुण्यादयो यशोदा-स्तनन्धये कृष्ण एव नित्याविर्भुताः सन्ति, नतु मत्स्यादित्वे सतीति तस्यैव तत्तद्भावाविष्कारान्न मत्स्यादे-र्जीववत् तत्त्वान्तरत्वं किन्तु तदात्मकत्वमेवेति।

प्रसङ्गक्रम से कहते हैं—गोपालतापनी के अनुसार एक ब्रह्म का बहुरूपत्व कहा गया है। उक्त प्रकार स्मृति का भी कथन है, यहाँ संशय यह है कि—अंश रूप में जीव एवं मत्स्यादि अवतार एकरूप हैं, अथवा भिन्न हैं? अंशात्मक होने से एकरूप होना ही सङ्गत है—उत्तर में समाधान करते हैं। अंश शब्द से कथित होने पर भी जीव मत्स्यादि के तुल्य नहीं हैं, मत्स्यादि भी अवतारी कृष्ण के सदृश नहीं हैं।

स्मृति में उक्त है—स्वांश विभिन्नांश द्विविध अंश हैं। स्वांश में अंशी के अनुरूप सामर्थ्यादि प्रकट होते हैं। विभिन्नांश—अल्पशक्तिविशिष्ट है। अवतारसमूह अंशकलात्मक होते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। वैदूर्य्यमणिवत् सबका प्रकाश होता है। शक्ति प्रकाश तारतम्य से ही अंश कला का प्रयोग होता है। समस्त पूर्ण शक्ति का प्राकट्य श्रीकृष्ण में है। अतः आप अवतारी स्वयं भगवान् हैं, अन्यत्र स्वल्प शक्ति का प्राकट्य होता है।

श्रीभागवतभाष्यं वेदान्तदर्शनस्य—"प्रकाशादिवन्नैवं परः"।

भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायाञ्च तदपाश्रयाम्।

यया सम्मोहित जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकन् परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतञ्चाभिपद्यते॥ भा० १।७।४-५

ब्र० सू० "स्मरन्ति च" (२।३।४५)

नैकप्रकारतेत्यादिना। तस्मात् स्थिते भेदे साध्वेव व्याख्यातम् (भा० १।३।२८) "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" इति। "इन्द्रारि-" इति पश्चार्द्धं त्वत्र नान्वेति, तु-शब्देन वाक्यस्य भेदनात्, तच्च तावतैवाकाङ्क्षापरिपूर्त्तेः। एकवाक्यत्वे तु च-शब्द एवाकरिष्यत। ततश्च "इन्द्रारि-" इत्यत्रार्थात्त एव पूर्वोक्ता एव "मृड़यन्ति" इत्यायाति ॥ श्रीसूतः ॥

२९। तदेवं श्रीकृष्णो भगवान्, पुरुषस्तु सर्वान्तर्य्यामित्वात् परमात्मेति निर्द्धारितम्। तत्राशङ्कते—नन्विदमेकमंशित्वप्रतिपादकं वाक्यमंशत्वप्रतिपादकबहुवाक्यविरोधे गुणवादः स्यात्? तत्रोच्यते—तानि किं श्रीभागवतीयानि परकीयानि वा? आद्ये जन्मगुह्याध्यायो

सर्वसम्वादिनी

त एते स्वयंरूपादयो यदि विश्वकार्यार्थमपूर्वा इव प्रकटीभवन्ति, तदा 'अवताराः' उच्यन्ते। ते

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृड़यन्ति युगे युगे॥ भा० १।३।२८

"इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृड़यन्ति युगे युगे" "युग युग में असुर कर्त्तृक व्याकुलित जगत् को अवतार वृन्द सुखी करते हैं।" उक्त श्लोकांश का अन्वय, कृष्णस्तु भगवान् स्वयं के साथ नहीं होगा। कारण "कृष्णस्तु" 'तु' शब्द के द्वारा वाक्यभेद किया गया है। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं कथन से ही वाक्य पूर्ण हुआ है। आकाङ्क्षा पूर्ण होने से इस वाक्य के सहित अन्य किसी वाक्ययोजना की आवश्यकता नहीं होती है। "इन्द्रारि व्याकुलं लोकं" वाक्य के सहित "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" वाक्य का अन्वय अभीप्सित होने से "कृष्णस्तु" पद के स्थान में 'कृष्णश्च" पद का प्रयोग होता, तब अर्थ होता—पूर्वोक्त अवतारवृन्द असुर विनाशन के द्वारा जिस प्रकार जगत् को सुखी करते हैं, तद्रूप श्रीकृष्ण भी कार्य्य करते हैं। 'तु' शब्द के द्वारा वाक्य पृथक् होने से अर्थ हुआ कि—पूर्वोक्त अवतारगण असुरविनाशन के द्वारा जगत् को सुखी करते हैं, परन्तु श्रीकृष्ण—जन्मादि लीला के द्वारा लोकलोचनीभूत होकर निज परिजनगण के अनिर्वचनीय चमत्कार आनन्दविशेष का पोषण करते हैं। प्रवक्ता श्रीसूत हैं ॥२८॥

अतएव स्थिर सिद्धान्त यह है कि—श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं। एवं प्रथमपुरुष सर्वान्तर्य्यामी होने के कारण 'परमात्मा' हैं। इस प्रकार सिद्धान्त में संशय होता है कि—एक ही अंशित्व प्रतिपादक वाक्य है "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" किन्तु अंशत्व प्रतिपादक वाक्य अनेक हैं। उक्त उभयविध वाक्य से उद्भूत विरोध समाधान हेतु—अर्थात् "विरोधे गुणवादः स्यात् अनुवादोऽवधारिते, भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधामतः। प्रमाणान्तरविरोधे सत्यर्थवादो गुणवादः। यथा आदित्यो यूपः, यूपे आदित्यभेदस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादादित्यवदुज्ज्वलरूपगुणोऽनया लक्षणया प्रतिपद्यते।"

अर्थवाद तीन प्रकार हैं। गुणवाद, अनुवाद, भूतार्थवाद। प्रमाणान्तर के सहित विरोध होने से अर्थवाद—गुणवाद होता है। यथा—यूप, यह प्रत्यक्ष के द्वारा बाधित है। उभय वस्तु भिन्न है, अतएव अर्थ सङ्गति हेतु कहना होगा कि—सूर्य्यवत् उज्ज्वल गुणविशिष्ट यूप है। यह ही गुणवाद है। अर्थात् गुणवाद में मुख्यार्थ बाधित होकर गौणार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार गुणवाद रूप अर्थवाद प्रसक्ति निवारणार्थ उत्तर करते हैं,—प्रथम प्रष्टव्य यह है कि—उक्त अवतार बोधक वाक्य समूह, "जिसके द्वारा श्रीकृष्ण को पुरुष का अवतार कहा जाता है" श्रीमद्भागवत के हैं, किम्वा ग्रन्थान्तर के हैं? प्रथम, यदि उक्त अवतार, बोधक वाक्यसमूह श्रीमद्भागवत के हैं, तो श्रीमद्भागवत का जन्मगुह्याध्याय अर्थात्

ह्ययं सर्वभगवदवतारवाक्यानां सूत्रं सूचकत्वात् प्राथमिकपाठात्तैरुत्तरत्र तस्यैव विवरणाच्च। तत्र च "एते चांश-कलाः पुंसः" इति परिभाषासूत्रम्। अवतारवाक्येषु अन्यान् पुरुषांशत्वेन जानीयात्, कृष्णस्तु स्वयंभगवत्त्वेनेति प्रतिज्ञाकारेण ग्रन्थार्थनिर्णायकत्वात्। तदुक्तम्,— "अनियमे नियमकारिणी परिभाषा" इति। अथ परिभाषा च सकृदेव पठ्यते शास्त्रे, न त्वभ्यासेन; यथा "विप्रतिषेधे परं कार्य्यम्" इति, ततश्च वाक्यानां कोटिरप्येकेनैवामुना शासनीया भवेदिति नास्य गुणानुवादत्वम्। प्रत्युतैतद्विरुद्धायमानानामेतदनुगुणार्थमेव वैदुषी, न च पारिभाषिकत्वात्तच्छास्त्र एव स व्यवहारो ज्ञेयो न सर्वत्रेति गौणत्वमाशङ्क्यम्। परमार्थवस्तुपरत्वाच्च श्रीभागवतस्य तत्राप्यार्थिकत्वाच्च तस्याः परिभाषायाः। किञ्च, प्रतिज्ञावाक्यमात्रस्य च दृश्यते परत्रापि नानावाक्यान्तरोपमर्द्दकत्वम्। यथाकाशस्यानुत्पत्ति-

सर्वसम्वादिनी

च कदाचित् स्वयमेव प्रकटीभवन्ति; द्वारान्तरेण च,—द्वारञ्च कदाचित् स्वरूपम्, भक्तादि-रूपञ्च भवति।

भा० १।३ अध्याय—समस्त भगवदवतार वर्णन का सूत्रस्वरूप है। अर्थात् "स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्, अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः" सूत्र लक्षणाक्रान्त है। इस अध्याय में समस्त भगवदवतारों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ के प्रथम भाग में उक्त अवतार सूचक विवरण प्रस्तुत करने के अनन्तर श्रीसूत, वर्णित अवतारों का सविशेष विवरण प्रदान किए हैं उत्तर ग्रन्थ में। इस जन्मगुह्याध्याय में "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" वाक्य परिभाषा वाक्य है। "अनियमे नियमकारिणि परिभाषा" है। अवतार प्रकरण में निर्णय नहीं था कि—स्वयं भगवान् कौन हैं। उसका ही निर्णायक वचन कृष्णस्तु भगवान् स्वयं है। अवतार प्रकरणोक्त श्रीकृष्ण भिन्न समस्त उक्त प्रथमपुरुष को ही अवतार जानना, कारण—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" प्रतिज्ञा वाक्य ही ग्रन्थार्थ का एकमात्र निर्णायक है। साध्य निर्देश का नाम ही प्रतिज्ञा है। "साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा"। 'अनियमे नियमकारिणी' परिभाषा का उल्लेख शास्त्र में एकबार ही होता है, एवं उनके द्वारा ही समस्त वाक्य अनुशासित होते हैं। जिस प्रकार "विप्रतिषेधे परं कार्य्यम्" निर्णायक वाक्य का प्रयोग एकबार ही हुआ है, बारम्बार नहीं। यदि उक्त परिभाषा वाक्य 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' नहीं होता तब अन्य वाक्य के सहित विरोध उपस्थित होने पर गौणार्थ अवलम्बन करके अर्थ की सङ्गति होती। किन्तु "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" वाक्य परिभाषा स्वरूप होने से विरोधी वाक्यसमूह की व्याख्या उक्त वाक्य के आनुगत्य से ही होगी। अर्थात् 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" वाक्य का मुख्यार्थ की रक्षा यथावत् करनी होगी एवं प्रयोजन होने से विरोधी वाक्यों की व्याख्या गौणार्थ मानकर ही करनी होगी। अतएव "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" वाक्य गुणवाद रूप अर्थवाद नहीं है।

श्रीमद्भागवतोक्त "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" परिभाषा वाक्य, श्रीमद्भागवतोक्त विरोधी वाक्य समूह के समाधानहेतु स्वीकरणीय है। किन्तु अपर ग्रन्थोक्त अवतार बोधक वाक्यसमूह का निरसनार्थ स्वीकरणीय नहीं है। कारण जिस ग्रन्थ में जो परिभाषा है, उस ग्रन्थ में ही उसकी मान्यता होती है। इस प्रकार कथन समीचीन नहीं है। कारण श्रीमद्भागवत ही परमार्थ वस्तु निर्णायक शास्त्र है। भा० १।१।२ श्लोक में ही उक्त है "वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं" उसमें भी अवतार प्रकरणस्थ "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" वाक्य, ग्रन्थतात्पर्य्य निर्णय का एकमात्र सहायक है।

श्रुतिः प्राणानाञ्च तच्छ्रुतिः स्वविरोधिनी नान्या श्रुतिश्च ; (वृ० ४।५।६) "आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति", (वृ० २।४।६) "इदं सर्वं यदयमात्मा" इत्यादिनोपमर्द्येत । अतएव श्रीस्वामिप्रभृतिभिरप्येतदेव वाक्यं तत्तद्विरोधनिरासाय भूयोभूय एव दर्शितम् । तदेवं श्रीभागवतमते सिद्धे च तस्य वाक्यस्य बलवत्तमत्वे श्रीभागवतस्य सर्वशास्त्रोपमर्दकत्वेन प्रथमे सन्दर्भे प्रतिपन्नत्वात्, अस्मिन्नेव प्रतिपत्स्यमानत्वाच्च परकीयानामप्येतदानुगुण्यमेव विद्वज्जनदृष्टम्—यथा राज्ञः शासनं तथैव हि तदनुचराणामपीति । तत्र श्रीभागवतीयानि वाक्यानि तदनुगतार्थतया दर्श्यन्ते । (भा० १०।१।२)"तत्रांशेनावतीर्णस्य"इति, अंशेन श्रीबलदेवेन

सर्वसम्वादिनी

तत्र च स्वयंरूप-तत्समो—'परावस्थौ' ; अंशारतारतम्यक्रमेण—'प्राभवा:', वैभवरूपा'श्च । आवेशस्त्वावेश एवेति पाद्मादौ प्रसिद्धिः ।

प्रतिज्ञा वाक्य मात्र का ही समस्त विरोधि वाक्य निरासकत्व सुप्रसिद्ध ही है । यथा,—छान्दग्योपनिषद् में आकाश की अनुत्पत्ति श्रुति, प्राण की अनुत्पत्ति श्रुति, निज विरोधिनी श्रुति, एवं अन्यान्य अनेक प्रकार श्रुति का उल्लेख है । किन्तु (वृहदारण्यक ४।५।६) श्रुति—"आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" आत्मा विज्ञात होने से समस्त पदार्थ विज्ञात होते हैं । (वृ० २।४।६) "इदं सर्वं यदयमात्मा" कारण निखिल वस्तु ही आत्मा है । इस श्रुति के द्वारा उक्त श्रुतिसमूह उपमर्द्दित हुई हैं । कारण समस्त ही आत्मा है, कहने से बोध होता है कि—आकाश एवं प्राण की उत्पत्ति भी आत्मा से ही हुई है । अतएव श्रीधरस्वामि प्रभृतियों ने भी "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" वाक्य को परिभाषा वाक्य मानकर श्रीकृष्ण के स्वयं भगवत्ता विरोधी वाक्यसमूह का निरसन उक्त परिभाषा वाक्य से ही किया है । उक्त रीति से श्रीमद्भागवत "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" वाक्य का बलवत्तमत्व स्थापित हुआ । श्रीमद् भागवत भी समस्त शास्त्रों का उपमर्दक है, उसका प्रतिपादन तत्त्वसन्दर्भ में हुआ है । एवं प्रस्तुत सन्दर्भ में भी श्रीमद्भागवत का सर्वशास्त्रशिरोमणित्व प्रतिपादित होगा । तज्जन्य शास्त्रान्तर के वचनसमूह को भी मनीषिगण "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" परिभाषा वाक्य के आनुगत्य से देखते हैं । जिस प्रकार अनुशासन राजा का होता है, उस प्रकार ही अनुशासन राजा के अनुगत जनों का होता है । नरपति स्थानीय वाक्य ही परिभाषा वाक्य है, अन्यान्य वाक्यसमूह राजा के अनुचरवृन्द के वाक्य के समान हैं । श्रीमद्भागवत में लिखित अवतार सूचक जो वाक्यसमूह हैं, वे सब भी "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" प्रतिज्ञा वाक्य के ही अनुगत हैं, उसको दर्शाते हैं– भा० १०।१।२ में वर्णित है—

"यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम । तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्य्याणि शंस नः ।।"

हे मुनिसत्तम ! धर्मशील यदुवंश में अंश के सहित अवतीर्ण विष्णुचरित्र का वर्णन करें ।

टीका—"प्रतीत्याभिप्रायेणोक्तम्" आपाततः दृष्टि से ही कहा गया है अंश से विष्णु अवतीर्ण हुए हैं । क्रमसन्दर्भः । अंशेन—श्रीबलदेवेन सह ।

वृहत् क्रमसन्दर्भः । यदोश्चेति पुनरुपादानं तेषामप्यधिको यदुर्यद्वंशे वासुदेवो जातः, इति यदोः पूजार्थम् । तत्र भा० ९।२४।३० "वसुदेवं हरेः स्थानम्" इत्युक्तेस्तस्मात् स्वयं हरिरवततार । अतएव भा० ९।२ ।१९-२० यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैर्विमुच्यते । यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः" इत्याशयेनाह—तत्रांशेनेत्यादि । तत्र यदोर्वंशे, अंशेन—अंशानां समूहेन, तस्य समूह इत्यण् । सर्वैरंशैरिति यावत्, अंशेन बलदेवेनेति वा, अथान्यथा (भा० ९।२४।५५) "अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल"

इति स्वयमेव किलेति शब्दैः (भा० १।३।२८) "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति शब्देनाप्यसङ्गतिः स्यात् ।

सोम सूर्य्यवंशीय राजन्यवर्ग के चरित्र श्रवण के अनन्तर यदुवंश चरित्र श्रवण के निमित्त अभिलाष हुआ । यदु अतिशय पुण्यात्मा थे, जिनके वंश में वसुदेव उत्पन्न हुए थे । अतिशय पूज्यता का सूचन के निमित्त पुनर्बार यदु शब्द का उल्लेख किया । भा० ९।२४।३० "वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिम्" ।

टीका—हरेः प्रादुर्भावस्य स्थानम् ।।

आनकदुन्दुभि वसुदेव को श्रीहरि का आविर्भाव स्थान मानते हैं । उनसे ही स्वयं हरि अवतीर्ण हुए । अतएव (भा० ९।२३।१९-२०) "यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते । यथावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः ।।" अति पवित्र यदुवंश चरित श्रवण से मनुष्य मुक्त होता है । जहाँ नराकृति परमात्मा आविर्भूत हुए हैं । इस आशय को व्यक्त करने के निमित्त कहा—अंश से अवतीर्ण, यदुवंश में अंशेन—अंशसमूह के सहित । "तस्य समूह-" इस अर्थ में अण् प्रत्यय होता है । समस्त अंश के सहित अवतीर्ण हैं, अथवा—अंश, बलदेव के सहित । अन्यथा भा० ९।२४।५५ "अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल" अष्टम गर्भ में स्वयं हरि का आगमन हुआ था । टीका—"अष्टमस्तु स्वयमेवासीत् नतु कर्मादिना हेतुना, ताभ्यां जनितो वा, यतोऽसौ हरिः ।" अष्टम गर्भ में स्वयं ही हरि आविर्भूत हुए थे । कर्म से अथवा मातापिता से आविर्भूत नहीं हुए, कारण—आप श्रीहरि हैं । "स्वयमेव हरिः किल" यहाँ किल शब्द से भा० १।३।२८ स्थ "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" वाक्य का स्मरण हुआ है । अतः उक्त परिभाषा वाक्य के सहित असङ्गति नहीं हुई ।

श्रीचैतन्यमतमञ्जुषा । ननु कथमत्र सङ्गतिः कार्य्या, यतो विष्णुपुराणादौ अन्यथैव श्रूयते ? सत्यं, यत्तु विष्णुपुराणे (५।१।२) 'अंशावतारो ब्रह्मर्षयोऽयं यदुकुलोद्भवः' इति, (५।१।३) 'अंशेनावतीर्य्योर्व्याम्' इति, (५।१।४) 'विष्णोरंशसम्भूति चरितम्' इत्यादि श्रूयते, तत्र तत्रायमर्थः क्रमेण दर्श्यते । अयं यदुकुलोद्भवः अंशावतारः, अंशानां नारायणादीनामवतारो यस्मात् स तथा इत्येकः । अंशा ब्रह्मादयस्तेषामंशेन यादवरूपेण अवतीर्य्य (भा० १०।१।२२) 'भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्' इत्यत्रैव वक्ष्यमाणत्वात् इति द्वितीयः । विष्णोः श्रीकृष्णस्य चरितं कीदृशम् ? अंशांश—सम्भूतिः अंशानां ब्रह्मादीनामंशा यादवाः, तेषां सम्यक् समीचीना भूतिः सम्पत्तिर्यस्मात् यत्र वेति तृतीयः । यच्च तत्रैव (विष्णु-पु० ५।१।५९-६०) "उज्जहारात्मनः केशौ सित कृष्णौ महामुने ! उवाच च सुरानेतौ मत् केशौ वसुधातले । अवतीर्य्य भुवो भारक्लेशहानिं करिष्यतः" इति, (विष्णु-पु० ५।१।६३) "वसुदेवस्य या पत्नी देवकीदेवतोपमा । तस्यायमष्टमो गर्भो मत् केशो भविता सुराः" इति । एवं क्रमेणायमर्थः, आत्मनः सितकृष्णकेशौ उज्जहार उद्दधा[illegible]त्यर्थः, नतूत्पाटयामास, तेषां केशानां चिद्रूपत्वात् छेदो दुर्बोधः, अमङ्गलप्रतिपादकश्च । अतस्तयोरुद्धृत्य दर्शनं स तात्पर्य्यम्, तच्च तात्पर्य्यं मूर्द्धन्यत्वप्रतिपादनार्थं, वर्णसूचनार्थञ्च । केशद्वयसन्दर्शनेनापि सन्दिग्धान् पुनरुवाच—एतौ मम मूर्द्धन्यभूतौ शुक्लकृष्णवर्णौ मत्केशौ मदीयेश्वरभूतौ 'सर्वनाम्नः क-प्रत्ययः, अहमीशो याभ्यां तौ मत्केशौ, त्वत्कपुत्रौ मत्कपुत्रौ' इत्यादिवत् । अथवा मम कं सुखं तत्स्वरूपौ ईश्वरौ च ; यद्यपि बलदेवस्तदीयेश्वरो न भवति, तथापि सहकालवचनानन्दातिशयात् स्वांशेऽपि तथा प्रतिपादनं पश्चाच्च व्यक्तीकृतं (विष्णु-पु० ५।१।७२) 'शेषाख्यांशस्ततो मम अंशांशेनोदरे तस्याः सप्तमः संभविष्यति' । 'अष्टमो भविता गर्भो मत्केश (६३) इति पृथगाख्यानेन मत्केशः श्रीकृष्ण इति पूर्ववत् व्याख्यानम् । यद्वा, मम कं सुखं यस्मात् स चासौ ईशश्चेति । यच्च भारते—'स चापि हरिरुच्चजर्हे शुक्लमेकं परञ्च कृष्णाम् । तौ चापि केशावविशतां यदूनां कुले स्त्रियौ रोहिणीं देवकीञ्च । तयोरेको बलभद्रो बभूव योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः । कृष्णो द्वितीय केशवत् संबभूव केशो योऽसौ वर्णतस्तस्य देवस्य केशः । एवमेवार्थः—यस्मै ब्रह्मादयो निवेदनमकार्षुः स हरिः केशौ उच्चजर्हे, उद्धृत्य दर्शयामास, हृञ् प्रापणार्थः, उद्धरणं वर्णमूर्द्धन्यत्व सूचनार्थम् । अतस्तौ चापि केशौ । अयमर्थः—यतस्तयोः प्रस्तावे केशौ उद्धृत्य दर्शितौ,

सहेत्यर्थः, (भा० १०।२०।४८) "कलाभ्यां नितरां हरेः" इति हरेः कला पृथ्वी, आभ्यां श्रीराम-

सर्वसम्वादिनी

तत्र स्वयंरूपः श्रीकृष्णः। तत्-सम-प्रायौ—श्रीनृसिंह-रामौ। वैभवरूपौ—क्रोड़(वराह)-हयग्रीवौ।

ततस्तौ चापि रामकृष्णौ केशनामानौ बभूवतुः। ततस्तु यदूनां कुले स्त्रियौ आविशतां, तयोरेकः केशः, केशनामा बलदेवो बभूव, द्वितीयः केशनामा केशवो बभूव। के शिरसि शेते इति केशः। अन्यतो चेति उभयोरपि केशत्वं (भा० १।२।५) 'सप्तमो वैष्णवं धामयमनन्तं प्रचक्षते' इति वैष्णवधामत्वात् षष्ठस्कन्धे उवाच च स्वयमेव सङ्कर्षणः (भा० ६।१६।५१) 'अहं सर्वाणि भूतानि भूतात्मा भूतभावनः। शब्दब्रह्म परंब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू' इति सर्वमनवद्यम् ॥"

यहाँ पर सङ्गति कैसे होगी? विष्णुपुराण में अंशावतार वाचक अनेक वचन विद्यमान हैं। 'यदुकुलोद्भव यह अंशावतार है', 'अंश से पृथिवी में अवतीर्ण है', 'विष्णु के अंशांशचरित' उक्त वचनों के अर्थसमूह का प्रदर्शन क्रमपूर्वक करते हैं। यह यदुकुलोद्भव अंशावतार है, अर्थात् अंशस्वरूप श्रीनारायण प्रभृति का अवतार जिनसे होता है, एक अर्थ यह है। अंश ब्रह्मादि, उन सबके अंश से यादवरूप के सहित अवतीर्ण होकर, (भा०१०।१।२२) आप सब निजांश से यदुकुल में उत्पन्न होवें। यह द्वितीय है।

विष्णु अर्थात् श्रीकृष्ण चरित किस प्रकार है? अंशांश-सम्भूतिः, ब्रह्मादि के अंश यादवगण, उन सबकी सम्यक् समीचीना भूति—सम्पत्ति जिनसे होती है। तृतीय, विष्णुपुराण में उक्त है,—निज सितकृष्ण केशद्वय का उत्पाटन उन्होंने किया। देवताओं को उन्होंने कहा, वसुधातल में मेरा केशद्वय अवतीर्ण होकर भूमि का भारापनोदन करेगा, वसुदेव पत्नी के अष्टम गर्भ से यह केशद्वय उत्पन्न होगा। इस वचन का क्रमिक अर्थ इस प्रकार है,—उन्होंने निज केशद्वय को उठाकर कहा, किन्तु उखाड़ा नहीं। केश तो उनका नित्य चिद्रूप है। छेदन नहीं होता। छेदन अर्थ—दुर्बोध्य एवं अपवित्र है, अमङ्गल सूचक भी है। अतः दोनों केशों को उठाकर ही कहा था। उसका तात्पर्य्य है, अवतार का वर्ण सूचन करना तथा मूर्द्धन्यत्व प्रतिपादन करना। केशद्वय को देखकर जो लोक सन्देहाक्रान्त हुए थे। उन सबको निःसन्दिग्ध करने के निमित्त कहा—यह अवतारद्वय मूर्द्धन्यभूत है, शुक्ल-कृष्णवर्ण है, मेरा ईश्वरस्वरूप है। जिससे मैं ईश्वर बना हूँ। अथवा मेरा सुखस्वरूप ही उक्त ईश्वर है। यद्यपि बलदेव उनका ईश्वर नहीं हैं, तथापि युगपत् कथनरूप आनन्दातिशय से स्वांश में ईश्वर शब्द का प्रयोग हुआ है। अनन्तर कथन से सुस्पष्ट होता है। शेषाख्य अंश है, सप्तम गर्भ में आविर्भूत होगा। अष्टम गर्भ में मेरा केश का आविर्भाव होगा। पृथक् रूप से कथन से बोध होता है। मेरा ईश्वर श्रीकृष्ण हैं। यद्वा, जिनसे सुख होता है, वह ईश्वर श्रीकृष्ण हैं। भारत में सितकृष्ण केशोत्पाटन का जो प्रसङ्ग है, उसका अर्थ इस प्रकार है,—जिनको देवगण निवेदन किए थे, क्षीरोदशायी अनिरुद्ध ने अपना केशद्वय को अङ्गुलि से दिखाकर कहा—इस प्रकार वर्णयुक्त रामकृष्ण आविर्भूत होंगे। के शिरसि शेते इति केशः। मूर्द्धन्य इत्यर्थः। भा० १०।२।५ में सुस्पष्ट वर्णन है। वैष्णवधाम अनन्त से ही सप्तम गर्भ अलङ्कृत होगा। षष्ठस्कन्ध में कहा है, सङ्कर्षण ने—मैं समस्त भूतों का परिचालक हूँ। शब्दब्रह्म परब्रह्म मेरी शाश्वती तनुद्वय हैं। यह कथन अनवद्य है। उक्त श्लोक में विष्णु शब्द का प्रयोग हुआ है। उससे सर्व व्यापक रूप विष्णु शब्द का चरम पर्य्यवसान श्रीकृष्ण में ही है। तज्जन्य विष्णु शब्द के द्वारा ही श्रीकृष्ण का उल्लेख होता है।

भा० १०।२०।४८ में—"पुरग्रामेष्वाग्रयणैरैन्द्रियैश्च महोत्सवैः।
बभौ भूः पक्वशस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः ॥"

हरि के अंश श्रीरामकृष्ण के द्वारा पृथिवी अतिशय शोभिता हुई। वस्तुतः हरि की कला अर्थात्

कृष्णाभ्यामिति, (भा० १०।२।४१) "दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमा,-नंशेन साक्षाद्भगवान् भवाय नः" इत्यत्र यो मत्स्यादिरूपेणांशेनैव पूर्वं नोऽस्माकं भवायाभूत्; हे अम्ब! स तु साक्षात् स्वयमेव कुक्षिगतोऽस्तीति। (भा० १०।२।१८) "ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशम्" इति

सर्वसम्वादिनी

अन्ये प्राभव-प्रायाः।

ते चावताराः कार्य-भेदेन त्रिविधाः,—(क) पुरुषावताराः, (ख) गुणावताराः, (ग) लीलावताराश्चेति।

विभूतिरूपा पृथिवी (आभ्यां—रामकृष्णाभ्यां) श्रीरामकृष्ण के द्वारा अतिशय शोभिता हुई थी।

टीका—आग्रयणैर्नवान्नप्राशनैर्वैदिकैः ऐन्द्रियैरिन्द्रियार्थैर्लौकिकैश्च महोत्सवैः। कलाभ्यां रामकृष्णाभ्यां दर्शनादिमहोत्सवाभ्याम्।

क्रमसन्दर्भः। हरेः कला पृथ्वी; आभ्यां रामकृष्णाभ्याम्॥

वृहत् क्रमसन्दर्भः। हरेः कला, पत्नीरूपा, धरण्या च दूर्वादलश्यामलाङ्ग्येत्यभियुक्ताः, श्री-भू-लीला इत्यादि वा आगमान्तरम्, सा तु भूलोकाधिष्ठात्री, तत्सम्बन्धा भूरपि तथा, आभ्यां श्रीरामकृष्णाभ्यां हेतुभूताभ्यां बभौ। पक्वशस्याढ्यचेति जात्युक्तिः, नितरामतिशयेन।

चैतन्यमतमञ्जुषा। बभौ भू पक्वशस्याढ्यचेति—आभ्यां रामकृष्णाभ्यां नितरां बभौ, यतः इयं भूः श्रीभूलीला इत्यादिना भुवः पालितत्वात्॥

भा० १०।२।४१ में वर्णित है—"दिष्ट्याम्बते कुक्षिगतः परः पुमानंशेन साक्षाद्भगवान् भवाय नः।
माभूद्भयं भोजपतेर्मुमुर्षोर्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः॥"

देवगण ने देवकीदेवी को कहा—परमपुरुष भगवान् हमारे अभ्युदय हेतु अंश के सहित आपके गर्भ में आविर्भूत हुए हैं। यथार्थ—पहले जो मत्स्यादि अंशावतार रूप में हम सब के मङ्गल के निमित्त आविर्भूत हुए थे, हे मातः। साक्षात् भगवान् स्वयं ही आपके कुक्षिगत हैं।

टीका—देवकीं प्रत्याहुः,—दिष्ट्येति। नोऽस्माकं भवाय उद्भवाय, साक्षात् परः पुमान्, ते कुक्षि गतः, अतो भयं माभूदिति।

क्रमसन्दर्भः। योऽंशेन मत्स्यादिनास्माकं भवाय, स साक्षात् स्वयमेव ते कुक्षि गत इति, पूर्वं मनस्तो दधारेत्यप्युक्तम्। तत एकवाक्यतानुरोधेनायमर्थः, यद्यपि तदीयप्राचीनतादृशप्रेमयाच्ञा वशतया कुक्षि प्रविष्ट एव, तथापि कुक्ष्यादिद्रव्यं भगवतोऽवरोधक न स्यात्, किन्तु प्रेमैवेति। तस्य च प्रेम्ण आश्रयः कुक्षि र्न भवति, किन्तु मन एवेति, तदात्मतया मन एव तद्धारणे साधनम्। ततः कुक्षिः गतो मनसैव दधारेति।

वृहत्क्रमसन्दर्भः। दिष्ट्याम्ब इति। साक्षात् परः पुमान् ते कुक्षि गतः। अंशेन—बलदेवेन, अंशे किं न इति वा। अंश्यते विभज्यते अस्मादित्यंशः पूर्णभावः, तेनेति वा, अन्यथा साक्षादित्यसङ्गतेः।

चै० मतमञ्जुषा। दिष्ट्येत्यादि—हे अम्ब मातः! देवः, परो भगवान् साक्षात् स्वयमेव ते तव कुक्षिगतः कुक्षिप्रविष्टः, यः खलु अंशेन भवाय नः सकाशात् भयं माऽभूत्। यद्वा, नोऽस्माकं भवाय वृद्धये, साक्षात् भगवान् ते तव कुक्षि गतः, अंशेन पुरुषः पुरुषावतारो यस्यांशे—इत्यर्थः। अतःपर—परात्परः।

भा० १०।२।१८ में उक्त है—"ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः॥"

श्रीदेवकीदेवी में वसुदेव के द्वारा अच्युत का अंश समाहित हुआ था। यहाँ बोध होता है,—श्रीकृष्ण अच्युत का अंश है। किन्तु सप्तम्यन्त अन्य पदार्थ बहुव्रीहि समास से अच्युत अंशसमूह जिनमें है,

तु सप्तम्यन्यपदार्थो बहुव्रीहिः; तस्मिन्नंशिन्यवतरति तेषामंशानामप्यत्र प्रवेशस्य व्याख्यास्यमानत्वात्। पूर्णत्वेनैव तत्र (भा० १०।२।१८) "सर्वात्मकमात्मभूतम्" इत्युक्तम्। तथा नातिविद्वज्जनवाक्ये (भा० १०।४३।२३)—

"एतौ भगवतः साक्षाद्धरेर्नारायणस्यहि।
अवतीर्णाविहांशेन वसुदेवस्य वेश्मनि॥"४६॥

इत्यत्रापि सरस्वतीप्रेरिततया अंशेन सर्वांशेन सहैवेत्यर्थः। एवमेव (भा० ४।१।५७)—

सर्वसम्वादिनी

तत्राद्या (क,ख) उभये—श्रीपरमात्मसन्दर्भे (२य—१८श अनु०) दर्शिताः; (ग) अन्त्याश्च—(भा० १।३।६)

वह अच्युतांश है, अर्थ होता है। अर्थात् श्रीकृष्ण अवतीर्ण होने से अंशसमूह उनमें प्रविष्ट होते हैं। उक्त सर्वांशपूर्ण श्रीकृष्ण देवकीदेवी में समाहित हुए थे। अच्युतांश यह अर्थ ही सङ्गत है। स्वयं अवतारी श्रीकृष्ण आविर्भूत होने से अंशावतार गुणावतार प्रभृति उनमें प्रविष्ट होते हैं। श्लोक के उत्तर भाग में "दधार सर्वात्मकमात्मभूतं" लिखित है। अर्थात् श्रीदेवकीदेवी स्वयं प्रादुर्भूत सर्वाश्रय सर्वमूलभूत भगवान् को हृदय में धारण किये थे।

टीका—जगन्मङ्गलं जगतो मूर्त्तिमन्मङ्गलम्। अच्युतांशं—अच्युताश्चुतिरहिता अंशा ऐश्वर्य्यादयो यस्य तम्। यद्वा, अच्युतस्यांश इव अंशः—भक्तानां अनुग्रहार्थं परिच्छिन्नवपुरित्यर्थः। सम्यग्भूतमेवाहितं वैधदीक्षया अर्पितम्। देवी द्योतमाना शुद्धसत्त्वेत्यर्थः। सर्वात्मकं सर्वस्यात्मानम् अतएव आत्मभूतं स्वस्मिन्नादावेव सन्तम् मनस्तो मनसैव दधार धारणया धृतवती। अत्रानुरूपं दृष्टान्तमाह- यथा काष्ठा प्राचीदिक् आनन्दकरं चन्द्रमिति।

बृहत् क्रमसन्दर्भः। अथ वसुदेवः स्वमनसि प्रादुर्भूतं भगवन्तमनुभूय कथमयं देवक्यामाविर्भवितीति समाधिना निकटस्थितायामेव तस्माद् गृहाद्गृहान्तरमिव नीयमान दशया सञ्चारयितुमुद्यतो यदासीत्, तदा स्वयमेव भगवानप्युभयोः पितृमातृभावमापादयितुं वसुदेवमनस्तो देवकीमनसि सञ्चचारेत्याह—ततो जगन्मङ्गलमित्यादि। शूरसुतेन वसुदेवेन, समाहितं समाधिना भावनया आहितमर्पितं जगन्मङ्गलं जगन्मङ्गलावतारं—श्रीकृष्णं मनस्त मनसि दधार। कीदृशम्? अच्युता अस्खलिता अंशा यत्र, पूर्णत्वात् सर्वात्मकमात्मभूतं, विग्रहरूपम्। भगवद्विग्रहस्य सर्वात्मकत्वं पूर्वं पूर्वमुक्तम्। (भा० ८।६।९) "योगेन धातः सह नस्त्रिलोकान्, पश्याम्यमुष्मिन्नुह विश्वमूर्त्तौ" इत्यादि। तत्र दृष्टान्तः—काष्ठा यथेत्यादि। काष्ठा पूर्वा दिक् आनन्दकरं चन्द्रं यथा दधाति, नहि चन्द्रस्तस्यां जायते, अपितु उदयत्येवेति॥

भा० १०।४३।२२-२३ में उक्त है—"ऊचुः परस्परं ते वै यथादृष्टं यथाश्रुतम्।
तद्रूपगुणमाधुर्य्यप्रागल्भ्यस्मारिता इव॥
एतौ भगवतः साक्षाद्धरेर्नारायणस्य हि।
अवतीर्णाविहांशेन वसुदेवस्य वेश्मनि॥"

धनुर्भङ्गादि को देखकर एवं गोवर्द्धन धारणादि को सुनकर जिस प्रकार शौर्य्यादि का अनुभव हुआ था उसके अनुरूप रङ्गमञ्चस्थ जनगण कह रहे थे, वे लोक सुविज्ञ नहीं थे। कथन इस प्रकार है—रामकृष्ण साक्षात् नारायण हरि के अंश हैं। वसुदेव के गृह में अवतीर्ण हुए हैं। सरस्वती प्रेरित अर्थ इस प्रकार है—सहार्थे तृतीया, अंशेन—सर्वांशेन सह, सर्वांश के सहित श्रीवसुदेव के गृह में अवतीर्ण हुए हैं।

"ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ।
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ ॥" ४७॥

इत्यत्र आगताविति कर्त्तरि निष्ठा, कृष्णाविति कर्मणि द्वितीया। ततश्च भगवतो नानावतार-वीजस्य हरेः पुरुषस्य ताविमौ नरनारायणाख्यावंशौ कर्त्तृभूतौ कृष्णौ, कृष्णार्जुनौ कर्मभूतौ आगतवन्तौ, तयोः प्रविष्टवन्ताविस्यर्थः। कृष्णौ कीदृशौ? भुवो भारस्य व्ययाय, चकाराद्भक्तसुखद-नानालीलान्तराय च यदुकुरूद्वहौ यदुकुरुवंशयोरवतीर्णावित्यर्थः। "अर्जुने तु नरावेशः, कृष्णो नारायणः स्वयम्" इत्यागमवाक्यन्तु श्रीमदर्जुने नरप्रवेशापेक्षया। यस्तु स्वयमनन्यसिद्धो नारायणः (भा० १०।१४।१४) "नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनाम्" इत्यादौ

सर्वसम्वादिनी

"स एव प्रथमं देवः" इत्यादिनात्रैव प्रक्रान्ताः। एते पुनः पञ्चविधाः,—(१) द्विपरार्द्धावताराः,

वृहत्क्रमसन्दर्भः—एतौ भगवत इत्यादि, एतौ इहावतीर्णौ, एनयोर्मध्ये, एको हरेर्नारायणस्यांशेन, अन्यः साक्षात् स्वयं भगवानित्यर्थः, साक्षादंशेनेति पदाभ्यां द्वयोर्विशेषाख्यायामप्येकोक्त्यावतीर्णावित्येकपदम्।

उस प्रकार भा० ४।१।५७ में वर्णित है—

"ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ। भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ ॥"

पृथिवी का भार हरणार्थ श्रीहरि के अंशद्वय यदुवंश में श्रीकृष्ण, कुरु वंश में श्रीअर्जुन रूप में अवतीर्ण हुए हैं। यथार्थ अर्थ इस प्रकार है,—"आगतौ" कर्त्तृवाच्य में क्त प्रत्यय निष्पन्न है। कृष्णौ पद कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति है। सुतरां भगवान् विभिन्नावतार के बीजस्वरूप हरि (पुरुष) के अंशद्वय 'नर-नारायण' रूप में प्रसिद्ध हैं, श्रीकृष्णार्जुन में प्रविष्ट हुए हैं। 'आगत' क्रिया का कर्त्तृकारक श्रीनरनारायण हैं, श्रीकृष्णार्जुन कर्म कारक हैं। किस प्रकार श्रीकृष्णार्जुन हैं? जो पृथिवी का भार हरण हेतु एवं श्लोकोक्त 'च' द्वारा प्राप्त भक्त सुखद विभिन्न लीला प्राकट्य हेतु अवतीर्ण हुए हैं। श्लोकस्थ 'यदुकुरूद्वहः' शब्द का अर्थ है—यदु एवं कुरु वंश में अवतीर्ण। यदु वंश में श्रीकृष्ण, कुरु वंश में श्रीअर्जुन आविर्भूत हुए हैं। "अर्जुने तु नरावेशः, कृष्णो नारायणः स्वयम्" आगम वाक्य से बोध होता है कि—अर्जुन में 'नर' नामक ऋषि का प्रवेश हुआ है। कृष्ण किन्तु अनन्यसिद्ध स्वयं नारायण ही हैं। भा० १०।१४।१४ में ब्रह्मा ने कहा भी है—"नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात् तच्चापि सत्यं न तवैव माया।"

टीका—तर्हि नारायणस्य पुत्रः स्यास्त्वं मम किमायातं तत्राह—नारायणस्त्वमिति नहीति काक्वा त्वमेव नारायण इत्यापादयति। कुतोऽहं नारायण इति चेदत आह,—सर्वदेहिनामात्मासीति। एवमस्मि किं नारायणो न भवसि। नारं जीवसमूहोऽयनमाश्रयो यस्य स तथेति त्वमेव सर्वदेहिनामात्मत्वान्नारायण इति भावः। हे अधीश! त्वं नारायणो नहीति पुनः काकुः। अधीशः प्रवर्त्तकः, ततश्च नारस्यायनं प्रवृत्तिर्यस्मात् स तथेति, पुनस्त्वमेवासाविति, किञ्च त्वमखिललोकसाक्षी, अखिलं लोकं साक्षात् पश्यसि अतो नारमयसे जानासीति त्वमेव नारायण इत्यर्थः। नन्वेवं नारायण पद व्युत्पत्तौ भवेदेवं तत्तु अन्यथा प्रसिद्धमित्याशङ्क्याह—नारायणोऽङ्गमिति, नराद्उद्भूता ये अर्थाः, तथा नराज्जातं यज्जलं तदयनाद् यो नारायणः प्रसिद्धः, सोऽपि तवैवाङ्गं मूर्त्तिः। तथा च स्मर्य्यते। नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः, तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृत इति। तथा। आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः, अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृत इति च। ननु मन्मूर्त्तेरपरिच्छिन्नायाः कथं

दर्शितः, स पुनः कृष्ण इत्यर्थान्तरापेक्षया च मन्तव्यम्, (भा० १०।६०।१५) "ययोरेव समं वीर्य्यम्" इत्यादि-न्यायात्। यथा विष्णुधर्मे—
"यस्त्वां वेत्ति स मां वेत्ति यस्त्वामनु स मामनु। अभेदेनात्मनो वेद्मि त्वामहं पाण्डुनन्दन ॥"४८॥ इति।
तं प्रति श्रीभगवद्वाक्याच्चार्जुनस्यापि श्रीकृष्णसखत्वेन नारायणसखान्नरात् पूर्णत्वात्तत्र प्रवेशः समुचित एव। कुत्रचिच्चांशादि-शब्दप्रयोगः, (गी० ७।२५)—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया-समावृतः" इति श्रीगीतोक्तनिषद्दिशा पूर्णस्यापि साधारणजनेष्वसम्यक्प्रकाशात्तत्प्रतीतावेवांश

सर्वसम्वादिनी

(२) कल्पावताराः, (३) मन्वन्तरावताराः, (४) युगावताराः, (५) स्वेच्छामय-समयावताराश्चेति।

जलाश्रयत्वमत आह—तच्चापि सत्यं नेति ॥

अतः ब्रह्मा की स्तुति में जो अनन्यसिद्ध नारायण हैं, वह ही श्रीकृष्ण हैं। इस अर्थ को प्रकट करने के निमित्त "कृष्णो नारायणः स्वयम्" वाक्य में स्वयं शब्द का प्रयोग हुआ है।

भा० १०।६०।१५ में उक्त—"ययोरेव समं वीर्य्यं जन्मैश्वर्य्याकृतिर्भवः।
तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥"

टीका—आत्मसमं परस्परमनुरूपम्। जन्मैश्वर्य्याभ्यां सहिता आकृतिः, रूपं जाति र्वा समा, भव आयातिः।"

समान प्रभाव, समान कुल में जन्म, समान वैभव, समान आकृति, समान अभ्युदय, समान व्यक्ति द्वय में विवाह मैत्री सुखद है, उत्तम-अधम में सुखद नहीं है। श्रीकृष्ण की उक्ति के अनुसार श्रीनर ऋषि के आवेश के सहित स्वयं नारायण श्रीकृष्ण की मित्रता नहीं हो सकती है। कारण—आवेशावतार आविष्ट जीव में होता है, अर्जुन यदि उस प्रकार होते हैं, तब स्वयं नारायण श्रीकृष्ण के सहित उनकी मैत्री नहीं हो सकती है। उस प्रकार विष्णुधर्म में श्रीकृष्णार्जुन की समरूपता वर्णित है। हे पाण्डुनन्दन ! जो तुम्हें जानता है, वह मुझको जानता है। जो अनुगत तुम्हारा है, वह मेरा अनुगत है। मैं तुम्हें अभिन्न जानता हूँ। श्रीकृष्ण के वचन से अर्जुन में पूर्णत्व का बोध होता है। अतएव अर्जुन में नर ऋषि का आवेश नहीं है, किन्तु प्रवेश होना ही समीचीन है।

कुत्रचित् श्रीकृष्ण के सन्दर्भ में अंशादि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। उसका समाधान हेतु गीतोक्त (७।२५) "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः। मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोकोमामजमव्ययम् ॥" मैं स्वीय योगमाया के द्वारा समावृत हूँ। अतएव साधारण दृष्टि से मेरा रूप सम्यक् प्रकाशित नहीं होता। श्रीकृष्ण की निजोक्ति के अनुसार ही जानना होगा कि—साधारण जन में श्रीकृष्ण का प्रकाश खण्डांश रूप में ही होता है, अतः वे लोक उन्हें अंश ही मानते हैं। किन्तु वह भी अंश की भाँति ही अंश है। उक्त स्थल समूह में वास्तविक अंश कहना अभिप्रेत नहीं है।

उक्त श्लोक की टीका—"ननु भक्ता इवाभक्ताश्च त्वां प्रत्यक्षीकुर्वन्ति, प्रसादादेव भजत्स्वभिव्यक्ति-रिति कथम् ? तत्राह—नाहमिति, भक्तानामेवाहं नित्यविज्ञानसुखघनोऽनन्तकल्याणगुणकर्मा प्रकाशो-ऽभिव्यक्तो, नतु सर्वेषामभक्तानामपि। यदहं योगमायया समावृतो मद्विमुखव्यामोहकत्वयोगयुक्तया मायया समाच्छन्नपरिसर इत्यर्थः, यदुक्तं "माया जवनिकाच्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः" इति। मायामूढ़ोऽयं लोकोऽतिमानुषदैवतप्रभावं विधिरुद्रादिवन्दितमपि मां नाभिजानाति। कीदृशम् ? अजं जन्मशून्यम्, यतोऽव्ययमप्रच्युतस्वरूपसामर्थ्यसार्वज्ञ्यादिकमित्यर्थः।

इवांश इति ज्ञेयम् । (भा० १०।८।१९) "नारायणसमो गुणैः" इत्यत्रापि नारायणः परव्योमाधिप एव, गुणैः समो यस्येत्येव श्रीगर्गाभिप्रायः । तदेवं महाकालपुराख्यानेऽपि प्रतिज्ञावाक्यमिदमधिकुर्य्यात् । किञ्च, शास्त्रं हि शासनात्मकं शासनञ्चोपदेशः; स च द्विधा—साक्षात्, अर्थान्तरद्वारा च । साक्षादुपदेशस्तु श्रुतिरिति परिभाष्यते । साक्षात्त्वञ्चात्र निरपेक्षत्वमुच्यते;

सर्वसम्वादिनी

तत्तदधिकारिलीलत्वात् ते च क्रमेण—(१) पुरुषादयः, (२) क्षीरोदशाय्यादयः, (३) यज्ञादयः, (४) शुक्लादयः, (५) श्रीकृष्ण-रामादयश्च ।

भा० १०।८।१९ में वर्णित है—श्रीगर्गाचार्य्य ने श्रीकृष्ण के नामकरण के समय कहे थे—

"तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः । श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः ।।"

बृहत् क्रमसन्दर्भः । तामेव स्वयं भगवत्तां प्रतिपादयति,—तस्मादित्यादि । हे नन्द ! तस्मादयं ते आत्मजो गुणैर्नारायणसम इति लोकभियोक्तम् । तत्तु सरस्वती स्वयमन्यथा व्याख्याति, नारायणोऽपि समः सश्रीको यस्मात्, समाना मा श्रीर्यस्य स तथा । अथवा, गुणैर्नारायणमपि समयति विक्लवयति नारायणसमः मनोहरादिवत् । नात्र कर्मण्यन्, समष्टमवैक्लव्ये चुरादिः । अथवा, समयति समः, नारायणस्यापि समो नारायणसमः, महीधरादिवत् । यद्वा, नारायणोऽपि सम यस्मात् नारायणसमः । मानं मा, तत्सहितः प्रमेय इति सत्वप्रमेयः, (भा० १०।१४।१४) "नारायणोऽङ्गम्" इति वक्ष्यमाणविरोधभङ्गादि व्याख्या ।

स्वयं भगवत्ता प्रतिपादन हेतु श्रीगर्गाचार्य्य कहते हैं—हे नन्द ! तुम्हारा आत्मज गुणों से नारायण सम होगा, लोक भय से उस प्रकार उक्ति हुई । उससे नन्दमहाराज समझ गये थे कि—बालक नारायण के समान गुणवान् होगा । यह उक्ति माधुर्य्यव्यञ्जक ही है । इससे षष्ठी तत्पुरुष समास के द्वारा आश्रयाश्रयिभाव ही प्रकट हुआ, अर्थात् श्रीनारायण—आश्रयतत्त्व, एवं श्रीकृष्ण, आश्रिततत्त्व हैं । सरस्वतीकृत व्याख्या अन्य प्रकार होती है—लक्ष्मीपति नारायण भी जिनके समान हैं, समाना मा श्री लक्ष्मी है जिनकी, अथवा गुणों के द्वारा नारायण को भी विह्वल करते हैं । मनोहरादि के समान । कर्मणि अण् नहीं है, चुरादि धातु है । अथवा समयति—समः नारायण का भी समः नारायण समः, महीधरादिवत् । यद्वा, नारायणोऽपि जिनके सम हैं, नारायण समः, मानं मा, तत्सहितः प्रमेय इति । कृष्ण अप्रमेय हैं, भा० १०।१४।१४ में "नारायणोऽङ्गम्" नारायण को श्रीकृष्ण का अंश कहा गया है । उक्त वाक्य के सहित विरोध उपस्थित न हो, तज्जन्य ही उक्त रूप व्याख्या हुई है ।

श्रीगर्गाचार्य्य का अभिप्राय भी यह ही है—अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि समास से नारायणः समो यस्य सः, अर्थात् गुणों में नारायण ही जिनका समान हैं । इस व्याख्या में श्रीकृष्ण आश्रयतत्त्व, एवं श्रीनारायण आश्रिततत्त्व होते हैं । नारायण शब्द से प्रसिद्ध गर्भोदकशायी प्रभृति का ग्रहण नहीं होता है, कारण परव्योमाधिपति को छोड़कर अन्यत्र तुल्ययोगिता की सम्भावना नहीं है ।

क्रमसन्दर्भः । नारायणः परव्योमाधिप एव समो यस्य तादृशोऽपि ; श्रचादिभिर्द्वारैः । गोपानाम् "अयः शुभावहविधौ सुसमाहितः । पाठान्तरे,—स्वेन स्वयमेवसमाहितः" इति वास्तवोऽर्थः । प्रकटार्थे तु, यद्यपि नारायणस्य समस्तथापि तथापि तवात्मजतां प्राप्त इति तवैव गोपनीय इत्यर्थः ।

श्रीचैतन्यमतमञ्जुषा । तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः—मा श्रीः तया सह वर्त्तते इति समः, गुणैः—नारायणः समः सविभूतिर्यस्मात्, यस्य श्रिया नारायणोऽपि श्रीमान् भवति, स एवायं परात्परः श्रीकृष्ण इत्यर्थः । यद्वा नारायणादपि समः स श्रीकृष्णः ।

तदुक्तम्—"निरपेक्षरवा श्रुतिः" इति। तथा च सति (मीमांसादर्शनम् ३।३।१४) "श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" इत्युक्तानुसारेण चरमस्य पूर्वापेक्षया दूरप्रतीत्यर्थत्वे (भा० १।३।२८) "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति श्रीशौनकं प्रति श्रीसूतस्य साक्षादुपदेशेन इतिहासस्थ-तद्विपरीतलिङ्गद्वारोपदेशो बाध्येत, न च (भा० १०।८९।५८) "मे कलावतीर्णौ" इति च महाकालपुराधिप एव श्रीकृष्णं साक्षादेवोपदिष्टवानिति

सर्वसम्वादिनी

एषु मन्वन्तरावताराश्च—यज्ञ-विभु-सत्यसेन-हरि-वैकुण्ठाजित-वामन-सार्वभौमर्षभ-विष्वक्सेन-धर्मसेतु-

अंश प्रतिपादक वाक्यसमूह का समाधान "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा हुआ। अर्थात् स्वयं भगवान् शब्द से एकमात्र श्रीकृष्ण का ही बोध होता है। अतएव "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" प्रतिज्ञा वाक्य का अधिकार महाकालपुराख्यान में भी होगा। अर्थात् महाकाल पुरुष के वचन से आपाततः प्रतीत होता है कि—कृष्ण, महाकाल पुरुष का ही अंश हैं। किन्तु उक्त अर्थ सुसङ्गत नहीं है। 'श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं' यह परिभाषा वाक्य सर्व मूर्द्धन्य होने के कारण उक्त वाक्य का अधिकार उक्त महाकाल पुरुष उपाख्यान में भी होगा। अर्थात् महाकाल पुरुष प्रसङ्ग से यथाश्रुत जो बोध होता है, श्रीकृष्ण उनका अंश हैं, यह समीचीन नहीं है। श्रीकृष्ण ही महापुरुष का अंशी हैं, इस प्रकार अर्थ को जानना होगा।

अनुशासनात्मक ही शास्त्र है, शासन शब्द का अर्थ शिक्षा है। उक्त शासन शब्द का अर्थ उपदेश है, प्रवर्त्तन वाक्य, अर्थात् स्वीय प्राप्ति का उपाय कथन है। उक्त उपदेश साक्षात् एवं अर्थान्तर के द्वारा (अर्थात् विभिन्न दृष्टान्त के द्वारा) द्विविध होते हैं। साक्षात् उपदेशदान जिस रीति से होता है, उसे श्रुति कहते हैं। साक्षात् शब्द इस प्रकरणानुरूप अर्थ है। निरपेक्षता, अर्थात् सर्व प्रमाण की अपेक्षा श्रुति ही बलवती है। मीमांसा दर्शन के ३।३।१४ में उक्त है—'श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या'-रूप षड् विध उपाय शास्त्रार्थ निर्णायक हैं। उसमें अर्थ का व्यवधान होने के कारण क्रमशः पूर्वापेक्षा पर पर प्रमाणों का दौर्बल्य है। अर्थ श्रुति से लिङ्ग, लिङ्ग से वाक्य, वाक्य से प्रकरण, प्रकरण से स्थान, स्थान से समाख्या दुर्बल है। उक्त मीमांसा सिद्धान्त सूत्र का अर्थ—"श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये"—अर्थात् एक विषय प्रतिपादन में एकाधिक का समावेश होने पर, "पारदौर्बल्यम्" सूत्रोक्त क्रमप्राप्त परवर्त्ती प्रमाण दुर्बल होने से पूर्व प्रमाण के द्वारा बाधित होता है। कारण "अर्थविप्रकर्षात्" अर्थात् विलम्ब से अर्थ बोध होने के कारण बाधित होता है। इसमें श्रुति सर्वथा बलवती है, उसमें बाध्यबाधकत्वरूप तत्त्वद्वय नहीं हैं। श्रुति को छोड़कर सबमें बाध्यबाधकत्वरूप तत्त्वद्वय हैं। श्रीकुमारिल भट्टपादने कहा है-"बाधितैव श्रुतिर्नित्यं समाख्या बाध्यते सदा। मध्यमानां तु बाध्यत्वं बाधकत्वमपेक्षया॥" पूर्वमीमांसा की रीति के अनुसार चरम प्रमाणरूप समाख्यात्मक महाकाल पुरुष का उपाख्यान रूप इतिहास, श्रुति के द्वारा बाधित होता है। अर्थात् "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" श्रुति से अति सत्वर अर्थबोध होता है, उस प्रकार अर्थबोध उक्त इतिहास से नहीं होता है। श्रीमद्भागवतस्थ महाकाल पुराख्यान (१०।८९।५८) समाख्या है। श्रीशौनक के प्रति श्रीसूत का साक्षात् उपदेश—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" श्रुति है, इसके द्वारा इतिहास पद्धति के द्वारा कथित श्रीकृष्ण का अंशत्व प्रतिपादक वाक्य निरस्त हुआ।

यहाँ पर संशय हो सकता है कि—(भा० १०।८९।५८)—

"द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा, मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये।
कलावतीर्णाववने र्भरासुरान्, हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे॥"

वाच्यम् । श्रीकृष्णस्य सार्वज्ञ्याव्यभिचारेण वक्तृश्रोतृभावपूर्वक-सङ्गमाप्रस्तावेन (भा० १०।८९।५८) "द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा" इति कार्य्यान्तरतात्पर्य्यदर्शनेन च तस्यैतन्महापुराणस्य च तत्त्वोपदेष्टृ श्रीसूतादिवत्तदुपदेशे तात्पर्य्याभावाद्वक्ष्यमाणार्थान्तर एव नैकट्येन पदसम्बन्धाच्च । किञ्च, "भवतु वा तुष्यतु" इति न्यायेन श्रीकृष्णस्य तमपेक्ष्यापूर्णत्वम्, तथापि सर्वेषामप्यवताराणां नित्यमेव स्वस्थत्वेन दर्शयिष्यमाणत्वात्, केषाञ्चिन्मते तु स्वयं पुरुषत्वेऽपि स्वतन्त्रस्थितित्वात्, (भा० १०।८९।५९) "युवां नरनारायणावृषी धर्ममाचरताम्" इति, (भा० १०।८९।५८) "त्वरयेतमन्ति मे" इति च तत्तदर्थत्वे विरुध्येत । अस्तु तावदस्माकमन्यवार्त्ता, न च कुत्रापि महाकालोऽयमंशेन तत्तद्रूपेणावतीर्ण इत्युपाख्यायते

सर्वसम्वादिनी

सुधाम-योगेश्वर-बृहद्भानवः क्रमेण चतुर्द्दश । ऋषभोऽयमायुष्मत्पुत्रः, नाभिपुत्रस्त्वन्यः । एषु यज्ञः प्राय

'मेरा अंश तुम दोनों हो, पृथिवी का भारापनोदन हेतु अवतीर्ण हुए हो, उक्त कार्य्य सम्पन्न करके मेरे निकट आ जाओ' । इसमें श्रीकृष्ण को महाकाल पुरुष ने साक्षात् कहा है, इसको श्रुति क्यों नहीं कहेंगे ? ऐसा नहीं कह सकते । कारण, श्रीकृष्ण में सर्वज्ञता का व्यभिचार कभी भी नहीं होता है । सर्वज्ञ, सर्ववित् रूपमें एवं कार्य्येषु अभिज्ञः, स्वराट्, रूपमें उनका वर्णन होता है । अतएव भूमा पुरुष को वक्ता, एवं श्रीकृष्ण को श्रोता, बनाकर यह उपाख्यान प्रस्तुत नहीं हो सकता है, (भा० १०।८९।५८) "द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा" "तुम दोनों का दर्शन करने का अभिलाषी होकर ही द्विज बालकों का अपहरण मैंने किया" भूमा पुरुष की इस उक्ति से कार्य्यान्तर में तात्पर्य्य दृष्ट होता है । श्रीकृष्णार्जुन का स्वरूप निर्देश करना उक्त निर्देश का अभिप्राय नहीं है । श्रीकृष्णार्जुन के रूप माधुर्य्य श्रवणान्तर उनको देखने के लिए ही ब्राह्मण कुमारों का अपहरण भूमा पुरुष ने किया था । इस उद्देश्य को छोड़ श्रीमद् भागवत तत्त्वोपदेष्टा श्रीसूत के समान श्रीकृष्ण को तत्त्वोपदेश प्रदान करने का उद्देश्य भूमा पुरुष का नहीं था । अतः वक्ष्यमाण अर्थान्तर के सहित उक्त वाक्यस्थ पदसमूह का निकट सम्बन्ध भी है ।

कतिपय व्यक्ति 'श्रीकृष्ण स्वयं भगवान्' है, इसको नहीं मानते हैं । श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव के मत में ही श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, वह भी श्रीमद्भागवत प्रमाण के द्वारा ही प्रमाणित है । कुछ वैष्णव श्रीवासुदेव को स्वयं भगवान् मानते हैं, श्रीकृष्ण को उनका अवतार, अपर प्रसिद्ध वैष्णवगण श्रीनारायण को स्वयं भगवान् एवं श्रीकृष्ण को कारणार्णवशायी महापुरुष मानते हैं । यदि तोषण नीति को अपनाया जाय 'भवतु वा तुष्यतु वा' अर्थात् अभ्युपगमवाद से भी विचार करने पर भी उक्त भूमा पुरुष के वाक्य का यथार्थ समाधान नहीं होगा । श्रीरामानुज प्रभृति वैष्णव सम्प्रदाय की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो श्रीकृष्ण को भूमा पुरुष से अपूर्ण मानना होगा । ऐसा होने पर भी भूमा पुरुष के वाक्य का समाधान नहीं होगा, कारण—समस्त अवतारगण ही निज स्वरूप में निज धाम में सपरिकर अवस्थित होते हैं । कभी भी अवतारवृन्द निज अंश में विलीन नहीं होते हैं, इसका प्रदर्शन अग्रिम ग्रन्थ में होगा । श्रीरामानुज के मत में श्रीकृष्ण कारणार्णवशायी हैं, ऐसा होने पर भी कारणार्णवशायी रूपमें उनकी नित्य स्थिति आचार्य श्रीरामानुज मानते हैं । अतः (भा० १०।८९।५९) "युवां नरनारायणावृषी धर्ममाचरताम्" (भा० १०।८९।५८) "त्वरयेतमन्ति मे" । 'सत्वर मेरे निकट आगमन करो' वाक्यद्वय का यथाश्रुत अर्थ में सुस्पष्ट विरोध है । हम दूसरी बात को छोड़ ही देते हैं, तुष्यतु न्याय से, तथापि किसी भी ग्रन्थ में ऐसा विवरण नहीं है कि—भूमा पुरुष अंश के द्वारा श्रीकृष्णार्जुन रूपमें अवतीर्ण हुए हैं ।

वा। ततश्चाप्रसिद्धकल्पना प्रसज्जेत। तत्रैव च "त्वरयेतमन्ति मे" इति, "युवां नरनारायणवृषी धर्ममाचरताम्" इत्यादेशद्वयस्य पारस्परिकविरोधः स्फुट एव। किञ्च, यदि तस्य तावंशावभविष्यताम्, तर्हि करतलमणिवत् सदा सर्वमेव पश्यन्नसौ तावपि दूरतोऽपि पश्यन्नेवाऽभविष्यत्। तच्च "युवयोर्दिदृक्षुणा" इति तद्वाक्येन व्यभिचारितम्। यदि स्वयमेव श्रीकृष्णस्तत्तद्रूपावात्मानौ दर्शयति, तदैव तेन तौ दृश्येयातामित्यानीतञ्च। तथा च सति तयोर्दृश्यत्वाभावादंशत्वं नोपपद्यते। तस्मादप्यधिकशक्तित्वेन, प्रत्युत पूर्णत्वमेवोपपद्यते। एवमपि यत्त्वर्जुनस्य तज्ज्योतिःप्रताड़िताक्षत्वं तद्दर्शनजातसाध्वसत्वञ्च

सर्वसम्वादिनी

आवेशः,—तस्य पृथुपादग्रह-श्रवणात्। हरि-वैकुण्ठाजित-वामनास्तु— परावस्थोपमा वैभवस्थाः,— तादृशत्वेन

अतएव श्रीकृष्णार्जुन को भूमा पुरुष का अंश मान लेने से अप्रसिद्ध कल्पना रूप दोष होगा, भूमा पुरुष का वाक्य ही असम्बद्ध है। एकबार कहते हैं—"त्वरयेतमन्ति मे" 'तुम दोनों मेरे पास जल्दी आओ' पुनर्बार कहते हैं—"युवां नरनारायणावृषी धर्ममाचरताम्" 'तुम दोनों नरनारायण ऋषि हो, धर्माचरण करो'। विरुद्ध उपदेशद्वय के द्वारा पारस्परिक विरोध सुस्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। नरनारायण ऋषि का तपस्यास्थान बदरिकाश्रम है, वहाँ नरनारायण का अवतार अर्जुन कृष्ण होने से भूमा पुरुष के निकट गमन प्रसङ्ग असम्भव है। भूमा पुरुष के अंश होने से अप्रकट समय में भूमा पुरुष में विलीन होने पर नरनारायण ऋषि रूप में अवस्थिति भी नहीं होगी। और भी देखना है,—भूमा पुरुष के अंश कृष्णार्जुन होने पर अंशी में अंश का साक्षात्कार करतलमणि के समान सदा ही होता रहता है। अपर समस्त वस्तु का भी सर्वदा साक्षात्कार सर्वज्ञ भूमा पुरुष का होता रहता है, तब कृष्णार्जुन को देखने के लिए महती उत्कण्ठा क्यों होगी? दूर से ही भूमा पुरुष कृष्णार्जुन को देख लेते? किन्तु "तुम दोनों के दर्शन की उत्कण्ठा से ही मैंने द्विज बालकों को ले आया" इस वाक्य से प्रतीत होता है कि—भूमा पुरुष कृष्णार्जुन का दर्शन सर्वदा कर नहीं पाते हैं। यदि स्वयं श्रीकृष्ण कृपया दर्शन प्रदान करते हैं, तब ही भूमा पुरुष उनको देखने में सक्षम होते हैं। तज्जन्य बालकों का अपहरण किए हैं। जब श्रीकृष्ण को देखने की सामर्थ्य भूमा पुरुष में है ही नहीं, तब श्रीकृष्ण अत्यधिक शक्ति सम्पन्न होने से ही पूर्ण हैं।

इस प्रसङ्ग में पुनर्बार संशय उपस्थित होता कि—महाकालपुर गमन के समय श्रीअर्जुन दूर से भूमा पुरुष की ज्योति को देखकर उत्पीड़ितनेत्र होकर नयनद्वय को आच्छादित किए थे। (भा० १०।८६।५१)

"द्वारेण चक्रानुपथेन तत्तमः परं परं ज्योतिरनन्तपारम्।
समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः प्रताड़िताक्षोऽपि दधेऽक्षिणी उभे॥"

एवं पुर में प्रवेश के अनन्तर भूमा पुरुष को देखकर साध्वस युक्त हुए थे। (भा० १०।८६।५७)—

"ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतो, जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः।
तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभुर्बद्धाञ्जलीसस्मितमुर्जया गिरा॥"

यदि श्रीकृष्ण भूमा पुरुष का अंशी होते हैं, तो श्रीकृष्ण के सान्निध्य में अवस्थित होकर भी श्रीअर्जुन की वैसी अवस्था क्यों होगी? उस प्रकार स्थिति को स्वाभाविक मान लेने से श्रीकृष्ण के तेजः महिमा की न्यूनता होना अवश्यम्भावी है। किन्तु श्रीकृष्ण की तेजः महिमा का दर्शन अर्जुन ने पहले से ही भूमा पुरुष की महिमा से अधिक रूप से किया था, सुतरां सूर्य्यमण्डलवर्त्ती जनगण चन्द्र प्रभा से जिस प्रकार अभिभूत नहीं होते हैं, उस प्रकार भूमा पुरुष दर्शन से भी अर्जुन की उक्त अवस्था की सम्भावना नहीं की

जातम्, तत्र स्वयमेव भगवता तत्तल्लीलारसौपयिकमात्रशक्तेः प्रकाशनादन्यस्याः स्थिताया अपि कुण्ठनान्न विरुद्धम्। दृश्यते च स्वस्यापि क्वचिद्युद्धे प्राकृतादपि पराभवादिकम्। यथात्रैव तावत् स्वयमेव वैकुण्ठादागतानामप्यश्वानां प्राकृततमसा भ्रष्टगतित्वम्। तदेवमेव श्रीकृष्णस्य तस्मिन् भक्तिभरदर्शनेनाप्यन्यथा न मन्तव्यम्, श्रीरुद्रादौ श्रीनारदादौ च तथा दर्शनात्। एवमत्र परत्र वा तदीयलीलायान्तु पूर्वपक्षो नास्ति, तस्य स्वैराचरणत्वात्। अतस्तदीय-तात्पर्य्यशब्दोत्थावर्थावेवमेव दृश्येते। तत्र तात्पर्य्योत्थो यथा—असौ श्रीकृष्णः

सर्वसम्वादिनी

वर्णनात्। अन्ये—प्रायः प्राभवावस्थाः, नातिवर्णनात्।

अथ युगावताराः शुक्र-रक्त-श्याम-कृष्णाः।

जाती है। समीचीन रूप से उक्त विरोध का समाधान करते हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण लीलारस परिपोषण हेतु उक्त महाकाल पुर गमन लीला का आविष्कार किए थे, एवं तदुपयोगी शक्ति का प्रकाश कर आत्मगोपन भी किए थे। एतज्जन्य श्रीकृष्ण सङ्गी श्रीअर्जुन के लिए भूमा पुरुष को देखकर अभिभूत होना विस्मयावह नहीं है। देखने में भी आता है, समय विशेष में विपक्ष से आत्मपराभव को प्रकट करते हैं। शाल्वयुद्ध में पराभव स्वीकार एवं जरासन्ध के भय से पलायनपरायण होना, उसका प्रकृष्ट दृष्टान्त है। विशेषतः इस भूमा पुरुष के प्रकट में ही वैकुण्ठ से समागत चतुर्वेदरूप अश्वचतुःष्टय की गति भ्रष्ट हो गई थी। (भा० १०।८९।४८)—"तत्राश्वाः शैव्यसुग्रीवमेघपुष्पवलाहकाः।
तमसि भ्रष्टगतयो बुभूवुर्भरतर्षभ॥"

अश्व के सहित रथ का आगमन वैकुण्ठ से हुआ था। जब, जरासन्ध ने प्रथम मथुरा आक्रमण किया था। वैकुण्ठ से पृथिवी में आगमन के समय महाकालपुर को अतिक्रम करके ही आना पड़ता है, साथ ही प्रकृतिके आवरण को भी। उस समय उन सबकी गति भ्रष्ट नहीं हुई, किन्तु उक्त महाकालपुर गमन के समय गतिभ्रष्ट हुई। सुदर्शन के द्वारा श्रीकृष्ण को पथप्रदर्शन करना पड़ा।

"तमः सुघोरं गहनं कृतं महद्विदारयत् भूरितरेण रोचिषा।
मनोजवं निर्विवेशे सुदर्शनं गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः॥" (भा० १०।८९।५०)

यहाँ अप्राकृत अश्वसमूह की गति, प्राकृत तमः से रुद्धा होना सर्वथा असम्भव होने पर भी लीलाभिज्ञ श्रीकृष्ण की इच्छा से ही शक्ति विकाश में तारतम्य होता है। सुमहान् अपर संशय यह है कि—श्रीकृष्ण भूमा पुरुष को देखकर भक्तिभाव प्रदर्शनपूर्वक प्रणाम इत्यादि किए थे। श्रीकृष्ण अंशी होने से अंश के प्रति ईदृश आचरण कौतुकावह ही है?

(भा० १०।८९।५७)—"ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतो, जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः।
तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभुर्बद्धाञ्जली सस्मितमुर्ज्जया गिरा॥"

उत्तर—इसमें विस्मित होने की कोई बात नहीं है। श्रीकृष्ण सर्वदा ही उस प्रकार आचरण करते रहते हैं। श्रीरुद्र एवं श्रीनारद प्रभृति के प्रति उस प्रकार प्रकट लीला में भक्तिभाव प्रकट करते ही हैं। अतएव इस प्रकरण में एवं अन्यत्र भी उक्त आचरण दर्शन से श्रीकृष्ण के प्रति किसी प्रकार संशय उत्थित नहीं हो सकता है। कारण श्रीकृष्ण असमोर्द्ध स्वतन्त्र ईश्वर हैं, जनशिक्षा हेतु स्वेच्छानुरूप लीला करते हैं। उनका नियन्ता कोई भी नहीं है। एतावता महाकाल पुर गमन प्रसङ्गस्थ वाक्यसमूह की बलवत्ता प्रदर्शन पूर्वक श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता स्थापित हुई। अतःपर महाकाल पुर गमन प्रसङ्गोत्थ वचन समूह का वास्तवार्थ को कहते हैं—शब्दार्थ दो प्रकार से होता है, तात्पर्य्योत्थ रूप से, शब्दोत्थ रूप से।

स्वयं भगवानपि यथा गोवर्द्धनमखलीलायां श्रीगोपगणविस्मापनकौतुकाय काञ्चिन्निजां दिव्यमूर्त्ति प्रदर्शयन् तैः सममात्वनैवात्मानं नमश्चक्रे, तथैवार्जुनविस्मापनकौतुकाय श्रीमहाकाल-रूपेणैवात्मना द्विजबालकान् हारयित्वा पथि च तं तं चमत्कारमनुभाव्य महाकालपुरे च तां कामपि निजां महाकालाख्यां दिव्यमूर्त्ति दर्शयित्वा तेन समं तद्रूपमात्मानं नमश्चक्रे, तद्रूपेणैव सार्जुनमात्मानं तथा वभाषे च। तदुक्तम् (भा० १०।२४।३६)—"तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रेऽऽत्मनात्मने" इतिवत्। तत्रापि (भा० १०।८९।५७) "ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतः" इति। अतएव श्रीहरिवंशे तत्समीपज्योतिरुद्दिश्य चार्जुनं प्रति श्रीकृष्णेनैवोक्तम्(विष्णु-प० ११४।९)—"मत्तेजस्तत् सनातनम्" इति। अथ शब्दोत्थोऽप्यर्थो यथा तत्र श्रीमहाकालमुद्दिश्य (भा० १०।८९।५४) "पुरुषोत्तमोत्तमम्" इति विशेषणस्यार्थः— पुरुषो जीवस्तस्मादप्युत्तम-स्तदन्तर्य्यामी तस्मादप्युत्तमं भगवत्प्रभावरूपमहाकालशक्तिमयं तमिति। अथ श्रीमहाकाल-वाक्यस्य (भा० १०।८९।५८)—

सर्वसम्वादिनी

अत्र पुरुष-भेदानां ब्रह्मादीनाञ्चाविर्भाव-समयो ब्राह्मकल्प-प्रवृत्तेः पूर्वमेव। चतुःसन-नारद-वराह-

तात्पर्य्योत्थ अर्थ इस प्रकार है—उक्त श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, तथापि गोवर्द्धन मखलीला में गोपगण के विस्मय रूप कौतुक सम्पन्न करने के निमित्त निज दिव्यमूर्त्ति का प्रकटन किए थे, एवं गोपगण के सहित स्वयं स्वयं को प्रणाम प्रभृति भी किए थे। (भा० १०।२४।३५-३६)

"कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः। शैलोऽस्मीति ब्रुवन् भूरिबलिमाददवृहद्वपुः ॥३५
तस्मै नमो व्रजजनैः सहचक्रेत्मनात्मने। अहो पश्यतशैलोऽसौरूपिणोऽनुग्रहं व्यधात् ॥३६
एषोऽवजानतोमर्त्यान् कामरूपी वनौकसः। हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनेगवाम् ॥"

टीका—गोपविश्रम्भणं गोपानां विश्वासजनकं रूपं गतः प्राप्तः सन् बलिं उपहारं, आदत्—अभक्षयत्। तस्मै आत्मने आत्मना स्वयं व्रजजनैः सह नमश्चक्रे अहो इति ॥

उक्त गोवर्द्धनधारण लीला के समान ही अर्जुन विस्मापन कौतुक हेतु महाकालरूपी निज के द्वारा द्विज बालकों का अपहरण किए थे, महाकाल पुर गमन के समय पथ में उक्त चमत्कार का अनुभव करवाकर महाकालमूर्त्ति का सन्दर्शन भी करवाये थे, एवं अपने आप को प्रणाम भी किए थे। उक्त महाकालपुरुष रूपमें ही अर्जुन एवं स्वयं के सहित उक्तरूप कथन प्रसङ्ग भी किए थे। (भा० १०।२४।३६) में उक्त है—कृष्ण व्रजजनों के सहित गोवर्द्धन रूपधारी निज रूप को प्रणाम भी किए थे। प्रस्तुत भूमा पुरुषोपाख्यान में भी उस प्रकार रीति को जानना होगा। भा० १०।८९।५७-स्थ महाकालपुरुषाख्यान में उक्त है—ववन्दमात्मानमनन्तमच्युतः। अतएव श्रीहरिवंश में वर्णित उक्त भूमाकालपुरुष का विवरण भी उक्त सिद्धान्तानुरूप ही है। "भूमा पुरुष की ज्योतिः को लक्ष्य करके अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! तुम जो तेजः देख रहे हो, वह अन्य कुछ भी नहीं है, मेरा सनातन तेजः है।

अनन्तर शब्द से उत्थित अर्थ का प्रदर्शन करते हैं, भा० १०।८९।५४ में महाकालपुरुष को लक्ष्य करके कहा—"ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुं महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम्।
सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ॥"

"पुरुषोत्तमोत्तम्" विशेषण का अर्थ—पुरुष जीव, जीव से उत्तम, जीव के अन्तर्यामी, (परमात्मा) जीवान्तर्यामी से भी उत्तम भगवत् प्रभावरूप महाकालशक्तिमय जो भूमा पुरुष हैं, उनको वन्दन किये थे।

"द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा, मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान्, हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे॥"४६॥

इत्यस्य व्याख्या—युवयोर्युवां दिदृक्षुणा मया द्विजपुत्रा मे मम भुवि धाम्नि उपनीता आनीता इत्येकं वाक्यम्। वाक्यान्तरमाह—हे धर्मगुप्तये कलावतीर्णौ कला अंशास्तद्युक्तावतीर्णौ,

सर्वसम्वादिनी

मत्स्य-यज्ञ-नरनारायण-कपिल-दत्त-हयशीर्ष-हंस-पृश्निगर्भर्षभदेव-पृथूनां सायम्भुवे; वराह-मत्स्ययोः पुन-

महाकालपुरुष का वाक्य यह है, (भा० १०।८६।५८)—

"द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा, मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये।
कलावतीर्णाववने र्भरासुरान्, हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे॥"

टीका—हे कलावतीर्णाविति सम्बोधनम्। शीघ्रं मे अन्ति-सकाशम् इतम्। आगच्छतम्।५८। आचरताम्—आचरतम्। इदन्तु भारतयुद्धात् पूर्वं कृतमपि श्रैष्ठ्यकथनप्रस्तावेनात्रोक्तम्।५६।

बृहत् क्रमसन्दर्भः। ववन्द आत्मानमित्यादि—अच्युतः श्रीकृष्णः, आत्मानं—देहं, मूर्त्तिविशेषं, अंशमिति यावत्, कीदृशम्? अनन्तं अन्तरहितम्, अंशत्वेऽपि तथात्वं,—स्वाभाविकमेव। विष्णुश्च ववन्दे। कीदृशः? तद्दर्शनजातसम्भ्रमः, तस्य श्रीकृष्णकृतनमस्कारस्य दर्शनेन जातं साध्वसं यस्य, अयं सर्वेश्वरेश्वरः कथं अमुमंशरूपिणं नमस्करोतीति विस्मयं कृत्वा। ववन्द इत्यत्र साध्वस शब्दो विस्मयवाची, साधुः, असोऽसनं दीप्तिर्यत्र, चमत्कार इत्यर्थः। स भूमा नारायणः परमेष्ठिनां योगीन्द्राणां प्रभुस्तावास। बद्धाञ्जली इति श्रीकृष्णस्यापि बद्धाञ्जलित्वं कौतुकपरं स्वांशं प्रति सम्मानाधिक्यम्। स्वस्यैव यथा गोवर्द्धनोद्धरणलीलायां मूर्त्यन्तरमाविर्भाव्य तद् वन्दनादिना कौतुकप्रकटनम्।५७।

द्विजात्मजा इत्यादि। द्विजात्मजा—मयोपनीताः। कुतः? दिदृक्षुणा। कुत्र दिदृक्षुत्वं भवतः? इत्याशङ्क्य तदेव प्रकटयति—युवयोर्मध्ये भुवि ममोत्पत्तिस्थले श्रीकृष्णे दिदृक्षुत्वमित्यर्थः। भवत्यस्मादिति—भूः, अपादाने क्विप्, तथा च गीतायां (गी० १०।८) "अहं सर्वस्य प्रभवः" इति श्रीमुखोक्तेः।

ननु दिदृक्षुश्चेत्, तत्रैव कथं नागाः? तत्राह धर्म गुप्तये, धर्मरक्षायै, कुत्र धर्मरक्षा? इत्याह—कलावतीर्णौ, कलानामस्मदादीनामवतीर्णिरवतारो यस्मात् तस्मिन् श्रीकृष्णे एतस्मिन् या धर्मगुप्तिस्तदर्थम्। अहञ्चेत्तत्रगत्वाद्रक्ष्यम् तदा द्विज बालानामरिष्यन्। तदानयनप्रकारेण तत्कृत प्रयत्नेन न चास्य धर्मोऽयमत्रिष्यत्। अत एषा धर्मरक्षास्य भूयादिति मया तत्र न गतम्। अथवा, दिदृक्षुत्वे हेतुः—धर्मगुप्तये इति। अंशोह्यंशिनं दिदृक्षतीत्येष एव धर्मः। अतः परं कृतार्थोऽस्मि, तदधुनावनेर्भारायमाणानसुरान् हत्वा अन्तिमे चरमे कर्मणि स्वधामगमने त्वरयेतं त्वरां कुरु तम्। इह भूमौ भूयः प्रकृष्टं यथा भवति तथा हत्वेत्यनुषङ्गः।५८।

"तुम दोनों को देखने के लिए मैं ब्राह्मण बालकों को मेरे यहाँ ले आया हूँ। तुम दोनों पृथिवी के भारस्वरूप असुरों को संहार कर धर्मरक्षार्थ कला में अवतीर्ण हुए हो, अवशिष्ट असुरों को मारकर सत्वर मेरे पास चले आओ।" (श्लोकानुवाद)

श्लोक की व्याख्या—उक्त श्लोक में वाक्यद्वय हैं। प्रथम वाक्य—युवां दिदृक्षुणा मया द्विजपुत्रा में मम भुवि धाम्नि अपनीता आनीता। तुम दोनों को देखने के लिए मैंने ब्राह्मण बालकों को निज धाम में लाया हूँ। अवशिष्टांश अपर वाक्य है। द्वितीय वाक्य में 'कलावतीर्णौ' पद सम्बोधनान्त है। स्वामिपाद ने भी वैसा ही निज टीका में लिखा है। उसका अर्थ—हे कृष्णार्जुन! तुम दोनों कलायुक्त

मध्यपदलोपी समासः; किंवा कलायामंशलक्षणे मायिकप्रपञ्चेऽवतीर्णौ वा;— (ऋक्० १०।९०।३) 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' इति श्रुतेः, भूयः पुनरपि अवशिष्टानवनेर्भरासुरान् हत्वा मे मम अन्ति समीपाय समीपमागमयितुं युवां त्वरयेतमत्र प्रस्थाप्य तान् मोचयतमित्यर्थः—तद्धतानां मुक्तिप्रसिद्धेः ; महाकालपुरज्योतिरेव मुक्ताः प्रविशन्तीति । (विष्णु-पु० ११४।९-१०)—

"ब्रह्मतेजोमयं दिव्यं महद्यद्दृष्टवानसि । अहं स भरतश्रेष्ठ मत्तेजस्तत् सनातनम् ॥५०॥
प्रकृतिः सा मम परा व्यक्ताव्यक्ता सनातनी । तां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता योगविदुत्तमाः ॥"५१॥

इति श्रीहरिवंशेऽर्जुनं प्रति श्रीभगवदुक्तेश्च । 'त्वरयेतम्' इति प्रार्थनायां हेतु-र्णिजन्तस्य लिङि रूपम्, अन्तीत्यव्ययाच्चतुर्थ्या लुक्, चतुर्थी च एधोभ्यो व्रजतीतिवत् 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति स्मरणात् । कटं कृत्वा प्रस्थापयतीतिवदुभयोरेकेनैव कर्मणान्वयः प्रसिद्ध एव । अर्थान्तरे तु सम्भवत्येकपदत्वे पदच्छेदः कष्टाय कल्प्येत । तथाऽभावादित-

सर्वसम्वादिनी

श्चाक्षुषीये च ; नृसिंह-कूर्म-धन्वन्तरि-मोहिनीनां चाक्षुषे ; कूर्मः कल्पादावपि ; धन्वन्तरिर्वैवस्वतेऽपि ; वामन-

होकर अवतीर्ण हुए हो । कला—अंश, तदयुक्त—अवतीर्ण, कलावतीर्ण । कलावतीर्ण, मध्यपदलोपी कर्मधारय समास है, 'युक्त' पद का लोप हुआ है । अथवा, कला में अवतीर्ण—कलावतीर्ण, सप्तमी तत्पुरुष समास है । कला—मायिक प्रपञ्च, उसमें अवतीर्ण हुए हो । श्रुति कहती है—भगवान् की एकपाद विभूति मायिक प्रपञ्च है । उक्त रूप से सम्बोधन करने के पश्चात् कहते हैं—तुम दोनों पुनर्बार अवशिष्ट असुरों को मारकर मेरे पास भेजने के लिए त्वरान्वित हो जाओ, अर्थात् मेरे पास असुरों को भेजकर मुक्ति दान करो । श्रीकृष्ण कर्त्तृक हत होने से ही असुरों की मुक्ति होती है । "हतारिगतिदायक श्रीकृष्ण हैं ।" कारण महाकालपुर की ज्योतिः में ही मुक्तगण प्रविष्ट होते हैं । विष्णुपुराण में उक्त है—हे अर्जुन ! ब्रह्मतेजोमय अप्राकृत महद्वस्तु का दर्शन तुम कर रहे हो, वह मेरा ही सनातन तेज है । व्यक्ताव्यक्त सनातनीरूपा मेरी प्रकृति है । मुमुक्षु व्यक्तिगण उक्त महाकाल पुरुष की ज्योति में प्रविष्ट होकर मुक्त होते हैं । "सिद्धलोकास्तु तमसः पारेवसन्तिहि । सिद्धा ब्रह्मसुखे मग्नाः दैत्याश्च हरिणा हतः ॥" हरिवंश महापुराण में अर्जुन के प्रति भगवदुक्ति से भी प्रतीत होता है—सायुज्य लाभेच्छु व्यक्तिगण महाकाल पुरुष की ज्योति में प्रविष्ट होते हैं ।

"त्वरयेतम्" लोट लकार का रूप नहीं है । प्रार्थनार्थक 'त्वर' धातु के उत्तर हेतु निजन्त विधिलिङ् का रूप है । "अन्ति" शब्द चतुर्थी विभक्त्यन्त अव्यय है, विभक्ति का लोप हुआ "अव्ययात् स्वादेर्महाहरः" जिस प्रकार 'एधोभ्यो' काष्ठ हेतु व्रजति प्रयोग होता है, उस प्रकार अर्थ जानना होगा । क्रियार्थोपपद-कर्मस्थानीय होता है । कट निर्माण करके भेज रहा है, प्रयोग में जिस प्रकार उभय क्रिया के सहित एक कर्म का अन्वय होता है, उस प्रकार असुरों का संहार कर एवं मेरा समीपस्थ करो, असुर रूप कर्म कारक का अन्वय उक्त उभय क्रिया के सहित होता है । भा० १०।८९।५८ श्लोक का अर्थान्तर की कल्पना करने से एकपद की सम्भावना में पदच्छेद कष्ट कल्पना में परिणत होता है, वह दोष है । अर्थात् "कलावतीर्णौ" पद का तृतीय तत्पुरुष समास से "कलाभ्यां अवतीर्णौ" पद होता है, अर्थ होगा 'तुम दोनों मेरी कला 'अंश' से उत्पन्न हुए हो । "कला—अवतीर्णौ" उभय पद का एकीभाव करने से उक्त तृतीया तत्पुरुष समास के व्यास वाक्य के द्वारा पदच्छेद होता है । किन्तु कृष्णार्जुन को भूमा पुरुष के अंश—'कला विभूति' मानने पर अनेक विरोध उपस्थित होगा, उसका प्रदर्शन पहले हुआ है । सुतरां

मित्यत्रागच्छतमिति व्याख्या न युज्येत। तस्मादेष एवार्थः स्पष्टमकष्टो भवति। तथा (भा० १०।८९।५९)—

"पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी।
धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसंग्रहम्॥"५२॥

इत्यस्य न केवलमेतद्रूपेणैव युवां लोकहिताय प्रवृत्तौ, अपि तु वैभवान्तरेणापीति स्तौति—पूर्णेति। स्वयंभगवत्त्वेन तत्सखत्वेन च ऋषभौ सर्वावतारावतारिश्रेष्ठावपि पूर्णकामावपि स्थित्यै लोकरक्षणाय लोकसंग्रहं लोकेषु तत्तद्धर्मप्रचारहेतुकं धर्ममाचरतां कुर्वतां मध्ये युवां "नरनारायणावृषी" इत्यनयोरल्पांशत्वेन विभूतिवन्निर्द्देशः। उक्तञ्चैकादशे श्रीभगवता विभूतिकथन एव (भा० ११।१६।२५)—"नारायणो मुनीनाञ्च" इति। धार्मिकमौलित्वाद्द्विज-पुत्रार्थमवश्यमेष्यथ इत्यतएव मया तथा व्यवसितमिति भावः। तथा च श्रीहरिवंशे

सर्वसम्वादिनी

भार्गव-राघवेन्द्र-द्वैपायन-राम-कृष्ण-बुद्ध-कल्कीनां वैवस्वते; मन्वन्तर-युगावताराणां तदा तदैव ज्ञेयः।

उक्त कल्पना अति कष्ट कल्पना दोष दुष्ट है। आङ् का अभाव के कारण—'इतं' 'आगच्छतम्' इस प्रकार व्याख्या भी समीचीन नहीं होगी। तज्जन्य स्वाभाविक अर्थ स्वीकार करना ही आवश्यक है।

उस प्रकार भा० १०।८९।५९ में उक्त है—

"पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी। धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसंग्रहम्॥"

उक्त श्लोक के पश्चात् महाकाल पुरुष कहते हैं—तुम दोनों सर्वश्रेष्ठ पूर्णकाम नरनारायण ऋषि होकर भी सृष्टि संरक्षण हेतु लोकसंग्रह के निमित्त (महद्व्यक्तिगण जिस प्रकार आचरण करते हैं, लोक तदनुरूप आचरण करते हैं, तज्जन्य) धर्माचरण कर रहे हो", केवल श्रीकृष्णार्जुन रूप में ही जनहितकर कार्य्य कर रहे हो, वैसा नहीं किन्तु वैभवान्तर के द्वारा भी जनहितकर कार्य्यानुष्ठान में रत हो, इस अभिप्राय से ही भूमा पुरुष स्तव कर रहे हैं,—स्वयं भगवान् एवं स्वयं भगवान् के सखा होने के कारण ऋषभ हैं। सर्वावतारावतारी श्रेष्ठ हो, पूर्णकाम होकर भी लोकशिक्षा के निमित्त जो जन धर्माचरण करते हैं, उनके मध्य में तुम दोनों नरनारायण ऋषि हो, यहाँ नरनारायण को स्वल्पांश मानकर विभूति के समान उल्लेख किया गया है। अर्थात् नरनारायण, पुरुष के अंश हैं। पुरुष भी कृष्ण का अंश हैं। सुतरां नारायण ऋषि जिस प्रकार श्रीकृष्ण का अंश हैं, नारायण सखा नर ऋषि भी स्वरूपत उस प्रकार कृष्ण सखा अर्जुन का अल्पांश है।

किञ्चित् शक्तिविशिष्ट को विभूति कहते हैं। विभूति स्वरूप में ऋषि प्रभृति, लोकशिक्षा के निमित्त धर्मानुष्ठान करते हैं। श्रीनरनारायण ईश्वर स्वरूप होने पर भी लोकशिक्षा के निमित्त धर्मानुष्ठान करते हैं, तज्जन्य उन दोनों को विभूति शब्द से कहते हैं। केवल महाकाल पुरुष की उक्ति उस प्रकार है, यह नहीं अपितु भागवतस्थ ११।१६।२५ में श्रीभगवान् विभूति वर्णन प्रसङ्ग में स्वयं ही कहे हैं,—मुनियों के मध्य में मैं नारायण हूँ।

धार्मिकशिरोमणिस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र द्विजपुत्रगण को उद्धार करने के निमित्त अवश्य यहाँ पर आयेंगे, इस उद्देश्य से ही महाकालपुरुष ने द्विज बालकों का अपहरण किया था।

बृहत् क्रमसन्दर्भः। नन्वावां नरनारायणौ, त्वमादिनारायणः, कथमावयो दिदृक्षुरसि? तत्राह—पूर्णकामावपीत्याहेत्यादि। अयि सम्बोधने, भो भगवन् श्रीकृष्ण! युवां पूर्णकामावीश्वरौ, यद्यपि श्रीकृष्ण

श्रीकृष्णवाक्यम् (विष्णु-प० ११४।८)—

"मद्दर्शनार्थं ते बाला हृतास्तेन महात्मना। विप्रार्थमेष्यते कृष्णो नागच्छेदन्यथा त्विह ॥"५३॥ इति।

अत्राचरतमित्यर्थे आचरतामिति न प्रसिद्धमित्यतश्च तथा न व्याख्यातम्। तस्मान्महाकालतोऽपि श्रीकृष्णस्यैवाधिक्यं सिद्धम्। दर्शयिष्यते चेदं मृत्युञ्जयतन्त्रप्रकरणेन, तदेतन्महिमानुरूपमेवोक्तम् (भा० १०।८९।६२)—

"निशाम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः।
यत्किञ्चित् पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुभावितम् ॥"५४॥

अत्र महाकालानुभावितमिति तु नोक्तम्। एवमेव स चोक्तलक्षणो भगवान् श्रीकृष्ण एवेति दर्शयितुमाख्यानान्तरमाह (भा० १०।८९।२१)—"एकदा" इति। श्रीस्वामिलिखितैतत् प्रकरणचूर्णिकापि सुसङ्गता भवति।

सर्वसम्वादिनी

[मूल० २९श अनु०] (भा० ११।२१।४२) "किं विधत्ते" इति; अस्य चूर्णिका-प्रघट्टके केश-शब्द-व्याख्याने श्रीहरिवंश-वाक्यानि (विष्णु-प० ५५।४९-५१)—

एवेश्वरः, तथापि तत्सखित्वेनायमर्जुनोऽपि, मे त्वत्सदृशः। तवात्र यावान् स्नेहः, तावानात्मानं विना नान्यत्र भवति। तेन तुल्यं मे द्वयोर्दिदृक्षुत्वमिति युवामिति द्विवचनम्। तर्हि नरनारायणौ काविन्याह— नरनारायणावृषी, मुनी भूत्वा लोकसंग्रहं धर्ममाचरताम्। कीदृशौ? स्थित्यै—स्थितिर्मर्य्यादा, तन्निमित्तमृषभौ श्रेष्ठौ, यद्वा, स्थित्यै, लोक संग्रहं धर्माचरतां मुनीनाम् ऋषभौ ऋषभावतारौ अर्थात् तवैव। उक्तञ्च (भा० १।३।९) "तुर्य्येधर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी" इति। अन्यथा (भा० १।४।२८) एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्युक्तस्यासङ्गतिः॥

श्लोकस्थ "आचरतां" पद—आङ् पूर्व 'चर' धातु शतृ प्रत्ययान्त निष्पन्न है। एवं षष्ठी विभक्ति के बहुवचनान्त है। निर्द्धारण में षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त है। सुतरां नियोगार्थ में लोट प्रयोग के द्वारा 'आचरतं' अर्थ करना असङ्गत है।

श्रीहरिवंशस्थ श्रीकृष्ण वाक्य सुस्पष्ट है—महात्मा भूमा पुरुष ने मुझको देखने के लिए बालकों का अपहरण किया, वे समझते थे कि—श्रीकृष्ण विप्र के लिये अवश्य ही आयेंगे, अन्यथा उनका आगमन यहाँ नहीं होगा। यहाँ 'आचरतं' इस अर्थ को प्रकाश करने के लिए 'आचरतां' प्रयोग प्रसिद्ध नहीं है। अतएव उस प्रकार व्याख्या नहीं की गई। अतएव महाकाल पुरुष से भी श्रीकृष्ण का ही श्रेष्ठत्व सिद्ध हुआ। उक्त श्रेष्ठत्व का वर्णन भा० १०।८९।६२ में श्रीशुकदेव ने किया है।

"निशाम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः। यत्किञ्चित् पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम् ॥
इतीदृशान्यनेकानि वीर्य्याणीह प्रदर्शयन्। बुभूजे विषयान् ग्राम्यानीजे चात्युर्जितैर्मखैः ॥"

अर्जुन ने वैष्णव धामरूप महाकालपुर को देखकर मान लिया था कि—ये सब वैभव श्रीकृष्ण के द्वारा ही सम्पादित हुए हैं। अतएव महाकाल पुरुष का अंश कृष्ण को कहना असङ्गत है। कारण उक्त विषयों में "कृष्णानुकम्पित" ही कहा है, 'भूमापुरुषानुकम्पित' नहीं कहा है। शास्त्रीय तात्पर्य्य का निर्णय उपक्रमोपसंहार रूप षड् विध लिङ्ग से होता है। निखिल भगवत्स्वरूप का वैभव श्रीकृष्ण के अनुग्रह से ही सम्पादित होता है, सिद्धान्त होने से श्रीधरस्वामीकृत भा० १०।८९।२१ की प्रारम्भिक

अथ परकीयान्यपि विरुद्धायमानानि वाक्यानि तदनुगतार्थतया दृश्यन्ते । तत्र श्रीविष्णु-पुराणे (५।१।५६)—"उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ महामुने" इति ; महाभारते—

"स चापि केशौ हरिरुद्ववर्हे, शुक्लमेकमपरश्चापि कृष्णम् ।
तौ चापि केशावाविशतां यदूनां, कुले स्त्रियौ रोहिणीं देवकीञ्च ॥५५॥
तयोरेको बलभद्रो बभूव, योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः ।
कृष्णो द्वितीयः केशवः संबभूव, केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः ॥"५६॥ इति ।

अत्र तात्पर्य्यं श्रीस्वामिभिरित्थं विवृतम् (भा० २।७।२६)—"भूमेः सुरेतरवरूथ-" इत्यादि-पद्ये ।

सर्वसम्वादिनी

'स देवानभ्यनुज्ञाय तदैव त्रिदशालये । जगाम विष्णुः स्वं देशं क्षीरोदस्योत्तरां दिशम् ॥१०॥

टीका का अर्थ भी सुसङ्गत होगा । आपने कहा है—"स चोक्तलक्षणो भगवान् श्रीकृष्ण एवेति दर्शयितुं आख्यानान्तरमाह—एकदेति ।" त्रिदेवी प्रकरण में गुणों के द्वारा श्रीविष्णु का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन के पश्चात् महाकाल पुरुष प्रसङ्ग के द्वारा श्रीकृष्ण का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—एकदेति । इस प्रकरण में श्रीकृष्ण का अंशित्व, एवं कालपुरुष का अंशत्व प्रतिपादित हुआ है । अतएव निखिल संशय निरसनपूर्वक श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" परिभाषा के द्वारा स्थापित हुई ।

"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" भागवतस्थ परिभाषा वाक्य के प्रतिकूल वचनसमूह का समाधान करने के पश्चात् उक्त परिभाषा का विरोधी अपर ग्रन्थों के वचनसमूह का समाधान करते हैं । विष्णुपुराण में उक्त है—क्षीरोदशायी नारायण देवतागण की प्रार्थना हेतु सितकृष्ण केश का उद्धार किए थे । महाभारत में भी उक्त है—उक्त क्षीरोदशायी नारायण—शुक्ल कृष्ण स्वीय केशद्वय का उद्धार किए थे । एक केश रोहिणी में अपर केश देवकी में प्रविष्ट होकर शुक्ल केश से बलराम, कृष्ण केश से कृष्ण का आविर्भाव हुआ । उक्त विवरण से ज्ञात होता है कि—राम-कृष्ण क्षीरोदशायी के केशद्वय के अवतार हैं । किन्तु (भा० २।७।२६)—"भूमे सुरतरवरूथ विमर्द्दितायाः, क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः ।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः, कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि ॥"

टीका—श्रीरामकृष्णावतारमाह—भूमेरिति दशभिः । सुरेतरा असुरांशभूता राजानस्तेषां वरूथैः सैन्यैर्विमर्दिताया भारेण पीड़ितायाः । कलया रामेण सह जातः सन् । कोऽसौ जातः । सितकृष्णौ केशौ यस्य भगवतः स एव साक्षात् । सितकृष्णकेशत्वं शोभैव, नतु वयः परिणामकृतम्, अविकारित्वात् । यदुक्तं विष्णुपुराणे—"उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ महाबलः" इति । यच्च भारते—"स चापि केशौ हरिरुच्चकर्त्त एकं शुक्लमपरश्चापि कृष्णम् । तौ चापि केशावविशतां यदूनां कुलस्त्रियो रोहिणीं देवकीञ्च । तयोरेको बलभद्रो बभूव, योऽसौ श्वेतस्तस्य केशः, कृष्णोद्वितीयः, केशवः सम्बभूव, केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्त" इति, तच्च न केशमात्राभिप्रायं, किन्तु भारावतारणरूपं कार्य्यं कियदेतत् मत् केशावेव तत् कर्त्तुं शक्ताविति द्योतनार्थं रामकृष्णयो र्वर्णसूचनार्थञ्च केशोद्धरणमिति गम्यते । अन्यथा तथैव पूर्वापर-विरोधापत्तेः । कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति विरोधाच्च । कथम्भूतः ? परमेश्वरतया जनैरुपलक्ष्यो मार्ग यस्य तर्हीश्वरत्वे किं प्रमाणम् ? अतिमानुषकर्माण्यथानुपपत्तिरेवेत्याह । आत्मनो महिमा उपनिबध्यते अभिव्यज्यते येषु तानि ।

पद्यार्थः । असुर सैन्य के द्वारा पृथिवी पीड़िता होने से, उसका भारापनोदन हेतु अंश के सहित सित कृष्ण केश प्रकट होकर आत्ममहिमा प्रकाशक बहुविध अलौकिक कर्म करते हैं । किन्तु उनका वर्त्म को कोई नहीं जान सकते हैं ।

सितकृष्णकेश इत्यत्र "सितकृष्णकेशत्वं शोभैव, न तु वयःपरिणामकृतम्, अविकारित्वात्। यच्च (वि० पु० ५।१।५९) 'उज्जहारात्मनः केशौ' इत्यादि। तत्तु न केशमात्रावताराभिप्रायम्, किन्तु भूभारावतरणरूपं कार्य्यं कियदेतत्? मत्केशावेव तत् कर्त्तुं शक्ताविति द्योतनार्थं रामकृष्णयोर्वर्णसूचनार्थञ्च केशोद्धरणमिति गम्यते। अन्यथा तत्रैव पूर्वापरविरोधापत्तेः। (भा० १।३।२८) 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्येतद्विरोधाच्च" इति। इदमप्यत्र तात्पर्य्यं सम्भवति—ननु देवाः! किमर्थं मामेवावतारयितुं भवद्भिराग्रह्यते, अनिरुद्धाख्यपुरुष-प्रकाशविशेषस्य क्षीरोदश्वेतद्वीपधाम्नो मम यौ केशाविव स्वशिरोधार्य्यभूतौ तावेव श्रीवासुदेव-सङ्कर्षणौ स्वयमेवावतरिष्यतः। ततश्च भूभारहरणं ताभ्यामीषत्करमेवेति। अथ "उज्जहारात्मनः केशौ" इत्यस्यैव शब्दार्थोऽपि मुक्ताफलटीकायाम्—"केशौ सुखस्वामिनौ, सितो राम आत्मनः सकाशादुज्जहार उद्धृतवान्। हरिवंशे हि कस्याञ्चिद्गिरिगुहायां भगवान् स्वमूर्त्तिं निक्षिप्य गरुड़ञ्च तत्रावस्थाप्य स्वयमत्रागत इत्युक्तम्। तदुक्तम्—'स देवानभ्यनुज्ञाय' इत्यादि। यैस्तु यथाश्रुतमेवेदं व्याख्यातम्, ते तु न सम्यक् परामृष्टवन्तः,

सर्वसम्वादिनी

तत्र सा पार्वती नाम गुहा देवैः सुदुर्गमा। त्रिभिस्तस्यैव विक्रान्तैर्नित्यं पर्वसु पूजिता ॥११॥

स्वामिकृत तात्पर्य्य—सितकृष्ण केश शब्द से शोभा को जानना होगा, किन्तु वयः कृत परिणामजात केश नहीं है, केश शब्द का अर्थ—शोभा है। श्रीविष्णु—सच्चिदानन्दमय हेतु अविकारी हैं। कालकृत परिणाम श्रीविष्णु में नहीं है। "निज केश उद्धार किए थे" विष्णुपुराण की उक्ति—केशावतार के अभिप्राय सूचक नहीं है। किन्तु भूभार हरणरूप कार्य्य विशेष कष्टसाध्य नहीं है। तज्जन्य मुझको आविर्भूत होना नहीं पड़ेगा, यह अभिप्राय—क्षीरोदशायी का है। मेरा केश उक्त कार्य्य करने में सक्षम है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण बलराम के सहित आविर्भूत होंगे। उन दोनों का वर्ण सूचित करने के लिए स्वीय केश स्पर्श किए थे। पूज्यत्व सूचित करने के निमित्त केश रूप में कथन हुआ है। अन्यथा भा० २।७।२६ की उक्ति में पूर्वापर विरोध होगा। विशेषतः (भा० १।३।२६)—

"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। इन्द्रारि व्याकुलं लोकं मृड़यन्ति युगे युगे॥" इस उक्ति के सहित भी विरोध होगा। किन्तु यहाँ पर इस प्रकार कथन का अभिप्राय सम्भव है—देवगण! मुझको अवतीर्ण होने के लिए क्यों आग्रह करते हैं? अनिरुद्ध नामक तृतीय पुरुष मैं हूँ। श्वेतद्वीप-क्षीरोदशायी नाम से मेरी प्रसिद्धि है। मेरा जो शिरोधार्य्यस्वरूप वासुदेव सङ्कर्षण हैं, स्वयं ही आप दोनों अवतीर्ण होंगे। उन दोनों के लिए भू-भार हरण रूप कार्य्य अति तुच्छ है।

श्रीवोपदेव कृत भागवत श्लोक संग्रह मुक्ताफल नामक ग्रन्थ की हेमाद्रि कृत टीका है। उसमें वोपदेवकृत—"उज्जहारात्मनः केशौ" का अर्थ इस प्रकार है—क ईश—'क' शब्द सुखार्थक है। ईश शब्द का अर्थ, स्वामी है। अर्थात् सुख का स्वामी, अर्थात् सुखाधिपति श्रीरामकृष्ण को निज समीप से प्रकट किए थे। क्षीरोदशायी के केशरूप में रामकृष्ण का आविर्भूत होने की सम्भावना ही नहीं है। हरिवंशस्थ वचन से वह सुस्पष्ट प्रमाणित है। प्रकरण यह है—

"किसी समय अनिरुद्ध, पर्वत कन्दरा में निज मूर्त्ति को स्थापन कर मूर्त्ति रक्षा हेतु गरुड़ को नियुक्त कर स्वयं यहाँ आ गये थे।" कहा भी है—उन्होंने "देवगण को कहकर" इत्यादि। इससे प्रतीत होता

यतः सुरमात्रस्यापि निर्जरत्वप्रसिद्धिः। अकाल-कलिते भगवति जरानुदयेन केशशौक्ल्यानुपपत्तिः। न चास्य केशेषु नैसर्गिक-सितकृष्णतेति प्रमाणमस्ति। अतएव नृसिंहपुराणे कृष्णावतारप्रसङ्गे शक्ति-शब्द एव प्रयुज्यते, न तु केश-शब्दः। तथाहि,—

'वसुदेवाच्च देवक्यामवतीर्य्य यदोः कुले। सितकृष्णे च तच्छक्ती कंसाद्यान् घातयिष्यतः॥'५७॥

इत्यादिना। अस्तु तर्हि अंशोपलक्षणः केश-शब्दः; नो, अविलुप्तसर्वशक्तित्वेन साक्षादादि-पुरुषत्वस्यैव निश्चेतुं शक्यत्वात्, कृष्णविष्ण्वादि-शब्दानामविशेषतः पर्य्यायत्वप्रतीतेश्च। नैवमवतारान्तरस्य कस्य वान्यस्य जन्मदिनं जयन्त्याख्ययातिप्रसिद्धम्। अतएवोक्तं महाभारते—

"भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः। शाश्वतं ब्रह्म परमं योगिध्येयं निरञ्जनम्॥"५८॥ इति।

तस्याकालकलितत्वम् (भा० १०।३।२६) "योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो, चेष्टामाहुः"

सर्वसम्वादिनी

पुराणं तत्र विन्यस्य देहं हरिरुदारधीः। आत्मानं योजयामास वसुदेवगृहे प्रभुः॥'२१॥ इति।

है कि—स्वयं अनिरुद्ध श्रीकृष्ण में प्रविष्ट हुए थे। श्रीकृष्ण में प्रवेश हेतु तदीय श्वेत-कृष्ण केश का आविर्भाव श्रीरामकृष्ण रूप में होना—सर्वथा असङ्गत है। कतिपय व्यक्ति यथाश्रुत व्याख्या ही करते हैं। सितकृष्ण पद से 'शुक्ल कृष्ण केश' अर्थ ही करते हैं, वे सब सम्यक् विचारपूर्वक व्याख्या नहीं करते हैं। कारण,—देवतामात्र ही जरा पलित विवर्जित होते हैं। देवगणों के ईश्वर में कालकृत परिणाम की सम्भावना ही कहाँ है? काल प्रभाव वर्जित भगवान् में जरा का उदय नहीं होता है। अतः वार्द्धक्य हेतु केश शुभ्र होना क्षीरोदशायी में सम्भव नहीं है। पितामह की भाँति नैसर्गिक केश की शुभ्रता, सितता है? इस प्रकार कल्पना में कुछ भी प्रमाण नहीं है। एतज्जन्य ही नृसिंहपुराण में कृष्णावतार प्रसङ्ग में 'शक्ति' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। केश शब्द का प्रयोग नृसिंहपुराण में नहीं है। प्रयोग इस प्रकार है—"वसुदेवाच्च देवक्यामवतीर्य्य यदोः कुले। सितकृष्णे च तच्छक्ती कंसाद्यान् घातयिष्यतः॥" यदुवंशीय वसुदेव से देवकी में अवतीर्ण होकर मेरी शुक्ल-कृष्ण शक्ति—कंसादि को संहार करेगी। किसी का मत है—अंश की उपलक्ष्य करके ही केश शब्द का प्रयोग हुआ है, कथन समीचीन नहीं है। कारण, अविलुप्त निखिल शक्ति का आश्रय होने के कारण श्रीकृष्ण ही एकमात्र साक्षात् आदिपुरुष हैं, इस विषय में अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। कृष्ण विष्णु प्रभृति शब्द पर्य्यायवाचक है। उक्त शब्दसमूह के द्वारा अविशेष से ही पर्य्यायत्व प्रतीत होता है। विशेषतः किसी भी अवतार का जन्मदिन 'जयन्ती' आख्या से अभिहित नहीं होता है। श्रीकृष्ण जन्मदिन का नाम ही जयन्ती है। तज्जन्य महाभारत में उक्त है—इस ग्रन्थ में सनातन भगवान् वासुदेव कीर्त्तित हैं। वह योगिध्येय निरञ्जन शाश्वत परमब्रह्म हैं।

श्रीभगवान् कृष्ण कालकलित नहीं हैं, देवकीदेवी के वाक्य से उसका सुस्पष्टीकरण हुआ है। (भा० १०।३।२६)—"योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो, चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम्।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयां, स्तं त्वेशानं क्षेमधामं प्रपद्ये॥"

टीका—किञ्च एवं प्रलयहेतुर्योऽयं काल एनम्। हे अव्यक्तबन्धो प्रकृतिप्रवर्त्तक! तस्य प्रलयावधि-भूतस्य ते तव चेष्टां लीलाम्। चेष्टते विपरिवर्त्तते। पुनः पुनर्वत्सरावृत्त्या महीयान् द्विपरार्द्धरूपः यस्य

इत्यादौ श्रीदेवकीदेवी-वाक्ये (भा० १।११।६)—

"नताः स्म ते नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं, विरिञ्चिवैरिञ्च्यसुरेन्द्रवन्दितम्।
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं, न यत्र कालः प्रभवेत् परः प्रभुः ॥"५६॥

इत्यादौ श्रीद्वारकावासिवाक्ये च प्रसिद्धम्। अतो यत् प्रभासखण्डे केशस्य बालत्वमेव च तत् सितिम्नः कालकृतपलितलक्षणत्वमेव च दर्शितम्, तस्य शरीरिणां शुष्क-वैराग्यप्रतिपादन-प्रकरणपतितत्वेन सुरमात्रनिर्जरता-प्रसिद्धत्वेन चामुख्यार्थत्वान्न स्वार्थे प्रामाण्यम्। (गरुड़-पु० पूर्वखण्डं ११३।१५) "ब्रह्मा येन" इत्यारभ्य "विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो

सर्वसम्वादिनी

[मूल० ५०श अनु०] (भा० १०।१२।४०)—

"इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः, श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं पवित्रम्।
पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं, वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः ॥"१३॥ इति।

चेष्टामाहुस्तं त्वा त्वां क्षेमधाम अभयस्थानं प्रपद्ये शरणं व्रजामि।

हे प्रकृतिप्रवर्त्तक भगवान्! निमेषादि वत्सर पर्य्यन्त विभाग के अनुसार द्विपरार्द्ध वत्सररूप काल, जिससे विश्व परिवर्तित हो रहा है, तत्त्वज्ञ सुधीगण उसे आपकी लीला कहते हैं। अर्थात् उक्त काल—आपकी लीलाभिव्यक्तिकारिणी उक्ति है। अतएव आप ही एकमात्र अभय स्थान हैं, मैं शरणापन्न हूँ।

भा० १।११।६ में वर्णित है—"नताः स्म ते नाथ सदाङ्घ्रिपङ्कजं विरिञ्चिवैरिञ्च्य सुरेन्द्रवन्दितम्।
परायणं क्षेममिहेच्छतां परं न यत्र कालः प्रभवेत् परः प्रभुः ॥"

टीका—किमुचुरित्याह—विरिञ्चो ब्रह्मा, वैरिञ्च्योः सनकादयः। इह—संसारे परं क्षेममिच्छतां परायणं परमं शरणम्। कुतः? परेषां ब्रह्मादीनां प्रभुरपि कालो यत्र प्रभुर्न भवेत् ॥

श्रीभगवान् का अधीन ही काल है, काल का अधीन भगवान् नहीं हैं। द्वारकावासि के वाक्य में प्रसिद्ध है—हे नाथ! ब्रह्मा ब्रह्मपुत्र सनकादि, एवं इन्द्रादि जिनके चरण की वन्दना करते हैं, जो श्रीचरण मङ्गलाभिलाषी व्यक्तियों का परमाश्रय है, ब्रह्मादि का परम प्रभु काल भी जिनके निकट प्रभाव विस्तार करने में असमर्थ है, हम सब उन चरणों को प्रणाम करते हैं।

द्वारकावासियों के वाक्य में उक्त विवरण सुस्पष्ट है। अतएव प्रभासखण्ड में केश शब्द का बाल अर्थ ही किया गया है, एवं "उक्त केश, कालकृत अर्थात् वार्द्धक्यजनित पालित्य के कारण शुक्ल हुआ है" इस प्रकार वर्णन भी है। उसका अभिप्राय यह है कि—शरीरी मानव को वैराग्य उपदेश प्रदान करना है। वह शुष्क वैराग्य प्रतिपादन प्रकरण में सार्थक होता है। कारण भ्रान्त जीव जरा-वार्द्धक्य अवस्था में उपनीत होकर भी देहेन्द्रिय को तृप्त करने में मुग्ध होता है। शरीरमात्र ही जब विनाशी है, तब व्यर्थ विषयासक्ति को छोड़कर श्रीविष्णु के उपदेश को हृदय में स्थान देना आवश्यक है। इसको व्यञ्जित करने के लिए ही श्रीविष्णु के शरीर में कालकृत प्रभाव का वर्णन करते हैं। वास्तविक तथ्य तो यह है कि—देवतामात्र का परिचायक अपर शब्द 'निर्जरा' है। देवतामात्र में जब निर्जरत्व है, अर्थात् कालकृत प्रभावरूप जराशून्यता है, तब उक्त प्रकार यथाश्रुत अर्थ का मुख्यार्थ होने की सम्भावना ही नहीं है। अर्थात् श्रीविष्णु का केश—प्राकृत मानव के केश के समान वार्द्धक्य से शुभ्र हो गया है, इस प्रकार अर्थ अप्रामाणिक ही है।

गरुड़पुराण के पूर्वखण्ड में वर्णित है—"ब्रह्मा येन" जिनके द्वारा ब्रह्मा का भी सङ्कट उपस्थित हुआ,

महासङ्कटे, रुद्रो येन कपालपाणिरभितो भिक्षाटनं कारितः" इत्यादौ "तस्मै नमः कर्मणे" इति गारुड़वचनवत्। किञ्च, तत्प्रतिपादनाय मत्स्याद्यवताराणां मत्स्यादि-शब्द-साम्येन छलोक्तिरेवेयम्; यथा,—

"अहो कनकदौरात्म्यं निर्वक्तुं केन शक्यते। नाम-साम्यादसौ यस्य धुस्तुरोऽपि मदप्रदः॥"६०॥

इति शिवशास्त्रीयत्वाच्च नात्र वैष्णवसिद्धान्तविरुद्धस्य तस्योपयोगः। यत उक्तं स्कान्द एव षण्मुखं प्रति श्रीशिवेन—"शिवशास्त्रेऽपि तद्ग्राह्यं भगवच्छास्त्रयोगि यत्" इति। अन्यतात्पर्य्यकत्वेन स्वतस्तत्राप्रामाण्याद्युक्तञ्चैतत् (भा० ११८।५२) "यथा पङ्केन पङ्काम्भः"

सर्वसम्वादिनी

[मूल० ५१श अनु०] (भा० १०।७।१-२)—

"येन येनावतारेण भगवान् हरिरीश्वरः। करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो॥१४॥

विष्णु भी महा सङ्कटग्रस्त हुए, अर्थात् मत्स्य, कूर्म, वराह प्रभृति अवतार ग्रहण करने में बाध्य हुए। रुद्र भी कपालपाणि होकर सर्वत्र भिक्षा करने में विवश हुए, उक्त कर्म को नमस्कार। गरुड़पुराण की कर्ममहिमा के समान ही प्रभासखण्डोक्त वर्णन को 'छलोक्ति' रूप में जानना होगा। "अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्यार्थान्तरं प्रकल्प्य दूषणं छलम्।" अन्य अभिप्राय से कथित शब्द की अर्थान्तर कल्पना के द्वारा दोष प्रदर्शन करना ही छल है। जनशिक्षा के लिए ब्रह्मादि ईश्वरवर्ग स्वतः ही उस प्रकार अनुष्ठान करते हैं, कर्माधीन होकर नहीं। वे सब निरभिमानी कर्मकर्त्ता हैं। और भी छलोक्ति का दृष्टान्त है—"अहो कनकदौरात्म्यं निर्वक्तुं केनशक्यते। नामसाम्यादसौ यस्य धुस्तरोऽपि मदप्रदः॥" शब्दसाम्य से छलोक्ति का यह दृष्टान्त है। देखो! कनक दौरात्म्य का वर्णन करने में कौन सक्षम होगा? नाम साम्य होने से धतूरा सेवन से भी मत्तता होती है। यहाँ धुस्तुर में स्वभावतः ही मादकता है, धनी व्यक्ति स्वाभाविक धन मद से गर्वित होता, इसको कहने के लिए 'कनक' शब्द की समानता से छलोक्ति सार्थक हुई है। देखो! जहाँ भी कनक शब्द रहता है, वहाँ मत्तता भी रहती है। 'धतूरा' में कनक शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः वह भी मत्तताकारक है।

वस्तुतः स्कन्दपुराणीय प्रभासखण्डोक्त केशावतार प्रसङ्ग, शिवशास्त्रोक्त होने के कारण वह वैष्णव सिद्धान्त विरुद्ध ही है। अतः वैष्णव सिद्धान्त स्थापन में श्रीविष्णु के अनुमत शास्त्रसिद्धान्त ही आदरणीय है। शिव शास्त्रोक्त सिद्धान्त शैव के लिए उपयुक्त है। कारण स्कन्दपुराण में श्रीशिव ने षण्मुख के प्रति कहा भी है—जो भी वचन भगवत् शास्त्र के अनुकूल हो, विष्णु प्रतिपादन के लिए शिवशास्त्र के उक्त वचनसमूह ही आदरणीय हैं।

प्रभासखण्डोक्त वचनसमूह शुष्क वैराग्य प्रतिपादनरूप अन्य तात्पर्य्य से लिखित होने के कारण स्कन्दपुराणीय श्रीशिव के वचन के द्वारा ही अप्रामाण्य बोधक हैं। भा० ११८।५२ में उक्त है—

"यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्। भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति॥"

टीका—ननु च सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन नश्येदेवेत्याशङ्क्य अविवेकविजृम्भितं हेतुवादमाश्रित्य निराकरोति यथेति। यथा पङ्केन पङ्काम्भो न मृज्यते, यथा वा सुरालेशकृतमपावित्र्यं बह्वयो सुरया न मृज्यते तथैव भूतहत्यामेकां प्रमादतो जातां बुद्धिपूर्वकहिंसाप्रायैर्यज्ञैर्मार्ष्टुं शोधयितुं नार्हतीति॥

जैसे कर्दम के द्वारा कर्दमाक्त जल की शुद्धि नहीं होती है, वैसे तामस शास्त्र के द्वारा कामनान्ध

इत्यादिवत् । पाद्मोत्तरखण्डे च शिवप्रतिपादकानां पुराणानामपि तामसत्वमेव दर्शितम् । मात्स्येऽपि तामसकल्पकथामयत्वमिति । युक्तञ्च तस्य वृद्धसूतस्य श्रीभागवतमपठितवतः श्रीबलदेवावज्ञातुः श्रीभगवत्तत्त्वासम्यग्ज्ञानजं वचनम् (भा० १०।७७।३०) "एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः केचनान्विताः" इतिवत् । एतादृश-श्रीभागवत-वाक्येन स्वविरुद्धपुराणान्तरवचन-बाधनञ्च । (छा० ८।१।६) "यथेहकर्मजितो लोकः क्षीयते" इत्यादि-वाक्येन (ऋक्० ८।४८।३) "अपाम सोमममृता अभूम" इत्यादि-वचनबाधनवज्ज्ञेयम् । अत्रापि (भा० १०।७७।३०) "यत् स्ववाचो विरुध्येत नूनं ते न स्मरन्त्युत" इति युक्तिसद्भावो दृश्यते । तत्रैवात्मनः

सर्वसम्वादिनी

यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णा, सत्त्वञ्च शुध्यत्यचिरेण पुंसः ।
भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं, तदेव हारं वद मन्यसे चेत् ॥"१५॥ इति ।

जीव का अज्ञानान्धकार विनष्ट नहीं होता है । उक्त उदाहरण के समान ही जानना होगा, तामस पुराणोक्त सिद्धान्त के द्वारा संशयापनोदन नहीं होता है । पाद्मोत्तर खण्ड में शिव प्रतिपादक पुराणसमूह का तामसत्व प्रतिपादित हुआ है । मत्स्यपुराण में भी कथित है,—"उक्त पुराणसमूह, तामसकल्प कथामय हैं ।

कह सकते कि—श्रीमद्भागवत वक्ता जिस प्रकार सूत है, उस प्रकार अन्यान्य पुराण के प्रवक्ता भी सूत ही है । श्रीसूत कथित श्रीमद्भागवत का जिस प्रकार प्रामाण्य है, उस प्रकार सूत कथित अन्यान्य पुराणों का भी प्रामाण्य है ? इस प्रकार कथन युक्तियुक्त नहीं है । कारण—स्कन्दपुराण के वक्ता वृद्ध सूत रोमहर्षण हैं, उन्होंने श्रीमद्भागवत का अध्ययन नहीं किया, जिस समय श्रीबलराम ने "उनको अवज्ञा करने के कारण—नैमिषारण्य में वृद्ध सूत की हत्या की, उस समय श्रीभागवत का प्रचार नहीं हुआ था । अतः श्रीमद्भागवत अध्ययन से ही भगवत्तत्त्व का सम्यक् ज्ञान होता है । श्रीभागवत अध्ययन न होने से ही वृद्ध सूत ने श्रीबलदेव की अवज्ञा की, उससे उनका विनाश भी हुआ । भा० १०।७७।३० में उक्त है—"एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः केचनान्विताः ।
यत् स्ववाचो विरुध्येत नूनं ते न स्मरन्त्युत ॥"

टीका—एवं परमतमुपन्यस्तं निराकरोति एवमिति, केच केचन, नान्विताः अनन्विताः पूर्वापरानुसन्धानरहिता । तदाह यत् स्ववाच इति । तन्नानुस्मरन्तीत्यर्थः । अयमभिप्रायः, न तावत् राजसूयार्थं रामेण सह गतः श्रीकृष्णः । सङ्कर्षणमनुज्ञाप्येति पूर्वमुक्तत्वात् ।

श्रीशुकदेव महाराज परीक्षित को कहे थे—राजर्षे ! पूर्वापर अनुसन्धानरहित ऋषिगण उस प्रकार करते हैं । अर्थात् शोक-मोहातीत श्रीकृष्ण आसुरी माया से मुग्ध होकर शोकार्त्त हुए थे । यह वार्त्ता जिस प्रकार असङ्गत है, उस प्रकार वृद्ध सूत ने भी कहा है । श्रीविष्णु के मस्तक में विद्यमान श्वेत-कृष्ण केश के अवतार ही श्रीरामकृष्ण हैं । अतएव श्रीमद्भागवत प्रमाण के विरुद्ध आख्यान समूह का निरास श्रीमद्भागवत वचनों से ही होता है । ऋषि वाक्य के द्वारा ऋषि वाक्य का बाधित होना आश्चर्य्यजनक नहीं है । कारण, श्रुतिविशेष के द्वारा श्रुत्यन्तर की बाधा होती है । श्रुति कहती है—इस जगत् में प्रयत्नोत्पन्न शस्यादि का विनाश जिस प्रकार होता है, उस प्रकार पुण्यलब्ध स्वर्गादि लोक भी विनष्ट होते हैं । अतएव उक्त श्रुति के द्वारा "स्वर्ग में जाकर अमृत पान करेंगे, अमर बनेंगे ।" इस प्रकार अमरत्व प्राप्ति का बाधक पूर्वश्रुति संवाद है । श्रीशुक ने कहा भी है—ऋषिगण पूर्वापर स्मरण न करके ही विषय

सन्दिग्धत्वमेव तेन सूतेन व्यञ्जितम्; (म० भा० उद्यमपर्वणि)—"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" इत्यादिना। किञ्च, तत्रैवोत्तरग्रन्थे चन्द्रस्य कलङ्कापत्तिकारण-कथने श्रीकृष्णावतारप्रसङ्गे स्वयं विष्णुरेवेत्युक्तत्वात् स्वेनैव विरोधश्च। तस्मान्न केशावतारत्वेऽपि तात्पर्य्यम्, 'केश'-शब्दस्य बालत्ववाचनञ्च। छलतो भगवत्तत्त्वाज्ञानतो वेति स्थितम्। अतो वैष्णवादि-पद्यानां शब्दोत्थमर्थमेवं पश्यामः;—

"अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिताः। सर्व्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्मुनिसत्तम ॥६१॥

इति सहस्रनामभाष्योत्थापित-भारतवचनात् 'केश'-शब्देनांशुरुच्यते। तत्र च सर्वत्र केशेतरशब्दाप्रयोगात् नानावर्णांशूनां श्रीनारददृष्टतया मोक्षधर्मप्रसिद्धेश्च। तथा चांशुत्वे लब्धे तौ चांशू वासुदेव-सङ्कर्षणावतारसूचकतया निर्दिष्टाविति तयोरेव स्यातामिति गम्यते।

सर्वसम्वादिनी

[मूल० ५३श अनु०] (भा० १०।१।१५)—

"सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम।
वासुदेव-कथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः॥"१६॥ इति।

का वर्णन करते हैं। सुतरां पूर्व कथित वाक्य के सहित उत्तर वाक्य का विरोध होता है। सुतरां उक्त कथन अप्रामाण्य है। वृद्ध सूत—भगवत्तत्त्व विषय में निःसन्दिग्ध नहीं थे। अतएव स्वयं ही कहा है—"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" इत्यादिना। जो सब भावपदार्थ वाक्य मन के अगोचर हैं, उन सबको प्राकृत युक्ति-तर्क के द्वारा जानने की चेष्टा न करें। प्रकृत्यतीत वस्तु को ही अचिन्त्य कहते हैं। प्राकृतिक सत्त्व गुण से मन उत्पन्न होता है। अहङ्कार, महत्तत्त्व अनन्तर प्रकृति, उसके बाद ज्ञेय तत्त्व अवस्थित है, अतः अहङ्कारबद्ध मन कैसे परमतत्त्व को जान सकता है?

प्रभासखण्ड के उत्तरभाग में चन्द्र की कलङ्क प्राप्ति का विवरण वर्णित है, उसमें जो श्रीकृष्णावतार प्रसङ्ग है, उसमें सुस्पष्ट वर्णित है—श्रीविष्णु स्वयं ही श्रीकृष्ण रूप में आविर्भूत हुए हैं। इसके पहले कहा है,—श्रीविष्णु का केशावतार श्रीकृष्णावतार है। उसके बाद ही कहते हैं—"श्रीविष्णु ही स्वयं श्रीकृष्ण रूप में अवतीर्ण हैं। इससे निज वाक्य में पूर्वापर विरोध विद्यमान है। अतएव स्वीय केश प्रदर्शनपूर्वक क्षीरोदशायी का कथन स्वीय केशावतार पर नहीं है, केश शब्द इस प्रकरण में "बाल" अर्थ भी नहीं है। वक्ता की छलोक्ति से अथवा श्रीभगवद्विग्रह में कालकृत प्रभाव नहीं है। भगवद्विग्रह सच्चिदानन्द है, कालकृत परिणामरहित है, इस विषय में अनभिज्ञता के कारण ही केशावतार का अर्थ बाल का अवतार है, कथन हुआ है। अतएव विष्णुपुराण प्रभृति में जो अवतार विषयक पद्य है, उसका शब्दार्थ इस प्रकार है—मुझ में विद्यमान ज्योतिसमूह का नाम केश है, हे मुनिसत्तम! तज्जन्य सर्वज्ञगण मुझको केशव नाम से कहते हैं। यह सहस्रनामोत्थापित भारत वचन है, 'केश' शब्द का अर्थ अंशु है।

श्रीविष्णुपुराण प्रभृति ग्रन्थ में श्रीकृष्णावतार का वर्णन है। उसमें केश शब्द भिन्न अन्य शब्द का प्रयोग है। श्रीनारद ने भी नानावर्ण के ज्योतिसमूह का दर्शन किया था। मोक्षधर्म में उसका विशेष वर्णन है, उक्त प्रमाणसमूह से केश शब्द का अंशु अर्थ ही प्रतीत होता है। अतएव उक्त शुक्लकृष्ण ज्योति का उल्लेख श्रीवासुदेव सङ्कर्षण अवतार का सूचक है। उक्त ज्योतिद्वय श्रीवासुदेव-सङ्कर्षण के

तदीययोरपि तयोरनिरुद्धेऽभिव्यक्तिश्च युज्यत एव। अवतारितेजोऽन्तर्भूतत्वादवतारस्य; एवमेव (भा० १।२।२३) "सत्त्वं रजस्तमः" इत्यादि-प्रथमस्कन्धपद्यप्राप्तमनिरुद्धाख्यपुरुषावतारत्वं (भा० ५।१७।१६) "भवानीनाथैः" इत्यादि-पञ्चमस्कन्धगद्यप्राप्तं सङ्कर्षणावतारत्वञ्च भवस्य सङ्गच्छते। ततश्च "उज्जहार" इत्यस्यायमर्थः—आत्मनः सकाशात् श्रीवासुदेव-सङ्कर्षणांशभूतौ केशावंशू उज्जहार उद्धृतवान् प्रकटीकृत्य दर्शितवानित्यर्थः। अत्रायं

सर्वसम्वादिनी

[मूल० ६२तम अनु०] (भा० १।५।३७-३८)—

"नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि। प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥१७॥

निजस्व है, श्रीअनिरुद्ध के नहीं है। श्रीवासुदेव-सङ्कर्षण के तेज की अभिव्यक्ति अनिरुद्ध में समीचीन है। कारण अवतार-अवतारी के तेज में अन्तर्भुक्त होता है। श्रीरामकृष्ण के अंशावतार अनिरुद्ध है। भा० १।२।२३ में उक्त—"सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते।
स्थित्यादये हरिविरिञ्चि हरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनो नृणां स्युः ॥"

क्रमसन्दर्भः। तदेवं कर्मज्ञानवैराग्ययत्नपरित्यागेन भगवद्भक्तिरेव कर्त्तव्येति मतम्। कर्मविशेषरूपं देवतान्तरभजनमपि न कर्त्तव्यमित्याह, सप्तभिः—तत्र अन्येषां का वार्त्ता, सत्यपि श्रीभगवत एव गुणावतारत्वे श्रीविष्णुवत् साक्षात् परब्रह्मत्वाभावात् सत्त्वमात्रोपकारकत्वाभावाच्च; प्रत्युत रजस्तमो वृंहणत्वाच्च ब्रह्मशिवावपि श्रेयोर्थिभिर्नोपास्यावित्याह—इह यद्यपि एक एव परः पुमान् अस्य विश्वस्य स्थित्यादये स्थितिसृष्टिलयार्थं तैः सत्त्वादिभिर्युक्तः पृथक् पृथक् तत्तदधिष्ठाता, तथापि परस्तत्तदसंश्लिष्टः सन् हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञा भिन्ना धत्ते—तत्तद्रूपेणाविर्भवतीत्यर्थः। तत्रापि तत्र तेषां मध्ये श्रेयांसि धर्मार्थकाममोक्षभक्त्याख्यानि शुभफलानि सत्त्वतनोरधिष्ठित सत्त्व शक्तेः श्रीविष्णोरेव स्युः। अयम्भावः, उपाधिदृष्ट्या तौ द्वौ सेवमाने रजस्तमसो र्घोरमूढ़त्वात् भवन्तोऽपि धर्मार्थकामानातिसुखदा भवन्ति। तथोपाधिपरित्यागेन सेवमाने भवन्नपि मोक्षो न साक्षान्न च झटिति, किन्तु परमपि परमात्मांश एवायमित्यनुसन्धानाभासेनैव परमात्मन एव भवति। तत्र तत्र साक्षात् परमात्माकारेण अप्रकाशात्। तस्मात्ताभ्यां श्रेयांसि न भवन्तीति। अथोपाधिदृष्ट्यापि श्रीविष्णु सेवमाने सत्त्वस्य शान्तत्वाद् धर्मार्थकामा अपि सुखदाः ॥

अतएव उक्त सिद्धान्त सङ्गति हेतु भा० १।२।२३ श्लोक का उल्लेख कर कहते हैं—"रजः, सत्त्व, तमः, गुणत्रय के योग से सृष्टि-स्थिति-संहार हेतु एक ही पुरुष ब्रह्मा, विष्णु, शिव, त्रिविध नाम धारण करते हैं। सान्निध्यमात्र से सत्त्वगुण का उपकारकत्व हेतु मानवकल्याण श्रीविष्णु से ही मानवों का मङ्गल होता है। प्रस्तुत श्लोक में शिव को अनिरुद्ध का अवतार कहा गया है। भा० ५।१७।१६ गद्य में उक्त है, —भवानी प्रभृति असंख्य रमणीगण के सहित श्रीशिव निज प्रकृति—श्रीसङ्कर्षणदेव की उपासना करते हैं। यहाँ श्रीशिव को श्रीसङ्कर्षणदेव का अवतार कहा गया है। "भवानीनाथैः स्त्रीगणार्वुदसहस्रै रवरुध्यमानो भगवतश्च मूर्त्तेर्महापुरुषस्य तुरीयां तामसीं मूर्त्तिं प्रकृतिमात्मनः सङ्कर्षणसंज्ञामात्मसमाधिरूपेण सन्निधाप्यै तदभिगृणन् भव उपधावति ॥

टीका—"आत्मनः प्रकृतिं—कारणम्।" यहाँ पर विरोध नहीं है। कारण—अनिरुद्ध में श्रीसङ्कर्षण का तेजः विद्यमान है। सुतरां श्रीशिव को उभय का अवतार रूप में कथन हुआ है।

"उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ महामुने।" विष्णुपुराणीय "सितकृष्णकेशौ" पद की व्याख्या करने के बाद "उज्जहार" पद की व्याख्या करते हैं, उक्त उज्जहार पद का अर्थ इस प्रकार है—श्रीअनिरुद्ध

सुमेरुरित्येकदेशदर्शनेनैवाखण्डसुमेरुनिर्द्देशवत्तद्दर्शनेनापि पूर्णस्यैवाविर्भावनिर्द्देशो ज्ञेयः। अथ स चापि केशावित्यादिक-व्याख्या। 'उद्ववर्हे' योगबलेनात्मनः सकाशाद्विच्छिद्य दर्शयामास। स चापिति 'च'-शब्दः पूर्वमुक्तं देवकर्त्तृकं निवेदनरूपमर्थं समुच्चिनोति। 'अपि'-शब्दस्तदुद्वर्हणे श्रीभगवत्सङ्कर्षणयोरपि हेतुकर्त्तृत्वं सूचयति। तौ चापीति 'च'-शब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थत्वेन भगवत्-सङ्कर्षणौ स्वयमाविविशतुः। पश्चात्तौ च तत्तादात्म्येनाविविशतुरिति बोधयति। 'अपि'-शब्दो यत्रानुस्यूतावमू, सोऽपि तदंशा अपीति गमयति। "तयोरेको बलभद्रो बभूव" इत्यादिकन्तु "नरनारायणो भवेत्। हरिरेव भवेन्नरः" इत्यादिवत्तदैक्यावाप्त्यपेक्षया। केशवः श्रीमथुरायां केशवस्थानाख्यमहायोगपीठाधिपत्वेन प्रसिद्धः, स एव कृष्ण इति।

सर्वसम्वादिनी

इति मूर्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्त्तिममूर्त्तिकम्। यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान्॥"१८॥ इति।

निज में स्थित अंशीस्वरूप श्रीवासुदेव सङ्कर्षण के तेजः को केशद्वय रूपमें सूचित किए थे, अर्थात् प्रकटकर दिखाए थे। अखण्ड सुमेरु पर्वत को दृष्टिगोचर कराने के निमित्त जिस प्रकार अङ्गुलि निर्देश कर कहा जाता है, यह ही सुमेरु है। उस प्रकार श्रीरामकृष्ण के किञ्चिन्मात्र शुक्लकृष्ण तेजः को दर्शाकर परिपूर्ण स्वरूप श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव को सूचित, श्रीक्षीरोदशायी ने किया है।

"स चापि केशौ हरिरुद्ववर्हे शुक्लमेकमपरञ्चापि कृष्णं तौ चापि केशवाविशतां यदूनां कुले स्त्रियौ रोहिणीं देवकीञ्च। तयोरेको बलभद्रोसंबभूव योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः, कृष्णो द्वितीय केशवः संबभूव केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः॥"

देवगण के द्वारा प्रार्थित होकर श्रीअनिरुद्ध हरि केशद्वय को उत्पाटित किए थे। उनमें से एक कृष्णवर्ण, अपर शुक्लवर्ण था। उक्त केशद्वय—यदुकुल सीमन्तिनी रोहिणी देवकी में आविष्ट हुए थे।

उक्त श्लोकद्वय की व्याख्या—"उद्ववर्हे" योगबल से निज स्वरूप से पृथक् करके दिखाए थे। 'स चापि' पद का 'च' शब्द समुच्चयार्थ में प्रयुक्त है। उससे देवगण के प्रार्थनानुसार भू-भार हरणार्थ अवतार प्रसङ्ग सूचित हुआ है। 'अपि' शब्द से बोध होता है कि—अंश की सामर्थ्य अंशी के तेजः सूचन में नहीं है, किन्तु अनिरुद्ध के उक्त कार्य्य के प्रति श्रीरामकृष्ण ही प्रयोजक कर्त्ता हैं। अर्थात् श्रीरामकृष्ण की इच्छा से ही क्षीराब्धिशायी सितकृष्ण केशरूप वर्ण की सूचना किए थे।

"तौ चापि" पदस्थ 'च' शब्द का अर्थ अनुक्त समुच्चय है। उससे बोध होता है कि—श्रीरोहिणी देवकीदेवी में श्रीरामकृष्ण स्वयं ही प्रविष्ट हुए थे। पश्चात् श्रीरामकृष्ण में उक्त श्रीविष्णु के द्वारा प्रकाशित शुक्लकृष्ण ज्योतिः तादात्म्य प्राप्त हुई। 'अपि' शब्द के द्वारा सूचित होता है कि—जिन श्रीविष्णु में सितकृष्ण केश प्रकाशित हुआ था, वह केश, एवं श्रीविष्णु—अर्थात् श्रीविष्णु के अंशसमूह भी उक्त श्रीकृष्ण में प्रविष्ट हुए थे। उक्त सितकृष्ण केश के मध्य में 'तयोरेकः' "बलभद्रो बभूव" एक बलराम हुए थे। इसका तात्पर्य्य है,—नर—नारायण होते हैं, नारायण—नर होते हैं। इस उक्ति में जिस प्रकार उभय का तादात्म्य बोध होता है, तद्रूप सितकृष्ण केश, श्रीविष्णु में प्रकाशित शुक्ल केश—श्रीबलराम में तादात्म्य प्राप्त हुआ था।

"केशव" शब्द प्रयोग से मथुरास्थ केशव स्थान नामक महायोग पीठ का अधिपति श्रीकेशव का बोध होता है। आप ही श्रीकृष्ण हैं। अर्थात् प्रकटलीला के अप्रकट के समय श्रीमथुरा में जो श्रीकेशव विग्रह बिराजित हैं। प्रकट लीला में आप ही श्रीकृष्ण रूप में श्रीदेवकीदेवी से आविर्भूत हुए थे।

अतएवोदाहरिष्यते (भा० २।७।२६)—"भूमेः सुरेतर-' इत्यादि। श्रीनृसिंहपुराणे तु "सितकृष्णे च मच्छक्ती" इति तत्तद्वर्णनिर्द्देशेनांशुवाचक एव शक्तिशब्द इति तत्तुल्यतात्पर्य्यापेक्षया। श्रीमद्भागवतस्य तु नैषा प्रक्रियावकलिता। तस्मात् (भा० १०।७७।३०) "एवं वदन्ति राजर्षे"

सर्व्वसम्वादिनी

[मूल० ८१तम अनु०] "सात्वताम्" इति। एतदनन्तरं गतिसामान्य-प्रकरणे श्रीकृष्णनाममाहात्म्ये

महाभारत का यह ही अभिप्राय है।

भा० २।७।२६ में उक्त है—"भूमेः सुरेतरावरूथ विमर्दितायाः,
क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः,
कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि॥"

स्वामिटीका—श्रीकृष्णावतारमाह—भूमेरिति दशभिः। सुरेतरा, असुरांशभूता राजानस्तेषां वरूथैः सैन्यैर्विमर्दितायाः भारेण पीड़ितायाः। कलया रामेण सह जातः सन्। कोऽसौ जातः। सितकृष्णौ केशौ यस्य भगवतः स एव साक्षात्। सितकृष्णकेशत्वं शोभैव, नतु वयः परिणामकृतम्, अविकारित्वात्। यदुक्तं विष्णुपुराणे—"उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ महाबलः" इति। यच्च भारते—"स चापि केशौ हरिरुच्चकर्त्त एकं शुक्लमपरञ्चापि कृष्णम्। तौ चापि केशावविशतां यदूनां कुले स्त्रियौ रोहिणीं देवकीञ्च। तयोरेको बलभद्रो बभूव, योऽसौ श्वेतस्तस्य केशः, कृष्णोद्वितीयः, केशवः सम्बभूव, केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्त" इति, तच्च न केशमात्राभिप्रायं, किन्तु भारावतारणरूपं कार्य्यं कियदेतत् मत् केशावेव तत् कर्त्तुं शक्ताविति द्योतनार्थं रामकृष्णयोर्वर्णसूचनार्थञ्च केशोद्धरणमिति गम्यते। अन्यथा तथैव पूर्वापर-विरोधापत्तेः। कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति विरोधाच्च। कथम्भूतः? परमेश्वरतया जनैरुपलक्ष्यो मार्गो यस्य तर्हीश्वरत्वे किं प्रमाणम्? अतिमानुषकर्माण्यथानुपपत्तिरेवेत्याह। आत्मनो महिमा उपनिबध्यते अभिव्यज्यते येषु तानि। (२।७।२६)

विश्व पालन—श्रीविष्णु रूप से होता है। श्रीविष्णुस्वरूप में प्रकाशित शुक्ल कृष्ण ज्योतिः का प्रवेश श्रीरामकृष्ण में हुआ था, उसका विवरण भा० २।७।२६ में है—"पृथिवी, असुर स्वभावाक्रान्त राजन्यवर्ग के सैन्यवृन्द के द्वारा भाराक्रान्त होने से भार हरण करने के निमित्त सितकृष्ण केश श्रीविष्णु कला में अवतीर्ण हैं।" पृथिवी का भार हरणकार्य्य श्रीविष्णु का है, श्रीरामकृष्ण का नहीं है। किन्तु अवतार के समय श्रीविष्णु श्रीरामकृष्ण में प्रविष्ट होने से उनके द्वारा ही असुर कुल का विनाश साधन होता है। अतएव कहा गया है कि—श्रीरामकृष्ण पृथिवी का भारापनोदन के निमित्त अवतीर्ण हुए हैं।

महाभारतोक्त विरोध का समाधान करके नृसिंहपुराणोक्त सितकृष्ण केशोक्त सिद्धान्त की सङ्गति का प्रदर्शन करते हैं। श्रीनृसिंहदेव ने कहा—"शुक्लकृष्णरूप मेरी शक्ति अवतीर्ण होकर कंस को विनष्ट करेगी।" शुक्लकृष्ण वर्ण निर्देश के द्वारा अंशुवाचक शक्ति शब्द का प्रयोग हुआ है, तत्तुल्य तात्पर्य्य से ही उस प्रकार प्रयोग हुआ है। अर्थात् श्रीनृसिंहदेव की शक्ति श्रीरामकृष्ण में प्रविष्ट होकर असुरों की हत्या करेगी। किन्तु श्रीमद्भागवत की वर्णन प्रक्रिया अन्य पुराणों की वर्णन प्रक्रिया से भिन्न है। अतएव भा० १०।७७।३० में उक्त है—

"एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः केचनान्विताः। यत् स्ववाचो विरुध्येत नूनं ते न स्मरन्त्युत॥"

प्रायशः ऋषिगण पूर्वापर अनुसन्धान रहित होकर ही वर्णन करते हैं। इस नियम के अनुसार श्रीमद्भागवत भिन्न अन्य पुराणों का वर्णन है। अतएव श्रीमद्भागवत के प्रमाणानुसार ही समाधान करना समीचीन है। श्रीभगवान् कदाचित् आत्मगोपन करने के निमित्त जो कुछ कहते हैं, ऋषिगण उक्त कथन

इत्यादिवदेव साभिमता। कदाचिदात्मगोपनाय भगवान् यदन्यथा दर्शयति, तदेव ऋषयो यथामति प्रस्तुवन्तीति। तदेतदनुवादकस्य "भूमेः सुरेतरवरूथ-" इत्यादौ "कलया सितकृष्णकेशः" इत्यस्य च योजना। कलया अंशेन यः सितकृष्णकेशः, सितकृष्णौ केशौ यत्र तथाविधः, स एव साक्षाद्भगवान् जात इत्येवं कर्त्तव्येति। अतएव पुरुषनारायणस्य तथागमनप्रतिपादक-श्रीहरिवंशवाक्यमपि तत्तेजसामाकर्षणविवक्षयैवोक्तम्। सर्वेषां प्रवेशश्च

सर्वसम्वादिनी

[मूल० ८२तम अनु० प्रारम्भे] 'सहस्रनाम्नाम्' इत्यादि-ब्रह्माण्ड-वाक्यानन्तरमेवं व्याख्येयम्।—यथा

'सर्वार्थशक्तियुक्तस्य देवदेवस्य चक्रिणः। यच्चाभिरुचितं नाम तत् सर्वार्थेषु योजयेत्॥'१९॥

का ही यथामति वर्णन करते हैं। अतएव भा० २।७।२६ अनुवादक वाक्य की योजना इस प्रकार है— "भूमेः सुरेतरवरूथ" "कलया सितकृष्णकेशः" कलया शब्द का अर्थ अंश के सहित जो सितकृष्ण केश हैं, जहाँ सितकृष्ण केश हैं, वह ही साक्षात् भगवान् हैं, आप ही अवतीर्ण हुए हैं, इस प्रकार अर्थ उक्त पद्य का है। अतएव पुरुष नारायण का उस प्रकार आगमन प्रतिपादक श्रीहरिवंशस्थ वाक्य का समन्वय भी उन उन के तेज की आकर्षण विवक्षा से होगा। संशय स्थलसमूह का समाधान भी उक्त रीति से ही करना आवश्यक है।

अर्जुन में नर का आवेश, श्रीकृष्ण किन्तु स्वयं नारायण हैं, यह आगम वाक्य है। इसमें नर का प्रवेश का कथन अर्जुन में हुआ है। जो अनन्यसिद्ध 'स्वयं' नारायण हैं। भागवतीय ब्रह्मस्तुति से जिसका स्पष्टीकरण हुआ है। "नारायणस्त्वं नहि सर्वदेहिनां" इसमें जिनको मूल नारायण कहा गया है, वह ही श्रीकृष्ण हैं। इस प्रकार अर्थान्तर प्रकाश के निमित्त कहा गया है—"श्रीकृष्ण स्वयं नारायण हैं" स्वयं पद का अर्थ—अन्यनिरपेक्ष है। श्रीहरिवंश में लिखित है—"पुरुषनारायण" अर्थात् क्षीरोदशायी, एक पर्वत गुहा में निजमूर्त्ति निक्षेप पूर्वक उनकी रक्षा के निमित्त गरुड़ को वहाँ रखकर स्वयं श्रीदेवकी गर्भ में प्रविष्ट हुए थे।" इस कथन का तात्पर्य्य इस प्रकार है—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आविर्भाव के समय क्षीरोदशायी के तेजः का आकर्षण किए थे। उसको प्रकट करने के निमित्त उस प्रकार वर्णन हुआ है। अनन्तर श्रीनिखिल भगवत् स्वरूप की श्रीकृष्ण में प्रवेश रीति का प्रदर्शन करेंगे।

प्रकट समय में श्रीकृष्ण में निखिल भगवत् स्वरूप का प्रवेश हुआ है, कहने से संशय हो सकता है कि—समस्त भगवत् स्वरूपों के प्रवेश हेतु श्रीकृष्ण पूर्ण भगवान् हैं। काल में समस्त भगवत् स्वरूप निज निज धाम में गमन करने पर श्रीकृष्ण की पूर्णता की हानि होगी ? ऐसा नहीं, श्रीकृष्ण सर्वाश्रय हैं। निखिल भगवत्स्वरूप, एवं जीवजगत् प्रपञ्च सब कुछ उनसे ही आविर्भूत हुए हैं। तथा सब कुछ उनमें ही अवस्थित हैं। श्रीकृष्ण से कोई भी स्वतन्त्र रूप से अवस्थित नहीं है। आविर्भाव के समय श्रीकृष्ण में अन्यान्य भगवत् स्वरूप प्रविष्ट होने की कथा कहने का तात्पर्य्य यह है—अप्रकट के समय विभिन्न भगवत् स्वरूप के द्वारा सम्बन्धीय कार्य्य सम्पन्न होता है। स्वयं श्रीकृष्ण भी परिजनवृन्द के सहित विभिन्न लीलारसास्वादन में विभोर रहते हैं। प्रकट लीला के समय एकक श्रीकृष्ण ही समस्त कार्य्य सम्पन्न करते हैं। तज्जन्य श्रीकृष्ण में निखिल भगवत्स्वरूप का प्रवेश कथन हुआ है। प्रकट समय में उक्त भगवत्स्वरूप का अवस्थान स्वतन्त्र रूप में नहीं है, ऐसा नहीं। अपितु उस समय प्रत्येक भगवत् स्वरूप यथावत् निज निज धाम में अवस्थित होते हैं। किन्तु युगपत् अवतारवृन्द की शक्ति एवं निज स्वयं भगवत्ता की अभिव्यक्ति श्रीकृष्ण के द्वारा ही होती है। तज्जन्य ही श्रीकृष्ण में सर्वावतारों का प्रवेश कथन हुआ है।

तस्मिन् सयुक्तिकमेवोदाहरणीयः। अतः पाद्मोत्तरखण्डे "नृसिंहरामकृष्णेषु षाड़्गुण्य-परिपूरणम्" इत्यवतारान्तरसाधारण्यमपि मन्तव्यम्। किन्त्ववताराणां प्रसङ्गे तेषु श्रेष्ठे विविदिषिते सामान्यतस्तावत् सर्वश्रेष्ठास्त्रय उक्ताः। तेष्वप्युत्तरोत्तरत्राधिक्यक्रमाभिप्रायेण श्रीकृष्णे श्रैष्ठ्यं विवक्षितम्। अतएव श्रीविष्णुपुराणे मैत्रेयेण हिरण्यकशिपुत्वादिषु जयविजययोस्तयोरमुक्ति-मुक्तिकारणे पृष्टे श्रीपराशरोऽपि श्रीकृष्णस्यैवात्युद्भटैश्वर्य्य-प्रकाशमाह। किञ्च, श्रीकृष्णमप्राप्यान्यत्र त्वसुराणां मुक्ति र्न सम्भवति। एवकारद्वयेन स्वयमेव श्रीगीतासु तथा सूचनात् (गी० १६।१९-२०)—

"तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥६२॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥"६३॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

इति श्रीविष्णुधर्म-दृष्टचा सर्वेषामेव भगवन्नाम्नां निरङ्कुश महिमत्वे सति "समाहृतानामुच्चारणमपि नानार्थकं

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में वर्णित है,—"नृसिंह, राम, एवं कृष्ण में षड़्विधैश्वर्य्य की परिपूर्णता है।" षड़ैश्वर्य्य की परिपूर्णता हेतु श्रीकृष्ण को साधारण अवतार मानना ठीक नहीं है। अर्थात् नृसिंह, राम, कृष्ण तीन में षड़्विध ऐश्वर्य्य की पूर्णता प्रदर्शित हुई है, अतः नृसिंह एवं राम से श्रीकृष्ण में कुछ भी विशेषता नहीं है ?

अवतार प्रसङ्ग में प्रश्न हुआ—निखिल भगवत्स्वरूप के मध्य में श्रेष्ठ कौन है ? उत्तर, नृसिंह-राम-कृष्ण श्रेष्ठ हैं। किन्तु पद्मपुराणीय उक्त वाक्य में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता प्रकाशन हेतु प्रथम—श्रीनृसिंह, पश्चात् राम, अनन्तर श्रीकृष्ण का उल्लेख हुआ है। सुतरां श्रीकृष्ण का ही सर्वश्रेष्ठत्व है। अतएव श्रीविष्णुपुराण में श्रीमैत्रेय ऋषि विस्मित होकर प्रश्न किए थे कि—'जय-विजय' हिरण्यकशिपु-हिरण्याक्ष रूप में श्रीविष्णु से निधन प्राप्त होकर भी मुक्त नहीं हुए ? इसका रहस्य वर्णन करें।

उत्तर में श्रीपराशर ने कहा—श्रीकृष्ण का ही असमोर्द्ध अनन्त अद्भुत ऐश्वर्य्य है। अर्थात् हतारिगतिदायकत्व गुण अन्य भगवत्स्वरूप में विद्यमान होने से भी वे सब निहत शत्रु को स्वर्गादि रूप सद्गति प्रदान करने में सक्षम हैं। किन्तु सर्वप्रभु श्रीकृष्ण स्वीय अचिन्त्यशक्ति प्रभाव से निहत शत्रुवर्ग को मुक्ति प्रदान करते हैं। कहीं तो प्रेमप्रदान भी करते हैं। पूतना को तो धात्रीगति दान ही किए हैं। श्रीविष्णुपुराण का यह भी अभिप्राय है कि—श्रीकृष्ण भिन्न अन्य भगवत् स्वरूप से निहत शत्रुओं की मुक्ति होती ही नहीं। श्रीगीता में एव-कार द्वय के द्वारा स्वयं ही कहे हैं—

(गी० १६।१९-२०) मैं उन विद्वेषी क्रूर अशुभ नराधम व्यक्तिगण को संसारस्थ अजस्र आसुरी योनि में निक्षेप करता हूँ। हे कौन्तेय ! आसुरी योनि प्राप्त व्यक्तिसमूह मुझ श्रीकृष्ण को न प्राप्त कर ही जन्म जन्म में अधोगति को प्राप्त करते हैं।

टीका—एषामासुरस्वभावात् क्वचिदपि विमोक्षो न भवतीत्याह—तानिति द्वाभ्याम्। आसुरीष्वेव हिंसातृष्णादियुक्तासु म्लेच्छव्याधयोनिषु तत्तत् कर्मानुगुणफलदः सर्वेश्वरोऽहमजस्रं पुनः पुनः क्षिपामि।१९।

ननु बहुजन्मान्ते तेषां कदाचित्त्वदनुकम्पयासुरयोनेर्विमुक्तिः स्यादिति चेत्तत्राह—आसुरीमिति। ते मूढ़ा जन्मन्यासुरीयोनिमापन्ना मामप्राप्यैव ततोऽप्यधमामतिनिकृष्टां श्वादियोनिं यान्ति, मामप्राप्यैव अत्र एव कारेण मदनुकम्पायाः सम्भावनापि नास्ति। तल्लाभोपाययोग्या सज्जातिरपि दुर्लभेति; श्रुतश्चैवमाह —"अथ कपूयचरणा अभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा"

कुत्रचिद्भगवद्द्वेषिणां तत्स्मरणादिप्रभावेण श्रूयतां वा मुक्तिः, सर्वेषामपि तद्द्वेषिणान्तु मुक्तिप्रदत्वमन्यत्रावतारेऽवतारिणि वा न क्वचिच्च श्रूयते। तस्मात्तेषामपिमुक्तिदातृत्वाय श्रीकृष्ण एवैश्वर्य्यप्रकाशाधिक्यं दर्शयति। युक्तमेव वर्णयामास स श्रीपराशरः। अतएव सर्वमैश्वर्य्यसाक्षात्कारस्य मुक्तिहेतुत्वमुक्त्वा पुनश्च पूतनादिमोक्षं विचिन्त्य कालनेम्यादीनाञ्च तदभावमाशङ्क्य तदप्यसहमानस्तस्य तु श्रीकृष्णाख्यस्य भगवतः परमाद्भुतस्वभाव एवायमित्युवाच सर्वान्तिम-गद्येन (वि० पु० ४।१५।६)—"अयं हि भगवान् कीर्त्तितः संस्मृतश्च द्वेषानुबन्धेनाप्यखिलसुरासुरादिदुर्लभं फलं प्रयच्छति, किमुत सम्यग्भक्तिमताम्" इत्यनेन। अतः श्रीभागवतमते तयोर्जन्मत्रयनियमश्च श्रीकृष्णादेव तन्मोक्षः सम्भवेदित्यपेक्षयैवेति ज्ञेयम्।

सर्वसम्वादिनी

संस्कार-प्रचय-हेतुत्वादेकस्यैवोच्चार-प्रचयवत्" इति (तृतीय-परिच्छेदान्तभागे) नामकौमुदीकारैरङ्गीकृतम्;

इत्यादिका। नन्वीश्वरः सत्यसङ्कल्पत्वादयोग्यस्यापि योग्यतां शक्नुयात् कर्त्तुमिति चेत्, शक्नुयादेव, यदि सङ्कल्पयेत् बीजाभावान्न सङ्कल्पयतीत्यतस्तस्या वैषम्याह—सूत्रकारः। वैषम्यनैर्घृण्येन" इत्यादिना; ततश्च 'तानहम्' इत्यादिद्वयं सूपपन्नम्। एते नास्तिकाः सर्वदा नारकिणो दर्शिताः। ये तु शापादसुरास्तदनुयानिश्च राजन्याः प्रत्यक्षे उपेन्द्रनृहरिवराहादौ विष्णौ स्वशत्रुपक्षित्वेन विद्वेषिणोऽपि वेदवैदिककर्मपराः सर्वनियन्तारं कालशक्तिकमप्रत्यक्षं सर्वेश्वरं मन्यन्ते, ते तूपेन्द्रादिभिर्निहताः क्रमात् त्यजन्त्यासुरीर्योनिम्; कृष्णेन निहतास्तु विमुच्यन्ते चेति, न ते वेदवाह्याः।२०।

अन्य भगवत् स्वरूप के द्वारा भी भगवद्विद्वेषी को मुक्ति प्रदान करने का वर्णन कतिपय स्थल में है। उसका कारण है—भगवद्विद्वेषी के द्वारा निरन्तर भगवत् चिन्तन। निखिल भगवद्विद्वेषी को मुक्ति प्रदान करने की वार्त्ता अवतार अथवा अवतारी को लक्ष्य करके नहीं है। अतएव अन्यान्य अवतार से जिन विद्वेषिओं को मुक्ति नहीं मिली है, वैसे शापग्रस्त जयविजय शिशुपाल दन्तवक्ररूप भी श्रीकृष्ण के द्वारा निहत होकर मुक्ति प्राप्त किए थे। तज्जन्य श्रीकृष्ण की महिमा का कीर्त्तन प्रचुर रूप से हुआ है। श्रीपराशर ने युक्तियुक्त रूप से ही वर्णन किया है। प्रथमतः, ऐश्वर्य्य साक्षात्कार को मुक्ति का हेतु मानकर, पुनर्बार पूतनादि का मोक्ष, ऐश्वर्य्य दर्शन के विना भी हुआ है। कालनेमि प्रभृति के द्वारा भगवदैश्वर्य्य का दर्शन प्रचुर रूप से होने पर भी मुक्ति का अभाव को देखकर "ऐश्वर्य्य दर्शन से ही मुक्ति होती है।" इस सिद्धान्त के प्रति असहिष्णु होकर उक्त प्रकरण के अन्तिम गद्य में श्रीपराशर ने कहा—भगवान् श्रीकृष्ण का ही यह परमाद्भुत स्वभाव है। श्रीकृष्ण स्वीय अचिन्त्य स्वभाव के कारण भगवद् विद्वेषी असुरगण को मुक्ति प्रदान करते हैं। उसके लिए किसी प्रकार कारण निर्देश नहीं होता है। अर्थात् श्रीकृष्ण—ऐश्वर्य्य साक्षात्कार के विना भी मुक्ति प्रदान करते हैं। तज्जन्य श्रीकृष्ण के निकट ऐश्वर्य्य साक्षात्कारादि की अपेक्षा नहीं है। श्रीविष्णुपुराणीय गद्य इस प्रकार है—"अयं हि भगवान् कीर्त्तितः संस्मृतश्च द्वेषानुबन्धेनाप्यखिलसुरादिदुर्लभं फलं प्रयच्छति, किमुत सम्यग्भक्तिमताम्।" भगवद्विद्वेष कार्य्य में दृढ़सङ्कल्प होकर द्वेष के निमित्त ही श्रीकृष्ण कीर्त्तन, स्मरण होते हैं। तथापि भगवान् श्रीकृष्ण—सुरासुरादि के लिए अत्यन्त दुर्लभ फलस्वरूप मुक्ति प्रदान करते हैं। सम्यक् भक्तिमान् जन को जो तदपेक्षा अमृतमय फल प्रदान करते ही हैं, उक्त दृष्टान्त से ही सुस्पष्ट हुआ है। अतएव श्रीमद्भागवत में वर्णित है कि जयविजय की मुक्ति, जन्मत्रय के अनन्तर ही होगी, यह कथन भी श्रीकृष्ण को लक्ष्य कर ही हुआ है। अर्थात् श्रीकृष्ण से ही मोक्ष सम्भव है, जानना होगा। तज्जन्य ही

अतएव श्रीनारदेनापि तमुद्दिश्यैवोक्तम् (भा० ११।५।४८)—"वैरेण यं नृपतयः" इत्यादिना, श्रीब्रह्मणा च (भा० २।७।३४) "ये च प्रलम्बखरदर्दुर-" इत्यादिना सर्वेषां मुक्तिदत्वञ्च तस्य श्रीकृष्णस्य निजप्रभावातिशयेन यथा कथञ्चित् स्मर्त्तृ चित्ताकर्षणातिशयस्वभावात्। अन्यत्र तु तथा स्वभावो नास्तीति नास्ति मुक्तिदत्वम्। अतएव वेणस्यापि विष्णुद्वेषिणस्तद्वदावेशाभावान्मुक्त्यभाव इति। अतएवोक्तम् (भा० ७।१।३१) "तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्" इति। तस्मादस्त्येव सर्वतोऽप्याश्चर्य्यतमा शक्तिः श्रीकृष्णस्येति सिद्धम्।

सर्वसम्वादिनी

तथा समाहृत-सहस्रनाम-त्रिरावृत्ति-शक्तेः कृष्णनामोच्चारणरवश्यं मन्तव्यम्। अतः "देवदेवस्य यदभिरुचितं

श्रीनारद ने कहा है—(भा० ११।५।४८)

"वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्रशाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनाशयनादौ तद्भावमापुरनुरक्तधियां पुनः किम्?

टीका—एकदेव कैमुत्यन्यायेन स्फुटयति वैरेणेति। यं शयनासनादौ वैरेणापि ध्यायन्तस्तस्य गतिविलासाद्यैराकृतधिय स्तत्तदाकारा धीर्येषां ते तत् सारूप्यमापुः, किं पुनर्वक्तव्यम्, अनुरक्तधियां तत् साम्यं भवतीति॥

वैरभावाक्रान्त होकर भी शिशुपाल, पौण्ड्र, शाल्व प्रभृति राजन्यवृन्द शयन उपवेशन प्रभृति समय में श्रीकृष्ण के गति विलासविलोकनादि की चिन्ता करते करते तद्गत चित्त होकर उनके साम्य प्राप्त हुए थे। सुतरां अनुरक्त चित्त होकर जो लोक श्रीकृष्ण का स्मरण करते हैं, वे लोक जो उत्तम गति को प्राप्त करेंगे, इसमें कहना ही क्या है?

श्रीकृष्ण का स्वभाव ही इस प्रकार है,—यत्किञ्चित् श्रीकृष्ण स्मरण होने से ही श्रीकृष्ण निज निरतिशय प्रभाव के द्वारा उक्त चित्त को आकर्षण करते हैं। तज्जन्य श्रीकृष्ण ही सबके मुक्तिदाता हैं। किन्तु अन्य भगवत् स्वरूप में यत्किञ्चित् स्मरण मात्र से स्मरणकारी के चित्त को आकृष्ट करने की शक्ति नहीं है। अतएव उक्त स्वरूप का मुक्तिदातृत्व भी नहीं है। श्रीब्रह्मा ने कहा भी है—(भा० २।७।३४)

"ये च प्रलम्बखरदर्दुरकेश्यरिष्टमल्लेभकंसयवनाः कपिपौण्ड्रकाद्याः।
अन्ये च शाल्वकुजवल्कलदन्तवक्रसप्तोक्षशम्बरविदूरथरुक्मिमुख्याः॥

ये च प्रलम्बादयस्ते सर्वे हरिणा हेतुभूतेन तदीयं निलयम्। अदर्शनं दर्शनायोग्यं वैकुण्ठम् अल्पं यास्यन्तीत्युत्तरेण अन्वयः। खरो धेनुकः। दर्दुर इव दर्दुरो वकः। इभः—कुवलयापीड़ः। कपिर्द्विविदः। कुजो नरकः।

किन्तु वेणनृप विष्णु विद्वेषी होने से भी श्रीकृष्ण विद्वेषियों के समान श्रीविष्णु में आविष्ट नहीं था। एवं श्रीकृष्ण के समान श्रीविष्णु में सर्वाकर्षकत्व धर्म न होने से श्रीभगवान् में वेण नृपति का आवेश न होने से ही वेण की मुक्ति नहीं हुई।

अतएव श्रीनारद ने कहा है, (भा० ७।१।२८-३१)—

"एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे। वैरेण पूतपाप्मानस्तमापुरनुचिन्तया॥
कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहात् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥
गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥

तदेवं विरोधपरिहारेण विरुद्धार्थानामप्यर्थानुकूल्येन श्रीकृष्णस्य स्वयं भगवत्त्वमेव दृढ़ीकृतम् । तत्र च वेदान्तसूत्रादावप्येकस्य महावाक्यस्य नानावाक्यविरोधपरिहारेणैव स्थापनाया दर्शनान्नाप्यत्रैवेदृशमित्यश्रद्धेयम् । वाक्यानां दुर्बलबलित्वमेव विचारणीयम्, न तु बह्वल्पता । दृश्यते च लोके — एकेनापि युद्धे सहस्रपराजय इति । एवञ्च बहुविरोधपरिहारेणैव स्वस्मिन् श्रीकृष्णाख्ये परब्रह्मणि सर्ववेदाभिधेयत्वमाह (भा० ११।२१।४२-४३)—

(२९) "किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन ॥६४॥
मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम्" इति ।

सर्वसम्वादिनी

प्रियं नाम, तत् सर्वार्थेषु योजयेत्" इत्यपि केचिद्व्याचक्षते ; यथा—"हरेः प्रियेण, गोविन्दनाम्ना निहतानि सद्यः" इति ।

कतमोऽपि न वेणः स्यात् पञ्चानां पुरुषं प्रति ।
तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ॥"

"काम, द्वेष, भय, स्नेह एवं भक्ति के द्वारा मनोनिवेश श्रीकृष्ण में करें ।" द्वेषादि के द्वारा भी श्रीकृष्ण में मनोनिवेश होने पर मुक्ति लाभ होता है । अतएव निखिल भगवत् स्वरूप से श्रीकृष्ण में अति आश्चर्य्यतमा शक्ति है । आश्चर्य्य शब्द का अर्थ है,— जिसकी प्रतीति अन्य भगवत् स्वरूप में कदापि नहीं होती है । 'तम' प्रत्यय के द्वारा उसका अतिशय वैशिष्ट्य सूचित होता है । अतएव श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता के सम्बन्ध में जितने विरोध थे, उन सबका परिहार सुष्ठुरूपेण हुआ, एवं विरुद्ध वाक्यसमूह की अर्थ सङ्गति के द्वारा श्रीकृष्ण की ही स्वयं भगवत्ता दृढ़ीकृत हुई ।

श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता प्रतिपादन शैली में किसी का संशय हो सकता है कि—अनेक विरोध वाक्यों का परिहार एक वाक्य के द्वारा होना कैसे सम्भव होगा । इस प्रकार रीति कहीं पर है अथवा नहीं ? उक्त संशय निरसन हेतु कहते हैं—वेदान्तसूत्रादि में उक्त रीति का अनुसरण हुआ है । वेदान्त सूत्रों में एक महावाक्य के द्वारा अनेक विरोधि वाक्यों का परिहार करके एक महावाक्यार्थ का स्थापन होता है । अतएव केवल श्रीकृष्ण तत्त्व विचार में उक्त नवीनतम रीति का उद्भावन हुआ है, ऐसा नहीं, किन्तु यह रीति सुप्राचीन न्याय सिद्ध है । वाक्यों में दुर्बलता एवं सबलता का विचार करना अत्यावश्यकीय है । बहुत्व एवं स्वल्पत्व विचारणीय नहीं है । लोक समाज में भी देखने में आता है, युद्ध में एक पराक्रमी व्यक्ति के द्वारा सहस्र व्यक्ति पराजित होते हैं । शास्त्रवाक्य में भी उक्त रीति का अनुसरण करना आवश्यक है ।

उस प्रकार रीति का अनुसरण पूर्वक स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी स्वयं श्रीकृष्णाख्य परब्रह्म में निखिल शास्त्र विरोध परिहार पूर्वक—निखिल वेदाभिधेयत्व प्रतिपादन किये हैं । अर्थात् समस्त वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण ही है, उसका प्रतिपादन स्वयं ही किए हैं । (भा० ११।२१।४२-४३)

"किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् ।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन ॥
मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते ह्यहम् ।"

क्रमसन्दर्भः । तदेवं मदुत्पन्नस्य वेदस्य तात्पर्य्यज्ञश्चाहमेव इत्याह,— किं विधत्ते इति ।४२।

विकल्प्य विविधं कल्पयित्वा, अपोह्यते तत्तन्निषेधेन सिद्धान्त्यते यत्तदहं श्रीकृष्णलक्षणं वस्त्वेवेति ॥ श्रीभगवान् ॥

३०। तदेवम् (भा० १।३।२८) "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्येतत्प्रतिज्ञावाक्याय

सर्वसम्वादिनी

ननु वृहत्सहस्रनाम-स्तोत्रं नित्यमेव पठन्तीं देवीं प्रति (पाद्मोत्तरे श्रीराम-शतनाम-स्तोत्रे ६६तम अ०)

तदेवं सर्ववेदसमन्वयं स्वस्मिन् श्रीभगवत्येव स्वयमाह ; यद्वा, परमप्रतिपाद्यश्चाहं श्रीकृष्णरूप एव इत्याह, मां विधत्ते इत्यर्द्धकेन, मत्तात्पर्य्यकरत्वेनैव तत्तद्विधानादिकं कृत्वा मय्येव पर्य्यवस्यतीत्यर्थः। यद्वा मामेव यज्ञपुरुषं विधत्ते। श्रुतिर्मामेव तत्तद्देवतारूपमभिधत्ते। यच्चाकाशादिप्रपञ्चजातं (तै० २।१।३) "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिना विकल्प्य विविधं कल्पयित्वापोह्यते —तत्तन्निषेधेन सिद्धान्त्यते यत्तदहं श्रीकृष्णलक्षणं वस्त्वेवेति न मत्तः पृथगस्ति ; सर्वस्य मदात्मकत्वादिति भावः।४३।

स्वामिटीका। अर्थतोऽपि दुर्ज्ञेयत्वमाह—किमिति। कर्मकाण्डे विधिवाक्यैः किं विधत्ते। देवताकाण्डे मन्त्रवाक्यैः किमाचष्टे प्रकाशयति। ज्ञानकाण्डे किमनूद्य विकल्पयेत् निषेधार्थम् इत्येवमस्या हृदयं तात्पर्य्यं मत् मत्तोऽन्यः कश्चिदपि न वेद।४२।

ननु तर्हि त्वं मत्कृपया कथय। ओमिति कथयति। मामेव यज्ञरूपं विधत्ते। मामेव तत्तद्देवता रूपमभिधत्ते न मत्तः पृथक्। यच्चाकाशादिप्रपञ्चजातं, तस्माद्वा एतस्मात्मनः आकाशः सम्भूत इत्यादिना विकल्प्य अपोह्यते निराक्रियते, तदप्यहमेव न मत्तः पृथगस्ति। कुत इत्यपेक्षायां सर्ववेदार्थं सङ्क्षेपतः कथयति। एतावानेव सर्वेषां वेदानामर्थः। तमेवाह, शब्दो वेदो मां परमार्थरूपमाश्रित्य भिदां मायामात्रमित्यनूद्य नेह नानास्ति किञ्चनेति प्रतिषिध्य प्रसीदति निवृत्तव्यापारो भवति। अयम्भावः। यथा ह्यङ्कुरे यो रसः स एव तद्विस्तारभूतनानाकाण्डशाखास्वपि तथैव प्रणवस्य योऽर्थः परमेश्वरः, स एव तद्विस्तारभूतानां सर्ववेदकाण्डशाखानामपि सङ्गच्छते नान्य इति।४३।

नित्यमुक्तः स्वतः सर्ववेदकृत सर्ववेदवित्। स्वपरज्ञानदाता यस्तं वन्दे गुरुमीश्वरम् ॥

उद्धव के प्रति स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"श्रुति कर्मकाण्ड में विधिवाक्यसमूह के द्वारा क्या कहती है। देवताकाण्ड में मन्त्र वाक्यसमूह द्वारा क्या कहती है। ज्ञानकाण्ड में विकल्प के द्वारा किसको स्थापन करती है, उसको मैं ही जानता हूँ। केवल मैं ही श्रुतियों का अभिप्राय को जानता, अपर कोई भी नहीं जानते हैं। श्रुति मुझको कहती है, मुझको प्रकाश करती है। विकल्प एवं उसका परिहार के द्वारा मैं ही निश्चित हूँ।" विकल्प अर्थात् नानारूप कल्पना करके कल्पित वस्तु समूह को यह ब्रह्म नहीं है, इस प्रकार निषेध कर श्रीकृष्ण लक्षण मैं ही परब्रह्म हूँ—" सिद्धान्त करती है।

सारार्थ यह है कि—वस्तु का महत्त्व स्थापन—श्रेष्ठत्व स्थापन (स्वरूप से गुण से) दो प्रकार से होता है। निर्विशेष ब्रह्म, स्वरूप से महत् है, किन्तु उनमें गुणाभाव है। किन्तु श्रीकृष्णस्वरूप, स्वरूप तथा गुण से विभु हैं। दृष्टान्त—दाम बन्धन लीला है। वेद परमब्रह्मतत्त्वप्रकाशन में प्रवृत्त हैं। अतएव उक्त परमब्रह्म तत्त्व का सर्वथा पर्य्यवसान श्रीकृष्ण में ही है।

विकल्प—विविध कल्पना करके, अपोह्यते—तत्तन्निषेध करके जो भी सिद्धान्त होता है, वह ही श्रीकृष्णस्वरूप वस्तु है। प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं ॥२९॥

(भा० १।३।२८) "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" प्रतिज्ञा वाक्य महावीर राजा के समान विद्यमान् है। महावीर राजा जिस प्रकार बहु विरोधी को एकक पराजित करके आत्मसात्

महावीरराजायेवात्मनैव निर्जित्यात्मसात्कृतविरोधिशतार्थायापि शोभाविशेषेण प्रेक्षावतामानन्दनार्थं चतुरङ्गिणीं सेनामिवान्यामपि वचनश्रेणीमुपहरामि तत्र तस्य लीलावतारकर्त्तृत्वमाह (भा० १०।२।४०)—

(३०) "मत्स्याश्व-कच्छप-नृसिंह-वराह-हंस,-राजन्य-विप्र-विबुधेषु कृतावतारः।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनञ्च यथाधुनेश, भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ।।"६५।।

इत्यादि ।। स्पष्टम् ।। देवाः श्रीभगवन्तम् ।।

३१। तथा, (भा० १०।१४।२०) "सुरेष्वृषिष्वीश तथैव" इत्यादि ।। स्पष्टम् ।। ब्रह्मा तम् ।।

३२। तथा, (भा० १०।८।१५) "बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते" इत्यादि ।। सर्वसम्वादिनो सहस्रनामभिस्तुल्यं रामनाम वरानने' इत्याद्युपपत्त्या राम-नाम्नैव सहस्रनाम-फलं भवतीति बोधयन्

करते हैं। उस समय विरोधी अवशेष न होने से भी शोभाविशेष के द्वारा जनता का आनन्द वर्द्धनार्थ पदातिक, अश्वारोही, रथारोही, गजारोही—चतुरङ्गिणी सेना परिवृत होकर दर्शन देते हैं। तद्रूप "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" प्रतिज्ञा वाक्य परिभाषा हेतु विरोधी विविध वाक्य को पराभूत करके उक्त वचनसमूह के द्वारा ही श्रीकृष्ण की भगवत्ता का प्रतिपादन करते हैं। उस वाक्य का प्रतिद्वन्द्वी न होने पर भी जो व्यक्ति श्रीकृष्ण तत्त्व की आलोचना करेंगे, उनको आनन्दित करने के निमित्त उक्त प्रतिज्ञा वाक्य रूप महाराजा के चतुरङ्गिणी सेना स्वरूप अन्य वाक्यसमूह को उपहारार्थ प्रस्तुत करते हैं।

चतुरङ्गिणी सेनारूपमें कल्पित वाक्यसमूह को 'लीलावतारकर्त्तृत्व, गुणावतारकर्त्तृत्व, पुरुषावतार कर्त्तृत्व एवं महावक्ता एवं श्रोता का श्रीकृष्ण में तात्पर्य्य' रूप भाग चतुष्टय के द्वारा विभक्त कर स्वीय वाक्य का याथार्थ्य को दर्शाते हैं।

भा० १०।२।४० में लीलावतार कर्त्तृत्व का वर्णन है। देवगण श्रीदेवकीदेवी के गर्भगत श्रीकृष्ण का स्तव करते हैं—आप मत्स्य, अश्व, कच्छप, वराह, नृसिंह, हंस, राम, परशुराम, वामन प्रभृति रूप में अवतीर्ण होकर हम सबका पालन करते हैं।

यहाँ पर मत्स्यादि अवतार के मूल रूप में श्रीकृष्ण का वर्णन हुआ है। देवगणोंने श्रीभगवान् को कहा ।।३०।।

भा० १०।१४।२० में ब्रह्मा ने श्रीकृष्ण को कहा—

"सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि तिर्य्यक्षु यादःस्वपि ते जनस्य।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ।।"

हे प्रभो ! हे विधातः ! आप जन्मरहित होकर भी देव (वामन) ऋषि (परशुराम) मनुष्य (श्रीराम) तिर्य्यक् (वराह, नृसिंह, कच्छप, मत्स्य प्रभृति) में आविर्भूत होते हैं। वह केवल असाधु दुर्जनों को निगृहीत करने के लिए एवं साधुगण के प्रति अनुग्रह करने के निमित्त ही होता है।

ब्रह्मा, भगवान् को कहे थे ।।३१।।

भा० १०।८।१५ में उक्त है—"बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ।।"

टीका—गुणानुरूपाणि ईश्वरः सर्वज्ञ इत्यादीनि कर्मानुरूपाणि—गोपतिर्गोवर्द्धनोद्धरण इत्यादीनि तानि सर्वाण्यहमपि नो वेद जना अपि नो विदुरिति।

स्पष्टम् ।। गर्गः श्रीव्रजराजम् ।।

३३ । एवं (भा० १०।१०।३४) "यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः" इत्यादि । शरीरिष्वशरीरिण इत्यपि ज्ञाने हेतुगर्भविशेषणम् । शरीरिषु मध्येऽप्यवतीर्णस्य सतः स्वयमशरीरिणः । (भा० ३।९।३) "नातः परं परम यद्भवतः स्वरूपम्" इत्यादि द्वितीय-सन्दर्भोदाहरण-प्रघट्टक-दृष्ट्या जीववद्देहदेहिपार्थक्याभावेन मुख्यमत्वर्थायोगात् ।।

सर्वसम्वादिनी

श्रीमहादेवस्तत्सहस्रनामान्तर्गत-कृष्णनाम्नामपि गौणत्वं बोधयति; तर्हि कथं ब्रह्माण्डवचनमविरुद्धं भवति ?

श्रीगर्गाचार्य्य श्रीव्रजराज नन्द को कहे थे,—व्रजराज ! तुम्हारे पुत्र के गुणकर्मानुरूप अनेक नाम रूप हैं, श्रीकृष्ण ही समस्त अवतारों का कारण है। श्रीव्रजराज के प्रति श्रीगर्गाचार्य्य की उक्ति है ।।३२।।

भा० १०।१०।३४ में उक्त है—"यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः ।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्य्यैर्देहिष्वसङ्गतैः ।।

टीका—अहोऽहमीश्वर इति कुतो ज्ञातः, तत्राहतुः, यस्येति ।

कुवेरात्मज नल कुवर मणिग्रीव श्रीकृष्ण को कहे थे—"तुम्हारे अवतार समूह शरीरियों के मध्य में आविर्भूत होने पर भी वे सब अशरीरी एवं अनिर्वचनीय हैं। अतुलनीय प्रभाव के द्वारा ही जगत् में श्रीभगवान् रूप में विदित होते हैं। शरीरिगण के मध्य में अवतीर्ण श्रीभगवान् आपको जानने के लिए भवदीय अनिर्वचनीय असम्भव असमोर्द्ध प्रभाव ही जैसे एक हेतु है, उस प्रकार परिचय के लिए अपर एक हेतु है—उभय शरीरीगण के मध्य में आविर्भूत होने से भी स्वयं अशरीरी हैं। यह ज्ञान में हेतु गर्भ विशेषण है। भा० ३।९।३ में उक्त है—

"नातः परं परम यद् भवतः स्वरूपमानन्दमात्रमविकल्पमविद्धवर्च्चः ।
पश्यामि विश्वसृजमेकमविश्वमात्मन् भूतेन्द्रियात्मकमदस्त उपाश्रितोऽस्मि ।।"

टीका—हे परम ! अविद्धवर्च्चः, अनावृतप्रकाशम्, अतः अविकल्पं निर्भेदं अतएवानन्दमात्रम् । एवम्भूतं यद्भवतः स्वरूपम् । तत् अतो रूपात् परं भिन्नं न पश्यामि किन्तु इदमेव तत् । अतः कारणात् ते तव अदः इदं रूपम् । उपाश्रितोऽस्मि । योग्यत्वादपीत्याह । एकम् उपास्येषु मुख्यम् । यतो विश्वसृजं, विश्वं सृजतीति, अतएव अविश्वं विश्वस्मादन्यत् किञ्च भूतेन्द्रियात्मकं भूतानामिन्द्रियाणाञ्च आत्मानं कारणमित्यर्थः ।

श्रीभगवत्सन्दर्भ में श्रीभगवद्विग्रह का स्वरूपत्व प्रदर्शन प्रकरण की सङ्गति के निमित्त उद्धृत "नातः परं परम ! यद् भवतः स्वरूपम्" इत्यादि श्लोक में श्रीब्रह्मा श्रीभगवान् को कहे थे,—हे परम ! आपके रूप से स्वरूप भिन्न नहीं है। अर्थात् जीव के समान श्रीभगवान् में देह-देही भेद नहीं है। रूप एवं स्वरूप अभिन्न है। यह ही स्वरूपशक्ति का मुख्य वैचित्र्य है। जिस वैचित्र्य हेतु केवल अनुभव एवं आनन्दस्वरूप अद्वय तत्त्ववस्तु भी मूर्त्त रूप में अभिव्यक्त होते हैं। शरीर इनका है। इस अर्थ में इन् प्रत्यय के योग से शरीरी शब्द निष्पन्न होता है। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में उक्त रीति अयुक्त है। अतएव शरीरी शब्द के उत्तर में (अ) नञ् का प्रयोग हुआ है। इन्-मतुप् एकार्थवाचक प्रत्यय होने से सन्दर्भ में मत्वर्थीय का उल्लेख हुआ है। मतुप् प्रत्यय का मुख्यार्थ का निषेध हुआ है। इससे अर्थ का सम्यक् निषेध नहीं हुआ। मतुप् का मुख्यार्थ मानने से स्वरूप एवं शरीरी में पार्थक्य अर्थात् उभय का पृथक् अस्तित्व स्वीकृत होता है। मुख्यार्थ निषिद्ध होने से स्वरूप से स्वतन्त्र शरीर निषिद्ध होकर स्वरूपभूत ही

कुवेरात्मजौ श्रीभगवन्तम् ॥

३४ । अपरञ्च, (भा० १०।५८।३७)—

"यत्पादपङ्कजरजः शिरसा विभर्त्ति, श्रीरब्जजः सगिरिशः सह-लोकपालैः ।
लीलातनूः स्वकृतसेतुपरीप्सया यः, कालेऽदधत् स भगवान् मम केन तुष्येत् ॥"६६॥

स्पष्टम् ॥ नग्नजित् श्रीभगवन्तम् ॥

३५ । परञ्च, (भा० १०।८७।४६)—

(३५) "नमस्तस्मै भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ॥"६७॥

टीका च—"नम इति श्रीकृष्णावतारतया नारायणं स्तौति, (भा० १।३।२८) 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्युक्तेः" इत्येषा। अतएव श्रुतिस्तवश्रवणानन्तरं तस्मा एव नमस्काराात् श्रुतिस्तुतावपि श्रीकृष्ण एव स्तुत्य इत्यायातम् । तथैव श्रुतिभिरपि

सर्वसम्वादिनी

उच्यते ।—प्रस्तुतस्य तस्य वृहत्सहस्रनाम-स्तोत्रस्यैवैकयावृत्त्या यत् फलम्, तद्भवतीति रामनाम्नि प्रौढ़िः ।

श्रीकृष्ण विग्रह सिद्ध हुआ । कुवेरात्मजद्वय श्रीभगवान् को कहे थे ॥३३॥

और भी भा० १०।५८।३७ में उक्त है—

"यत्पादपङ्कजरजः शिरसा विभर्त्ति, श्रीरब्जजः सगिरिशः सहलोकपालैः ।
लीलातनुः स्वकृतसेतुपरीप्सया यः, कालेऽदधत् स भगवान् मम केन तुष्येत् ॥"

नग्नजित् श्रीकृष्ण को कहे थे—"लक्ष्मी, ब्रह्मा, महेश्वर, लोकपालगण के सहित जिनके चरणरेणु का धारण मस्तक में करते हैं, एवं जो स्वीय कृत जगत्-सेतु हैं, अर्थात् धर्ममर्य्यादा रक्षा के निमित्त यथा समय लीलाविग्रह को प्रकट करते हैं, उन श्रीभगवान् मेरे प्रति कैसे सन्तुष्ट होंगे ? अर्थात् मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिससे श्रीभगवान् का सन्तोषविधान होगा ।

नग्नजित् श्रीभगवान् को कहे थे ॥३४॥

श्रीमद्भागवत के १०।८७।४६ में श्रीनारद महाशय ने कहा है—"उन अमलकीर्त्ति भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार करता हूँ । जिन्होंने समस्त जीवों को संसार बन्धन से मुक्त करने के निमित्त कमनीय अवतारसमूह को प्रकट किया है ।

स्वामिपाद का कथन है—नम इति । श्रीकृष्णावतारतया श्रीनारायणं नमस्यति । उक्तं हि एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति । श्रुतिस्तुति प्रकरण के उपसंहार में नमस्कार करते हैं । प्रसङ्ग श्रीनारायण के समीप में हुआ था । श्रुतियों का समन्वय वक्ता श्रीनारायण श्रीकृष्ण का ही अवतार हैं । कारण अवतार-अवतारी निर्णय प्रसङ्ग में निर्णीत हुआ है कि—श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं । अन्य समस्त वर्णित नामधेय कारणार्णवशायी के अंशकला हैं ।

क्रमसन्दर्भः । अथ सर्वश्रुतितात्पर्य्यं स्वयं भगवति श्रीकृष्ण एव अवधार्य्य सन्तोषात्तद्रूपनिजेष्टदेवाभेदेन तदवतारं स्वगुरुं श्रीनारायणर्षिं नमस्यति नम इति ।

समस्त श्रुतियों का एकमात्र प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण ही हैं । इसे जानकर सन्तुष्ट होने पर निजेष्टदेव को उनका ही अभिन्न अवतार मानकर श्रीनारायण ऋषि को प्रणाम करते हैं ।

(भा० १०।८७।२३) "निभृतमरुन्मनोक्षदृढ़योगयुजः" इत्यादिपद्ये निजारिमोक्षप्रदत्वाद्यसाधारण-लिङ्गेन स एव व्यञ्जितः ॥ स्पष्टम् ॥ श्रीनारदः ॥

सर्वसम्वादिनी

कृष्णनाम्नि तु द्विगावसम्भवात् सहस्रनाम्नामिति बहुवचनात्ताहशानां बहूनां सहस्रनाम-स्तोत्राणां

बृहत्क्रमसन्दर्भः। नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलकीर्त्तये, इत्यादि। कृष्णायेति। कृष्णनमस्कारेणैव कृष्णपरैव श्रुतिस्तुतिरियमुपपद्यते।

अमलकीर्त्तिसम्पन्न श्रीकृष्ण को नमस्कार; कहने से विदित होता कि—यह श्रुतिस्तुति श्रीकृष्ण प्रतिपादन पर ही है।

चैतन्यमतमञ्जुषा—नमस्तस्मै भगवते इति—कृष्णनमस्कारादेव कृष्णपरा स्तुतिरियमुपपद्यते।

सन्दर्भः। श्रीधरस्वामिपाद की टीका—"श्रीकृष्ण का ही अवतार रूप में श्रीनारायण की स्तुति कर रहे हैं। भा० १।३।२८ में उक्त है,—"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" निखिल अवतारवृन्द कारणार्णवशायी पुरुष के ही अंशकला हैं। किन्तु श्रीकृष्ण—स्वयं भगवान् हैं। स्वामिपाद की इस प्रकार व्याख्या से प्रतीत होता है कि—नारद श्रीनारायण के निकट से श्रुतिस्तुति को सुनने के बाद श्रीकृष्ण को ही नमस्कार किये थे। इससे प्रतिपन्न हुआ कि श्रुतिस्तुति का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय श्रीकृष्ण ही हैं। तद्रूप श्रुतिगण भी (भा० १०।८७।२३)—

"निभृतमरुन्मनोक्षदृढ़योगयुजो हृदि यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः॥"

पद्य में निज शत्रुगणों को मोक्षदानकारी रूप में श्रीकृष्ण का स्तव किये हैं। निजारि मोक्षदातृत्व रूप असाधारण चिह्न श्रीकृष्ण में ही वर्त्तमान है। अतएव श्रीकृष्ण ही एकमात्र स्तव का विषय हैं। श्रीनारद ने सुस्पष्ट रूप में ही कहा है।

पद्यार्थ—प्राण, मन, इन्द्रिय संयमपूर्वक दृढ़ योगयुक्त मुनिगण जिस तत्त्व की उपासना करते हैं, शत्रुगण अनिष्टाचरण के द्वारा स्मरण प्रभाव से आविष्ट होकर उस तत्त्व को प्राप्त करते हैं।

टीका—इदानीं आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्याद्याः श्रुतयो ध्यानमङ्गत्वेनोपदिशतीत्याह—निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढ़योगयुज इति। मरुत् प्राणश्च मनश्च अक्षादीन्द्रियाणि च निभृतानि संयमितानि यैः ते च ते दृढं योगं युञ्जन्तीति दृढ़योगयुजश्च ते तथाभूता मुनयो हृदि यत् तत्त्वमुपासते तदेवारयोऽपि तव स्मरणात् ययुः प्रापुः। स्त्रियोऽपि कामत उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियः अहीन्द्रदेहसदृशयोर्भुजदण्डयं विषक्ता धीर्यासां ताः परिच्छिन्न दृष्ट्यः। समदृशः सममपरिच्छिन्नं त्वां पश्यन्त्यो वयं श्रुत्यभिमानिन्यो देवता अपि ते समा एव कृपा विषयतया। अङ्घ्रिसरोजसुधाः, अङ्घ्रिसरोजं सुष्ठु धारयन्त्यः। अयं भावः—इत्थम्भूतस्तवस्मरणानुभावः। ये योगिनस्त्वां हृदयालम्बन-मुपासते, याश्च स्त्रियः कामतः परिच्छिन्नं ध्यायन्ति, ये च द्वेषेण, सर्वानपि तां स्त्वामेव प्रापयतीति॥

बृहत्क्रमसन्दर्भः। ननु मोक्ष एव पुरुषार्थः, तन्निरपेक्षतया मच्चरण-भजनमेव कार्य्यं, तदकरणे कुशरीरी भूत्वा आत्महत्यादिना निन्दा च कृता पूर्वपूर्वश्लोकाभ्याम्। तदयमतिस्तवः, मैवम्। अनुभव-बाधादित्याहुः। निभृतेत्यादि। निभृतानि यमितानि मरुतः प्राणा मनोऽक्षाणीन्द्रियाणि यैः स्ते च ते दृढ़योगयुजश्चेति बहुव्रीहिगर्भकर्मधारयः। एवम्भूता ये मुनयस्ते यत् कैवल्यमुपासते, आकाङ्क्षति,—तदरयः शिशुपालादयोऽपि वैरानुबन्धेन यत् स्मरणं तस्मादपि हेतोर्ययुः प्रापुः। अतः कैवल्यं तावन्न दुर्लभम्, यद् विग्रहविद्वेषिण एव प्राप्नुवन्ति। तव चरणारविन्दरतिरेव दुर्लभा। तत्र वयमेव प्रमाणम्।

यतो ब्रह्मोपासनामवहेलयन्त्य स्त्वच्चरणरत्यर्थं श्रुतिरूपमपहाय व्रजे गोपाङ्गनाभावमासादिता इत्याहुः—स्त्रिय इत्यादि। वयमपि श्रुतयोऽपि तव उरगेन्द्रभोगवद्वृत्तः कोमलो यो भुजदण्डस्तत्र विषक्तधियः सत्यः स्त्रियो भूत्वा अङ्‌घ्रिसरोजं सुष्ठु दधतीति अङ्‌घ्रि सरोजसुधा। अभवा इत्यर्थः। ते इत्युभयत्र योऽयम्। कथम्भूतस्य? समदृशः नित्यसिद्धासु गोपाङ्गनासु यथानुरक्त आसीस्तथा ॥

जब मोक्ष ही पुरुषार्थ है, तब निरपेक्ष होकर मेरा भजन करो। भजन न करने से कुशरीरी होकर आत्मनिन्दा सुननी होगी, अर्थात् भगवद्भजन न करने से मानव आत्मघाती होता है। अतः यह सब अतिस्तुति है, ऐसा कहना ठीक नहीं है। अनुभव विपरीत होगा। उस अनुभव को कहते हैं, निभृत पद्य से। जिन्होंने प्राण, मनः इन्द्रियों का संयम किया है, एवं उस संयत चित्त से दृढ़ योगी भी बना है, इस प्रकार मुनिगण कैवल्य की आकाङ्क्षा करते हैं। शत्रुगण, शिशुपाल प्रभृति भी शत्रुता का आवेश से उक्त मुक्ति को प्राप्त करते हैं। अतः कैवल्य दुर्लभ नहीं है। कारण श्रीविग्रह विद्वेषिव्यक्तिगण भी उसको प्राप्त करते हैं। किन्तु आप के चरणारविन्द की प्रीति प्राप्ति अति सुदुर्लभा है। इसमें हम सब प्रमाण हैं। कारण ब्रह्मोपासना को छोड़कर आपकी चरण प्रीति हेतु श्रुति को परित्याग कर ब्रज में गोपाङ्गना भाव प्राप्त किये हैं। इसको व्यक्त करती हैं। स्त्रिय इसके द्वारा हम सब आपके उरगेन्द्रभोग के समान कोमल बाहुयुगल के स्पर्श से अभिभूत होकर स्त्री बन कर श्रीचरण की प्रीति सेवा में नियुक्ता हो चुकी हूँ। यह भी गोपाङ्गनागणों के आनुगत्य से ही सम्भव है।

क्रमसन्दर्भः। अथ गोपालतापनी प्रभृतयः श्रीकृष्णैकपरा गाम्भीर्य्येण सर्वान्ते स्तोतुकामनया स्थता अपि तासां नानान्यप्रकारेणैव तत् पर्य्यवसानतां श्रुत्वा समुत्कण्ठां सम्बरीतुमशक्ताः सेर्ष्यमिव साक्षात्तदीयमहिमानं सर्वं तदाविर्भावोत्कृष्टतया वर्णयन्ति। तत्राप्यनन्तरोक्तिमवलम्व्येदमुद्भावयन्ति, कथमहो! साधारणं वर्ण्यते? तदिदमसाधारणं श्रूयताम्। यतो निभृतेति। इतिहासश्चात्र वृहद्वामने "ब्रह्मानन्दमयो लोको व्यापी वैकुण्ठसंज्ञितः। तल्लोकवासी तत्रस्थैः स्तुतो वेदैः परात्परः। चिरं स्तुत्वा ततस्तुष्टः परोक्षं प्राह तान् गिरा। तुष्टोऽस्मि ब्रूत भो प्राज्ञा वरं यं मर्नसेप्सितम्। श्रुतय ऊचुः—यथा तल्लोकवासिन्यः कामतत्त्वेन गोपिकाः। भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनि नस्तथा।" तथा श्रीभगवानुवाच —"आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमादरात्। कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ।" इति। एवं गायत्र्या अपि गोपिकात्व प्राप्तिः पाद्मे सृष्टिखण्डे कथितास्ति। अत्र गोपालतापनी श्रुतयः। (उ० ४) "अपूतः पूतो भवति, 'यं मां स्मृत्वा' अश्रोत्री श्रोत्री भवती, यं मां स्मृत्वा इति।"

श्रीगोपालतापनी प्रभृति श्रुतिगण श्रीकृष्णैकनिष्ठ हैं। आप सब श्रुतिसिद्धान्त श्रवण हेतु परम गम्भीर होकर तूष्णीम्भाव में रहीं। श्रुतियों का पर्य्यवसान अन्य प्रकार से हुआ, यह जानकर उत्कण्ठा को सम्बरण करने में असक्षम होकर मानो ईर्ष्या से ही भगवन्महिमा का वर्णन असमोर्द्ध रूप से करने लगीं। उन्होंने कही, साधारण रूप से भगवत्तत्त्व का वर्णन क्यों करते हो, असाधारण वृत्तान्त सुनो। कारण, मुनिगण योगसाधना से जिस कैवल्य को प्राप्त करते हैं, विद्वेष से उसको अनायास प्राप्त कर लेते हैं असुरगण, अतः वैशिष्ट्य क्या हुआ? वृहद्वामनपुराण में एक इतिहास वर्णन भी है,—ब्रह्मानन्दमय व्यापक लोक को वैकुण्ठ कहते हैं। वहाँ के निवासी श्रुतिगणों ने वेदों से परापर श्रीकृष्ण की स्तुति की। चिरकाल की स्तुति से श्रीकृष्ण सन्तुष्ट होकर बोले—मैं सन्तुष्ट हूँ। अभीप्सित को कहो, श्रुतियां बोलीं—आपके साहचर्य्य में रहनेवाली गोपिकागण कामतत्त्व से रमण मानकर आपका भजन करती हैं। हम सबकी वैसी इच्छा भजन करने की हुई। श्रीभगवान् बोले,—आगामी सारस्वत कल्प में ब्रह्मा सृजन करने के निमित्त प्रकट होने पर तुम सब व्रज में गोपी बनोंगी। इस प्रकार गायत्री की भी गोपित्व प्राप्ति का विवरण पद्मपुराण के सृष्टि खण्ड में है। इस विषय में गोपालतापनी श्रुति इस प्रकार है—जो लोक मेरा स्मरण करते हैं, वे अपवित्र होने से भी पवित्र होते हैं। अव्रती व्रती होते हैं, निष्काम सकाम होते हैं,

३६। तथा गुणावतारकर्त्तृत्वमाह (भा० ११।२९।७)—

(३६) "इत्युद्धवेनाभ्यनुरक्तचेतसा, पृष्टो जगत्क्रीड़नकः स्वशक्तिभिः।
गृहीतमूर्त्तित्रय ईश्वरेश्वरो, जगाद सप्रेममनोहरस्मितः॥"६८॥

सर्वसम्वादिनी

त्रि-रावृत्त्या तु यत् फलम्, तद्भवतीति ततोऽपि महती प्रौढ़िः। अतएव तत्रैव—

अश्रोत्री श्रोत्री होते हैं। इस प्रकार स्मरण का प्रभाव है। प्रकरण प्रवक्ता श्रीनारद हैं।।३५।।

अनन्तर श्रीकृष्ण के गुणावतारकर्त्तृत्व का वर्णन करते हैं। भा० ११।२९।७ श्लोक में वर्णित है—"जगत् जिनका क्रीड़नक है, जो निज शक्ति अर्थात् अंशावेश एवं विभूति द्वारा विष्णु, शिव, ब्रह्मारूप मूर्त्तित्रय को प्रकाशित करते हैं, उन ईश्वरेश्वर श्रीकृष्ण के प्रति अनुरक्त चित्त उद्धव के द्वारा जिज्ञासित होकर प्रीति मिश्रित मनोहर हास्य करते करते श्रीकृष्ण बोले थे। उक्त श्लोक से प्रदर्शित हुआ है कि—ब्रह्मा, विष्णु, शिव रूप गुणावतारत्रय का आविर्भावक कर्त्तृत्व श्रीकृष्ण में ही है।

क्रमसन्दर्भः। तथा गुणावतारकर्त्तृत्वमाह—इतीति, ईश्वरेश्वरत्वेन निरपेक्षोऽपि तं प्रति सप्रेमेत्यादिरूपो जगाद। तत्रेश्वरेश्वरत्वं त्रिधा यथाक्रमं श्रैष्ठ्येनाह,—जगदिति; तत्र (१) स्वशक्तिभिर्निजांशावेशविभूतित्वं गताभिरिति कनिष्ठेन, (२) प्रकटित-ब्रह्मादिमूर्त्तित्रय इति मध्यमेन, (३) ईश्वरस्य प्रकृति-प्रवर्त्तकस्य महापुरुषस्यापीश्वर इत्युत्तमेनेति ज्ञेयम्।

गुणावतारकर्त्तृत्व का वर्णन करते हैं—ईश्वरों के भी ईश्वर होने से श्रीकृष्ण परम निरपेक्ष हैं, तथापि आपने उद्धव को प्रीतिपूर्वक कहा—ईश्वरों का ईश्वरत्व तीन प्रकार से है, और उत्तरोत्तर श्रेष्ठता क्रमशः है, (१) निजशक्ति के द्वारा निजांशावेश विभूति स्वरूप को कनिष्ठ, (२) प्रकटित ब्रह्मा शिव विष्णु रूप मूर्त्तित्रय को मध्यम, (३) प्रकृति प्रवर्त्तक कारणार्णवशायि प्रभृति महापुरुष का भी ईश्वर होने से उनको उत्तम जानना होगा।

श्रीचैतन्यमतमञ्जुषा। त्वय्युद्धवेत्यादिना उद्धवं स्तौति—हे उद्धव! यस्त्रिविधो विकारः, मायान्तः श्रयति—मायामध्यवर्त्ती भवति, सत्त्वाय नापतति—नापतिष्यति, कुतः? इत्याह—आद्यन्तयोरित्यादि। यत् असतः—प्रपञ्चस्य आद्यन्तयोर्यत् सत्वस्तु तन्मध्येऽपि अन्तः त्वं नित्यं सन् असत आद्यन्तयोर्मध्ये च भविष्यतीत्यर्थः, पार्षद विग्रहस्य नित्यत्वात्॥

जगाद सप्रेम-मनोहरस्मित इति—भक्तोऽयं, भक्तावेवास्य पक्षपात इति सप्रेम, पुनः पुनः कथितमपि पुनः पृच्छतीति मनोहरस्मितः।

मनोहर हास्य से हि श्रीकृष्ण ने उद्धव को कहा, उद्धव भक्त है, और भक्तपक्षपाती ही श्रीकृष्ण हैं। अतएव प्रेमपूर्वक ही आपने कहा। पुनः पुनः कहने पर भी पुनर्बार पुछने से ही प्रभु ने मृदुमन्द स्मित कहा। उसको ही मनोहर स्मित शब्द से व्यक्त किया।

स्वामिटीका। ईश्वरेश्वरत्वे हेतुः। जगत्क्रीड़नकं— क्रीड़ोपकरणं यस्य सः। ननु जगत्सृष्ट्यादिना ब्रह्मेशादयः क्रीड़न्ति, तत्राह—स्वशक्तिभिः सत्त्वादिभिर्गृहीतं मूर्त्तित्रयं येन सः। सप्रेम—प्रेमसहितं मनोहरस्मितं यस्य सः। स प्रेम यथातथा जगादेति वा।

श्रीकृष्ण ईश्वरों का भी ईश्वर हैं। कारण—जगत् उनका क्रीड़ोपकरण है। जगत् सृष्टि के द्वारा ब्रह्मादि क्रीड़ा करते हैं? प्रसिद्ध है, उत्तर में कहते हैं—सत्त्वादि निज शक्ति के द्वारा ही उक्त मूर्त्तित्रय का प्रकाश करते हैं। प्रेमपूर्वक ही आपने कहा। प्रीतिपूर्ण ही श्रीकृष्ण का मनोहर व्यवहार है।

स्पष्टम् ।। अत्र (भा० १०।१४।१९) "अजानतां त्वत्पदवीम्" इत्युदाहृतं वचनमप्यनुसन्धेयम् ।। श्रीशुकः ।।

सर्वसम्वादिनी

'समस्तजपयज्ञानां फलदं पापनाशनम् । शृणु देवि प्रवक्ष्यामि नाम्नामष्टोत्तरं शतम् ।।'२०।। इत्युक्त्वाऽन्येषामपि जपानां वेदाद्युक्तानां फलमन्तर्भावितम् ।

इस प्रकरण में भा० १०।१४।१८ ब्रह्मा की उक्ति का भी अनुसन्धान करना आवश्यक है। उसमें गुणावतार का मूल कर्त्तृत्व सुव्यक्त हुआ है। मूल कर्त्ता श्रीकृष्ण ही हैं।

"अजानतां त्वत् पदवीमनात्मन्यात्मात्मना भासि वितत्य मायाम् ।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः ।।"
सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि तिर्य्यक्षु यादःस्वपि ते जनस्य ।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ।

टीका—ननु ब्रह्म स्तव मया दर्शितं, शुद्धमेव चैतन्यं कथं प्रपञ्चवन्मायेत्युच्यते, सत्यम्, किन्तु अद्वितीये त्वयि नानात्वं गुणावतारमत्स्याद्यवतारत्वेष्विवत्व कार्य्यवशेन स्वतन्त्रमायानिबन्धनमित्याह श्लोकद्वयेन। अजानतामिति। त्वत्पदवीं—तव स्वरूपमजानतामनात्मनि प्रकृतौ स्थित आत्मैवत्वम् आत्मनैव स्वातन्त्र्येण मायां वितत्य भासि। कथम् ? जगतः सृष्टौ अहमिव ब्रह्मेव। विधाने—पालने च एष त्वमिव। अन्ते त्रिनेत्र इवेति ।।

ब्रह्मन् तुम्हें तो चैतन्यस्वरूप दिखाया गया है, कैसे तुम प्रपञ्च की भाँति विविध प्रकारता को कहते हो ? उत्तर—सत्य है, आप तो अद्वितीय ज्ञानस्वरूप ही हैं। आप में जो नानात्व है, अर्थात् गुणावतार मत्स्यादि अवतार हैं, वे सब ही कार्य्यवश स्वतन्त्र निज शक्तिरूपा माया निबन्धन ही है। और भी कहते हैं, आप का स्वरूप अवगत न होने से ही उस प्रकार निर्विशेष कथन होता है। स्वरूप को जानने से भ्रम नहीं रहता है। प्रकृति में स्थित आप ही हैं, एवं निजेच्छा से ही निज शक्ति को प्रकट कर विभिन्न रूप से प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार सृष्टि हेतु मैं ब्रह्मा नाम से बनता हूँ। पालन में तो आप स्वयं ही दृष्ट होते हैं, अन्त में त्रिनेत्र रूप में आप ही प्रकट होते हैं।

वैष्णवतोषणी—तदेव लीलावतारगुणावतारेष्वपि त्वमेव मूलम् इत्याह—अजानतामिति द्वाभ्याम्। त्वमित्यस्य भासीत्यनेनान्वयः, कर्त्तुः क्रियान्वयस्यैव मुख्यत्वात्। विधाने पालने एष इव, एतत् कार्य्य-परिच्छिन्न इव, पालनमात्रकर्त्तेवेत्यर्थः। विष्णो स्तदैक्यात् न ब्रह्मादिवत्तन्नामोक्तिरिति ज्ञेयम्। यथा द्वितीये श्रीब्रह्मणैवोक्तम्—"सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः। विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ।।" (श्रीभा० २।६।३२)अजनस्य-प्राकृतवज्जन्मरहितस्य स्वरूपशक्त्या स्वयमाविर्भावात्। तच्च केवलं भक्तिपरिपालनयेति मायाकार्यानासक्तिमाह—असतामिति। प्रभो हे अचिन्त्यशक्तियुक्त विधातः ! हे अनन्तावतारकर्त्तः ! अत्राजानतामित्यादौ या टीकावतारिका, ननु ब्रह्मन्नित्याद्या तत्रायमभिप्रायः—ईश्वरः खलु स्वाधीनया मायया प्रपञ्च विलक्षण-शुद्धसत्त्वात्मकं स्वविग्रहादिकं भजति, ततस्तत्राविष्टश्च न भवति। शुद्धसत्त्वस्य स्वच्छत्वेन शुद्धचैतन्य तादात्म्यापन्नत्वात् तद्रूपमेव तत् सर्वम्। जीवस्त्वीश्वराधीनतया माययाधीनीकृतः, प्रपञ्चात्मकं रजस्तमोमयं विग्रहादिकं प्राप्नोति, ततस्तत्राविष्टश्च न भवति। शुद्धसत्त्वस्य स्वच्छत्वेन चिद्रूपत्वानाविष्काराज्जड़रूपमेव तं सर्वमित्यतो भवेत् एव वैलक्षण्यमिति। किन्तु मायाशब्दस्य स्वरूपशक्तिवाचित्वेनापि प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्तन्मत-स्वमतयोरेकत्वमेव दर्शयिष्यते ।।

गुणावतार लीलावतार का मू तुम्हीं हो, अजानतां दो श्लोक से कहते हैं। त्वं शब्द का अन्वय 'भासि' क्रिया पद के सहित है। कर्त्ता का मुख्य रूप से क्रिया के साथ अन्वय होता है। विधान—

३७ । अथ पुरुषावतारकर्त्तृत्वमप्याह (भा० १।९।३२)—

(३७) "इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा, भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि ।
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्त्तुं, प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः ।।"६९।।

टीका च—"परमफलरूपां श्रीकृष्णरतिं प्रार्थयितुं प्रथमं स्वकृतमर्पयति—इतीति, विगतो भूमा यस्मात्तस्मिन् । यमपेक्ष्यान्यत्र महत्त्वं नास्तीत्यर्थः । तदेव पारमैश्वर्य्यमाह—

सर्वसम्वादिनी

ततश्च प्रौढ़याधिक्यादुत्तरस्य पूर्वस्माद्बलवत्त्वे सति पूर्वस्य महिमापि तदविरुद्ध एव व्याख्येयः । तथा

पालन कार्य्य में आप जैसे, यह कार्य्य परिच्छिन्न की भाँति है । आप पालनकर्त्ता ही हैं । विष्णु के सहित श्रीकृष्ण का ऐक्य होने से ब्रह्मादि के समान पृथक् नामोच्चारण नहीं हुआ । भा० २।६।३२ में कहा भी है, आपके द्वारा नियुक्त होकर मैं सृष्टि कार्य्य करता हूँ, आपका अधीन हर प्रलयकार्य्य करते हैं, पुरुष रूप से आप विश्व पालन करते हैं । आपको त्रिशक्तिधृक् कहते हैं । प्राकृत जन्मवत् आपका जन्म नहीं है । स्वरूपशक्ति से स्वयमाविर्भूत होते हैं । यह आविर्भाव—केवल भक्त परिपालन निमित्त ही है । माया कार्य्य में अनासक्ति भी आपकी सुस्पष्ट रूप से है । हे प्रभो ! हे अचिन्त्यशक्तियुक्त विधातः ! हे अनन्त अवतारकर्त्तः ! अजानतां श्लोक में स्वामिटीका की अवतारिका का अभिप्राय यह है—ईश्वर, निज शक्ति के द्वारा प्रपञ्चविलक्षण शुद्धसत्त्वात्मक निज विग्रह में अवस्थित होते हैं । अतएव प्रपञ्च कार्य्य में आविष्ट नहीं होते हैं । शुद्धसत्त्व स्वच्छ होने के कारण शुद्ध चैतन्य तादात्म्यापन्न होने की सम्भावना है । जीव ईश्वराधीन है, अतएव मायाधीन होता है । ईश्वर, प्रपञ्चात्मक रजस्तमोमय शरीर प्राप्त नहीं होते हैं । उसमें आविष्ट भी नहीं होते हैं, यह सब जीव में होता है । अतः जीव से ईश्वर में विलक्षणता है । किन्तु माया शब्द का स्वरूपशक्तिवाचित्व भी है, इससे मतद्वय में भी ऐक्य विद्यमान है । आगे इसका प्रदर्शन होगा ।

बृहद्वैष्णवतोषणी । ईदृश-त्वन्माहात्म्यानभिज्ञेषु त्वद्भक्तेषु त्वमन्यथैव स्फुरसीत्याह-अजानतामिति । उक्तां तव पदवीं तत्त्वं भक्तिमार्गं वा अनात्मनि जड़े देहे आत्मा स्वयमेव त्वमात्मना जीवरूपेण प्रकाशसे । ननु, जीवेश्वरयोः परमवैलक्षण्यं श्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्यमानं ते कथं नावगच्छन्ति ? तत्राह—वितत्यमायामिति, अभक्तत्वेन त्वन्मायामोहितत्वादित्यर्थः । अतएव जगत्सृष्टिनिमित्तं योऽहं स इव भासि । एवमग्रेऽपि ।

एष त्वमिति मन्वन्तरपालकावतार श्रीविष्णुना सह अभेदाद्यभिप्रायेण—अहमेव ब्रह्माविष्णुः शिवश्चेति ते जानन्तीत्यर्थः । सृष्ट्यादिप्रयोजननिर्देशेन तेषामज्ञतैव दर्शिता । सृष्ट्यादिकर्त्तृत्वेन जीवतः परमवैलक्षण्येऽपि तत्तदभिमानात् सृष्ट्यादिक्रमापेक्षया ब्रह्मादिक्रमेण निर्देशः । यद्वा, यथा सृष्ट्यादिनिमित्तं महदादिरूपेण मायां वितत्य भासि तथेत्यर्थः । तत्त्वतस्त्वैव सृष्ट्यादिकर्त्तृत्वात् (भा० १।१।१) 'जन्माद्यस्य यतः' इत्याद्युक्त्या । प्रवक्ता श्रीशुक हैं ।।३६।।

श्रीकृष्ण का पुरुषावतारकर्त्तृत्व का विवरण श्रीभीष्मदेव के कथन में है । श्रीभीष्म, श्रीभगवान् कृष्ण को कहे थे—"विविध धर्मादि उपायों के द्वारा मनोधारणरूपा विषयतृष्णा रहिता निश्चयात्मिका बुद्धि प्राप्त हूँ, उसका समर्पण सात्वतश्रेष्ठ परममहत्वविशिष्ट श्रीकृष्ण को कर रहा हूँ । श्रीकृष्ण सर्व्वदा स्वरूपभूत परमानन्दपूर्ण होकर भी कदाचित् क्रीड़ा के निमित्त प्रकृति को अङ्गीकार करते हैं ।

स्वामिटीका—"परमफलरूपां श्रीकृष्णरतिं प्रार्थयितुं प्रथमं स्वकृतमर्पयति—इति । नाना-धर्माद्युपायैर्मनोधारणलक्षणा उपकल्पिता—समर्पिता क्व ? सात्वतानां पुङ्गवे श्रेष्ठे भगवति । वितृष्णा—

स्वसुखं स्वरूपभूतं परमानन्दमुपगते प्राप्तवत्येव। क्वचित् कदाचिद्विहर्त्तुं क्रीड़ितुं प्रकृतिमुपेयुषि स्वीकृतवति, न तु स्वरूपतिरोधानेन जीववत् पारतन्त्र्यमित्यर्थः। विहर्त्तुमित्युक्तं प्रपञ्चयति— यद् यतो भवप्रवाहः सृष्टिपरम्परा भवति" इत्येषा। एवमेव तं प्रत्युक्तं देवैरप्येकादशे (भा० ११।६।१६)—"त्वत्तः पुमान् समधिगत्य ययास्य वीर्य्यं, धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्य्यः" इति।

सर्वसम्वादिनी

हि यद्यप्येवमेव श्रीकृष्णवत्तन्नाम्नोऽपि सर्वतः पूर्णशक्तितया सर्वेषामपि नाम्नामवयवित्वमेव, तथाप्यवयव-

निष्कामा, अवितृष्णेति वा च्छेदः—अवितृप्ता इत्यर्थः। विगतो भूमा यस्मात् तस्मिन्, यमपेक्ष्यान्यत्र महत्त्वं नास्तीत्यर्थः। तदेवपारमैश्वर्य्यमाह– स्वसुखं स्वस्वरूपभूतं परमानन्दम्, उपगते प्राप्तवत्येव। क्वचित्-कदाचित्, विहर्त्तुं—क्रीड़ितुं प्रकृतिं –योगमायां, उपेयुषि—स्वीकृतवति। ननु स्वरूपतिरोधानेन जीववत् पारतन्त्र्यमित्यर्थः। विहर्त्तुमित्युक्तं प्रपञ्चयति यद् यतः प्रकृतेः भव प्रवाहः सृष्टिपरम्परा भवति॥

उक्त टीका का अभिप्राय इस प्रकार है—परमफलरूपा श्रीकृष्ण प्रीति प्रार्थना करने के निमित्त प्रथमतः श्रीकृष्ण को श्रीभीष्म आत्मार्पण कर रहे हैं। स्वकृत समुदय वस्तु का अर्पण ही श्लोकोक्त 'इति' शब्द से सूचित हुआ है। श्लोकोक्त 'विभूम्नि' शब्द का अर्थ—जिनसे निखिल भूमा परित्यक्त हुआ है, अर्थात् जो एकमात्र महत् पदवाच्य हैं। उनसे अपर कोई भी महत् नहीं हैं। जिस पारमैश्वर्य्य के द्वारा श्रीकृष्ण सर्वश्रेष्ठ हैं। उनमें उक्त पारमैश्वर्य्य की स्थिति को सूचित करने के निमित्त 'स्वसुख' शब्द का उपन्यास हुआ है। अर्थात् श्रीकृष्ण, स्वरूपभूत-परमानन्द प्राप्त हैं। कदाचित् क्रीड़ा हेतु प्रकृति को अङ्गीकार करते हैं। श्रीकृष्ण जीव के समान स्वरूप विस्मृत होकर प्रकृति को ग्रहण नहीं करते हैं। अतएव आप जीववत् मायापरतन्त्र नहीं हैं। क्रीड़ा प्रकार को कहते हैं—जिससे भवप्रवाह अर्थात् सृष्टि परम्परा चलती रहती है।

श्रीभगवान् प्रकृति में अवतीर्ण होकर महाविष्णु गर्भोदशायी (पद्मनाभ) क्षीरोदशायी (विष्णु) तीन पुरुषावतार संज्ञा प्राप्त होते हैं। (प्रकृतिमुपेयुषि) शब्द से प्रकृति को अङ्गीकार करना प्रतीत होता है। इससे स्थिर हुआ है कि—श्रीकृष्ण ही उक्त पुरुषावतारत्रय का आविर्भाव कर्त्ता हैं।

क्रमसन्दर्भः। सात्वतपुङ्गव इति धारणाविषयस्य तस्य विशेषणं नतूपलक्षणमिति ज्ञेयम्। विभूम्नि —विशेषेण भूमातिशयो यस्मिन् तत्र, भूम वाक्यवत् भूम शब्देनात्र परमातिशय्येव चोच्यते। विशब्दस्तु तद्व्यक्त्यर्थ एव, क्वचिदित्यादिना पुरुषावतारकर्त्तृत्वमुक्तम्॥

'सात्वतपुङ्गवे' शब्द—धारणा विषयरूप श्रीकृष्ण का विशेषण है। किन्तु उपलक्षण नहीं है। विभूम्नि—कहने से प्रतीत होता है—विशेष रूप से भूमातिशय्य श्रीकृष्ण में ही है, अन्यत्र नहीं। भूम वाक्य के समान भूम शब्द से भी परमातिशय्य का ही बोध होता है। 'वि'-शब्द उन परममहत्त्व का प्रकाशक ही है। और 'क्वचित्' शब्द के द्वारा पुरुषावतारकर्त्तृत्व का कथन हुआ है।

अतएव भा० ११।६।१६ में श्रीकृष्ण के प्रति देवगणों ने कहा है—

"त्वत्तः पुमान् समधिगम्य ययास्यवीर्य्यं धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्य्यः।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं हैमं ससर्ज वहिरावरणैरुपेतम्॥"

टीका—त्वमेव प्रकृत्यादि द्वारा जगत् सृष्ट्यादि हेतुरित्युक्तं तत् केन प्रकारेण? तदाहुः—त्वत्त्व इति। त्वत्त्वः पुरुषो वीर्य्यं शक्तिं समधिगम्य प्राप्य, यया मायया सह महान्तं धत्ते। कमिव। अस्य विश्वस्य गर्भमिव। सोऽयं महान् तयैव मायया अनुगतः सन् आत्मनः सकाशात् आण्डकोशं ससर्ज्ज।

टीका च—"त्वत्तः पुरुषो वीर्य्यं शक्तिं समधिगत्य प्राप्य यया मायया सह महान्तं धत्ते। कमिव ? अस्य विश्वस्य गर्भमिव" इत्येषा ॥ भीष्मः श्रीभगवन्तम् ॥

३८। अतएव, (भा० ११।२९।४९) "भवभयमपहन्तुम्" इत्यादौ तस्यादिपुरुषत्वं श्रेष्ठत्वमप्याह,—"पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि" इति। कृष्णेति संज्ञा तन्नामत्वेनाति-

सर्वसम्वादिनी

साधारण्येन प्रयोग-लक्षणमसमञ्जसमेव। ततस्तादृशफल-लाभे भवति प्रतिबन्धकम्। ततो नामान्तर-

त्वयानुगत इति पाठेऽपि तया मायया त्वयाधिष्ठितः सन्निति।

आप ही प्रकृत्यादि के द्वारा जगत् सृष्ट्यादि का कारण हैं। वह कैसे ? कहते हैं—त्वत्त्वः, आप से पुरुषावतार शक्ति लाभ कर माया शक्ति की सहायता से महदादि सृष्टि कार्य्य करने में समर्थ होते हैं। यह भी विश्व के गर्भ के समान है। वह महान् आपकी शक्तिरूपा माया के आनुगत्य से ब्रह्माण्ड का सृजन किया है। त्वयानुगत पाठ से उक्त अर्थ ही होता है। तया मायया अधिष्ठितः सन्निति।

क्रमसन्दर्भः। जीवात् पुरुषादुत्तमत्वेन पुरुषोत्तमत्वं व्यज्य प्रकृतिद्रष्टृतोऽप्युत्तमत्वेन व्यञ्जयति—त्वत्त्व इति। ययेति—यस्यां मायायामित्यर्थः। अन्यत्तैः (श्रीधरस्वामिपादैः)।

जीव एवं पुरुष से उत्तम होने से हि श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं। यह दर्शाकर प्रकृतिद्रष्टा से भी आप उत्तम हैं, उसको कहते हैं,—आप से शक्ति प्राप्त कर पुरुष सृष्टि कार्य्य करते हैं। जिस माया शक्ति के द्वारा ही विश्व सृष्टि होती है, वह शक्ति आपकी है। अपर विवरणसमूह का कथन श्रीधरस्वामिपाद ने किया है। श्रीभीष्म श्रीभगवान् कृष्ण को कहे थे ॥३७॥

श्रीकृष्ण से ही पुरुषावतार का आविर्भाव होता है, तज्जन्य ही श्रीशुकदेव ने श्रीकृष्ण का आदि पुरुषत्व एवं श्रेष्ठत्व का कीर्त्तन किया है। "जो पुरुषश्रेष्ठ हैं, जो आद्य एवं कृष्ण संज्ञित हैं, उनको नमस्कार करता हूँ। कृष्ण यह नाम है जिनका वह कृष्ण संज्ञ हैं। भा० ११।२९।४८

"भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं निगमकृदुपजह्ने भृङ्गवद्वेदसारम्।
अमृतमुदधितश्चापायद्भृत्यवर्गान् पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि ॥"

जो निखिल वेदाविर्भावकर्त्ता श्रीकृष्ण हैं। भ्रमर के कुसुमसारसंग्रह के समान जिन्होंने संसार से निष्कृति लाभ का उपायस्वरूप निखिल वेदसार ज्ञानविज्ञान, उसका साररूप श्रीभगवद्भक्तिसुधा का उद्धार करके निवृत्ति मार्ग में स्थित भक्तवृन्द को पान कराया है, एवं जरा रोगादि भयातुर भोगमात्रैक लक्ष्य प्रवृत्तिमार्ग में वर्त्तमान देवगण को समुद्रमन्थन द्वारा सुधा उद्धार एवं मोहिनी रूप में अमृतास्वादन कराया है। उन आद्य अर्थात् सर्वकारण-कारण पुरुषश्रेष्ठ कृष्णसंज्ञ श्रीभगवान् को नमस्कार करता हूँ।

टीका—एवं कृतोपदेशं जगद्गुरुं प्रणमति—भवभयमिति। भवः—संसारः, भयञ्च, जरारोगादि-निमित्तम्। तदुभयं निवृत्तानां प्रवृत्तानाञ्च भृत्यवर्गाणाम्, यथायोग्यमपहन्तुं योऽमृतद्वयमुपजह्ने—उद्धृतवान्। तदेवाह—वेदसारमेकम्। किं तत् ? ज्ञानविज्ञानरूपञ्च, तत्सारं श्रेष्ठञ्च, भृङ्गवत् भृङ्गो यथा पुष्पमकोपयन्नेव अमृतमुपहरति, तथा स्वयं स्वकृतवेदानुसारेणैव उदधितश्चैकम्। तच्चोभयम्—यथायथं भृत्यवर्गान् अपाययत् तं नतोऽस्मीति ॥

क्रमसन्दर्भः। एकोऽवतारस्तावद्भवभयमित्यादिलक्षणः। अन्यस्त्वमृतादिलक्षणः। यद्यप्येवमेवं गुणत्वेन द्वयमपि नमनीयम्। तथाप्याद्यं प्रथमं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मीति। तदा तस्यादरो दर्शितः। युक्तमेव च तदिति तं विशिनष्टि, तस्यादिपुरुषत्वं श्रेष्ठत्वञ्चाप्याह—पुरुषं सर्वादिमित्यर्थः। "पूर्वमेवाह-मिहासमिति तत् पुरुषस्य पुरुषत्वम्" इति श्रुतेः। ऋषभं—श्रेष्ठं चेति। कृष्णसंज्ञं कृष्णेति संज्ञा—

प्रसिद्धिर्यस्येति मूर्त्यन्तरं निषिध्यते। तन्मूर्त्तेर्नमस्क्रियमाणत्वेन च नित्यसिद्धत्वं दर्श्यते। तत्रैव टीकाकृद्भिरपि "तं वन्दे परमानन्दं नन्दनन्दनरूपिणम्" इत्युक्तम् ॥ श्रीशुकः ॥

३८। तदेवम्, (भा० १।३।१) "जगृहे" इत्यादिप्रकरणे यत् स्वयमुत्प्रेक्षितं तच्च श्रीस्वामि-सम्मत्यापि दृढ़ीकृतम्। पुनरपि तत्सम्मतिरभ्यस्यते, यथा (भा० १०।७२।१५)—

(३८) "श्रुत्वाजितं जरासन्धं नृपतेर्ध्यायतो हरिः।
आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह ॥"७०॥

टीका च—"आद्यो हरिः श्रीकृष्णः" इत्येषा ॥ श्रीशुकः ॥

सर्वसम्वादिनी

साधारणमेव फलं भवेत्; यथा—साक्षान्मुक्तेरपि दातुः श्रीविष्णवाराधनस्य यज्ञाङ्गत्वेन क्रियमाणस्य स्वर्गमात्र-

तन्नामत्वेनातिप्रसिद्धिर्यस्येति मूर्त्यन्तरं निषिध्येत; तन्मूर्त्तेर्नमस्क्रियमाणत्वेन च नित्यसिद्धत्वं दर्श्यते। तत्रैव (पुष्पिकायां) टीकाकृद्भिरपि—"येन नाक्रम्पितं विश्वमुद्धवप्रश्ननिर्णयैः।
तं वन्दे परमानन्दं नन्दनन्दनरूपिणम् ॥"

यद्यपि भवभयापहारकोपदेशकर्त्ता एक अवतार, अमृतरूप अपर अवतार सुप्रसिद्ध है। गुण की दृष्टि से उभय ही नमनीय हैं, तथापि प्रथम अवतार कृष्ण को ही प्रणाम करते हैं। अमृत से भी आदराधिक्य श्रीकृष्ण में है। उचित भी है, श्रीकृष्ण ही आदि पुरुष एवं सर्वश्रेष्ठ हैं। श्रुति भी कहती है—सर्वप्रथम श्रीकृष्ण की स्थिति है, उनमें ही पुरुष का पुरुषत्व है। ऋषभ शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है। कृष्णसंज्ञ शब्द से कृष्णनाम है जिनका। अति प्रसिद्ध नाम है। अतएव कृष्ण शब्द से अपर का बोध नहीं होता है। वह मूर्त्ति प्रणम्य तो है ही, नित्यसिद्ध भी है। पुष्पिका वाक्य में स्वामिपाद ने भी कहा है—परमानन्दस्वरूप नन्दनन्दन की मैं वन्दना करता हूँ।

"उद्धव का प्रश्नोत्तर प्रदान कर जिन्होंने जगत् को अनुगृहीत किया है, उन नन्दनन्दनरूपी श्रीकृष्ण की वन्दना करता हूँ।"

स्वामिपाद की टीका विरचन समय में श्रीकृष्ण नन्दनन्दन रूप में विराजित न होने पर भी उस रूप को प्रणाम करना व्यर्थ होता है। सुतरां उनके वाक्य द्वारा भी नन्दनन्दन रूप में श्रीकृष्ण की नित्य स्थिति प्रतिपादित हुई ॥३८॥

इस प्रकार भा० १।३।१ में उक्त—"जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः।
सम्भूतं षोड़शकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥" इत्यादि प्रकरण में अर्थात् परमात्मा का स्वरूप निर्णय प्रसङ्ग में जो विचार्य्य विषय है—अर्थात् श्रीभगवान् से पुरुषावतार का प्रकटन सिद्धान्त का दृढ़ीकरण श्रीधरस्वामिपाद स्वीकृत वाक्य से ही हुआ है। पुनर्बार स्वामिपाद की सम्मति का प्रदर्शन—अभ्यास के द्वारा करते हैं। श्रीकृष्ण सर्वावतारी, सर्वाश्रय, पुरुषोत्तम, स्वयं भगवान् हैं। भा० १०।७२।१५ में उक्त है—समस्त राजन्यवृन्द पराजित हुए हैं, केवल जरासन्ध ही अजेय है। यह सुनकर महाराज युधिष्ठिर चिन्तित हुए थे। उस समय चिन्ता अपनोदन हेतु उद्धव कथित उपाय को ही श्रीकृष्ण कहे थे। आद्य—हरि, उक्त उपदेश प्रदान किए थे।

टीका—"आदो हरिः—श्रीकृष्णः।" तात्पर्य्य निर्णय के षड़् विध उपायों के मध्य में अन्यतम उपाय को अभ्यास कहते हैं। उपायसमूह—उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य्यनिर्णये ॥ उपक्रम उपसंहार, अभ्यास, अपूर्व, फल, अर्थवाद, उपपत्ति, तात्पर्य्य निर्णायक षड़् विध लिङ्ग हैं। "प्रकरणप्रतिपाद्यस्य

४० । किञ्च, (भा० १०।२।९)—

(४०) "अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे । प्राप्स्यामि" इति ।

'अंशभागेन' इत्यत्र पूर्णतोचितमेवार्थं बहुधा योजयद्भिर्मध्ये अंशेन पुरुषरूपेण मायाया भागो भजनमीक्षणं यस्य तेनेति च व्याचक्षाणैरन्ते सर्वथा परिपूर्णरूपेणेति विवक्षितम्, (भा० १।३।२८) "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्युक्तत्वात्, इत्येवं हि तैर्व्याख्यातम् ॥ श्रीभगवान् योगमायाम् ॥

सर्वसम्वादिनी

प्रदत्वम्; यथा वा वेदजपतस्तदन्तर्गत-भगवन्मन्त्रेणापि न ब्रह्मलोकाधिक-फलप्राप्तिः; यथात्रैव तावत् केवलं

वस्तुनः तन्मध्यं पौनः पुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः ।" प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का प्रकरण के मध्य में पुनः पुनः प्रतिपादन को अभ्यास कहते हैं। श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता का प्रतिपादन, श्रीस्वामिपाद का अभिमत है, तज्जन्य ही आपने 'आद्यो हरिः श्रीकृष्णः' इस प्रकार व्याख्या की है।

श्रीशुक, प्रकरण प्रवक्ता हैं ॥३९॥

श्रीभगवान् योगमाया को कहे थे—(भा० १०।२।९) "अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे। प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि ।।" "हे शुभे! अनन्तर मैं अंश-भाग के द्वारा देवकी पुत्र बनूँगा, एवं तुमारा आविर्भाव नन्दपत्नी यशोदा से होगा।"

टीका—किमर्थमेवं कार्य्यमित्यत आह—अथेति। अनन्तरमेवेत्यर्थः। (१) अंशभागेनेति अंशैः शक्तिभिर्भजते अधितिष्ठति सर्वान् ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तान् इत्यंशभागस्तेन परिपूर्णरूपेणेत्यर्थः। (२) यद्वा—अंशैः, ज्ञानैश्वर्य्यबलादिभिर्भाजयति योजयति स्वीयानिति यथा तेनेति। (३) यद्वा अंशेन—पुरुषरूपेण मायया गुणावतारादिरूपा भागाभेदा यस्य तेन। (४) यद्वा अंशेन—मायया गुणावतारादिरूपा भागाभेदा यस्य तेन। (५) अंशा एव मत्स्यकूर्मादिरूपा भजनीया ननु साक्षात्स्वरूपं यस्य तेन। (६) यद्वा, अंशैः, ज्ञानबलादिभिर्भजनमनुवर्त्तनं भक्तेषु यस्य तेन। सर्वथा परिपूर्णरूपेणेति विवक्षितम्। कृष्णस्तु भगवान् स्वयमित्युक्तत्वादिति, तां प्रोत्साहयति, त्वं यशोदायामिति द्व्यक्षरोनसार्द्धचतुष्टयेन ॥

श्लोकोक्त "अंशभागेनेत्यत्र पूर्णतोचितमेवार्थं योजितम्" 'अंशभागेन' पद की योजना अनेक प्रकार से करके श्रीस्वामिपाद ने श्रीकृष्ण की पूर्णता का प्रतिपादन किया है। तन्मध्य में एक अर्थ यह है—'अंशः' पुरुषरूप के द्वारा माया के प्रति 'भाग' भजन ईक्षण है जिनका, उस स्वरूप में आविर्भूत होऊँगा। इस रीति से छह प्रकार व्याख्या करने के पश्चात् आपने कहा है—"सर्वथा परिपूर्ण रूप में आविर्भूत होऊँगा।" इस प्रकार कहने का अभिप्राय से ही श्रीभगवान् "अंशभागेन" पद का प्रयोग किए हैं। कारण 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इसका निर्णय अवतारसूचक प्रकरण में हुआ है। यहाँ पर स्वामिपादने श्रीकृष्ण की सर्वावतारकर्त्तृत्वसूचक व्याख्या की है।

बृहत्क्रमसन्दर्भः। (भा० १०।१।२५) "आदिष्टा प्रभुनांशेन" इति ब्रह्माणं प्रति अनिरुद्धो यदुवाच, तमेव प्रभोरादेशं प्रपञ्चयति अथाहमंशभागेनेत्यादि। हे शुभे! अहं देवक्याः, पुत्रतां प्राप्स्यामि, त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि। अथानन्तरं त्वं देवक्यां भविष्यसि, अहं नन्दपत्न्यां पुत्रतां प्राप्स्यामीति व्यत्ययोऽपि अथ शब्देन बोद्धव्यः, अव्ययानामनेकार्थत्वात्। अंशभागेन—भागधेयेन, अंशा अत्र देवा इति बोद्धव्यम्। अथवा, अंश्यते विभज्यते क्रिया अनेनेति अंशः कालः, 'अंशांशत्व विभाजने' इत्यतो वाभिरूपम्। तस्य भागेन भेदेन, अहमादौ देवक्याः पुत्रो भविष्यामि, पश्चान्नन्दपत्न्याः, त्वमादौ नन्दपत्न्याः, पुत्री भविष्यसि, पश्चाद् देवक्या इति। (भा० ९।२४।३०) "वसुदेव

हरेः स्थानम्" इति लक्ष्य लक्षणभावात् हरेः स्थानत्वं हि वसुदेवत्वम्, तदुभयोरानकदुन्दुभिनन्दयं रेवास्ति। नन्दादयोऽपि यदुवंशान्तर्गताः, क्षत्रिय वैश्ययोः सम्बन्धात्, तेन (भा० १०।१।२२) "यदुषूपजन्यताम्" इति तेषामुभयत्रैवावतारश्च। अतएवं स्वयं वक्ष्यति भगवान् (११।५।२३) "ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामः" इत्यादि।

भा० १०।१।२५ के विवरण से ज्ञात होता है—अनिरुद्ध ने ब्रह्मा को कहा—'अंश के सहित आविर्भूत होंगे।' प्रभु के आदेश को विस्तार पूर्वक कहते हैं, मैं अंशभाग से आविर्भूत हो जाऊँगा। हे शुभे! मैं देवकी का पुत्र बनूँगा, तुम नन्दपत्नी यशोदा की पुत्री बनो, अनन्तर तुम देवकी की पुत्री बनोगी, और मैं नन्दपत्नी यशोदा का पुत्र बनूँगा। इस प्रकार अर्थ "अथ" शब्द के द्वारा उपलब्ध होता है। अव्ययों के अनेकार्थ सुप्रसिद्ध हैं। अंशभाग शब्द से – अंश विभाग से, अंश शब्द से देवता वर्ग को जानना होगा। अथवा—अंश्यते विभज्यते क्रिया अनेनेति, अंशः—शब्द से काल अर्थ होता है, किंवा अंशांशक विभाजने। इसका ही अभिरूप है। उसका भाग से, अर्थात् भेद से, पहले मैं देवकी का पुत्र बनूँगा। पश्चात् नन्दपत्नी यशोदा का, तुम पहले नन्दपत्नी की पुत्री बनोगी पश्चात् देवकी की। भा० ९।२४।३० में उक्त है —वसुदेव को हरि का ही आधार कहा है। इस प्रकार लक्ष्य लक्षण भाव से जो हरि का स्थान है, वह ही वसुदेव है। वह लक्षण—वसुदेव नन्द में समभाव से है। नन्दादि यदुवंशी है, क्षत्रिय वैश्य सम्बन्ध से जानना होगा। भा० १०।१।२२ में उक्त है—यदु में उत्पन्न हो जाओ, इससे उभयत्र ही अवतार होना सूचित होता है। अतएव आपने स्वयं ही कहा है—(भा० १०।४५।२३) "ज्ञातियों को देखने के निमित्त मैं आऊँगा, सुहृदों को सुखी करने के बाद" इत्यादि।

वैष्णवतोषणी—अथानन्तरमेवेति—देवकीपुत्रत्व प्राप्तौ त्वरां बोधयति, एवमेव श्रीबलदेवस्याल्पकालाग्रजत्वं, तच्चाग्रे व्यक्तं भावि। अंशेति तैर्व्याख्यातम्। अत्र प्रथमेऽर्थे कर्त्तरि घञ् आर्षः, द्वितीये च निजन्तत्वात्तद्वत्। तृतीयेऽंशेन पुरुषरूपेणेत्यादिकं त्वस्मान्मत्सहायमिति ज्ञेयम्। यद्वा, अंशानां भागो भजनं प्रवेशो यत्र तेन स्वरूपेण; यद्वा, अंशानां भागो भजनं प्रवेशो यत्र तेन रूपेण; यद्वा, अंशानां ब्रह्मादीनां जीवानां भागधेयेन हेतुना; ननु सङ्कर्षणाकर्षणे श्रीयशोदायां जन्मनि च मम का योग्यता? इत्यपेक्षायामाह—शुभे! मन्निदेशेनैव प्राप्त मङ्गले, तत्र त्वं योग्या भूरित्यर्थः। एवं तां प्रति बरदानं ज्ञेयम्। अतएव तया श्रीनन्दादिमोहनं वक्ष्यति, यद्वा, हे भाग्यवती, यतो यशोदायां भविष्यसि, यशोदायामिति तेन तव यशः, नन्दपत्न्यामित्यानन्दश्च भवितेति भावः। निगूढ़श्चायमर्थः—अंशभागेन प्रकाशभेदेन देवक्याः पुत्रतां प्राप्स्यामीत्येवं प्रकाशान्तरेण श्रीयशोदाया अपि पुत्रतां प्राप्स्यामीति ज्ञेयम्। "अवतीर्णौ जगत्यर्थे स्वांशेन बलकेशवौ।" (भा० १०।३८।३२) इत्यत्र श्रीस्वामिचरणैरपि व्याख्यातम्। स्वांशेन मूर्त्तिभेदेनेति। अतएव त्वं यशोदायां भविष्यसि, विद्यमानतामेव प्राप्स्यसि, नतु पुत्रीत्वमिति, तथा व्यवहाराभावात् इति भावः। एतद्व्यञ्जनैव भविष्यसि इति पृथगुक्तम्, अन्यथा श्रीयशोदायां त्वं पुत्रतां प्राप्स्यसीति विभक्तिविपरिणामेनैवार्थसिद्धिः स्यात्। पुत्रशब्दो हि कन्यामपि वदति, अतएव, तद्व्यवच्छेदाय "पुमांसं पुत्रमाधेहि" इति श्रुतौ, पुमांसमिति पुत्रतामिति सामान्यवचनत्वेन पुंस्त्वव्यभिचारित्वं युक्तीनामितिवत्। अयं भाव—दधार सर्वात्मकमात्मभूतम् (श्रीभा० १०।२।१८) इतिवत् वक्ष्यमाणदिशा यथा देवकी मां मनसि धारयिष्यति स्वगर्भजत्वेनाभिमंस्यते च, तथा सापि; यथा च देवक्यां मम मातृत्वानुभवस्तथा तस्यामपीति। 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने' (श्रीभा० १०।५।१) इत्यादौ श्रीशुकवाक्ये विवृती भविष्यति। अतो भवत्यास्तत्र सत्ताव्याजमात्रार्थं मयादिश्यते, यतो भवती मायेति।

बृहद्वैष्णवतोषणी—अथानन्तरमेवेति देवकीपुत्रत्वप्राप्तौ त्वरां बोधयति। एवं श्रीबलरामस्यात्यल्पकालमेवाग्रजत्वं ज्ञेयम्। तच्चाग्रे व्यक्तं भावि। अंशेति तैर्व्याख्यातमेव। यद्वा अंशानां श्रीब्रह्मादीनां भागधेयेन हेतुना। ननु शेषाकर्षणे यशोदायां जन्मनि च मम का योग्यतेत्यपेक्षायामाह—शुभे! हे सर्वोत्तमे!

४१। एवम् (भा० १०।८५।३१)—

(४१) "यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता॥"७१॥

टीका च—"यस्यांशः पुरुषस्तस्यांशो माया तस्या अंशा गुणास्तेषां भागेन परमाणुमात्र-लेशेन विश्वोत्पत्त्यादयो भवन्ति, तं त्वा त्वां गतिं शरणं गतास्मि" इत्येषा॥ श्रीदेवकीदेवी श्रीभगवन्तम्॥

सर्वसम्वादिनी

रामनामैव सकृद्वदतोऽपि वृहत्सहस्रनाम-फलमन्तर्भूत-रामनामैकोनसहस्र-नामकं सम्पूर्णम्, वृहत्सहस्रनामापि

मत्प्रभावादुत्तमत्वसिद्धया योग्या भूया इत्यर्थः। एवं तां प्रति वरप्रदानं ज्ञेयम्। अतएव तया, श्रीनन्दादिमोहनं वक्ष्यति। यद्वा, हे भाग्यवति! अतो यशोदायां भविष्यसि; यशोदायामिति तेन तव यशः। नन्दपत्न्यामित्यानन्दश्च भवितेति भावः।

देवकी पुत्रत्व प्राप्ति के निमित्त व्यग्रता को प्रकट करते हैं। श्रीबलराम का आविर्भाव अल्प पूर्वकाल में ही हुआ। अंश शब्द की व्याख्या स्वामिपाद ने की है। अथवा अंशरूप श्रीब्रह्मादि होने के कारण शेष का आकर्षण करने में एवं यशोदापुत्री रूप में आविर्भूत होने की मेरी योग्यता ही क्या है? कहते हैं, शुभे! सर्वोत्तम हो, मेरा प्रभाव से उत्तम होकर योग्य बनो। उनके प्रति यह बरदान जानना होगा। अतएव उनके द्वारा ही श्रीनन्दादि का मोहन हुआ, अग्रिम ग्रन्थ में कहेंगे। यद्वा हे भाग्यवति! तुम यशोदा में ही आविर्भूत होऊगी, यह ही तुम्हारा यशः है। नन्दपत्नी शब्द से परमानन्द सूचित हुआ है।

क्रमसन्दर्भः। अथाहमिति। अंशानां भागो भजनं प्रवेशो यत्र, ते पूर्णस्वरूपेणैव॥ जिसमें समस्त अंशों का प्रवेश है। अतएव पूणस्वरूप से ही आविर्भूत हुये। श्रीभगवान् योगमाया को कहे थे॥४०॥

इस प्रकार भा० १०।८५।३१ में श्रीदेवकीदेवी श्रीकृष्ण को बोलीं थीं, हे विश्वात्मन्! हे आद्य! जिनके अंशांश भाग के द्वारा विश्व के सृष्टि-स्थिति-विलय होते हैं, ऐसे तुम हो, मैं तुम्हारी शरण में आई हूँ।

स्वामिटीका—"आद्य! यस्यांशः पुरुषस्तस्यांशो माया तस्या अंशा गुणास्तेषां भागेन परमाणुमात्र-लेशेन विश्वोत्पत्त्यादयो भवन्ति। तं त्वा त्वां गतिं शरणं गतास्मि।"

जिनका अंश पुरुष है, पुरुष का अंश माया है, माया का अंश त्रिगुण है, सत्त्व रजः तमः। त्रिगुण के परमाणु लेशमात्र से ही विश्व के उत्पत्ति प्रभृति होते रहते हैं। मैं तुम्हारी उन स्वरूप की शरण में आई हूँ।" देवकीदेवी के इस वाक्य से प्रकाशित हुआ है—श्रीकृष्ण ही सर्वांशी है, इस प्रकार अर्थ ही श्रीधरस्वामिपाद का अनुमत है।

वैष्णवतोषणी। एवं तौ पृथक् स्तुत्वा पुनरेकमत्यर्थमेकत्वेनैव शरणं याति—यस्येति। किलेति प्रसिद्धमेवेदमित्यर्थः। विश्वात्मन्। सर्वमूलस्वरूप! एतावन्तं कालं नैवं त्वां प्रार्थितवत्यस्मि, अधुना च किञ्चित् प्रार्थयितुं शरणं यामीत्याशयेनाह—अद्येति।

वृहद्वैष्णवतोषणी। एवं स्तुत्वा स्वप्रार्थ्यपूरणसामर्थ्यं सूचयन्ती तदर्थमार्त्या शरणं याति—यस्येति। किलेति—प्रसिद्धमेवेदमित्यर्थः। विश्वात्मन्—हे सर्वान्तर्यामिन्! एवमुभयथा महाशक्तिमत्त्व-मुक्तम्। अतो गतिं गतास्मि। ननु त्वमस्मन्माता किमिदं वदसि? तत्राह—हे आद्येति; महापुरुषत्वादिति भावः। यद्वा, एतावन्तं कालं न कथञ्चित् त्वामेव प्रपन्नास्मि, अधुना च किञ्चित् प्रार्थयितुं शरणं यामीत्याशयेनाह—आद्येति॥ श्रीदेवकीदेवी श्रीभगवान् को बोली थीं॥४१॥

४२। यथा च (भा० १०।१४।१४)—

(४२) "नारायणस्त्वं नहि सर्वदेहिनाम्" इत्यादौ,

"नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात्" इति।

टीका च—"नरादुद्भूता येऽर्थाः, तथा नराज्जातं यज्जलं तदयनाद् यो नारायणः प्रसिद्धः, सोऽपि तवाङ्गं मूर्त्तिः" इत्येषा। अत्र स तवाङ्गम्, त्वं पुनरङ्गीत्यसौ तु विशदोऽर्थः; न तु स्तुतिमात्रमिदम् (भा० १०।१३।१५) "दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं

सर्वसम्वादिनी

पठतो वृहत्सहस्रनाम-फलम्, न त्वधिकमेकोनसहस्रनामफलमिति। अतएव साधारणानां केशवादि-नाम्नामपि तदीयता-वैलक्षण्येनागृह्यमाणानामवतारान्तर-नाम-साधारण-फलमेव ज्ञेयम्।

उस प्रकार ब्रह्मा भी श्रीकृष्ण को कहे थे—हे अधीश! आप क्या नारायण नहीं हैं? मैं सत्य एवं निश्चय रूप से कहता हूँ—आप ही नारायण हैं। कारण, आप समस्त देहियों का आत्मा हैं, तृतीय पुरुष, अखिललोकसाक्षी, द्वितीय पुरुष, एवं नर सम्भूत जो चतुर्विंशति तत्त्व, एवं जल—कारणार्णव, उन समस्त का आश्रय प्रथम पुरुष हैं, किन्तु यह प्रथम पुरुषरूप नारायण आप नहीं हैं। यह आपका अङ्ग है, अर्थात् अंश है, आप इनका अंशी हैं। अतएव उक्त रूप, माया अर्थात् मायिक नहीं हैं।

"नारायणस्त्वं नहि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात् तच्चापि सत्यं न तवैव माया॥"

टीका—तर्हि नारायणस्य पुत्रः स्यास्त्वं मम किमायातं तत्राह—नारायणस्त्वमिति नहीति, काक्वा त्वमेव नारायण इत्यापादयति। कुतोऽहं नारायण इति चेदत आह, सर्वदेहिनामात्मात्मत्वान्नारायण इति भावः। हे अधीश! त्वं नारायणो नहीति पुनः काकुः। अधीशः—प्रवर्त्तकः, ततश्च नारस्यायनं प्रवृत्तिर्यस्मात् स तथेति। पुनस्त्वमेवासाविति। किञ्च त्वमखिललोकसाक्षी, अखिलं लोकं साक्षात् पश्यसि अतो नारमयसे जानासीति त्वमेव नारायण इत्यर्थः।

नन्वेवं नारायणपदव्युत्पत्तौ भवेदेवं तत्तु अन्यथा प्रसिद्धमित्याशङ्क्याह—नारायणोऽङ्गमिति। नरादुद्भूता येऽर्थास्तथा नराज्जातं यज्जलं तदयनाद् यो नारायणः प्रसिद्धः सोऽपि तवैवाङ्गं मूर्त्तिः। तथा च —स्मर्य्यते। "नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः, तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः" इति च। ननु मत् मूर्त्तेरपरिच्छिन्नायाः कथं जलाश्रयत्वमत आह—तच्चापि सत्यं नेति॥

नर से उत्पन्न चतुर्विंशति तत्त्वसमूह, एवं नर से उत्पन्न, जल, उक्त समूह पदार्थ का आश्रय निबन्धन 'नारायण' है, वह प्रथम पुरुष है, वह भी आपका अङ्ग अर्थात् मूर्त्ति है। टीका में—नारायण आपका अङ्ग है,—इस उक्ति से विदित होता है, आप श्रीकृष्ण प्रथम पुरुषरूप नारायण का अङ्गी हैं, इस प्रकार बोध होता है। श्रीकृष्ण को मूल नारायण कहना, स्तुतिमात्र नहीं है, यह यथार्थ है। उसका विवरण अग्रिम वाक्य में है।

भा० १०।१३।१५ में वर्णित है—

"अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकेस्येशितु
र्द्रष्टुं मञ्जुमहित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान्।
नीत्वान्यत्र कुरुद्वहान्तर दधात् खेऽवस्थितो यः पुरा,
दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम्॥"

विस्मयम्" इत्युक्तरीत्या क्वचिदप्यवतार्य्यवतारान्तरेषु तादृशस्यापि मोक्षणमदृष्टचरं दृष्ट्वा विस्मयं प्राप्तवान् ब्रह्मा । "द्रष्टुं मञ्जुमहित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान्, नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात्" इत्युक्तरीत्या तस्यापरमपि माहात्म्यं दिदृक्षुस्तथामाहात्म्यं ददर्शेति

सर्वसम्वादिनी

नामकौमुद्यां तु सर्वानर्थक्षय एव ज्ञानाज्ञान-विशेषो निषिद्धः; न तु प्रेमादि-फल-तारतम्ये ।

ब्रह्मा अघासुर मोक्षण से श्रीकृष्ण का अपूर्व प्रभाव को देखकर परम विस्मित हुए थे । किसी भी अवतारी अथवा अवतार से अघासुर के समान व्यक्ति का मोक्षलाभ नहीं हुआ है ।—यह ही विस्मय का एकमात्र कारण है । अनन्तर श्रीकृष्ण की अपर महिमा सन्दर्शन के निमित्त वत्स एवं श्रीकृष्ण के सखा वत्सपालकगण को अपहरण करके माया शयन में शायित किए थे । ब्रह्म मोहन लीला के इस संवाद से ज्ञात होता है कि—श्रीकृष्ण की अपर महिमा दर्शनेच्छु ब्रह्मा मनोहर महिमा का दर्शन किए थे । एवं तज्जन्य आपने श्रीकृष्ण की स्तुति भी की । यह वृत्तान्त प्रकरण सङ्गति से उपलब्ध है ।

टीका—अम्भोजन्मनः पद्मात् जनिर्यस्य स ब्रह्मा तदन्तरे तस्मिन्नवसरे गत आगतस्तच्छिद्रं प्राप्तौ वा मञ्जुमनोहरमन्यदपि महित्वं महिमानं द्रष्टुं तस्य वत्सान् इतः स्थानात् वत्सपांश्च अन्यत्र नीत्वा स्वयं तिरो बभूव ।

क्रमसन्दर्भः । मायामोहनता, तद्युक्तार्भकस्य सर्वमोहनार्भकलीलस्येत्यर्थः । पुनः पुनः ब्रह्मणोऽपि मोहे सिद्धान्तोऽयम् ॥

मोहनता ही माया है । समस्त मोहनकारी बाल्यलीलापरायण श्रीकृष्ण की महिमा ही इस प्रकार है । कारण ब्रह्मा का मोह पुनः पुनः इससे ही हुआ ।

वैष्णवतोषणी । प्रभवत इति कर्त्तरि षष्ठी, प्रभुणेत्यर्थः । अम्भोजन्मजनिः महापुरुषनाभिकमलाज्जातत्वेन, स्वतः सर्वज्ञोऽपि प्रभुणा तादृशानन्तशक्तियुक्तेन कर्त्ता अघासुरस्यापि मोक्षं दृष्ट्वा यः परं विस्मयं प्राप्तः, सोऽपि ईशितुस्तच्छब्दप्रथमव्यपदेशास्पदस्यापि, अन्यदपि तत्तादृशं मञ्जुमहित्वं द्रष्टुं अन्विष्टतच्छिद्रः सन्नितः स्थानाद्वत्सान् वत्सपांश्च नीत्वा श्रीभगवदन्वेषणपर्य्यन्तं श्रीवृन्दावनप्रदेशान्तरे स्थापयित्वा स्वयमन्तरधात् चोर इव, "वत्सान् पुलिन मानिन्ये यथा पूर्वसखं स्वकम्" (श्रीभा० १०।१४।४२) इति, 'मायाशये शयाना मे' (श्रीभा० १०।१३।४१) इत्यादि स्तु पुनस्तत्र तत्रैवानीय रक्षितवानिति ज्ञेयम् । तेषां श्रीकृष्णतुल्यगुणानामपि ब्रह्ममायापरिभवप्रायत्वं भगवन्नरलीलत्वेनैव सम्भवतीति ज्ञेयम् । अन्यथा नरलीलत्वासिद्धेः ।

ननु यद्येवं प्रकटमाहात्म्यो भगवान्, ब्रह्मा च सर्वज्ञः, कथं तर्हि विस्मयं प्राप्तः ? कथं वा पुनः कदर्थनप्रायां परीक्षामिव कृतवान् ? तत्राह—मायामोहनता तद्युक्तस्यार्भकस्य सर्वमोहनार्भकलीलास्येत्यर्थः । तन्मोहनतया मुहुरैश्वर्य्यज्ञानाच्छादनादिति भावः । प्राक्तनतत्तद्बाल्यलीलामोहनतावदधुनापि वन्यभोजनलीलामोहन तयैव विगतसाध्वसीकृत्यबाढ़ं विस्मितीकृत्य च तादृश—तदैश्वर्य्यान्तरान्वेषणाय तथा प्रवर्त्तितोऽसाविति विवक्षितम् । कुरूद्वहेति—पश्यैतादृशी तद्बाल्यलीला, मोहनतया परमज्ञानदृढ़चित्तं ब्रह्माणमपीत्थं मोहयतीति व्यज्यते ।

अघासुर मोक्ष दर्शन से विस्मित होने के दो कारण हैं, एक—मूर्त्तिमान् अघने भी मुक्तिलाभ किया, द्वितीय—जितने भी महात्मागण मुक्तिलाभ किए हैं । उनमें से कौन व्यक्ति कहाँ पर मुक्ति प्राप्त किये हैं, इसका साक्षी कोई नहीं है । अघासुर ने मुक्तिलाभ किया, उसमें समस्त देवतावर्ग साक्षी हैं, जिन्होंने साक्षात् दर्शन किया है । परमाणु तत्त्व से भी जीवतत्त्व अति सूक्ष्म है । उक्त जीवस्वरूप

प्रकरण-स्वारस्येनापि लब्धम्। न चापरमाहात्म्यदर्शनं सम्भवतिमात्रम्। (भा० १०।१३।४६)—

"तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्।
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः॥"७२॥

इत्यादिना शक्तिभिरजाद्याभिरैश्वर्य्यैरणिमाद्यैश्चतुर्विंशति-संख्य-तत्त्वैर्महदादिभिस्तत्सहकारिभिः कालस्वभावाद्यैस्तत्सम्भूतैर्ब्रह्माण्डैस्तदन्तर्भूतस्रष्टृभिर्ब्रह्मादिभिर्जीवैश्च स्तम्बपर्य्यन्तैः पृथक् पृथगुपासितास्तादृशब्रह्माण्डेश्वरकोटयः श्रीकृष्णेनैव तत्तदंशांशेनाविर्भाव्य ब्रह्माणं प्रति

सर्वसम्वादिनी

तदेवं तत्र कृष्णनाम्नः साधारण-फलदत्वे सति 'सहस्रनामभिस्तुल्यं रामनाम वरानने' इत्यपि युक्तमेवोक्तम्। वस्तुतस्त्वेवं सर्वावतारावतारि-नामभ्यः श्रीकृष्णनाम्नोऽभ्यधिकं फलं स्वयं-भगवत्त्वात्तस्य।

सब के समक्ष में दृष्ट होकर श्रीकृष्ण चरण में प्रविष्ट हुआ।

ब्रह्मा इसको देखकर आश्चर्य्यचकित होकर निज प्रभु के अन्य माधुर्य्य सम्बलित परिपूर्ण ऐश्वर्य्य संदर्शन के निमित्त लालसान्वित हुये थे, एवं उक्त लालसा से विवेकशून्य होकर निखिल मायाविगणों के परमाराध्य निज प्रभु के प्रति भी स्वीय माया का विस्तार करके तदीय सखागण को अपहरण भी किये। उक्त महिमा दर्शन की लालसा केवल संकल्प रूप में ही थी, भक्तवत्सल प्रभु श्रीकृष्ण, निज भृत्य का दौरात्म्य विदूरित करके अभिलषित असमोर्द्ध माधुर्य्यपूर्ण ऐश्वर्य्य को दर्शाये थे। उक्त माहात्म्य कैसा है— उसका वर्णन भा० १०।१३।४६ में है—

"तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्। व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः॥"

बृहद्वैष्णवतोषणी। एवं मोहेन दीनतां गते श्रीब्रह्मणि श्रीभगवानचिरात् कृपां व्यतनोदित्याह— तावदित्यादिना, कर्त्तरि षष्ठी, पश्यता—पुनरपि विचारयतेत्यर्थः। किम्वा दैन्येन, भयेन च श्रीभगवन्तं निरीक्षमाणेन, यद्वा, तानेव पश्यतापि सत्य, इत्याश्चर्य्यविशेष उक्तो भ्रमादिकञ्च निरस्तम्। विशेषतो अदृश्यन्त दृष्टाः, यद्वा, अजे पश्यति सति व्यदृश्यन्त दृष्टिविषया जाताः॥

वैष्णवतोषणी। एवं मोहेन दीनतां गते ब्रह्मणि श्रीभगवानपि अचिरात् द्रष्टुं मञ्जुमहित्वमन्यदपि यदिति तदभिप्रायानुसारेणैव कृपां व्यतनोदित्याह—तावदित्यादि नवकेन। अङ्कास्तु पृथक् पृथक् क्रियन्ते। पश्यन्तमजमनादृत्य तद्दृष्टिशक्तिमनपेक्ष्य, अदृश्यन्त, स्वयमेव तद्दृष्टौ व्यक्तीभूताः, स्वशक्तिमात्रेणाभिव्यक्तेः। कर्मकर्त्तृत्वम्। चतुर्भुजा इत्यत्र चतुर्भुजत्वादिना विष्णुत्वमवगम्यते। मायाधिष्ठातृत्वेन तु प्रथमद्वितीयपुरुषत्वमवगंस्यते, तस्मात् "सृजामि तन्नियुक्तोऽहं, हरो हरति तद्वशः। विश्वंपुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्" (भा० २।६।३२) इति ब्रह्मवाक्यात्। ब्रह्माणं प्रति च तत्तत् कार्य्याय सर्वशक्तिव्यञ्जकतया प्रायो विष्णोरेवाविर्भावश्रवणात्, त्रयाणामभेदज्ञापनार्थमेव व्यामिश्रत्वेनाविर्भावोऽयं ज्ञेयः॥

ब्रह्मा के समक्ष में ही तत्क्षणात् समस्त वत्सपालक, पीतवसन से शोभित होकर चतुर्भुज घनश्याम मूर्त्ति में प्रकाशित हो गये। केवल वह ही नहीं, अपितु सब व्यक्ति ही पृथक् पृथक् रूप से, अजादि 'प्रकृति' शक्ति, अणिमादि ऐश्वर्य्य, महदादि चतुर्विंशतितत्त्व, उक्त समुदाय से उत्पन्न ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्डान्तर्भूत सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मादि उन सबके सृष्टि सहकारी काल स्वभाव प्रभृति, जीव एवं स्तम्भ पर्य्यन्त सबके द्वारा उपासित हो रहे थे।

इस प्रकार कोटि कोटि ब्रह्माण्डाधिपति श्रीकृष्ण के द्वारा आविर्भूत होकर तदीय वत्सपालगण ब्रह्मा के नयनगोचर हुये थे।

साक्षादेव दर्शिता इत्युक्तम्। तदीदृशमेव (भा० १।३।२८) "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्यत्राविष्कृतसर्वशक्तित्वादित्येतत्स्वामिव्याख्यानस्यासाधारणं बीजं भवेत्। विश्वरूप-दर्शनादीनां तत्तद्ब्रह्माण्डान्तर्यामिपुरुषाणामेकतरेणापि शक्यत्वात्। तस्माद्विराट्पुरुषयोरिव पुरुषभगवतोरपि (भा० १।३।१) "जगृहे पौरुषं रूपम्" इत्यादावुपासनार्थमेव तैरभेदव्याख्या कृतेति गम्यते। वस्तुतस्तु परमाश्रयत्वेन श्रीकृष्ण एव तैरङ्गीकृतोऽस्ति; यथा, (श्रीभावार्थ-दीपिका १०।१।१-२)

"विश्वसर्गविसर्गादिनवलक्षणलक्षितम्। श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमामि तत्।।७३।।
दशमे दशमं लक्ष्यमाश्रिताश्रयविग्रहम्। क्रीड़द्यदुकुलाम्भोधौ परानन्दमुदीर्य्यते।।"७४।। इति।

सर्वसम्वादिनी

ननु यथा दर्श-पौर्णमास्याद्यङ्गभूतया पूर्णाहूत्या सर्वान् कामानवाप्नोतीत्यादावर्थवादत्वं तथैवात्रो-

श्रीकृष्ण निज स्वरूप से कोटि कोटि ब्रह्माण्डाधिपति को प्रकट कर ब्रह्मा को दिखाये थे। वह ही (भा० १।३।२८) 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' श्लोक व्याख्या में श्रीधरस्वामिपाद का एकमात्र उपजीव्य हुआ। अर्थात् ब्रह्ममोहन लीला में प्रकटित उक्त ऐश्वर्य्य के द्वारा ही श्रीस्वामिपाद ने श्रीकृष्ण में निखिल शक्ति आविष्कार का अनुभव किया था। विश्वरूप प्रदर्शन ही श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता का परिचायक नहीं है, उसका प्रदर्शन—श्रीकृष्ण से प्रकाशित कोटि कोटि ब्रह्माण्डान्तर्यामी के मध्य में कोई भी कर सकता है। तज्जन्य (भा० १।३।१)—"जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः।
सम्भूतं षोड़शकलमादौ लोक सिसृक्षया।।" इस श्लोक की टीका में स्वामिपादने उपासना के निमित्त विराट् एवं पुरुष के समान, पुरुष एवं भगवान् की अभेद व्याख्या की है। अर्थात् नवीन उपासक के निमित्त पाताल प्रभृति की कल्पना विराट् पुरुष के पादादि रूपमें हुई है। उपासनाहेतु मनःस्थिर करने के निमित्त एक कल्पित अवलम्बन प्रदत्त हुआ है। उस प्रकार ही उपासना के निमित्त महदादि तत्त्वसमन्वित पुरुष (प्रथम पुरुष) के सहित श्रीभगवद्रूप का वर्णन अभिन्न रूप से किया गया है।

किन्तु भगवद्रूप महदादि समन्वित पुरुष से अन्यविध कोटि कोटि रूप का दर्शन जब ब्रह्मा ने किया, तब भी उन सब से स्वतन्त्र रूप में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान् थे। भा० १।३।१ की टीका में स्वामिपाद ने भी कहा है—

महदादिभिर्महदहङ्कार पञ्चतन्मात्रैः सम्भूतं सुनिष्पन्नं। एकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि इति षोड़शकला अंश यस्मिन् तत्। यद्यपि भगवद्विग्रहो नैवम्भूतः, तथापि विराड़् जीवान्तर्य्यामिनो भगवतो—विराड़् उपासनार्थमेवमुक्तमिति।

स्वामिपाद का अभिप्राय को देखने से प्रतीत होता है कि—उन्होंने यथार्थ रूप से श्रीकृष्ण को ही परमाश्रय तत्त्व माना है। श्रीभावार्थदीपिका (भा० १०।१।१-२) में लिखित है—विश्व, सर्ग, विसर्ग प्रभृति नवलक्षण के द्वारा जो लक्षित हैं, उन परम धाम श्रीकृष्णाख्य जगद्धाम को नमस्कार करता हूँ। श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में उक्त मुख्य आश्रयतत्त्व का वर्णन सर्वाश्रय श्रीकृष्ण में ही हुआ है। श्रीकृष्ण यदुकुलरूप सागर के चन्द्रमा रूप में परमानन्द को प्रकाशित करते रहते हैं। यदि अपर किसी भी भगवत् स्वरूप का परमाश्रयत्व कहना श्रीस्वामिपाद का अभिप्रेत होता, तब "दशम स्कन्ध में आश्रय तत्त्व वर्णित है।" इस प्रकार कथन व्यर्थ होता। अतएव, नारायण अङ्ग अर्थात् अंश, श्रीकृष्ण उनका अंशी हैं, यह व्याख्या सुसङ्गत है।

यद्यन्येषामपि परमाश्रयत्वं तन्मतम्, तदा दशम इत्यनर्थकं स्यात्। तस्मात् "नारायणोऽङ्गम्" इति युक्तमेवोक्तम् ॥ ब्रह्मा श्रीभगवन्तम् ॥

४३। अवतार-प्रसङ्गेऽपि तथैव स्पष्टम् (भा० १०।१।२१-२३)—

(४३) "गिरं समाधौ गगने समीरितां, निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह।
गां पौरुषीं मे श्रृणुतामराः पुन,-र्विधीयतामाशु तथैव माचिरम् ॥७५॥
पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो, भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः, स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि ॥७६॥
वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥"७७॥

सर्वसम्वादिनी

भयत्रापि भविष्यतीति चेत्? न;—(पाद्मोत्तरे ६६तम अ०) वृहत्सहस्रनामस्तोत्रं पठित्वैव भोजनकारिणीं

"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः। मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥"

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति, आश्रय, ये दश लक्षण हैं। जो सर्वथा निरपेक्ष सत्ता के हैं, वह ही मुख्य आश्रयतत्त्व हैं। इस लक्षण की परिपूर्ण प्रसक्ति, श्रीकृष्ण में ही है। ब्रह्मा श्रीभगवान् को बोले थे ॥२४॥

अवतार प्रसङ्ग में भी श्रीकृष्ण का सर्वावतारित्व का सुस्पष्ट रूप से वर्णन है। पृथिवी का दुःख विज्ञापित करने के निमित्त देवगण, क्षीरोदसमुद्र के तीरदेश में उपनीत हुये थे। उस समय ब्रह्मा आकाशवाणी श्रवण कर देवगण को कहे थे—"हे अमरगण! मैंने पुरुष वाक्य को सुना, आप सब कोलाहल त्याग कर मेरे निकट उस वाणी का श्रवण करें। एवं तद्रूप आचरण अविलम्ब से करें।" क्षीरोदशायी का कथन को अनुवाद कर कहते हैं—अर्थात् पुरुष जो कुछ कहा अविकृत उसको ही कहते हैं। "आप सबके निवेदन के पहले ही पृथिवी का सन्ताप को पुरुष जान गये हैं। (क्षीरोदशायी की उक्ति में पुरुष शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण हैं) आप सब अंश से यदुकुल में उत्पन्न होकर—जबतक ईश्वर श्रीकृष्ण स्वीय कालशक्ति के द्वारा पृथिवी का भारापहरण कर प्रकट विहार करेंगे, तबतक आप सब अर्थात् क्षीरोदशायी से लेकर समस्त देवगण यदुकुल में अवस्थान करें। श्रीवसुदेव के गृह में परमपुरुष साक्षात् श्रीकृष्ण आविर्भत होंगे। उनको प्रसन्न करने के निमित्त देववधूगण भी जन्मग्रहण करें।" (भा० १०।१।२१-२३)

वृहद्वैष्णवतोषणी। गगने समीरितामाकाशजामदृष्टवक्तृकामित्यर्थः। इत्यदृश्यमानेन श्रीभगवता नारायणेन तदीयेन वा केनचित् उक्तां समाधौ तत्रापि, गगने समीरितामिति परमादृश्यत्वमुक्तम्, अग्रे श्रीवृन्दावनादौ तस्य तादृश क्रीड़या तदानीन्तनानां भाग्यविशेषबोधनार्थम्। ह स्फुटं हर्षे वा, पौरुषीम् पुरुषो विराड़न्तर्य्यामी नारायणस्तदीयामिति तस्यां तेषां विश्वासार्थं पुनः पश्चात्तथैव तदनुरूपमेव विधीयतां युष्माभिः सर्वैरेवेति वा; हे अमरा इति तदैवामरत्वं नाम सिद्धेदिति भावः ।२१।

पुरुषमुखनिःसृतां मामेवार्थतः प्रतिपादयति—पुरेति चतुर्भिः। पुंसा—यस्याहमंशस्तेन पुरुषोत्तमेन पुरैवावधृत इति तद्विज्ञापनार्थं युष्मत् प्रयासेनालमिति, यद्वा, अतएव तच्छ्रवणार्थं स्वयं नाविर्भूत इति भावः। अंशैर्निजाशेषांशैः सहोपजन्यतां पुत्रपौत्रादिरूपेण जनित्वा निकटे स्थीयतामित्यर्थः। यदुष्विति प्रायिकत्वात्। किंवा तत्सम्बन्धिनामपि पाण्डवादीनां तदन्तर्भावात्। यद्वा, मुख्यत्वादीश्वराणामपीश्वर इच्छामात्रेण सद्यः सर्वं कर्त्तुं शक्तोऽपि स्वकालशक्त्या यदा यत् कर्त्तुं युज्येत, तदैव तत् करोतीति यथा कालमित्यर्थः।

पौरुषीं पुरुषेण (भा० २।६।३२) "सृजामि तन्नियुक्तोऽहम्" इत्याद्यनुसारात् पुरुषाभिन्नेन विष्णुरूपेण क्षीरोदशायिना स्वयमेवोक्तां गां वाचम्। पुरुषस्यैव वाचमनुवदति—पुरैवेति। पुंसा आदिपुरुषेण (ब्र० सं० ५।३९) "कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यः" इत्यनुसारात्

सर्वसम्वादिनी

देवीं प्रति 'रामनामैव सकृत् कीर्त्तयित्वा कृतकृत्या सती मया सह भुङ्क्ष्व' इति साक्षाद्भोजने श्रीमहादेवेन

स्व-शब्देन कालस्यापि तदधीनतोक्तैव। यावत् भुवि चरेत् प्रकटो भुवि वर्त्तेतेत्यर्थः। अन्यदा तत्तन्नित्य-प्रियजनैः सह नित्यं श्रीवृन्दावनादौ विचित्रक्रीड़ां कुर्वतोऽपि तस्यान्यैरदृश्यत्वात्। यदुष्वंशैरुपजनने हेतुमाह—वसुदेवेति। गृह इति जीववत् पितुःसकाशादुत्पत्ति निरस्ता, यतः परःपुरुष पुरुषोत्तमोऽवतारी श्रीभगवान् प्रकटसर्वैश्वर्य्ययुक्तः सन् साक्षात् स्वयमेव जनिष्यते प्रादुर्भावव्यतीत्यंशावतारत्वमपि निरस्तम्। तथा च पाद्मे श्रीव्यासवाक्यम्।

"ततो मामाह भगवान् वृन्दावनचरःस्मयन्। यदिदं मे त्वया दृष्टं रूपं दिव्यं सनातनम्॥
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं सच्चिदानन्दविग्रहम्। पूर्वं पद्मपलाशाक्षं नातः परतरं मम॥
इदमेव वदन्त्येते वेदाः परमकारणम्। सत्यं व्यापि परानन्दं चिद्घनं शाश्वतं परम्॥" इति।

अतस्तस्य भगवतः प्रियार्थं परिचर्य्यया प्रीत्युत्पादनाय, यद्वा, तस्य प्रियाः श्रीरुक्मिण्याद्याः श्रीराधाद्याश्च, तासां सख्यार्थमतएव सम्यग् भवन्तु, उक्त प्रकारेण जायन्तामित्यर्थः। यद्वा, सम्भवन्तु योग्या भवन्त्विति बरप्रदानम्; तथापि जनन एव तात्पर्य्यम्।२३।

श्लोकोक्त 'पौरुषीं'-पुरुष कर्त्तृक स्वयं कथित, 'गां' वाक्यं। ब्रह्मा, पुरुष के वाक्य को अविकल रूप से कहे थे। अर्थात् स्वयं भगवात् श्रीकृष्ण का हार्द्दर्य का प्रकाश निज भाषा से नहीं किए थे। किन्तु उनकी भाषा से ही कहे थे। भा० २।६।३२ में उक्त है—

"सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः। विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्॥"

टीका—"यत्परस्त्वमित्येतत् प्रश्नोत्तरं यदुक्तं स एष भगवान् विष्णुः, सर्वेषां मम चेश्वर इति। तदुपसंहरति सृजामीति। पालनन्तु स्वयमेव करोतीत्याह—विश्वमिति। पुरुषरूपेण—विष्णुरूपेण। त्रिशक्तिर्माया तां धरतीति तथा सः॥"

इसके अनुसार पुरुषाभिन्न विष्णुरूप क्षीरोदशायी के द्वारा स्वयं ही जो वाणी कहे थे। उसको सुनकर ब्रह्माने कहा था। पुरुष शब्द से आदिपुरुष कृष्ण को ही जानना होगा। ब्रह्मसंहिता ३९ में उक्त है—"रामादिमूर्त्तिषु कलानियमेन तिष्ठन् नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥"

टीका—"यः कृष्णः परमपुमान् कलानियमेन रामादिमूर्त्तिषु तिष्ठन् भुवनेषु नाना अवतारं अकरोत् किन्तु यः परमः पुमान् कृष्णः स्वयं समभवत् अवततार, तं आदि पुरुषं गोविन्दमहं भजामि।"

वह गोविन्द कदाचित् भूमण्डल में निजांश के साथ स्वयं अवतीर्ण होते हैं, रामादि मूर्त्ति के द्वारा अवतीर्ण होते हैं। जो कृष्ण नामक परमपुरुष कलानियम से उन उन अवतारों में तत्कालोपयोगी शक्ति प्रकट कर रामादि मूर्त्ति के द्वारा भुवन में अनेक कार्य्य करते हैं, किन्तु जो स्वयं ही कृष्ण रूप में अवतीर्ण होते हैं। लीलाविशेष में स्थित उन श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ। भा० दशमस्कन्ध में देवगणोंने कहा भी है—

मत्स्य, अश्व, कच्छप, वराह, नृसिंह, हंस, राजन्य, विप्र, विबुध रूप धारण कर आप अवतीर्ण हुए थे। हे ईश! हे यदूत्तम! आप रक्षक हैं, त्रिभुवन की रक्षा जिस प्रकार से आप करते आ रहे हैं,

स्वयं भगवता श्रीकृष्णेनेत्यर्थः। अंशैः श्रीकृष्णांशभूतैस्तत्तत्पार्षदैः श्रीदाम-सुदाम-श्रीमदुद्धव-सात्यक्यादिभिः सह। इत्थमेव प्राचुर्य्येणोक्तम् (भा० १०।१।६२-६३)—

"नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषाञ्च योषितः।
वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः॥७८॥
सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत।
ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः॥"७९॥ इति।

तस्यादिपुरुषत्वमेव व्यनक्ति—स इति, सर्वान्तर्यामित्वात्। पुरुषस्तावदीश्वरः, तस्याप्यंशित्वात् स आदिपुरुषः श्रीकृष्णः पुनरीश्वरेश्वरः, 'त्र्यधीश'-शब्दवत्। तथा च दशमस्य पञ्चाशीतितमे एव श्रीमदानकदुन्दुभिनोक्तम् (भा० १०।८५।१८)—"युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ" इति। स्वकालशक्त्या, स्वशक्त्या कालशक्त्या च; ईश्वरेश्वरत्वे

सर्वसम्वादिनी

प्रवर्त्तनात्। अतस्ततोऽपि प्रौढ़याधिक्यात् कृष्णनाम्नि तु तथार्थवादत्वं दूरोत्सारितमेवेति।

अधुना उस प्रकार से ही भुवन का भारापनोदन आप करें, आपको नमस्कार।

पृथिवी का सन्ताप ब्रह्मादि के द्वारा निवेदित होने के पहले ही आदि पुरुष श्रीकृष्ण उसको जान गये थे। श्लोकोक्त 'अंशैः' अंश के सहित पद का अर्थ—श्रीकृष्ण के अंशस्वरूप पार्षदवर्ग, श्रीदाम सुदाम श्रीमदुद्धव सात्यकि प्रभृति के सहित अवतीर्ण होने का आदेश है। अर्थात् हे देववृन्द! आप सब यादवों के पुत्रपौत्रादि रूप में जन्म ग्रहण करें। यादवों के मध्य में अधिकांश ही देवता थे, उसका विवरण—भा० १०।१।६२-६३ में वर्णित है। श्रीशुकदेव ने कहा—"हे भरतवंशीय परीक्षित्! श्रीनन्द प्रभृति व्रजवासी गोपगण, उनके पत्नीवर्ग, वसुदेव प्रभृति वृष्णिवंशीय व्यक्तिवर्ग, देवकी प्रभृति यदुमहिला एवं नन्द-वसुदेव के समस्त ज्ञाति, सुहृद् बन्धु कंस के अनुगत थे, उनके अधिकांश ही देवता थे। यहाँ देवता शब्द का अर्थ—इन्द्रादि नहीं हैं, किन्तु, श्रीभगवान् के नित्य पार्षद हैं, एवं तन्मध्य में प्रकट लीला में सम्मिलित श्रीक्षीरोदशायी प्रभृति भगवत् स्वरूप एवं उन सबके परिकरवर्ग को जानना होगा।

देवगण के द्वारा निवेदित होने के पूर्व में ही जिन्होंने पृथिवी का क्लेश को जाना, एवं जो अवतीर्ण होंगे, वह जो आदि पुरुष है, उनका विवरण क्षीरोदशायी की 'ईश्वरेश्वर' उक्ति से ही प्रकट हुआ है। सर्वान्तर्य्यामिता हेतु पुरुष—महाविष्णु ईश्वर हैं। उन पुरुष का अंशी होने से श्लोकोक्त 'सः' आदिपुरुष श्रीकृष्ण हैं। भा० ३।२।२१ में उक्त है—

"स्वयन्त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीटकोटीड़ितपादपीठः॥"

श्रीकृष्ण, तीन पुरुषावतार, तीनलोक एवं गुणत्रय का अधीश्वर हैं। अतः त्र्यधीश कहा गया है। यहाँ भी उस प्रकार ईश्वर का अंशी होने से श्रीकृष्ण ही ईश्वरेश्वर हैं। भा० १०।८५।१८ श्लोकमें वर्णित है—

"युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरौ भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथात्थ ह।"

टीका—अहो! त्वत्पुत्रयोरावयोः किमिदमारोप्यते अत आह—युवामिति। भूभारक्षत्रक्षपणार्थमवतीर्णौ तथा ह निश्चितमात्थ कथयसि॥

तुम दोनों हमारे पुत्र नहीं हो, साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वर हो। स्वकालशक्ति श्रीकृष्ण, स्वरूपशक्ति

च हेतुः—साक्षात् स्वयमेव भगवानिति तदलं मयि तत्प्रार्थनयेति भावः। तत्प्रियार्थं तत्प्रीत्यै; सुरस्त्रियः श्रीमदुपेन्द्रप्रेयस्यादिरूपाः काश्चित् सम्भवन्तु मिलिता भवन्तु, साक्षादवतरतः श्रीभगवतो नित्यानपायिमहाशक्तिरूपासु तत्प्रेयसीष्वप्यवतरन्तीषु श्रीभगवति तदंशान्तरवत् ता अपि प्रविशन्त्वित्यर्थः। तत्प्रियाणां तासामेव दास्यादिप्रयोजनाय जायन्तामिति वा। अनेन तैरप्रार्थितस्याप्यस्यार्थस्यादेशेन परमभक्ताभिस्ताभिर्लीलाविशेष एव भगवतः स्वयमवतितीर्षायां कारणम्। भारावतरणन्त्वानुषङ्गिकमेव भविष्यतीति व्यञ्जितम्। तदेवं श्रुतीनाञ्च दण्डकारण्यबासि-मुनीनाञ्चाग्निपुत्राणां श्रीगोपिकादित्वप्राप्तिर्यत्

सर्वसम्वादिनो

अथ [तत्रैव मूल० ८२तम अनु०] (गी० १८।६१) 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' इत्यादि-श्रीगीतापद्य-षट्कस्य कृत-व्याख्यानान्तरमेवं व्याख्येयम्।—तथा हि,

एवं कालशक्ति के द्वारा पृथिवी का भारापनोदन करेंगे। अर्थात् स्वरूप में स्थित विष्णु प्रभृति के द्वारा लीला क्रमानुसार जब जिस प्रकार असुरबधादि कार्य्य उपस्थित होगा, उसका सम्पादन करेंगे। श्रीकृष्ण ही ईश्वरेश्वर है—उसके प्रति हेतु—श्रीकृष्ण, साक्षात् अर्थात् स्वयं भगवान् हैं। "पुरैव पुंसा" श्लोक में क्षीरोदशायी ने ही उक्ताभिप्राय को प्रकट किया है। स्वयं भगवान् ही अवतीर्ण होंगे, एवं आप ही पृथिवी का भार हरण करेंगे। सुतरां मेरे निकट आप सबकी प्रार्थना, बाहुल्यमात्र है।

श्रीकृष्ण की सन्तुष्टि के निमित्त देवबधूगण को आविर्भूत होने का आदेश दिया गया है। इससे प्रतीति हो सकती है कि—देवीमात्र की ही श्रीकृष्णप्रीति सम्पादन योग्यता है। तज्जन्य वे सब श्रीकृष्ण की प्रकटलीला में प्रविष्ट हो सकती हैं। ऐसा नहीं। स्वर्ग में श्रीमदुपेन्द्र प्रभृति जो भगवत् स्वरूप हैं, उन सबके प्रेयसीवर्ग को 'सम्भूत' अर्थात् मिलित होने का आदेश दिया गया है। उक्त भगवत् स्वरूपसमूह जिस प्रकार श्रीकृष्ण में प्रविष्ट होंगे, उस प्रकार उन सबके प्रेयसीवर्ग का भी प्रवेश श्रीकृष्ण प्रेयसीवर्ग में होगा। यह ही उक्त आदेश का तात्पर्य्य है। श्रीकृष्णप्रेयसीवृन्द, श्रीकृष्ण की अनपायिनी महाशक्तिस्वरूपा हैं। अर्थात् उन सबके सहित श्रीकृष्ण का कभी भी व्यवधान नहीं होता है। वेदान्तसूत्र ३।३।४० में उक्त है—"कामादीतरत्र तत्रचायतनादिभ्यः" श्रीभगवत् प्रेयसीरूप पराशक्ति प्रकृत्यतीत भगवद्धाम में अवस्थित हैं। जिस समय श्रीभगवान् एकपाद विभूतिरूप प्रापञ्चिक जगत् में निज धाम को प्रकट करते हैं, उस समय भगवत् प्रेयसी भी उनके प्रीति सम्पादनार्थ तदीय अनुगामिनी होती है। श्रीपुराण में उक्त है—"नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी,
यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम।
देवत्वे देवदेहेयं मानुषत्वे च मानुषी
विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषामात्मनस्तनुम्॥"

श्रीविष्णु की श्री-प्रेयसी तदीय अनपायिनी-स्वरूपानुबन्धिनी शक्तिस्वरूपा एवं नित्या हैं, एवं जगन्माता हैं। जिस प्रकार विष्णु सर्वगत हैं, उस प्रकार श्री भी सर्वगता हैं।

जब जहाँ जिस रूप में श्रीविष्णु लीला करते हैं, तदीय प्रेयसी श्री भी तदनुरूप श्रीविग्रह धारणकर उनकी लीला की सहकारिणी होती हैं, देवरूप में लीलाकारी विष्णु के सहित देवी, मनुष्य रूप में लीलाकारी विष्णु के सहित मानुषी होती हैं।

श्रूयते, तदपि पूर्ववदेव मन्तव्यमिति। अत्र प्रसिद्धार्थे (भा० १०।४७।६०)—"नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः, स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः" इति विरुध्येत। न च सुरस्त्रीणां सम्भववाक्यं श्रीमहिषीवृन्दपरम्, तासामपि तन्निजशक्तिरूपत्वेन दर्शयिष्यमाणत्वात्॥ श्रीशुकः॥

सर्वसम्वादिनी

अत्र कश्चिद्वदति,—'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' इत्यादौ 'सर्वमेवेदमीश्वरः' इति भावेन यद्भजनम्, तत्र

श्रीकृष्णप्रेयसीगण, श्री, पराशक्ति प्रभृति विभिन्न नामों से अभिहिता है। ब्रह्मसंहिता ५५ में उक्त है—"श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।

कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी चिदानन्दज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च॥" इत्यादि पद्य में तदीय प्रेयसीवर्ग श्री शब्द से अभिहित हैं।

श्रीकृष्ण अवतीर्ण होने से जिस प्रकार अंशावतारगण उनमें मिलित होते हैं, उस प्रकार श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति रूपा नित्य प्रेयसीवृन्द में भी अन्य स्वरूप के कान्तागण प्रविष्ट होते हैं, अथवा उक्त देवबधूगण श्रीकृष्णप्रेयसीगण के दास्यादि के निमित्त आविर्भूत हो जायें। उक्त वाक्य के द्वारा इस अभिप्राय को व्यक्त किया गया है।

श्रीकृष्ण के प्रेयसीवृन्द को आविर्भूत कराने के निमित्त देववृन्दोंने प्रार्थना नहीं की, तथापि आपने देवबधूवृन्द को तदीय प्रेयसीवर्ग में प्रविष्ट होने का आदेश देकर सूचित किया कि, उन सबका भी आविर्भाव होगा। इसका कारण क्या है? उत्तर—प्रेयसीवर्ग के सहित लीलाविलासविशेष का आस्वादन के निमित्त ही श्रीकृष्ण का धराधाम में आविर्भाव है। पृथिवी का भारापनोदन आनुषङ्गिक कार्य्य है।

अतएव श्रीमदुपेन्द्रादि के प्रेयसीवृन्द भी जब साक्षात् सम्बन्ध में श्रीकृष्ण प्रेयसी संज्ञा प्राप्त करने में अक्षम हैं, तब श्रुतिगण, दण्डकारण्यवासी मुनीगण, एवं अग्निपुत्रगण की गोपिकादित्व प्राप्ति की जो वार्त्ता श्रुत है, उसका अर्थ है—श्रीकृष्ण प्रेयसी गोपिकावृन्द में प्रवेश, अथवा उन सबकी दास्यादि प्राप्ति। साक्षात् श्रीकृष्णप्रेयसीत्व प्राप्ति के द्वारा उक्त कथन सार्थक नहीं होता है।

उक्त श्लोकसमूह का यथाश्रुत अर्थ स्वीकार करने पर अर्थात् "देवबधूगण ही श्रीकृष्णप्रेयसी हुए थे" इस प्रकार अर्थ करने से, श्रीउद्धव वाक्य के सहित विरोध उपस्थित होगा,—

"नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः, स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ,-लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजसुन्दरीनाम्॥" (भा० १०।४७।६०)

सम्प्रति मेरे निकट प्रत्यक्षवत् अनुभूयमान यह श्रीकृष्ण के भुजदण्डयुगल, जो स्वल्पपरिमाण में चलित होकर शत्रु को दण्ड देने में समर्थ हैं, तद्द्वारा रासोत्सव में आलिङ्गित कण्ठ होकर जिन्होंने मनोरथ विशेष को प्राप्त किया है, उन व्रजसुन्दरीगण के श्रीकृष्णाङ्गसङ्ग सुखोल्लासरूप जो प्रसाद—अनुग्रह, प्रकाशित हुआ है, उस प्रकार अनुग्रह—श्रीकृष्ण के मूर्त्तिविशेष में संसक्त (अर्थात् श्रीकृष्ण के अंशस्वरूप परव्योमनाथ के सहित संसक्ता) लक्ष्मी के प्रति भी नहीं हुआ है।

उक्त रूप अनुग्रह से वञ्चिता लक्ष्मी का स्वरूप विचार करने से प्रतीत होता है कि—श्रीभगवान् में वर्त्तमाना स्वरूपशक्ति, मायाशक्ति, एवं जो जीवशक्ति है। उक्त शक्तित्रय के मध्य में स्वरूपशक्ति सर्व प्रधाना है। उक्त स्वरूपशक्ति की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार से होने पर भी तन्मध्य में श्री, भू, लीला, तुष्टि, पुष्टि, प्रभृति षोड़श शक्ति का प्राधान्य है। षोड़श शक्ति के मध्य में श्री, भू, लीला—तीन शक्ति श्रेष्ठा है। उक्त शक्तित्रय के मध्य में भी श्री शक्ति, अर्थात् लक्ष्मी सर्वश्रेष्ठा है। इस प्रकार विचार करके ही कहते हैं। दिव्य स्वर्णकमल के समान जिनकी अङ्गगन्ध एवं अङ्गकान्ति है, तादृश

४४। तदेवमवतारप्रसङ्गेऽपि श्रीकृष्णस्य स्वयं भगवत्त्वमेवायातम्। यस्मादेवं तस्मादेव श्रीभागवते महाश्रोतृवक्तॄणामपि श्रीकृष्ण एव तात्पर्य्यं लक्ष्यते। तत्र श्रीविदुरस्य (भा० ४।१७।६-७)—

(४४) "यच्चान्यदपि कृष्णस्य भवेद्भगवतः प्रभोः।
श्रवः सुश्रवसः पुण्यं पूर्वदेहकथाश्रयम् ॥८०॥
भक्ताय मेऽनुरक्ताय तव चाधोक्षजस्य च।
वक्तुमर्हसि योऽदुह्यद्वैण्यरूपेण गामिमाम् ॥"८१॥

पूर्वदेहः पृथ्ववतारः, लोकदृष्टावभिव्यक्तिरीत्या पूर्वत्वम्, तत्कथैवाश्रयो यस्य तत् ॥ विदुरः ॥

सर्वसम्वादिनी

ज्ञानांश-स्पर्शः। इह तु (गी० १८।६५) 'मन्मना भव' इत्यादि शुद्धैव भक्तिरुपदिष्टेत्यत एव सर्वगुह्यतमत्वम्;

सुखभोगास्पद स्थानसमूह के शिरोमणिभूत वैकुण्ठस्थित भू-लीलादि योषित्गणों के मध्य में परमप्रेमवती जो लक्ष्मी हैं, वह भी जब श्रीकृष्ण के अङ्गसङ्गरूप अनुग्रह लाभ करने में अक्षम हैं, तब शची प्रभृति अन्य सुरस्त्रीगण श्रीकृष्ण के अङ्गसङ्गादिरूप अनुग्रह लाभ के नितान्त अयोग्य ही हैं, इसमें सन्देह ही क्या है।

यदि कहा जाय कि—देवबधूगणों का आविर्भाव वाक्य, श्रीगोपीगण के सम्बन्ध में असङ्गत होने पर भी द्वारकास्थित महिषीवृन्द के पक्ष में सङ्गत होगा? इस प्रकार भी नहीं हो सकता है। द्वारका स्थित महिषीवृन्द भी श्रीकृष्ण की निज शक्तिरूपा हैं। इसका प्रदर्शन उत्तर ग्रन्थ में होगा।

प्रकरण प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥४३॥

अवतार प्रसङ्ग में भी "ईश्वरेश्वर" इत्यादि वाक्य के द्वारा श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता सुस्थिर हुआ। अतएव श्रीमद्भागवत के महावक्ता एवं श्रोतृवृन्द का तात्पर्य्य भी श्रीकृष्ण में ही दृष्ट होता है। श्रीमद्भागवत के ४।१७।६-७ विदुर मैत्रेय संवाद में उक्त है,—श्रीविदुर मैत्रेय को कहे थे—"स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण सुयशस्वी हैं। उनके पूर्वदेह को आश्रय कर अर्थात् पृथुदेह को अवलम्बन कर अपर जो पवित्र यशः विस्तृत हुआ है, उसका वर्णन आप करें, मैं आपका एवं अधोक्षज श्रीकृष्ण का भक्त एवं अनुरक्त हूँ। पूर्वदेह में वेण पुत्ररूप में श्रीकृष्ण, पृथिवी दोहन किए थे, उस स्वरूप की कथा का श्रवणाभिलाषी मैं हूँ।

क्रमसन्दर्भः। यच्चान्यदिति द्वयेन श्रीविदुरस्य सर्वत्राप्येतदेव हार्द्दं व्यक्तम्। भवेदित्यत्र भवानिति क्वचित्, 'चित्सुख' सम्मतोऽयम्। पूर्वदेहः—पृथ्ववतारः—लोकदृष्ट्यावभिव्यक्तिरीत्या पूर्वत्वम्; तत् कथैवाश्रयो यस्य तत्; यद्वा, देहत्वमावेशावतारत्वम्, पूर्वत्वं, प्राकट्याकालपेक्षयैव, अर्हसीत्यत्र अर्हतीति क्वचित् ॥

यच्चान्यत् श्लोकद्वय में व्यक्त हुआ कि—श्रीविदुर का चरित्रश्रवण तात्पर्य्य, श्रीकृष्ण विषय में ही सर्वत्र है। 'भवेत्' शब्द के स्थान में 'भवान्' पाठ है, वह पाठ चित्सुख सम्मत है। पूर्वदेह का अर्थ—पृथु अवतार, लोक दृष्टि से अभिव्यक्ति रीति से श्रीकृष्णावतार से वह अवतार पूर्वावतार है। उक्त अवतार के द्वारा अनुष्ठित कार्य्यावली का कीर्त्तन आप करें। अथवा देहत्व आवेशावतार क्रियाशक्त्या-वेशावतार है। पूर्वत्व—प्राकट्य काल की अपेक्षा से है। कहीं पर 'अर्हसि' स्थान में 'अर्हति' पाठ दृष्ट होता है।

अर्थात् पूर्वदेह—पृथु अवतार, श्रीकृष्ण, सर्वादि पुरुषोत्तम हैं। यहाँ लौकिक दृष्टि से अभिव्यक्ति की रीति के अनुसार श्रीपृथु अवतार को श्रीकृष्ण के पूर्ववर्त्ती कहा गया है।

४५। अथ श्रीमैत्रेयस्य तदनन्तरमेव (भा० ४।१७।८)—

(४५) "चोदितो विदुरेणैवं वासुदेवकथां प्रति।
प्रशस्य तं प्रीतमना मैत्रेयः प्रत्यभाषत ॥"८२॥

तत्प्रशंसया प्रीतमनस्त्वेन चास्यापि तथैव तात्पर्य्यं लभ्यते। अतएवात्र श्रीवसुदेव-नन्दनत्वेनैव 'वासुदेव'-शब्दः प्रयुक्तः ॥ श्रीसूतः ॥

४६। अथ श्रीपरीक्षितः (भा० १।१९।५)—

(४६) "अथो विहायेममुञ्च लोकं, विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात्।
कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान, उपाविशत् प्रायममर्त्त्यनद्याम् ॥"८३॥

सर्वसम्वादिनी

किंवा, पूर्व्वेण वाक्येन परोक्षतयैवेश्वरमुद्दिश्यापरेण तमेवापरोक्षतया निर्दिष्टवानित्यत एव न च वक्तव्यम्;—पूर्व्वमपि (गी० ९।३४)

श्रीकृष्ण कथा ही आश्रय है जिनका, उनका यशः श्रवण में श्रीविदुर अभिलाषी हैं। उनका जीवनसर्वस्व श्रीकृष्ण हैं। पहले पृथु अवतार ग्रहण कर लोकहितकर कार्य्य किए थे। उनकी लीला श्रवण से श्रीकृष्ण लीलाविशेष का श्रवण होगा। तज्जन्य ही श्रवणाभिलाषी हैं। स्वतन्त्र रूप में श्रीपृथु चरित्र श्रवण, श्रीविदुर का अभीप्सित नहीं है। श्रीविदुर मैत्रेय ऋषि को कहे थे ॥४४॥

श्रीविदुर का तात्पर्य्य जिस प्रकार श्रीकृष्ण में है, उस प्रकार ही श्रीमैत्रेय का भी तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में है। श्रीविदुर कर्त्तृक श्रीवासुदेव कथा कीर्त्तन में प्रवर्त्तित होकर प्रीतमना मैत्रेय ऋषि, उनकी प्रशंसा करके श्रीपृथु महाराज की लीला वर्णन किये थे। (भा० ४।१७।८)

क्रमसन्दर्भः। "तत् प्रशंसया प्रीतमनस्त्वेन चास्यापि तथैव तात्पर्य्यं लभ्यते। अतएवात्र वासुदेवः—श्रीवसुदेवनन्दनः श्रीकृष्ण एव।"

विदुर के वाक्य को सुनकर—मैत्रेय ने उनकी प्रशंसा सन्तुष्ट मन से की। इससे विदित हुआ कि—श्रीमैत्रेय का भी तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही है। निजाभीष्ट कार्य्य में प्रवर्त्तित होने से सब व्यक्ति सुखी होते हैं, एवं प्रवर्त्तक की प्रशंसा भी करते हैं। श्रीकृष्ण कथा कीर्त्तन में मैत्रेय का भी अभिलाष था। श्रीविदुर, श्रीकृष्ण सम्बन्ध स्मरणपूर्वक श्रीपृथु चरित्र श्रवणेच्छु हुए थे—इससे ही मैत्रेय प्रसन्न हुये थे। श्लोक में 'श्रीवसुदेवनन्दन' इस प्रकार निर्देश करने के निमित्त ही 'वासुदेव' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सर्वभूतान्तर्य्यामी होने के कारण अथवा परव्योमस्थ चतुर्व्यूह को सूचित करने के निमित्त,—वासुदेव शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। प्रवक्ता श्रीसूत हैं ॥४५॥

श्रीपरीक्षित् का भी तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही है। श्रीपरीक्षित् ब्रह्मशाप प्राप्त होने के पहले ही इहलोक परलोक को हेय रूप में अवगत हुये थे। यह बुद्धि, परीक्षित् की निश्चयात्मिका रही, ब्रह्मशाप प्राप्ति के पश्चात् इहलोक परलोक के महत्त्व को परित्यागपूर्वक श्रीकृष्ण चरणारविन्द की सेवा को ही निखिल पुरुषार्थ सार रूप में वरण कर गङ्गातीर में अनशन व्रतावलम्बनपूर्वक उपवेशन किये थे।

"अथो विहायेममुञ्च लोकं, विमर्शितौ हेयतया पुरस्तात्।
कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमान, उपाविशत् प्रायममर्त्त्यनद्याम् ॥"

टीका—अथो अनन्तरम्। उभौ लोकौ पुरस्ताद्राज्यमध्य एव हेयतया विचारितौ विहाय। श्रीकृष्णसेवाधिमन्यमानः सर्वपुरुषार्थेभ्योऽधिकां जानन् प्रायमनशनं तस्मिन्नित्यर्थः। तत्सङ्कल्पेनोपाविशदिति

टीका च—"श्रीकृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमानः सर्वपुरुषार्थाधिकां जानन्" इत्येषा ॥ श्रीसूतः ॥

४७ । (भा० १।१९।२०)—

(४७) "न वा इदं राजर्षिवर्य्य चित्रं, भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु ।
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं, सद्यो जहुर्भगवत्पार्श्वकामाः ॥"८४॥

भवत्सु पाण्डोर्वंश्येषु ये जुहुरिति श्रीयुधिष्ठिराद्यभिप्रायेण । अतएव तत्र स्थितानां सर्वश्रोतॄणामपि श्रीकृष्ण एव तात्पर्य्यमायाति ॥ श्रीमहर्षयः श्रीपरीक्षितम् ॥

४८ । (भा० १।१९।३५-३६)—

(४८) "अपि मे भगवान् प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः ।
पैतृष्वस्रेयप्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्यात्तबान्धवः ॥८५॥

सर्वसम्वादिनी

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥'२१॥

यावत् । यद्वा, प्रायं प्रकृष्टमयनं शरणं यथा भवति तथा ।

श्रीस्वामिपाद उक्त श्लोक की टीका में "कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्यमानः" का अर्थ किए हैं । "समस्त पुरुषार्थ से श्रीकृष्णचरण सेवा को अधिक महत्त्वपूर्ण जानकर" । महानुभव श्रीस्वामिपाद की व्याख्या से श्रीपरीक्षित् की श्रीकृष्ण में एकमात्र तात्पर्य्य वार्त्ता परिस्फुट हुई है । प्रवक्ता श्रीसूत हैं ॥४६॥

केवलमात्र श्रीकृष्ण में तात्पर्य्य श्रीपरीक्षित् महाराज का ही था, यह नहीं, किन्तु तदीय सभा में समवेत श्रोतृवर्ग का भी तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही दृष्ट होता है । ऋषिगण, श्रीपरीक्षित् महाराज को कहे थे —"हे राजर्षे ! जिन्होने श्रीकृष्ण के समीप गमन के निमित्त राज-किरीट सेवित सिंहासन पर्य्यन्त परित्याग किया है । उन श्रीकृष्णानुगत आप सबके पक्ष में उक्त आचरण आश्चर्य्यजनक नहीं है ।

"महर्षयो वै समुपागता ये, प्रशस्य साध्वित्यनुमोदमानाः ।
ऊचुः प्रजानुग्रहशीलसारा, यदुत्तमश्लोकगुणाभिरूपम् ॥
न वा इदं राजर्षिवर्य्यचित्रं, भवत्सु कृष्णं समनुव्रतेषु ।
येऽध्यासनं राजकिरीटजुष्टं, सद्योजहुर्भगवत् पार्श्वकामाः ॥
सर्वे वयं तावदिहास्महेऽथ, कलेवरं यावदसौ विहाय ।
लोकं परं विरजस्कं विशोकं, यास्यत्ययं भागवतप्रधानः ॥" (भा० १।१९।१९-२१)

टीका—प्रजानुग्रहे शीलं—सारो बलञ्चयेषाम् । उत्तमश्लोकगुणैरभिरूपं सुन्दरमिव । भवत्सु पाण्डोर्वंशेषु ये जहुरिति युधिष्ठिराद्यभिप्रायेण ॥

श्रीपरीक्षित् महाराज के पहले श्रीकृष्ण पार्श्वगमनाभिलाष से युधिष्ठिर प्रभृति राजन्यवर्ग उक्त राजसिंहासन परित्याग किए थे । उसका स्मरण कर ऋषिगण बोले थे—"पाण्डुवंशीय आप सबका इस प्रकार श्रीकृष्णानुराग स्वाभाविक ही है, सुतरां आपका सिंहासन त्यागरूप कर्म विस्मयावह नहीं है ।" श्रीपरीक्षित् महाराज के सभास्थित महर्षिगण, तदीय कार्य्य को प्रशंसा के सहित अनुमोदन किये थे । इससे तत्रत्य श्रोतृवर्ग का तात्पर्य्य भी श्रीकृष्ण में ही था, यह स्थिर हुआ । प्रवक्ता श्रीसूत हैं ॥४७॥

श्रीपरीक्षित् महाराज श्रीशुकदेव को कहे थे—पाण्डुसुत प्रिय भगवान् श्रीकृष्ण अवश्य ही मेरे प्रति प्रसन्न हैं । तज्जन्य पितृस्वसा के सन्तान श्रीयुधिष्ठिर प्रभृति के वंशोद्भव जानकर आप बन्धुकृत्य को अङ्गीकार किए हैं । अन्यथा आप अव्यक्त गतिसम्पन्न हैं, मनुष्यगण आपका दर्शन कैसे कर सकते हैं ?

अन्यथा तेऽव्यक्तगतेर्दर्शनं नः कथं नृणाम् ।
नितरां म्रियमाणानां संसिद्धस्य वनीयसः ॥"८६॥

तेषां पैतृष्वस्त्रीयाणां पाण्डुसुतानां गोत्रस्य मे आत्तं स्वीकृतं बान्धवं बन्धुकृत्यं येन । ते तव श्रीकृष्णैकरसिकस्य । वनीयसोऽत्युदारतया मां याचेथा इति प्रवर्त्तकस्येत्यर्थः ॥ राजा श्रीशुकम् ॥

४९ । (भा० २।३।१५)—

(४९) "स वै भागवतो राजा पाण्डवेयो महारथः ।
बालः क्रीड़नकै क्रीड़न् कृष्णक्रीड़ां य आददे ॥"८७॥

सर्वसम्वादिनो

इत्यादिभिः शुद्धभजनस्योक्तत्वात्; तथापि (गी० ८।४) 'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर' इत्यादौ च

विशेष कर म्रियमाण मेरे लिए परिपूर्ण सर्वमनोरथ सम्पन्न व्यक्ति भी श्रीकृष्ण कथा का वक्ता होंगे, यह असम्भव ही प्रतीत होता है। आपका दर्शन अवश्य ही श्रीकृष्ण कृपा प्रभाव से सम्भव हुआ है।

क्रमसन्दर्भः। वनीयस इति तु छन्दसीति हि तृन् तृजन्तादिष्ठेयसुनौ भवतः। (पाणिनिः ६।४।१५४) 'तुरिष्ठेमेयःसु' इति च तृ-शब्दस्य लोपः स्यात्। ततो निमित्ताभावे नैमित्तकस्याप्यभावात् ढेर्लोपाश्च सिध्यन्ति।

टीका—पाण्डुसुतानां प्रियः, अतस्तेषां पैतृस्वष्वसेयाणां प्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्य मे आत्तं स्वीकृतं बान्धवं बन्धुकृत्यं येन। अन्यथा, श्रीकृष्णप्रसादं विना। अव्यक्तागति र्यस्य। म्रियमाणानां नितरां कथं स्यात्। वनयिता—याचयिता, वनयितृतमो वनीयान् तस्य अत्युदारतया मां याचेथा इति प्रवर्त्तकस्येत्यर्थः॥

श्रीकृष्ण की पितृस्वसा के पुत्र पाण्डवगण के वंशोत्पन्न मेरे प्रति बन्धुकृत्य का स्वीकार आपके द्वारा श्रीकृष्ण ने किया है। कारण आप श्रीकृष्ण के अभिन्न हृदय हैं। श्रीकृष्ण के हृदय में जब जिस भाव का उदय होता है, वह भाव आपके हृदय में भी तत्क्षणात् स्फुरित होता है। कारण उन्होंने कहा भी है— "साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयन्त्वहं, मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।" मेरा अन्तिम समय में मेरे निकट में उपस्थित होकर उनकी स्मृति को प्रदीप्त करने के निमित्त श्रीकृष्ण की इच्छा हुई, तज्जन्य ही आप स्वयं उपस्थित होकर स्वीय उदारता वशतः श्रीकृष्णकथा का वक्ता होने का अभिप्राय व्यक्त कर रहे हैं। अर्थात् मुझको कृष्ण कथा सुनने के लिए प्रोत्साहित कर रहे हैं।

उक्त कथन का तात्पर्य्य यह है—पाण्डवगण, श्रीकृष्ण के अतिशय प्रिय थे, श्रीकृष्ण भी पाण्डवों के अत्यन्त प्रिय थे। मेरा अन्तिम समय में इस सभा में आपका शुभागमन, उक्त प्रीति का ही अनुभाव स्वरूप है। मुझको निज चरणारविन्द के समीप में आकर्षण करने के निमित्त ही श्रीकृष्ण उनके लीला कथामृत का आस्वादन कराने के निमित्त आपको प्रेरण किए हैं। यह कृत्य, श्रीकृष्ण का बान्धवोचित ही है। मेरा ऐसा कुछ भी सौभाग्य नहीं है, जिससे प्राणप्रयाण के समय मेरी कथा श्रीकृष्ण के स्मरण पथ में उदित हो। श्रीकृष्ण कृपा भिन्न आपका सन्दर्शन, सर्वथा असम्भव है। कारण आपका दर्शन ही साक्षात् श्रीकृष्ण प्राप्ति स्वरूप है। मूलस्थ 'वनीयसः' पद का ही यह तात्पर्य्य है।

महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेव को कहे थे ॥४८॥

श्रीपरीक्षित् महाराज—आशैशव श्रीकृष्णानुरक्त थे, उसका वर्णन करते हैं—"पाण्डुकुलतिलक महारथ, भागवत, राजा परीक्षित् बाल्यकाल में क्रीड़नक समूह के द्वारा क्रीड़ा करते करते श्रीकृष्ण क्रीड़ा

या या श्रीकृष्णस्य वृन्दावनादौ बालक्रीड़ा श्रुतास्ति, तत्प्रेमावेशेन तत्सख्यादिभाववान् तां तामेव क्रीड़ां यः कृतवानित्यर्थः ॥ श्रीशौनकः ॥

५० । एवंजातीयानि बहून्येव वचनानि विराजन्ते । तथा (भा० १०।१।१) "कथितो वंशविस्तारः" इत्यारभ्य (भा० १०।१।१३) "नैषातिदुःसहा क्षुन्मां" इत्यन्तं दशमस्कन्ध-प्रकरणमप्यनुसन्धेयम् । किञ्च, (भा० १०।१२।४०)—

सर्वसम्वादिनी

स्वस्यान्तर्यामित्वेन चोक्तत्वात्, सर्वगुह्यतमत्व-गुह्यतरत्वयोरनुपपत्तिरिति ;—यद्यदेव पूर्वं सामान्यतयोक्तम्,

का ही अनुष्ठान करते थे।"

टीका—एतत् प्रपञ्चयति, स वा इति द्वाभ्याम् । कृष्णपूजादिरूपां क्रीड़ां यः स्वीकृतवान् ।

क्रमसन्दर्भः । स वै इति । श्रीकृष्णस्य वृन्दावनादौ बालक्रीड़ा श्रुतास्ति, तत् प्रेमावेशेन तत् सख्यादि भाववान् तां तामेव क्रीड़ां यः कृतवानित्यर्थः ॥

श्रीवृन्दावनादि में श्रीकृष्ण की बाल्यक्रीड़ा की जो कथा प्रसिद्ध रही, माता श्रीउत्तरा के प्रमुख से आप उसका श्रवण किए थे, एवं श्रीकृष्ण प्रेमावेश से स्वयं सख्यादिभावविशिष्ट होकर उक्त क्रीड़ासमूह का अनुष्ठान निज बाल्यक्रीड़ा के समय में करते थे। प्रवक्ता श्रीशौनक हैं ॥४९॥

महाराज श्रीपरीक्षित् के श्रीकृष्णानुरागसूचक बहु वाक्य, श्रीमद्भागवत में विराजित हैं। (भा० १०।१।१) "कथितो वंशविस्तारः" से (भा०१०।१।१३) "नैषातिदुःसहा क्षुन्मां" इत्यादि पर्यन्त प्रकरण का अनुसन्धान करना परमावश्यक है। उसमें श्रीपरीक्षित् की श्रीकृष्ण कथा श्रवणासक्ति प्रकाशित है। प्रकरण इस प्रकार है—

श्रीराजोवाच—

"कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्य्ययोः । राज्ञाञ्चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥१
यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम । तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णो वीर्य्याणि शंस नः ॥२
अवतीर्य्य यदोर्वंशे भगवान् भूतभावनः । कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वदविस्तरात् ॥३
निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमः श्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विनापशुघ्नात् ॥४
पितामहा मे समरेऽमरेञ्जयैर्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः ।
दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वातरन् वत्सपदं स्म यत् प्लवाः ॥५
द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम् ।
जुगोपकुक्षिं गत आत्त चक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः ॥६
वीर्य्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्वहिः पुरुषकालरूपैः ।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतञ्च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ॥७
रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः सङ्कर्षणस्त्वया । देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना ॥८
कस्मान्मुकुन्दो भगवान् पितुर्गेहाद् व्रजं गतः । क्व वासं ज्ञातिभिः सार्द्धं कृतवान् सात्वतां पतिः ॥९
व्रजे वसन् किमकरोन्मधुपुर्य्याञ्च केशवः । भ्रातरञ्चावधीत् कंसं मातुरद्धाऽतवर्हणम् ॥१०
देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः । यदुपुर्य्यां सहावात्सीत् पत्न्यः कत्य भवन् प्रभोः ॥११
एतदन्यच्च सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम् । वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्दधानाय विस्तृतम् ॥१२
नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते । पिवन्तं त्वन्मुखाम्भोज-च्युतं हरिकथामृतम् ॥"१३

क्रमसन्दर्भः । नैषेति श्रीपरीक्षितो गाढ़राग-व्यक्तिः । त्यक्तोदमपीत्युदकमपि सम्यक् त्यक्त.वन्तमित्यर्थः ।

(५०) "इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः" इत्यादि।

येन श्रवणेन नितरां गृहीतं वशीकृतं चेतो यस्य सः ॥ श्रीसूतः ॥

५१। तथा, (भा० १०।७।१)—

(५१) "येन येनावतारेण" इत्यादि; (भा० १०।७।२) "यच्छृण्वतोऽपैत्यरति" इत्यादि च।

टीका च—"कृष्णार्भकसुधासिन्धुसंप्लवानन्दनिर्भरः।

भूयस्तदेव संप्रष्टुं राजान्यदभिनन्दति ॥८८॥

सर्वसम्वादिनी

तस्यैवान्ते विविच्य निर्दिष्टत्वात्? उच्यते। न तावद्भजन-तारतम्यम्; अत्र भजनीय-तारतम्यस्यापि सम्भवे

भा० १०।१२।४० में वर्णित है—"इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं विचित्रम्।
प्रपच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः॥"

टीका—"येन श्रवणेन निगृहीतं वशीकृतं चेतो यस्य सः।"

बृहद्वैष्णवतोषणी। इत्थं स्वयमेव श्रीबादरायणिना कथयितुमारभ्यमाणाया अपि कथाया मध्ये परमौत्सुक्येन महाराजोऽपृच्छदित्याह—इत्थमिति। यादव-देवेन श्रीभगवता दत्तो ब्रह्मास्त्रतो रक्षित्वा पाण्डवेभ्योऽर्पितः। यादवदेवेति—पाण्डवैः सह सम्बन्धश्च सूचयति। इत्यादयो भूयः प्रश्ने हेतवः। विचित्रं परमाद्भुतं वैयासकिं श्रीव्यासनन्दनमिति सर्ववेदार्थतत्त्वाभिज्ञतोक्ता। यदिति तैर्व्याख्यातम्। तत्र येन श्रवणेनेति श्रुत्वेत्यस्य परामर्शादिति। यद्वा, येन चरितेन नितरां गृहीतं प्रेमविशेषाविर्भावनेन परमोत्कण्ठया पीड़ितं चेतो यस्य सः। तथापि प्रश्ने हेतुः—पुण्यं शुभावहमिति तत् पीड़ाया-स्तदेकौषधत्वादिति भावः।

वैष्णवतोषणी। अत्राकस्मात् सूत उवाच इति तत् प्रसङ्गे परमानन्दस्य वैशिष्ट्यात् सोऽपि तत्र तौ तुष्टाव इत्यर्थः। येन चरितेन निगृहीतं तद्वियोगमयप्रेमाविर्भावनेन पीड़ितं चेतो यस्य सः, तथापि प्रश्ने हेतुः—पुण्यं शुभावहमिति, तत् पीड़ाया स्तदेकौषत्वादिति भावः।

श्रीसूत ने कहा,—हे द्विजगण! श्रीकृष्ण कर्त्तृक ब्रह्मास्त्र से रक्षित एवं श्रीयुधिष्ठिर प्रभृति के निकट प्रदत्त महाराज परीक्षित्, निज रक्षक श्रीकृष्ण का इस प्रकार विचित्र चरित्र सुनकर पुनर्बार श्रीशुकदेव को जिज्ञासा किए, कारण श्रीकृष्ण चरित्र श्रवण कर उनका चित्त श्रीकृष्ण लीलामाधुर्य्य के द्वारा वशीभूत हो गया था।

श्लोक में "यन्निगृहीतचेताः" पद का प्रयोग है। यह विशेषण—श्रीपरीक्षित् का है। उसका अर्थ,—जिसके द्वारा, अर्थात् जिस चरित्र श्रवण के द्वारा निरतिशय रूप में गृहीत वशीकृत हुआ है, चित्त जिनका, वह परीक्षित्। सुतरां श्रीकृष्ण चरित्र श्रवण के निमित्त उनका औत्सुक्य स्वाभाविक है।

प्रवक्ता श्रीसूत हैं ॥५०॥

दशम स्कन्ध के सप्तमाध्यायस्थ प्रथम द्वितीय श्लोक में महाराज परीक्षित् का श्रीकृष्ण चरित्र श्रवण हेतु औत्सुक्य विशेष दृष्ट होता है—"येन येनावतारेण भगवान् हरिरीश्वरः।
करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो॥
यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिवितृष्णा सत्त्वञ्चशुध्यत्यचिरेण पुंसः।
भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत्॥"

टीका—"कृष्णार्भकसुधासिन्धुसंप्लवानन्दनिर्भरः। भूयस्तदेव सम्प्रष्टुं राजान्यदभिनन्दति॥

येन येन मत्स्याद्यवतारेणापि यानि यानि कर्माणि करोति, तानि नः कर्णसुखावहानि मनःप्रीतिकराणि च भवन्त्येव। तथापि यच्छृण्वतः पुंसः पुंमात्रस्यारतिर्मनोग्लानिस्तन्मूलभूत-विविधा तृष्णा चापगच्छति, तथा सत्त्वशुद्धि-हरिभक्ति-हरिदास्य-सख्यानि च भवन्त्यचिरेणैव तदेव हारं हरेश्चरित्रं मनोहरं वा वद, अनुग्रहं यदि करोषि" इत्येषा ॥ राजा ॥

सर्वसम्वादिनी

गौण-मुख्य-न्यायेन भजनीय एवार्थ-सम्प्रतीतेः; मुख्यत्वञ्च,—तस्य (ब्र० सू० ३।२।३९) "फलमत उपपत्तेः"

येन येनेति—येन येन मत्स्याद्यवतारेणापि यानि यानि कर्मरम्याणि करोति, तानि नः, कर्णसुखावहानि मनः प्रीतिकराणि च भवन्त्येव। तथापि तच्छृण्वतः पुंसः पुरुषमात्रस्यारतिर्मनोग्लानि स्तन्मूलभूता विविधा तृष्णा चापगच्छति, तथा सत्त्वशुद्धिहरिर्भक्तिहरिदासाख्यानि च भवन्ति। तदेव हारं—हरेश्चरितं मनोहरं वा वद, मन्यसे चेत् अनुग्रहं यदि करोषीति ॥"

महाराज परीक्षित् श्रीकृष्ण के बाल्यक्रीड़ा रूप अमृतसागर में परिप्लुत होकर भी पुनर्बार उक्त विषय को सविशेष रूप से अवगत होने के निमित्त अन्यान्य भगवच्चरित्र का अभिनन्दन करते हैं। "येन येन" मत्स्यादि अवतार ग्रहण कर श्रीहरि, जो कर्म करते हैं, वह मनः प्रीतिकर एवं कर्णसुखावह तो है ही, तथापि जिसका श्रवण से पुरुष मात्र की ही अरति, मनोग्लानि, वितृष्णा, मनोग्लानि की मूलीभूत विविध वासना, विदूरित होती है, एवं सत्त्वशुद्धि—मनःशुद्धि, हरिभक्ति, हरि का दास्य, सख्य प्रभृति का सञ्चार अविलम्ब से होता है। उन श्रीहरि का मनोहर चरित्र का वर्णन अनुग्रहपूर्वक करें।

श्रवणकीर्त्तनादि अशेष साधनों का श्रेष्ठ फल है—श्रीभगवद्रति। श्रीकृष्ण की पूतना मोक्षणलीला श्रवण से श्रवणकीर्त्तनादि अशेष साधनों का फलस्वरूप श्रीकृष्ण प्रीति का आविर्भव होता है। किन्तु महाराज अवतारान्तर के चरित्र वर्णन प्रसङ्ग से आशङ्कित होकर अभीप्सित श्रीकृष्ण चरित्र श्रवण हेतु निखिल भगवदवतार चरित्र को अभिनन्दित किये थे। कहे थे—अन्यान्य भगवच्चरित्र श्रवण से मानसिक सुखोदय तो होता है, किन्तु जिस श्रीकृष्ण चरित्र श्रवण से अरति निवृत्ति, सत्त्वशुद्धि, हरिभक्ति, हरिदास नाम, हरिसख्य प्रभृति फललाभ अति सत्वर होता है। उक्त श्रीकृष्ण चरित्र का धारण मनोहर हार के समान करना ही कर्त्तव्य है। महाराज ने इस प्रकार प्रार्थना करके निज हृदय का तात्पर्य्य एकमात्र श्रीकृष्ण में ही है—प्रकाश किया।

क्रमसन्दर्भः। बाल्यलीलारम्भत एव इति—फलं श्रुत्वा स्वस्यापि तदुद्दीपनमनुभूयजातपरमानन्द-स्तदेव भूयः पृच्छति, येनेति त्रिभिः। वदेत्यनेन यद्यपि, तथापि यदन्यदपीति शृङ्खलया त्रयाणां किञ्चिदध्याहारेणान्वयः। कर्णेति—कर्णरम्याणि, मनोज्ञानि, इति; पदद्वयं शब्दार्थयोः पृथङ्माधुर्य्यानु-भवेन। हारं—हारवत् स्पृहया हृदि धार्य्यम्। चेन्मन्यसे—पूर्वपूर्ववद्गुप्तं न करोषीत्यर्थः। तत्ताहशमन्यदपि तोकाचरितमेव वदेत्यन्वयः।

श्रीकृष्ण कथा श्रवण का एकमात्र फल है—श्रीकृष्णचरणों में प्रीति। इसका श्रवण करके प्रीति का उद्दीपनस्वरूप चरित्र को जानकर परमानन्द से आप्लुत होकर महाराज पुनर्बार पूछे थे—

"येन येन अवतारेण भगवान् हरिरीश्वरः। करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो ॥

'वद' इस क्रियापद का विन्यास से सूचित होता है कि—यद्यपि समस्त भगवदवतार चरित्र मधुर है, तथापि श्रीकृष्ण बालचरित्र अति सुमधुर है। इस प्रकार अध्याहार के द्वारा अन्वय होता है। "कर्णरम्याणि—मनोज्ञानि" पदद्वय का प्रयोग—शब्दार्थ का पृथक् माधुर्य्यानुभव से ही हुआ है।

हार शब्द—मनोहर हार के सदृश ही श्रीकृष्ण चरित्र का धारण करना विधेय है। मनोहर कृष्ण

५२। अथ श्रीशुकदेवस्य (भा० १।१९।३५) "अपि मे भगवान् प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः" इत्यादिना श्रीकृष्ण एव स्वरतिं व्यज्य म्रियमाणानां श्रोतव्यादिप्रश्ने नैवान्तकाले श्रीकृष्ण एव मय्यप्युपदिश्यतामिति राजाभिप्रायानन्तरम् (भा० २।१।१)—

(५२) "वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं नृप।
आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः ॥"८९॥

ते त्वया पुंसां श्रोतव्यादिषु मध्ये यः परः श्रीकृष्णश्रवणाभिप्रायेण परमः प्रश्नः कृतः, एष वरीयान् सर्वावतारावतारिप्रश्नेभ्यः परममहान्, स च लोकहितं यथा स्यात्तथैव कृतः। त्वन्तु तथाभूत-श्रीकृष्णैकनिर्बन्धप्रेमत्वात् कृतार्थ एवेति भावः। तदुक्तम् (भा० २।४।१)—

"वैयासकेरिति वचस्तत्त्वनिश्चयमात्मनः।
उपधार्य्य मतिं कृष्ण औत्तरेयः सतीं व्यधात् ॥"९०॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

इति न्यायेन, विशेषतस्तु तच्छब्देन न स्वयमेव तद्रूप इति मच्छब्देन स्वयमेवैतद्रूप इति च भेदस्य

चरित्र का वर्णन करें। अनुग्रहपूर्वक ही वर्णन करें, पूर्वपूर्ववत् गोपन न करके ही कृपया वर्णन करें। उस प्रकार अन्य बाल्यचरित्र का भी वर्णन करें। इस प्रकार वाक्य योजना है।

प्रवक्ता राजा परीक्षित् हैं ॥५१॥

श्रीशुकदेव का तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही है, उसका प्रदर्शन करते हैं। भा० १।१९।३५ में उक्त है—

"अपि मे भगवान् प्रीतः कृष्णः पाण्डुसुतप्रियः। पैतृष्वस्रेय प्रीत्यर्थं तद्गोत्रस्यात्मबान्धवः ॥

'पाण्डुसुतप्रिय भगवान् श्रीकृष्ण' इत्यादि वाक्य के द्वारा एकमात्र श्रीकृष्ण में ही निज प्रीति व्यक्त कर म्रियमाण जनगण का कर्त्तव्य क्या है? इस प्रश्न उत्थापनपूर्वक अन्तिम समय में मुझको श्रीकृष्ण उपदेश ही प्रदान करें। महाराज परीक्षित् उक्त प्रकरण से स्वीय अभिप्राय प्रकाश करने पर श्रीशुकदेव कहे थे—

"वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं नृप! आत्मवित् सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः।
तस्माद् भारत! सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरिः। श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्येच्छताभयम् ॥"

हे नृप! यह प्रश्न सर्वोत्तम है। कारण इससे लोकों का परमोपकार होगा। यह प्रश्न मुक्त पुरुषों का अनुमोदित है, और श्रोतव्यादि के मध्य में यह सर्वोत्तम है।

श्रवणीय के मध्य में जो सर्वोत्कृष्ट है, अर्थात् श्रीकृष्णाभिप्राय हेतु श्रेष्ठ है, उस विषय का प्रश्न ही आप से हुआ है। यह वरीयान् है, अर्थात् सर्वावतारावतारी के सम्बन्ध में आपने जो पूछा है, उक्त समूह से यह श्रेष्ठ है। जिससे जनकल्याण होगा, उस अभिप्राय से ही आपने प्रश्न किया है। प्रश्न से ही आप कृतार्थ हो गये हैं, उस प्रकार मेरी धारणा नहीं है। कारण—जिनके चरित्र श्रवण से ही सर्व शुभोदय होता है। आप तो उन श्रीकृष्ण में ही परम प्रेमयुक्त होकर परम कृतार्थ हुये हैं। श्रीशुकोक्ति का यह ही तात्पर्य्य है।

श्रीपरीक्षित् महाराज पहले से ही श्रीकृष्ण में प्रगाढ़ प्रेमवान् थे, उसका कथन श्रीसूत ने शौनकादि के समीप में किया था।

वैयासकेरिति वचस्तत्त्वनिश्चयमात्मनः। उपधार्य्यमतिं कृष्णे औत्तरेयः सतीं व्यधात्। (भा० २।४।१)

व्यासनन्दन के आत्मतत्त्व निश्चायक वाक्यसमूह का श्रवण कर उत्तरानन्दन परीक्षित् श्रीकृष्ण में

सती विद्यमाना कृष्णे या मतिस्तामेव विशेषेण धृतवानित्यर्थः। एतदेव व्यक्तीकरिष्यते राज्ञा (भा० २।८।२)—

"हरेरद्भुतवीर्य्यस्य कथा लोकसुमङ्गलाः।
कथयस्व महाभाग यथाहमखिलात्मनि।
कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम् ॥" ६१॥ इति ॥ श्रीशुकः ॥

५३। एवमेव (भा० १०।१।१) "कथितो वंशविस्तारः" इत्याद्यनन्तरम्, (भा० १०।१।१५)—

(५३) "सम्यग्व्यवसिता बुद्धिः" इत्यादि।

पूर्वं मया नानावताराादिकथाभिरभिनन्दितस्यापि यच्छ्रीवसुदेवनन्दनस्यैव कथायां नैष्ठिकी स्थायिरूपा रतिर्जाता, एषा बुद्धिस्तु सम्यग्व्यवसिता परमरसविदग्धेत्यर्थः॥ श्रीशुकः॥

सर्वसम्वादिनी

विद्यमानत्वादुपदेशद्वये निजेनौदासीन्येनावेशेन च लिङ्गेनापूर्णत्वोपलम्भात्, फल-भेद-व्यपदेशेन एव-कारेण

निज सतीमति का धारण विशेष रूप से किए थे।

सती,—पूर्व से सी श्रीकृष्ण में विद्यमाना जो मति थी, उसकी धारणा, विशेष रूप से महाराज ने किया था, यह ही मर्मार्थ है। विशेष रूप से मति धारण की वार्त्ता श्रीपरीक्षित् वाक्य में ही सुव्यक्त है।

"एतद्वेदितुमिच्छामि तत्त्व तत्त्वविदाम्बर! हरेरद्भुतवीर्यस्य कथा लोक सुमङ्गलाः॥
कथयस्व महाभाग यथाहमखिलात्मनि। कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्ष्ये कलेवरम्॥
(भा० २।८।२-३)

हे महाभाग! आप, अद्भुत वीर्य्य श्रीहरि की लोकसुमङ्गला कथा का वर्णन करें। उक्त कथा के द्वारा अखिलात्मा श्रीकृष्ण में सर्ववासनाशून्य मनः को स्थापन कर देहत्याग करूँगा।

श्रीशुकदेव की उक्ति है ॥५२॥

इस प्रकार (भा० १०।१।१) "कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्य्ययोः।
राज्ञाञ्चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम्॥
यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम!
तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्य्याणि शंस नः॥" इत्यादि श्रीपरीक्षित् के कथन के पश्चात् "सम्यग्व्यवसिताबुद्धिस्तव राजर्षि सत्तम! वासुदेव कथायां तेयज्ञातानैष्ठिकी रतिः॥" श्रीशुक वाक्य से जो तात्पर्य्य प्रकाशित हुआ है, हे राजर्षिसत्तम! आपकी बुद्धि सम्यक् प्रकार से कृतनिश्चयात्मिका है। तज्जन्य ही श्रीवासुदेव की कथा में आपकी नैष्ठिकी रति उत्पन्न हुई है।

इसके पहले बहुविध अवतार कथा श्रवण से आप आनन्दित हुए हैं। तथापि वसुदेव नन्दन की कथा में आपकी नैष्ठिकी रति है। अर्थात् स्थायिरूपा रति का आविर्भाव हुआ है। उससे प्रतीत होता है कि—आपकी बुद्धि परमविदग्ध है। श्रीशुकदेव का कहने का अभिप्राय वह ही है।

उत्तम कार्य्यानुष्ठानकारी व्यक्ति ही प्रशंसार्ह होता है। श्रीकृष्ण में मनोनिवेश करना सर्वोत्तम कार्य्य है। अतः श्रीपरीक्षित् की बुद्धि की प्रशंसा करते हैं। विशेषतः नाना अवतार वर्णन गहन कानन के मध्य में वर्णित श्रीकृष्ण को सर्वोत्तम रूप से अवगत होना ही बुद्धि वैदग्धी-पाण्डित्य की चरम पराकाष्ठा है। श्रीशुकदेव का कथन है ॥५३॥

५४। तथा, (भा० १०।१२।४०) "इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः, श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं विचित्रम्" इत्यनन्तरम् (भा० १०।१२।४४)—

(५४) "इत्थं स्म पृष्टः स च बादरायणि,-स्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः।
कृच्छ्रात् पुनर्लब्धवहिर्दृशिः शनैः, प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तम॥" ६२॥

अनन्तः प्रकटितपूर्णैश्वर्य्यश्रीकृष्णः सर्वदा तेन स्मर्य्यमाणेऽपि तस्मिन् प्रतिक्षण-नव्यत्वेनैव तत्स्मारितेत्युक्तम्॥ श्रीसूतः॥

सर्वसम्वादिनी

च तत्तदर्थस्यैव पुष्टत्वाच्च, साक्षादेव भजनीय-तारतम्यमुपलभ्यते। वस्तुतस्तु सर्वभावेनेत्यस्य सर्वेन्द्रिय-

अतएव भा० १०।१२।४० में उक्त है— श्रीसूत उवाच—

"इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं विचित्रम्।
पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः॥"

टीका—येन श्रवणेन निगृहीतं वशीकृतं चेतो यस्य सः॥

वैष्णवतोषणी। अत्राकस्मात् सूत उवाच इति तत् प्रसङ्गे परमानन्दस्य वैशिष्ट्यात् सोऽपि तत्र तौ तुष्टाव इत्यर्थः। येन चरितेन निगृहीतं तद्वियोगमयप्रेमाविर्भावनेन पीड़ितं चेतो यस्य सः। तथापि प्रश्ने हेतुः—पुण्यं शुभावहमिति, तत् पीड़ायास्तदेकौषधत्वादिति भावः।

सूत उवाच—"इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणि,-स्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः।
कृच्छ्रात् पुनर्लब्धवहिर्दृशिः शनैः प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तम॥"

टीका—तेन यः स्मारितोऽनन्तस्तेन हृतानि अखिलेन्द्रियाणि यस्य सः। तथाभूतोऽपि कथञ्चिल्लब्ध वहिर्दृष्टिः, हे भागवतोत्तमोत्तम! हे शौनक!

वैष्णवतोषणी। बादरायणिरिति—पितृनामोल्लेखात्तस्यापि नन्दनत्वेन माहात्म्यविशेषः सूचितः। अतएव तेन तदीय प्रश्नविशेषेण स्मारितस्तत्तद्विशेषेण हृदयं प्रापितोऽनन्तः शाद्वलजेमनादिब्रह्मस्तूयमान तात्पर्य्यन्तानन्तैश्वर्य्यमाधुरीकः कृष्णः तेन हृताखिलेन्द्रियः, प्रेमभरेण तदेकपरिस्फूर्त्या लीनसर्वेन्द्रिय-वृत्तिरित्यर्थः। अयं प्रमोदमोहानुभवः प्रलयाख्यः, कम्पपुलकादिवत्, प्रेमविकारविशेषो ज्ञेयः। संस्मारित इति क्वचित् पाठः। तथापि स एवार्थः। स च स्वाम्य सम्मतः, चित्सुखस्य तु सम्मतः, कृच्छ्रादुच्चैः करताल-शङ्ख-भेरी-दुन्दुभि-निःशानादिवाद्ययुक्त-कीर्त्तनोद्घोषणैर्बहुल-प्रयासेन लब्धवहिर्दृशिः जातेन्द्रिय वहिर्वृत्तिरित्यर्थः। पुनरित्यनेन पूर्वमपि वारंवारमीदृशोजातोऽस्तीति बोध्यते, तत्र तत्रैव तातेति वारम्बारं सम्बोधनमित्यभिज्ञा आहुः। तदर्थं श्रीपरीक्षिता महाव्यग्रेण सता निजान्तिके तत्तद्वाद्यादिश्रीकृष्णकीर्त्तन-सामग्रीश्रीजनमेजयतो रक्षितास्तीत्याख्यायिका प्रसिद्धा। शनैरिति, तदानीमनुवर्त्तमानेन प्रेमभरेणाक्रान्त-त्वात्। हे भागवतोत्तमोत्तम इति—तत्परमगुह्यमपि श्रोतुमर्हसीति भावः। क्वचित् साम्यसम्मतो द्वितीयान्तपाठः, चित्सुखसम्मतः। ततश्च प्रतिवचने हेतुर्ज्ञेयः॥

पूर्ण ऐश्वर्य्य प्रकटन हेतु ही श्रीकृष्ण अनन्त नाम से अभिहित हैं। श्रीपरीक्षित् ने स्मरण कराया, कहने से यह प्रतीत नहीं होता है कि—इसके पहले श्रीशुकदेव श्रीकृष्ण स्मरण नहीं करते थे। किन्तु श्रीशुकदेव निरन्तर ही श्रीकृष्ण स्मरण करते थे। राजा के प्रश्न से उक्त स्मृति नूतन से नूतनतम रूप से अनुभूत होती थी। तज्जन्य ही कहा गया है—श्रीपरीक्षित् ने स्मरण करवाया।

पितृनामोल्लेखपूर्वक अर्थात् 'बादरायणि' शब्द से शुकदेव को सम्बोधन करने से उनका आनन्द प्रदाता रूप में विशेष माहात्म्य सूचित हुआ। अतएव राजा प्रश्न विशेष से ब्रह्ममोहन लीलापरायण

५५। अतएव (भा० २।३।१५) "स वै भागवतो राजा" इत्याद्यनन्तरं राज्ञा समान-वासनत्वेनैव तमाह, (भा० २।३।१६)—

(५५) "वैयासकिश्च भगवान् वासुदेवपरायणः।
उरुगायगुणोदाराः सतां स्युर्हि समागमे ॥"६३॥

'च'-शब्दः प्राग्वर्णितेन समानवासनत्वं बोधयति। तस्माच्छ्रीवसुदेवनन्दनत्वेनैवात्रापि 'वासुदेव'-शब्दो व्याख्येयः। अन्येषामपि सतां समागमे तावदुरुगायस्य गुणोदाराः कथा भवन्ति। तयोस्तु श्रीकृष्णचरितप्रधाना एव ता भवेयुरिति भावः॥ श्रीशौनकः॥

५६। किं बहुना, श्रीशुकदेवस्य श्रीकृष्ण एव तात्पर्य्ये तदेकचरितमयौ ग्रन्थार्द्धायमानौ दशमैकादशस्कन्धावेव प्रमाणम्। स्कन्धान्तरेष्वन्येषाञ्चरितं संक्षेपेणैव समाप्य ताभ्यां तच्चरितस्यैव विस्तारितत्वात्। अतएवारम्भत एव तत्प्रसादं प्रार्थयते (भा० २।४।२०)—

सर्वसम्वादिनी

प्रवणतयेत्यर्थः;—गौण-मुख्य न्यायेनैव ज्ञानमिश्रस्य सर्वात्मता-भावना-लक्षण-भजनरूपार्थस्य बाधितत्वात्,

श्रीकृष्ण का माधुर्य्यास्वादन हृदय में उद्वेलित हो उठा, उससे ही आपकी निखिलेन्द्रियवृत्ति स्तिमित हो गई। यह प्रमोदमोहानुभव जनित प्रलयाख्य नामक सञ्चारिभाव है। 'संस्मारित' पद दृष्ट होता है, किन्तु वह स्वामिसम्मत नहीं है, चित्सुख सम्मत है। उसका अर्थ भी समान ही है। वाद्ययन्त्र के सहित कीर्त्तन प्रयास से वहिर्वृत्ति का सम्पादन हुआ था। प्रसिद्धि है कि—महाराज के आदेश से जनमेजय कीर्त्तन मण्डली के द्वारा समय समय में उपस्थित अन्तर्मुखिता से वहिर्वृत्ति का सम्पादन करते थे। प्रेमातिशय्य से आक्रान्त होने से शुकदेव शनैः शनैः वहिर्वृत्ति प्राप्त किए थे। हे 'भगवतोत्तमोत्तम' सम्बोधन है। परमपुण्यात्मक गोपनीय कथा श्रवण सौभाग्य हेतु प्रशंसा वचन है। 'भागवतोत्तमोत्तम्' द्वितीयान्त पाठ भी दृष्ट होता है। वह पाठ स्वामिसम्मत नहीं है, चित्सुख सम्मत है। उत्तर के प्रति यह ही हेतु है। प्रकरण प्रवक्ता श्रीसूत हैं ॥५४॥

अतएव (भा० २।३।१५) "स वै भागवतो राजा पाण्डवेयो महारथः,
बालः क्रीड़नकैः क्रीड़न् कृष्णक्रीड़ां य आददे।" श्लोक में राजा परीक्षित् को पाण्डव वंशधर महारथ एवं भागवत कहा गया है। परवर्त्ती श्लोक में "वैयासकिश्च भगवान् वासुदेव परायणः। उरुगायगुणोदारा सतां स्युर्हि समागमे॥" श्रीपरीक्षित् के समान वासनाविशिष्ट रूप से ही शुकदेव का वर्णन हुआ है। भगवान् व्यासनन्दन भी वासुदेव परायण हैं। उरुगाय श्रीकृष्ण के गुण वर्णन के द्वारा जो महती कथा प्रसिद्ध है। साधुसमागम में उक्त कथा का ही कीर्त्तन होता है। श्लोकोक्त 'च' शब्द के द्वारा (वैयासकिश्च) पूर्व वर्णित राजा का समान वासनाविशिष्टत्व सूचित हुआ है। अर्थात् परीक्षित् के समान श्रीशुकदेव भी श्रीवासुदेव परायण थे। अन्यान्य साधुसमागम में किसी भगवत् स्वरूप का प्रसङ्ग होता है, किन्तु उक्त समान हृदयाक्रान्त व्यक्तिद्वय के मध्य में श्रीकृष्ण चरित प्रधान कथा ही होगी। कारण श्रीवसुदेव सुत उन दोनों का परमाश्रय हैं, उनको छोड़कर अपर स्वरूप की कथा से उन दोनों की सम्पूर्ण उल्लास सम्भावना नहीं की जाती है। प्रवक्ता श्रीशौनक हैं ॥५५॥

श्रीशुकदेव का तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही है, इस विषय में अधिक प्रमाण उट्टङ्कन की आवश्यकता नहीं है। कारण, श्रीमद्भागवत के अर्द्धपरिमित श्रीकृष्ण चरित प्रधान, दशम एवं एकादश स्कन्ध ही उसका प्रकृष्ट प्रमाण है।

(५६) "श्रियः पतिः" इत्यादौ "पतिर्गतिश्चान्धक-वृष्णिसात्वतां
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः"

स्पष्टम् ।। श्रीशुकः ।।

५७ । अथ श्रीव्यासदेवस्य (भा० १।७।६-७) –

(५७) "अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे ।
लोकस्याजानतो व्यासश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ।।"६४।।

सर्वसम्वादिनो

(गी० १८।६२) 'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्' इति लोकविशेष-प्राप्तेरेव निर्दिष्टत्वात् ।

स्कन्धान्तर में अन्यान्य भगवत्स्वरूप की कथा का वर्णन सङ्क्षेप में समाप्त करके उक्त स्कन्धद्वय में श्रीकृष्ण चरित का सुविस्तार वर्णन आपने किया है। श्रीशुकदेव का तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में होने के कारण ही आपने श्रीमद्भागवत कीर्त्तन में प्रवृत्त होकर तदीय प्रसाद की प्रार्थना भा० २।४।२० में की है—

"श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः ।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ।।

टीका – सर्वपालकत्वमनुस्मरन्नाह—श्रिय इति । गतिश्च सर्वापत्सु रक्षकः ।।

क्रमसन्दर्भः । तदेवं निजोपास्यविशेषं रहस्यत्वेनाभिव्यज्य परमप्रेमावेशेनैव व्यञ्जयन्नाह—श्रियः सर्वसम्पदधिष्ठात्र्याः पतिः—स्वामी, अतो यज्ञानां सर्व-श्रेयः साधनानां च पतिः फलदाता, अतः प्रजानां सर्वेषामेव पतिरीश्वरः । यतो पतिस्तासामन्तर्य्यामी, ततस्ततश्च तासां ये लोका भोग्य भुवनानि, तेषामपि पतिर्भोक्ता, स एव च धरापतिः, कृपयावतीर्य्य धरापतित्व– लीलाश्च व्यञ्जितवानित्यर्थः । कोऽसावित्य-पेक्षायामाह—पतिरिति, पतिः—पालको गतिर्नित्याश्रयश्च । तत्र प्रमाणमाह—सतां तदनुभविनां पतिराश्रय इति ।।

लक्ष्मीपति, यज्ञपति, बुद्धिपति, लोकपति, पृथिवीपति, अन्धक, वृष्णि एवं भक्तवृन्दों के पति एवं गति, एतद्भिन्न साधुसमूह के पति, भगवान् मेरे प्रति सन्तुष्ट होवे ।

यहाँ श्रीकृष्ण की प्रसन्नता प्रार्थित हुई है—इसका प्रमाण क्या है ? उत्तर—श्रीकृष्ण ही अन्धक एवं वृष्णिगणों का पालक एवं नित्याश्रय है । सुतरां अन्धक एवं वृष्णिवृन्दों की गति एवं पति कहने से श्रीकृष्ण का ही बोध होता है ।

क्रमसन्दर्भ । निजोपास्य अति गोपनीय होने के कारण परम प्रेमावेश से ही व्यञ्जित करते हैं, श्री – निखिल सम्पत् अधिष्ठात्री देवी का पति—स्वामी, अतएव, यज्ञ प्रभृति निखिल श्रेयः साधनों का पति—फलदाता हैं । तज्जन्य समस्त प्रजाओं का पति—ईश्वर हैं । कारण, बुद्धिवृत्तियों का पति– उन सबका अन्तर्य्यामी हैं । अतएव उन सब जो लोक—भोग्य भुवनसमूह हैं, उन सबका पति एवं भोक्ता हैं, वह ही धरापति हैं । कृपापूर्वक धरातल में अवतीर्ण होकर धरापतित्व लीला का विस्तार किए हैं, वह कौन हैं ? उत्तर में कहते हैं—पति, पति—पालक, गति—नित्याश्रय, उस विषय में प्रमाण का प्रदर्शन करते हैं । सतां—सज्जनवृन्दों का तदनुभवि जनों का पति—आश्रय हैं । सुस्पष्ट रूप से श्रीशुकदेव ने कहा ।।५६।।

श्रीव्यासदेव का भी तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही है । भा० १।७।६-७ में वर्णित है—"अधोक्षज श्रीकृष्ण में भक्तियोग अनुष्ठित होने से जीव की अनर्थ निवृत्ति होती है । समाधिस्थ होकर व्यासदेव ने इस विषय को प्रत्यक्ष किया एवं लोक हितार्थ श्रीमद्भागवत रूप सात्वत संहिता का ग्रन्थन किया । जिसका श्रवण

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोक-मोह-भयापहा ॥"६५॥

अधोक्षजे श्रीकृष्णे ; (हरिवंशे विष्णु-प० १०१।३०-३२)

"अधोऽनेन शयानेन शकटान्तरचारिणा। राक्षसी निहता रौद्रा शकुनीवेशधारिणी ॥६६॥
पूतना नाम घोरा सा महाकाया महाबला। विषदिग्धं स्तनं क्षुद्रा प्रयच्छन्ती जनार्दने ॥६७॥
ददृशुर्निहतां तत्र राक्षसीं वनगोचराः। पुनर्जातोऽयमित्याहुरुक्तस्तस्मादधोक्षजः ॥"६८॥

इति हरिवंशे वासुदेव-माहात्म्ये तन्नाम्नः श्रीकृष्णविषयतया प्रसिद्धेः। अतएवोत्तरत्र-पद्ये साक्षात् कृष्ण इत्येवोक्तम्। श्रीभगवन्नामकौमुदीकाराश्च (३।६)—"कृष्ण-शब्दस्य तमाल-श्यामलत्विषि यशोदास्तनन्धये परब्रह्मणि रूढ़ः" इति प्रयोगप्राचुर्य्यात्तत्रैव प्रथमत एव प्रतीतेरुदय इति चोक्तवन्तः। सामोपनिषदि च—"कृष्णाय देवकीनन्दनाय" इति। अत्र ग्रन्थफलत्वं तस्यैव व्यक्तमिति चैकेनैवानेन तत्परिपूर्णता सिध्यति ॥ श्रीसूतः ॥

सर्वसम्वादिनी

तस्मान्न च भजनावृत्ति-तारतम्यावकाशः। न च भजनीयस्यैव परोक्षापरोक्षतया निर्देशयोस्तारतम्यम्।

से परमपुरुष श्रीकृष्ण में भय-शोक-मोह नाशिनी भक्ति का उदय जीव में होता है।

श्लोकोक्त अधोक्षज शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण हैं। कारण श्रीहरिवंश के श्रीवासुदेव माहात्म्य में अधोक्षज नाम से श्रीकृष्ण ही अभिहित हैं। (हरिवंश-विष्णुपर्व १०१।३०-३२) "शकट के निम्नभाग में शायित श्रीकृष्ण कर्त्तृक राक्षसी निहता हुई। वह राक्षसी—विकटाकृति, शकुनीवेशधारिणी पूतना नाम धारिणी थी। वह महाकाय, महाबल विशिष्टा, घोररूपिणी, क्षुद्राशया श्रीकृष्ण को विषदिग्ध स्तनदान कर रही थी। उस समय श्रीकृष्ण ने उसको विनष्ट किया। राक्षसी को निहता देखकर गोपगोपीगण कहने लगे थे—इस बालक का पुनर्जन्म हुआ है। अतः इसका नाम अधोक्षज है। अधोक्षज नाम से श्रीकृष्ण प्रसिद्ध हैं।" अतएव परवर्त्ती श्लोक में साक्षात् सम्बन्ध में श्रीकृष्ण शब्द का ही प्रयोग हुआ है। श्रीकृष्ण शब्द से भगवत्स्वरूप का बोध स्वाभाविक रूप से होता है। उसकी प्रतीति के निमित्त श्रीभगवन्नाम कौमुदीकार कहते हैं—"तमालश्यामल कान्ति यशोदास्तन्यपायी परब्रह्म में श्रीकृष्ण शब्द की रूढ़ि वृत्ति है। कारण यशोदानन्दन में ही श्रीकृष्ण शब्द का प्रचुर प्रयोग दृष्ट होता है, एवं श्रीकृष्ण शब्द श्रवणमात्र से ही सर्व प्रथम यशोदानन्दन की प्रतीति होती है।"

सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद में लिखित है—"तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकी-पुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव, सोऽन्तवेलायामेतत् त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणशंसित-मसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः।" (३।१७।६) आङ्गिरस घोर नामक ऋषि, देवकीनन्दन श्रीकृष्ण को नमस्कार कर शिष्य को कहे थे,—यथोक्त यज्ञवित् पुरुष मृत्यु समय में 'अक्षितमसि' तुम अक्षय हो, 'अच्युतमसि' तुम अच्युत हो, 'प्राणशंसितमसि' तुम प्राण से भी प्रियतम हो, इस मन्त्रत्रय का स्मरण करो। उपासना से श्रीभगवत् साक्षात्कार एवं साक्षात्कार से तत्प्राप्ति विषय में मन्त्रद्वय भी है।

उक्त ऋक् में श्रीकृष्ण को देवकीनन्दन कहा है, श्रीयशोदा का अपर नाम देवकी है, इसका वर्णन अग्रिम ग्रन्थ में होगा। सुतरां परमपुरुष श्रीकृष्ण शब्द से श्रीयशोदानन्दन को ही जानना होगा, अन्य स्वरूप को नहीं।

श्रीमद्भागवत ग्रन्थ का एकमात्र तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही है, उसकी सम्यक् प्रतीति—"यस्यां वै

५८। अथ श्रीनारदस्य (भा० १।५।२६)—

(५८) "तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता,-मनुग्रहेणाश्रृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विश्रृण्वतः, प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रतिः ॥"९९॥

(भा० १०।७।१) "येन येनावतारेण" इत्येतच्छ्रीपरीक्षिद्वचनपद्यद्वयमप्यत्र श्रीयशोदास्तनन्धयत्वे साधकं श्रुतिसामान्य-न्यायेन ॥ श्रीनारदः श्रीवेदव्यासम् ॥

सर्वसम्वादिनी

तदैव तया प्राचीनयार्वाचीनया चानया गतिक्रियया सङ्कोच-वृत्तिरियं कल्पनीया। यद्यन्तर्यामिणः

श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा" इस श्लोक से होती है। कारण— श्रीमद्भागवत श्रवण का फल, श्रीकृष्णभक्ति का उदय है, उसका निर्देश उक्त श्लोक में हुआ है।

प्रकरण प्रवक्ता श्रीसूत हैं ॥५७॥

श्रीकृष्ण में श्रीनारद का भी तात्पर्य्य है। भा० १।५।२६ में कथित है, श्रीनारद श्रीव्यासदेव को कहे थे—"हे प्रिय! ब्राह्मणगण की उच्छिष्ट का भोजन करने से मेरी रुचि, श्रीकृष्ण-कथा में हुई। श्रीकृष्ण कथा कीर्त्तनकारी ब्राह्मणों के समीप में उनके अनुग्रह से उसका निरन्तर श्रवण मैंने किया, प्रतिपद का श्रवण श्रद्धा के सहित करने से निज यशः प्रिय श्रीकृष्ण में मेरी भक्ति हुई थी।

टीका—अश्रृणवं, श्रुतवानस्मि। मे श्रद्धया—ममैव स्वतः सिद्धया, न त्वनेन बलाज्जनितया, अतो ममेत्यस्यापौनरुक्त्यम्, अनुपदं, प्रतिपदं, प्रियं श्रवो यस्य तस्मिन् ॥

क्रमसन्दर्भः। तत्रेति—कृष्णकथा, श्रीनन्दनन्दनस्य जन्मादिलीलाः, (भा० १०।७।२) "यच्छृण्वतो-ऽपैत्यरतिर्वितृष्णा" इत्यादेः प्रियं सर्वेषां प्रीतिविषयं श्रवः कीर्त्तिर्यस्य ॥

श्रीराजोवाच—

"येन येनावतारेण भगवान् हरिरीश्वरः। करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो ॥
यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णा सत्त्वञ्च शुध्यत्यचिरेण पुंसः।
भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत् ॥
अथान्यदपि कृष्णस्य तोकाचरितमद्भुतम्।
मानुषं लोकमासाद्य तज्जातिमनुरुन्धतः ॥" (भा० १०।७।१-३)

श्रीपरीक्षित् उक्त श्लोकद्वय मेंवर्णित फल रूप प्रमाणानुसार से श्रीनारदोक्त श्रीकृष्ण, श्रीयशोदानन्दन रूप में प्रमाणित हुये हैं। कारण, उभय स्थल में एक प्रकार फल दृष्ट होता है। अर्थात् श्रीपरीक्षित् महाराज—श्रीयशोदानन्दन की पूतना मोक्षण लीला को सुनकर जिस प्रकार श्रीकृष्ण प्रीति आविर्भाव का अनुभव किए थे, उस प्रकार श्रीनारद का भी श्रीकथा श्रवण से प्रीति का उदय हुआ था। इससे श्रीकृष्ण शब्द से श्रीयशोदानन्दन का ही बोध होता है। कारण शब्द द्वारा स्वाभाविक रूप से श्रवण मार्ग से ही जिस अर्थ का बोध होता है, उस नियम से ही कृष्ण शब्द यशोदा स्तनन्धय में ही रूढ़ि है। श्रुतिसामान्य न्याय मीमांसादर्शन प्रथम पादस्थ एकत्रिंश सूत्र है। श्रुति—अर्थात् शब्द से जो बोध होता है, वह श्रुति है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के अनुसार श्रुति शब्द का अर्थ शब्द है। सामान्य अर्थात् समानता अथवा सादृश्यमात्र है, अतः उक्त श्रुतिसामान्य नियम से कृष्णशब्द का यशोदास्तनपायी में ही प्रथम प्रतीति है। श्रीनारद श्रीवेदव्यास को कहे थे ॥५८॥

५९। तच्छब्दस्यैवाभ्यासोऽपि दृश्यते (भा० १।६।२८) "एवं कृष्णमतेः" इत्यादौ। अन्यत्र च (भा० ७।१०।४८-५०)—

(५९) "यूयं नृलोके वत भूरिभागा, लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानामवसतीति साक्षाद्,-गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥१००॥
स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य,-कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः।
प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय आत्मार्हणीयो विधिकृद्गुरुश्च ॥१०१॥
न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी, रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम्।
मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः, प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः॥"१०२॥

टीका च—"अहो प्रह्लादस्य भाग्यं येन देवो दृष्टः; वयन्तु मन्दभाग्या इति विषीदन्तं राजानं प्रत्याह—यूयमिति त्रिभि" इत्येषा। मनुष्यस्य दृश्यमानमनुष्यस्येव लिङ्ग

सर्वसम्वादिनी

सकाशादन्यापरावस्था न श्रूयते शास्त्रे, श्रूयते तु तदवस्थातः परा, ततोऽपि परा च सर्वत्र।

अत्रैव तावत् (गी० ७।३०) 'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञञ्च ये विदुः' इत्यादौ भेद-व्यपदेशात्

श्रीमद्भागवतस्थ श्रीनारदोक्ति समूह में श्रीकृष्ण शब्द का बारम्बार प्रयोग भी दृष्ट होता है। पुनः पुनः कथन ही अभ्यास है। भा० १।६।२८ में उक्त है—

"एवं कृष्णमते र्ब्रह्मन्नासक्तस्यामलात्मनः। कालः प्रादुरभूत् काले तड़ित् सौदामिनी यथा॥"

टीका—काले—स्वावसरे, कालो—मृत्युः, प्रादुरभूत्—आविर्बभूव। अकस्मात् प्रादुर्भावे दृष्टान्तः—तड़िदिति। सौदामिनीति विशेषणं, स्फुटत्वप्रदर्शनार्थम्। सुदामा-माला, तत्र भवा सौदामनी मालाकारेत्यर्थः। यद्वा, सुदामा नाम कश्चित् स्फटिकपर्वतः, तेनैकदिगिति सूत्रेण अण्, स्फटिकमयपर्वत-प्रान्तभाग भवा हि विद्युदतिस्फुटा भवति तद्वदित्यर्थः, यद्वा, तड़िदित्यन्तिक इत्यर्थः। तड़िदन्तिक-वज्रयोरिति नैरुक्तस्मरणात्।

श्रीनारद कहे थे—हे ब्रह्मन्! इस प्रकार यथा समय में विद्युन्माला के समान कृष्णभक्त तद्गत चित्त अमलात्मा मेरी भगवत् कृपा प्राप्ति का अवसर उपस्थित हुआ था।

इस प्रकार भा० ७।१०।४८-५० में श्रीयुधिष्ठिर के प्रति श्रीनारद महोदय ने कहा था। इस मनुष्य लोक में आप सब ही यथार्थ भाग्यवान् हैं। अहो, जो मुनिगण चरणरेणु प्रदान द्वारा जगत् को पवित्र करते रहते हैं, वे सब सर्वदा स्वेच्छा से आपके गृह में आते रहते हैं। कारण, मनुष्यविग्रहधारी परमब्रह्म आपके घर में निवास कर रहे हैं।

विवेकिगण, जिन कैवल्यस्वरूप निर्वाण सुख का अनुसन्धान निरन्तर करते रहते हैं, उन निरुपाधि परमानन्दानुभूतिस्वरूप परमब्रह्म श्रीकृष्ण, आप सबके प्रीति सम्पादक, हितकारी मातुलेय निज निज शरीर के समान नितान्त प्रिय, कृपा हेतु प्रतिपालक, किङ्कर एवं हितोपदेष्टा हैं।

जिनके रूप-तत्त्वादि का वर्णन ब्रह्मा, रुद्रादि यथार्थ रूप से करने में समर्थ नहीं हैं। कारण, उनमें किसी की बुद्धि प्रविष्ट हो नहीं सकती है। मौनव्रत, वैराग्य के द्वारा आराधित उन यादवाधिपति हमारे प्रति प्रसन्न होवे। (भा० ७।१०।४८-५०)

टीका—अहो प्रह्लादस्य भाग्यम्, येन देवो दृष्टः। वयन्तु मन्दभाग्याः, इति विषीदन्तं तं प्रत्याह—यूयमिति त्रिभिः। येषां—युष्माकम्, गृहान् मुनयोऽभियन्ति—सर्वतः समायान्ति। तत् कस्य हेतोः,

करचरणादिसन्निवेशो यस्य तं रूपं श्रीविग्रहः, वस्तुतया नोपवर्णितं तद्रूपस्यैव परब्रह्मत्वेन किमिदं वस्त्विति निर्देष्टुमशक्यत्वात्; यथोक्तं सहस्रनामस्तोत्रे (३२श श्लो०) 'अनिर्देश्यवपुः' इति। एषामेव पद्यानां सप्तमान्तेऽपि परमामोदकत्वात् पुनरावृत्तिर्दृश्यते ॥ स श्रीयुधिष्ठिरम् ॥

६०। अत्र च स्पष्टम् (भा० १।६।३३-३४)—

(६०) "देवदत्तामिमां वीणां स्वरब्रह्म-विभूषिताम्।
मूर्च्छयित्वा हरिकथां गायमानश्चराम्यहम् ॥१०३॥
प्रगायतः स्ववीर्य्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥"१०४॥

सर्वसम्वादिनी

तत्र (पाणिनि-सू० २।३।१९) 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति स्मरणेनाधियज्ञस्यान्तर्यामिणः सहार्थ-तृतीयान्ततया लब्ध-

येषु गृहेषु नराकारं गूढ़ं सत् श्रीकृष्णाख्यं परं ब्रह्म साक्षात् वसतीति ।४८।

ननु कृष्णोऽस्माकं मातुलेयः, कथं ब्रह्मेत्युच्यते? तत्राह—सेवा इति। सोऽयं ब्रह्मैव। कथम्भूतः? महद्भिर्विमृग्यं यत् कैवल्यनिर्वाणसुखं निरुपाधिपरमानन्दः तदनुभूतिरूपः, वो युष्माकं खलु प्रियः सुहृदित्यादिरूपो भवति। विधिकृत् आज्ञानुवर्त्ती ।४९।

ननु परंब्रह्म चेत् कथं द्व्यष्टसहस्र स्त्रीषु रतिः? कथं वा धर्माद्याचरणं तस्य? इत्यत आह—न यस्येति। यस्य रूपं तत्त्वं भवादिभिरपि धिया स्वबुद्ध्या वस्तुतया इदमित्थमिति साक्षान्नोपवर्णितं, स युष्माकं स्वयमेव प्रसन्नः। अस्माकन्तु मौनादिसाधनैस्तत्प्रसादः प्रार्थनीय एवेत्याह—मौनेनेति। स एव सात्वतां पति र्नः प्रसीदतु। नहि प्रह्लादस्य गृहेषु परंब्रह्म वसति, न च तद्दर्शनाय मुनयस्तद्गृहानभियन्ति। न च तस्य मातुलेयादिरूपेण वर्त्तते, न च स्वयमेव प्रसन्नम्। अतो यूयमेव ततोऽपि अस्मत्तोऽपि भूरिभाग्या इति भावः ।५०।

अहो, प्रह्लाद के भाग्य की सीमा नहीं है। प्रह्लाद ने तो श्रीभगवान् का दर्शन किया है। हम सब मन्दभाग्य हैं। इस प्रकार से निज विषण्णता का प्रकाशक राजा युधिष्ठिर को उक्त श्लोकत्रय के द्वारा श्रीनारद सान्त्वना प्रदान करते हैं। श्लोकस्थ "परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्ग" दृश्यमान् मनुष्य के समान जिनका करचरणानि का सन्निवेश है, उसका रूप अर्थात् श्रीविग्रह का वर्णन यथार्थ रूप से श्रीशिवादि करने में सक्षम नहीं हैं। कारण, उस प्रकार ही परमब्रह्म हैं। उक्त रूप ही परंब्रह्म हैं। अतएव वह किस वस्तु हैं, उसका निर्णय कोई नहीं कर सकते हैं। तज्जन्य सहस्रनाम स्तोत्र में श्रीभगवान् को अनिर्देश्य वपुः कहा गया है। उक्त श्लोकत्रय अत्यन्त आनन्द जनक होने से ही सप्तम स्कन्ध समाप्ति के समय उसकी पुनरावृत्ति हुई। श्रीनारद श्रीयुधिष्ठिर को बोले थे ॥५९॥

यहाँ पर निम्नोक्त भा० १।६।३३-३४ श्लोकद्वय में स्पष्टतः ही श्रीनारद का तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में वर्णित हुआ है।

टीका—किमिति पर्य्यटसि? ईश्वराज्ञया—लोकमङ्गलार्थमित्याह—चतुर्भिः। देवेन ईश्वरेण, दत्ताम्। स्वराः—निषादर्षभ-गान्धार-षड़्ज-मध्यम-धैवताः पञ्चमश्च इति सप्त। स एव ब्रह्म, ब्रह्माभिव्यञ्जकत्वात् तेन विभूषिताम्। स्वतःसिद्धसप्तस्वरामित्यर्थः। मूर्च्छयित्वा—मूर्च्छनालापवतीं कृत्वा ।३३। स्वप्रयोजनमाह—प्रगायत इति ।३४।

स्वरब्रह्म—सप्तस्वर हैं। षड़्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद, ये सप्तस्वर

देवः श्रीकृष्ण एव, लिङ्गपुराणे उपविभागे तेनैव स्वयं तस्य वीणाग्राहणं हि प्रसिद्धम् । अत्र यद्रूपेण वीणा ग्राहिता, तद्रूपेणैव च चेतसि दर्शनं स्वारस्यलब्धम्; देवदत्तामिति कृतोपकारतायाः स्मर्य्यमाणत्वेन तमनुसन्धायैव तदुक्तेः ॥ श्रीनारदः श्रीवेदव्यासम् ॥

६१। अत एतदेवमेव-व्याख्येयम् (भा० १।५।२१)—

(६१) "त्वमात्मनात्मानमवेह्यमोघदृक्, परस्य पुंसः परमात्मनः कलाम् ।
अजं प्रजातं जगतः शिवाय त,-न्महानुभावाभ्युदयोऽधिगण्यताम् ॥"१०५॥

हे अमोघदृक् ! त्वमात्मना स्वयमात्मानं स्वं परस्य पुंसः कलामंशभूतमवेहि अनुसन्धेहि । पुनश्च जगतः शिवायाधुनैव श्रीकृष्णरूपेण यश्चाजोऽपि प्रजातस्तमवेहि । तदेतद्द्वयं ज्ञात्वा महानुभावस्य सर्वावतारावतारिवृन्देभ्योऽपि दर्शितप्रभावस्य तस्य श्रीकृष्णस्यैवाभ्युदयो लीला अधि अधिकं गण्यतां निरूप्यताम् । स्वयमीश्वरोऽपि भवान् निजाज्ञानरूपां मायां न प्रकटयत्विति भावः ॥ स तम् ॥

सर्वसम्वादिनी

समास-पदस्य स्वस्मादप्रधानत्वोक्तेस्ततः परत्वं श्रीकृष्णस्य व्यक्तमेव । (गी० ८।४) 'अधियज्ञोऽहमेवात्र'

ब्रह्माभिव्यञ्जक होने से ब्रह्म हैं । स्वरब्रह्मविभूषिता, स्वतःसिद्ध सप्त स्वर विभूषिता—देवदत्त वीणा के द्वारा मूर्च्छना पूर्वक श्रीहरि कथा गान करते करते सर्वत्र मैं भ्रमण करता रहता हूँ । जिनके चरण का आविर्भाव स्थान ही तीर्थ, एवं जो स्वीय यशः श्रवण प्रिय हैं, उन श्रीकृष्ण, उनका यशः कीर्त्तन के समय आहूत के समान मेरा हृदय में आविर्भूत होते हैं ।

देव शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण ही हैं । लिङ्गपुराण के प्रथम भाग का वर्णन से ज्ञात होता है, श्रीकृष्ण ही श्रीनारद को वीणा ग्रहण कराये थे । उक्त नारद वाक्य से भी बोध होता है कि—जिस रूप में वीणा ग्रहण कराये थे, उस रूप में ही हृदय में आविर्भूत हुये थे । उसकी प्रतीति स्वाभाविकी है । विशेषतः, "देवदत्त वीणा" शब्द से प्रतीति होती है कि—श्रीकृष्ण वीणा प्रदान किये थे । उक्त उपकार का स्मरण करके ही उक्त विशेषण प्रदान किये हैं । श्रीनारद श्रीवेदव्यास को बोले थे ।।६०।।

श्रीव्यास के प्रति श्रीनारद की उक्ति भी इस प्रकार है—"हे अव्यर्थ दर्शन ! आप स्वयं को परम पुरुष परमात्मा का अंश रूप से जानो । जगत् के मङ्गल के निमित्त जन्मरहित होकर भी जो कृष्ण रूपसे जन्म ग्रहण किए हैं, उन महाभाव की लीला का निरूपण अधिक रूप से करो ।"

श्रीनारद का तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही है, अतः उक्त श्लोक की व्याख्या करना आवश्यक है । "हे अमोघदृक् ! आप निज को परमपुरुष की कला—अंशभूत स्वरूप से जानो, पुनश्च जगत् के मङ्गलनिमित्त जन्मादिरहित होने पर भी सम्प्रति जो श्रीकृष्ण रूप में आविर्भूत हुये हैं, उसको भी यथार्थ रूप से जानो ।" उक्त विषयद्वय को सम्यक् रूप से अवगत होकर महानुभाव का—अर्थात् सर्वावतार अवतारीवृन्द से भी जिन्होंने प्रचुर प्रभाव को प्रकट किया है, उन श्रीकृष्ण का अभ्युदय लीला का, अधि—अधिक रूप से निरूपण करो । आप स्वयं भी ईश्वर हैं, अतः आप स्वीय अज्ञानरूपा माया का प्रकाश न करें ।

यहाँ महानुभाव शब्द का अर्थ—"श्रीकृष्ण" किया गया है । श्रीवेदव्यास ईश्वर का आवेशावतार हैं । तज्जन्य उनको भी ईश्वर कहा गया है ।

श्रीभगवान् निज वहिरङ्गा माया विमुग्ध जीव के अगोचर में अवस्थित हैं । आपकी कृपारूपी

६२। अतएव पुराणप्रादुर्भावाय श्रीव्यासं प्रति श्रीनारदेन चतुर्व्यूहात्मक-श्रीकृष्णमन्त्र एवोपदिष्टस्तदुपासकस्य सर्वोत्तमत्वञ्च; यथा, (भा० १।५।३७-३८)—

(६२) "नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥१०६॥
इति मूर्त्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्त्तिममूर्त्तिकम्।
यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ॥"१०७॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

इत्यादौ च तदेव व्यज्यते;—(भा० १।७।४५) "एष वै भगवान् द्रोणः प्रजारूपेण वर्त्तते" इतिवत्।

प्रेरणा को छोड़कर कोई भी उनको जानने में सक्षम नहीं हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, जब कृपापूर्वक जगत् में आविर्भूत होते हैं, तब उनको जीव जैसे जानना चाहे, इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिये। आप व्यास हैं, आप उनका अवतारविशेष हैं, शास्त्र प्रचार ही आपका कार्य्य है। शास्त्रानुशीलन से ही जीव, परतत्त्व वस्तु को जान सकता है। विद्या एवं अविद्या, एतदुभय ही ईश्वर की शक्ति है। एतदुभय ही आपके अधीन हैं। यदि आप शास्त्र प्रकाश के उपलक्ष्य में अविद्या शक्ति का प्रकाश करें, अर्थात् छलपूर्वक श्रीकृष्ण तत्त्व का गोपण, जीव के निकट करते हैं, तब तो कोई भी व्यक्ति उनको जान नहीं सकेंगे। स्वयं भगवान् ही जब सत्‌शिक्षा के द्वारा जीवमङ्गल के निमित्त आविर्भूत होते हैं, तब आप भी कृपापरवश होकर, जीव जिसके द्वारा सर्वावतारावतारी से, ऐश्वर्य्य-माधुर्य्य-लीला-गुणों से, समधिक रूपमें श्रीकृष्ण को अवगत होना चाहे, उस प्रकार ही वर्णन करें। महाभारत प्रभृति में वर्णाश्रमादि धर्मों का वर्णन विभिन्न प्रसङ्ग के द्वारा होने से जीव के पक्ष में एक भयावह भ्रमावर्त्त की सृष्टि हुई है। पुनर्बार आप उस प्रकार रीति से वर्णन न करें। केवल श्रीकृष्ण यशः का ही वर्णन करें, जिसका श्रवण-कीर्त्तन से अज्ञानान्धकार विदूरित होकर श्रीकृष्ण चन्द्रमा का सुप्रकाश हो। श्रीनारद श्रीव्यास को कहे थे ॥६१॥

जगत् में निजाभीष्ट श्रीकृष्ण चरित्र का विस्तार होना परमावश्यक है। इस अभिलाष से प्रेरित होकर श्रीमद्भागवत को आविर्भावित कराने के निमित्त श्रीव्यासदेव को श्रीनारद ने चतुर्व्यूहात्मक श्रीकृष्णमन्त्र का उपदेश प्रदान किया। एवं श्रीकृष्ण भक्त का कीर्त्तन सर्वोपासक से श्रेष्ठ रूप में किया।

"ॐ नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि। प्रद्युम्नायानिरुद्धाय नमः सङ्कर्षणाय च ॥
इति मूर्त्त्यभिधानेन मन्त्रमूर्त्तिममूर्त्तिकम्। यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग्दर्शनः पुमान् ॥"
"एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृति हेतवः। त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे ॥"
(भा० १।५।३४।३७-३८)

टीका—"तथा आत्मविनाशाय कर्मनिवृत्तये कल्पन्ते समर्था भवन्ति। परे ईश्वरे कल्पिता अपिताः सन्तः। अत्र च प्रथमं—महत्‌सेवा, ततस्तत् कृपातस्तद्धर्मश्रद्धा, ततो भगवत्‌कथाश्रवणं, ततो भगवति रतिः, तया च देहद्वयविवेकात्मज्ञानं, ततो दृढा भक्तिः, ततो भगवत्तत्त्वज्ञानं, ततस्तत्‌कृपया सर्वज्ञत्वादिभगवद्गुणाविर्भावः, इतिक्रमो दर्शितः। कीर्त्तनस्मरणरूपभक्तिहेतुत्वमुक्तं, ज्ञानहेतुत्वमाह—द्वाभ्याम्। नमो धीमहि, मनसा नमनं कुर्वीमहि ।७३।

अमूर्त्तिकं—मन्त्रोक्तव्यतिरिक्तमूर्त्तिशून्यं, यजते पूजयति—स पुमान् सम्यग्दर्शनो भवति ।३८।"

वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, सङ्कर्षण—चतुर्व्यूहात्मक भगवान् को नमस्कार करता हूँ। (नमो धीमहि—नमस्कारं ध्यायेम:) इस प्रकार स्मरण कर, प्राकृत मूर्त्तिरहित मन्त्रोक्त चतुर्मूर्त्ति की पूजा वासुदेवादि नाम से जो करता है, वह यथार्थ ज्ञानवान् है।

स्पष्टम् ॥ स तम् ॥

६३ । अथ श्रीब्रह्मणः (भा० २।७।२६)—

(६३) "भूमेः सुरेतरवरूथविमर्द्दितायाः,
क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः ।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः,
कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि ॥"१०८॥ इति ।

असुरसेनानिपीड़िताया भुवः क्लेशमपहर्त्तुं परमात्मनोऽपि परत्वात् जनैरस्माभिरनुपलक्ष्य-मार्गोऽपि प्रादुर्भुतः सन् कर्माणि च करिष्यति । कोऽसौ ? कलया अंशेन सितकृष्णकेशो यः ।

सर्वसम्वादिनी

तस्माद्भजनीय-तारतम्य-विवक्षयैवोपदेश-तारतम्यं सिद्धम् । (छा० ७।१६।१) 'एष तु वा अतिवदति यः

चतुर्व्यूह का वर्णन—वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—इस रीति से दृष्ट होता है। उपरोक्त श्लोक में उक्त क्रम का व्यतिक्रम होने का हेतु यह है—प्रस्तुत वर्णन, द्वारकास्थ चतुर्व्यूह का है। श्रीप्रद्युम्न पुत्र, एवं अनिरुद्ध पौत्र होने के कारण श्रीवासुदेव कृष्ण के दक्षिण एवं वामभाग में अनिरुद्ध-प्रद्युम्न है। अनिरुद्ध के दक्षिण भाग में श्रीसङ्कर्षण की स्थिति है। श्रीनारद श्रीव्यासदेव को सुस्पष्ट रूप से कहे थे ।।६२।।

श्रीब्रह्मा का भी तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही है। उसका वर्णन भा० २।७।२६ में है—

"भूमेः सुरेतरवरूथविमर्दितायाः, क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः ।
जातः करिष्यति जनानुपलक्ष्यमार्गः, कर्माणि चात्ममहिमोपनिबन्धनानि ।।"

टीका—"श्रीकृष्णावतारमाह—भूमेरिति दशभिः, सुरेतरा—असुरांशभूता, राजानस्तेषां वरूथैः सैन्यैर्विमर्दितायाः भारेण पीड़ितायाः। कलया रामेण सह जातः सन्। कोऽसौ जातः। सितकृष्णौ केशौ यस्य भगवतः, स एव साक्षात्। सितकृष्णकेशत्वं शोभैव, नतु वयः परिणामकृतम्—अविकारित्वात्। यदुक्तं विष्णुपुराणे—"उज्जहात्मनः केशौ हरिरुच्चकर्त्त, एकं शुक्लमपरञ्चापि कृष्णम्।

तौ चापि केशावविशतां यदूनां कुले स्त्रियौ। रोहिणीं देवकीञ्च। तयोरेको बलभद्रो बभूव, योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः, कृष्णो द्वितीयः केशवः सम्बभूव केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्त" इति। तच्च न केशमात्रावताराभिप्रायं, किन्तु भारावतरणरूपं कार्य्यं कियदेतत् मत्केशावेव तत् कर्त्तुं शक्ताविति द्योतनार्थं रामकृष्णयोर्वर्णसूचनार्थञ्च केशोद्धरणमिति गम्यते, अन्यथा तत्रैव पूर्वापरविरोधापत्तेः। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति विरोधाच्च। कथम्भूतः? परमेश्वरतया जनैरनुपलक्ष्यो मार्गो यस्य तर्ह्यीश्वरत्वे किं प्रमाणम्? अतिमानुषकर्माण्यन्यथानुपपत्तिरेवेत्याह। आत्मनो महिमा उपनिबध्यते अभिव्यज्यते येषु तानि।।"

श्रीब्रह्मा श्रीनारद को कहे थे—"असुर सेना द्वारा निपीड़िता पृथिवी का भारापनोदन के निमित्त अंश से जो सितकृष्ण केश हैं, जनगण जिनकी पदवी को किञ्चिन्मात्र भी जान नहीं सकते हैं, प्रादुर्भूत होकर जिस कर्मसमूह के द्वारा स्वीय महिमा प्रकटित होती है, वैसा कर्म ही आप करेंगे।

असुर सेना के द्वारा प्रपीड़िता पृथिवी का क्लेश विदूरित करने के निमित्त जो अवतीर्ण होते हैं, परमात्मा से भी परतत्त्व होने से जिनका वर्त्म ज्ञान हम सबका नहीं है, अर्थात् जिनके विषय को हम सब नहीं जानते हैं, आप ही अवतीर्ण होकर समस्त कर्माचरण करेंगे। आप कौन हैं? कला—अंश के

यत्र सितकृष्णकेशौ देवैर्दृष्टाविति शास्त्रान्तरप्रसिद्धिः, सोऽपि यस्यांशेन, स एव भगवान् स्वयमित्यर्थः। तदविनाभावात् श्रीबलदेवस्यापि ग्रहणं द्योतितम्। ननु पुरुषादपि परोऽसौ भगवान् कथं भूभारावतारणमात्रार्थं स्वयमवतरिष्यतीत्याशङ्क्याह—आत्मनो महिमानः परममाधुरीसम्पद उपनिबध्यन्ते निजभक्तैरधिकं वर्ण्यन्ते येषु तानि कर्माणि च करिष्यति। यद्यपि निजांशेनैव वा निजेच्छाभासेनैव वा भूभारहरणमीषत्करम्, तथापि निज-चरणारविन्दजीवातुवृन्दमानन्दयन्नेव लीलाकादम्बिनीर्निजमाधुरीवर्षणाय वितरिष्यमाणोऽवतरिष्यतीत्यर्थः। एतदेव व्यक्तीकृतम्, (भा० २।७।२७) "तोकेन जीवहरणम्" इत्यादौ। इतरथा स्वयं स्वमाधुरीसम्पत्-प्रकाशनेच्छामन्तरेण मधुरतरं तोकादिभावं दधता तेन पूतनादीनां जीवहरणादिकं कर्म न भाव्यं, न सम्भावनीयम्। तदंशतदिच्छाभासादि-

सर्वसम्वादिनी

सत्येनातिवदति' इतिवत् 'यः सत्येन' ब्रह्मणैव प्रतिपाद्यभूतेन सर्वं वादिनमतिक्रम्य वदति, एष एव

द्वारा जो सितकृष्ण केशरूप हैं, देवगण, क्षीरोदशायी विष्णु में जिनको सितकृष्ण केश रूप में देखे थे, विष्णुपुराण एवं महाभारत में उक्त विषय का विस्तृत वर्णन है। वह भी जिनका अंश है, वह ही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं।

श्रीकृष्ण व्यतीत श्रीबलदेव कभी भी नहीं रहते हैं। तज्जन्य श्रीकृष्णाविर्भाव की उक्ति में श्रीबलदेव का संवाद प्रकाशित हुआ है।

यहाँ पर जिज्ञास्य यह है कि—पुरुष से परावस्थ भगवान् हैं, आप क्यों केवल भूभार हरण के निमित्त स्वयं अवतीर्ण होंगे?

उत्तर—अप्रकट प्रकट प्रकाश में श्रीकृष्ण निरन्तर लीला एवं माधुर्य्यामृत का वितरण करते रहते हैं। यद्यपि निजांश के द्वारा अथवा निजेच्छाभास रूप सङ्कल्प के द्वारा भूभार हरणरूप कार्य्य अनायास सम्पन्न होता है। तथापि,—श्रीकृष्ण, श्रीकृष्णचरणयुगल ही जिनका एकमात्र जीवन सम्बल है, उन सब भक्तवृन्द को आनन्दित करने के निमित्त लीलाकादम्बिनी के द्वारा निज माधुरी वर्षणार्थ ही अवतीर्ण होंगे। लीला एवं माधुर्य्य वर्णन के निमित्त ही आप अवतीर्ण हैं, उसका वर्णन भा० २।७।२७ उद्धव वाक्य में सुव्यक्त है।

"तोकेन जीवहरणं यदुलूकिकाया, स्त्रैमासिकस्य च पदा शकटोपवृत्तः।
यद्रिङ्गतान्तरगतेन दिविस्पृशोर्वा, उन्मूलनन्त्वितरथार्जुनयो र्न भाव्यम्॥"

टीका—"एतदेव प्रपञ्चयति। तोकेनेत्यादिना। बालेन पूतनाया जीवहरणम्। यद्रिङ्गता जानुभ्यां गच्छता अन्तरगतेन—मध्यप्राप्तेन, दिविस्पृशोः, अत्युच्चयोः। इतरथा अनीश्वरत्वे तन्न भवितव्यम्॥"

निज भक्तवृन्द, माधुर्य्य सम्पद् का वर्णन प्रचुर रूप से करेंगे, तज्जन्य—भूभार हरण के तुल्य उक्त कर्मसमूह भी करेंगे।

श्रीकृष्ण की स्वमाधुरी सम्पद् प्रकाशनेच्छा व्यतीत बाल्यादि भावप्रकाशक श्रीकृष्ण कर्त्तृक पूतना प्रभृति के जीवन नाशादि कार्य्यानुष्ठान नहीं हो सकता है। होने की सम्भावना भी नहीं की जा सकती है। कारण—श्रीकृष्ण के अंश द्वारा ही अथवा इच्छाभास मात्र से हो भूभार हरण हो सकता है, स्वयं

मात्रेणैव तत्सिद्धेरिति वाक्यार्थः। तथा च (भा० १।७।२५) "तथायञ्चावतारस्ते" इत्यादौ तैरेव व्याख्यातम्,—"किं भूभारहरणं मदिच्छामात्रेण न भवति ? तत्राह—स्वानामिति" इति; (भा० १०।९०।४८) "जयति जननिवासः" इत्यत्र चेच्छामात्रेण निरसनसमर्थोऽपि क्रीड़ार्थं दोर्भिरधर्ममस्यन्निति तदेवमादिभिः श्रीकृष्णस्यैव सर्वाद्भुतताचर्णनाभिनिवेशप्रपञ्चो ब्रह्मणि स्पष्ट एव। अस्तु तावत् (भा० १०।१४।३४) "तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्याम्"

सर्वसम्वादिनी

सर्वमतिक्रम्य वदतीत्यर्थः। तदेवमर्थे सति यथा तत्र वादस्यातिशायिता-लिङ्गेन नामादि-प्राणपर्य्यन्तानि

को लिप्त करने की आवश्यकता भी नहीं है। यह ही श्रीब्रह्मवाक्य का अर्थ है। "केवल लीलामाधुरी वर्षणार्थ ही श्रीकृष्ण का अवतार है।" इस प्रकार कथन—ग्रन्थकार का मनः कल्पित नहीं है। श्रीधर स्वामिपाद की व्याख्या भी उक्तानुरूप ही है।

"तथायञ्चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया।
स्वानाञ्चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत् ॥" (भा० १।७।२५)

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण! भूभार हरणेच्छा से आविर्भूत तुम्हारा यह अवतार भवदीय ज्ञाति एवं एकान्त भक्तवृन्द का निरन्तर ध्यान के निमित्त ही प्रकटित है।

टीका—तथा चानेनावतारेण तव साधुपक्षपातो लक्ष्यते इत्याह—तथेति। किं भूभारहरणं, मदिच्छामात्रेण न भवति। तत्राह—स्वानां ज्ञातीनां अनुध्यानाय च, तथा अनन्यभावानां—एकान्त-भक्तानाञ्च।

श्रीकृष्ण, कह सकते हैं कि—भूभार हरणरूप कार्य्य का सम्पादन क्या मेरी इच्छामात्र से नहीं हो सकता है ? इस आशङ्का के उत्तर में कहते हैं—"स्वानाम्" अर्थात् ज्ञाति एवं एकान्तभक्तवृन्द का निरन्तर ध्यान सम्पादनार्थ प्रकटित हुये हैं भा० १०।९०।४८ श्लोक में—

"जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्न धर्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मित श्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम् ॥"

टीका—"यत एवम्भूतः श्रीकृष्णस्ततः स एव सर्वोत्तमः" इत्याह—जयतीति। जनानां जीवानां जो निवास आश्रयः। तेषु वा निवसत्यन्तर्य्यामितया तथा स श्रीकृष्णो जयति। देवक्यां जन्मेति वादमात्रं यस्य सः। वस्तुतोऽजन्मा यदुवराः परिषत् सभा सेवकरूपा यस्य सः। इच्छामात्रेण निरसन समर्थोऽपि क्रीड़ार्थदोर्भिरधर्ममस्यन् क्षिपन् स्थिरचरवृजिनघ्नोऽधिकारिविशेषानपेक्षमेव वृन्दावनतरुगवादीनां संसारदुःखहन्ता। तथा विलासवैदग्ध्यानपेक्षं व्रजवनितानां पुरवनितानाञ्च सुस्मितेन श्रीमता शोभन हास्ययुतेन मुखेन कामदेवं वर्द्धयन्। कामश्चासौ दीव्यति विजिगीषते संसारमिति देवश्च तम्। भोगद्वारा मोक्षप्रदमित्यर्थः ॥"

कथित है—इच्छामात्र से ही अधर्म निरसन समर्थ होने पर भी क्रीड़ा हेतु बाहुसमूह के द्वारा असुर संहार करके अधर्म निरसन करते हैं। यह सब श्लोकों के द्वारा सुस्पष्ट रूप से दृष्ट होता है कि—श्रीकृष्ण का सर्वाश्चर्य्य चरित्र वर्णना में ही श्रीब्रह्मा का अभिनिवेश है। इस सम्बन्ध में अधिक कहना निष्प्रयोजन है। कारण, भा० १०।१४।३४ में श्रीब्रह्मा प्रार्थना करते हैं—

"तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम्।
यज्जीवितन्तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्त्वद्यापि यत् पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥"

इस गोकुलस्थ किसी गभीर अरण्य में तृणादि किसी भी नगन्य जन्म लाभ यदि हो तो मैं महाभाग्य

इत्यादि ॥ श्रीब्रह्मा श्रीनारदम् ॥

—(६४) एवञ्चतुःश्लोकीवक्तुः श्रीभगवतोऽपि श्रीकृष्णत्वमेव ; तथाहि तत्पूर्वस्थं वाक्यम् (भा० २।९।१४)—

"ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिं, श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ।
सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभिः, स्वपार्षदाग्र्यैः परिषेवितं विभुम् ॥"१०९॥ इति ।

सर्वसम्वादिनी

तत्प्रकरण उत्तरोत्तर-भूमतयोपदिष्टान्यपि सर्वाणि वस्तून्यतिक्रम्य ब्रह्मण एव भूमत्वं साध्यते,

ही मानूँगा । कारण, उसमें जिस किसी गोकुलवासी की पदधूलि के द्वारा अभिषिक्त होने की सम्भावना है, उन सबकी पदधूलि प्राप्त होकर धन्य बनूँगा होंगे ; उसका निवेदन भी करते हैं। जिनकी चरणरेणु का अन्वेषण श्रुतिगण अद्यापि करती रहती हैं, उन भगवान् मुकुन्द आप हैं, एवं निखिल गोकुल वासियों का जीवातु हैं। श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में श्रीब्रह्मा की कितनी व्याकुलता है, उसकी सुस्पष्ट अभिव्यक्ति उक्त श्लोक में ही है। श्रीनारद के प्रति श्रीब्रह्मा कहे थे ॥६३॥

श्रीब्रह्मा-नारद-व्यास-शुक-सूत प्रभृति महावक्ता एवं श्रोताओं का एकमात्र तात्पर्य्य जिन श्रीकृष्ण में है, उन श्रीकृष्ण ही चतुःश्लोकीरूप श्रीमद्भागवत का वक्ता है, उनका समन्वय द्वितीय सन्दर्भ में हुआ है। चतुःश्लोकी भागवत यह है—

श्रीभगवानुवाच—

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञान समन्वितम् । सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया ॥
यावानहं यथा भावो यद्रूपगुणकर्मकः । तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥
अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम् । पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥
ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि । तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथातमः ॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु । प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्व जिज्ञासुनात्मनः । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्रसर्वदा ॥
एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना । भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥

चतुःश्लोकी भगवान् श्रीकृष्ण श्रीब्रह्मा को कहे थे—सृष्टि के पहले मैं ही था, अपर कुछ भी नहीं था, स्थूल, सूक्ष्म, जगत् कारणरूपा प्रकृति भी नहीं रही, उस समय प्रकृति पृथक् नहीं थी—अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा मुझ में प्रकृति लीन थी। सृष्टि के पश्चात् मैं ही अवशिष्ट रहूँगा। तृतीय श्लोक का तात्पर्य्य भी श्रीकृष्ण में ही है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। अर्थात् सृष्टि के आदि, मध्य, अवसान में एवं सृष्ट वस्तु का कारण रूप में श्रीकृष्ण ही विराजित हैं। चतुःश्लोकी के वाक्य भा० २।९।१४ उस तात्पर्य्य का परिपोषक है।—"ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिं, श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ।
सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभिः, स्वपार्षदाग्र्यैः परिषेवितं विभुम् ॥"

श्रीचैतन्यमतमञ्जुषा—"ददर्शेत्यादि—सात्वतां पतिं—श्रीकृष्णं, पञ्चविंशतिभिस्तत्त्वैः मूर्त्तिमद्भिः सेवायमानैश्चतुर्भिः प्रकृतिपुरुषमहदहङ्कारैः षोड़शभिरेकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतैः पञ्चभिः पञ्चतन्मात्राभिः परितो वृतमुपास्यमानम् । एतेनासौ श्रीकृष्णविग्रह एतेभ्यः पृथगिति सच्चिदानन्दमयत्वं षड़् विशत्वं स्पष्टमेव, स्वैर्भगैरैश्वर्य्यादिभिः षड़् भिर्युक्तं, य इतरेषु योगीषु अधुना अनित्याः, अतस्तत्र तु नित्या एव । उक्तश्च पृथिव्या (भा० १।१६।२९) 'नित्या यत्र महागुणाः' इति । स्व एव धामनि श्रीविग्रहरूपे रममाणं, ब्रह्माख्ये धामनि स्थाने वा ।"

व्याख्या च— अखिलसात्वतां सर्वेषां सात्वतानां यादववीराणां पतिम् ; (भा० २।४।२०)—

"श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापति,-र्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः ।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां, प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ।।"११०।।

इत्येतद्वाक्यसम्वादितत्वात् ; (भा० ३।४।१३)—

"पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये, पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे ।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं, यत् सूरयो भागवतं वदन्ति ।।"१११।।

इति तृतीये उद्धवं प्रति श्रीकृष्णवाक्यानुसारेण च ; (गो० ता० पू० २६)—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो विद्यास्तस्मै गापयति स्म कृष्णः ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणममुं व्रजेत् ।।"११२।।

सर्वसम्वादिनी

तद्वदत्राप्युपदेशाधिवयेन प्रतिपाद्याधिवयमिति । अतः श्रीकृष्णस्यैवाधिवयमित्यन्तेऽप्युक्तमिति दिक् ।

'अखिलसात्वतां पतिं' का अर्थ—निखिल सात्वतरूप यादववीरों का परमाश्रय श्रीकृष्ण को देखे थे । भा० २।४।२० में भी वर्णित है—

"श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः ।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ।।

टीका—"सर्वपालकत्वमनुस्मरन्नाह—श्रिय इति । गतिश्च—सर्वापत्सु रक्षकः ।"

क्रमसन्दर्भः । तदेवं निजोपास्यविशेषं रहस्यत्वेनाभिव्यज्य परमप्रेमावेशेनैव व्यञ्जयन्नाह—श्रियः सर्वसम्पदधिष्ठात्र्याः पतिः स्वामी, अतो यज्ञानां सर्वश्रेयः साधनानां य पतिः—फलदाता, अतः प्रजानां सर्वेषामेव पतिरीश्वरः, यतो धियां पतिस्तासामन्तर्यामी च, ततस्तत्श्च तासां ये लोका भोग्यभुवनानि, तेषामपि पतिर्भोक्ता, स एव च धरापतिः कृपया अवतीर्य धरापतित्व—लीलाञ्च व्यञ्जितवानित्यर्थः । कोऽसावित्यपेक्षायामाह—पतिरिति, पतिः, पालको गतिर्नित्याश्रयश्च । का प्रमाणमाह—सतां, तदनुभविनां पतिराश्रय इति ।

इस वाक्य से ही श्रीकृष्ण विषयक तात्पर्य का संवाद उपलब्ध होता है । भा० ३।४।१३ में उक्त श्रीउद्धव के प्रति श्रीकृष्ण वाक्य के अनुसार ऊपरोक्त प्रसङ्ग पुष्ट होता है ।

"पुरा मया प्रोक्तमजाय नाभ्ये, पद्मे निषण्णाय ममादिसर्गे ।
ज्ञानं परं मन्महिमावभासं, यत् सूरयो भागवतं वदन्ति ।।"

क्रमसन्दर्भः । पुरा मयेति । पुरा ब्राह्मकल्पे, द्वितीयस्कन्धे ब्रह्मकल्पकथनात् । ज्ञानं परं चतुःश्लोकीरूपम् । मन्महिमावभासमिति तस्य निर्विशेषप्रतिपादकत्वं नाङ्गीकृतम् ।।

द्वितीय स्कन्ध में ब्राह्मकल्प का वर्णन हुआ है । अतः 'पुरा' शब्द से पूर्वकाल रूप ब्राह्म कल्प का ग्रहण समीचीन है । 'परं ज्ञान' शब्द से चतुःश्लोकीरूप ज्ञान ही अभीप्सित है । 'महिमावभासमिति' शब्द से प्रतीत होता है कि— चतुःश्लोकी वक्ता एवं परमतत्त्व निर्विशेष नहीं है । चतुःश्लोकी प्रकरण का निर्विशेष पर व्याख्यान, चतुःश्लोकी वक्ता का एवं ग्रन्थकार का अनुमत नहीं है ।

स्वामिटीका । "ददामीति यदुक्तं तदेव-निर्दिशति, पुरा— पूर्वस्मिन् पाद्मे कल्पे । आदिसर्ग—सर्गोपक्रमे । मम-महिमा-लीला अवभास्यते येन तत् ।।"

गोपाल पूर्व तापनी में वर्णित है—जिन्होंने सृष्टि के सर्वप्रथम ब्रह्मा को प्रकट किया, एवं उन

इति श्रीगोपालतापन्यनुसारेण च तस्यैवोपदेष्टृत्वश्रुतेः; (गो० ता० पू० २९) "तदु होवाच ब्राह्मणोऽसावनवरतं मे ध्यातः, स्तुतः परार्द्धान्ते सोऽबुध्यत गोपवेषो मे पुरस्तादाविर्बभूव" इति श्रीगोपालतापन्यनुसारेणैव क्वचित् कल्पे श्रीगोपालरूपेण सृष्ट्यादावित्थमेव ब्रह्मणे दर्शितनिजरूपत्वात्तद्धाम्नो महावैकुण्ठत्वेन साधयिष्यमाणत्वाच्च। तथा च ब्रह्मसंहितायाम् (५।२२-२५)—

"तत्र ब्रह्माभवद्भूयश्चतुर्वेदी चतुर्मुखः ॥११३॥
सञ्जातो भगवच्छक्त्या तत्कालं किल चोदितः। सिसृक्षायां मतिं चक्रे पूर्वसंस्कार-संस्कृताम्।
ददर्श केवलं ध्वान्तं नान्यत् किमपि सर्वतः ॥११४॥
उवाच पुरतस्तस्मै तस्य दिव्या सरस्वती। कामकृष्णाय गोविन्द ङे गोपीजन इत्यपि।
वल्लभाय प्रिया वह्ने र्मन्त्रं ते दास्यति प्रियम् ॥११५॥
तपस्त्वं तप एतेन तव सिद्धिर्भविष्यति ॥११६॥
अथ तेपे स सुचिरं प्रीणन् गोविन्दमव्ययम्"

सर्वसम्वादिनी

अथ [मूल० ८२तम-वाक्य-मध्ये उद्धृत-] 'शृणु नारद वक्ष्यामि' इत्यादि-चरणचिह्न-प्रतिपादक-पाद्मवचनान्ते 'आदि'-शब्दादेतान्यपि पद्यानि ज्ञेयानि;—

श्रीकृष्ण ने ही ब्रह्मा को विद्या दान किया, लीलामयविग्रह-आत्मबुद्धिप्रकाशक उन श्रीकृष्ण की मुमुक्षुगण शरण ग्रहण करें। श्रीगोपालतापनी के इस वर्णन के अनुसार ज्ञात होता है कि—श्रीकृष्ण ही श्रीब्रह्मा का उपदेष्टा हैं। पूर्व गोपाल तापनी में ब्रह्मा ने स्वयं ही कहा है,—मैंने अनवरत ध्यान एवं स्तव के द्वारा परार्द्धकाल को अतिक्रम किया, तदनन्तर मैंने उनको जाना, आप गोपवेशी कृष्ण हैं, उस रूप में आविर्भूत भी हुये थे। श्रीगोपाल तापनी के उक्त प्रसङ्ग के अनुसार प्रतीत होता है—कल्पविशेष में श्रीगोपालरूप में ही श्रीकृष्ण ब्रह्मा को दर्शन दिये थे। जब आपने स्वीय गोपालरूप को ही दर्शाया है, तब उनका धाम भी महावैकुण्ठ संज्ञक ही है, उसका प्रतिपादन आगे होगा।

ब्रह्मसंहिता के ५।२२-२५ में उक्त प्रसङ्ग का सुस्पष्ट वर्णन है—

"तत्र ब्रह्माभवद् भूयश्चतुर्वेदी चतुर्मुखः।
सञ्जातो भगवच्छक्त्या तत्कालं किल चोदितः। सिसृक्षायां मतिं चक्रे पूर्वसंस्कार-संस्कृताम्।
ददर्श केवलं ध्वान्तं नान्यत् किमपि सर्वतः।
उवाच पुरतस्तस्मै तस्य दिव्या सरस्वती। कामकृष्णाय गोविन्द ङे गोपीजन इत्यपि।
वल्लभाय प्रिया वह्ने र्मन्त्रं दास्यति ते प्रियम्।
तपस्त्वं तप एतेन तव सिद्धिर्भविष्यति।
अथ तेपे स सुचिरं प्रीणन् गोविन्दमव्ययम् ॥"

अनन्तर गुहा प्रविष्ट पुरुष से समष्टि जीवाधिष्ठान उद्भूत हुआ, अनन्तर देहाभिमानी हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का भोग विग्रह की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार श्रीहरि के नाभिदेश में समस्त आत्मा के साथ सम्बन्धविशिष्ट पद्म आविर्भूत हुआ, उस कमल में पुनर्बार हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का भोग विग्रहस्वरूप चतुर्वेद कर्त्ता चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। अनन्तर उन चतुर्मुख ब्रह्मा की चेष्टा को कहते हैं, सार्द्ध श्लोक के द्वारा। ब्रह्मा, जन्मग्रहण करने के बाद भगवद् शक्ति से प्रयत्न करने लगे। किन्तु उस समय आपने सर्वत्र अन्धकार को ही देखा। अपर कुछ भी दिखाई नहीं दिया।

इत्यादि । (भा० २।९।१४) "सुनन्दप्रबलार्हणादिभिः" इत्यत्र तु द्वारकायां प्राकट्यावसरे श्रुतसुनन्दनन्दादिसाहचर्य्येण प्रबलादयोऽपि ज्ञेयाः; यथोक्तं प्रथमे (भा० १।१४।३२)— "सुनन्द-नन्दशीर्षण्या ये चान्ये सात्वतर्षभाः" इति । किं बहुना, नानावतारावतारिष्वपि सत्सु महापुराणप्रारम्भ एव श्रीशौनकादीनां तदेकतात्पर्य्यमिदम् । अत्र पूर्वं सामान्यतोऽस्माभिरेकान्तश्रेयस्त्वेन सर्वशास्त्रसारत्वेनात्मसुप्रसादहेतुत्वेन च यत् पृष्टं तदेतदेवास्माकं भाति । यत् श्रीकृष्णस्य लीलावर्णनमित्यभिप्रेत्याहुः (भा० १।१।१२)—

(६४) "सूत जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः ।
देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया ॥"११७॥

सर्वसम्वादिनी

'मध्ये ध्वजा तु विज्ञेया पद्मं त्र्यङ्गुलमानतः । वज्रं वै दक्षिणे पार्श्वे अङ्कुशो वै तदग्रतः ॥२२॥

अनन्तर पूर्व उपासना भाग्यलब्ध ब्रह्मा के प्रति भगवत्कृपा हुई, सार्द्ध श्लोक के द्वारा उसका वर्णन करते हैं । उस समय ब्रह्मा के सामने देववाणी हुई, उससे यह सूचित हुआ कि—प्रथम कामबीज पश्चात् कृष्णाय पद, उसके बाद चतुर्थ्यन्त गोविन्द शब्द, तत् पश्चात् गोपीजनवल्लभाय, तदन्त में वह्निप्रिया अर्थात् स्वाहा समन्वित अष्टादशाक्षर मन्त्र तुम्हारा प्रिय विधान करेगा ।

इस मन्त्र के द्वारा तपस्या करो, इससे सिद्धि होगी । उसका स्पष्टीकरण करते हैं—तुम तपस्या करो । द्वितीय स्कन्ध के नवमाध्याय के षष्ठ श्लोक के द्वारा उसकी योजना कर रहे हैं ।

"स चिन्तयन् द्व्यक्षरमेकदाम्भस्युपाश्रृणोद्‌द्विर्गदितं वचो विभुः ।
स्पर्शेषु यत् षोड़शमेकविंशं निष्किञ्चनानां नृपयद्धनं विदुः ॥"

सृष्टिं चिन्तयन् कदाचिद् द्व्यक्षरं वचः अम्भसि उप श्रृणोत् उपसमीपे श्रुतवान् । ते अक्षरे दर्शयति । कादयो मावसानाः स्पर्शाः, तेषु यत् षोड़शं तकारः, यच्चैकविंशं पकारः, वचसो निर्देशार्थं तदर्थमाह । हे नृप ! निष्किञ्चनानां त्यक्तधनानां धनं यद्विदुः, येन तपोधनाः प्रसिद्धाः, तच्च द्विर्गदितं तपतपेति लोटो मध्यमपुरुषैकवचनं, तस्य वीप्सा सादरविधिरूपा अश्रृणोदित्यर्थः ।

भा० २।९।१४ में वर्णित है—"ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिं श्रियः पतिं यज्ञपतिं जगत्पतिम् ।
सुनन्दनन्दप्रबलार्हणादिभिः स्वपार्षदाग्र्यैः परिषेवितं विभुम् ॥"

उक्त श्लोक का वर्णन समन्वय द्वारका में प्राकट्य के समय सुनन्दनन्दादि के नाम से होता है । सुनन्दनन्दादि के साहचर्य्य से पठित होने से प्रबल प्रभृति को जानना होगा । भा० १।१४।३२

"तत्रैवानुचराः शौरेः श्रुतदेवोद्धवादयः । सुनन्दनन्दशीर्षण्या ये चान्ये सात्वतर्षभाः ॥"

टीका—सुनन्दनन्दौ शीर्षण्यौ मुख्यौ येषां ते ॥

अधिक कथा कहना है—नानावतारावतारी विद्यमान होने पर भी श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में ही श्रीशौनकादि ऋषिओं का तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही दृष्ट होता है । श्रीमद्भागवत श्रवण प्रसङ्ग उपस्थित होने पर सर्वप्रथम हम सब ने साधारण रूप से एकान्त श्रेयः, सर्वशास्त्र का सार एवं आत्मप्रसाद हेतुस्वरूप जो कुछ जानना चाहा, प्रतीत होता है कि—वे सब विषय ही परिपूर्णरूप से श्रीकृष्ण लीला वर्णन में समुपलब्ध हैं । तज्जन्य ही श्रीशौनक कहे थे—"सूत जानासि भद्रं ते भगवान् सात्वतां पतिः ।
देवक्यां वसुदेवस्य जातो यस्य चिकीर्षया ॥"

टीका—"अङ्ग ! हे सूत ! भद्रं ते, इत्यौत्सुक्येनाशीर्वादः, भगवान् निरतिशयैश्वर्य्यादिगुणसम्पन्नः ।

'भद्रं ते' इति श्रीकृष्णलीलाप्रश्नसहोदरौत्सुक्येनाशीर्वादः। भगवान् स्वयमेवावतारी सम्पूर्णैश्वर्य्यादियुक्तः; सात्वतां—सात्वतानां पतिः, नुड़भाव आर्षः, यादवानामित्यर्थः। जातो जगद्दृश्यो बभूव॥

६५। (भा० १।१।१३)—

(६५) "तन्नः शुश्रूषमाणानामर्हस्याङ्गानुवर्णितुम्।
यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च॥"११८॥

टीका च—"अङ्ग हे सूत! तन्नोऽनुवर्णयितुमर्हसि। सामान्यतस्तावद्यस्यावतारमात्रं क्षेमाय पालनाय, भवाय समृद्धये च" इति॥

६६। तत्प्रभावमनुवर्णयन्तस्तद्यशःश्रवणौत्सुक्यमाविष्कुर्वन्ति, (भा० १।१।१४)—

(६६) "आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥"११९॥

सर्वसम्वादिनी

यवोऽप्यङ्गुष्ठमूले स्यात् स्वस्तिकं यत्र कुत्रचित्। आदिं चरणमारभ्य यावद्वै मध्यमा स्थिता॥२३॥

सात्वतां—सच्छब्देन सत्त्वमूर्त्ति भगवान्, स उपास्यतया विद्यते एषामिति सत्वन्तो भक्ताः, स्वार्थेऽण् राक्षस वायसादिवत्। तस्य चाश्रवणमार्षं, तदेवं सात्वदिति भवति। तेषां पतिः—पालकः, यस्यार्थविशेषस्य चिकीर्षया वसुदेवस्य भार्य्यायां देवक्यां जातः॥"

हे सूत! तुम्हारा मङ्गल हो, सात्वतगण के प्रतिपालक भगवान् श्रीवसुदेव पत्नी देवकीदेवी से किस निमित्त आविर्भूत हुए थे, उसको तुम जानते हो। श्रीकृष्ण लीला प्रश्न के सहित जो उत्सुकता थी, उस औत्सुकच निबन्धन ही आशीर्वाद हुआ—"हे सूत तुम्हारा मङ्गल हो"। भगवान् स्वयं ही अवतारी सम्पूर्ण ऐश्वर्य्यादि युक्त हैं। सात्वतां—सात्वतानां पतिः—आश्रय-पालक, नुट् का अभाव—आर्ष प्रयोग के कारण है। सात्वत शब्द से—यादवगण का बोध होता है। जात अर्थात् जगज्जनों के नयनगोचरीभूत हुये थे॥६४॥

भा० १।१।१३ में वर्णित है—"तन्नः शुश्रूषमाणानामर्हस्यङ्गानुवर्णितुम्।
यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय च भवाय च॥

हे प्रिय सूत! सामान्यतः भूतगणों की रक्षा एवं समृद्धिसाधन के निमित्त ही जिनका अवतार है, अतः हम सब श्रवणाभिलाषी हैं। हमारे निकट विशेष विस्तारपूर्वक श्रीकृष्ण की कथा का वर्णन करो।

टीका—"अङ्ग हे सूत! तन्नोऽनुवर्णयितुमर्हसि। सामान्यतो यस्यावतारो भूतानां क्षेमाय—पालनाय, भवाय—समृद्धये।"

श्रीकृष्ण के अंशादि स्वरूप जिन अवतारों का प्राकट्य होता है। साधारणतः उन सबके कार्य्य ही हैं—प्राणीमात्र की रक्षा, एवं समृद्धि साधन। श्रीकृष्णावतार में उक्त कार्य्यसमूह समधिक साधित हुये हैं, इसमें कोई सन्देहावकाश नहीं है॥६५॥

अनन्तर श्रीकृष्ण का प्रभाव वर्णन के पश्चात् उनका यशः श्रवण के निमित्त औत्सुक्य का प्रकाश कर रहे हैं। (भा० १।१।१४)

"आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्। ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥"

विवशोऽपि विशेषेण पराधीनः सन्नपि यस्य श्रीकृष्णस्य नाम, तस्य सर्वावतारित्वादवतारनाम्नामपि तत्रैव पर्य्यवसानात् । अतएव साक्षात् श्रीकृष्णादपि तत्तन्नामप्रवृत्तिः प्रकारान्तरेण श्रूयते श्रीविष्णुपुराणे । तत्र त्वखिलानामेव भगवन्नाम्नां कारणान्यभवन्निति हि तदीयं गद्यम् । तदिदञ्च वासुदेव-दामोदर-गोविन्द-केशवादिनामवज्ज्ञेयम् । ततः संसृतेः । तत्र हेतुः—यद्यतो नाम्नः, भयमपि स्वयं बिभेति ॥

६७ । किञ्च, (भा० १।१।१५)—

(६७) "यत्पादसंश्रयाः सूत मुनयः प्रशमायनाः ।
सद्यः पुनन्त्युपस्पृष्टाः स्वर्धुन्यापोऽनुसेवया ॥"१२०॥

यस्य श्रीकृष्णस्य पादौ संश्रयौ येषाम्, अतएव प्रशमायनाः, शमो भगवन्निष्ठबुद्धिता, (भा० ११।१९।३६) "शमो मन्निष्ठता बुद्धेः" इति स्वयं श्रीभगवद्वाक्यात्, स एव प्रकृष्टः शमः

सर्वसम्वादिनी

तावद्वै चोर्द्ध्वरेखा कथिता पाद्मसंज्ञके। अष्टकोणं तु भो वत्स मानं चाष्टाङ्गुलैश्च तत् ॥२४॥

टीका—"तत् प्रभावमनुवर्णयन्तस्तद्यशः श्रवणौत्सुक्यमाविष्कुर्वन्ति—आपन्न इति त्रिभिः । संसृतिं घोरां आपन्नः प्राप्तः, विवशोऽपि गृणन् ततः संसृतेः । अत्र हेतुः यद् यतो नाम्नः, भयमपि—स्वयं बिभेति ॥

विवश होकर—अर्थात् विशेष रूप से पराधीन होकर अजामिलादि के समान "श्रीभगवन्नाम कीर्त्तन कर रहा हूँ" इस प्रकार अनुसन्धान रहित होकर अन्य तात्पर्य्य से श्रीहरि नाम कीर्त्तन से भी संसार क्षय होता है ।

श्रीकृष्ण नाम कहने पर बोध होता है—श्रीकृष्ण, निखिल अवतारी होने के कारण अवतारवृन्द के नामसमूह भी उक्त श्रीकृष्ण नाम में ही अन्तर्भुक्त हैं । तज्जन्य साक्षात् श्रीकृष्ण से ही अवतारसमूह के नाम आविर्भूत हुये हैं । उसका वर्णन श्रीविष्णुपुराण में है । "श्रीकृष्ण में ही अखिल भगवन्नामों के कारणसमूह विद्यमान हैं ।" यह श्रीविष्णुपुराण का गद्योक्त विवरण है । इसको वासुदेव-दामोदर-गोविन्द-केशवादि नामों के समान ही जानना होगा । "ततः" का अर्थ संसृति रूप पुनः पुनः जन्ममरण प्रवाह से मानव मुक्त होता है । यदि वह भगवन्नाम ग्रहण करता है, उसके प्रति हेतु निर्देश करते हैं । कारण—भगवन्नाम से भय नामक स्वयं मृत्यु भी भीत होती है । अर्थात् श्रीकृष्ण से स्वयं भय भी भीत होता है । अतएव विवशता के सहित भी श्रीकृष्णनाम ग्रहण करने से मानव संसार से मुक्त होता है ॥६६॥

और भी भा० १।१।१५ में उक्त है—श्रीकृष्ण के पदाश्रित प्रशमायन—परमशान्त मुनिगण दर्शन प्रदान कर सद्यः पवित्र करते हैं; उनके श्रीचरण से निःसृता गङ्गा सलिल पुनः पुनः सेवन करने के बाद पवित्र करता है । उन श्रीकृष्ण चरित्र का वर्णन करो ।

टीका—"किञ्च यस्य पादौ संश्रयौ येषाम्, अतएव प्रशमोऽयनं वर्त्म आश्रयो वा येषां, ते मुनयः, उपविष्टाः सन्निधिमात्रेण सेविताः सद्यः पुनन्ति । स्वर्धुनी गङ्गा, तस्या आपस्तु तत् पादान्निःसृता, नतु तत्रैव तिष्ठन्ति, अतस्तत्सम्बन्धेन पुनन्त्योऽपि अनुसेवया पुनन्ति, तत्रापि नतु सद्य इति मुनिनामुत्कर्षोक्तिः ।

जिन श्रीकृष्ण के पदद्वय को सम्यक् रूप से जिन्होंने आश्रयग्रहण किया है, उक्त आश्रयग्रहण हेतु प्रशमायन हुये हैं । 'प्र'—प्रकृष्ट रूप से 'शम' अयन—आश्रय है जिनका । 'शम'-शब्द का अर्थ—भगवन्निष्ठा प्राप्त बुद्धि । भा० ११।१९।३६ में उद्धव के प्रति श्रीकृष्ण ने ही कहा है,—भगवत् स्वरूपमात्र में निष्ठा प्राप्त बुद्धि का नाम 'शम' है । उक्त शम, साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रयुक्त हेतु प्रकृष्ट-शम

प्रशमः साक्षात्पूर्णभगवत्श्रीकृष्णसम्बन्धित्वात्, प्रशम एवायनं वर्त्म आश्रयो वा येषां ते श्रीकृष्णलीलारसाकृष्टचित्ता मुनयः श्रीशुकदेवादयः, उपस्पृष्टाः सन्निधिमात्रेण सेविताः, सद्यः पुनन्ति सवासनपापेभ्यः शोधयन्ति। स्वर्धुनी गङ्गा तस्या आपस्तु ;—

"योऽसौ निरञ्जनो देवश्चित्स्वरूपी जनार्दनः। स एव द्रवरूपेण गङ्गाम्भो नात्र संशयः॥"१२१॥

इति स्वयं तथाविधरूपा अपि, साक्षाच्छ्रीवामनदेवचरणान्निःसृता अपि, अनुसेवया साक्षात् सेवाभ्यासेनैव तथा शोधयन्ति, न सन्निधिमात्रेण सेवया। साक्षात् सेवया अपि न सद्य इति तस्या अपि श्रीकृष्णाश्रितानामुत्कर्षात्तस्योत्कर्षः एवमेव ततस्तद्यशसोऽप्याधिक्यं वर्ण्यते ; (भा० १०।९०।४७) "तीर्थं चक्रे नृपोनं यदजनि यदुषु स्वःसरित्पादशौचम्" इति।

टीका च—"इतः पूर्वं स्वःसरिदेव सर्वतोऽधिकं तीर्थमित्यासीत्, इदानीन्तु यदुषु यदजनि जातं तीर्थं श्रीकृष्णकीर्त्तिरूपमेतत् स्वःसरिद्रूपं पादशौचं तीर्थम्, ऊनमल्पञ्चक्रे" इत्येषा॥

सर्वसम्वादिनी

निर्द्दिष्टं दक्षिणे पादे इत्याहुर्मुनयः किल। एवं पादस्य चिह्नानि तान्येव वैष्णवोत्तम॥२५॥

—प्रशम, अयन, अर्थात् वर्त्म—आश्रय है जिनका, वे सब प्रशमायन होते हैं। प्रशमायन मुनि, श्रीकृष्ण लीलारसाकृष्टचित्त श्रीशुकदेव प्रभृति सन्निधिमात्र से सेवित होकर अर्थात् दृष्टिगोचर होकर, तत्क्षणात् वासनाविशिष्ट पाप से शुद्ध करते हैं। उक्त निरञ्जन चित्स्वरूप देव जनार्दन हैं। आप स्वयं द्रव-वारि रूप में गङ्गा हैं, इसमें सन्देह नहीं है। बलि महाराज से दान ग्रहण के समय में वामन देव के ऊर्द्ध्व प्रसारित चरण द्वारा ब्रह्माण्ड कटाह भिन्न होने से कारणार्णव से निःसृत होकर गङ्गा का आगमन पृथिवी में हुआ है। उक्त गङ्गा—अनुसेवा अर्थात् साक्षात् रूप से स्नान, पान, पूजनादि द्वारा बारम्बार सम्मानित होकर सद्यः शोधन नहीं करती है। अतएव श्रीगङ्गा से भी श्रीकृष्णाश्रित जनगण का उत्कर्ष को देखकर श्रीकृष्ण का परमोत्कर्ष का अनुभव होता है। इस प्रकार उत्कर्ष वर्णनाभिप्राय से ही भा० १०।९०।४७ में श्रीशुकदेव कहे हैं—

"तीर्थं चक्रे नृपोनं यदजनि यदुषु स्वःसरित् पादशौचं,
विद्विट्स्निग्धाः स्वरूपं ययुरजितपरा श्रीर्यदर्थेऽन्ययत्नः।
यन्नामामङ्गलघ्नं श्रुतमथगदितं यत् कृतो गोत्रधर्मः,
कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य॥"

टीका—"तस्मात् श्रीकृष्णकीर्त्तेः सर्वतीर्थोत्तमत्वं, श्रीकृष्णस्य च सर्वदेवोत्तमत्वं न चित्तमित्याह—तीर्थं चक्र इति। इतः पूर्वं स्वः सरिदेव सर्वतोऽधिकं तीर्थमित्यासीत्। इदानीन्तु यदुषु यत् अजनि, जातं तीर्थं श्रीकृष्णकीर्त्तिरूपमेतत् स्वः सरिद्रूपं पादशौचं तीर्थं ऊनमल्पं चक्रे, स्वयमेव सर्वतीर्थोपरि विराजत इत्यर्थः। श्रीकृष्णस्य विद्विषः स्निग्धाश्च, तत् सारूप्यं ययुरित्यपि नातिचित्रम्। तस्य परमकारुणिकत्वात्। तथा इदञ्च न चित्रम्। किं तत्। अजितपरा—अजिता कैश्चिदप्यप्राप्ता, परा—सर्वतः परिपूर्णा श्रीः, श्रीकृष्णस्यैव नान्यस्यैति। तदेवाह—यदर्थेऽन्येषां ब्रह्मादीनां यत्न इति। ननु निरपेक्षं तमेव, लक्ष्मीः श्रयत इति चित्रमेवेति चेत्, नहि परममङ्गलनामधेयत्वात् तस्येत्याह—यन्नामेति। तदपि नार्थस्मरणापेक्ष्य-मित्याह—श्रुतमथगदितमिति। सर्वधर्माश्रयत्वादपीत्याह—यत् कृतो गोत्रधर्म इति। गोत्रेषु—तत्तदृषि-वंशेषु, धर्मो यत्कृतो येन प्रवर्त्तितः, तस्य क्षितिभरहरणं नैव चित्तमित्याह—कृष्णस्यैतदिति।

६८। एतस्य दशमस्कन्धपद्यस्यैवसम्वादितां व्यनक्ति, (भा० १।१।१६)—

(६८) "को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्यकर्मणः।
शुद्धिकामो न शृणुयाद्यशः कलिमलापहम्॥"१२२॥

शुद्धिकामोऽपि; यतः कलियुगस्यापि मलापहम्। यस्मादेवं तस्मात्॥

६९। (भा० १।१।१७)—

(६९) "तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः।
ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया दधतः कलाः॥"१२३॥

उदराणि परमानन्ददातॄणिजन्मादीनि। स्वयं परिपूर्णस्य लीलया अन्याः अपि कलाः पुरुषादिलक्षणा दधतः; तत्तदंशानप्यादाय तस्यावतीर्णस्य सत इत्यर्थः॥

सर्वसम्वादिनी

दक्षिणेतरस्थानानि संवदामीह साम्प्रतम्। चतुरङ्गुलमानेन त्वङ्गुलीनां समीपतः॥२६॥

कालचक्रायुधस्येति। सर्वसंहारककालमूर्त्तेः, विशेषतो दुरन्तप्रभावचक्रायुधस्य कियदेतदित्यर्थः।"

हे राजन्! श्रीकृष्ण के कीर्तिकलापरूप जो तीर्थ, यदुवंश में उत्पन्न हुआ है। उससे श्रीवामनदेव के पादशौच रूप गङ्गा तीर्थ स्वल्प हो गया है।

स्वामिपाद का कथन है कि—इसके पहले सुरधुनी ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ रही, अधुना, यदुवंश में श्रीकृष्ण कीर्त्ति रूप जिस तीर्थ का उदय हुआ है। वह गङ्गारूप श्रीवामनदेव के पादशौच तीर्थ को अल्प किया है। अर्थात् गङ्गा की महिमा से भी श्रीकृष्ण यशः की महिमा अत्यधिक है॥६७॥

श्रीशौनकादि की उक्ति से दशमस्कन्धीय उक्त पद्य का संवाद परिव्यक्त हुआ है। (भा० १।१।१६)

"को वा भगवतस्तस्य पुण्यश्लोकेड्य कर्मणः। शुद्धिकामो न शृणुयाद् यशः कलिमलापहम्॥

उन भगवान् श्रीकृष्ण के कार्य्यसमूह का स्तव पुण्यश्लोक व्यक्तिगण करते रहते हैं। निज शुद्धि अभिलाषी कौन व्यक्ति, कलिकलुषनाशक उनका यशः श्रवण नहीं करेगा?

टीका—"पुण्यश्लोकैरीड्यानि स्तव्यानि कर्माणि यस्य, तस्य यशः—कलिमहापहम्, संसार-दुःखोपशमनम्॥"६८॥

श्रीकृष्ण का यशः ही कलिकलुषनाशक है। अतएव भा० १।१।१७ में वर्णित है—

"तस्य कर्माण्युदाराणि परिगीतानि सूरिभिः। ब्रूहि नः श्रद्दधानानां लीलया दधतः कलाः॥"

टीका—"प्रश्नान्तरं तस्येति। उदाराणि महान्ति विश्वसृष्ट्यादीनि, सूरिभिर्नारदादिभिः। कलाः, ब्रह्मरुद्रादिमूर्त्तीः॥"

जो लीलावशतः कला—अंशावतारसमूह को प्रकट करते हैं, उनके परमोदार कर्मसमूह का कीर्त्तन, श्रीनारदादि भक्तगण करते रहते हैं, उनकी लीलाकथा श्रवण में हमारी महती श्रद्धा हुई है। अतः आप वर्णन करें।

श्रीकृष्ण की जन्म प्रभृति लीला, भक्तवृन्द को परमानन्दित करती हैं। तज्जन्य ही उक्त लीलासमूह उदार कर्म से अभिहित हैं। श्रीकृष्ण स्वयं परिपूर्ण होकर भी लीलार्थ अन्य कला अर्थात् पुरुषादि लक्षण, अंशसमूह को लेकर अवतीर्ण हुये हैं। अतएव उनकी लीला अतीव विचित्र है, एवं श्रोतव्य है॥६९॥

७०। (भा० १।१।१८)—

(७०) "अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः ।
लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया ।।"१२४।।

श्रीकृष्णस्य तावत् मुख्यत्वेन कथय। अथ तदनन्तरमानुषङ्गिकतयैवेत्यर्थः। हरेः श्रीकृष्णस्य ; प्रकरणबलात् अवताराः—पुरुषावतारागुणावतारा लीलावताराश्च, तेषां कथाः; लीलाः सृष्ट्यादिकर्मरूपा भूभारहरणादिरूपाश्च। औत्सुक्येन पुनरपि तच्चरितान्येव श्रोतुमिच्छन्तस्तत्रात्मनस्तृप्त्यभावमावेदयन्ति ।।

७१। (भा० १।१।१९)—

(७१) "वयन्तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ।।"१२५।।

सर्वसम्वादिनी

इन्द्रचापं ततो विद्यादन्यत्र न भवेत् क्वचित्। त्रिकोणं मध्यनिर्द्दिष्टं कलसो यत्र कुत्रचित् ।।२७।।

भा० १।१।१८ में उक्त है—"अथाख्याहि हरेर्धीमन्नवतारकथाः शुभाः।
लीला विदधतः स्वैरमीश्वरस्यात्ममायया ।।"

टीका—प्रश्नान्तरमाह—अथेति। अवतार कथा स्थित्यर्थमेव तत्तदवसरे ये मत्स्याद्यवताराः तदीयाः कथाः। स्वैरः—लीलाः कुर्वतः ।।

हे धीमन्! श्रीहरि के अवतारों की शुभ कथा का वर्णन आप करें। ईश्वर स्वेच्छापूर्वक आत्ममाया के द्वारा विविध रूप में अवतीर्ण होकर लीला करते हैं।७०।

श्रीकृष्ण कथा का ही कीर्त्तन मुख्य रूप से करें। अनन्तर आनुषङ्गिक रूप से अन्यान्य अवतारों का कीर्त्तन भी करें। मूल श्लोक में 'हरे' शब्द का प्रयोग है। अर्थात् श्रीहरि कथा का कीर्त्तन करें। यहाँ हरि शब्द का अर्थ, श्रीकृष्ण हैं। कारण—प्रकरण से उक्तार्थ का ही बोध होता है। श्रीशौनकादि ऋषिओं ने इतः प्राक् श्रीकृष्ण चरित्र श्रवण करने का अभिप्राय को व्यक्त किया था। सुतरां उन्होंने यहाँ पर हरि शब्द से श्रीकृष्ण का ही उल्लेख किया है। यह स्वाभाविक अनुभूत है।

अवतारसमूह, पुरुष के गुणावतार—ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर हैं, एवं लीलावतार—मत्स्यादि हैं, उनकी कथा ही लीला है। वह लीला द्विविधा हैं,—सृष्टि-स्थिति-संहार कर्मरूपा, एवं भूभार हरणादिरूपा ।।७०।।

औत्सुक्य वशतः पुनर्बार श्रीकृष्ण चरित्र श्रवणाभिलाष को प्रकट कर स्वीय अतृप्ति को व्यक्त कर रहे हैं। (भा० १।१।१९)—"वयन्तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ।।"

टीका—"यद्यपि श्रीकृष्णावतारप्रयोजनप्रश्नेनैव तच्चरितप्रश्नोऽपि जात एव, तथाप्यौत्सुक्येन पुनरपि तच्चरितान्येव श्रोतुमिच्छन्तस्तत्रात्मनस्तृप्त्यभावमावेदयन्ति, वयन्त्विति। यागयोगादिषु तृप्ताः स्मः। उद्गच्छति तमो यस्मात् स उत्तमस्तथाभूतः श्लोको यशो यस्य, तस्य विक्रमे तु विशेषेण न तृप्यामः, अलमिति न मन्यामहे। तत्र हेतुः, यद्विक्रमं शृण्वताम्। यद्वा, अन्ये तु तृप्यन्तु नाम, वयन्तु नेति तु शब्दस्यान्वयः। अयमर्थः—त्रिधाह्यलंबुद्धिर्भवति, उदरादिभरणेन वा, रसाज्ञानेन वा, स्वादु विशेषाभावाद्वा,

योगयागादिषु तृप्ताः स्म ; भगवद्विक्रममात्रे तु न तृप्याम एव । तथापि (भा० १०।९०।४७)—"तीर्थं चक्रे नृपोनम्" इत्याद्युक्त-लक्षणस्य सर्वतोऽप्युत्तमश्लोकस्य श्रीकृष्णस्य विक्रमे विशेषेण न तृप्यामः, अलमिति न मन्यामहे । तत्र हेतुः—यद्विक्रमणं शृण्वताम् ; यद्वा, अन्ये तु तृप्यन्तु नाम, वयन्तु नेति 'तु'-शब्दस्यान्वयः ॥

७२ । (भा० १।१।२०)—

(७२) "कृतवान् किल कर्माणि सह रामेण केशवः ।
अतिमर्त्त्यानि भगवान् गूढ़ः कपटमानुषः ॥"१२६॥

टीका च—"अतः श्रीकृष्णचरितानि कथयेत्याशयेनाहुः—कृतवानिति । अतिमर्त्त्यानि मर्त्त्यानतिक्रान्तानि गोवर्द्धनोद्धरणादीनि, मनुष्येष्वसम्भावितानीत्यर्थः" इत्येषा । ननु कथं मानुषः सन्नतिमर्त्त्यानि कृतवान् ? तत्राहुः—कपटमानुषः पार्थिवदेहविशेष एव

सर्वसम्वादिनी

अष्टाङ्गुलप्रमाणेन तद्भवेदर्द्धचन्द्रकम् । अर्द्धचन्द्र-समाकारं निर्दिष्टं तस्य सुव्रत ॥२८॥

तत्र शृण्वतामित्यनेन चाज्ञानतः पशुवत् तृप्तिर्निराकृता, इक्षुभक्षणवद्रसान्तराभावेन तृप्तिं निराकरोति—पदे पदे प्रतिक्षणं स्वादुतोऽपि स्वादु ॥"

उत्तम श्लोक श्रीकृष्ण के विक्रम अर्थात् लीला श्रवण कर हम वितृप्त नहीं हैं । कारण, तदीय चरित्र श्रवण के समय में रसज्ञ श्रोतृवर्ग का पद पद में उत्तरोत्तर अधिक आनन्दास्वादन होता है ।

महावक्ता एवं श्रोता का तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही है । श्रीशौनकादि ऋषिओं ने कहा,—हम सब यागयोगादि में तृप्त हैं । किन्तु श्रीभगवद् विक्रम श्रवण से तृप्त नहीं हैं । उसमें भी जिनका यशः, गङ्गा की महिमा की न्यूनता सम्पादन किया है, उन सर्वश्रेष्ठ यशस्वी, श्रीकृष्ण के यशः से विशेष रूप से अतृप्त हैं । अर्थात् अनेक सुन चुके हैं, और कितने सुनेंगे ? इस प्रकार अलं बुद्धि हम सबकी नहीं होगी । कारण यह है—रसज्ञ श्रोतृगण, श्रीकृष्ण चरित्र श्रवण के समय, पद पद में उत्तरोत्तर अधिक से अधिकतर आस्वादन अनुभव करते हैं । अर्थान्तर में—श्रीकृष्णचरित्र श्रवण से अन्य व्यक्ति तृप्त हो सकते हैं, किन्तु हम सब तृप्त नहीं होंगे । अलं बुद्धि नहीं होगी । प्रथम अर्थ में 'उत्तमःश्लोकविक्रमे' पद के सहित, 'तु' 'वयन्तु—वयम् तु' शब्द अन्वित है, एवं द्वितीय अर्थ में 'तु' शब्द 'वयम्' पद के सहित अन्वित है ॥७१॥

उसके बाद श्रीशौनक ने कहा—निश्चय ही गूढ़ एवं कपट मनुष्य भगवान् केशव, राम के सहित अलौकिक कर्मसमूह किये हैं । (भा० १।१।२०)—"कृतवान् किल कर्माणि सह रामेण केशवः ।
अतिमर्त्त्यानि भगवान् गूढ़ः कपटमानुषः ॥"

स्वामिटीका—अतएव श्रीकृष्णचरित्र, रसज्ञ श्रोतृवर्ग के निकट पदे पदे—उत्तरोत्तर स्वादाधिक्य को प्रकट करता है, एवं हम सब भी श्रीकृष्ण यशः श्रवण से विशेष रूप से अतृप्त हैं । तज्जन्य श्रीकृष्ण चरित्र का वर्णन करो । इस अभिप्राय से ही श्रीशौनक ने 'कृतवान्' प्रभृति शब्द कहा है । श्लोकस्थ, अतिमर्त्त्यानि शब्द का अभिप्राय यह है—अलौकिक कर्मसमूह के द्वारा मनुष्य सामर्थ्य को अतिक्रम किये हैं । अर्थात् गोवर्द्धन धारण प्रभृति कर्म जो मनुष्यसमूह के द्वारा सम्पन्न होना सर्वथा असम्भव है, उक्त कर्मसमूह का सम्पादन आपने अनायास किया है ।

यहाँ जिज्ञास्य यह है कि—श्रीकृष्ण मानुष होकर कैसे अमानुषिक कर्मसमूह किये हैं ? उत्तर में

मानुषशब्दः प्रतीतः, तस्मात् कपटेनैवासौ तथा भातीत्यर्थः; वस्तुतस्तु नराकृतेरेव परब्रह्मत्वेनासत्यपि प्रसिद्धमानुषत्वे नराकृति-नरलीलत्वेन लब्धमप्रसिद्धमानुषत्वमस्त्येव। तत् पुनरैश्वर्य्याव्याघातकत्वान्न प्रत्याख्यायत इति भावः। अतएव स्यमन्तकाहरणे (भा० १०।५६।२२)—"पुरुषं प्राकृतं मत्वा" इत्यनेन जाम्बवतोऽन्यथाज्ञानव्यञ्जकेन वाक्येन तस्य

सर्वसम्वादिनी

त्रिन्दुर्वै मत्स्यचिह्नञ्च ह्याद्यन्ते वै निरूपितम्। गोष्पदं तेषु विज्ञेयमाद्यङ्गुलप्रमाणतः॥'२९॥ इत्यादि; [मूले] तदग्रे [अव्यवहितान्तरं] च [मूल० ८२तम अनु०]—

कहते हैं—'श्रीकृष्ण कपट मानुष हैं' पार्थिव 'पाञ्चभौतिक' देहविशेष में ही मानुष शब्द का प्रयोग होता है। श्रीकृष्ण, सच्चिदानन्द विग्रह हैं। सुतरां उक्त लक्षणविशिष्ट मानुष आप नहीं हैं। निज स्वरूप को गोपन कर नरलीला का अनुकरण द्वारा मनुष्य के समान प्रतीत होते हैं। एतज्जन्य ही श्रीकृष्ण को कपट मानुष कहा गया है।

वस्तुतस्तु,—श्रीकृष्ण, नराकृति ही परब्रह्म हैं, उनमें प्रसिद्ध मनुष्यत्व 'पार्थिव देहविशिष्टत्व' नहीं है। आप नराकृति हीं है, नरलीला का भी अनुष्ठान करते हैं। तज्जन्य अवश्य प्राप्त अप्रसिद्ध-मनुष्यत्व श्रीकृष्ण में अवश्य ही है। अप्रसिद्ध-मनुष्यत्व को मान लेने पर उनका ऐश्वर्य्य का व्याघात नहीं होता है। अर्थात् स्वयं भगवत्ता की हानि नहीं होती है। अतएव अप्रसिद्ध-मनुष्यत्व का प्रत्याख्यान न करें। यह ही श्रीशौनक वाक्य का तात्पर्य्य है। अतएव श्रीकृष्ण का अप्रसिद्ध मनुष्यत्व ही है, सहेतुक उसका वर्णन श्रीशुकदेव ने स्यमन्तकाहरण प्रसङ्ग भा० १०।५६।२२ में कहा है—

"स वै भगवता तेन युयुधे स्वामिनात्मनः। पुरुषं प्राकृतं मत्वा कुपितो नानुभाववित्॥"

श्रीकृष्ण का प्रभाव को न जानकर कुपित जाम्बवान् प्राकृत पुरुष मानकर निज प्रभु भगवान् श्रीकृष्ण के सहित युद्ध किये थे।

स्यमन्तक प्रकरण इस प्रकार है—सूर्य्यदेव निज प्रिय भक्त सत्राजित् को स्यमन्तक मणि प्रदान किए थे। मणि अति तेजस्वी थी, एवं प्रतिदिन आठ भार (प्रति भार का परिमाण साढ़े आठ मण) सुवर्ण प्रसव करती थी। अर्चित होकर मणि, जहाँ पर रहती थी, वहाँ दुर्भिक्ष, महामारी प्रभृति अमङ्गल नहीं होता। यदुराज उग्रसेन के निमित्त उक्त मणि की प्रार्थना श्रीकृष्ण ने की। किन्तु सत्राजित् ने उनको मणि प्रदान नहीं किया। सत्राजित् का भ्राता, प्रसेन स्यमन्तक मणि धारण कर मृगया के निमित्त जाने पर सिंह ने उनको मारकर मणि को ले लिया। जाम्बवान् ने उस सिंह को मारकर मणि प्राप्त किया एवं निज बालक को खेलने के निमित्त दे दिया।

सत्राजित्, भ्राता को अप्रत्यागत देखकर, मणि के लोभ से श्रीकृष्ण ने ही उसको मार डाला है, यह अपवाद घोषित कर दिया। अपवाद से मुक्त होने के निमित्त श्रीकृष्ण, प्रसेन का अनुसन्धान करते हुये जाम्बवान् की गुहा में उपस्थित होकर मणि ग्रहण हेतु कृतनिश्चय होने पर जाम्बवान् ने श्रीकृष्ण के सहित युद्ध प्रारम्भ कर दिया। युद्ध में पराजित होकर जाम्बवान् श्रीकृष्ण को निज प्रभु रूपसे जान गये, एवं स्यमन्तक मणि के सहित कन्या जाम्बवती को सम्प्रदान किये थे। श्रीकृष्ण, प्रकाश्य राजसभा में जाम्बवान् के निकट से मणि प्राप्ति का विवरण कहकर सत्राजित् को मणि दे दिये। सत्राजित् भी निज अपराध शान्ति के निमित्त कन्या सत्यभामा एवं स्यमन्तक मणि, श्रीकृष्ण को प्रदान किये थे। जाम्बवान् का प्राकृत ज्ञान व्यतीत अन्यविध ज्ञान व्यञ्जक श्लोक के द्वारा श्रीकृष्ण का प्राकृत पुरुषत्व का निषेध कर पुरुषत्व स्थापित हुआ है। अर्थात् उक्त श्लोकस्थ 'मत्वा' पद से प्रतीत होता है कि—जो प्राकृत पुरुष

प्राकृतत्वं निषिध्य पुरुषत्वं स्थाप्यते। एवं (भा० १०।१।७) "मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्" इत्यादिष्वपि ज्ञेयम्। यस्मात् कपटमानुषस्तस्मादेव गूढ़ः, स्वतस्तु तद्रूपतयैव भगवानिति ॥ श्रीशौनकः ॥

सर्वसम्वादिनी

'षोड़शं तु तथा चिह्नं शृणु देवर्षिसत्तम। जम्बूफल-समाकारं दृश्यते यत्र कुत्रचित्।

नहीं है, उनको भी प्राकृत पुरुष माने थे। यदि श्रीकृष्ण यथार्थतः प्राकृत पुरुष होते, तब 'मत्वा' मानकर पद प्रयोग की कोई सार्थकता नहीं होती। श्रीकृष्ण, पुरुषाकार होने पर भी प्रकृत्यतीत अप्राकृत नरविग्रह हैं। इस सिद्धान्त को प्रकट करने के निमित्त उक्त 'मत्वा' पद का प्रयोग हुआ है।

श्रीकृष्ण, कपट मानुष, अर्थात् अप्राकृत नरविग्रह हैं। उसका अपर प्रमाण भा० १०।१।७ में है—

"वीर्य्याणि तस्याखिलदेहभाजा, मन्तर्वहिः पुरुषकालरूपैः।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतञ्च, माया मनुष्यस्य वदस्व विद्वन् ॥

क्रमसन्दर्भः। पूर्वपूर्वोक्त वहिर्मुखानपि प्रवर्त्तयन् सकौतुकमाह—वीर्य्याणीति, अखिलदेहभाजामनियतानां जीवानां नियमं विनैव तेषां केषाञ्चिदैच्छिकादिमृत्युत्वेन दुर्घटदेहत्यागानां भीष्मादीनां मृत्युं देहत्यागं कारयतः, केषाञ्चिद्विरोधित्वेन दुर्घटमोक्षाणां कंसादीनाममृतं मोक्षमपि, चकारात् पूतनादीनां भक्तिमपि कारयतो तस्य यानि, तादृशानि वीर्य्याणि स्वच्छन्दाचरितानि वदेत्यर्थः। तत्र हेतुः (सात्वत तन्त्रे) 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यानि' इत्युक्तदिशा पुरुषरूपैः परमाण्वादिभेदेन कालरूपैश्चान्तर्वहिश्च स्थितस्येति; तत स्तेषामन्तर्वहिश्च स्वेच्छानुरूपमेव सम्पादितमित्यर्थः। तदेवं तस्य नराकृतिपरब्रह्मणः प्राकृतमनुष्यतया प्रतीतिस्तु माययैवेत्याह—मायामनुष्यस्येति, तत एवम्भूतैश्वर्य्यादिदृष्ट्यापि निर्जाहृतैर्षिभि स्तदेकशरणापत्ति-सम्पादकानि तद् वीर्य्याणि श्रोतव्यान्येवेति ॥

श्रीपरीक्षित् श्रीशुकदेव को कहे थे—"हे विद्वन्! जो अखिल देहधारी के अन्तर एवं बाहर पुरुष एवं कालरूप में अवस्थित होकर संसार एवं मोक्ष प्रदान करते हैं, उन मायामनुष्य के वीर्य्यसमूह का वर्णन कृपापूर्वक करें।

श्रीकृष्ण चरित्र का श्रवण करना ही एकमात्र कर्त्तव्य है। इस अभिप्राय से ही राजा परीक्षित् ने वहिर्मुख जनगण को भी श्रीकृष्णकथा श्रवण हेतु प्रवर्त्तित करने के निमित्त 'वीर्य्याणि' श्लोक में तदीय ऐश्वर्य्य माधुर्य्यपूर्ण तत्त्वोल्लेखपूर्वक प्रार्थना की, हे मदेकबन्धो! मदीय हितार्थ कृपया श्रीकृष्ण वीर्य्य का कीर्त्तन करें। श्रीकृष्ण, जीवगण को अमृत—मरणाद्यशेष दुःखरहित वैकुण्ठलोक, अथवा परममधुर श्रीकृष्ण प्रेम, एवं मृत्यु प्रदान करते हैं। जो लोक तदीय कथा श्रवणादि द्वारा अन्तर्दृष्टि सम्पन्न होते हैं, उन सज्जनवृन्द को अन्तर्य्यामिरूप में अमृत प्रदान, और जो लोक, श्रीकृष्ण कथा श्रवणाभाव से वहिर्मुख हैं, उन सबको कालरूप से मृत्युदान करते हैं। अर्थात् अन्तरङ्ग भक्तवृन्द को श्रीविष्ण्वादिरूप से परमानन्द एवं भक्तद्वेषिगण को यमादि रूप से विभिन्न दुःख प्रदान करते हैं। किम्वा, श्रीकृष्ण, भक्त के अन्तर एवं बाहर में अमृत, और भक्तद्रोही के बाहर भीतर मृत्यु प्रदान करते हैं। उन श्रीकृष्ण, मायामनुष्य हैं। माया के द्वारा श्रीकृष्ण, प्राकृत मनुष्यवत् प्रतीत होने पर भी स्वतः—स्वेच्छा क्रम से मनुष्याचार लीला करते हैं। अन्य जीव के समान कर्मपरतन्त्र होकर मनुष्योचित आचरण नहीं करते हैं। श्रीकृष्ण, माया के द्वारा मनुष्यरूप प्रकाश करने पर भी मनुष्य लोकातीत हैं। कारण, नररूप में ही श्रीगरुड़ारोहण, रुद्र जय, ब्रह्ममोहनादि लीला में ऐश्वर्य्य को प्रकट कर स्वयं का लोकातीतत्व दर्शाये थे। किम्वा, माया शब्द का अर्थ है—दया, भक्तगण के प्रति श्रीकृष्ण की जो नित्यसिद्ध करुणा है, उस करुणा

७३। अथ श्रीसूतस्यापि (भा० १।२।१)—"इति संप्रश्न-संहृष्टः" इत्याद्यनन्तरम् (भा० १।२।४)—"नारायणं नमस्कृत्य" इत्याद्यन्ते पुराणमुपक्रम्यैवाह, (भा० १।२।५)—

(७३) "मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम्।
यत् कृतः कृष्णसम्प्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति ॥"१२७॥

टीका च—(भा० १।२।१) "तेषां वचः प्रतिपूज्य" इति यदुक्तं तत् प्रतिपूजनं करोति—हे मुनयः ! साधु यथा भवति तथाहं पृष्टः, यतो लोकानां मङ्गलमेतत्, यद्यतः श्रीकृष्ण-विषयः संप्रश्नः कृतः। सर्वशास्त्रार्थसारोद्धारप्रश्नस्यापि कृष्णे पर्य्यवसानादेवमुक्तम्" इत्येषा।

सर्वसम्वादिनी

तच्चिह्नं षोड़शं प्रोक्तमित्याहुर्मुनयोऽनघाः ॥'३०॥ इति ;

हेतु, सच्चिदानन्द नरविग्रह में आप नित्य विराजमान हैं। अथवा, माया ज्ञानवाची है, ज्ञानावस्था में अर्थात् स्वरूपानुभूति होने से ज्ञानी के समीप में ब्रह्म स्वरूप में, योगी के निकट परमात्म स्वरूप में एवं भक्तगण के समक्ष में नराकृति परब्रह्म रूप में स्फूर्ति प्राप्त होते हैं। कारण, नराकृति में ही श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। यह वैष्णवतोषणी की व्याख्या है। उक्त श्लोकोक्त 'माया मनुष्य' पद, श्रीकृष्ण नररूप में प्रकट होने पर भी प्रसिद्ध मानव नहीं हैं, इस अर्थ का प्रकाशक है।

श्रीकृष्ण, कपट मानुष होने से ही गूढ़ हैं, उनका स्वरूप को जानना दुरूह व्यापार है। तदीय कृपा व्यतीत कोई भी व्यक्ति उनको अवगत नहीं हो सकते हैं। किन्तु स्वेच्छा क्रम से कपट मनुष्य रूप से क्रीड़ा करने पर भी उक्त नरविग्रह में ही श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। प्रकरण प्रवक्ता श्रीशौनक हैं ॥७२॥

अनन्तर श्रीसूत का भी तात्पर्य्य श्रीशौनकवत् श्रीकृष्ण में ही है, उसका प्रदर्शन करते हैं। श्रीशौनकादि के उत्तम प्रश्न से निरतिशय आनन्दित चित्त—'इति संप्रश्न संहृष्टो विप्राणां रोमहर्षणिः, प्रतिपूज्यवचस्तेषां प्रवक्तुमुपचक्रमे' (१।२।१) "शौनकादि विप्रवृन्द के उत्तम प्रश्न से परमानन्दित रोमहर्षण नन्दन श्रीसूत, उनके वाक्य को अभिनन्दित करके कथन प्रारम्भ किये थे।"

"नारायणं नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम्। देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥" (१।२।४)

'नारायण, नरोत्तम नर, देवी सरस्वती, एवं व्यास को नमस्कार करके तदनन्तर जय का उच्चारण करें।' इत्यादि श्लोक के बाद श्रीमद्भागवत का उपक्रम करके कहते हैं—

"मुनयः साधुपृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम्। यत् कृतः कृष्णसंप्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति ॥"

हे मुनिगण ! आप सब ने उत्तम प्रश्न किया है। यह प्रश्न ही जगत् का मङ्गलकर है। कारण, श्रीकृष्ण विषयक प्रश्न ही आपने किया है, उससे ही आत्मप्रसन्नता होती है।"

स्वामिकृत टीका। (१।२।१) श्रीशौनकादि के वाक्य को अभिनन्दित करके' इत्यादि वाक्य में प्रतिपूजन की कथा कही गई है, श्रीसूत, उसकी प्रतिपूजा कर रहे हैं, हे मुनिगण ! जिससे उत्तम मङ्गल अर्थात् साधु होता है, उस प्रकार से ही मैं जिज्ञासित हूँ। अर्थात् आपका प्रश्न, सर्वथा प्रशंसार्ह है। कारण, आपका श्रीकृष्णविषयक प्रश्न ही जगत्कल्याणकर है। वह प्रश्न क्यों लोकहितकर है ? उसको प्रकाश कर कहते हैं। आपने श्रीकृष्ण विषयक प्रश्न ही किया है। सर्वशास्त्र का सार क्या है ? मुनियों ने पहले यह प्रश्न किया था, उसका उत्तर भी श्रीकृष्ण में ही पर्य्यवसित है। अर्थात् निखिल शास्त्र का सार वाच्य श्रीकृष्ण ही हैं। तज्जन्य ही उक्त अभिनन्दन वाक्य में मुनियों के प्रश्न को श्रीसूत ने 'कृष्णसंप्रश्न' नाम से प्रशंसा के सहित अभिहित किया। यह विवरण टीका का है।

सर्वशास्त्र का सार श्रीकृष्ण हैं, एवं अपना भी तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही है, उसको सूचित करने के

अतएवोत्तरेष्वपि पद्येषु अधोक्षज-वासुदेव-सात्वतांपति-कृष्णशब्दास्तत्प्राधान्यविवक्षयैव पठिताः। अत्र श्रेयःप्रश्नस्याप्युत्तरं लोकमङ्गलमित्यनेनैव तावद्दत्तं भवति, तथात्मसुप्रसाद-हेतोश्च 'येनात्मा सुप्रसीदति' इत्यनेन ॥ श्रीसूतः ॥

७४। तदेवं महाश्रोतृवक्तॄणामैकमत्येन च तात्पर्य्यं सिद्धम्। अथ श्रुति-लिङ्गादिभिः षड्‌भिरपि प्रमाणैः स एव प्रमीयते। तत्र निरपेक्षरवा श्रुतिर्दर्शितैव, (भा० १।३।२८)

सर्वसम्वादिनी

अत्र 'वैष्णवोत्तम' इत्यादिकं श्रीनारद-सम्बोधनम्। 'यदा कदा' इति यदा कदाचिदेवेत्यर्थः। 'मध्यमा'-

निमित्त परवर्त्ती श्लोकसमूह में आपने अधोक्षज, वासुदेव, सात्वतां पति, एवं कृष्ण शब्द का प्रयोग, श्रीकृष्ण को प्रधान रूप से प्रकाश करने के उद्देश्य से ही किया है।

"स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति।
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः। जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्॥
तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः। श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यशः॥
शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः। हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥"

श्रीशौनक का प्रश्न था—"श्रेयः क्या है?" इस प्रश्न का उत्तर "लोकमङ्गल" पद से, "आत्म सुप्रसाद का कारण क्या है?" इसका उत्तर "जिसके द्वारा आत्मा की सुप्रसन्नता है" वाक्यांश से आपने दिया है। अतएव सुप्रतीत होता है कि—'लोक मङ्गल क्या है?' 'सर्वशास्त्र का सार क्या है? 'आत्म सुप्रसाद प्राप्ति का उपाय क्या है?' ये तीन प्रश्नों का उत्तर—

"मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम्। यत् कृतः कृष्णसंप्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति॥"

उक्त श्लोकस्थ 'कृष्णसंप्रश्न' वाक्य से ही दिया गया है। अर्थात् मुख्य वाच्य कृष्णसंप्रश्न, निखिल जगत् का हेतु—श्रीकृष्ण संप्रश्न, एवं आत्मप्रसन्नता प्राप्त करने का भी उपाय श्रीकृष्ण संप्रश्न ही है।

प्रवक्ता श्रीसूत हैं॥७३॥

महाश्रोता एवं महावक्ता का प्रकरण पर्य्यालोचन से निर्णीत हुआ कि—उन सबका ऐकमत्य श्रीकृष्ण तात्पर्य्य में ही है।

अनन्तर—"श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्। मीमांसादर्शनम्" (३।३।१४) वचनगत विरोध समाधान हेतु मीमांसा सूत्रकार का मत है—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या के समवाय स्थल में क्रमशः पर पर प्रमाण की दुर्बलता है। श्रुति लिङ्ग के मध्य में लिङ्ग दुर्बल, लिङ्ग वाक्य के मध्य में वाक्य दुर्बल है, इत्यादि। उक्त नियमानुसार श्रुति का सर्वाधिक प्रामाण्य है। श्रुत्यादि का निरुक्ति इस प्रकार है—

"श्रुतिश्च शब्द, क्षमता च लिङ्गम्। वाक्यं पदान्येव तु संहतानि॥
सा प्रक्रिया यत् करणं साकाङ्क्षम्। स्थानं क्रमो योगबलं समाख्या॥

श्रुति—शब्द, लिङ्ग—क्षमता, वाक्य—पदसंहति, प्रकरण—साकाङ्क्षकरण, स्थान—क्रम, समाख्या—योगबल। निरपेक्षोरवः—श्रुतिः। शब्दसामर्थ्यं—लिङ्गम्। समभिव्याहारो—वाक्यम्। उभयाकाङ्क्षा—प्रकरणम्। देश—सामान्य-स्थानम्। समाख्या—यौगिकशब्दः। निजार्थप्रतिपादन में पदान्तरापेक्षा रहित शब्द ही श्रुति है। शब्दार्थ प्रकाशन को लिङ्ग कहते हैं। साध्यत्वादि द्वितीयादि का अभाव होने से तात्पर्य्य लब्ध शेष-शेषि भाव बोधक पदद्वय का सहोच्चारण का नाम वाक्य है।

"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्यत्र। अथ श्रुतिसामर्थ्यरूपं लिङ्गञ्च (भा० १०।१३।४६)—

"तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्।
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः॥"१२८॥

इत्यादौ ज्ञेयम्। किन्त्वन्यत्र—"वर्हिदेवसदनं दामि" इत्यस्य मन्त्ररूपस्य लिङ्गस्य बलात् श्रुतिः कल्प्यते। अत्र तु "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति साक्षादेव तद्रूपोऽस्तीति विशेषोऽप्यस्ति। अथाकाङ्क्षायोग्यतासत्तिमदनेकपदविशिष्टैकार्थ्यप्रतिपादकशब्दरूपं वाक्यञ्च

सर्वसम्वादिनी

पार्ष्णि-पर्यन्तयोः समदेशो 'मध्य'स्तत्र 'ध्वजा' ध्वजः। 'त्र्यङ्गुलमानतः' पादाग्रे त्र्यङ्गुल-प्रमाणदेशं

अङ्गाङ्गित्व में अभिमत परस्पराकाङ्क्षा का नाम प्रकरण है। देश का समानत्व को स्थान, एवं यौगिक शब्द को समाख्या कहते हैं।

उक्त षड् विध श्रुत्यादि प्रमाण के द्वारा उक्त तात्पर्य्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं। श्रुति निरपेक्षरवा भा० १।३।२८ में वर्णित है—"श्रीकृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" स्वयं भगवत्ता शब्दोपात्त ही है। श्रुति सामर्थ्य रूप लिङ्ग का उदाहरण भा० १०।१३।४६ में है—"तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्।
व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः॥

टीका—अन्यदप्याश्चर्य्यमाह—तावदिति। वत्सपालाः, वत्साः पालाश्च सर्वे यष्टिविषाणादयः।

ब्रह्मा के देखते देखते ही वत्सपाल एवं वत्सगण प्रभृति पीतवसन एवं मेघश्यामल कान्ति से सुशोभित हो गये।" इसमें जानना आवश्यक है कि—उक्त श्लोक में श्रुति सामर्थ्यरूप लिङ्ग का उदाहरण सुस्पष्ट है, एवं श्रुति का ही प्राबल्य है। किन्तु अन्यत्र अर्थात् "वर्हिदेवसदनं दामि" मन्त्र प्रयोग के बल से मूल प्रेरणात्मक श्रुति वाक्य का अनुसन्धान आवश्यक है। कारण उक्त मन्त्र वाक्य का स्वतन्त्र रूप से विनियोग नहीं है, श्रुति का ही साक्षात् विनियोग होता है। अर्थात् श्रुति का मुख्यत्व है, एवं मन्त्र का गौणत्व। सुतरां गौण प्रयोग के स्थल में मुख्य का अनुसन्धान अन्वय के निमित्त आवश्यक है। मुख्य के विना, गौण का अवस्थान असम्भव है। विचार्य्य स्थल में "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" साक्षात् श्रुति ही बलवती है। कारण, श्रुति साक्षात् विनियोग विधान करती है, अतः वह शीघ्र प्रवृत्त है। लिङ्ग—श्रुति कल्पना के द्वारा विनियोग विधान करता है, अतः वह विलम्बित प्रवृत्त है। कारण, जिस शब्द श्रवण मात्र से ही (विभक्ति प्रभृति का श्रवण मात्र से ही) सम्बन्ध की प्रतीति होती है, उसको श्रुति कहते हैं। लिङ्ग शब्द से सामर्थ्य का बोध होता है। सुतरां मन्त्रगत पदसमूह, प्रथमतः निज निज अर्थ प्रतिपादन करते हैं। अनन्तर उससे (अर्थबोध से) सामर्थ्य का अनुमान होता है। अनन्तर अनुमित सामर्थ्य की विद्यमानता से तद्द्वारा आकाङ्क्षाधीन श्रुति की कल्पना होती है, यथा 'मन्त्रेण इन्द्रमुपतिष्ठेत्' लिङ्ग के द्वारा विहित होने के पहले ही प्रत्यक्ष श्रुति के द्वारा विनियोग साधित होता है। अतः निर्विषय लिङ्ग, श्रुति के द्वारा बाधित होता है। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" साक्षात् श्रुति ही अर्थ प्रतिपादन में स्वतन्त्र है।

श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान अर्थात् क्रम एवं समाख्या इन सबके समवाय से अर्थात् एक ही विषय में एकाधिक का समावेश होने से 'पारदौर्बल्यम्' परवर्त्ती की दुर्बलता होती है। अर्थात् परवर्त्ती विषय पूर्वापेक्षा दुर्बल होने से पूर्व के द्वारा बाधित होता है। 'अर्थविप्रकर्षात्' कारण अर्थ का अर्थात् अङ्गाङ्गित्व निर्णयरूप विनियोग का विप्रकर्ष होता है, अर्थात् विलम्बित भाव से बोधकता होती है। यह सिद्धान्त है।

(भा० १।७।७) "यस्यां वै श्रूयमाणायाम्" इत्यादिरूपमेव। यथा खलु "इमामगृभ्णन्-रशनामृतस्य" इति मन्त्रस्य रशनामात्रादाने विनियोगप्राप्तौ "इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य" इति, "अश्वाभिधानीमादत्ते" इति ब्राह्मणवाक्यादश्वरशनादाने विनियोगः प्रतीयते, तथात्रापि (भा० १।७।४) "भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले। अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्" इत्यत्र पूर्णपुरुषत्वेनोक्तस्य कृष्णत्वं (भा० १।७।७) "यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे" इति वाक्याद्व्यज्यत इति, तथारभ्याधीतरूपं प्रकरणञ्चात्र (भा० १।१।१२) "सूत जानासि भद्रं ते" इत्यादिरूपम्। यथा "दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत" इत्यत्र तृतीयया श्रुत्या दर्शपौर्णमासयोः प्रकरणत्वेन प्राप्ते करणस्य चेति-कर्त्तव्यताकाङ्क्षायां "समिधो यजति" इत्यादिना योजना, तथा "दर्शपौर्णमासाभ्याम्" इत्यादेर्वाक्यस्य फलविधुरस्य फलाकाङ्क्षायां "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इति तदारभ्य प्रकरणार्थारब्धेन स्वर्गकाम इत्यनेन योजना। तथा,—"सूत जानासि भद्रं ते" इत्यत्र श्रवणारम्भ एव श्रीकृष्णस्यावतारे हेतुं विज्ञातुमिच्छद्भिः शौनकादिभिस्तत्र परमाद्भुततां व्यज्य श्रीकृष्णस्यैव सर्वत्र ज्ञेयत्वेन योजना गम्येति तस्यैव

सर्वसम्वादिनी

परित्यज्येत्यर्थः ;—पद्मस्याधो ध्वजं धत्ते सर्वानर्थ-जयध्वजम्' इति स्कान्द-संवादात्। 'यत्र कुत्रचित्' परित

श्रुति लिङ्ग में श्रुति का प्राबल्य उक्त हेतु से जिस प्रकार होता है, उस प्रकार लिङ्ग वाक्य के मध्य में लिङ्ग का प्राधान्य है। कारण, आकाङ्क्षा योग्यता आसत्तियुक्त अनेक पदविशिष्ट एकार्थ प्रतिपादक शब्द को वाक्य कहते हैं। भा० १।७।७ में उक्त है—"यस्यां वै श्रूयमाणायां" इत्यादि वाक्य लक्षणाक्रान्त है।

उक्त रीति से "इमामगृभ्णन्रशनामृतस्य" इस विधि से रशना ग्रहण मात्र का बोध होता है। वह रशना द्विविध है, अर्थात् अश्वरशना गर्दभरशना। किन्तु अदृष्ट के निमित्त गर्दभरशना उपयोगी नहीं है। अश्वरशना का ही विनियोग प्रस्तुत कर्म में विधेय है। "इमामगृभ्णन्रशनामृतस्य" वाक्य से "अश्वाभिधानीमादत्ते" इस प्रकार ब्राह्मण वाक्य से अश्वरशना ग्रहण में ही विनियोग दृष्ट होता है। उस रीति से ही भा० १।७।४-स्थ 'भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले, अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्" वाक्य से पूर्णपुरुष शब्द से भा० १।७।७ के वर्णन से "यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे" इस वाक्य से कृष्ण का ही पूर्णपुरुषत्व स्थापित है। उभयाकाङ्क्षा प्रकरण भी आरम्भ वाक्य से सुप्रसिद्ध है। भा० १।१।१२ में उक्त है—'सूत जानासि द ते"। उदाहरण स्थल में "दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत" यहाँ दर्शपौर्णमासाभ्यां तृतीया श्रुति के द्वारा दर्शपौर्णमास याग ही प्रकरण प्राप्त है। करण की इति कर्त्तव्यता की आकाङ्क्षा है। "समिधो यजति" इसके सहित वाक्य योजना करना आवश्यक है। उस प्रकार ही 'दर्शपौर्णमासाभ्याम्' वाक्य में फल वर्णन नहीं है। फल श्रवण के विना पुरुष प्रवृत्ति नहीं होती है। उक्त वाक्य में फलाकाङ्क्षा विद्यमान है, उसकी पूर्त्ति हेतु "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" श्रुति का अनुसन्धान होता है। इस प्रकार प्रकरणप्राप्त वाक्यसमूह के सहित "स्वर्गकाम" पद का अन्वय करना आवश्यक होगा। दार्ष्टान्तिक प्रकरण में भी "सूत जानासि भद्रं ते" प्रश्न वचन से आरम्भ कर श्रीकृष्णावतार के प्रति हेतु की जिज्ञासा श्रीशौनकादि की हुई। समस्त भगवदवतारों में श्रीकृष्णावतार का परमाद्भुतत्व होने के कारण समस्त

स्वयंभगवत्त्वं व्यक्तम् । तच्च दर्शितं सर्वश्रोतृवक्तॄणां तदैकमत्यप्रकरणेनेति । अथ क्रमवर्त्तिनां पदार्थानां क्रमवर्त्तिभिः पदार्थैर्यथाक्रमसम्बन्धरूपं स्थानञ्चात्र "सूत जानासि भद्रं ते" इत्यादावेव ज्ञेयम् । यथा दर्शपौर्णमासप्रकरणे कानिचित् कर्माणि उपांशुयागप्रभृतीनि "दविरसि" इत्यादयः केचन मन्त्राश्च समाम्नायन्ते । तत्र यस्य क्रमेण यो मन्त्रः समाम्नातस्तेनैव तस्य च सम्बन्धस्तथा (भा० १।२।५)—"मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम् । यत् कृतः कृष्णसंप्रश्नः" इत्यत्र 'कृष्ण'-शब्दस्य प्रथमप्रश्नोत्तरगतत्वेन पठितस्य देवकीजातवाचकत्वमेव लभ्यते । अथ नामादिना तुल्यताख्यानरूपा समाख्या च (भा० १।३।१) "जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्" इत्यस्य (भा० १।३।२८) "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्यत्र पर्य्यवसानमित्येवं ज्ञेयम् । यथाध्वरसंज्ञानां मन्त्राणाम् "अग्निर्यज्ञं नयतु प्रजानन्" इत्यादीनाम् 'आध्वर्य्यसंज्ञके कर्मणि विनियोगः' इति । किञ्च, एतस्यामष्टादशसाहस्र्यां

सर्वसम्वादिनी

इत्यर्थः । 'आदि'मङ्गुष्ठ-तर्जनीसन्धिमारभ्य मध्यमा-मध्यं याव'त्तावदूर्द्ध्वरेखा' व्यवस्थिता 'पाद्म-संज्ञके

ज्ञेय पदार्थ के सहित श्रीकृष्ण शब्द ही अन्वित है । अतएव स्वयं भगवत्ता एकमात्र श्रीकृष्ण की है । इसका प्रकाश उक्त प्रकरणों से हुआ है ।

श्रीमद्भागवत के समस्त श्रोतृवक्तृगण के प्रकरण में श्रीकृष्ण कथा ही है । यथा—श्रीविदुर-मैत्रेय, श्रीपरीक्षित्-श्रीशुक, श्रीव्यास-श्रीनारद, श्रीब्रह्मा-श्रीकृष्ण, एवं श्रीशौनकादि-श्रीसूत, इन समस्त प्रकरणों में श्रीमद्भागवत-श्रोता वक्ता का अभिप्राय एक प्रकार होने से ही एकमात्र श्रीकृष्ण में ही उन सबों का तात्पर्य्य सिद्ध होता है ।

अनन्तर क्रमवर्त्ति पदार्थों का क्रमवर्त्ति पदार्थों के सहित सम्बन्ध होना ही मीमांसोक्त स्थान है । "स्थानं—क्रमः" उसका समन्वय—"सूत जानासि भद्रं ते" इत्यादि प्रकरण में सुस्पष्ट है । जिस प्रकार दर्शपौर्णमास याग प्रकरण में कतिपय उपांशु याग प्रभृति का वर्णन है । "दविरसि" प्रभृति मन्त्र का वर्णन उन उन पृथक् पृथक् याग के निमित्त है । उसमें जिस क्रम में जिस मन्त्र का कथन हुआ है, उस क्रम के सहित ही, उक्त मन्त्रसमूह का विनियोग होगा, अन्यत्र नहीं । इस प्रकार प्रस्तुत स्थल में क्रमप्राप्त मूलतः श्रीकृष्ण का सम्बन्ध हुआ है, अतएव उक्त क्रम से श्रीकृष्ण का सम्बन्ध श्रीमद्भागवतस्थ प्रकरण समूह में है । भा० १।२।५ में वर्णित—"मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम् ।
यत् कृतः कृष्णसंप्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति ।।" यहाँ सर्वादि प्रश्नोत्तर क्रम से श्रीकृष्ण शब्द का ही उल्लेख हुआ है । वह 'कृष्ण' रूढ़ि रूप से देवकी जात बोधकत्व ही है, अपर नहीं । अनन्तर योगबलरूप समाख्या का समन्वय भी उन श्रीकृष्ण शब्द में ही है । नामादि के द्वारा तुल्यताख्यान रूपा समाख्या का पर्य्यवसान भा० १।३।१ में वर्णित "जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्" वाक्य का पर्य्यवसान, भा० १।३।२८ में उक्त "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" "पुंसः" शब्द में होता है । जिस प्रकार अध्वर संज्ञ मन्त्रसमूह का विनियोग – ('अग्निर्यज्ञं नयतु प्रजानन्' इत्यादि का) आध्वर्य्य संज्ञक कर्म में ही होता है । इस प्रकार ही 'जगृहे' वाक्यस्थ 'पुरुष' शब्द का विनियोग 'एते चांशकलाः पुंसः' वाक्यस्थ पुरुष शब्द का सहोदर 'पुंसः' शब्द के सहित ही है ।

संहितायां श्रीकृष्णस्यैवाभ्यासबाहुल्यं दृश्यते। तत्र प्रथमदशमैकादशेष्वतिविस्तरेणैव। द्वितीये श्रीब्रह्मनारदसंवादे; तृतीये श्रीविदुरोद्धव-संवादे; चतुर्थे (भा० ४।१।५७) "ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ" इत्यत्र, (भा० ४।१७।६) "यच्चान्यदपि कृष्णस्य" इत्यादौ च; पञ्चमे (भा० ५।६।१८) "राजन् पतिर्गुरुरलम्" इत्यादौ; षष्ठे (भा० ६।८।२०) "मां केशवो गदया प्रातरव्याद्,-गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः" इत्यत्र; सप्तमे श्रीनारदयुधिष्ठिर-संवादे; अष्टमे तन्महिमविशेषबीजारोपरूपे कालनेमिबधे तादृशश्रीमदजितद्वारापि तस्य मुक्तिर्नाभवत्, किन्तु पुनः कंसत्वे तद्द्वारैवेति तन्महिमविशेषकथनप्रथमाङ्गत्वात्; नवमे सर्वान्ते श्रीद्वादशे च (भा० १२।११।२५) "श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्,-राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य"

सर्वसम्वादिनी

पुराणे 'कथिते'त्यर्थः। 'अष्टाङ्गुलैर्मानं तदि'ति मध्यमाङ्गुलमानं परित्यज्येत्यर्थः। तावद्विस्तारत्वेन

और भी दृष्ट होता है—अष्टादशसहस्र श्लोक समन्वित पारमहंस्य-संहितात्मक श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण का ही अभ्यास बाहुल्य है। पुनः पुनः कथनं अभ्यासः। तन्मध्यमें श्रीमद्भागवत के प्रथम, दशम, एकादश में अति विस्तृत रूप से श्रीकृष्ण का वर्णन है। द्वितीय स्कन्धस्थ श्रीब्रह्म-नारद संवाद में श्रीकृष्ण प्रसङ्ग है।

तृतीय स्कन्धस्थ विदुर-उद्धव संवाद में श्रीकृष्ण प्रसङ्ग ही है। चतुर्थ स्कन्धस्थ ४।१।५७ में "ताविमौ वै भगवतो हरेरंश विहागतौ" (भा० ४।१७।६) "यच्चान्यदपि कृष्णस्य" इत्यादि में श्रीकृष्ण चरित्र का वर्णन है। पञ्चम स्कन्ध के भा० ५।६।१८ में—

"राजन्! पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग! भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्॥"

हे राजन्! भगवान् मुकुन्द, आपसबका एवं यादवों का पालक, उपदेष्टा, उपास्य, सुहृद्, नियन्ता, एवं दौत्यादि का कार्य्य सम्पादनकारी हैं। इस प्रकार सौभाग्य लाभ किसी का नहीं हुआ है। मुकुन्द, भजनपरायण व्यक्तिगण को मुक्ति प्रदान करते हैं, किन्तु कदापि प्रेमभक्ति प्रदान नहीं करते हैं। कृष्ण प्रसङ्ग का वर्णन ही हुआ है।

षष्ठस्कन्धस्थ ६।८।२० में—"मां केशवो गदया प्रातरव्याद् गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः" प्रातःकाल में गदा के द्वारा केशव, प्रत्युषकाल में वंशीधारी गोविन्द, मेरी रक्षा करें। दिवस का प्रथम षष्ठांश पाँचदण्ड प्रातःकाल, द्वितीय षष्ठांश छदण्ड से दशदण्ड पर्य्यन्त समय को आसङ्गव कहते हैं। सुस्पष्ट कृष्णचरित्र है।

सप्तम स्कन्धस्थ श्रीनारद-युधिष्ठिर संवाद में श्रीकृष्ण चरित्र वर्णित है। अष्टम स्कन्ध में श्रीकृष्ण की महिमा का विशेष बीजारोपण अवसर में अर्थात् हतारिगतिदायक गुण प्रदर्शन के निमित्त (अन्य भगवत् स्वरूप कर्त्तृक निहत असुर की स्वर्गादि योगरूप उर्द्ध्व गति होती है, मुक्ति नहीं होती है। श्रीकृष्ण के द्वारा निहत होने से असुर मुक्त होता है। श्रीअजित के द्वारा निहत कालनेमि का मोक्ष नहीं हुआ, किन्तु पुनर्बार कंस रूप में उत्पन्न होकर श्रीकृष्ण हस्त से निहत होकर उसकी मुक्ति हुई। निजारि मोक्ष दान रूप महिमा विशेष सूचनरूप श्रीकृष्ण चरित्र का वर्णन हुआ है। नवम स्कन्ध के सर्वान्त में श्रीकृष्ण चरित्र वर्णन है। एवं द्वादश स्कन्धस्थ १२।११।२६ में श्रीकृष्ण चरित्र वर्णित है—

"श्रीकृष्णकृष्णसख-वृष्ण्यृषभावनीध्रुग्राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य्य।
गोविन्दगोपवनिताव्रजभृत्यगीततीर्थश्रव श्रवणमङ्गल पाहि भृत्यान्॥

इत्यादौ । श्रीभागवतानुक्रमणिकायाञ्चोत्तरोत्तरत्र सर्वतोऽपि भूयस्त्वेन गीयते । तथा च यस्यैवाभ्यासस्तदेव शास्त्रे प्रधानमिति (ब्र० सू० १।१।१२) "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इत्यत्र परैरपि समर्थितत्वादिहापि श्रीकृष्ण एव प्रधानं भवेदिति तस्यैव मूलभगवत्त्वं सिध्यति ।

सर्वसम्वादिनी

व्याख्यायां स्थानासमावेशः । अतएव पूर्वमपि तथा व्याख्यातम् । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । 'इन्द्रचापत्रिकोणार्द्ध-

हे श्रीकृष्ण ! हे अर्जुनसख ! हे वृष्णिश्रेष्ठ ! आपने पृथिवी के अमङ्गलस्वरूप राजन्यवृन्द को विनष्ट किया है । हे अक्षीण वीर्य्य ! हे गोविन्द ! गोप, गोपी एवं अन्य व्रजजनगण तथा नारदादि भक्तगण, आपका यशोगान करते हैं । आपके नाम-गुण श्रवण से ही मङ्गल होता है । निज भृत्यवर्ग हम सबकी रक्षा आप करें ।

द्वादश स्कन्ध के द्वादश अध्याय में श्रीमद्भागवत की अनुक्रमणिका वर्णित है । वहाँ संक्षेप से श्रीकृष्ण चरित्र ही वर्णित है ।

"यत्तावतीर्णो भगवान् कृष्णाख्यो जगदीश्वरः । वसुदेवगृहे जन्म तस्य वृद्धिश्च गोकुले ॥
तस्य कर्माण्युदाराणि कीर्त्तितान्यसुरद्विषः । पूतनासु पयः पानं शकटोच्चाटनं शिशोः ॥
तृणावर्त्तस्य निष्पेष स्तथैव बकवत्सयोः । अघासुरबधो यात्रा वत्सपालावगूहनम् ।
धेनुकस्य सहभ्रातुः प्रलम्बस्य संक्षयः ॥
गोपानाञ्च परित्राणं दावाग्नेः परिसर्पतः । दमनं कालियस्याहेर्महाहेर्नन्दमोक्षणम् ॥
व्रतचर्य्या तु कन्यानां यत्र तुष्टोऽच्युतो व्रतैः । प्रसादो यज्ञपत्नीभ्यो विप्राणाञ्चानुतापनम् ॥
गोवर्द्धनोद्धारणञ्च शक्रस्य सुरभेरथ । यज्ञाभिषेकं कृष्णस्य स्त्रीभिः क्रीड़ा च रात्रिषु ॥
शङ्खचूड़स्य दुर्बुद्धेर्बधोऽरिष्टस्य केशिनः । अक्रूरागमनं पश्चात् प्रस्थानं रामकृष्णयोः ॥
व्रजस्त्रीणां विलापश्च मथुरावलोकनं ततः । गजमुष्टिकचानुरकंसादीनां तथा बधः ॥
मृतस्यानयनं सूनोः पुनः सान्दीपनेर्गुरोः । मथुरायां निवसतो यदुचक्रस्य यत् प्रियम् ॥
कृतमुद्धवरामाभ्यां युतेन हरिणा द्विजाः । सन्धासन्धसमानीत सैन्यस्य बहुशो बधः ॥
घातनं जवनेन्द्रस्य कुशस्थल्या निवेशनम् । आदानं पारिजातस्य सुधर्मायाः सुरालयात् ॥
रुक्मिण्या हरणं युद्धे प्रमथ्य द्विषतो हरेः । हरस्य जृम्भणं युद्धे वाणस्य भुजकृन्तनम् ।
प्राग्ज्योतिषपतिं हत्वा कन्यानां हरणञ्च यत् । चैद्यपौण्ड्रकशाल्यानां दन्तवक्रस्य दुर्म्मतेः ॥
शम्बरो द्विविदः पीठो मुरः पञ्चजनादयः । माहात्म्यञ्च बधस्तेषां वाराणस्याश्च दाहनम् ॥
भारावतरणं भूमेर्निमित्तीकृत्य पाण्डवान् । विप्रशापापदेशेन संहार स्वकुलस्य च ॥
उद्धवस्य च संवादो वसुदेवस्य चाद्भुतः । यत्रात्मविद्या ह्यखिला प्रोक्ता कर्मविनिर्णयः ।
ततो मर्त्यपरित्यागः आत्मयोगानुभावतः ॥" (भा० १२।१२।२६-४३)

प्रश्न हो सकता है कि—अभ्यास बाहुल्य से क्या होता है ? उत्तर में कहते हैं—शास्त्र में जिस विषय का अभ्यास होता है । अर्थात् बारम्बार कथन होता है, उसको ही उस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय जानना होगा । केवल श्रीमद्भागवतीय सिद्धान्त निर्णय में उक्त रीति का अवलम्बन हुआ है, यह नहीं । अपितु वेदान्त दर्शन का "आनन्दमयोऽभ्यासात्" (१।१।१२) सूत्र की व्याख्या में श्रीशङ्कराचार्य्य प्रभृतियों ने भी उक्त रीति का अवलम्बन कर कहा है—"शास्त्र में जिसका अभ्यास, पुनः पुनः कथन दृष्ट होता है, वह ही शास्त्र का मुख्य वाच्य है ।"

अतएव श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण सम्बन्धीय प्रसङ्ग का बाहुल्यवशतः श्रीकृष्ण ही श्रीमद्भागवत

यत्प्रतिपादकत्वेनास्य शास्त्रस्य भागवतमित्याख्या। अपि च न केवलं बहुत्र सूचनमात्र-मत्राभ्यासनम्, अपि त्वर्द्धादप्यधिको ग्रन्थस्तत्प्रस्तावको दृश्यते, तत्रापि सर्वाश्चर्य्यतया। तस्मात् साधूक्तम् (भा० १।३।२८)—"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति। तदेवमस्य वचनराजस्य सेनासंग्रहो निरूपितः। तस्य प्रतिनिधिरूपाणि वाक्यान्तराण्यपि दृश्यन्ते; यथा (भा० ९।२४।५५)—

(७४) "अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल" इति।

सर्वसम्वादिनी

चन्द्रकाणि' क्रमादधोऽधोभागस्थानि। अन्यत्रेति श्रीकृष्णादन्यत्रेत्यर्थः। 'विन्दु'रम्बरम्; 'आदौ' चरणस्यादि-

शास्त्र का मुख्य वाच्य हैं, एवं उससे श्रीकृष्ण की ही स्वयं भगवत्ता सिद्ध होती है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का ही प्रतिपादन होने के कारण ही इस ग्रन्थ का नामकरण भी श्रीमद्भागवत हुआ है।

"आनन्दमयः" सूत्र का सारार्थ इस प्रकार है—श्रुति में जिस प्रकार आनन्दमय पुरुष की वार्त्ता है, वह जीव है, अथवा ब्रह्म है? उत्तर—आनन्दमय पदवाच्य ब्रह्म हैं, जीव नहीं। कारण, आनन्दमय षब्द के द्वारा ब्रह्म को ही बारम्बार कहा गया है। श्रीशङ्कराचार्य्य कृत भाष्य भी निम्नोक्त रूप है—

"परमानन्दमयो भवितुमर्हति, कुतोऽभ्यासात्। परस्मिन्नेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्योऽभ्यास्यते। आनन्दमयं प्रस्तुत्य "रसो वै सः" इति तस्यैव रसत्वमुच्यते। "रसो ह्येवायं लब्धानन्दी भवतीति", "को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्" एष ह्येवानन्दयाति, "सैषानन्दस्य मीमांसा भवति" 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" इति 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्" इति च। श्रुत्यन्तरे च "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति ब्रह्मण्येव आनन्द शब्दो दृष्टः। एवमानन्दशब्दस्य बहुकृत्यो ब्रह्मण्यभ्यासात् आनन्दमय आत्मा ब्रह्मेति गम्यते।"

उक्त नियमावलम्बन से ही श्रीमद्भागवत शास्त्र विचार के द्वारा श्रीकृष्ण में ही सर्वमूल भगवत्ता सिद्ध होती है, एवं शास्त्र की भागवत आख्या भी सार्थक होती है।

विशेषतः श्रीमद्भागवत के अनेक स्थलों में श्रीकृष्ण प्रसङ्ग की अवतारणा निबन्धन केवल अभ्यास का ही प्रदर्शन हुआ है, यह नहीं। किन्तु, अर्द्ध से भी अधिक संख्यक श्लोकात्मक ग्रन्थ में श्रीकृष्ण प्रसङ्ग ही दृष्ट होता है। उसमें भी श्रीकृष्ण प्रसङ्ग, सर्वापेक्षा अतिशय विस्मयकर रूप से वर्णित है। अतएव उत्तम रूप से वर्णित है। उत्तम रूप से यथार्थ ही कहा गया है। "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"। एतत् पर्य्यन्त उक्त वचन से राजा का सैन्यसंग्रह निरूपित हुआ। अधुना तदीय प्रतिनिधि रूप वाक्यसमूह का प्रदर्शन होगा। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' वाक्य का प्रतिनिधि वाक्य, भा० ९।२४।५५ में "अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल।" श्रीदेवकी वसुदेव के अष्टम पुत्र स्वयं श्रीहरि ही हैं। प्रसिद्ध भी है।

क्रमसन्दर्भः। अष्टमस्त्विति। हरति—आकर्षति, वशीकरोति सर्वमिति हरिः। पूर्णो भगवान्। स एव स्वयमासीत्, नत्वाविर्भावान्तरेण। किलेति—(भा० १।३।२८) "एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति प्रसिद्धं निश्चिनोति॥

जो सबको वशीभूत करते हैं, वह ही स्वयं श्रीहरि हैं, वह ही स्वयं भगवान् हैं। आप स्वयं ही अवतीर्ण हैं। आविर्भावान्तर के द्वारा नहीं। किल शब्द—"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" श्रीसूतोक्ति से जिस प्रकार श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता निश्चित है, उस प्रकार ही प्रस्तुत श्लोक से भी देवकी पुत्र की स्वयं भगवत्ता प्रतिपादित है।

'किल'-शब्देन कृष्णस्त्विति प्रसिद्धिः सूच्यते। ततो हरिरत्र भगवानेव; तथोक्तञ्च (भा० १०।१।२३—)"वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः" इति च ॥ श्रीशुकः ॥

७५। यथा वा (भा० १०।१४।३२)—

(७५) "अहो भाग्यमहो भाग्यम्" इत्यादि।

ब्रह्मत्वेनैव बृहत्तमत्वे लब्धेऽपि पूर्णमित्यधिकं विशेषणमत्रोपजीव्यते ॥ ब्रह्मा श्रीभगवन्तम् ॥

सर्वसम्वादिनी

देशे तदङ्गुलिसमीपे 'बिन्दुः'; 'अन्ते' पार्ष्णिदेशे 'मत्स्यचिह्नम्'। 'षोड़शं चिह्न'मुभयोरपि ज्ञेयम्;—

उक्त श्लोकस्थ किल शब्द के द्वारा स्वयं श्रीकृष्ण का आविर्भाव ही सूचित हुआ है, अन्य नहीं है। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" वाक्य का स्मारक भी किल शब्द है। सुतरां प्रस्तुत स्थलस्थ स्वयं हरि शब्द का अर्थ स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही है। उक्त श्लोक में जिस प्रकार श्रीवसुदेवनन्दन को स्वयं हरि शब्द से उल्लेख किया गया है, उस प्रकार भा० १०।१।२३ श्लोक में उक्त है,—"वसुदेव के गृह में परमपुरुष साक्षात् भगवान् आविर्भूत होंगे" "वसुदेव गृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः"। उक्त पदद्वय के द्वारा एक ही श्रीवसुदेवनन्दन ही सूचित हुये हैं। प्रवक्ता श्रीशुक हैं।।७४।।

श्रीकृष्ण की भगवत्ता सूचक अपर वाचक का उल्लेख, भा० १०।१४।३२ में है—

"अहो भाग्यमहो भाग्यम् नन्दगोपव्रजौकसाम्। यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्मसनातनम् ॥"

क्रमसन्दर्भः। भगवन्माहात्म्यमपि न तादृशता-योग्यमित्यस्त्यतिशयान्तरमपीति स्मरन्निव पुनरतीव सचमत्कारमाह—अहो, इति। अहो—आश्चर्य्ये, भाग्यमनिर्वचनीयस्तत्प्रसादः वीप्सा—तदतिशयिता प्रागल्भ्येन पुनः पुनश्चमत्कारावेशात्। केषाम्? तत्राह—नन्दगोपव्रजौकोमात्राणां, पशुपक्षीपर्य्यन्तानाम्। किं तत्? येषां परमानन्दं मित्रं स्वाभाविकबन्धुजनोचितप्रेमकर्त्तृ, क्लीवत्वं छान्दसम्। तेन च (बृ० ३।९।२८) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतिवाक्यम्, तत् सूचयति, यत्र क्वाप्यानन्द एव खलु सर्वे तादृशप्रेमकर्त्तारो दृश्यन्ते, नत्वानन्दः। कुत्रचिदेषु त्वानन्द एव तत् कर्त्ता, तत्र च श्रुतिमात्रवेद्यत्वेन परमः-अखण्डामृततारतम्यवत् स्वरूपत एवालौकिकमाधुर्य्यः। न चैतावदेव। किं तर्हि? पूर्णमप्यमृतम्, सौरभ्यादिभिरेव स्वरूपगुणलीलैश्वर्य्यं माधुरीभिः सर्वाभिरेवामर्य्यादमेव तत्। एतदपि कुत्रापि न दृष्टं श्रुतञ्च, न च तादृशं मित्रमित्यर्थः। पुनः कथम्भूतम्? अपि ब्रह्म-आनन्दानन्त्येन सर्वतो बृहदपि, आनन्दस्य तादृश बृहत्त्वं तादृश-बृहतोऽप्यन्येन मित्रत्वं क्व दृष्टमिति भावः। अन्यदप्याश्चर्य-मित्याह—सनातनम्; तत्रादृशमपि नित्यम्, कस्यचित् क्षुद्रानन्दोऽपि न नित्यो दृश्यते। एषां तु तादृशोऽपीति ॥"

परमानन्द पूर्णब्रह्म जिनके सनातन मित्र हैं, उन नन्दगोपस्थ ब्रजवासियों का अनिर्वचनीय सौभाग्य है। ब्रह्म शब्द के द्वारा बृहत्तमत्व, अर्थात् श्रीकृष्ण की विभुता प्राप्ति होने से भी 'पूर्ण' विशेषण प्रयोग के द्वारा श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता सूचित हुई है।

क्रमसन्दर्भः। आपका माहात्म्य भी सर्वातिशय है, इसका स्मरण करते हुये आश्चर्य्यचकित होकर कहा,—अहो, अत्यधिक आश्चर्य्य में अहो का प्रयोग होता है। भाग्य—अर्थात् आपका प्रसाद, अनिर्वचनीय है। वीप्सा—पुनः पुनः कथन, प्रसाद की अतिशयता को सूचित करने के निमित्त है। प्रगल्भता के द्वारा पुनः पुनः चमत्कारास्वादन के आवेश से ही उस प्रकार प्रयोग हुआ है।

उस प्रकार अनिर्वचनीय भाग्य किस का है? कहते हैं—नन्द व्रज के निवासीमात्रों का, अर्थात् पशुपक्षी पर्य्यन्त निखिल प्राणियों का। वह भाग्य क्या है? उत्तर—जिनके परमानन्द मित्र श्रीकृष्ण हैं।

७६। अतएव (भा० ३।२।२१)—

(७६) "स्वयन्त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः, स्वाराज्य-लक्ष्म्याप्तसमस्तकामः।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः, किरीटकोटीड़ितपादपीठः॥"१२६॥

न साम्यातिशयौ यस्य; यमपेक्ष्यान्यस्य साम्यमतिशयश्च नास्तीत्यर्थः। तत्र हेतवः—त्र्यधीशस्त्रिषु सङ्कर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्धेष्वप्यधीशः, सर्वांशित्वात्। अतएव स्वाराज्यलक्ष्म्या सर्वाधिक-परमानन्दरूपसम्पत्त्यैव प्राप्तसमस्तभोगः, बलिं तदिच्छानुसरणरूपमर्हणं हरद्भिः समर्पयद्भिः, चिरलोकपालैर्भगवद्दृष्ट्यपेक्षया ब्रह्मादयस्तावदचिरलोकपालाः, अनित्यत्वात्,

सर्वसम्वादिनो

दक्षिणाद्यनियमेनोक्तत्वात्। अत्र 'दक्षिणाङ्गुष्ठाधश्चक्रं', 'वामानुष्ठाधस्तन्मुखं', 'दरश्च' स्कान्दोक्तानुसारेण।

स्वाभाविक बन्धुजनोचित प्रीति कर्त्ता हैं। छान्दस के कारण ब्रह्मलिङ्ग का प्रयोग हुआ है। उससे बृहदारण्यक की श्रुति—"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" का स्मरण होता है। आश्चर्य्य की कथा तो यह है—आनन्द के प्रति समस्त जन प्रीति करते हैं। किन्तु स्वयं आनन्द, प्रेम नहीं करता है। यहाँ तो स्वयं पूर्णानन्द ही स्वयं प्रीतिकर्त्ता है। ब्रह्म तो श्रुतिमात्र वेद्य ही हैं, कदापि अनुभूत नहीं हैं। किन्तु व्रज में परम अखण्डामृत तारतम्य की भाँति स्वरूपत ही स्वानुभूत अलौकिक माधुर्य्यपूर्ण है। एतावता ही पूर्णता नहीं है। किन्तु पूर्ण होकर भी अमृत है। अर्थात् सौरभादि के समान स्वरूप-गुण-लीला-ऐश्वर्य्य-माधुरी प्रभृति के द्वारा निःसीम मधुर है। इस प्रकार न-तो कहीं दृष्ट ही है, न-तो श्रुत ही है। न-तो उस प्रकार कहीं पर मित्र भी है?

वह मित्र किस प्रकार है? आनन्त्य वशतः जिनको ब्रह्म कहते हैं। वह भी आनन्दाधिक्य से, सब प्रकार से वृहत् होने पर भी मित्र हैं। आनन्द का उस प्रकार सर्ववृहत् होना अदृष्टचर अश्रुतचर है। उस प्रकार वृहत् होकर भी अपर के सहित मित्रभावापन्न हैं। कहाँ दृष्ट होता है? यह ही कहने का तात्पर्य्य है। अपर आश्चर्य्य यह भी है—सनातन ही मित्र हैं, ऐसा होने पर भी सामयिक नहीं, निमित्त से नहीं, अपितु नित्य है। किसी का क्षुद्रानन्द भी नित्य नहीं होता है। व्रजवासियों का तो सनातन व्यापक परमानन्द भी नित्य ही है। श्रीब्रह्मा श्रीभगवान् को कहे थे॥७५॥

अतएव श्रीकृष्ण का ही पूर्ण ब्रह्मत्व के कारण, श्रीउद्धव भी कहे थे,—श्रीकृष्ण स्वयं, साम्य एवं अतिशय रहित हैं। आप स्वयं ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वररूप ईश्वर का अधीश हैं, एवं स्वरूपस्थित भगवत्ता के द्वारा समस्त परिपूर्ण भोग प्राप्त हैं। असंख्य चिर लोकपालगण उनके निमित्त पूजोपहार लेकर निज निज किरीट कोटि के द्वारा पादपीठ को स्पर्श कर स्तव करते रहते हैं।

जिनका सम एवं अतिशय नहीं है, अर्थात् कोई उनके समान नहीं है, एवं कोई भी वस्तु जिनसे अधिक नहीं हैं, वह ही असाम्यातिशय हैं। उनका—असाम्यातिशय का कारण, आप त्र्यधीश हैं, अर्थात् सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—तीनों का अधीश्वर हैं। कारण, आप सबके अंशी हैं। एतज्जन्य ही स्वाराज्य लक्ष्मी, अर्थात् सर्वाधिक परमानन्द सम्पत्ति के द्वारा समस्त भोग प्राप्त किए हैं। मुख्य भोग आनन्द है। स्वरूपतः ही आप परमानन्द हैं। 'बलि' शब्द का अर्थ—उपहार है। सम्मान के निमित्त उपायन प्रस्तुत करना है। यहां पर प्रकृष्ट बलि प्रदान करना—श्रीकृष्ण की इच्छा का अनुसरणरूप अर्चना है। इस प्रकार बलि आहरणकारी चिरलोकपालगण, ब्रह्मादि नहीं हैं। लोक दृष्टि से वे सब चिर लोकपाल होने पर भी श्रीभगवद्दृष्टि से वे सब ही अचिर लोकपाल हैं। अर्थात् आधिकारिक हैं।

ततश्च चिरकालीनैर्लोकपालैरनन्तब्रह्माण्डान्तर्यामिपुरुषैः किरीटकोटीद्वारा ईड़ितं स्तुतं पादपीठं यस्य सः ; अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिना परमश्रेष्ठ इत्यर्थः । समस्तपाठेऽपि स

सर्वसम्वादिनी

ते हि श्रीकृष्णेऽप्यन्यत्र श्रूयेते ; यथादिवाराहे मथुरा-मण्डल-माहात्म्ये—

'यत्र कृष्णेन सञ्चीर्णं क्रीड़ितञ्च यथासुखम् । चक्राङ्कितपदा तेन स्थाने ब्रह्ममये शुभे ॥'३१॥ इति ;

अनित्य हैं। महाप्रलय में वे सब विनष्ट होते हैं। श्रीभगवान् निमेषाख्य काल ही उन सबकी परमायु है। सुतरां चिर लोकपाल शब्द से अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्य्यामी पुरुषावतार को जानना होगा। अर्थात् कारणार्णवशायी, गर्भोदकशायी, क्षीराब्धिशायी पुरुषावतार हैं। कारणार्णवशायी के प्रतिलोमकूप में ब्रह्माण्ड विराजित है। तज्जन्य आप अनन्त ब्रह्माण्ड का आश्रय हैं। गर्भोदकशायी एवं क्षीरोदकशायी भी प्रति ब्रह्माण्ड में पृथक् पृथक् रूप में अवस्थित हैं। वे सब निज निज किरीटों के अग्रभाग के द्वारा जिनके पादपीठ को स्पर्श कर स्तव करते हैं। उस प्रकार प्रभावशाली ही श्रीकृष्ण हैं। कारणार्णवशायी एवं गर्भोदकशायी को सहस्रशीर्षा पुरुष से कहते हैं। अतएव असंख्य मस्तकस्थित असंख्य किरीटों के द्वारा पादपीठ का स्पर्श कर स्तव करते रहते हैं।

वे सब पुरुष, जब स्वीय असंख्य मस्तकों के द्वारा श्रीकृष्ण को प्रणाम करते हैं, उस समय असंख्य मस्तकस्थित असंख्य किरीट एवं पादपीठ के सहित संघट्ट से जो ध्वनि उपस्थित होती है, उस उत्थित ध्वनि को पादपीठ का स्तव कहकर उत्प्रेक्षा की गई है।

पादपीठ का स्तव कथन से श्रीकृष्ण की महिमा के निकट, पुरुषावतारगणों की महिमा अति नगण्य है। अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि के द्वारा उक्तार्थ का प्रकाश कर श्रीकृष्ण की परमश्रेष्ठुता का प्रतिपादन किया है। प्रथम चरण का समासबद्ध पाठ भी दृष्ट होता है, उससे भी उक्त परमश्रेष्ठुत्व का ही प्रतिपादन होता है।

ध्वनि का एक प्रकार भेद को 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि' कहते हैं। "व्यङ्ग्यं व्यञ्जनावृत्तिभिर्बोध्यं वस्तु ध्वनिः"। (विश्वनाथचक्रवर्त्तीकृत अलङ्कारकौस्तुभ की १।१० टीका) व्यञ्जना द्वारा बोध्य वस्तु को ध्वनि कहते हैं।

आलङ्कारिकों के मत में अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना त्रिविधा वृत्ति है। शब्दोच्चारणमात्र से स्वाभाविक रूप से तत्काल जिसकी प्रतीति होती है, उस वस्तु के सम्बन्ध में शब्द की जो वृत्ति है, उसको अभिधा कहते हैं। जिस प्रकार 'गो' शब्द श्रवणमात्र से ही गलकम्बलादिविशिष्ट प्राणिविशेष का बोध होता है। यह अभिधावृत्ति है।

मुख्यार्थ की बाधा होने से यद्द्वारा वाच्य सम्बन्धविशिष्ट अन्य पदार्थ विषयिणी प्रतीति होती है, उसको लक्षणा कहते हैं। जिस प्रकार—गङ्गा में घोष का निवास है। यहाँ लक्षणावृत्ति से गङ्गा के तीर में निवास का बोध उक्त वाक्य से होता है।

अभिधा, लक्षणा, आक्षेप एवं तात्पर्य्यजन्य बोध समाप्ति के पश्चात् ध्वन्यर्थ बोध का कारणीभूत जो वृत्तिविशेष है, उसको व्यञ्जना कहते हैं। यथा—गङ्गा में घोष का निवास है। यहाँ व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा गङ्गा का शैत्य-पावनत्व का बोध ही होता है। इतःप्राक् कथित हुआ है—व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा जिस अर्थ का प्रकाश होता है, उसको ध्वनि कहते हैं। अभिधामूलक, लक्षणामूलक भेद से ध्वनि द्विविध हैं, तन्मध्य में, लक्षणामूलक ध्वनि, अविवक्षित वाच्य है।

काव्यध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यञ्चेतिद्विधामतम् । वाच्यातिशायिनिव्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम् ॥

एवार्थः । श्रीकृष्ण इति प्रकरणलब्धं विशेष्यपदम् । अत्र स्वयन्तु स्वयमेव तथा तथाविध इति, (भा० १।३।२८)—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इतिवत् स्वयं भगवत्तामेव व्यनक्ति ॥ श्रीमदुद्धवो विदुरम् ॥

७७। तदेतत् पूर्णत्वं दृष्टान्तद्वारापि दर्शितमस्ति ; यथा (भा० १०।३।८)—

(७७) "देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ।
आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥"१३०॥

सर्वसम्वादिनी

श्रीगोपालतापन्याम् (उ० ६२)—'शङ्खध्वजातपत्रैस्तु चिह्नितं च पदद्वयम्' इति ; आतपत्रमिदञ्चक्राधस्ताज्-

भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ । अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपर वाच्यश्च ॥
अर्थान्तरसंक्रमिते वाच्येऽत्यन्ततिरस्कृते । अविवक्षित-वाच्योऽपि ध्वनिर्द्वैविध्यमृच्छति ॥
(भक्तिरसामृतशेष)

अविवक्षित वाच्य ध्वनि में वाच्य दो प्रकार का है। अर्थान्तरोपसंक्रान्त वाच्य, एवं अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य। प्रथम—अजहत् स्वार्थलक्षणानिबन्धन अपरार्थ में उपक्रान्त है। द्वितीय—अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि जहत्स्वार्थलक्षणा हेतु स्व-विपरीतार्थ में संक्रान्त है। उदाहरण—

"सौभाग्यमेतदधिकं मम नाथ कृष्ण ! प्राणैर्ममातनि सुखं प्रणयेन कीर्त्तिः ।
दृष्टश्चिरादसि कृपापि तवेयमुच्चै र्न स्मर्य्यते न भवतात्मगृहस्य मार्गः ॥"

खण्डिता नायिका श्रीकृष्ण के प्रति सोल्लुण्ठ वचन का (स्तुति च्छल से निन्दा) प्रयोग कर रही है। हे नाथ ! श्रीकृष्ण ! तुम यहाँ आये हो, यह परमसौभाग्य है। विच्छेद के समय, मेरा प्राण कितना सुख प्रदान किया है ? एवं तुम्हारा प्रणय भी कितनी कीर्त्ति का विस्तार किया है ? कुछ भी हो, तुम जो मेरे दृष्टिपथ में आ गए हो, यह भी अत्यधिक कृपा की बात है। अतएव तुमको कहा नहीं जा सकता कि—तुम, अपना घर के पथ को भूल गए हो। यहाँ सौभाग्य-असौभाग्य, सुख-दुःख, कीर्त्ति-अकीर्त्ति, कृपा-अकृपा, निजगृह परगृह, इस रीति से यावतीय वाच्यार्थ—स्व विपरीतार्थ से आक्रान्त है।

भागवतीय उक्त पद्य में, स्तव का विषय वर्णन होने से भी ध्वनि के द्वारा स्तव का विपरीत चिर लोक लोकपालगण की महिमा की तुच्छता को दिखा कर श्रीकृष्ण की परमश्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है। यह ही अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का तात्पर्य्य है।

कहा जा सकता है कि—उक्त श्लोक में श्रीकृष्ण का नामोल्लेख नहीं है, अतः उक्त श्लोक के द्वारा श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता का स्थापन कैसे हो सकता है ? उत्तर, यद्यपि श्लोक में उक्त असाम्यातिशय पुरुष को श्रीकृष्ण नाम से नहीं कहा है, तथा उद्धव ने श्रीकृष्ण कथा कीर्त्तन ही किया है। तज्जन्य प्रकरण से ही 'श्रीकृष्ण' पद ही विशेष्य रूप से उक्त श्लोक में गृहीत है। असाम्यातिशय प्रभृति पद—श्रीकृष्ण के महिमा सूचक हैं। श्लोक में 'स्वयन्तु' पद विन्यास से बोध होता है कि—श्रीकृष्ण के स्वरूप में ही उक्त महिमासमूह विराजित हैं। अन्य किसी स्वरूप से वे सब सञ्चारित नहीं हुए हैं।

अतएव "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" वाक्य के समान, प्रस्तुत श्लोक में भी श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता वर्णित है। श्रीमदुद्धव श्रीविदुर को कहे थे ॥७६॥

श्रीकृष्ण का पूर्णत्व का प्रदर्शन श्रीशुक ने दृष्टान्त के द्वारा भी किया है।

"देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः । आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिवपुष्कलः ॥"

पूर्वदिक् में उदित पूर्ण चन्द्र के समान सर्वान्तर्य्यामी विष्णु देवरूपिणी देवकी में आविर्भूत हुये थे।

यथा यथावत् स्वरूपेणैवेत्यर्थः ॥ श्रीशुकः ॥

सर्वसम्वादिनी

ज्ञेयम्,—दक्षिणस्य प्राधान्यात्तत्रैव स्थान-समावेशाच्च । अङ्गुलि-परिमाणमात्र-दैर्घ्याच्चतुर्दशांशेन तद्विस्तारात्

भा० १०।३।८ श्लोकोक्त यथा शब्द का अर्थ—यथावत्, अर्थात् श्रीकृष्ण, स्वरूप में जिस प्रकार पूर्ण हैं, ठीक उस प्रकार स्वरूप में ही आविर्भूत हुये थे। एकपाद विभूति में अवतरण निबन्धन, स्वरूप का व्यतिक्रम, उनका नहीं हुआ।

देवकी-देवरूपिणी। देव—भगवान्, उनका रूप के समान ही जिनका सच्चिदानन्दरूप विग्रह है, वह देवरूपिणी हैं। उस प्रकार देवकी में श्रीकृष्णाविर्भाव से कोई दोष नहीं हुआ है। मूल श्लोक में 'सर्वगुहाशय' कहा गया है, उसका अर्थ—दुर्गम, एवं दुर्वितर्क्य हेतु श्रीभगवत् स्थान गुहा के समान निगूढ़ है। तज्जन्य उनका स्थान को गुहा कहा गया है। सर्व शब्द का अर्थ—निखिल जीवों का अन्तर, एवं श्रीवैकुण्ठादि भगवद् धाम, उक्त उभयविध गुहा में (निगूढ़ स्थान में) भगवान् शयन कर रहते हैं। अक्षुब्ध भाव से विहार करते हैं। अतः आप, सर्वगुहाशय हैं।

"पूर्णचन्द्र के समान" कहने से दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक उभय का समकालीन आविर्भाव प्रतीत होता है। कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि में श्रीकृष्ण का आविर्भाव हुआ। प्रभु—जन्मग्रहण के द्वारा मदीय वंश को अलङ्कृत किये हैं। यह मानकर आनन्दित मन से चन्द्र अष्टमी की मध्यरात्रि में षोलह कला से पूर्ण होकर उदित हुये थे। यह आश्चर्य का विषय नहीं है। सार्वकालिक नैसर्गिक शोभा का प्रकाश उस रात्रि में ही हुआ था। भा० १०।३ अध्याय में उसका भी वर्णन है। पूर्णचन्द्र के समान श्रीकृष्णचन्द्र भी गुणावतार-लीलावतार-पुरुषावतारादि सर्वांश युक्त होकर ही आविर्भूत हुये।

टीका—तमसोद्भूते—घनतमसि, निशीथे। यथा-यथावत्-ऐश्वरेणव रूपेण॥

वैष्णवतोषणी—नेदुर्दुन्दूभय इत्यादिकं कदा, इत्यपेक्षायामाह—निशीथे—अर्द्धरात्रे। कीदृशे ? उम उद्भूते तमसा उच्चैर्व्याप्ते, "भू" प्राप्तौ; भाद्रकृष्णाष्टमीत्वात्, विशेषणञ्चेदं तत् कान्तिद्वारा तमोनाशेनापीन्दूपमा योजनाय तथाप्यद्भुतोपमेयम्। देवस्य भगवतो रूपमिव रूपं सच्चिदानन्दविग्रहः, तद्वत्यामिति, तदुदराविर्भावेऽपि न कश्चिद्दोषः, इति भावः। विष्णुरूपिण्यामिति पाठोऽपि क्वचित्। सर्वगुहाशयः—दुर्गमत्वात् दुर्वितर्क्यत्वाच्च गुहेव गुहा श्रीभगवत्स्थानं, सर्वासु सर्वजीवाद्यन्तरलक्षणासु श्रीवैकुण्ठादिलक्षणासु गुहासु शेतेऽक्षुभिततया, विहरतीति। पुष्कलः,—सर्वांशपूर्णः, इत्यन्तर्यामित्वादिना हृदयादिषु वर्त्तमानैरंशैः सर्वैरेव सम्भूयावतीर्णः। अन्तर्यामिनामपि तदानीं श्रीदेवकीनन्दनत्वेनैव महत्सु स्फूर्त्तेः। तथा च श्रीभीष्मवाक्यम्—"तमिममहमजं शरीरभाजां, हृदि हृदिधिष्ठितमात्मकल्पितानाम्। प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं, समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः॥ (श्रीभागवतस्य १।९।४२) इति।

तथा च श्रीवैकुण्ठ-लोकाद्यधिष्ठातारोऽपि, ततस्ततः सम्भूयावतीर्णा इति; श्रीहरिवंशाद्युक्तेन मुकुटमाहृत्य गोमन्थे श्रीगरुडागमनादिना स्पष्टत्वादिति, एतच्च श्रीभागवतामृते विवृत्तमस्ति, न चात्र दोषः, स्वस्वरूपेणैव परमविभौ तत्रैव निजसर्ववृत्तिं प्रकाश्य तत्तेजो निगूढ़तया तेषां स्थितत्वात्। तथा चात्र दोषः। स्वस्वरूपेणैव परमविभौ तत्रैव निजसर्ववृत्तिं प्रकाश्य तत्तेजो निगूढ़तया तेषां स्थितत्वात्। तथा च श्रीमध्वाचार्य्यधृत पाद्मवचनम्—"स देवो बहुधा भूत्वा निर्गुणः पुरुषोत्तमः। एकीभूयः पुनः शेते निर्दोषो हरिरादिकृत्॥" इति। प्राच्यामिति दृष्टान्तेन सर्वत्र प्रकाशमानस्यापि श्रीदेवक्यामाविर्भावयोग्यतोक्ता। अतएव श्रीविष्णुपुराणेऽपि,—"ततोऽखिलजगत्पद्मबोधायाच्युत भानुना। देवकीपूर्वसन्ध्यायामाविर्भूतं महात्मना॥" इति। आविर्भावश्च—कंसवञ्चनाद्यर्थमष्टमे मासीति श्रीहरिवंशे "गर्भकाले त्वसम्पूर्णे अष्टमे मासि ते स्त्रियौ। देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा॥" इति। प्रवक्ता श्रीशुक हैं॥७७॥

७८। यथा च (भा० १०।२०।४४)—

(७८) "अखण्डमण्डलव्योम्नि रराजोड़ुगणैः शशी।
यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिचक्रावृतो भुवि॥"१३१॥

स्पष्टम्॥ श्रीशुकः॥

७९। तथा श्रीकृष्णप्रतिनिधिरूपत्वादस्य महापुराणस्य श्रीकृष्ण एव मुख्यं तात्पर्य्यमित्यप्याह, (भा० १।३।४३)—

(७९) "कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह।
कलौ नष्टदृषामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः॥"

सर्वसम्वादिनी

षष्ठांशेन ज्ञेयम्। अन्यत्र दैर्घ्ये चतुर्दशाङ्गुलिपरिमाणत्वेन विस्तारे षड़ङ्गुलि-परिमाणत्वेन प्रसिद्धेरिति।

अन्य दृष्टान्त भी भा० १०।२०।४४ में है—"अखण्डमण्डलव्योम्निरराजोड़ुगणैः शशी।
यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिचक्रावृतो भुवि॥"

वैष्णवतोषणी—अखण्डेति। चन्द्रस्य पूर्णिमापेक्षया श्रीकृष्णस्य च स्वयं भगवत्ताप्राकट्यापेक्षया, तत्र यद्यपि वर्षास्वपि शशिन स्तादृशस्य सोड़ुगणस्य स्वतो राजमानत्वमस्त्येव, किन्तु घनच्छन्नाया न शरदि तु तदभावात् दृश्यते, तथा श्रीयदुपतेरप्यप्राकट्य-समयानुसारेण योज्यम्। यदुपतिरित्यधोक्त्या यदुभिः सह तस्य नित्यसम्बन्धो ज्ञाप्यते। वृष्णिशब्दनिर्देशोऽत्र यदुषु तेषां प्राधान्यापेक्षया॥

शरद्वर्णन में श्रीशुकदेव की उक्ति यह है—'यादवमण्डली द्वारा वेष्टित होकर, पृथिवी में श्रीकृष्णचन्द्र जिस प्रकार शोभित थे, श्रीवृन्दावन में शरत् ऋतु का प्रवेश से तारकागण वेष्टित पूर्ण शशधर भी आकाश में उस प्रकार शोभित हो रहे थे।" प्रकट समय को लक्ष्य कर ही वर्णन हुआ है। शरत्काल में स्वभावतः घनाच्छन्न आकाश न होने से नक्षत्रावली का सुस्पष्ट दर्शन चन्द्र के सहित होता है। यदुगण के मध्य में वृष्णिगणों का प्राधान्य होने के कारण ही 'वृष्णिचक्रावृत' कहा गया है। यदुपति प्रयोग के कारण यदुगणों के सहित श्रीकृष्ण का नित्य सम्बन्ध सूचित हुआ। शुकोक्ति है॥७८॥

श्रीमद्भागवत के विभिन्न प्रकरणस्थ वाक्यों के द्वारा ही केवल श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता स्थापित हुई है, यह नहीं अपितु श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णप्रतिनिधि रूप ही है। तज्जन्य श्रीकृष्ण में ही श्रीमद्भागवत महापुराण का मुख्य तात्पर्य्य है। उसका प्रदर्शन भा० १।३।४३ के द्वारा करते हैं।

"कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह, कलौ नष्टदृषामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः।"

धर्म ज्ञानादि के सहित श्रीकृष्ण का स्वधाम गमन के पश्चात् मानवगणों की तत्त्वदृष्टि नष्ट होने पर, अधुना यह पुराणरूप सूर्य्य उदित हुआ है।

क्रमसन्दर्भः। तदिदं पुराणं, तत्तु शास्त्रान्तरतुल्यम्, किन्तु श्रीकृष्ण-प्रतिनिधिरूपमेवेत्याह—कृष्ण इति। स्वस्य कृष्णरूपस्य धाम—नित्यलीलास्थानमुपगते सति श्रीकृष्णे। तत्र च (भा० १।१।२) "धर्मप्रोज्झित-कैतवोऽत्र" इति, (भा० १।५।१२) "नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्" इति चानुसृत्य परमप्रकृष्टतया अवगते, भगवद्धर्मभगवज्ज्ञानादिभिरपि सह स्वधामोपगते सति कलौ नष्टदृशां, तादृशधर्म-ज्ञान-विवेकरहितानां कृते तदिदं पुराणमेवार्कः, नतु शास्त्रान्तरवद्दीपस्थानीयं यत्, तथाविधोऽयं पुराणार्क उदित स्तादृश-धर्म-ज्ञानप्रकाशनात् तत्प्रतिनिधिरूपेणाविर्बभूव। अर्कवत् तत् प्रेरिततयैवेति भावः।

श्रीमद्भागवत ही श्रीकृष्ण तुल्य हैं। शास्त्रान्तरतुल्य नहीं है। किन्तु श्रीकृष्ण प्रतिनिधिरूप ही

स्पष्टम् ॥ श्रीसूतः ॥

८० । तदेवं श्रीकृष्णस्य स्वयं भगवत्त्वं दर्शितम् । तत्तु गतिसामान्येनापि लभ्यते ; यथा महाभारते—

"सर्वे वेदाः सर्वविद्याः सशास्त्राः, सर्वे यज्ञाः सर्व ईड्यश्च कृष्णः ।
विदुः कृष्णं ब्राह्मणास्तत्त्वतो ये, तेषां राजन् सर्वयज्ञाः समाप्ताः ॥"१३३॥ इति ।

अत्र सर्वसमन्वयसिद्धे पूर्णत्वमेव लभ्यते । एवं श्रीभगवदुपनिषत्सु च (गी० १५।१५)—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्" इति, (गी० १४।२७)—"ब्रह्मणो हि

सर्वसम्वादिनी

अथ द्वि-नवतितमवाक्यानन्तरं [मूल० ९३तम अनु०] नित्यत्व-प्रकरणे 'शास्त्रानर्थक्यम्' इत्यस्यानन्तरमिदं

है। इस श्लोक में उक्त विवरण ही है। निज श्रीकृष्णरूपका नित्यलीलास्थान में गमन होने से, "धर्मप्रोज्झितकैतवोऽत्र, नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्" इसके द्वारा सुस्पष्ट रूपसे श्रीकृष्ण प्रतिनिधित्व का ज्ञान होता है। भगवद्धर्म भगवज्ज्ञानादि के सहित श्रीकृष्ण अप्रकट होने पर कलह दोष से दृष्टि नष्ट होने से धर्मज्ञान विवेकशून्य मानव हो गये थे। उन सबके निमित्त ही श्रीमद्भागवताख्य महापुराण सूर्य्यतुल्य दृष्टिप्रद हैं। शास्त्रान्तरवत् दीप स्थानीय नहीं है। अर्थात् धर्मज्ञान प्रकाशन निबन्धन श्रीकृष्ण प्रतिनिधि रूप में आविर्भूत हैं। प्रवक्ता श्रीसूत हैं ॥७९॥

श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता का प्रदर्शन अभी तक हुआ। वेदान्तसूत्र (१।१।१०) 'गतिसामान्यात्' के नियमानुसार भी स्वयं भगवत्ता स्थापित होती है। "गतिः अवगतिः, विज्ञानघनः, सर्वज्ञः, सर्वशक्तिः, पूर्णो विशुद्धः, परमात्मा, जगद्धेतुरुपासितः सन् विमुक्तिकृदिति धीरित्यर्थः। तस्याः सर्वेषु वेदेषु सामान्यादेकरूप्यात्। तथाभूतस्यैकस्य ब्रह्मणः सर्वेषु तत्तयाभिधानात्। सगुणं निर्गुणञ्चेति द्विरूपता नास्तीत्यर्थः। स्मृतिश्च। मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जयेति ॥"

गति—अवगति, उसके साम्य समता, एक वस्तु में सबकी गति, आश्रयत्व ज्ञान है। महाभारत में कथित है—"सर्ववेद, सर्वविद्या, सर्वशास्त्र, सर्वयज्ञ, सर्व इड्य श्रीकृष्ण ही हैं। हे राजन्! जो सब ब्राह्मण, कृष्ण को यथार्थ रूप से जानते हैं, उन सबके समस्त यज्ञादि कर्म समाप्त हो गये हैं। यहाँ पर सर्वसमन्वय अर्थात् समस्त प्रमाणों का पर्य्यवसान, समस्त कर्मों का फल श्रीकृष्ण हैं, यह स्थिर होने के कारण श्रीकृष्ण का पूर्णत्व प्रतिपन्न हुआ।

"तत्तु समन्वयात्" वेदान्तसूत्र (१।१।४) में समन्वय का निर्णय उक्त है। "समन्वयत्वं—सुविचारितत्वं। सुविमृष्टैरुपक्रमोपसंहारादिभिः षड्भिर्लिङ्गै स्तत्रैव शास्त्रतात्पर्य्यात् स एव वेद्य इत्यर्थः।" सुविचारित उपक्रमादि तात्पर्य्य लिङ्ग के द्वारा समस्त वेदादि शास्त्र का तात्पर्य्य श्रीकृष्ण में ही पर्य्यवसित होता है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् से भी सर्व समन्वय का प्रमाण प्राप्त होता है। श्रीभगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही कहे हैं—अखिल वेदों में मैं ही एकमात्र वेद्य हूँ, मैं ही वेदान्तकर्त्ता, एवं वेदवेत्ता हूँ।

गी० १५।१५ टीका—वेदैश्चेति—वेदैः, सर्वैर्निखिलैर्वेदैरहमेव सर्वेश्वरः सर्वशक्तिमान् कृष्णो वेद्यः, योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयते" इति श्रुतेः, तत्र कर्मकाण्डेन परम्परया, ज्ञानकाण्डेन तु साक्षादिति बोध्यम्। कथमेवं प्रत्येतव्यमिति चेत्तत्राह—वेदान्तकृदहमेवेति। वेदानामन्तोऽर्थनिर्णयस्तत् कृदहमेव बादरायणात्मना। एवमाह—सूत्रकारः, "तत्तु समन्वयात्" इत्यादिभिः। नन्वन्ये वेदार्थमन्यथा व्याचक्षते? तत्राह—वेदविदेव चाहमित्यहमेव वेदविदिति, बादरायणः सन् यमर्थमहं निरणैषं, स एव वेदार्थस्ततोऽन्यथा तु

प्रतिष्ठाहम्" इत्यादि च। ब्रह्मसंहितातास् (५।२९)–"चिन्तामणि-प्रकरसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्" इत्यादिकमुपक्रम्य (ब्र० सं० ५।४८)—

सर्वसम्वादिनी

विवेचनीयम्।—'ननु बालातुराद्युपच्छन्दन-वाक्यवत्तज्ज्ञानमात्रेणापि पुरुषार्थसिद्धिर्दृश्यते; ततो नार्थान्तर-

भ्रान्तिविजृम्भित इति। तथा च मोक्षप्रदस्य सर्वेश्वरतत्त्वस्य वेदैरबोधनादहमेव मोक्षसाधनमिति।"

गोपालतापनी श्रुति में भी उक्त है—"योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयते, योऽसौ सर्वेषु भूतेष्वाविश्य भूतानि विदधाति, स वो हि स्वामी भवति॥" (उत्तर विभाग)

ऋषि श्रीदुर्वासा ने कहा—"वेदसमूह जिनका गान करते हैं, जो समस्त भूतों के अन्तर में प्रविष्ट होकर भूतसमूह का परिचालन करते हैं, उन श्रीकृष्ण तुम्हारे स्वामी हैं।"

वेद के कर्मकाण्ड में—परम्परा क्रम से, ज्ञानकाण्ड में साक्षात् रूपमें मैं वेद्य हूँ। विश्वस्त करने के निमित्त कहते हैं—मैं ही वेदान्त कर्त्ता हूँ। अर्थात् वेदव्यास रूप में मैं ही वेदार्थसमन्वय किया हूँ। सुतरां वेद का अभिप्राय मैं ही जानता हूँ। वेद की व्याख्या अनेक प्रकार हैं? उत्तर में कहते हैं,—मैं ही वेदज्ञ हूँ। बादरायण रूप में मैंने जो अर्थ निर्णय किया है, वह ही वेद का यथार्थ मर्म है। वेदव्यास को अतिक्रम करके व्याख्या करने से उसमें भ्रमादि दोषपूर्ण, निःसन्देह ही होगा।

गी० १४।२७ में उक्त—"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहमिति" स्वामिटीका—"हि यस्माद्ब्रह्मणोऽहं प्रतिष्ठा, घनीभूतं ब्रह्मैवाहम्। यथा—घनीभूतप्रकाश एव सूर्य्यमण्डलं तद्वदित्यर्थः।"

पूर्ववर्त्ती श्लोक—"माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥" एकान्त भक्तियोग के द्वारा सेवा करने से गुणत्रय से मुक्त होकर मोक्षलाभ होता है। परवर्त्ती श्लोक "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च। शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥" द्वारा हेतु निर्देश करते हैं। कारण, मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ, घनीभूत ब्रह्म ही मैं हूँ। विशेष्य के सहित अन्वित 'एव'-कार का अर्थ—अन्ययोगव्यवच्छेद है, सुतरां "घनीभूत ब्रह्मैवाहम्" अत्रत्य 'एव'-कार का अर्थ—श्रीकृष्ण, जिस प्रकार घनीभूत ब्रह्म—ब्रह्म का प्रचुर प्रकाश, अपर कोई भी उस प्रकार नहीं हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण ही परमब्रह्म हैं, सूर्य्यरश्मि का घनीभूत प्रकाश जिस प्रकार सूर्य्यमण्डल हैं, तद्रूप घनीभूत ब्रह्म शब्द से भी जानना होगा।

विश्वनाथचक्रवर्त्ती—ब्रह्मणोहीति,—'यस्मात् परमप्रतिष्ठात्वेन प्रसिद्धं, यद्ब्रह्म, तस्याप्यहं प्रतिष्ठा—आश्रयः।" कारण—"परमाश्रय नामक जो ब्रह्म हैं, उनका भी मैं ही आश्रय हूँ।"

हि—निश्चये। ब्रह्मण स्तत्पूर्वकया तया सत्त्वाद्यावरणात्ययादाविर्भावित-स्वगुणाष्टकस्य, अहमेव—विज्ञानानन्दमूर्त्तिरनन्तगुणो, निरवद्यः सुहृत्तमः सर्वेश्वरः प्रतिष्ठा—प्रतिष्ठीयतेऽत्रेति निरुक्तेः, परमाश्रयोऽतिप्रियो भवामीति। (श्रीबलदेव)

"निश्चयमें हि अव्यय" ज्ञानपूर्विका भक्ति के द्वारा, सत्त्वादि गुण का आवरण अतिक्रम होने से "एष आत्मा अपहत पाप्मा विजरो, विमृत्युर्विशोको विजिघत्सो अपिपासः, सत्यकामः, सत्यसङ्कल्पः" यह आत्मा, पाप रहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, बुभुक्षारहित, पिपासारहित, सत्यकाम, सत्य सङ्कल्प, श्रुति में अष्टगुणविशिष्ट ब्रह्म का उल्लेख हुआ है। विज्ञानानन्द मूर्त्ति अनन्तगुण निरवद्य, अनिन्द्य-सुहृत्तम-सर्वेश्वर मैं ही हूँ। उक्त ब्रह्म की प्रतिष्ठा—परमाश्रय अतिप्रिय मैं ही हूँ।

ब्रह्मसंहिता ५।२९ में उक्त है—"चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥"

"यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य, जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥"१:४॥ इति।

ननु पाद्मोत्तरखण्डादौ सर्वावतारी परमव्योमाधिपतिर्नारायण एवेति श्रूयते; पञ्चरात्रादौ तु वासुदेवः, न च स स श्रीकृष्ण एवेति वक्तव्यम्, तत्तत्स्थान-परिकर-नाम-रूपाणां भेदात्; तर्हि कथं श्रीकृष्णस्यैव सर्वावतारित्वं स्वयंभगवत्त्वं वा? अत्रोच्यते—श्रीभागवतस्य सर्वशास्त्रचक्रवर्त्तित्वं प्रथमसन्दर्भे प्रघट्टकेनैव दर्शितम्। पूर्णज्ञानप्रादुर्भावानन्तरमेव श्रीवेदव्यासेन तत् प्रकाशितमिति च तत्रैव प्रसिद्धम्। स्फुटमेव दृश्यते चास्मिन्नपरशास्त्रोप-मर्द्दकत्वम् (भा० १०।५७।३१)—

"इत्यङ्गोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम्।
मुनिवासनिवासे किं घटेतारिष्टदर्शनम् ॥"१३५॥

सर्वसम्वादिनी

सद्भावे तत् स्मारकवाक्यं कारणम्; किन्तु प्रथमतस्तदभिरुचिते तदानीमसत्यपि वस्तुविशेषे तदीय-हित-

स्तुति करते हैं—"चिन्तामणिसमूह खचित गृहसमूह, एवं लक्ष लक्ष कल्पवृक्षावृत श्रीवृन्दावन में जो सुरभि पालन करते हैं, लक्ष्मी सहस्र-शत-सम्भ्रम के सहित जिनकी सेवामें रत हैं, मैं उन आदि पुरुष श्रीगोविन्द का भजन करता हूँ।" इस प्रकार उपक्रम के अनन्तर (५।४९)—

"यस्यैकनिश्वसितकालमथावलम्ब्य, जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः।
विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥"

महाविष्णु के एक निश्वास-परिमित काल को अवलम्बन कर तदीय लोमविवरस्थित असंख्य ब्रह्माण्डपति जीवित रहते हैं, उन श्रीमहाविष्णु भी जिनके कलाविशेष हैं, मैं उन आदिपुरुष श्रीगोविन्ददेव का भजन करता हूँ।"

महाभारत, श्रीगीता, एवं श्रीब्रह्मसंसिता के उक्त वचनसमूह से सुस्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होता है कि—श्रीकृष्ण ही सर्वाश्रय, सर्व-स्वरूप, सबकी एकमात्र गति—पर्य्यवसान एवं फल हैं। अतएव 'गतिसामान्य' न्याय से भी श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता की सिद्धि हुई।

यहाँ पर जिज्ञासा हो सकती है कि—समस्त शास्त्रों का एकमात्र फल यदि श्रीकृष्ण ही होते हैं, तब ब्रह्मसूत्रोक्त 'गतिसामान्य' न्याय से श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता को मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होती। किन्तु पाद्मोत्तर खण्ड प्रभृति में परव्योमाधिपति श्रीनारायण, पञ्चरात्र प्रभृति में श्रीवासुदेव, सर्वावतारी स्वीकृत हैं। सुतरां श्रीकृष्ण ही श्रीनारायण, एवं वासुदेव हैं, इस प्रकार उक्ति नहीं हो सकती है। कारण, श्रीकृष्ण के सहित उन सबके स्थान, परिकर, नाम एवं रूप का पार्थक्य सुस्पष्ट विद्यमान है। सुतरां श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता अथवा सर्वावतारित्व की सिद्धि कैसे हो सकती है?

उत्तर—श्रीमद्भागवत ही सर्वशास्त्रचक्रवर्त्ती हैं। इसका प्रदर्शन तत्त्वसन्दर्भरूप भागवतीय प्रथम सन्दर्भ में विशेष विस्तार के साथ हुआ है। पूर्ण ज्ञान प्रादुर्भाव के पश्चात् श्रीव्यासदेव ने श्रीमद्भागवत का प्रकाश किया है। यह विवरण श्रीमद्भागवत में ही सुप्रसिद्ध है। श्रीमद्भागवत ही अपर शास्त्र समूह का उपमर्दक है, उसका विवरण सुस्पष्ट रूप से दशम स्कन्धोक्त निम्नोद्धृत पद्य में दृष्ट होता है। (१०।५७।३१)—"इत्यङ्गोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम्।
मुनिवासनिवासे किं घटेतारिष्टदर्शनम् ॥"

इत्यादौ, (भा० १०।७७।३०) "एवं वदन्ति राजर्षे" इत्यादौ च। अतएव नवमेऽप्युक्तम् (भा० ९।२२।२२-२३)—

"हित्वा स्वशिष्यान् पैलादीन् भगवान् बादरायणः।
मह्यं पुत्राय शान्ताय परं गुह्यमिदं जगौ।"१३६॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

वस्त्वन्तर-चित्तावताराय बालादीनिव मात्रादि-वाक्यं सगुण-विशेषे साधकान् प्रवर्त्तयति शास्त्रम्; पश्चाद्-

वैष्णवतोषणी। प्राक् स्वयमुक्तमपि विस्मृत्य पश्चादनुसन्धाय, मुनीति, मुनेः कस्यचिदेकस्यापि वासेन न घटेत, अत्रापि मुनीनां सर्वेषां वासस्याश्रयस्य भगवतो नितरां नित्यतया वास इत्यर्थः। अरिष्टस्यैकस्य दर्शनमपि, किं पुनर्बहूनां विविधानां प्राप्तिरित्यर्थः। अन्यत्तैः। तत्र तदिच्छामित्यनेन, किन्त्वक्रूरानयनव्याजाय, स्वयमेवोत्थापितान्यरिष्टानीति ज्ञापितम्।

स्वामिटीका। दूषयति, इतीति। अङ्ग हे राजन्! श्रीकृष्णमाहात्म्यं विस्मृत्येति। तदेवाह—मुनिवासनिवासः श्रीकृष्णस्तस्य निवासे सति, अक्रूरापगममात्रेणारिष्टदर्शनं किं घटेति। तदिच्छां विना न घटेतेत्यर्थः।

अक्रूर द्वारका से मणि लेकर अन्यत्र चले जाने पर द्वारकावासियों के आदिदैविक, आधिभौतिक, शारीरिक, मानसिक तापरूप अरिष्टसमूह का प्रादुर्भाव पुनः पुनः होने लगा।

कतिपय ऋषियों के अभिमतानुसार यह बात कहकर श्रीशुकदेव ने श्रीपरीक्षित् को सम्बोधन करके कहा—हे राजन्! कतिपय व्यक्ति, पूर्वोदाहृत श्रीकृष्ण महिमा को भूलकर अक्रूर का स्थानान्तर गमन हेतु द्वारका में "अरिष्ट उपस्थित हुआ था" इस प्रकार कहे हैं। उस प्रकार कथन समीचीन नहीं है। कारण, निखिल मुनियों का आश्रय श्रीकृष्ण जहाँ पर विराजमान हैं। वहाँ अरिष्ट दर्शन की सम्भावना ही कहा है? भा० १०।७७।३० के पद्य में भी कथित है—"एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः केचनान्विताः।
यत् स्ववाचो विरुध्येत न न्यूनं ते स्मरन्त्यमू॥"

श्रीशुकदेव बोले—"हे राजर्षे! शाल्व के द्वारा माया-रचित वसुदेव की हत्या होने से श्रीकृष्ण शोकार्त्त हो गये थे, यह उक्ति कतिपय ऋषियों की है। उससे प्रतीत होता है, वे सब पूर्वापर अनुसन्धान रहित वाक्य कहते हैं। एवं स्वीय वाक्य विरुद्धता का स्मरण भी नहीं करते हैं।

श्रीकृष्ण, शोक-मोहातीत हैं, इसका वर्णन करने के पश्चात् उनका वर्णन—शोकार्त्त-मोहग्रस्त रूपमें करना ही पूर्वापर विरोध है। जिन्होंने, आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त निखिल वस्तुओं को निज माया द्वारा मुग्ध कर रखा है, आप क्या सामान्य आसुरीकमाया से मुग्ध हो सकते हैं? जो अखण्ड ज्ञान-तत्त्ववस्तु हैं, आप क्या आसुरीमाया को जान नहीं सकते हैं? तब भक्तजनगण के सहित कदाचित् उनमें मोहादि की सम्भावना दृष्ट होती है। इसमें कारण ही है, तदीय प्रेमपारवश्यता। स्वरूपशक्ति सम्विदाह्लादिनी-परिपाकरूप प्रेम का पारतन्त्र्य को स्वीकार कर स्वरूपधर्म का व्यभिचार नहीं होता है। अतएव उक्त पारतन्त्र्य दोषावह नहीं है। किन्तु उक्त गुण के कारण ही भक्तगण उनका भजन करते हैं। आसुर प्रकृति के निकट उक्त गुण का प्रकाश श्रीकृष्ण कभी भी नहीं करते हैं।

श्रीमद्भागवत ही सर्वप्रमाणचक्रवर्त्ती है, इसका प्रसङ्ग भा० ९।२२।२२-२३ में सुस्पष्ट है।

"हित्वा स्वशिष्यान् पैलादीन् भगवान् बादरायणः।
मह्यं पुत्राय शान्ताय परं गुह्यमिदं जगौ॥"

इस वाक्य से ही श्रीमद्भागवत का सर्वोपरि विराजमानत्व सिद्ध होता है। श्रीमद्भागवत का

तदेवं सर्वशास्त्रोपरिचरत्वं सिद्धम् । तत्र श्रीकृष्णस्यैव स्वयं भगवत्त्वं निरूपितम् । दृश्यते च प्रशंसितुर्वैशिष्ट्येन प्रशंस्यस्यापि वैशिष्ट्यम् । यथा ग्रामाध्यक्षराजसभयोः सर्वोत्तमत्वेन प्रशंस्यमानौ वस्तुविशेषौ तारतम्यमापद्येते । तदेवं सत्स्वप्यन्येषु तेष्वन्यत्र प्रशस्तेषु श्रीभागवत-प्रशंस्यमानस्य श्रीकृष्णस्यैव परमाधिक्यं सिध्यति । अतएव (भा० १।३।२८)— "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति सावधारणा श्रुतिरन्यश्रुतिबाधिकेति युक्तमेव व्याख्यातं पूर्वमपि । ततश्च ते तु परमव्योमाधिप-नारायणवासुदेवादयः श्रीकृष्णस्यैव मूर्त्तिविशेषा भवेयुः, स्वयं श्रीकृष्णस्तु (भा० १०।१४।१४)—"नारायणस्त्वम्" इत्याद्युक्तौ महानारायणो द्वारकादिप्रसिद्धो महावासुदेवश्च भवेत् । अतएव नारायण-वासुदेवोपनिषदोः स एव व्यक्तः

सर्वसम्वादिनी

यथा स्व-हिते क्रमेण स्वयमेव प्रवर्त्तन्ते बलादयस्तथा बलवच्छास्त्रान्तरं दृष्ट्वा निर्गुणे वा नित्यप्राकट्य-

सिद्धान्त अति निगूढ़ है, एवं उक्त सिद्धान्त में श्रीवेदव्यास का मुख्य अभिप्राय प्रोथित है, नवमस्कन्धोक्त शुकोक्ति ही उसका प्रतीक है। श्रीशुक ने कहा,—"भगवान् व्यासदेव, पैल प्रभृति निज शिष्यवर्ग को परिहार कर शान्त पुत्र मुझको परमगुह्य श्रीमद्भागवत का कीर्त्तन किये थे ।।

उक्त श्रीमद्भागवत में ही श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता निरूपित हुई है। सर्वत्र ही प्रशंसाकर्त्ता का वैशिष्ट्य से ही प्रशंसित वस्तु का वैशिष्ट्य होता है। जिस प्रकार ग्रामाध्यक्ष की सभा में प्रशंसित वस्तु की अपेक्षा राजसभा में प्रशसित वस्तु का श्रेष्ठत्व सर्वाधिक है। उभय में तारतम्य जिस प्रकार सुप्रसिद्ध है, उस प्रकार ही पाद्मोत्तर खण्ड एवं श्रीनारदपाञ्चरात्रादि में श्रीनारायण एवं वासुदेव स्वयं भगवान् शब्द से प्रशंसित होने पर भी श्रीमद्भागवत में प्रशंसित श्रीकृष्ण का ही परमाधिक्य है। तज्जन्य ही (भा० १।३।२८) "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" पद्य की व्याख्या कहा गया है कि—यह श्रुति सावधारणा है। यह श्रुति ही श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता का विरोधी निखिल वाक्यों का बाधक है। यह वाक्य अतीव युक्ति सङ्गत है, इसमें कोई संशय नहीं है।

श्रीकृष्ण व्यतीत अपर किसी को भगवत्ता को न मानने पर पाद्मोत्तरखण्डादिविशेष वचन की सङ्गति क्या होगी ? समाधान हेतु कहते हैं—श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता मानकर भी उक्त वाक्यसमूह की सङ्गति की जासकती है। कारण,—परव्योमाधिप नारायण एवं वासुदेवादि, श्रीकृष्ण के ही मूर्त्तिविशेष हैं। किन्तु श्रीकृष्ण—(भा० १०।१४।१४) "नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात् तच्चापि सत्यं न तवैव माया ।।"

इत्यादि ब्रह्मस्तवोक्त महानारायण एवं द्वारकादि में सुप्रसिद्ध श्रीवसुदेवनन्दन ही श्रीवासुदेव होते हैं।

टीका—तर्हि नारायणस्य पुत्रः स्यास्त्वं मम किमायातं, तत्राह—नारायणस्त्वमिति, नहीति, काक्वा त्वमेव नारायण इत्यापादयति। कुतोऽहं नारायण इति चेदत आह—सर्वदेहिनामात्मासीति। एवमस्मि किं नारायणो न भवसि ? नारं—जीवसमूहोऽयनमाश्रयो यस्य स तथेति। त्वमेव सर्वदेहिनामात्मात्वान्नारायण इति भावः। हे अधीश ! त्वं नारायणो नहीति पुनः काकुः। अधीशः, प्रवर्त्तकः, ततश्च नारस्यायनं प्रवृत्तिर्यस्मात् स तथेति। पुनस्त्वमेवासाविति। किञ्च, त्वमखिललोकसाक्षी, अखिलं लोकं साक्षात् पश्यति अतो नारमयसे जानासीति त्वमेव नारायण इत्यर्थः।

नन्वेवं नारायणपदव्युत्पत्तौ भवेदेवं तत्तु अन्यथा प्रसिद्धमित्याशङ्क्याह—नारायणोऽङ्गमिति। नरादुद्भूता येऽर्थास्तथा नराज्जातंयज्जलं तदयनाद् यो नारायणः प्रसिद्धः सोऽपि तवैवाङ्गं मूर्त्तिः। तथा च

(ना० उ० ४)—"ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रः" इति, "देवकीनन्दनोऽखिलमानन्दयात्" इति च। तदित्थमेव तं वासुदेवमपि विभूतिनिर्विशेषतया स्पष्टमाह (भा० ११।१६।२९)—

(८०) "वासुदेवो भगवताम्" इति। स्पष्टम् ॥

८१। तथा, (भा० ११।१६।३२)—

(८१) "सात्वतां नवमूर्त्तीनामादिमूर्त्तिरहं परा" इति।

टीका च—"सात्वतां भागवतानाम्, नवव्यूहार्चने वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्ध-नारायण-हयग्रीव-वराह-नृसिंह-ब्रह्माण इति या नव मूर्त्तयः, तासां मध्ये वासुदेवाख्या" इत्येषा। अतएव दृश्यते चाद्वैतवादिनामपि सन्न्यासिनां व्यासपूजापद्धतौ श्रीकृष्णस्य मध्यसिंहासनस्थत्वं वासुदेवादीनां व्यासादीनाञ्चावरणदेवतात्वमिति। तथैव क्रमदीपिकायामष्टाक्षरपटले श्रीवासुदेवादयस्तदावरणत्वेन श्रूयन्ते। यत्तु (गी० १०।३७) "वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि" इति श्रीभगवदुपनिषदस्तत्र 'वासुदेव'-शब्देन वसुदेवापत्यार्थेन श्रीबलदेव एवोच्यते। वक्ता हि तत्र श्रीकृष्ण एव। ततश्च स्वविभूतिं कथयति तस्मिन्नपि

सर्वसम्वादिनी

वैकुण्ठनाथ-लक्षण-सगुणे वा प्रवर्त्स्यन्ते' इति? तन्न;—अनन्त-गुण-रूपादि-वैभव-नित्यास्पदत्वात्

स्मर्य्यते—नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः। तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृत इति। तथा। आपोनारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः। इति च। ननु मन्मूर्त्तेरपरिच्छिन्नायाः कथं जलाश्रयत्वमत आह—तच्चापि सत्यं नेति।"

अतएव नारायण एवं वासुदेवोपनिषत् में उन उन उपनिषत् का वाच्य, श्रीनारायण एवं वासुदेव रूप में श्रीदेवकीनन्दन ही सुव्यक्त हैं। यथा—"देवकी पुत्र, ब्राह्मणपरायण, परमोदार हैं, देवकीनन्दन सबको आनन्दित करें" उन वासुदेव की विभूतिविशेष रूप में भा० ११।१६।२९ में श्रीकृष्णने सुस्पष्ट रूपसे कहा है—"वासुदेवो भगवताम्" भगवान्वृन्द के मध्य में मैं वासुदेव हूँ ॥८०॥

उस प्रकार भा० ११।१६।३२ में वर्णित है—"सात्वतां नवमूर्त्तीनादिमूर्त्तिरहं परा" इति।

क्रमसन्दर्भः। "सात्वतां वैष्णवानां कर्म—अर्चनरूपम्। नवसु मूर्त्तिषु ब्रह्मायं साक्षाच्छ्रीभगवद्रूपः, यः खलु तादृश जीवा सद्भावे तत् कर्मार्थं स्वयमाविर्भवति, यज्ञरूपेणेन्द्रवत्।।"

स्वामि टीका। "सात्वतां—भागवतानां भक्त्या कृतं कर्माहमित्यर्थः। तेषामेव नवव्यूहार्चने वासुदेव-सङ्कर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्ध-नारायण-हयग्रीव-वराह-नृसिंह-ब्रह्माण इति वा नव मूर्त्तयस्तासां मध्ये वासुदेवाख्या ॥"

सात्वत—भागवतवृन्द के नव व्यूहार्चन में वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह, नृसिंह एवं ब्रह्मा, ये नवमूर्त्ति हैं। तन्मध्य में वासुदेवाख्या मूर्त्ति मैं हूँ।

तज्जन्य अद्वैतवादिसन्न्यासिओं की व्यासपूजा पद्धति में श्रीकृष्ण की मध्य सिंहासन में एवं वासुदेवादि नव मूर्त्ति की आवरण देवतारूप में स्थिति देखी जाती है। अतएव क्रमदीपिका के अष्टाक्षर पटल में श्रीवासुदेवादि का वर्णन श्रीकृष्ण के आवरण देवता रूप में है।

श्रीमद्भगवद्गीता के दशम अध्याय में वर्णित है—"वृष्णियों के मध्य में मैं वासुदेव हूँ" इसका अर्थ वासदेव—वसुदेवनन्दन श्रीबलराम हैं। अपत्यार्थ से ही उस प्रकार अर्थ होता है। कारण उक्त

विभूतित्वारोपो न युज्यते, वक्तुरन्यत्रैव श्रोतृभिस्तत्प्रतीतेः, ततो मुख्यार्थबाधे तथैव व्याख्या समुचिता । तस्मात् साधु व्याख्यातम् (भा० ११।१६।२९) "वासुदेवो भगवताम्" इत्यादि ॥ श्रीभगवान् ॥

८२ । यस्मादेवं सर्वतोऽपि तस्योत्कर्षस्तस्मादेवान्यतस्तदीयनामादीनामपि महिमाधिक्यमिति गतिसामान्यान्तरञ्च लभ्यते । तत्र नाम्नो यथा ब्रह्माण्डपुराणे श्रीकृष्णाष्टोत्तरशतनामामृतस्तोत्रे—

"सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्त्या तु यत् फलम् । एकावृत्त्या तु कृष्णस्य नामैकं तत् प्रयच्छति ॥"१३७॥

इति व्यक्तीक्रियते चाधिकं फलत्वं कृष्णनाम्नः पाद्मे पातालखण्डे श्रीमथुरामाहात्म्ये श्रीमहादेवस्यैव वाक्ये—"तारकाज्जायते मुक्तिः प्रेमभक्तिस्तु पारकात्" इति । पूर्वमत्र मोचकत्व-प्रेमदत्वाभ्यां तारक-पारकसंज्ञे रामकृष्णनाम्नोर्हि विहिते । तत्र च रामनाम्नि मोचकत्वशक्तिरेवाधिका । श्रीकृष्णनाम्नि-तु मोक्षसुखतिरस्कारिप्रेमानन्ददातृत्वशक्तिः

सर्वसम्वादिनी

तद्रूपेणावस्थितिर्नासम्भवितेति (बृ० ३।८।३) 'यद्भूतं भवच्च भविष्यच्च' इति श्रुतेः, सम्भावितायां तु

विभूतियोग का वक्ता श्रीकृष्ण ही हैं । स्वयं को निज विभूतिरूप में कथन समीचीन नहीं होता है । कारण श्रोतृवृन्द की वक्ता से भिन्न वस्तुमें विभूति की प्रतीति होती है । इस युक्ति के अनुसार श्रीगीतोक्त विभूतियोग के वासुदेव शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण नहीं होता है । अतएव वासुदेव शब्द का बलराम अर्थ होना ही समीचीन है । मुख्यार्थ की बाधा होने से प्रकृति-प्रत्ययार्थ योग से व्याख्या करना ही उचित है । श्रीगीतोक्त वासुदेव शब्द की उस प्रकार व्याख्या से अर्थ सङ्गति दृढ़ होती है । अतः भगवान्वृन्द के मध्य में 'मैं वासुदेव हूँ' इस वाक्य से वासुदेव को श्रीकृष्ण के मूर्त्तिविशेष मानकर जो व्याख्या की गई है, यह अतीव उत्तम है । श्रीभगवान् बोले थे ॥८१॥

समस्त प्रकारों से जब श्रीकृष्ण का उत्कर्ष प्रतिपन्न हुआ, तब उक्त समुदय कारणों से ही श्रीकृष्ण के नाम, गुण, रूप, लीला प्रभृति का महिमाधिक्य, अन्य स्वरूपों के नामादि से सुस्पष्ट है । एवं उक्त महिमाधिक्य निबन्धन 'गतिसामान्यान्तर' न्याय से, अर्थात् निखिल भगवत् स्वरूप के नाम-गुण-लीलादि श्रीकृष्ण-नामादि में ही अन्तर्भूत हैं । उसके मध्यमें श्रीकृष्ण नाम की महिमा का वर्णन ब्रह्माण्डपुराणोक्त श्रीकृष्णाष्टोत्तरशतनामामृतस्तोत्र में है,—

"सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्त्या तु यत् फलम् । एकावृत्त्या तु कृष्णस्य नामैकं तत् प्रयच्छति ॥"

"परमपवित्र सहस्रनाम समूह की तीनबार आवृत्ति करने से जो फललाभ होता है, श्रीकृष्ण के कोई भी एक नाम की आवृत्ति एकबार करने से ही उक्त फललाभ होता है ।" इस प्रकार अनेक वाक्यों के द्वारा श्रीकृष्ण नामसमूह का सर्वाधिक्य फलदत्व कीर्त्तित है ।

श्रीकृष्ण नाम के महिमाधिक्य की कथा, पद्मपुराण के पाताल खण्डस्थ मथुरा-माहात्म्य में है । श्रीमहादेव का कथन है—'मुक्तिदातृत्व हेतु राम नाम की तारक संज्ञा है, एवं प्रेमदत्व हेतु श्रीकृष्ण नाम की पारकसंज्ञा हैं । तारक से मुक्ति होती है । पारक से प्रेमभक्ति लाभ होता है । राम नाम में मोचकत्व शक्ति अधिक है । श्रीकृष्ण नाम में मोक्षसुख तिरस्कारि प्रेमानन्ददायक शक्ति समधिक है । श्रीशिव वाक्य का यह ही तात्पर्य्य है ।

समधिकेति भावः इत्थमेवोक्तं विष्णुधर्मोत्तरे—
"यच्छक्ति नाम यत्तस्य तस्मिन्नेव च वस्तुनि। साधकं पुरुषव्याघ्र सौम्यक्रूरेषु वस्तुषु।।"१३८।। इति। किञ्च, श्रीकृष्णनाम्नो मुख्यत्वं निगदेनैव श्रूयते प्रभासपुराणे श्रीनारदकुशध्वजसंवादे श्रीभगवदुक्तौ—"नाम्नां मुख्यतमं नाम कृष्णाख्यं मे परन्तप" इति। तदेवं गतिसामान्येन नाममहिमद्वारा तन्महिमातिशयः साधितः। तथा तदीय-गुण-रूप-लीला-मथुरादिस्थानानामपि तत्तच्छास्त्रप्रतिपाद्यमानैः सर्वाधिकमहिमभिरप्यसावनुसन्धेयः, विस्तरभिया तु नोदाह्रियते। इत्थमेव श्रीकृष्णस्यैवासमोर्द्ध्वमहिमत्वात् स्वयमेव तेनापि सकलभक्तवृन्दवन्दित-भगवत्प्रणयं

सर्वसम्वादिनी

तस्यामवतार-वाक्यं चावतारस्य प्रपञ्चगत-तदीय-प्रकाशमात्र-लक्षणत्वात्। नारायणादीनाञ्च तत्रैवावतारे प्रवेशमात्र-विवक्षातो न विरुध्यते।

विष्णुधर्मोत्तर में भी उस प्रकार ही उल्लेख है—विभिन्न भगवत् स्वरूपों के नामसमूह विभिन्न फल प्रकाश करते हैं। "यच्छक्ति नाम यत्तस्य तस्मिन्नेव वस्तुनि।
साधकं पुरुषव्याघ्र सौम्यक्रूरेषु वस्तुषु।।"

सौम्य क्रूरेषु शान्तिदत्व-शत्रुनिवारकत्वादिषु वस्तुषु फलेषु मध्ये यस्मिन् वस्तुनि फले तस्य भगवतो यन्नाम यच्छक्तित्वेनोक्तमित्यर्थः, तन्नाम तस्मिन् वस्तुनि साधकमेवेत्यन्वयः। यथेदं नाम भोगदायकमित्यादि। एवमेव रामनाममुक्तिदं कृष्णनामप्रेमभक्तिदमिति साधकं, तच्छक्तिप्रकाशकमित्यर्थः।

हे पुरुषव्याघ्र ! भगवन्नाम की शक्ति, शान्त खलबुद्धिसम्पन्न नामाश्रित व्यक्ति को निज शक्त्यनुरूप प्रेमादि फल प्रदान करती है।

जिस नाम में प्रेमप्रदान शक्ति प्रचुर रूप में विद्यमान है, उक्त नाम, नामाश्रित व्यक्ति प्रकृति का ही क्यों न हो, उसको प्रेम प्रदान करते ही हैं।

जिस नाम में मोचकता शक्ति प्रचुर रूप में है, वह नाम, मुक्ति प्रदान करते हैं। शान्त एवं खल, उभय अधिकारी व्यक्ति सम्पूर्ण फललाभ करते हैं, कहने पर भी समकाल में उभय को फलप्राप्ति की सम्भावना नहीं की जाती है। कारण निरपराध से नामाश्रयमात्र से ही फललाभ सुनिश्चित है, अन्यथा नहीं। सापराधी जन का नामाश्रय निबन्धन जब अपराध क्षीण होता है, तब ही प्रेमभक्ति का आविर्भाव होगा।

श्रीकृष्णनाम की महिमा की वार्त्ता सुस्पष्ट रूप से ही घोषित है। प्रभासपुराण के श्रीनारद कुशध्वजसंवाद में श्रीभगवदुक्ति इस प्रकार है—"नाम्नां मुख्यतमं नाम श्रीकृष्णाख्यं मे परन्तप !" इति। हे परन्तप ! 'नामसमूह के मध्य में मेरा नाम कृष्णनाम ही सर्वश्रेष्ठ नाम है'। अतएव श्रीकृष्ण नाम के महिमाधिक्य निबन्धन 'गतिसामान्य' न्याय से—समानगति अर्थात् नाम की श्रेष्ठता प्रतिपत्ति के समान ही स्वरूप की श्रेष्ठत्व प्रतिपत्ति हेतु श्रीकृष्ण का ही महिमाधिक्य प्रतिपादित हुआ।

नाम एवं स्वरूप की श्रेष्ठता के समान तदीय गुण, रूप, लीलास्थली मथुरा प्रभृति की शास्त्र प्रतिपादित सर्बाधिक महिमा है। तज्जन्य श्रीकृष्ण की सर्वाधिक महिमा घोषित हुई। ग्रन्थ बाहुल्य भीति से उदाहरण का उट्टङ्कन नहीं हुआ, शास्त्रसमूह में अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है।

उक्त रीति से श्रीकृष्ण ही असमोर्द्ध महिमासम्पन्न हैं, तज्जन्य श्रीकृष्ण स्वयं ही सकल भक्तवृन्दवन्दित

श्रीमदर्जुनं प्रति सर्वशास्त्रार्थसारभूत-श्रीगीतोपसंहारवाक्ये निजाखिलप्रादुर्भावान्तर-भजन-मतिक्रम्य स्वभजनमेव सर्वगुह्यतमत्वेनोपदिष्टम्। तथा (गी० १८।६०) "कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्" इत्यनन्तरम् (गी० १८।६१-६६)—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया ॥१३९॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥१४०॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥१४१॥
सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥१४२॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥१४३॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"१४४॥ इति।

एषामर्थः—(गी० २।११) "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्" इत्यादिग्रन्थो न युद्धाभिधायकः, यतः

सर्वसम्वादिनी

किञ्चोत्तर-मीमांसायां तत्तदुपासना-शस्त्रोक्ता 'या या मूर्त्तिस्तद्वत्य एव देवताः' इति सिद्धान्तग्रहः;

प्रीति भक्ति का उपदेश गीता में श्रीअर्जुन के प्रति किये थे। सर्वशास्त्रार्थसारभूत श्रीगीता के उपसंहार वाक्य में निज अखिल प्रादुर्भावान्तर का भजन को परिहार करके ही स्वभजन को ही सर्वगुह्यतम रूप में आपने कहा। यथा—(गी० १८।६०) "कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽसि तत्" इसके अनन्तर गी० १८।६१-६६ पर्य्यन्त श्लोक में आपका हार्द्द वर्णित है।

"मोहवशतः जिसको करना नहीं चाहते हो, अवश होकर उसको ही करोगे" इत्यादि वाक्य के बाद कहा—"हे अर्जुन ! ईश्वर सर्वभूत के हृदय में अवस्थित हैं, यन्त्रारूढ़ काष्ठपुत्तलिका के समान माया के द्वारा सबको घुमाते रहते हैं। हे भारत ! सर्वप्रकार से उन ईश्वर का आश्रय ग्रहण करो, उनके अनुग्रह से ही परमा शान्ति एवं नित्यस्थान लाभ होगा। इस प्रकार से मैंने तुमको गुह्य से गुह्यतर ज्ञान का विवरण कहा, विशेष विवेचनापूर्वक जो कुछ निश्चय तुम कर सकते हो, उसके अनुरूप आचरण करो। पुनर्बार सर्वगुह्यतम श्रेष्ठ वाक्य को सुनो। निश्चय जानना, तुम मेरा अत्यन्त प्रिय हो, एतज्जन्य तुम्हारे प्रति हितकर वचन कहता हूँ। तुम मद्गत चित्त हो, मेरा भक्त बनो, मेरा अर्चन करो, और मुझको नमस्कार करो, ऐसा करने से तुम निश्चय ही मुझको प्राप्त करोगे। तुम मेरा प्रिय हो, मैं शपथपूर्वक कर रहा हूँ। सर्वधर्म परित्याग पूर्वक मेरी शरण लो, मैं समस्त पापों से तुम्हें मुक्त कर दूँगा।"

उक्त श्लोकसमूह का अर्थ इस प्रकार है—गी० २।११ में "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नाऽनुशोचन्ति पण्डिताः॥"

(गी० १८।६०) "कर्त्तुम्" इत्यादि, ततः परमार्थाभिधायक एवायम्। तत्रापि गुह्यतरम्, (गी० १८।६४) "सर्वगुह्यतमञ्च शृणु" इत्याह—ईश्वर इत्यादि। य एकः सर्वान्तर्य्यामी ईश्वरः, स एव सर्वाणि संसारयन्त्रारूढ़ानि भूतानि मायया भ्रामयन् तेषामेव हृद्देशे तिष्ठति,

सर्वसम्वादिनी

ततश्च (गो० ता० पू० २३) 'तं पीठगं ये तु यजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्' इत्यादिका गोपाल-

टीका—"एवं अर्जुने तूष्णीं स्थिते तद्बुद्धिमाक्षिपन् भगवानाह—अशोच्यानिति। हे अर्जुन! अशोच्यान्, शोचितुमयोग्यानेव धार्त्तराष्ट्रांस्त्वं अन्वशोचः शोचितवानसि। तथा मां प्रति प्रज्ञावादान् प्रज्ञावतामिव वचनानि "दृष्ट्वेमान् स्वजनान्" इत्यादीनि, "कथं भीष्मम्" इत्यादीनि च भाषसे, न च ते प्रज्ञालेशोऽप्यस्तीति भावः। ये तु प्रज्ञावन्त स्ते गतासून् निर्गतप्राणान् स्थूलदेहान्, अगतासूंश्च अनिर्गत-प्राणान् सूक्ष्मदेहान्, च शब्दादात्मनश्च न शोचन्ति। अयमर्थः—शोकः स्थूलदेहविनाशनिमित्तः, सूक्ष्मदेह-विनाशनिमित्तो वा? नाद्यः, स्थूलदेहानां विनाशित्वात्, नान्त्यः, सूक्ष्मदेहानां मुक्तेः प्रागविनाशित्वात्। तद्वतां आत्मनां तु षड़्भावविकारवर्जितानां नित्यत्वान्न शोच्यतेति, देहात्मस्वभावविदां न कोऽपि शोक हेतुः। यदर्थशास्त्राद्धर्मशास्त्रस्य बलवत्त्वमुच्यते, तत् किल ततोऽपि बलवता ज्ञानशास्त्रेण प्रत्युच्यते। तस्मादशोच्ये शोच्यभ्रमः पामरसाधारणः पण्डितस्य ते न योग्य इति भावः।"

"हे अर्जुन! तुम ज्ञानी व्यक्तियों के समान वाक्य प्रयोग करके भी जिसके सम्बन्ध में शोक करना उचित नहीं है, तुम उसके निमित्त शोक कर रहे हो, पण्डितगण मृत अथवा जीवित व्यक्तियों के निमित्त शोक नहीं करते हैं।" इस श्लोक से ही गीता ग्रन्थ प्रारम्भ हुआ है। किन्तु आरब्ध गीता ग्रन्थ श्रीअर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त कराने के निमित्त कथित नहीं हुआ है। कारण, (गी० १८।६०)—

"स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा। कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥"

टीका—उक्तमुपपादयति, स्वभावेति। यदि त्वं मोहादज्ञानान्मदुक्तमपि कार्य्यकर्त्तुं नेच्छसि, तदा, स्वभावजेन स्वेन कर्मणा शौर्य्येण मन्मयोद्भासितेन निबद्धोऽवशस्तत् करिष्यसि।"

"मोह वशतः जिसको करने के निमित्त अनिच्छा को प्रकट करते रहते हो, पुनर्बार अवश होकर अवश्य ही उसको करोगे।" इत्यादि वाक्य का प्रवर्त्तन, अर्जुन को युद्ध में प्रवर्त्तित करने के निमित्त नहीं हुआ है। कारण उक्त युद्धकार्य्य के निमित्त विपुल उपदेश प्रदान करना निष्प्रयोजन ही है। अन्तर्य्यामी पुरुष के द्वारा प्रेरित होकर ही अर्जुन को युद्ध कार्य्य करना अनिवार्य्य है। सुतरां गीताग्रन्थ युद्धाभिधायक नहीं, किन्तु परमार्थाभिधायक है। परमार्थाभिधायक ग्रन्थ में भी गुह्यतर, गुह्यतम का श्रवण करो, कथन से विशेष मनोयोग आकर्षणपूर्वक उक्त श्लोकसमूह के द्वारा श्रीकृष्ण का मुख्य वक्तव्य सुव्यक्त हुआ है। इसका बोध सुस्पष्ट रूप से होता है। उक्त रीति से श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकसमूह का एवं अष्टादशाध्यायोक्त (१८।६४) "सर्वगुह्यतमं भूय शृणु मे परमं वचः।

इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥" से आरम्भ कर श्लोकसमूह का गुरुत्व प्रकाश कर श्लोकसमूह की व्याख्या करते हैं।

"स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा। कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥"

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया॥"

जो एक होकर भी बहु अन्तर्य्यामिता के द्वारा स्वीय स्वरूपशक्ति से सबको नियमन करते हैं। श्रुतिः—एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः, सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा। धर्माध्यक्षः, सर्वभूताधिवासः, साक्षी-चेताः केवलो निर्गुणश्च। (श्वेताश्वतर—६।११)

सर्वभावेन (श्वे० ३।१५) "पुरुष एवेदं सर्वम्" इति भावनया सर्वेन्द्रियप्रेरणतया वा परां शान्तिं तदीयां परमां भक्तिम्, (भा० ११।१९।३६) "शमो मन्निष्ठता बुद्धेः" इत्युक्तेः। स्थानं तदीयं धाम, गुह्याद् ब्रह्मज्ञानादपि गुह्यतरम्, द्वयोः प्रकर्षे तरप्। अथेदमपि निजैकान्त-भक्तवराय तस्मै न पर्य्याप्तमित्यवधाय स्वयमेव महाकृपाभरेणोद्घाटित-परमरहस्यः श्रीभगवानन्यामपि प्रद्युम्न-सङ्कर्षण-वासुदेवपरमव्योमाधिपलक्षण-भजनीयतारतम्यगम्यां भजनक्रमभूमिकामतिक्रम्यैव सर्वतोऽप्युपादेयमेव सहसोपदिशति—'सर्वगुह्यतमं भूयः' इति। यद्यपि गुह्यतमत्वोक्तेरेव गुह्यगुह्यतराभ्यामपि प्रकृष्टमिदमित्यायाति, तथापि सर्व-शब्दप्रयोगो गुह्यतममपि परमव्योमाधिपादिभजनार्थशास्त्रान्तरवाक्यमत्येति, तस्य यावदर्थवृत्तिकत्वात्। बहूनां प्रकर्षे तमप्, अतएव परमम्। स्वकृत-तादृशहितोपदेशश्रवणे हेतुमाह—'इष्टोऽसि मे

सर्वसम्वादिनी

तापन्युपनिषदपि येनायथार्था मन्यते, तस्य तु महदेव साहसम्। अत्र च शाश्वत-सुख-फल-प्राप्तिश्रवणात्तत्-

सबके अन्तर्य्यामी हैं; उसको कहते हैं—'ईश्वर' इस पद्य से। वह ही समस्त संसार यन्त्रारूढ़ जीवसमूह को माया नामक शक्ति के द्वारा भ्रमण कराने के निमित्त उन सबके हृदय में अवस्थान करते हैं। सर्वभाव से अर्थात् श्वेताश्वतरोक्त (३।१५) "पुरुष एवेदं सर्वम्" यह पुरुष ही सकल रूपमें विहार करते हैं, इस प्रकार भावना के द्वारा किम्वा सर्वेन्द्रिय द्वारा उन पुरुष का आनुकूल्य 'उनकी प्रसन्नता के निमित्त' समन्वित अनुशीलन करके तदीय शरण ग्रहण करो। इस प्रकार आचरण से ही "परां शान्तिं" परमा शान्ति—"तदीयां परमां भक्तिम्" उन ईश्वर के प्रति परमाभक्ति लाभ करोगे। परमा शान्ति शब्द का अर्थ—'परमा भक्ति' करने में हेतु को कहते हैं। भा० ११।१९।३६ में उक्त है—"शमो मन्निष्ठताबुद्धेः" एकादश स्कन्ध में श्रीकृष्ण स्वयं ही कहे हैं— मेरे प्रति बुद्धि की निश्चलता का नाम ही 'शम' है। वह ही (श्रीभगवान् में बुद्धि स्थैर्य्य ही) भक्तिस्वरूप है। स्थानं—ईश्वर का धाम।

ब्रह्मज्ञान—गुह्य है, अन्तर्य्यामी ईश्वर परमात्मा का ज्ञान—उससे गुह्यतर है। उभय के मध्य एक का उत्कर्ष प्रदर्शन हेतु तरप् (गुह्य+तरप्—गुह्यतर) प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है।

अनन्तर उक्त प्रकार ईश्वरोपासना भी निज एकान्त भक्त श्रेष्ठ श्रीअर्जुन के निमित्त पर्य्याप्त नहीं है। इस प्रकार मानकर स्वयं श्रीभगवान् महा कृपाभर से परमरहस्योद्घाटनपूर्वक प्रद्युम्न, सङ्कर्षण, वासुदेव एवं परव्योमाधिप नारायण का भजनोपदेश प्रदान करना समीचीन होने पर भी उक्त क्रम को अतिक्रम करके ही उपदेश किये थे—"सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढ़मिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥" मैंने इस गीताशास्त्र में जो कुछ कहा है, सबसे यह श्रेष्ठ है। तुम मेरा अत्यन्त प्रिय हो, अतएव तुम्हारे हित हेतु मैं कह रहा हूँ। 'सुनो' "सर्वगुह्यतमं भूयः" इति।

यद्यपि गुह्यतम शब्द प्रयोग से गुह्य एवं गुह्यतर से निगूढ़ वाक्य का बोध होता है, तथापि सर्व शब्द प्रयोग करके श्रीनारायण प्रतिपादक वाक्य से भी निज 'श्रीकृष्ण' भजन प्रतिपादक वाक्य का श्रेष्ठत्व स्थापन आपने किया। 'शब्द की वृत्ति जितनी हो सकती है, उस सबका ग्रहण करना कर्त्तव्य है', इस नियम से ही सर्व शब्द प्रयोग कर निज भजन को यावतीय गुह्य भजन से भी निगूढ़ भजन रूप में निर्देश आपने किया है। अनेकों के मध्य में जिसका उत्कर्ष निर्देश होता है, उस वाचक शब्द के उत्तर तमप् प्रत्यय प्रयुक्त होता है। श्रीकृष्ण भजन की सर्वोत्कर्षता निबन्धन सर्वगुह्य शब्द के उत्तर 'तमप्' प्रत्यय

दृढ़मिति' इति ; परमाप्तस्य मम एतादृशं वाक्यं त्वयावश्यं श्रोतव्यमित्यर्थः। स्वस्य च तादृश-रहस्यप्रकाशने हेतुमाह—तत इति ; ततस्तादृशेष्टत्वादेव हेतोः। तदेवमौत्सुक्यमुच्छलय्य किं तदित्यपेक्षायां सप्रणयाश्रुकृताञ्जलिमेतं प्रत्याह—'मन्मनाः' इति। मयि त्वन्मित्रतया साक्षादस्मिन् स्थिते श्रीकृष्णे मनो यस्य तथाविधो भव। एवं मद्भक्तो मदेकतात्पर्य्यको भवेत्यादि। सर्वत्र मच्छब्दावृत्त्या मद्भजनस्यैव नानाप्रकारतयावृत्तिः कर्त्तव्या, न त्वीश्वर-तत्त्वमात्रभजनस्येति बोध्यते। साधनानुरूपमेव फलमाह—'मामेवैष्यसि' इति। अनेनैव-कारेणाप्यात्मनः सर्वश्रेष्ठत्वं सूचितम्। अन्यस्य का वार्त्ता, मामेवेति। एतदेव फलं श्रीपरीक्षिता च व्यक्तीकरिष्यते कलिं प्रति, (भा० १।१७।६)—

"यस्त्वं कृष्णे गते दूरं सह गाण्डीवधन्वना।
शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि प्रहरन् बधमर्हसि॥"१४५॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

पीठस्य यजनं विनाज्ञानं साहसमयम् ;—'ज्ञानान्मोक्ष' इति स्मृतेः ; अत्रैव 'धीराः' इति विशेषणाद्बालातुर-

प्रयोग करके उक्तार्थ का प्रकाश किया है। सर्वगुह्यतम विषय का प्रकाश होने के कारण ही यह वाक्य, परम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है। स्व-कृत तादृश उपदेश श्रवण के निमित्त श्रीअर्जुन को प्रवर्त्तित करने के हेतु को कहते हैं—'इष्टोऽसि मे दृढ़मिति' मैं दृढ़ता से कहता हूँ 'तुम मेरा प्रिय हो'। 'परमविश्वस्त मैं हूँ, मेरा वाक्य श्रवण करना अवश्य कर्त्तव्य है।" श्रीकृष्ण वाक्य का यह ही तात्पर्य्य है।

स्वयं क्यों तादृश रहस्य का प्रकाश करते हैं, उसके प्रति हेतु निर्देश करते हैं—'ततः' इति। तुम मेरा तादृश प्रिय हो, अर्थात् तुम मेरा इस प्रकार प्रिय हो, जिससे तुम्हारे निकट कुछ गोपन करना असम्भव है। तुम्हारी प्रीति का प्रभाव से ही हृदय द्वार स्वतः उद्घाटित होकर रहस्य व्यक्त होता है।

श्रीकृष्ण के वचन को सुनकर अर्जुन का औत्सुक्य उच्छलित हो उठा। गुह्यतम वाक्य ही क्या है, जानने के निमित्त प्रेमाश्रुप्लावित नयन से कृताञ्जलि होकर अर्जुन अवस्थित हुआ। इस अवस्था में स्थित अर्जुन को देख कर श्रीकृष्ण ने कहा—"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽपि मे॥" इत्यादि।

मन्मना हो जाओ, तुम्हारे सम्मुख में मित्ररूप से विद्यमान् जो मैं श्रीकृष्ण हूँ, मुझ श्रीकृष्ण में ही मन अर्पण करो, 'मद्भक्तो भव' मद्भक्त—मदेकतात्पर्य्यविशिष्ट बनो, अर्थात् मेरा प्रीति सम्पादन हेतु मेरा भजन करो, निज सुखप्राप्ति के निमित्त नहीं। मन्मनाः, मद्भक्त, मद्याजी एवं मां नमस्कुरु—सर्वत्र 'मत्' शब्द की आवृत्ति अविशेष रूप से हुई है, उससे प्रीति होती है—नाना प्रकार से मेरा भजनानुष्ठान बारम्बार करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। ईश्वरतत्त्व मात्र का भजन अपर के निमित्त विधेय होने पर भी तुम मेरा सखा हो, तुम्हारे पक्ष में उक्त भजनानुष्ठान कर्त्तव्य नहीं है, इस प्रकार बोध ही होता है। साधनानुरूप फल का वर्णन भी करते हैं—"मामेवैष्यसि" इति। 'मुझको प्राप्त करोगे' 'मामेव' स्थल में 'एव'-कार का प्रयोग है, उससे श्रीकृष्ण की श्रेष्ठता सूचित हुई है। अर्थात् दूसरे की कथा है, साक्षात् मुझको ही प्राप्त करोगे। श्रीकृष्ण प्राप्ति का साधनोपदेश आपने किया है, उसका याथार्थ्य प्रदर्शन के निमित्त ग्रन्थकार श्रीमज्जीव गोस्वामिचरण प्रमाण प्रदर्शन कर रहे हैं। कलि के प्रति श्रीपरीक्षित् के वाक्य से उसका प्रकाश हुआ है। भा० १।१७।६ में उक्त है—

'यस्त्वं कृष्णे गते दूरं सह गाण्डीवधन्वना। शोच्योऽस्यशोच्यान् रहसि प्रहरन् बधमर्हसि॥"

सत्यं त इत्यनेनात्रार्थे तुभ्यमेव शपेऽहमिति प्रणयविशेषो दर्शितः ;—"सत्यं शपथ-तथ्ययोः" इत्यमरः। पुनरप्यतिकृपया (गी० १८।६४) "सर्वगुह्यतमम्" इत्यादिवाक्यार्थानां पुष्ट्यर्थमाह—'प्रतिजाने' इति। ननु नानाप्रतिबन्धविक्षिप्तस्य मम कथं त्वन्मनस्त्वादिकमेव सिद्ध्येत् ? तत्राह—सर्वेति। 'सर्व'-शब्देन नित्यपर्य्यन्ता धर्मा विवक्षिताः। 'परि'-शब्देन तेषां स्वरूपतोऽपि त्यागः समर्थितः। पापानि प्रतिबन्धाः; तदाज्ञया परित्यागे पापानुत्पत्तेः। तदेव व्यतिरेकेण द्रढ़यति—'मा शुचः' इति। अत्र (गी०२।११)—

सर्वसम्वादिनी

वद्भावस्तेषां दूर एवोत्सारितः; 'नेतरेषाम्' इति निर्द्धारणेन तद्व्यजनस्य परम्पराहेतुत्वमपि निषिध्यते।

शूद्ररूपी कलि के द्वारा वृषरूपी धर्म एवं धेनुरूपा पृथिवी ताड़ित हो रहे थे। यह देखकर परीक्षित्, कलि को तिरस्कार कर कहे थे—"गाण्डीवधन्वा अर्जुन के सहित श्रीकृष्ण दूर गमन किए हैं, यह जानकर ही क्या तुमने निर्जन स्थान में निरपराधियों को मारा है ? तुम बहुत बड़ा अपराधी हो, तुम्हें प्राणदण्ड मिलना उचित है।" इस वाक्य से श्रीकृष्णार्जुन की सहगति का निर्देश हुआ है। अर्थात् श्रीअर्जुन के सहित श्रीकृष्ण की अवस्थिति सुस्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है।

"सत्यं ते" इस उक्ति से उक्त साधनारूप फल (श्रीकृष्ण) प्राप्ति विषय में शपथ का कथन है। अर्थात् मैं तुम्हारी शपथ लेकर कह रहा हूँ—"मन्मना" इत्यादि श्लोकोक्त साधनानुष्ठान के द्वारा मेरी प्राप्ति अवश्य ही होगी। इस वाक्य से श्रीअर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण का प्रणयविशेष सूचित हुआ है। अमरकोष के अनुसार शपथ एवं यथार्थ अर्थ में 'सत्य' शब्द का प्रयोग होता है। व्यवहार में दृष्ट होता है कि—शपथ की दृढ़ता प्रत्यय के निमित्त एकान्त प्रियजन का शपथ ग्रहण होता है। जिस प्रकार 'मैं पुत्र की शपथ लेकर कहता हूँ।' पुनर्बार अतिशय कृपा भर से 'सर्वगुह्यतम' इत्यादि वाक्य को पुष्ट करने के निमित्त कहते हैं, "मैं प्रतिज्ञा कर कहता हूँ—"प्रतिजाने प्रियोऽसि मे" इति।

बहुविध प्रतिबन्ध से विक्षिप्त चित्त मैं हूँ, कैसे तद्गतचित्त मैं हो सकता हूँ, एवं उक्त रीति से भजन समर्थ मैं कैसे बनूँगा ? अर्जुन की इस प्रकार मानसिक आशङ्का को लक्ष्य करके श्रीकृष्ण बोले—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।" इति।

नित्य पर्य्यन्त निखिल धर्म त्याग की विधि प्रदान के निमित्त ही 'सर्व' शब्द का प्रयोग हुआ है। धर्म द्विविध—नित्य एवं नैमित्तिक, नित्य—सन्ध्या वन्दनादि, नैमित्तिक—प्रायश्चित्तादि। 'परि'-शब्द प्रयोग के द्वारा धर्मसमूह का स्वरूपतः त्याग समर्थित हुआ है। दो प्रकार से धर्म त्याग सम्भव होता है, स्वरूपतः-त्याग, एवं फलतः-त्याग। अनुष्ठान त्याग—स्वरूपतः त्याग, फलाकाङ्क्षा शून्य होकर धर्मानुष्ठान से फलतः त्याग सम्पन्न होता है। सर्वतोभावेन श्रीकृष्ण शरणापत्ति का विघ्न जनक वर्णाश्रम धर्म परित्याग करके भी शरणापन्न होना आवश्यक है। पाप प्रतिबन्ध है। वर्णाश्रम- धर्मशास्त्र विहित है, उसको परित्याग करने से प्रत्यवाय होगा, सुतरां उसका त्याग कैसे सम्भव होगा ? संशय निरसन के निमित्त कहते हैं—"मैं तुमको सकल पापों से मुक्त करूँगा"। श्रीकृष्ण के आज्ञा पालन ही धर्म है, और उनका आदेश लङ्घन ही अधर्म है। वर्णाश्रमधर्म त्याग करके श्रीकृष्ण का भजन करने की आज्ञा है। तज्जन्य आश्रय धर्म का त्याग कर श्रीकृष्ण भजन करने से प्रत्यवायी नहीं होगा। तद्भिन्न अपर कारणों से वर्णाश्रमधर्म का त्याग करने से अवश्य प्रत्यवाय होगा। श्रीकृष्ण भजन हेतु वर्णाश्रमधर्म त्याग हेतु प्रत्यवाय नहीं होगा, दृढ़ता सम्पादन के निमित्त व्यतिरेक मुख से अर्थात् निषेध वाक्य के द्वारा

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥" १४६॥

इत्युपक्रमवाक्ये तस्यापण्डितत्वं स्वस्य च पण्डितत्वं व्यज्य शोकपरित्यागेन मत्कृतोपदेशमेव गृहाणेति विवक्षितम्। ततश्च तारतम्यज्ञानार्थमेव बहुधोपदिश्यापि महोपसंहारवाक्यस्थस्य तस्योपदेशस्य परमत्वं निर्द्दिश्य शोकपरित्यागेन तमेव तमेतमेवोपदेशं त्वं गृहाणेति

सर्वसम्वादिनी

अतएव (छा ७।१।५) 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत' इतिवदत्रारोपोऽपि न मन्तव्यः। तस्मादाराधन-वाक्येन

कहते हैं—"तुम शोक न करो" चिन्ता क्या है? मैं ही तुमको समस्त पापों से मुक्त करूँगा। निश्चिन्त होकर मेरा भजन करो, वचन भङ्गी यह ही है।

यहाँ पर गीतोक्त २।११—"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥"

जिसके निमित्त शोक करना उचित नहीं है, तुम उस विषय में शोक कर रहे हो, अथच बुद्धिमान् की भाँति बात भी करते रहते हो। पण्डितगण, मृत अथवा जीवित व्यक्ति के सम्बन्ध में शोक नहीं करते हैं। इस उपक्रम वाक्य से श्रीअर्जुन का अपाण्डित्य प्रकट कर 'शोक त्याग कर मेरा उपदेश सुनो' यह ही श्रीकृष्ण का वक्तव्य है।

जिज्ञासा हो सकती है कि—श्रीकृष्ण भजनोपदेश ही यदि श्रीगीता का अभिप्रेत है, तब बहुविध योगोपदेश प्रदान की आवश्यकता ही क्या रही? उत्तर में कहते हैं, तारतम्य ज्ञान सम्पादन हेतु बहुविध योगोपदेश प्रदत्त हुआ है। अर्थात् अनेक प्रकार साधन, एवं उसका फल का वर्णन न करने से श्रीकृष्ण भजन का सर्वोत्तमत्व बोध नहीं होगा। जिस प्रकार अनेक व्यक्तियों के मध्य में एक व्यक्ति का उत्कर्ष स्थापित होता है, केवल एक व्यक्ति की तुलना से उत्कर्ष का प्रतिपादन नहीं होता है। यहाँ पर भी वैसा ही जानना होगा।

बहुविध उपदेश प्रदान के अनन्तर महोपसंहार वाक्य का—
"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥"

ब्रह्मज्ञान, ऐश्वरीक ज्ञान प्राप्त करने का उपायस्वरूप वर्णाश्रमादि धर्म, यतिधर्म, वैराग्य, शमदमादि धर्म, ध्यानयोग, परमात्मानुसन्धान, सर्वत्र परमात्मनियन्तृत्व का निरीक्षण प्रभृति का वर्णन मैंने किया है। उक्त समुदाय धर्म को परित्यागपूर्वक एकमात्र भगवत्स्वरूप मेरी शरणापत्ति को अङ्गीकार करो, इस प्रकार आचरण करने से ही मैं तुम्हें सांसारिक समस्त पापों से तथा पूर्वोक्त धर्म परित्याग जनित पापसमूह से उद्धार करूँगा। अकृतकर्मा अपनेको मानकर कभी शोक न करना। मेरे प्रति निर्गुणभक्ति का आचरण से जीव का पूर्ण चैतन्योदय होता है। काम्य धर्माचरण, कर्त्तव्याचरण, प्रायश्चित्तादि, ज्ञानाभ्यास, योगाभ्यास एवं ध्यानाभ्यासादि की आवश्यकता नहीं होती है। बद्धावस्था में ही शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिकादि कर्माचरण विहित है। किन्तु उक्त कर्म से प्राप्त ब्रह्मनिष्ठा एवं ईश्वर निष्ठा को परित्याग कर भगवत्सौन्दर्य्याकृष्ट होकर एकमात्र भगवत् शरणापत्ति को अवलम्बन करो। भावार्थ यह है कि—शरीरी मानव, जीवन यापन के निमित्त यावतीय कर्म करता है, उक्त समुदय कर्म ही उक्त त्रिविध कर्मनिष्ठा से उत्पन्न होते हैं, अथवा इन्द्रियसुख निष्ठारूप अधम निष्ठा से ही होते हैं। अधम निष्ठा से ही अकर्म-विकर्म होते हैं, वे ही अधर्मजनक हैं। त्रिविध उत्तम निष्ठा का नाम—ब्रह्मनिष्ठा, ईश्वर निष्ठा, भगवन्निष्ठा। वर्णाश्रम एवं वैराग्यादि समस्त कर्म ही उक्त एक एक निष्ठा को अवलम्बन

द्वयोर्वाक्ययोरेकार्थप्रवृत्तत्वमपि स्पष्टम्। ततः श्रीकृष्णस्यैवाधिक्यं सिद्धम्। अतएव (ब्र० सू० २।१।१७)"असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्" इति न्यायादुपसंहारस्यैवोप-

सर्वसम्वादिनी

तस्य नित्यत्वं सिध्यत्येव। (पातालसू० साधन-पा० ४४ सू०) 'स्वाध्यायादिष्टदेवता-संप्रयोगः' इति स्मरणञ्चात्रोपष्टम्भकमिति।

कर एक एक प्रकार भाव को प्राप्त करते हैं। ब्रह्मनिष्ठाधीन होने से कर्म-ज्ञान रूप में प्रकाशित होता है, ईश्वरनिष्ठा होने से ईश्वरार्पित कर्म एवं ध्यानयोगादि भाव का उदय होता है। भगवन्निष्ठ होने से शुद्धाभक्ति—केवलाभक्ति उदित होती है। अतएव भक्ति ही परमगुह्यतम तत्त्व है, एवं भगवत् प्रीति ही जीव का चरम प्रयोजन तत्त्व है, यह ही गीताशास्त्र का मुख्य तात्पर्य्य है। कर्मी, ज्ञानी, योगी एवं भक्त इन सबकी जीवनयात्रा प्रायशः एक प्रकार दृष्ट होने पर भी उक्त निष्ठा भेद से वे सब अत्यन्त पृथक् होते हैं।

अतएव 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'-रूप उपसंहार वाक्य का श्रेष्ठत्व निर्देशपूर्वक तुम उक्त उपदेश को ग्रहण करो। इस प्रकार अभिप्राय ही व्यक्त हुआ है,—

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥"

उपक्रम वाक्य—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

उपक्रम, उपसंहार वाक्यरूप वाक्यद्वय का (अर्थात् उक्त उभय वाक्य का) ही एक अर्थ है। अर्थात्—

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥"

इत्यादि रीत्यनुसार श्रीकृष्ण भजन में प्रवृत्ति कराना ही तात्पर्य्य है। इस अभिप्राय का बोध ग्रन्थावलोकन से सुस्पष्ट होता है। अतएव श्रीकृष्ण भजन का श्रेष्ठत्व निर्देश हेतु श्रीगीताशास्त्र के अनुसार श्रीकृष्ण का सर्वाधिकत्व सिद्ध हुआ।

प्रस्तुत गीताशास्त्र में श्रीकृष्ण का सर्वपरमत्व सिद्ध होने पर भी तदीय किस स्वरूप का श्रेष्ठत्व है, उसका निर्णय होना परम आवश्यक है। कतिपय व्यक्ति के मत में गीतास्थ एकादशाध्यायोक्त विश्वरूप ही परम स्वरूप है। वह कथन भ्रमात्मक है। कारण, (ब्र० सू० २।१।१७) "असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न, धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्" वेदान्तसूत्रानुसार, शास्त्र का उपसंहार वाक्य ही उपक्रम वाक्य का अर्थनिर्णायक होता है, एवं उपक्रम-उपसंहार वाक्य द्वारा निर्णीत अर्थ ही समग्रशास्त्र तात्पर्य्य का हेतु है। सूत्र का प्रकरण यह है—

"स्यादेतत् असद्वा इदमग्र आसीदिति पूर्वमसत्व श्रवणादुपादाने उपादेयस्य सत्त्वं नास्थेयमिति चेन्न। यदयमसद्व्यपदेशो न भवदभिमतेन तुच्छत्वेन किन्तु धर्मान्तरेणैव सङ्गच्छते। एकस्यैव द्रव्यस्योपादेयोपादानोभयावस्थस्य स्थौल्यं सौक्ष्म्यं चेत्यवस्थात्मकं धर्मद्वयं सदसच्छब्दबोध्यम्। तत्र स्थौल्याद्धर्मादन्यत् सौक्ष्म्यं धर्मान्तरं तेनेति। एवं कुतः—वाक्यशेषात्। तदात्मानं स्वयमकुरुतेति च विरुध्येत। असतः कालेन सहासम्बन्धात्, आत्माभावेन कर्त्तृत्वस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च।"

"असद्व्यदेशात्' इत्यादि सूत्र तात्पर्य्य यह है—श्रुति, "सृष्टि के आदि में एकमात्र 'असत्' था।" एतदनुसार जगत् का उपादान कारण ब्रह्ममें उपादेय जगत् की सत्ता नहीं थी, कतिपय व्यक्ति उस प्रकार सिद्धान्त करते हैं। उसकी सङ्गति प्रदर्शनपूर्वक मीमांसा करते हैं—'असत् था'। यह सुनकर जगत् की असत्त्वा का निर्णय न करना। धर्मान्तर के द्वारा अर्थ सङ्गति होती है। स्थूल जगत् की सूक्ष्मावस्था

क्रमार्थनिर्णायकत्वादुपक्रमोपसंहारार्थस्य च सर्वशास्त्रार्थत्वात्तत्रोक्तं विश्वरूपमपि तदधीनमेव। तच्च युक्तम्, तेनैव दर्शितत्वात्। तत्र च (गी० ११।५०)—"इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा, स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः" इति नराकारचतुर्भुजरूपस्यैव स्वकत्वनिर्द्देशात्। तद्विश्वरूपं न तस्य साक्षात् स्वरूपमिति स्पष्टम्। अतएव परमभक्तस्यार्जुनस्यापि न तदभीष्टम्, किन्तु तदीयं स्वकं रूपमेवाभीष्टम्, (गी० ११।४५)—"अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा, भयेन च प्रव्यथितं मनः" इत्याद्युक्तेः। तद्दर्शनार्थमर्जुनं प्रति दिव्यदृष्टिदान-लिङ्गेन तस्यैव

सर्वसम्वादिनी

[मूल० ६३तम अनु०] त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्र-वचनान्तरञ्चैवं व्याख्येयम्। यदि वा श्रीकृष्णादीनां

में ही धर्मान्तर है। वर्त्तमान स्थूल जगत् अग्र में सूक्ष्म रूप में विद्यमान था। उस सूक्ष्म रूप को ही 'असत्' कहा गया है। कह सकते हैं कि—इस प्रकार अर्थ कैसे होगा? उत्तर यह है—"आत्मानं स्वयमकुरुत" अपने को स्वयं विधान किया, इस वाक्य शेष के द्वारा सन्दिग्धार्थ उपक्रम वाक्य का भी उस प्रकार ही व्याख्या होना आवश्यक है। अन्यथा 'आसीत्' आत्मानमकुरुत' वाक्यद्वय का विरोध उपस्थित होता है। कारण, असत् का कालके सहित असम्बन्ध एवं आत्मा का अभाववशतः कर्त्तृत्व की असम्भावना होगी। तात्पर्य्य यह है कि— उपक्रम वाक्य के द्वारा शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय में निःसन्दिग्ध होना सम्भव न होने पर, उपसंहार वाक्य द्वारा उसका अर्थ निर्णय करें।

विचार्य स्थल में "मन्मना भव" इत्यादि श्लोक का वक्ता, अर्जुन के सखा रूप में विराजमान नराकृति परमब्रह्म श्रीकृष्ण ही परम स्वरूप हैं। 'विश्वरूप' श्रीकृष्णरूप का ही अधीन है। यह सङ्गत ही है। कारण, विश्वरूप का प्रदर्शनकर्त्ता नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं। विश्वरूप, श्रीकृष्ण रूप का ही अधीन होने से ही श्रीकृष्ण ने उस रूप को स्वेच्छा से ही दिखाया है। श्रीकृष्णरूप, यदि विश्वरूप का ही अधीन होता तब श्रीकृष्ण, इच्छा मात्र से ही विश्वरूप को दिखा नहीं सकते। विशेषतः गीता के उस अध्याय में ही कथित है—"अर्जुन को इस प्रकार कहकर पुनर्बार स्वीय रूप दिखाये थे।"

"इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥" (गी० ११।५०)

महात्मा वासुदेव अर्जुन को इस प्रकार कहकर स्वीय चतुर्भुज मूर्त्ति दर्शन कराकर पश्चात् निज द्विभुज सौम्यमूर्त्ति का प्रकाश कर भीत-मना अर्जुन को साहस प्रदान किये थे।

यहाँ पर नराकार चतुर्भुज रूप को ही स्वकीय कहा गया है। तज्जन्य उक्त विश्वरूप, श्रीकृष्ण का साक्षात् स्वरूप नहीं है, उसकी प्रतीति सुस्पष्ट रूप से होती है। सुतरां परम भक्त अर्जुन का वह रूप अभीष्ट नहीं है, तदीय स्वकीय रूप ही अर्जुन का अभीष्ट है। विश्वरूप दर्शन के पश्चात् श्रीअर्जुन बोले भी थे—(गी० ११।४५-४६)—

"अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥
किरीटिनंगदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भवविश्वमूर्त्ते॥"

विश्वरूप को मैंने पहले नहीं देखा था। सम्प्रति देखकर कौतूहल निवृत्त हुआ। किन्तु उस रूप दर्शन से भक्तगण के मनो नयन की आनन्दोत्पत्ति नहीं होती है। तज्जन्य ही मैंने उसे देखकर मानसिक भीति का अनुभव किया। हे जगन्निवास! हे देवेश! तुम्हारे सच्चिदानन्दमय चतुर्भुज रूप का दर्शन

माहात्म्यमिति तु बालकोलाहलः ; "नराकृति परं ब्रह्म" इति (भा० १०।१४।१८) "तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते" इति, (भा० १०।१४।३२) "यन्मित्र परमानन्दम्" इति, (भा० १०।१२।३६)

सर्वसम्वादिनो

स्वयंभगवत्तादिकमननुसन्धेयैव प्रलापिभिरुपासनानुसारेणान्यदापि कश्चिन्मूलभूत एव भगवान् तत्तद्रूपेणो-

कराओ। मैं सम्प्रति चतुर्भुज मूर्त्ति को देखना चाहता हूँ। जिसके मस्तक में किरीट, हस्त में गदा चक्रादि आयुध हैं। उस मूर्त्ति से ही यह सहस्र बाहुविशिष्ट विश्वरूप मूर्त्ति, विश्व स्थिति के समय उदित होती है। हे कृष्ण ! मैंने निश्चित रूप से जाना, तुम्हारे द्विभुज सच्चिदानन्दमय रूप ही सर्वोपरि तत्त्व है, सर्वजीवाकर्षक एवं सनातन है। उक्त द्विभुजमूर्त्ति का ऐश्वर्य्यविलासरूप तुम्हारी चतुर्भुज नारायण मूर्त्ति नित्य विराजमाना है, एवं जिस समय जगत् की सृष्टि होती है, उस समय उक्त चतुर्भुज रूप से ही विश्वरूप विराट् मूर्त्ति आविर्भूत होती है। इस परम ज्ञान के द्वारा मेरा कौतुहल चरितार्थ हुआ।

विश्वरूप दर्शन करने के निमित्त श्रीअर्जुन को श्रीकृष्णने दिव्यदृष्टि प्रदान किया था—

"नतु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।

सोपाधिक चक्षु को दिव्यचक्षु कहते हैं। दिव्यचक्षु प्रदान ही किए थे। नतु दिव्य मन। उक्त दिव्यचक्षुः दान मैं कर रहा हूँ, उससे तुम मेरा ऐश्वरीक रूप दर्शन करो। निरुपाधिक कृपास्वरूप की अपेक्षा लब्ध दिव्य चक्षुःसम्पन्न व्यक्तिगण सोपाधिक ऐश्वरीक रूप से अधिक आनन्दानुभव करते हैं। कारण, उनके निरुपाधिक स्वचक्षुः निमीलित रहते हैं।

इस दिव्यदृष्टि के द्वारा विश्वरूप दर्शन माहात्म्य का अनुभव अत्यधिक रूप से करने का उक्त कथन बाल-कोलाहल के समान ही अश्रद्धेय है।

श्रीकृष्ण का नराकार श्रीविग्रह ही प्राकृत दृष्टि का अगोचर है। भगवच्छक्तिविशेष समन्वित दृष्टिविशेष के द्वारा उक्त श्रीविग्रह प्रत्यक्षीभूत होते हैं।

पद्मपुराण में उक्त है—"नराकृति परं ब्रह्म"। श्रीमद्भागवत के १०।१४।१८ में श्रीब्रह्मा ने कहा—

"अद्यैवत्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शित,-मेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्त अपि।
तावन्तोऽपि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते।।"

पूर्व की भाँति आज भी मुझको योगमाया वैभव को आपने दिखाया है। प्रथम, आप एकाकी थे, बाद में समस्त ब्रज सुहृत् वयस्य एवं समस्त वत्स होकर प्रकाशित हुये। अनन्तर सबको अखिल तत्त्व अर्थात् आत्मादि स्तम्भ पर्य्यन्त मूर्त्तिमान् चराचर एवं मादृश ब्रह्मा समूह के द्वारा उपासित चतुर्भुज नारायण रूप में मैंने देखा। उनमें से प्रत्येक ही पृथक् पृथक् अखिल तत्त्व के द्वारा परिसेवित हुआ। सम्प्रति देख रहा हूँ—अद्वय ब्रह्ममात्र ही आप अवशिष्ट हैं।

इस श्लोक में—' श्रीमन्नराकार कृष्ण से ही विश्वस्रष्टा अनेक चतुर्भुज आविर्भूत हुये थे, एवं सब ही बाद में उनमें प्रविष्ट हुये थे" इसका वर्णन है। भा० १०।१४।३२ में वर्णित है—

"अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्, यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्मसनातनम्।" ब्रह्मा, आश्चर्य्य चकित भाव से कहे थे,—परमानन्द पूर्णब्रह्म आप गोकुलवासिगण के सनातन मित्र हैं।

टीका—अहो, इति पुनरुक्त्या भाग्यस्य सर्वथा अपरिच्छिन्नत्वमुक्तम्।।

क्रमसन्दर्भः। भवन्माहात्म्यमपि न तादृशतायोग्यमित्यस्त्यतिशयान्तरमपीति स्मरन्निव पुनरतीव सचमत्कारमाह—अहो इति, अहो आश्चर्य्ये, भाग्यमनिर्वचनीयस्तत्प्रसादः, वीप्सा, तदतिशयिता—प्रागल्भ्येन पुनः पुनश्चमत्कारावेशात्। केषाम् ? तत्राह—नन्दगोपव्रजौकोमात्राणां, पशुपक्षिपर्य्यन्तानाम्। किं तत् ? येषां परमानन्दं मित्रं, स्वाभाविकबन्धुजनोचितप्रेमकर्त्तृ, क्लीवत्वं छान्दसम्, तेन च,

"स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभिव्युदस्तमायः" इति, (भा० १०।६४।२६) "स त्वं विभो

सर्वसम्वादिनी

पासकेभ्यो दर्शनं ददातीति मन्तव्यम्, तथापि श्रुत्यादि-सिद्धानां तत्तदुपासना-प्रवाहाणाम् (भा० १०।२।३१)

(बृहदा० ३।९।२८) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतिवाक्यं, तत् सूचयति। यत्र क्वाप्यानन्द एव खलु सर्वे तादृशप्रेमकर्त्तारो दृश्यन्ते, नत्वानन्दः। कुत्रचिदेषु त्वानन्द एव तात्कर्त्ता, तत्र च श्रुतिमात्रवेद्यत्वेन परमः, अखण्डानन्दतारतम्यवत् स्वरूपत एवालौकिक-माधुर्य्यः। न चैतावदेव। किं तर्हि ? पूर्णमप्यमृतम्। सौरभ्यादिभिरिव स्वरूपरूपगुणलीलैश्वर्य्यमाधुरीभिः 'सर्वाभिरेवामर्य्यादमेव तत्। एतदपि कुत्रापि न दृष्टं न श्रुतञ्च। न च तादृशं मित्रमित्यर्थः। पुनः कथम्भूतम् ? अपि ब्रह्म—आनन्दानन्त्येन सर्वतो बृहदपि, आनन्दस्य तादृशबृहत्वं तादृश-बृहतोऽप्यन्येन मित्रत्वं क्व दृष्टमिति भावः। अन्यदप्याश्चर्य्यमिदमित्याह—सनातनम्, तत्रादृशमपि नित्यम्, कस्यचित्, क्षुद्रानन्दोऽपि न नित्यो दृश्यते। एषां तु तादृशोऽपीति॥

आपकी महिमा उस प्रकार से ही सीमित नहीं है। किन्तु सर्वातिशय्य पूर्ण भी है। स्मरण पथमें उदित होने से अतीव आश्चर्य्यचकित होकर ब्रह्मा ने कहा, अहो इति। आश्चर्य्य प्रकटन में अहो शब्द का प्रयोग होता है। भाग्य शब्द का अर्थ—अनिर्वचनीय श्रीकृष्ण की प्रसन्नता। वीप्सा—प्रसाद की अतिशयता प्रकाशक है, प्रगल्भता के कारण—चित्त में पुनः पुनः चमत्कार का आवेश से ही पुनः पुनः कथन हुआ। किसका भाग्य ? नन्दगोपव्रज के निवासी पशुपक्षिमात्र निखिल वस्तुओं का सौभाग्य है। वह भाग्य क्या है ? जिन सबके प्रति परमानन्द ही मित्र है, अर्थात् स्वाभाविक प्रीतिकर्त्ता है। ब्रह्मलिङ्ग का प्रयोग, परमानन्द के उत्तर—छान्दस प्रयोग है। आनन्द पुरुषोत्तम लिङ्ग है, किन्तु बृहदारण्यक श्रुति में विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, उल्लेख है। उसका वर्णन करते हैं—जहाँ पर आनन्द का वर्णन है, वहाँ आनन्द के प्रति लोक प्रीति करते हैं, किन्तु आनन्द किसी के प्रति प्रीति नहीं करता है। व्रज में तो इन सब व्रजवासिओं के प्रति—आनन्द ही प्रीतिकर्त्ता है। उसमें भी श्रुतिमात्रवेद्य रूप में परम हैं। अखण्डामृततारतम्य के समान स्वरूपत ही अलौकिक माधुर्य्यपूर्ण है। केवल यह ही आश्चर्य्य नहीं है, किन्तु अपर भी है, वह यह है—पूर्ण होकर भी अमृत है। सौरभ्यादि के समान स्वरूप-रूप-गुण-लीलाश्वैर्य्य माधुरी प्रभृति के द्वारा वह निःसीम है। कहीं पर उस विषय का दर्शन श्रवण आजतक नहीं हुआ है। न-तो वह किसीका मित्र ही होता है। वह किस प्रकार है,—ब्रह्म होकर भी, अनन्त होकर भी, सब प्रकार से बृहत् होकर भी, आनन्द का उस प्रकार बृहत्त्व किसीने कभी भी नहीं देखा है। उस प्रकार बृहत् भी किसी का कभी मित्र हुआ है, यह भी किसीने नहीं देखा है। अन्य आश्चर्य्य यह है—सनातन मित्र है। वह मित्रता भी नित्य है, सामयिकी नहीं। किसीका क्षुद्रानन्द भी नित्य नहीं होता है, व्रजवासियों का तो क्षुद्रानन्द भी नित्य है।

भा० १०।१२।३९ में श्रीशुकदेव ने कहा है—

"सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहिता मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभिव्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥"

"श्रीकृष्ण, नित्यात्मसुखानुभूति के द्वारा मायाको सर्वतोभावेन विदूरित किये हैं।"

टीका—यस्याङ्गं मूर्त्तिस्तस्य प्रतिमा प्रतिकृतिः, तत्रापि केवलं मनोमयी, सापि बलादन्तराहिता सती भागवतीं गतिं ददौ, प्रह्लादादिभ्यः। स एव साक्षादन्तर्गतः किं पुनः। नित्या चासावात्मसुखानुभूतिश्च, तदा अभितोव्युदस्ता माया येन सः।

कथमिहाक्षपथः प्रतीतः" इति च, तथा (गी० १४।२७) "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इति,

सर्वसम्वादिनी

"स्वयं समुत्तीर्य्य भवार्णवं द्युमन्, सुदुस्तरं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पादाम्भोरुहनावमत्र ते, निधाय याताः सदनुग्रहो भवान् ॥"३२॥

वृहद्वैष्णवतोषणी—मनोमयीति—मनसा सहजार्थैर्य्येण सदा सर्वसौन्दर्य्याद्यस्फूर्त्या शैलयादि-प्रतिमाभ्यो न्यूनताभिप्रेता। अन्यत्तैः। अत्र प्रह्लादादिभ्य इवेति बोद्धव्यम्। तेषु स्वतः एव स्फूर्त्तिः, नतु बलादिति नित्यात्मेति तैर्व्याख्यातम्। नित्यमात्मनां सर्वजीवानां सुखानुभूतिर्यस्मात् यतोऽभितो विशेषेणोदस्तमायः, तथा च वक्ष्यति श्रीब्रह्मा "अत्रैव मायाधमनावतारे" (श्रीभा० १०।१०।१६) इति स चासौ स च यतः परमः सर्वतः श्रेष्ठः, निजाशेषभगवत्ता प्रकटनात्, यद् यस्याङ्गेति सन्याय हर्षसम्बोधने।

भा० १०।६४।२६ में नृग महाराज ने कहा है—

"स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा योगेश्वरैः श्रुतिदृशाऽमलहृद्विभाव्यः।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः स्यान्मेऽदृश्य इह यस्य भवापवर्गः॥"

हे विभो! वह परमात्मा आप ही हैं। जिनकी चिन्ता, परम भक्तगण उपनिषच्चक्षु के द्वारा हृदय में करते हैं, आश्चर्य्य है, वह आप मेरे नयनगोचर हुये हैं।

द्वारका में सच्चिदानन्द नराकार विग्रह में प्रकटलीलाकारी श्रीकृष्ण दर्शन से विस्मित होकर नृग महाराज उनको कहे थे। परम दुर्लभ अनिर्वचनीय महिमान्वित आप विभु—सर्वव्यापक हैं, अतएव इन्द्रियागोचर हैं। परमात्मा, आत्मा से भी श्रेष्ठ हैं। सुतरां आत्म-साक्षात्कार से भी आपका साक्षात्कार अति दुर्घट है। योग—भक्तियोग, उस भक्तियोग में ईश्वर समर्थ, अर्थात् परमभक्त, ईदृश योगेश्वरगण कर्त्तृक औपनिषद् चक्षु के द्वारा आप निर्मल हृदय में चिन्तनीय हैं। आप साक्षात् अधोक्षज हैं। अक्षज—इन्द्रियज्ञान, जिस विषय में अधः, परास्त है, इस प्रकार आप हैं। अर्थात् आप इन्द्रियातीत हैं, ज्ञानातीत हैं, जिनका संसारक्षय हुआ है, वह ही आपका दर्शन प्राप्त करता है। अत्यन्त दुःख द्वारा हतबुद्धि मैं आपका दर्शन पाया, यह अतीव आश्चर्य्यं है।

नृग, इक्ष्वाकु पुत्र थे। आप अतिशय दाता थे। आप सालङ्कृता दुग्धवती असंख्य कपिल-धेनु दान किये थे। एकदा तत्कर्त्तृक एक ब्राह्मण को प्रदत्ता धेनु, दानार्थ रक्षित नृप के धेनुवृन्द में मिल गई थी। नृग महाराज ने भ्रमवशतः उक्त धेनु को अपर ब्राह्मण को दान कर दिया था। उभय ब्राह्मणों में तुमुल कलह उक्त धेनु को लेकर हुआ। राजा अनुनय के सहित एक धेनु के परिवर्त्त में लक्ष धेनु प्रदान का प्रस्ताव किये थे। किन्तु उससे भी कलह का समाधान नहीं हुआ, "हम धेनु ग्रहण करना नहीं चाहते हैं" कहकर ब्राह्मणद्वय चले गये। मृत्यु के पश्चात् उक्त कर्मफल से नृग नृपति कृकलास देह प्राप्त कर द्वारका के एक निरुदक कूप में निपतित हुए थे। यदुकुमारगण, वृहदाकार कृकलास को देखकर कूप से उद्धार की चेष्टा किए थे, किन्तु असमर्थ होकर श्रीकृष्ण के निकट निवेदन करने पर श्रीकृष्ण आकर उसको उद्धार किये थे। श्रीकृष्ण उक्त प्रसङ्ग में ब्रह्मस्वापहरण का फल वर्णन कर निज जनगण को सतर्क किये थे।

स्वामिटीका—दुर्घटेन श्रीकृष्णदर्शनेन विस्मितः सन् आत्मनो भाग्यमभिनन्दति—स त्वमिति। हे विभो! स त्वं ममाक्षिपथो लोचनगोचरः सन् कथं साक्षात् प्रत्यक्षोऽसीत्यर्थः। ननु किमत्र आश्चर्य्यं, तदाह—पर आत्मा, अतएव, योगेश्वरैरपि श्रुतिदृश्य-उपनिषच्चक्षुषा, अमले हृदिविभाव्यश्चिन्त्यः, यतोऽधोक्षजः, अक्षजमैन्द्रियकज्ञानं, तदधोऽर्वागेव यस्मात् सः। यस्येह भवापवर्गो भवेत् तस्य भवाननुदृश्यः स्यात्। उरु व्यसनेन कृकलास भवदुःखेन अन्धबुद्धेस्तु ममैतच्चित्रमित्यर्थः॥

(गी० ७।२५) "नाहं प्रकाशः सर्वस्य" इति च श्रवणेन प्राकृतदृष्टेस्तत्राप्यकरणत्वात्, भगवच्छक्ति-
सर्वसम्वादिनी
इत्यनुसारेणाविच्छिन्न-सम्प्रदायत्वेनानादिसिद्धत्वादनन्तत्वात् केषाञ्चित्तत्तच्चरणारविन्दैक-सेवा-मात्र-

वैष्णवतोषणी। स परमदुर्लभः। किञ्च, अनिर्वचनीयमाहात्म्यत्वम्। विभो! हे व्यापकेति चाक्षपथायोग्यत्वम्। तथा परमात्मा, परमात्मेत्यात्मसाक्षात्कारावपि त्वत्साक्षात् दुर्घटत्वं सूचितम्। योगः, भक्तियोगः, तस्मिन्नीश्वरैः, समर्थैः परमभक्तैः, इत्यर्थः। योजना तु तैः कृता। यद्वा, कथं केन प्रकारेणाक्षपथं प्रयातोऽसि? तन्तु विचारेण न लभे इत्यर्थः। यतः पूर्वोक्तप्रकारेणाधोक्षजो ज्ञानाविषयो यः, स साक्षात् स्यात्, काक्वा नैवेत्यर्थः। तत्रापि ममोरुव्यसनान्धबुद्धेः साक्षात् स्यात्, काक्वा न तरामित्यर्थः। यतो यस्य भवापवर्ग उपस्थितोऽस्ति, तेनैवानुदृश्यः, दृष्ट सदृशो भवसि, सर्वातीतत्वादानन्त्याच्च, तस्मान्मम स्वर्गितां प्राप्तस्य त्विदं दर्शनमतीवचित्रमिति भावः।

गी० १४।२७ में उक्त है—"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥"

टीका—"ननु तद्विवेकख्यात्या त्वदेकभक्त्या गुणातीतो लब्धस्वरूपो 'ब्रह्म' शब्दितो मुक्तः कथं तिष्ठेदिति चेत्तत्राह—ब्रह्मणो हीति। हि निश्चये। ब्रह्मणस्तत्पूर्वकया तया सत्त्वाद्यावरणात्ययादाविर्भावित स्वगुणाष्टकस्यामृतस्य मृतिनिर्गतस्याव्ययस्य ताद्रूप्येणैकरसस्य मुक्तस्य मदतिप्रियस्याहमेव विज्ञानानन्द-मूर्त्तिरनन्तगुणो निरवद्यः सुहृत्तमः सर्वेश्वरः। प्रतिष्ठा—प्रतिष्ठीयतेऽत्र 'इति' निरुक्तेः परमाश्रयोऽतिप्रियो भवामीति तादृशं मां परया भक्त्यानुभवंस्तिष्ठतीति, न मत्तो विश्लेषलेशो, 'न स पुनरावर्त्तते' 'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते' 'मुक्तानां परमागतिः' इति स्मृतिभ्यः। ननु मुक्तस्त्वां कथं श्रयेत् श्रवणफलस्य मुक्तेर्लाभादिति चेदस्त्यतिशयितं फलमिति भावेनाह— शाश्वतस्य चेत्यादि। नित्यस्य षड़ैश्वर्य्यशब्दितस्य धर्मस्यैकान्तिकस्य मदसाधारणस्य सुखस्य च विचित्रलीला-रसस्याहमेव प्रतिष्ठेति। तीव्रानन्दरूप-मद्विभूतिमल्लीलानुभवाय मामेव समाश्रयतीत्येवमाह—श्रुतिः, 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इति।"

सर्व प्रकार साधन का फल यदि ब्रह्मसम्पत्ति ही है, तब कैसे ब्रह्मभूत व्यक्ति मुक्त होकर अवस्थित होगा? उत्तर—नित्य निर्गुण अवस्था में मैं स्वरूपतः ही भगवान् हूँ। जड़ शक्ति में तटस्थ शक्तिरूप जीव चैतन्य वीज का आधान के समय प्रथमोक्त आदि शक्ति का प्रकाश ही ब्रह्म है। ज्ञानालोचन के द्वारा सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करने से ब्रह्मधाम की प्राप्ति होती है। वह ही निर्गुण अवस्था की प्रथम सीमा है। उसको प्राप्त करने के पहले जड़विशेष त्यागरूप एक निर्विशेष भावोदय होता है, उसमें अवस्थित निर्विशेषता दूरीभूत होकर चिद्विशेष की प्राप्ति होती है। उक्त क्रमानुसार ही ज्ञानमार्ग में सनकादि ऋषिगण एवं वामदेव प्रभृति निर्विशेषभावापन्न व्यक्तिगण, निर्गुण भक्तिरसरूप अमृत को प्राप्त किए हैं। मुमुक्षुत्व रूप दुर्वासना त्याग न होने से निर्गुण भक्ति लाभ असम्भव है। वस्तुतः निर्गुण सविशेष तत्त्व ही मैं हूँ, ज्ञानिवर्ग की चरमगति, ब्रह्म की प्रतिष्ठा—आश्रय मैं हूँ। अमृततत्त्व, अव्ययत्व, नित्यत्व, नित्यधर्मरूप प्रेम, एवं ऐकान्तिक सुखरूप व्रजरस प्रभृति निर्गुण सविशेषतत्त्वरूप कृष्णस्वरूप को आश्रय कर अवस्थित हैं।

गी० ७।२५ में उक्त है—"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।
मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥"

टीका—ननु भक्ता इवाभक्ताश्च त्वां प्रत्यक्षीकुर्वन्ति प्रसादादेव भजतस्त्वभिव्यक्तिरिति कथम्? तत्राह—नाहमिति। भक्तानामेवाहं नित्यविज्ञानसुखघनोऽनन्तकल्याणगुणकर्मा प्रकाशोऽभिव्यक्तो, नतु सर्वेषामभक्तानामपि। यदहं योगमायया समावृतो मद्विमुखव्यामोहकत्वयोगयुक्तया मायया समाच्छन्न

विशेषसम्बलितदृष्टेरेव तत्र करणत्वात्। ततस्तस्या दृष्टेर्दिव्यत्वं दानञ्च नराकारपरब्रह्म-दर्शनहेतुलक्षणायास्तत्स्वाभाविकदृष्टेरन्यासौ देववपुर्दर्शनहेतुरित्यपेक्षयैव। तच्च नराकृति परब्रह्म दिव्यदृष्टिभिरपि दुर्दर्शमित्युक्तम्; (गी० ११।५२)—

"सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥" १४७॥

इत्यादिना। किन्तु भक्त्यैकसुदर्शत्वमित्यप्युक्तम् (गी० ११।५४)—

"भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप॥" १४८॥

सर्वसम्वादिनी

पुरुषार्थानां (गी० ४।११) 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति न्यायेन नित्य-तदेकोपलब्धत्वाच्छ्रीभगवतः सर्वदैव

परिसर इत्यर्थः, यदुक्तं "मायाजवनिकाच्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः" इति। मायामूढोऽयं लोकोऽतिमानुषदैवत प्रभावं विधिरुद्रादिवन्दितमपि मां नाभिजानाति। कीदृशं? अजं—जन्मशून्यम्। यतोऽव्ययमप्रच्युत-स्वरूपसामर्थ्यसार्वज्ञ्यादिकमित्यर्थः॥

"प्रथम मैं अनभिव्यक्त था। सम्प्रति सच्चिदानन्दस्वरूप श्यामसुन्दर रूप में प्रकट हूँ" इस प्रकार धारणा न करो। यह श्यामसुन्दर रूप मेरा नित्य है, एवं इस रूप में ही मैं नित्यावस्थित हूँ। यह रूप परिपूर्ण चिद्रूप होने पर भी स्वरूपशक्ति रूप योगमाया के द्वारा दर्शकों के नेत्र पिहित होने से साधारणजन दर्शन करने में सक्षम नहीं होते हैं। तज्जन्य मूढ़ जनगण, अव्ययस्वरूप मुझको जान नहीं सकते हैं।

उक्त प्रमाणों से सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि—नराकृति श्रीकृष्णस्वरूप ही सर्व परतत्त्व-परब्रह्म हैं। ब्रह्म, प्राकृत इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं। सुतरां श्रीकृष्ण को कोई भी व्यक्ति प्राकृत नयनों से देख नहीं पाते हैं। अर्जुन सखा रूप में उन सर्वपरतत्त्व वस्तु का दर्शन नित्य करते रहते हैं। इसका कारण—अर्जुन अप्राकृत दृष्टिसम्पन्न अवश्य ही थे। विश्वरूप दर्शन के समय 'दिव्यं ददामि ते चक्षु' दिव्यचक्षु प्रदान का जो प्रसङ्ग है, श्रीकृष्ण कर्त्तृक प्रदत्त वह चक्षु है। उसका तात्पर्य्य यह है,—नराकृति परब्रह्म दर्शनोपयोगी अर्जुन की जो स्वाभाविकी दृष्टि है, उससे अस्वाभाविक देववपु का दर्शन असम्भव है। अर्थात् विश्वरूप दर्शनोपयोगिनी दृष्टि भिन्ना है। श्रीकृष्ण, अर्जुन की स्वाभाविकी दृष्टि को आवृत कर शेषोक्त दृष्टि दान किये थे।

किन्तु दिव्यदृष्टिविशिष्ट व्यक्तिगण, नराकृति परब्रह्म दर्शन में असमर्थ हैं। इसका विवरण, विश्वरूप दर्शनध्याय में सुव्यक्त है। श्रीकृष्णने कहा—"तुमने जिस रूप का दर्शन किया है, उसका दर्शन अति दुर्घट है। देवगण भी उसका दर्शन करने के निमित्त सतत आकाङ्क्षान्वित हैं।" बाद में कहा भी है—नराकृति परब्रह्म का रूप दर्शन—सहज भक्ति द्वारा होता है। यथा—"हे अर्जुन! हे परन्तप! अनन्य भक्ति के द्वारा एवम्विध मुझको यथार्थ रूप में जानने, दर्शन करने एवं मेरे में प्रविष्ट होने में जनगण सक्षम होते हैं।"

"भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवं विधोऽर्जुन! ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप!" (गी० ११।५४)

टीका—अभिमतां परभक्त्यैकवश्यतां स्फुटयन्नाह—भक्त्येति। एवंविधो देवकीसूनुश्चतुर्भुजोऽहमनन्यया मदेकान्तया भक्त्या तु वेदादिभिस्तत्त्वतो ज्ञातुं शक्यः, द्रष्टुं प्रत्यक्षं कर्त्तुं तत्त्वतः प्रवेष्टुं संयोक्तुं च शक्यः। पुरं प्रविशतीत्यत्र पुरसंयोग एव प्रतीयते। तत्र वेदो, गोपालोपनिषत्, तपो,

इत्यादिना। न च (गी० ११।५२) "सुदुर्दर्शमिदम्" इत्यादिकं विश्वरूपपरम्; (गी० ११।५१)

सर्वसम्वादिनी

तत्तद्रूपेणावस्थितिर्गम्यत एव। अतएव "भवत्पदाम्भोरुहनावमात्र ते निधाय" इत्युक्तम्।

मज्जन्माष्टम्येकादश्याद्युपोषणं, दानं मद्भक्तसम्प्रदानकं स्वभोग्यानामर्पणम्। इज्या—मन्मूर्त्तिपूजा। श्रुतिश्चैवमाह—'यस्य देवे पराभक्तिः' इत्याद्या। 'तु'-शब्दोऽत्र भिन्नोपक्रमार्थः। न च 'सुदुर्दर्शम्' इत्यादित्रयं सहस्रशीर्षरूपपरमितिवाच्यम्, 'इत्यर्जुनम्' इत्यादि द्वयस्य नराकृतिचतुर्भुजस्वकरूप-परस्याव्यवहितपूर्वत्वात्, तद्द्वयेन सहस्रशीर्षरूपस्य व्यवधानाच्च, तत्र यस्य तदेकवाक्यतायाः 'नाहं वेदैः' इत्यादेः पौनरुक्त्यापत्तेश्च।

यत्तु दिव्यदृष्टिदानेन लिङ्गेन नराकारच्चतुर्भुजात् सहस्रशीर्षो देवाकारस्योत्कर्षमाह—तदविचारिताभिधानमेव। देवाकारस्य तस्य चतुर्भुजनराकाराधीनत्वात्। तत्त्वञ्च तस्य युक्तमेव। "यः कारणार्णवजले भजति स्म योगनिद्राम्" इत्यादि स्मरणात्। इदं नराकृतिकृष्णरूपं सच्चिदानन्दं सर्ववेदान्तवेद्यं विभुं सर्वावतारीति प्रत्येतव्यं, "सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे। नमो वेदान्त वेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे॥" 'कृष्णे परमं दैवतम्' 'एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्यः' 'एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति' इत्यादि श्रवणात्, "ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्द सर्वकारणकारणम्॥" "यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नराकृति" 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' इत्यादि स्मरणाच्च। अत्रापि स्वयमेवोक्तं—'मत्तःपरतरं नान्यत्' इति, 'अहमादिर्हि देवानाम्' इत्यादि च। अर्जुनेन च, 'परं ब्रह्म परं धाम' इत्यादि। तस्मादतिप्रभावेण संक्रान्ते सहस्रशीर्ष्णि रूपे तेन संक्रान्तैव दृष्टिर्ग्राहिणी युक्त। नतु अतिसौन्दर्य्यमाधुर्य्यलावण्यनिधि-नराकृति कृपारूपानुभविनी दृष्टि स्त्वत्र तेजस्त्वमेव संक्रमितव्यमिति, नतु युक्त्याभासलाभेन हैतुकत्वं स्वीकार्य्यम्, नचार्जुनोऽपि अन्य मनुष्यवच्चर्मचक्षुष्कः, तस्य भारतादिषु नर भगवदवतारत्वेन असकृदुक्तेः। कर्मोद्भूतया विद्यया सनिष्ठैः सहस्रशिरष्करूपलभ्यमिति दुर्दर्शं, तत् नराकृतिकृष्णरूपं त्वनन्यया भक्त्यैवेति, सुदुर्दर्शं तदुक्तम्।"

श्रीभगवान् ने कहा—अर्जुन! तुमने अभी तक जो रूप मेरा देखा, वह सुदुर्शनीय है, ब्रह्म रुद्रादि देवगण भी इस नित्य रूप का दर्शनाकाङ्क्षी हैं। यदि कहो वह कैसे दुर्दर्शनीय है? सुनो, इस तत्त्व को कहता हूँ। मेरा यह सच्चिदानन्द कृष्ण रूप के सम्बन्ध में दर्शकों की तीन प्रकार प्रतीति होती है। अर्थात् विद्वत् प्रतीति, अविद्वत् प्रतीति, यौक्तिक प्रतीति। अविद्वत् प्रतीति—मूढ़ प्रतीति है, उससे मानवगण, मेरा नित्यस्वरूप को जड़ाश्रित अनित्य मानते हैं। उससे स्वरूप का परमभाव की उपलब्धि नहीं होती है। यौक्तिक प्रतीति को दिव्य प्रतीति कहते हैं। उससे ज्ञानाभिमानी पुरुषगण एवं देवतागण उस प्रतीति को जड़धर्माश्रित एवं अनित्य मानते हैं। फलतः, विश्वव्यापी विराड् मूर्त्ति को अथवा विश्वातिरिक्त भावगत निर्विशेष ब्रह्म को नित्य मानकर मेरा मनुष्याकार को अर्चनोपायमात्र मानते हैं।

किन्तु विद्वत् प्रतीति के द्वारा मेरा उक्त मानुष रूप को साक्षात् सच्चिदानन्द धाम का साक्षात्कार चिच्चक्षुविशिष्ट भक्तगण करते हैं। इस प्रकार साक्षात् दर्शन देवगण के पक्ष में भी सुदुर्लभ है। देवताओं के मध्य में ब्रह्मा एवं शिव मेरा भक्त हैं। अतएव वे भी इस रूप दर्शन करने का अभिलाषी हैं। तुम तो मेरा शुद्ध सख्य भक्त हो, मेरी कृपा से विश्वरूपादि का दर्शन कर नित्य रूप का सर्वश्रेष्ठत्व जानने में सक्षम हुए हो।

यहाँ पर सन्देह हो सकता है कि—"सुदुर्दर्शमिदं रूपं" (इस रूप का दर्शन प्राप्त करना दुर्घट है) इत्यादि वाक्य, विश्वरूप दर्शन सम्बन्ध में उक्त है? यह नहीं है। इसके अव्यवहित पूर्ववर्त्ती, अर्जुन की

"दृष्ट्वेदं मानुषं रूपम्" इत्यादेरेवाव्यवहित-पूर्वोक्तत्वात्, विश्वरूपप्रकरणस्य तद्व्यवधानाच्च। तथा चैकादशे सर्वेषां देवादीनामागमने (भा० ११।६।५)—"व्यचक्षतावितृप्ताक्षाः कृष्णमद्भुत-दर्शनम्" इति। तत्रैवान्यत्र (भा० ११।२।१)—"गोविन्दभुजगुप्तायाम्" इत्यादि; सप्तमे (भा० ७।१०।४८)—"यूय नृलोके" इत्यादि च; तृतीये (भा० ३।२।१२) च—"विस्मापनं स्वस्य

सर्वसम्वादिनी

तदेतामपि परिपाटीं [मूल० १३९तम-१४२तम अनु०] पश्चाद्विधायाह,—(भा० १०।१४।३३-३६)

उक्ति इस प्रकार है—"दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्य जनार्दन। इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥"

हे सौम्य! हे जनार्दन! अधुना मनुष्यरूप दर्शन कर संवृत्त, सुस्थचित्त एवं स्वभावस्थ हो गया हूँ। विश्वरूप दर्शन प्रकरण से 'सुदुर्दर्श' इत्यादि वाक्य अर्जुन के उक्त वाक्य के द्वारा व्यवहित हुआ है। सुतरां नराकृति परब्रह्म के सम्बन्ध में ही 'सुदुर्दर्श' इत्यादि वाक्य है, इसमें सन्देह नहीं है।

नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण का दर्शन,—देवगण के पक्ष में भी दुर्घट ही है, उसका प्रमाण श्रीमद् भागवतीय पद्य में है—"तस्यां विभ्राजमानायां समृद्धायां महर्द्धिभिः।
व्यचक्षतावितृप्ताक्षाः कृष्णमद्भुत दर्शनम्॥"

क्रमसन्दर्भः। कृष्णमद्भुतदर्शनमिति—(भा० ३।२।१२) 'स्वस्यापि विस्मापनम्' इत्युक्तेः॥

'ब्रह्मादि देववृन्द, महैश्वर्य्य द्वारा समृद्धशालिनी शोभामयी द्वारका में जाकर अद्भुतदर्शन श्रीकृष्ण का दर्शन,—अतृप्त नयनों से किए थे।' (भा० ११।६।५)

भा० ११।२।१ में वर्णित है—"गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह!
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः॥"

टीका—अभीक्ष्णं प्रस्थापितोऽपि पुनः पुनरवात्सीदित्यर्थः। ननु नारदस्य दक्षादिशापान्नैकत्र वासः सम्भवतीत्याशङ्क्याह—गोविन्दभुजगुप्तायामिति। न तस्यां शापादेः प्रभाव इत्यर्थः। कृष्णोपासने लालसा औत्कण्ठ्यं यस्य सः।

हे कुरुवंशतिलक! नारद, श्रीकृष्ण दर्शन की लालसा से गोविन्दभुज द्वारा सुरक्षित द्वारका में पुनः पुनः आकर निवास करते थे।

सप्तमस्कन्धस्थ १०।४८ में लिखित है—"यूयं नृलोके बत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढ़ं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥"

टीका—अहो प्रह्लादस्य भाग्यं, येन देवो दृष्टः, वयन्तु मन्दभाग्या इति विषीदन्तं तं प्रत्याह—यूयमिति त्रिभिः। येषां युष्माकम् गृहान् मुनयोऽभियन्ति, सर्वतः समायान्ति। तत् कस्य हेतोः, येषु गृहेषु नराकारं गूढ़ं सत् श्रीकृष्णाख्यं परं ब्रह्म साक्षात् वसतीति।

श्रीयुधिष्ठिर के प्रति श्रीनारदोक्ति यह है—"मनुष्य जगत् में आप सब अतिशय भाग्यवान् हैं। भुवनपवित्रकारी मुनिगण, आपके घरमें निरन्तर आते रहते हैं। कारण—आपके गृह में मनुष्यचिह्नधारी साक्षात् परमब्रह्म अवस्थान कर रहें हैं।

तृतीय के २।१२ में उक्त है—"यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग, मायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः, परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥"

टीका—तदेव विम्वं वर्णयति, त्रिभिः। यन्मर्त्यलीलासु औपयिकं योग्यम्। स्वस्यापि विस्मयजनकम्। यतः सौभगर्द्धेः—सौभाग्यातिशयस्य परं पदं पराकाष्ठा। भूषणानां भूषणान्यङ्गानि यस्मिन्॥

च" इति ; अत उपसंहारानुरोधेन स्ववाक्यतात्पर्य्येण चास्यापि प्रकरणस्य श्रीकृष्णपरमत्वमेव। तस्मात् श्रीकृष्णगीतासु च श्रीकृष्णस्यैव स्वयं भगवत्त्वं सिध्येत। अतएवोक्तम् (श्रीगीता-माहात्म्ये)—

"एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत,-मेको देवो देवकीपुत्र एव।
कर्माप्येकं देवकीपुत्रसेवा, मन्त्रोऽप्येको देवकीपुत्र-नाम ॥"१४८॥ इति।

तथा श्रीगोपालपूर्वतापनी-श्रुतावपि (पू० २)—"मुनयो ह वै ब्रह्माणमूचुः—कः परमो देवः" इत्याद्यनन्तरम्, (गो० ता० पू० ३) "तदु होवाच ब्राह्मणः कृष्णो वै परमं दैवतम्" इत्यादि। उपसंहारे च (गो० ता० पू० ५२)—"तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसयेत्तं यजेदित्यों तत् सत्" इति। किं बहुना, सर्वावतारावतारिविलक्षणा महाभगवत्तामुद्राः साक्षादेव तत्र वर्त्तन्त इति श्रूयते पाद्माध्यायत्रयेण। यथा तदीयाः कियन्तः श्लोकाः ;

सर्वसम्वादिनी

"एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता,-मेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिवामः, शर्वादयोऽङ्घ्रयुदजमध्वमृतासवं ते ॥"३३॥ इति;

जिन्होंने मनुष्यलीला के उपयोगी अनुपम रूप को प्रकट किया है, निज स्वरूपशक्ति की सामर्थ्य को प्रकट करने के निमित्त ही उक्त स्वीय रूप को प्रकट किया है, जिसको देखकर स्वयं भी विस्मित हो जाते हैं, वह रूप सौभाग्य की पराकाष्ठा पर प्रतिष्ठित तो है ही, किन्तु वह भूषणों को भी भूषित कर देता है।

अतएव श्रीगीता के उपसंहार वाक्य—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥" के अनुसार एवं 'सुदुर्दर्श' इत्यादि निज वचन प्रमाण से विश्वरूप दर्शन प्रकरण भी श्रीकृष्ण पर ही है। अर्थात् उक्त प्रकरण में श्रीकृष्ण का ही सर्वपरमत्व सूचित हुआ है। सुतरां श्रीकृष्णगीता में श्रीकृष्ण का ही स्वयं भगवत्त्व सिद्ध है। तज्जन्य ही कथित है—

देवकीपुत्र गीत ही एकमात्र शास्त्र है, देवकीपुत्र ही एकमात्र देवता है, देवकीपुत्र-सेवा ही एकमात्र कर्म है, एवं देवकी पुत्र नाम ही एकमात्र मन्त्र है। यहाँ पर देवकी पुत्र शब्द—नराकृति श्रीकृष्ण के उद्देश्य में ही प्रयुक्त हुआ है।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रभृति शास्त्र के समान श्रीगोपाल तापनी श्रुति भी श्रीकृष्ण का परमत्व की घोषणा करती है। पूर्वतापनी में उक्त है—श्रीसनकादि ऋषिगण, श्रीब्रह्मा को जिज्ञासा किये थे—परमदेव कौन है? उत्तर में श्रीब्रह्मा ने कहा—(गो० ता० ३) 'कृष्णो वै परमो दैवतम्।' श्रीकृष्ण ही परम देवता हैं। गोपालतापनी के उपसंहार (५२) में भी उक्त है। अतएव सर्वोत्कृष्टता हेतु, श्रीकृष्ण ही परम देवता हैं। "तं ध्यायेत्, तं रसयेत्, तं यजेत्, इत्योम् तत् सत्" उनका ध्यान, उनका रसन, उनका अर्चन, एवं प्रेमपूर्वक उनका भजन करे, आप ही 'ओं तत् सत्' शब्दत्रय के प्रतिपाद्य हैं।

श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता के सम्बन्ध में अधिक विचार की आवश्यकता ही क्या है? निखिल अवतार एवं अवतारी से विलक्षण भगवत्तासूचक चिह्नसमूह एकमात्र श्रीकृष्ण में ही साक्षात् विद्यमान हैं। यह विवरण पद्मपुराण के अध्यायत्रय में सुविदित है। उसके कतिपय श्लोक इस प्रकार है—

"ब्रह्मोवाच—

श्रृणु नारद वक्ष्यामि पादयोश्चिह्नलक्षणम् । भगवत्कृष्णरूपस्य ह्यानन्दैकघनस्य च ।१५०।।
अवतारा ह्यसंख्याताः कथिता मे तवाग्रतः । परं सम्यक् प्रवक्ष्यामि कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।।१५१।।
देवानां कार्य्यसिद्ध्यर्थमृषीणाञ्च तथैव च । आविर्भूतस्तु भगवान् स्वानां प्रियचिकीर्षया ।।१५२।।
यैरेव ज्ञायते देवो भगवान् भक्तवत्सलः । तान्यहं वेद नान्योऽस्ति सत्यमेतन्मयोदितम् ।।१५३।।
षोड़शैव तु चिह्नानि मया दृष्टानि तत्पदे । दक्षिणे चाष्टचिह्नानि इतरे सप्त एव च ।।१५४।।
ध्वजा पद्मं तथा वज्रमङ्कुशो यव एव च । स्वस्तिकश्चोर्द्ध्वरेखा च अष्टकोणन्तथैव च ।।१५५।।
सप्तान्यानि प्रवक्ष्यामि साम्प्रतं वैष्णवोत्तम । इन्द्रचापं त्रिकोणञ्च कलसञ्चार्द्धचन्द्रकम् ।।१५६।।
अम्बरं मत्स्यचिह्नञ्च गोष्पदं सप्तमं स्मृतम् । अङ्कान्येतानि भो विद्वन् दृश्यन्ते तु यदा कदा ।।१५७।।
कृष्णाख्यन्तु परं ब्रह्म भुवि जातं न संशयः । द्वयं वाथ त्रयं वाथ चत्वारः पञ्च चैव च ।
दृश्यन्ते वैष्णवश्रेष्ठ अवतारे कथञ्चन ।।"१५८।। इत्यादि ।

"षोड़शञ्च तथा चिह्नं श्रृणु देवर्षिसत्तम । जम्बूफलसमाकारं दृश्यते यत्र कुत्रचित् ।।"१५९।।

इत्यन्तम् । तस्मादस्त्येव स्वयं भगवत्त्वं श्रीकृष्णस्यैव । तथा च ब्रह्मवैवर्त्ते भगवदवतार-प्रसङ्गे सूतवाक्यम्—

"अवतारा ह्यसंख्येया आसन् सत्त्वस्वभाविनः । विंशतिस्तेषु मुख्यान् यान् श्रुत्वा मुच्येन्महांहसः ।।"१६०।।

इत्यादिना प्रायशः श्रीभागवतवत् श्रीकृष्णसंहितांस्तान् गणयित्वा पुनराह—

सर्वसम्वादिनी

"तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां, यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द,-स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ।।"६४।।

ब्रह्मोवाच,—ब्रह्मा कहे थे—केवल आनन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीचरणयुगल में विराजमान जो सब चिह्न हैं, उसका वर्णन करता हूँ, श्रवण करो । हे अनघ ! निष्पाप ! मैंने तुम्हारे निकट असंख्य अवतार का वृत्तान्त कहा हूँ । अतःपर सम्यक् रूप से कहता हूँ – श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं । 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' देव एवं ऋषियों की कार्य्यसिद्धि के निमित्त एवं स्वीय लीलावैचित्री के द्वारा निज परिजन के प्रीति सम्पादन हेतु भगवान् आविर्भुत हुये हैं । जिन सब लक्षणों के द्वारा भक्तवत्सल भगवान् को जाना जाता है, उन सब लक्षणों को मैं ही जानता हूँ, अपर कोई भी नहीं जानते हैं । मेरा यह कथन सर्वथा सत्य है । श्रीकृष्ण के चरणयुगल में षोड़शसंख्यक चिह्न का दर्शन मैं किया हूँ । दक्षिण चरण में – अष्ट चिह्न, वाम चरण में—सप्त चिह्न विद्यमान हैं । अष्ट चिह्न यथा—ध्वज, पद्म, वज्र, अङ्कुश, यव, स्वस्तिक, ऊर्द्धवरेखा, एवं अष्टकोण । हे वैष्णवोत्तम ! अधुना अपर सप्त का वर्णन करता हूँ,—इन्द्रचाप, त्रिकोण, कलस, अर्द्धचन्द्र, आकाश, मत्स्य एवं गोष्पद । हे विद्वन् ! यह सब पञ्चदश चिह्न जब कभी दृष्ट होते हैं, कृष्णाख्य परमब्रह्म पृथिवी में आविर्भुत हुए हैं – इसमें कुछ भी संशय नहीं है । हे वैष्णवश्रेष्ठ ! अवतारसमूह के मध्य में किसी में दो, किसी अवतार में तीन, किसी में चार, किसी अवतार में पाँच चिह्न दृष्ट होते हैं । हे देवर्षिसत्तम ! अधुना षोड़श संख्यक चिह्न का वर्ण मैं कर रहा हूँ । श्रीकृष्ण के चरण में कभी जम्बूफल समाकार चिह्न दृष्ट होता है, यहाँ तक वर्णन है । अतएव स्वयं भगवत्ता श्रीकृष्ण की ही है । 'तस्मादस्त्येव स्वयं भगवत्त्वं श्रीकृष्णस्यैव ।' ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के भगवदवतार प्रसङ्ग में सूत का कथन भी इस प्रकार है,—सत्त्वस्वरूप श्रीभगवान् के असंख्येय अवतार हैं । उनमें से विंशति अवतार मुख्य हैं, जिनका श्रवण से मनुष्य, महापापों से मुक्त होता है । उक्त वचनों के द्वारा प्रायकर श्रीकृष्ण के सहित ही अवतार समूह का वर्णन हुआ है । अनन्तर आपने कहा है—

"नरसिंहादयोऽन्येऽपि सर्वपापविनाशनाः। यद्विभूतिविशेषेणालङ्कृतं भुवि जायते।
तत् सर्वमवगन्तव्यं कृष्णांशांश-समुद्भवम्।।"१६१।। इति।

तदित्थं सर्वमभिप्रेत्य महोपक्रमश्लोकमेव श्रीविष्णुपुराणीय-भगवच्छब्दनिरुक्तिवत् साक्षात्

सर्वसम्वादिनी

इत्यत्र,—यत्रावतीर्णः श्रीभगवान् तत्रेह श्रीमथुरामण्डले, तत्राप्यटव्यां श्रीवृन्दावने, तत्रापि श्रीगोकुले।

श्रीनरसिंह प्रभृति अवतारसमूह का चरित्र पापविनाशक है। कारण, आप सब निज ऐश्वर्य्य प्रकट कर भूमण्डल को अलङ्कृत किए हैं, उन सबको श्रीकृष्ण के अंशांशसम्भूत ही जानना होगा।

उक्त प्रकार से श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता प्रदर्शन के निमित्त जो विचार उपस्थित किया गया है, महोपक्रम श्लोक में तत्समुदाय का ही निष्कर्ष विद्यमान है। विष्णुपुराणीय भगवच्छब्द की निरुक्ति—

"संभर्त्तेति तथा भर्त्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः। नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने!
ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना।।
वसन्ति यत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि। स च भूतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोव्ययः।।
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्यवीर्य्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विनाहेयैर्गुणादिभिः।।

भग शब्द के उत्तर मतुप् (वतुप्) प्रत्यय योग होने से 'भगवान्' शब्द निष्पन्न होता है। विष्णु पुराणीय निरुक्ति के अनुसार 'भगवान्' शब्द प्रयुक्त हुआ है। उसमें 'भगव' शब्द के उत्तर मतुप् प्रत्यय योग से उक्त भगववान् शब्द निष्पन्न हुआ है। छान्दस प्रयोगानुसार 'व' लुप्त होकर भगवान् शब्द निष्पन्न हुआ है। 'भगव' अथवा 'भग' जिनका है, इस अस्त्यर्थ में मतुप् प्रत्यय हुआ है। भ, ग, व, अक्षरत्रय के पृथक् पृथक् अर्थ करते हैं। भ-कार का अर्थ—भर्त्ता, संभर्त्ता। ग-कार का अर्थ—नेता, गमयिता, स्रष्टा। अन्यार्थ— समग्र ऐश्वर्य्य, समग्र वीर्य्य, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान एवं समग्र वैराग्य को 'भग' कहते हैं। उक्त उभयविध अर्थविशिष्ट भ, ग, वर्णद्वय के सहित 'व'-कार का योग होने से 'भगव' शब्द होता है। 'व'-कार का अर्थ—सर्वान्तर्य्यामी निखिल आत्मा में निवास करते हैं। भूत समूह उन अन्तर्य्यामी में निवास करते हैं। सुतरां आप अव्यय हैं, यह ही 'व'-कार का अर्थ है।

संभर्त्ता—निज भक्तवृन्द का पोषक है। भर्त्ता—धारक, स्थापक, नेता, निज भक्तिफल जो प्रेम है, उसका प्रापक है। स्रष्टा—निज भक्तवृन्द में स्वीय रुचिकर गुणसमूह का विस्तारकारक, स्थापक, संरक्षक हैं। अर्थात् आस्वादनीय सद्गुणावली का उद्गमकर्त्ता एवं पालनकर्त्ता हैं।

भक्तपोषणादि कार्य्य—श्रीभगवान् स्वयं ही साक्षात् भाव से करते हैं। जगत् पालनादि कार्य्य उक्त रूप से नहीं करते हैं। उसके निमित्त पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार रूप धारण करते हैं। अतएव जगत् पालन कार्य्य परम्परा क्रम से होता है।

ऐश्वर्य्य—सर्ववशीकारिता, वीर्य्य—मणिमन्त्रादि का प्रभाव के समान अचिन्त्य प्रभाव, यश—वाक्य, मन, शरीर की साद्गुण्य ख्याति। श्री—सर्वप्रकार सम्पत्ति, ज्ञान—सर्वज्ञता, वैराग्य—प्रपञ्च वस्तु में अनासक्ति। श्लोकोक्त 'इङ्गना' शब्द का अर्थ— संज्ञा है। अर्थात् सर्वैश्वर्य्यादि समष्टि की भग संज्ञा है।

संभर्त्ता प्रभृति के द्वारा जो अर्थ हुआ है, वह भगवान् का स्वरूप नहीं है। भगवान् में संभर्त्तृत्वादि धर्म, स्वरूपसिद्ध रूपमें नित्य विराजित हैं। आप अव्यक्त-स्वप्रकाश, अजर—चिरकिशोर, अचिन्त्य—मन-वाणी का अगोचर, अज—प्राकृत जन्मरहित, किन्तु भक्तविनोदार्थ स्वरूपशक्ति के द्वारा जन्मादि लीला का प्रकट करते हैं। अक्षय—सर्वकारण, अनिर्देश्य—उनमें सब कुछ सम्भव हैं। तज्जन्य विशेष रूप से उनका निर्देश नहीं होता है। अरूप—प्राकृत रूपरहित, किन्तु सच्चिदानन्द विग्रह। करचरणादि

श्रीकृष्णाभिधेयत्वेनापि योजयति (भा० १।१।१)—"जन्माद्यस्य" इति; "नराकृति परं ब्रह्म"

सर्वसम्वादिनी

कथम्भूतं जन्म ? अत्र टीका च—(भा० टी०) "गोकुलवासिनां मध्येऽपि कतमस्य यस्य कस्याप्यङ्घ्रिरजसाभिषेको यस्मिंस्तत्" इत्येषा।

अवयवसंयुक्त—यह सब स्वरूपभूत हैं, मनुष्यवत् भिन्न नहीं हैं। विभु—सर्वव्यापक, सर्वगत—सर्वानुप्रविष्ट, नित्य—ध्वंस प्रागभावरहित अविकारी हैं। भूतयोनि—वस्तुमात्र का प्रकाश कर्त्ता। स्वयं अकारण हैं, उनका सृष्टिकर्त्ता कोई नहीं हैं। सर्वव्यापक परमधाम रूप ज्योतिः का दर्शन भक्तगण करते हैं, वह मोक्षाकाङ्क्षी का ध्येय ब्रह्म हैं। श्रुति वाक्य में उसका वर्णन विष्णु का परमपद शब्द से है। यह ही भगवत् शब्द वाच्य है। परमात्मा श्रीभगवान् का वह ही स्वरूप है।

श्रीविष्णुपुराण के 'यत्तद्' इत्यादि श्लोक में श्रीभगवान् का स्वरूप, संभर्त्ता इत्यादि श्लोक में उनका गुण एवं ज्ञानशक्ति श्लोक में गुणसमूह की स्वरूपाभिन्नता कथित है।

हेय-गुणवर्जित समग्र ज्ञानशक्ति, बल-ऐश्वर्य्य वीर्य्य तेजः, भगवच्छब्द वाच्य है। अर्थात् भगवत् शब्द उक्तार्थ में प्रकाशित है। ज्ञान—अन्तःकरण का गुण है, शक्ति—इन्द्रियसमूह का गुण है, बल—शरीर का गुण है, ऐश्वर्य्य—सर्वजनवशीकारित्व, वीर्य्य—प्रभाव है। कान्ति को तेजः कहते हैं।

श्रीभगवान् के स्वरूप एवं गुण अभिन्न होने से भी वह एक नहीं है। अर्थात् जो स्वरूप है, वह ही गुण नहीं है, जो गुण है—वह ही स्वरूप नहीं है। उभय के मध्य में विशेष है। यह विशेष, भेद का प्रतिनिधि है। भेद जहाँ पर परिलक्षित नहीं होता है, वहाँ भेद का कार्य्य धर्म एवं धर्मी का व्यवहार 'विशेष' पदार्थ के द्वारा निष्पन्न होता है। स्वरूप—धर्मी है, गुणसमूह—धर्म हैं।

उक्त भगवत् शब्द की निरुक्ति के द्वारा भगवान् का जिस स्वरूप एवं स्वरूपधर्म का बोध हुआ है, उसकी सम्यक् रूप से विद्यमानता—श्रीकृष्ण में ही है। अतः श्रीकृष्ण ही भगवत् शब्द का मुख्य वाच्य हैं। श्रीकृष्ण की भगवत्ता से ही अपर स्वरूपों की भगवत्ता सिद्ध है। तज्जन्य वे सब भी भगवत् शब्द से अभिहित होते हैं।

श्रीविष्णुपुराण के भगवत् शब्द का अर्थ जिस प्रकार श्रीकृष्ण में ही पर्य्यवसित हुआ है, उस प्रकार ही श्रीमद्भागवत के 'जन्माद्यस्य' इत्यादि श्लोक का अर्थ भी श्रीकृष्ण में ही पर्य्यवसित होगा। भा० १।१।१ में वर्णित है—

"जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजो वारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥"

यह श्लोक श्रीव्यासदेव के समाधिलब्ध वेदान्तभाष्यभूत निगम कल्पतरु का फलस्वरूप श्रीमद्भागवत का प्रारम्भ श्लोक है। इसमें ही समग्र ग्रन्थ का तात्पर्य्य निहित है। इसका अवलोकन से ही श्रीकृष्ण का सर्वपरमत्व दृष्टिगोचर होगा।

परं धीमहि,—पर—श्रीकृष्ण, उनका ध्यान हम करते हैं। पर शब्द से श्रीकृष्ण का बोध कैसे होगा ? उत्तर में कहते हैं—'नराकृति परं ब्रह्म' परमब्रह्म नराकृति का उल्लेख पुराणसमूह में सुस्पष्ट है। अतः नराकृति परम ब्रह्म श्रीकृष्ण को निर्देश करने के निमित्त ही 'परं' शब्द का प्रयोग उक्त श्लोक में वर्णित है—"वार्ष्णेयः सात्वतां श्रेष्ठः शौरिर्यदुकुलेश्वरः। नराकृति परं ब्रह्म सव्यसाचि वरप्रदः॥

(बृहद्विष्णुसहस्रनाम)

वृष्णि वंशोद्भव, यादवश्रेष्ठ, शूरकुलतिलक, यदुकुलेश्वर, अर्जुन वरप्रदाता नराकृति परब्रह्म। इस श्लोक में स्पष्टतः ही श्रीकृष्ण को नराकृति परब्रह्म रूप में कहा गया है। कारण, आप वृष्णि वंश में

इति पुराणवर्गात्; (गो० ता० पू० ५२) "तस्मात् कृष्ण एव परो देवः" इति श्रीगोपालतापनी-श्रुतेश्च। परं श्रीकृष्णं धीमहि। अस्य स्वरूपलक्षणमाह—'सत्यम्' इति; (भा० १०।२।२६)—"सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यम्" इत्यादौ (म० भा० उ० ७०।१२)—

"सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम्।
सत्यात् सत्यञ्च गोविन्दस्तस्मात् सत्यो हि नामतः॥"१६२॥

सर्वसम्वादिनी

"एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति।

उत्पन्न हुए हैं। गोपालतापनी श्रुति में भी कथित है—कारण, श्रीकृष्ण ही परम देव हैं।

स्वरूपलक्षण का वर्णन करते हैं—'सत्यम्' इससे नराकृति परम ब्रह्म का स्वरूपलक्षण निर्दिष्ट हुआ है। इस सत्य शब्द का वाच्य भी श्रीकृष्ण ही हैं। कारण भा० १०।२।२६ गर्भस्तुति में देवगण की उक्ति यह है—

"सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितञ्च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥"

टीका—प्रतिश्रुतं सत्यं कृतमिति हृष्टाः सन्तः सत्यत्वेनैव प्रथमं स्तुवन्ति, सत्यव्रतमिति। सत्यं व्रतं सङ्कल्पो यस्य तम्। सत्यं परं श्रेष्ठं प्राप्तिसाधनं यस्मिंस्तम्। त्रिसत्यं त्रिष्वपि कालेषु सृष्टेः पूर्वं प्रलयानन्तरञ्च स्थितिसमये च सत्यमव्यभिचारेण वर्त्तमानम्। तदेवाहुः—सत्यस्य योनिमिति—सच्छब्देन पृथिव्यप्तेजांसि त्यच्छब्देन वाय्वाकाशौ एवं सच्च त्यच्च सत्यं भूतपञ्चकम्। तत् सत्यमित्याचक्षते' इति श्रुतेः। यस्य योनिं कारणम् अनेन पूर्वं वर्त्तमानतोक्ता। तथा सत्ये तथा तस्मिन्नेव निहितमन्तर्य्यामितया स्थितम्। अनेन स्थितिसमयेऽपि सत्यत्वमुक्तम्। तथा सत्यस्य सत्यं तस्यैव सत्यस्य सत्यं पारमार्थिकं तन्नाशेऽप्यवशिष्यमाणरूपम्। अनेन प्रलयेऽप्यवस्थितत्वेन सत्यत्वं दर्शितम्। एवं त्रिसत्यत्वमुपपादितम्। तथा ऋतसत्यनेत्रम्, ऋतं—सुनृता वाणी। सत्यं—समदर्शनम्। तथा भगवता व्याख्यास्यमानत्वात् सत्यं च समदर्शनम्, ऋतञ्च—सुनृता वाणी, कविभिः परिकीर्त्तितेति। तयोर्नेत्रं—नयसाधनं नेतारं प्रवर्त्तकमिति यावत्। एवं सर्वप्रकारेण सत्यात्मकं त्वां भगवन् वयं शरणं प्रपन्नाः प्राप्ता इति।

"आप, सत्यव्रत, सत्यपर, त्रिसत्य, सत्ययोनि, सत्य में निहित, सत्य का सत्य, सत्यवाक्य एवं समदर्शन का प्रवर्त्तक हैं।"

श्रीकृष्ण को 'सत्य' पद के द्वारा अनेक प्रकार से निर्देश कर तदीय रूप का भी सत्यत्व स्थापन किये हैं। भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान रूप कालत्रय में जिनका व्यभिचार नहीं होता है, उनको सत्य कहते हैं। तमालश्यामल कान्ति यशोदास्तनन्धय रूप श्रीकृष्ण स्वरूप का कभी भी रूपान्तर नहीं होता है। उक्त स्वरूप में आप नित्य विराजमान हैं।

उक्त कथन से सुस्पष्ट हुआ कि—सत्त्वगुणोपहित ब्रह्म श्रीकृष्ण नहीं हैं। श्रीकृष्ण रूप ही श्रीकृष्ण स्वरूप है। उक्त रूप में ही आप परम ब्रह्म हैं। आनन्दमात्र कर-पाद-मुखोदरादि एवं सर्वत्र स्वगत भेद विवर्जित स्वरूप हैं। उनके अवयव-अवयवी में एवं अवयव-अवयव में किञ्चिन्मात्र भेद नहीं है। उनकी प्रति इन्द्रिय ही यावतीय इन्द्रियवृत्तिविशिष्ट हैं।

महाभारत में उक्त है—"सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः, सत्यमत्र प्रतिष्ठितम्।
सत्यात् सत्यञ्च गोविन्दस्तस्मात् सत्यो हि नामतः॥"

इत्युद्यमपर्वणि सञ्जयकृत-श्रीकृष्णनाम-निरुक्तौ च तथा श्रुतत्वात् । एतेन तदाकारस्याव्यभिचारित्वं दर्शितम् । तटस्थलक्षणमाह (भा० १।१।१)—"धाम्ना स्वेन" इत्यादि ; स्वेन स्व-स्वरूपेण धाम्ना श्रीमथुराख्येन सदा निरस्तं कुहकं मायाकार्य्यलक्षणं येन तम् ; (गो० ता० उ० ६६)—

"मथ्यते तु जगत् सर्वं ब्रह्मज्ञानेन येन वा ।
तत्सारभूतं यद्यस्यां मथुरा सा निगद्यते ॥"१६३॥

इति श्रीगोपालोत्तरतापनीप्रसिद्धेः । लीलामाह—आद्यस्य नित्यमेव श्रीमदानकदुन्दुभिव्रजेश्वरनन्दनतया श्रीमथुरा-द्वारका-गोकुलेषु विराजमानस्यैव स्वस्य कस्मैचिदर्थाय लोके

सर्वसम्वादिनी

सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्-प्रियात्मतनय-प्राणाशयास्त्वत्कृते ॥"३५॥

कृष्ण सत्य में प्रतिष्ठित हैं, कृष्ण में ही सत्य प्रतिष्ठित है । गोविन्द, सत्य से भी सत्य है, तज्जन्य उनका नाम सत्य ही है ।

महाभारतीय उद्यमपर्व में सञ्जयकृत श्रीकृष्णनाम निरुक्ति में उक्त निर्णय हुआ है । इससे प्रतिपन्न होता है कि—श्रीकृष्ण, सर्वदा उक्त आकार में ही विराजित हैं, कभी भी अन्यथा नहीं होता है । सत्य पद के द्वारा स्वरूपलक्षण कथन के अनन्तर 'धाम्ना स्वेन' इत्यादि वाक्य के द्वारा नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण का तटस्थ-लक्षण का वर्णन करते हैं । जिन्होंने निज स्वरूपाभिन्न श्रीमथुरा नामक धाम से (उपलक्षण के द्वारा वृन्दावन, द्वारका भी ग्रहण होता है, वहाँ पर श्रीकृष्ण सपरिकर निरन्तर विराजित हैं ।) कुहक—अर्थात् मायाकार्य्य लक्षण कापट्य को निरस्त किया है, उन श्रीकृष्ण का ध्यान करते हैं । कारण श्रीभगवत् स्वरूप से तदीय धाम अभिन्न है, अतः श्रीकृष्णस्वरूप से तदीय धाम श्रीमथुरा अभिन्न है । इस विषय का सप्रमाण प्रतिपादन भगवत्सन्दर्भ में है । श्रीधाम तदीय स्वरूपशक्ति से प्रकटित होने के कारण उसमें माया का सम्पर्क नहीं है । सुतरां तद्द्वारा सतत् माया-कुहक निरस्त हो रहा है । मथुरा शब्द की व्युत्पत्ति के द्वारा श्रीमथुरा में श्रीकृष्ण की नित्य स्थिति प्रदर्शनपूर्वक माया कुहक निवारण सामर्थ्य को कहते हैं । "दधि मन्थन के द्वारा जिस प्रकार नवनीत उत्पन्न होता है, तद्रूप ब्रह्मज्ञान अथवा भक्तियोग के द्वारा समग्र साधकजगत् मथित होते हैं—अर्थात् परम ब्रह्माख्य भगवत्तत्त्व व्यक्त होता है । उसका ज्ञान एवं भक्तियोग का सारस्वरूप—ज्ञान का सारस्वरूप—स्वरूपसाक्षात्कार एवं भक्ति का सारभूत प्रेम, एतदुभय की विद्यमानता जहाँ है, उसका नाम मथुरा है ।"

"मथ्यते तु जगत् सर्वं ब्रह्मज्ञानेन येन वा । तत् सारभूतं यद्यस्यां मथुरा सा निगद्यते ॥" यह विवरण श्रीगोपालतापनी श्रुति में प्रसिद्ध है ।

स्वरूप-साक्षात्कार एवं प्रेम,—भगवत् साक्षात्कार के हेतु हैं । एतदुभय ही मथुरा निवासीओं में स्वरूपसिद्ध रूप से विद्यमान है । तज्जन्य श्रीकृष्ण, उन सब के सान्निध्य में सतत विराजित हैं । सुतरां मथुरा धाम में मायिक सत्ता नहीं है । अतः मथुरा के द्वारा माया कुहक निरस्त है ।

अनन्तर 'जन्माद्यस्य' श्लोकोक्त परब्रह्म की लीला कहते हैं—'जन्माद्यस्य यतः' 'अन्वयादितरतश्च' । 'आद्यस्य'—श्रीवसुदेव एवं श्रीव्रजेश्वरनन्दन रूप में श्रीमथुरा-द्वारका-गोकुल में जो निरन्तर विराजित हैं । इस प्रकार नित्य स्थिति के कारण ही आप आद्य हैं । उनका 'जन्म' विशेष प्रयोजन से ही मनुष्यलोक में

प्रादुर्भावापेक्षया यतः श्रीमदानकदुन्दुभिगृहाज्जन्म तस्माद् यः इतरतश्च इतरत्र श्रीव्रजेश्वर-गृहेऽपि अन्वयात् पुत्रभावतस्तदनुगतत्वेनागच्छत्। उत्तरेणैव य इति पदेनान्वयः। यत इत्यनेन तस्मादिति स्वयमेव लभ्यते। कस्मादन्वयात् ? तत्राह— अर्थेषु कंसवञ्चनादिषु तादृशभाववद्भिः श्रीगोकुलवासिभिरेव सर्वानन्दकदम्बकादम्बिनीरूपा सा सा कापि लीला सिध्यतीति तल्लक्षणेषु वा अर्थेष्वभिज्ञः; ततश्च स्वराट् स्वैर्गोकुलवासिभिरेव राजत इति। तत्र तेषां प्रेमवशतामापन्नस्याप्यव्याहतैश्वर्य्यमाह—'तेने' इति। य आदिकवये ब्रह्मणे ब्रह्माणं विस्मापयितुं हृदा सङ्कल्पमात्रेणैव ब्रह्म सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तिमयं वैभवं तेने विस्तारितवान्। यद् यतस्तथाविधलौकिकालौकिकतासमुचितलीलाहेतोः सूरयस्तत्तद्भक्ता मुह्यन्ति प्रेमातिशयोदयेन वैवश्यमाप्नुवन्ति। यदित्युत्तरेणाप्यन्वयात्। यद्यत एव तादृशलीलातस्तेजोवारिमृदामपि यथा यथावत् विनिमयो भवति। तत्र तेजसश्चन्द्रादेर्विनिमयो

सर्वसम्वादिनी

इत्यत्र,—'राता' दाता; 'त्वत्' त्वत्तः; 'अयत्' इतस्ततो गच्छत्।

प्रादुर्भाव की अपेक्षा से ही है। 'अन्वयादितरतश्च' श्रीभगवान् निज परिजनवृन्द को आनन्दित करने के निमित्त ही अन्यत्र श्रीव्रजेश्वर के गृह में पुत्रभाव अङ्गीकारपूर्वक श्रीव्रजराज का आनुगत्य स्वीकार कर जिनका आगमन हुआ है, उन परब्रह्म का ध्यान करते हैं। यहाँ 'यः' जो पद का अध्याहार, अन्वय सङ्गतिहेतु उत्तर चरण से हुआ है। 'यद्' 'तद्' शब्द का नित्य सम्बन्ध है। यद् शब्द प्रयोग के अनन्तर 'तद्' शब्द का अनुसन्धान स्वतः ही होता है। तज्जन्य 'यतः' जिस हेतु पद का प्रयोग होने से 'तस्मात्' पद का अध्याहार सुसिद्ध हुआ है।

किस हेतु व्रजराज के गृह में तादृश रूप में आगमन हुआ है ? कहते हैं,—"अर्थेषु अभिज्ञः" अर्थेषु —कंस वञ्चनादि कार्य्यसमूह में, आप अभिज्ञ हैं। किंवा नन्दनन्दन रूप में प्रसिद्ध स्वरूप की—दास, सखा, मातापिता प्रेयसी भावविशिष्ट व्रजवासिजनगण के सहित सर्वजन आनन्दराशि वर्षणकारिणी 'दामबन्धन' प्रभृति अपूर्व लीला की सिद्धि जिस प्रकार हो तद्विषय में अभिज्ञ हैं। असमोर्द्धव लीला रस में अभिज्ञ हेतु ही आप 'स्वराट्' हैं। निजजन होने के कारण जिनके सम्बन्ध से आप अभिमानी हैं, उन गोकुल वासियों के सहित सतत विराजमान हैं।

गोकुल में व्रजवासियों के प्रेमवश्य होकर जो श्रीकृष्ण विराजित हैं, उनका ही अव्याहत ऐश्वर्य्य का वर्णन करते हैं। निरतिशय प्रेमपारवश्य में भी अचिन्त्य शक्ति हेतु श्रीकृष्ण में ऐश्वर्य्य अक्षुण्ण है। "तेने ब्रह्महृदा य आदि कवये" जिन्होंने आदि कवि ब्रह्मा को विस्मापित करने के निमित्त हृदय में सङ्कल्पमात्र से ही ब्रह्म अर्थात् सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैक-रसमूर्त्तिमय वैभव का विस्तार किया है। आप ही परमब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। इसका विस्तृत विवरण श्रीभागवत के १०।१३ अध्याय में एवं श्रीकृष्णसन्दर्भ ४२ अनुच्छेद में है। 'मुह्यन्ति यत् सूरयः' एवं 'तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा' वाक्यद्वय के द्वारा श्रीकृष्ण लीला की चमत्कारिता वर्णित है।

यत्-यतः—जिस हेतु तादृश लौकिकत्व-अलौकिकत्व समुचित लीलानुष्ठान के निमित्त, तदीय भक्तगण मुग्ध होते हैं। अर्थात् अतिशय प्रेमाविर्भाव निबन्धन विवशता को प्राप्त करते हैं। ब्रह्ममोहन लीला प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण, दध्योदन का ग्रास हस्त में लेकर वत्सबालकों का अनुसन्धान करते करते

निस्तेजोवस्तुभिः सह धर्मपरिवर्त्तः, तच्छ्रीमुखादिरुचा चन्द्रादेर्निस्तेजस्त्वाभिधानात् निकटस्थनिस्तेजोवस्तुनः स्वभासा तेजस्वितापादानाच्च, तथा वारि द्रवश्च कठिनं भवति, वेणुवाद्येन मृत्पाषाणादिश्च द्रवतीति। यत्र श्रीकृष्णे त्रिसर्गः श्रीगोकुल-मथुरा-द्वारकावैभव-प्रकाशोऽमृषा सत्य एवेति॥ श्रीवेदव्यासः॥

सर्वसम्वादिनी

"तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगड़ो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥"३६॥ इति।

लौकिक लीला की मुग्धता को प्रकट किए थे, एवं आपने स्वयं ही निजांश से अवतीर्ण वयस्यगण की सत्य ज्ञानानन्तानन्दमात्रैक रसमूर्त्ति रूप में प्रकट कर अलौकिक लीला का प्रकाश किए थे।

'यत्' पद का अन्वय, पर वाक्य में भी होगा। जिससे स्वरूप चमत्कारकारिणी लीला हेतु,— तेज, वारि, मृत्तिका का यथावत् विनिमय होता है। अर्थात् परस्पर का धर्म परिवर्त्तन होता है। कारण, श्रीकृष्ण के श्रीमुखादि की कान्ति के द्वारा चन्द्रादि निस्तेजत्व मलिनत्व प्राप्त होता है, एवं निकटस्थ निस्तेज वस्तुनिचय को निज कान्ति द्वारा द्युतिमान् करते हैं। वेणुवाद्य के द्वारा द्रव पदार्थ भी कठिन होता है, एवं मृत्-पाषाणादि स्वाभाविक कठिन पदार्थ, द्रवीभूत होते हैं। जिन श्रीकृष्ण में त्रिवर्ग त्रिविध सृष्टि, अर्थात् श्रीगोकुल, मथुरा-द्वारका का वैभव प्रकाश अमृषा, सत्य है। उन नराकृति परम ब्रह्म श्रीकृष्ण का ध्यान करें।

यथावत् वस्तु की नित्य स्थिति का नाम ही सत्य है। विश्व सत्य होने पर भी यथादृष्ट रूप में सत्य नहीं है। नित्य विद्यमानता का अभाव है। अतः सूक्ष्म कारण रूप में सत्य है। विश्व की सत्यता में प्रमेयरत्नावली की उक्ति यह है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः सत्यं जगत् तत्त्वतो, भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमलाभक्तिश्च तत् साधनमक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

श्रीमध्वः प्राह विष्णुं परतममखिलाम्नाय वेद्यञ्च विश्वं
सत्यं भेदञ्च जीवान् हरिचरणजुषस्तारतम्यञ्च तेषाम्।
मोक्षं विष्ण्वङ्घ्रिलाभं तदमलभजनं तस्य हेतुं प्रमाणं,
प्रत्यक्षादित्रयञ्चेत्युपदिशति हरिः कृष्णचैतन्यचन्द्रः॥

(१) श्रीविष्णु परतम तत्त्व, (२) श्रीविष्णु वेद-प्रतिपाद्य, (३) विश्व, सत्य, (४) श्रीहरि से जीव भिन्न, (५) जीवगण, श्रीहरि के दास, (६) भजन हेतु जीवों में तारतम्य है। (७) श्रीहरिपद प्राप्ति ही मोक्ष, (८) निष्काम भक्ति ही तत् प्राप्ति का उपाय, (९) प्रत्यक्षानुमान शब्द-प्रमाणत्रय हैं। श्रीकृष्ण-चैतन्य हरि उक्त उपदेश प्रदाता हैं। सूक्ष्म रूपमें विश्वसत्यता का प्रतिपादन परमात्मसन्दर्भ में हुआ है। विश्व नित्यत्व स्थापक प्रमाणों में एक प्रमाण यह है—

"ब्रह्मसत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः। सत्याद्भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्॥"

कालशक्ति के द्वारा अवस्थान्तर न होकर लीलाशक्तिरूप चिच्छक्ति के द्वारा कभी कभी रूपान्तरित होने से दोषावह नहीं होता है। श्रीगोकुल-मथुरा-द्वारका का दर्शन प्रेमवान् भक्तगण जिस प्रकार करते हैं, उस प्रकार स्थिति का वैपरीत्य कभी भी नहीं होता है। काल प्रभाव से अवस्थान्तर प्राप्त न होने से ही धामत्रय की वैभवावस्था अमृषा ही है। प्रकरण प्रवक्ता श्रीवेदव्यास हैं॥८२॥

८३। एवं सर्वोपसंहारवाक्यमपि तत्रैव सङ्गच्छते (भा० १२।१३।१९)—

(८३) "कस्मै येन विभासितोऽयम्" इत्यादि।

(गो० ता० पू० २६)—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो विद्यास्तस्मै गापयति स्म कृष्णः।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणममुं व्रजेत्॥" १६४॥

इति श्रीगोपालपूर्वतापनीश्रुतेः। व्याकृतञ्च (९७ अनु०) द्वितीय-सन्दर्भे तस्यैव चतुःश्लोकी-वक्तृत्वमपि॥ श्रीसूतः॥

८४। तदेवमभ्यासादीन्यपि तस्मिन् विस्पष्टान्येव पूर्वोदाहृतवाक्येषु। तदेतच्छ्रीमद्-

सर्वसम्वादिनी

(भा० १०।२९।९-१६)

"अन्तर्गृहगताः काश्चिद्गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावना-युक्ता दध्युर्मीलित-लोचनाः॥३७॥

उक्त रीति से श्रीमद्भागवत का सर्वोपसंहार वाक्य का तात्पर्य्य भी श्रीकृष्ण में ही पर्य्यवसित है।

"कस्मै येन विभाषितोऽयमतुलज्ञानप्रदीपः पुरा, तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मना च भगवद्राताय कारुण्यत स्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि॥

(भा० १२।१३।१४)

जिन्होंने कल्पारम्भ में अतुल्य ज्ञानप्रदीपरूप श्रीमद्भागवत का प्रकाश ब्रह्मा के निकट करके पश्चात् क्रमशः नारद, कृष्णद्वैपायन, योगीन्द्र शुकदेव, एवं परीक्षित् के प्रति कृपाकर प्रकाश किया, उन शुद्ध, निर्मल, शोकरहित, अमृतरूप परमसत्य का ध्यान हम सब करते हैं।

उपक्रम श्लोकस्थ 'सत्यं परं' शब्द की व्याख्या जिस प्रकार श्रीकृष्ण पर हुई है, उपसंहार श्लोकस्थ 'सत्यं परं' शब्दद्वय की व्याख्या भी श्रीकृष्ण पर ही होगी।

ब्रह्मा का उपदेष्टा श्रीकृष्ण कैसे होंगे? भा० २।९ अध्याय में उक्त है, श्रीनारायण ही श्रीब्रह्मा का उपदेष्टा हैं। श्रीकृष्ण श्रीब्रह्मा को उपदेश प्रदान किये हैं, उसका प्रमाण नहीं है। इस प्रकार संशय निरसन के निमित्त श्रुति प्रमाण प्रदर्शन करते हैं। गो० तापनी—"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो विद्यास्तस्मै गापयति स्म कृष्णः। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं, मुमुक्षुर्वै शरणममुं व्रजेत्॥"

जो परमेश्वर श्रीकृष्ण, सृष्टि के समय ब्रह्मा की रचना किए थे, जो श्रीकृष्ण, ब्रह्मा को गोपाल-विद्यात्मक वेदसमूह का उपदेश प्रदान किये हैं, उन आत्मबुद्धि प्रकाशक देव का आश्रय ग्रहण मोक्षार्थिगण करें।

श्रीमद्भागवतीय द्वितीय स्कन्धोक्त नवमाध्यायस्थ चतुःश्लोकी का वक्ता श्रीकृष्ण ही हैं, सप्रमाण उसका प्रतिपादन भगवत् सन्दर्भ में हुआ है। सुतरां श्रीनारायण को ब्रह्मा का उपदेष्टा मानना समीचीन नहीं है। श्रीकृष्ण ही श्रीब्रह्मा का उपदेष्टा हैं। प्रवक्ता श्रीसूत हैं॥८३॥

उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्तिरूप लक्षण विचार के द्वारा ही शास्त्रार्थ का निर्णय होता है। अतः श्रीमद्भागवत के उपक्रमोपसंहार वाक्य (उपक्रम—सत्यं परं धीमहि, उपसंहार—सत्यं परं धीमहि) के द्वारा श्रीमद्भागवत का एकमात्रतात्पर्य्य, श्रीकृष्ण में ही उसका प्रदर्शन हुआ। श्रीकृष्ण विषय में अभ्यास प्रभृति का समन्वय, पूर्वोदाहृत वाक्यसमूह में सुस्पष्ट रूप में है।

गीतागोपालतापन्यादिशास्त्रगणसहायस्य निखिलेतरशास्त्रशतप्रणतचरणस्य श्रीभागवतस्याभिप्रायेण श्रीकृष्णस्य स्वयंभगवत्त्वं करतल इव दर्शितम् । श्रीभागवतस्य स एव परमप्रतिपाद्य इति पुराणान्तरेणैव स्वयं व्याख्यातम् । यथा ब्रह्माण्डपुराणे श्रीकृष्णाष्टोत्तरशतनामामृतस्तोत्रे श्रीकृष्णस्य नामविशेष एव—"शुकवागमृताब्धीन्दुः" इति । अथ तस्य महावासुदेवत्वे सिद्धे श्रीबलदेवादीनामपि महासङ्कर्षणादित्वं स्वत एव सिद्धम् । यद्रूपः स्वयं भगवान् तद्रूपा एव ते भवितुमर्हन्तीति । अतः श्रीबलदेवस्य यत् कश्चिदावेशावतारत्वं मन्यते, तदसत् । दृश्यते च श्रीकृष्णरामयोर्युगलतया वर्णनेन समप्रकाशत्वम्, (भा० १०।८।२२) "तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ", (भा० १०।२३।३७) "यद्विश्वेश्वरयोर्याच्ञाम्",

सर्वसम्वादिनी

दुःसह-प्रेष्ठविरह-तीव्रताप-धुताशुभाः ।
ध्यान-प्राप्ताच्युताश्लेष-निर्वृत्या क्षीण-मङ्गलाः ॥३८॥

श्रीमद्भगवद्गीता, गोपालतापनी श्रुति प्रभृति शास्त्रसमूह जिनके सहाय हैं, एवं अन्य शास्त्रसमूह जिनके श्रीचरण में प्रणतजनों के समान अनुगत हैं, उन श्रीमद्भागवत के अभिप्राय के अनुसार ही श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता करतलगत मणि के समान सुस्पष्ट रूप से प्रदर्शित हुई है ।

श्रीकृष्ण ही श्रीमद्भागवत का एकमात्र परम प्रतिपाद्य तत्त्व हैं, उसका संस्थापन पुराणान्तर के द्वारा साक्षात् रूप से हुआ है । यथा,—ब्रह्माण्डपुराणस्थ श्रीकृष्णाष्टोत्तरशतनामामृतस्तोत्र में उल्लिखित "शुकवागामृताब्धीन्दु" के द्वारा श्रीकृष्णनाम विशेष का प्रतिपादन हुआ है । शुक वाक्यरूप अमृतसागर —श्रीमद्भागवत हैं । उक्त सागर का चन्द्र अर्थात् तदीय प्रतिपाद्य तत्त्व एकमात्र श्रीकृष्ण हैं ।

अनन्तर, श्रीकृष्ण का ही महावासुदेवत्व सिद्ध होने के कारण, श्रीबलदेव प्रभृति का भी महासङ्कर्षणत्वादि स्वतःसिद्ध है । कारण श्रीमद्भागवतोक्त—

"ययोरेव समं वीर्य्यं जन्मैश्वर्य्याकृतिर्भवः । तयोर्विवाह मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥"

जहाँ उभय का समान प्रभाव, समान कुल में जन्म, समान वैभव, समान आकृति, समान अभ्युदय, उन दोनों में विवाह एवं मैत्री सुखकर होता है । उत्तम-अधम में विवाह-मैत्री दुःखकर होता है । नियमानुसार श्रीभगवान् के आंशिक स्वरूप के सहित आंशिक परिकरगण एवं अंशी के सहित अंशी परिकरगण विराजित होते हैं । अर्थात् स्वयं भगवान् यद्रूप होते हैं, तद्रूप उनके परिकरगण भी होते हैं ।

कतिपय व्यक्ति का मत है कि—आवेशावतार वासुकि नाग ही श्रीबलराम रूप में आविर्भूत हैं । इस दृष्टि से ही श्रीबलदेव को आवेशावतार कहते हैं, इस प्रकार कथन असङ्गत है । स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का ही समप्रकाश श्रीबलराम हैं, उसका प्रमाण—युगल वर्णन से ही उपलब्ध है । श्रीरामकृष्ण की रिङ्गणलीला वर्णन प्रसङ्ग यह है—"तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु ।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः ॥
(भा० १०।८।२२)

टीका—"अनुकृष्य—पुनः पुनराकृष्य सरीसृपन्तौ अतिशयेन चलन्तौ, कथम् ? घोषः कटीपादभूषणकिङ्किण्यस्तेषां प्रघोषेण रुचिरं यथा, तथा । तेषां घोषाणां नादेन हृष्टं मनो ययो स्तौ, लोकमितस्ततो गच्छन्तं जनमनुसृत्य त्रिचतुराणि पदान्यनुगम्य मुग्धवत् प्रभीतवत् मात्रोरन्ति समीपे उपेयतुरुपजग्मतुः ।।"

"रामकृष्ण भ्रातृद्वय, निज निज चरणयुगल को आकर्षण करते करते घुटुरुण चलकर कुटिल गति

(भा० १०।३८।२८) "ददर्श कृष्णं रामञ्च", (भा० १०।४३।१९) "तौ रेजतू रङ्गगतौ महाभुजौ" इत्यादौ। लोकेऽपि हि सूर्य्याचन्द्रमसावेव युगलतया वर्ण्येते, न तु सूर्य्य-शुक्रौ। अतएव

सर्वसम्वादिनी

तमेव परमात्मानं जार-बुद्धयापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीण-बन्धनाः ॥३९॥

से कटि एवं चरणभूषण के किङ्किनी निनाद से रुचिरतररूप से बारम्बार गमन करते थे। उस किङ्किनी ध्वनि से उन दोनों के मन हृष्ट होते थे। कभी तो इतस्ततः गमनरत लोकों के पश्चात् पश्चात् तीन-चार पद जाकर मुग्ध एवं प्रभीत के समान जननी के निकट प्रत्यागमन करते थे।"

भा० १०।२३।३७ के यज्ञपत्नीगण के निकट से उपहार ग्रहण प्रसङ्ग में वर्णित है—

"अथानुस्मृत्य विप्रास्ते अन्वतप्यन् कृतागसः। यद्विश्वेश्वरयोर्याच्ञामहन्मनृविड़म्बयोः ॥"

टीका—"अनुस्मृति प्रकारमाह—नरानुकरणवतो विश्वेश्वरयो र्याच्ञां यदहन्म हतवन्त स्तत् कृतागसौ वयमित्यनुस्मृत्येति।"

पत्नीगणों के सङ्ग प्रभाव से द्विजगणों में सद्‌बुद्धि का सञ्चार हुआ था। उससे राम-कृष्ण के प्रति उपेक्षा निबन्धन आप सब अपने को अपराधी मानकर अनुतप्त हुये थे। कारण आप सब समझ गये थे कि—श्रीकृष्ण-बलराम उभय ही विश्वपति हैं, एवं लौकिक लीला विस्तार करने के निमित्त अन्न भिक्षा किये थे।"

भा० १०।३८।२८ के अक्रूर का व्रजागमन प्रसङ्ग में वर्णित है—

"ददर्श कृष्णं रामञ्च व्रजे गोदोहनं गतौ। पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरुहेक्षणौ ॥"

टीका—ततः कृष्णं रामञ्च ददर्श। गावो दुह्यन्तेऽस्मिन्निति गोदोहनं तत् स्थानं गतौ प्राप्तौ।

श्रीअक्रूर व्रजमें आकर देखे थे—श्रीराम-कृष्ण उभय ही व्रजस्थ गोदोहन स्थान के ओर जा रहे हैं। उन दोनों के परिधान में नील एवं पीत वसन थे। दोनों के नयनयुगल-शारदीय कमल तुल्य शोभाशाली थे।

भा० १०।४३।१९ में वर्णित है—"तौ रेजतुरङ्गगतौ महाभुजौ, विचित्रवेषाम्बरणसगम्बरौ।
यथा नटावुत्तमवेषधारिणौ मनःक्षिपन्तौ प्रभयानिरीक्षताम् ॥"

टीका—यथा नटाविति—निर्भयत्वं दर्शितम्।

श्रीशुकदेव ने कहा—महाराज! विचित्र-वेशभूषण-माल्य-वसन द्वारा भूषित महाभुजद्वय श्रीराम-कृष्ण मनोहर वेशधारी नट के समान निर्भय होकर रङ्ग के मध्यस्थल में विराजित थे, उन दोनों की अङ्ग प्रभा से दर्शकवृन्द के चित्त विक्षिप्त हो गये थे।

उक्त श्लोकसमूह में श्रीरामकृष्ण का विहार का वर्णन एक साथ समभाव से हुआ है। तज्जन्य ही श्रीकृष्ण का महावासुदेवत्व के समान, श्रीबलदेव का भी महासङ्कर्षणत्व प्रमाणित हुआ। लौकिक वर्णना में भी सूर्य्य चन्द्र का ही युगल रूप में वर्णन प्रसिद्ध है। किन्तु शुक्र सूर्य्य का युगल वर्णन अप्रसिद्ध ही है।

वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध—भगवत्स्वरूप चतुष्टय के द्वारा चतुर्व्यूह गठित होता है। जगद्व्यापार युक्त, वैकुण्ठस्थ एवं द्वारकागत भेद से त्रिविध चतुर्व्यूह हैं। उसके मध्य में द्वारकागत चतुर्व्यूह—अन्यान्य स्थलीय चतुर्व्यूह के अंशी हैं। तज्जन्य महावासुदेवादि शब्द के द्वारा उनका परिचय प्रदत्त हुआ है। इस चतुर्व्यूह में श्रीकृष्ण, स्वयं वासुदेव, श्रीबलराम, सङ्कर्षण, श्रीरुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न एवं तदीय तनय अनिरुद्ध हैं। विशेष यह है कि—द्वारका चतुर्व्यूह में नरलीला है, एवं अन्यत्र

हरिवंशेऽपि वासुदेव-माहात्म्ये रामकृष्णयोर्दृष्टान्तः—"सूर्य्याचन्द्रमसाविव" इति ; तथा (भा० १०।३८।३०) "ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैश्चिह्नितैरङ्घ्रिभिर्व्रजम् । शोभयन्तौ महात्मानौ" इत्येवं भगवल्लक्षणान्यपि तत्र श्रूयन्ते ; न त्वेवं पृथ्वादिषु । तस्मादेष तन्महिमापि वर्ण्यते (भा० १०।१५।३५)—

(८४) "नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे ।
ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः ॥"१६५॥

एतद्धेनुकबधात्मकं कर्म ॥ श्रीशुकः ॥

८५ । किञ्च, (भा० १०।२।५)—

(८५) "सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते ।
गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्द्धनः ॥"१६६॥

सर्वसम्वादिनी

श्रीपरीक्षिदुवाच,

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ?४०॥

ईश्वर लीलाविशिष्ट हैं । अतएव श्रीरामकृष्ण का सर्वांशित्वनिबन्धन समता के कारण हरिवंश के वासुदेव माहात्म्य में रामकृष्ण का साम्य प्रदर्शन 'सूर्य्याचन्द्रामसाविव" 'सूर्य्यचन्द्रमा' दृष्टान्त द्वारा ही हुआ है । उस प्रकार ही भा० १०।३८।३० में वर्णित है—

"ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजैश्चिह्नितैरङ्घ्रिभिर्व्रजम् । शोभयन्तौ महात्मानौ सानुक्रोशस्मितेक्षणौ ॥

टीका—अनुक्रोशोऽनुकम्पा तद्विलसितस्मितयुक्तमीक्षणं ययो स्तौ ।

ध्वज, वज्र, अङ्कुश, कमल चिह्नित चरण द्वारा महात्मायुगल, व्रजभूमि को शोभित किये थे । उभय के नयन अनुकम्पा विलसित एवं ईषद्हास्य शोभित थे ।

उक्त श्लोक में, श्रीबलदेव में श्रीकृष्ण सदृश भगवल्लक्षणसमूह का वर्णन है । पृथु प्रभृति अवतार में उस प्रकार साम्य वर्णन नहीं हुआ है । तज्जन्य ही श्रीबलदेव की महिमा भा० १०।१५।३५ में वर्णित है—

"नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे । ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः ॥

टीका—यस्मिन् इदं विश्वमोतम्—ऊर्द्ध्व तन्तुषु पट इव ग्रथितम्, प्रोतं—तिर्य्यक् तन्तुषु पटवदेव संग्रथितम् । सर्वतोऽनुस्यूतं तर्त्तते—इत्यर्थः ।

श्रीबलदेव कर्त्तृक धेनुकासुर निहत होने से शुकदेव ने कहा—"तन्तुसमूह में वस्त्र जिस प्रकार ओतप्रोत रूप में स्थित है, उस प्रकार ही यह जगत् जिन अनन्त जगदीश्वर में सर्वतोभावेन अनुस्यूत होकर है । उन भगवान् के पक्ष में यह कार्य्य होना कुछ भी विचित्र नहीं है । यह धेनु बधात्मक कर्म, इस श्लोक में श्रीबलदेव को विश्व का आदि कारण परमपुरुष रूप में निर्देश किया गया है ।

प्रकरण प्रवक्ता श्रीशुक हैं ।।८४।।

भा० १०।२।५ में और भी वर्णित है—"सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते ।
गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्द्धनः ॥"

टीका—धाम कला, तदेव सप्तमो गर्भो बभूव । किं तद्धामेत्यत आह—यमनन्तमिति । हर्षशोक-विवर्द्धनः । आनन्दरूपस्यावतीर्णत्वात् हर्षः, पूर्वगर्भसाधारण दृष्ट्या शोक इति ।

गर्भो बभूव, न तु गर्भे बभूवेति सप्तम्यन्तानुक्त्या साक्षादेवावतारत्वं सूचितम् ॥ स एव ॥

८६। अथेदमप्येवमेव व्याख्येयम्, (भा० १०।१।२४)—

(८६) "वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ॥" १६७॥

श्रीवसुदेवनन्दनस्य वासुदेवस्य कला प्रथमोऽंशः श्रीसङ्कर्षणः, तस्य श्रीसङ्कर्षणत्वं स्वयमेव, न तु सङ्कर्षणावतारत्वेनेत्याह—स्वराट् स्वेनैव राजत इति। अतएवानन्तः

सर्वसम्वादिनी

श्रीशुक उवाच,
उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेश किमुताधोक्षज-प्रियाः ॥४१॥

जिनको वैष्णव धाम अनन्त कहा जाता है, आप ही देवकी के सप्तम गर्भ हर्ष-शोक-विवर्द्धन रूप में आविर्भूत हैं। श्रीबलदेव, देवकी के सप्तम गर्भ हुये थे, किन्तु गर्भ में नहीं हुए। यहाँ 'गर्भो बभूव' प्रयोग है, 'गर्भे बभूव' प्रयोग नहीं हुआ है। अर्थात् सप्तमी विभक्त्यन्त पद का प्रयोग न होने से उनका साक्षात् अवतारत्व ही सूचित हुआ है। यदि सप्तम्यन्त पद का प्रयोग होता, तब श्रीकृष्ण से श्रीबलदेव की स्वतन्त्रसत्ता की प्रतीति होती। अर्थात् जो श्रीबलदेव हैं, आप ही लीला के निमित्त देवकी के गर्भ में आविर्भूत हुए हैं, ऐसा अर्थ होता। किन्तु प्रथमा विभक्त्यन्त 'गर्भ' पद प्रयोग निबन्धन अर्थ हुआ है कि—जो देवकी के सप्तम गर्भ है, वह ही श्रीबलदेव हैं। अन्य कोई बलदेव नहीं हैं। अर्थात् तमाल श्यामल कान्ति यशोदास्तनन्धय में यद्रूप कृष्ण शब्द की मुख्यावृत्ति है, तद्रूप ही देवकी के सप्तमगर्भ में बलदेव की मुख्यावृत्ति है। योगमाया के द्वारा यह गर्भ रोहिणी में स्थापित होने से ही आप रोहिणीनन्दन रूप में विख्यात हैं। श्रीशुकदेव ही इस प्रकरण का प्रवक्ता हैं।

अतएव (भा० १०।१।२४)—"वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ॥"

बृहत्क्रमसन्दर्भः। वासुदेवकलेत्यादि। अग्रजो भविता, अग्रजत्वेन भविष्यति, अग्रतो भवितेति पाठेऽपि स एवार्थः। कलापि भूत्वा कथमग्रजो भवितेत्याशङ्क्याह—हरेः प्रियचिकीर्षया। तथा सति तस्य प्रीतिर्भवतीत्यर्थः।

श्रीबलदेव का साक्षात् अवतारत्व हेतु, "वासुदेव की कला, अनन्त सहस्रवदन स्वराट्, श्रीहरि के प्रीति सम्पादन निमित्त प्रथम आविर्भूत होंगे।"

इस वाक्य की व्याख्या निम्नोक्त रीति से करना उचित है। कारण, इस श्लोक का यथाश्रुत अर्थ से प्रतीत होता है कि—श्रीबलदेव, आवेश अवतारविशेष शेषनाग का ही अवतार हैं। उक्त अर्थ असङ्गत होने के कारण समीचीन व्याख्या की जा रही है।

श्रीवसुदेवनन्दन वासुदेव की कला, प्रथम अंश—श्रीसङ्कर्षण हैं। मुख्य वासुदेव का अंश रूप में श्रीबलदेव को सूचित करने के निमित्त ही उक्त रूप व्याख्या हुई है। उससे वैकुण्ठस्थ चतुर्व्यूह एवं जगल्लीलारत चतुर्व्यूहस्थ वासुदेव की व्यावृत्ति हुई है। उनका सङ्कर्षणत्व स्वयं है, अर्थात् अन्यनिरपेक्ष है, सङ्कर्षण का अवतार हेतु आप सङ्कर्षण नहीं हैं। अर्थात् सङ्कर्षण अवतार कहने से परव्योम नाथ नारायण व्यूहस्थ सङ्कर्षण को मूल सङ्कर्षण मानना होगा। उससे श्रीबलदेव—अंशावतार होते हैं।

कालदेशपरिच्छेदरहितः। अतएव मायया तस्य गर्भसमय आकर्षणञ्च युक्तम्। पूर्णस्य वास्तवाकर्षणासम्भवादिति केचित्। एतद्विधकार्य्ये च तदकुण्ठेच्छात्मकचिच्छक्त्याविष्टैव सा माया प्रभवेत्। उक्तञ्च तदानीं तदाविष्टत्वं तस्याः; (भा० १०।१।२५) "आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्य्यार्थे सम्भविष्यति" इति। अंशेन चिच्छक्त्या सम्भविष्यति मिलिष्यतीति तत्र ह्यर्थः।

सर्वसम्वादिनी

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥४२॥

उक्त दोष परिहारार्थ कहा गया है—"तस्य श्रीसङ्कर्षणत्वं स्वयमेव, नतु सङ्कर्षणावतारत्वमित्याह," आप सङ्कर्षण का अवतार, सङ्कर्षण नहीं हैं। तज्जन्य उक्त है—स्वराट्, जो निज प्रभाव में विराजित हैं, वह ही स्वराट् हैं। अतएव स्वराट् होने के कारण, आप अनन्त हैं। काल-देश निमित्त परिच्छेद रहित हैं। अतएव पूर्ण स्वरूप का वास्तविक आकर्षण होना असम्भव हेतु माया के द्वारा गर्भ के समय में आकर्षण सम्भव होता है। अपरिच्छिन्न वस्तु का आकर्षण असम्भव है। स्वरूपतः अपरिच्छिन्न होने पर भी स्वीय अचिन्त्यशक्ति द्वारा परिच्छिन्न गर्भ में आविर्भूत होकर परिच्छिन्न के समान प्रतीत हुए थे। तज्जन्य गर्भ में अवस्थान के समय योगमाया नाम्नी चिच्छक्ति ने ही उनको आकर्षण कर श्रीरोहिणी के गर्भ में स्थापन किया। माया का स्वतः सामर्थ्य नहीं है। उक्त आकर्षण रूप कार्य्य सम्पादन हेतु श्रीकृष्ण की इच्छाशक्तिरूप चिच्छक्ति द्वारा आविष्ट होकर माया उक्त आकर्षण कार्य्य करने में सक्षम हुई। उक्त इच्छा के द्वारा माया आविष्टा हुई थी, उसका विवरण देवगण के प्रति श्रीब्रह्मा के आदेश से सुव्यक्त हुआ है। (भा० १०।१।२५) "आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्य्यार्थे सम्भविष्यति"।

वृ० क्रमसन्दर्भः। "अथ अवतारे सति दुर्घटसंघटनार्थं भगवद् योगशक्तेरप्यवतारं सूचयति—विष्णोर्माया भगवतीत्यादि। माया—योगमाया। सा च द्वेधा—साकारा, निराकारा चेति। साकारा तु दुर्गा, निराकारा तु केवला शक्तिरूपा—दुर्घटनपटीयसी भगवती। यया उभयविधया जगत् संमोहितं भवतीत्यर्थः। अतो ज्ञानरूपैवेयं प्रकाशिका माया। माया शब्दोऽत्र शक्तिविशेषपरः। सा च द्विविधेत्यत्र ज्ञानरूपायाः प्रकाशिकाया एवावसरः, न तु आवरिकायाः। अतो अकार प्रश्लिष्टः। सैव प्रभुणा आदिष्टा सती साकारा नन्दगृहे भविष्यतीति, निराकारा तु कार्य्यार्थे। कार्य्यन्तु—अघटनसंघटनागर्भ सङ्कर्षणादि, वृन्दावने च गोपीनां भगवत्सङ्गे विहरिष्यन्तीनाम् (भा० १०।३३।७३)—"मन्यमानाः स्व पार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः" इत्यादिना छायारूपेण पतिसमीपे वर्त्तमानत्वादि, कृष्णलीलानुकरणे तासां प्रतिकूलतादात्म्यपूतनादित्वस्वीकारः, रासे च तत्तत्सामग्रीसमवधानञ्च। ननु कथं विरुद्धगोपीच्छायादि पूतनाद्यनुकरणं स्यादित्याह—अंशेनेति। विरुद्धकार्य्यं प्रत्यंशेन, भगवत्कार्य्यं प्रति तु पूर्ण भावेन।"

अनन्तर भगवत् अवतार होने पर दुर्घट कार्य्य सम्पादन हेतु भगवद् योगशक्ति का अवतरण होता है। कहते हैं—विष्णुर्माया भगवती। माया—योगमाया, वह द्विविधा हैं,—साकारा, निराकारा, साकारा—दुर्गा, निराकारा—केवल शक्तिरूपा दुर्घटघटनपटीयसी भगवती। उभयविध के द्वारा जगत् सम्मोहित होता है। अतएव ज्ञानरूपा ही यह माया है। माया शब्द का अर्थ यहाँ शक्तिविशेष है। वह द्विविध है। यहाँ ज्ञानरूपा का ही अवसर है, आवरिकारूपा का नहीं। अतएव अकार प्रश्लेष करना आवश्यक है। वह ही प्रभु का आदेश प्राप्त कर साकार रूप में नन्द गृह में आविर्भूत होगी। निराकारा किन्तु कार्य्य सम्पादन हेतु रहेगी। कार्य्य—अघटन संघटना गर्भ सङ्कर्षणादि। वृन्दावन में भगवान् के सहित विहरणशील गोपियों का व्यवहार निर्वाह उससे होता है। गोपगण निज निज समीप में

अतएव एकानंशेति तस्या नाम। एकोऽनंशो यत्रेति निरुक्तिरिति केचित्। य एव शेषाख्यः सहस्रवदनोऽपि भवति; यतो देवः, नानाकारतया दीव्यतीति। तदुक्तं श्रीयमुनादेव्या (भा० १०।६५।२८)—

"राम राम महाबाहो न जाने तव विक्रमम्।
यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पतेः॥"१६८॥ इति।

"एकांशेन शेषाख्येन" इति टीका च। अन्यथा तदेकावयवैकदेशरूपार्थत्वेनैकांशेनेति यच्छब्दस्य

सर्वसम्वादिनी

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥४३॥

निज निज पत्नियों को प्राप्त किए थे। छाया रूप में पति के समीप में वर्त्तमानता प्रभृति की सम्पादिका है। कृष्णलीलानुकरण के समय प्रतिकूल पूतना प्रभृति के सहित तादात्म्य भावना की सम्पादिका योगमाया है। रात में भी उन उन सामग्री का सम्पादिका हैं। विरुद्ध गोपीच्छायादि पूतनादि अनुकरण कैसे सम्भव होगा? उत्तर—अंश से होता है। विरुद्ध कार्य्य के प्रति अंश से एवं भगवत् कार्य्य के प्रति पूर्ण भाव से सम्पादन करती है।

जिससे जगत् मोहित है, वह विष्णु माया भगवती है प्रभु श्रीकृष्ण के द्वारा आदिष्टा होकर अंशसह देवकी का गर्भाकर्षण एवं यशोदा मोहन के निमित्त आविर्भूता होगी। यहाँ सम्भूत शब्द का अर्थ मिलन अर्थ है। 'सम्भूत षोड़शकला' यहाँ 'सम्भूत' शब्द से मिलनार्थ का बोध ही होता है। देवकी का गर्भाकर्षण एवं यशोदा मोहन कार्य्य माया का नहीं है, यह योगमाया का कार्य्य है। उक्त कार्य्य सम्पादनार्थ श्रीकृष्ण की इच्छा से चिच्छक्ति योगमाया का प्रवेश माया में हुआ था। भा० १०।२।३ श्लोक में स्पष्टतः उल्लेख है—"योगमायां समादिशत्" 'अंशेन' शब्द प्रयोग से प्रतीत होता है,—श्रीकृष्ण के इच्छा रूप अंश के सहित समन्वित होना। अथवा, निजांशभूता जो वहिरङ्गा माया, उसके सहित मिलित होकर आविर्भूत होगी। इस प्रकार अर्थ बोध उक्त वाक्य से होता है।

माया के सहित योगमाया मिलित हुई थी, अतः उसका (माया का) नाम एकानंशा। अखण्ड स्वरूपा। कतिपय व्यक्ति के मत में 'एकानंशा' शब्द का अर्थ—एक अनंश, अखण्डस्वरूप है—जिसमें, वह एकानंश, एतावता वासुदेव कलानन्त पद की व्याख्या हुई। अनन्तर "सहस्र वदनः स्वराट्" पद की व्याख्या हो रही है। शेष—आवेशावतार है, सहस्रफणाविशिष्ट नाग रूप में पाताल में अवस्थित हैं। इनकी फण में पृथिवी अवस्थित है।

जो श्रीकृष्ण गुण गान करने के निमित्त शेषनामक सहस्र वदन हुये हैं, वह ही सङ्कर्षण हैं। कारण—आप देव हैं, विभिन्न रूप में क्रीड़ा करते हैं। श्रीसङ्कर्षणदेव ही शेष रूप में अवतीर्ण हैं, उनका विवरण श्रीयमुनादेवी के वाक्य में है। (भा० १०।६५।२८)

"हे राम! हे राम! हे महाबाहो! हे जगत्पते! जिनके एकांश के द्वारा जगत् विधृत है, मैं तुम्हारा विक्रम नहीं जानती हूँ।"

स्वामिटीका—एकांशेन—शेषाख्येन। एकांश—शेष नामक अंश, यदि कहा जाय कि—श्रीबलदेव, अवयवविशेष के द्वारा जगत् धारण करते हैं? यह कथन समीचीन है। कारण उक्तार्थ प्रकाश हेतु 'यस्य' जिसका एकांश, इत्यादि स्थल में 'जो एकांश' इस प्रकार प्रयोग होता। अर्थात् 'यत्' शब्द से

कर्त्तृत्वनिर्द्देश एव युक्तः स्यात्। तदंशावतारलक्षणार्थान्तरप्रतीतिनिरसनाय महाविद्वद्वाक्यत्वात्। सम्बन्धिनिर्द्देशेन तु टीकाव्याख्यैव स्फुटतरा। एकांशे मुख्यस्यैव कर्त्तृत्वस्य निर्व्याजप्रतीति र्न त्वौपचारिकस्येति। एवं श्रीलक्ष्मणस्यापि अन्तिमदशानुकरणलीलायां श्रूयते स्कान्दे अयोध्यामाहात्म्ये—

"ततः शेषात्मतां यातं लक्ष्मणं सत्यसङ्गरम्। उवाच मधुरं शक्रः सर्वस्य च स पश्यतः॥"१६९॥

इन्द्र उवाच—

"लक्ष्मणोत्तिष्ठ शीघ्रं त्वमारोहस्व पदं स्वकम्। देवकार्य्यं कृतं वीर त्वया रिपुनिसूदन॥१७०॥
वैष्णवं परमं स्थानं प्राप्नुहि स्वं सनातनम्।
भवन्मूर्त्तिः समायाता शेषोऽपि विलसत्फणः॥"१७१॥ इत्यादि।

ततश्च,—

"इत्युक्त्वा सुरराजेन्द्रो लक्ष्मणं सुरसङ्गतः। शेषं प्रस्थाप्य पाताले भूभारधरणक्षमम्।
लक्ष्मणं यानमारोप्य प्रतस्थे दिवमादरात्॥"१७२॥ इति।

सर्वसम्वादिनी

न चैवं विस्मयः कार्य्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते॥"४४॥

इति श्रीभागवतसन्दर्भे श्रीसर्वसम्वादिन्यां श्रीकृष्णसन्दर्भानुव्याख्या॥४॥

समाप्तेयं श्रीभागवतसन्दर्भे आद्यसन्दर्भचतुष्टयानुव्याख्या

श्रीश्रीसर्वसम्वादिनी॥

सम्बन्ध निर्देश न करके कर्त्तृत्व निर्देश ही होता। अंशावतार रूप में श्रीबलदेव की प्रतीति न-हो, तज्जन्य ही सम्बन्ध निर्देशपूर्वक स्वामी टीका की व्याख्या करने से अर्थ परिस्फुट होता है।

श्रेष्ठ विद्वान् श्रीधरस्वामिपाद में भ्रमप्रमादादि पुरुष दोषस्पृष्टता की आशङ्का नहीं है। आपने "यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते" वाक्य स्थित सम्बन्धबोधक यस्य पद की अर्थ सङ्गतिमूलक व्याख्या—'एकांशेन—शेषाख्येन' शब्द से की है। यस्य पद की अर्थ प्रतीति सहज रूप से हो तज्जन्य आपकी व्याख्या नहीं हुई है। एकांश में, शेष नामक अंश में, जगद्विधारण कर्त्तृत्व की मुख्य प्रतीति होती है। अतएव जगद्विधारण कर्त्ता 'बलराम' है। 'शेष' में उक्त कर्त्तृत्व का आरोप (अर्थात् एक का धर्म का अर्पण अन्यत्र होना) हुआ है, इस प्रकार अर्थ नहीं होगा।

उदाहरण के द्वारा उक्त विचार का स्पष्टीकरण करते हैं – अर्थात् श्रीबलराम अंशी है, शेष उनका अंश है।

स्कन्दपुराण के अयोध्या-माहात्म्य में वर्णित है—श्रीलक्ष्मण के अन्तिमदशानुकरण के समय श्रीबलदेव एवं शेष के समान लक्ष्मण के दो रूप सुस्पष्ट हैं। "अनन्तर 'शेष' के सहित एकात्मता प्राप्त सत्य सङ्गर लक्ष्मण को देवराज कहे थे – हे लक्ष्मण! उठो एवं निज पदारोहण करो। हे वीर! हे रिपुनिसूदन! तुमसे देवकार्य्य निष्पन्न हुआ है। विष्णु सम्बन्धीय सर्वोत्तम स्थान लाभ करो। तुम्हारे मूर्त्तिविशेष फणासमूह से सुशोभित—शेष, तुम्हारे में प्रविष्ट है।" इत्यादि। "देववृन्द के सहित इन्द्र उस प्रकार कहकर भूभार धारणक्षम शेष को पाताल में भेजकर आदरपूर्वक लक्ष्मण को यान में आरोहण

अतो नारायणवर्मण्यपि—"यज्ञश्च लोकादवतात् कृतान्ता,-द्बलो गणात् क्रोधवशादहीन्द्रः" इति श्रीबलदेवस्य शेषादन्यत्वं शक्त्यतिशयश्च दर्शितः। जनान्तादिति पाठे जनानां नाशादिति स एवार्थः। अतः (भा० १०।२।८)"शेषाख्यं धाम मामकम्" इत्यत्रापि (भा० १०।३।२५) "शिष्यते शेषसंज्ञः" इतिवदव्यभिचार्य्यंश एवोच्यते। शेषस्याख्या ख्यातिर्यस्मादिति वा।

करवाकर स्वर्ग को चले गये।"

भावार्थ यह है—श्रीकृष्णांश में श्रीरामचन्द्र, एवं श्रीबलदेव के अंश में श्रीलक्ष्मण आविर्भूत हुये थे। श्रीलक्ष्मण के प्रकट लीला में तदीय आवेशांश 'शेष' उनमें प्रविष्ट थे। लीला अप्रकट के समान उभय पृथक् होकर निज निज स्थान में चले गए। श्रीबलदेव एवं लक्ष्मण, द्वितीय व्यूहरूप एक तत्त्व हैं। उस तत्त्व का आवेशावतार हेतु शेष को श्रीलक्ष्मण का आवेश कहा गया है, अन्यत्र शेष को श्रीबलराम का आवेश अवतार कहते हैं।

ब्रह्मसंहिता ५।३९ में उक्त है—"रामादिमूर्त्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्,
नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमपुमान् यो,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥" इससे प्रतीत होता है—श्रीकृष्ण, श्रीराम का अंशी है, श्रीबलदेव श्रीकृष्ण का परिकर हैं, श्रीलक्ष्मण श्रीराम का परिकर हैं। श्रीभगवान् यद्रूप होते हैं, उनके परिकर भी तद्रूप होते हैं। उक्त नियम से श्रीबलराम, श्रीलक्ष्मण का अंशी हैं। अतएव भागवतस्थ श्रीनारायणवर्म में कथित है—"यज्ञश्च लोकादवतात् कृतान्ताद्बलोगणात् क्रोधवशादहीन्द्रः" "यज्ञमूर्त्ति भगवान्—लोक से, बलदेव—कृतान्त से, सर्पराज शेष, निजगण सर्प से रक्षा करें।" मृत्यु के अनेक कारण हैं, उसके मध्य में एक हेतु सर्प है। श्रीबलदेव,—यम, अर्थात् सर्वविध मृत्यु से रक्षा करने में समर्थ हैं, एवं शेष, केवल सर्प से रक्षा करने में सक्षम हैं। उक्त श्लोक का तात्पर्य्य से प्रतीत होता है—शेष से श्रीबलदेव में श्रेष्ठत्व है। श्लोकस्थ 'कृतान्तात्' के स्थान में 'जनान्तात्' पाठ दृष्ट होता है। उससे अर्थ होता है—जनगण की रक्षा, मृत्यु से करें। उभय पाठ में अर्थ एक रूप है। अतएव उभयविध मृत्यु से रक्षा सामर्थ्य हेतु श्रीबलदेव, शेष का अंशी हैं।

श्रीबलदेव, शेष का परमस्वरूप होने से ही भा० १०।२।८ में श्रीकृष्ण ने कहा—

"देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाममामकम्। तत् सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय॥"

"मदीय शेष नामक जो रूप देवकी के सप्तम गर्भ हैं, उसे आकर्षण कर रोहिणी के उदर में स्थापन करो।" श्लोकोक्त शेषाख्य पद की सङ्गति प्रदर्शित हो रही है। यहाँ श्रीबलदेव को शेष नाम से कहा गया है? उत्तर में कहते हैं—"भगवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः" श्रीदेवकी देवी बोली थी—ब्रह्माण्ड का प्रलय होने से "शेष संज्ञक आप अवशिष्ट रहते हैं," यहाँ नित्य सत्ताशील श्रीकृष्ण को शेष कहा गया है, तद्रूप अव्यभिचारी अंश, अर्थात् स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का प्रथम अंश होने के कारण—श्रीबलदेव की संज्ञा शेष है। किम्वा शेष की आख्या ख्याति जिनसे है, वह शेषाख्य हैं। द्वितीय अर्थ में जगद्धारणकर्त्ता शेष को श्रीबलदेव का अंश रूप में कहा गया है। श्रीबलदेव का अंश होने से ही उनका नाम शेष है।

उक्त श्लोक की स्वामिटीका—"किञ्च महाप्रलयेऽपि अवशिष्यमाणस्य कुतो भयमित्याह—नष्टे लोके इति। चराचरे लोके, महाभूतेषु लीने तेष्वप्यादिभूतं सूक्ष्मं प्रविष्टेषु तस्मिन्नपि व्यक्तेऽव्यक्तं प्रधानं प्राप्ते। अशेषात्मके प्रधाने संज्ञा प्रज्ञा यस्य एवं मयि लीनमिदमस्ति पश्चादेवमुद्बोधनीयमिति सोऽशेषसंज्ञः। शेषसंज्ञ इति वा। शिष्यते इति शेषोऽंशः, स आख्या ख्यातिर्यस्य तत् शेषाख्यमिति

श्रीमदानकदुन्दुभिना च श्रीकृष्णसाम्येनैव निर्द्दिष्टम् (भा० १०।८५।१८) "युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ" इत्यत्र साक्षादेवेति त्वधिकमुपजीव्यम्। अथ यदि (भा० १०।१३।३७) "प्रायो मायान्तु मे भर्त्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी" इति तद्वाक्यानुसारेणावेशावतारत्वं मन्तव्यम्, तदा पूर्वग्रन्थबलात् श्रीबलदेवस्वांशत्वमेव। किन्तु शेषाख्यतदाविष्टपार्षदविशेषस्य तदन्तःपातात्तदंशेनैव तद्व्यवहार इति मन्तव्यम्। तदेवमेकरूपत्वेऽपि "प्रायो मायान्तु

वैष्णवतोषणी।

भा० १०।८५।१८ में श्रीमदानकदुन्दुभि ने भी श्रीबलदेव एवं श्रीकृष्ण को समान रूप से निर्देश किया है। "युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ। भूभारक्षत्रक्षपणे अवतीर्णौ तथात्थ च।।" ऐश्वर्य्य ज्ञान प्रधान प्रेमवान् श्रीवसुदेव, श्रीकृष्णतत्त्व को जानते थे। पुत्र रूप में अवतीर्ण कृष्ण को भगवान् ही मानते थे। यदि श्रीबलदेव, मूल सङ्कर्षण नहीं होते तो श्रीकृष्ण की भगवत्ता में सुविज्ञ श्रीवसुदेव, श्रीबलराम को श्रीकृष्ण के समान रूप में वर्णन नहीं करते। उक्त वाक्य से ही सुस्पष्ट प्रतिपादन होता है। "तुम दोनों मेरा पुत्र नहीं हो, साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वर हो, तुम दोनों पृथिवी के भारस्वरूप क्षत्रियवर्ग को विनष्ट करने के निमित्त आविर्भूत हुए हो," श्लोकोक्त 'साक्षात्' पद से प्रतीत होता है कि—श्रीकृष्ण के समान श्रीबलदेव भी अवतारी है।

अनन्तर श्रीबलदेव का मूल सङ्कर्षणत्व के विषय में संशय निरसन के निमित्त भा० १०।१३।३७ श्लोक का विचार प्रारम्भ करते हैं—"केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्य्युतासुरी,
प्रायो मायान्तु मे भर्त्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी।"

ब्रह्ममोहन लीला में ब्रह्मा, श्रीकृष्ण के वत्स एवं वयस्यवृन्द को हरण करने से श्रीकृष्ण, निज स्वरूप से ही तदनुरूप वत्स एवं वयस्यवृन्द को प्रकाशित किये थे। तत् समुदय, श्रीकृष्ण से अभिन्न होने के कारण श्रीकृष्ण के प्रति जिस प्रकार प्रीति धेनुवृन्द एवं व्रजवासिवृन्द की थी, निज निज पुत्र के प्रति भी उस प्रकार प्रीति उन सब की हुई थी। जिस दिन ब्रह्माकर्त्तृक वत्सबालकों का अपहरण हुआ था, उस दिन श्रीबलराम वहाँ उपस्थित नहीं थे। सुतरां उक्त लीलारहस्य उनका अज्ञात था। अतएव निज निज बालकों के प्रति नित्य वर्द्धित प्रीति को देखकर उन्होंने उसको मायिक माना था। व्रजवासिगण की एकनिष्ठ कृष्णप्रीति का व्यभिचार नहीं होता है। श्रीकृष्ण भिन्न अन्यत्र नित्य वृद्धिशील होना तो दुसरी बात है, कृष्णसम्बन्ध भिन्न अन्यत्र प्रीति का सञ्चार आप सबका होना सम्भव नहीं है। कारण निज पुत्र में भी जो प्रीति है, वह भी 'मेरा पुत्र कृष्ण के सखा है' इस बुद्धि से ही है। श्रीबलदेव ने बारम्बार व्रजवासियों की इस प्रीतिरीति का अनुभव किया था। सम्प्रति उन सब व्रजवासियों में निज पुत्र भाव से अत्यधिक प्रीति का उद्रेक को देखकर मन-ही मन आपने शोचा,—"यह माया का कार्य्य है। कौन ऐसी माया है, जो मुझको इस प्रकार विपरीत रीति को दिखा रही है? यह माया—दैवी मानुषी, किंवा आसुरी है? कहाँ से यह माया आई है? उसकी स्थिति अन्यत्र होना असम्भव है। कारण इससे मेरा मोह हो रहा है। मैं समझता हूँ—यह माया मेरा प्रभु श्रीकृष्ण की ही है।"

श्रीबलदेव के वाक्यस्थित 'प्रभु' पद के द्वारा उनकी न्यूनता सूचित हो रही है। उसके अनुसार यदि उनको आवेशावतार कहा जाय तो, पूर्वोक्त 'वासुदेव कलानन्त' इत्यादि श्लोकानुसार श्रीबलदेव को अंशाविष्ट अंश मानना होगा। किन्तु वैसा मानना असमीचीन ही होगा। श्रीबलदेव आवेशावतार नहीं हैं, आप अवतारी हैं। 'शेष' नामक श्रीबलदेवाविष्ट पार्षदविशेष हैं। अंशी के आविर्भाव के समय में

मे भर्त्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी" इत्यादौ यत्तस्मिंस्तस्य भक्तिः श्रूयते, तत्तु लक्ष्म्या इव द्रष्टव्यम् ।। श्रीब्रह्मा देवान् ।।

८७। अथ श्रीप्रद्युम्नस्यापि शिवनेत्रदग्धः स्मरो जातोऽयमिति यच्छ्रूयते, तदप्येकदेश-प्रस्तावमात्रम् । तस्य गोपालतापनीश्रुत्यादौ (उ० ४०)—

"यत्रासौ संस्थितः कृष्णस्त्रिभिः शक्त्या समाहितः ।
रामानिरुद्धप्रद्युम्नैः रुक्मिण्या सहितो विभुः ।।" १७३।।

इत्यादिना नित्य-श्रीकृष्णचतुर्व्यूहान्तःपातितया प्रसिद्धेस्तथा सम्भवाभावात् । तस्य स्मरस्यापि साधारणदेवताविशेषमात्रत्वेन प्रसिद्धत्वे चतुर्व्यूहान्तःपातितायामयोग्यतमत्वात् । तस्माद्वक्ष्यमाणाभिप्रायेणैवैतदाह (भा० १०।५५।१)—

(८७) "कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्रागुरुद्रमन्युना ।
देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत ।।" १७४।।

अवेदज्ञस्यापि ब्राह्मण्ये सत्येव ब्राह्मणस्तु वेदज्ञ इतिवत्, 'तु'-शब्दोऽत्र मुख्यतां सूचयति ।

उन श्रीबलदेव में अंश का प्रवेश हुआ था । उन अंश से ही 'मे भर्त्तुः' इत्यादि वाक्य का प्रयोग हुआ है । किन्तु श्रीबलदेव के आचरण में जो भक्ति का प्रसङ्ग आता है, वह भी लक्ष्मी का भजन प्रसङ्गवत् है । उक्त दृष्टि से ही भजन प्रसङ्ग का समाधान करना आवश्यक है ।

देवगणों के प्रति श्रीब्रह्मा का कथन है ।।८६।।

अनन्तर तृतीय व्यूहरूप श्रीप्रद्युम्न तत्त्व का निरूपण करते हैं । शिवनेत्रदग्ध कामदेव श्रीप्रद्युम्न रूप में आविर्भूत हैं । इस प्रकार विवरण श्रुत है । वह भी श्रीप्रद्युम्न का एकदेश प्रस्ताव है । अर्थात् आंशिक वर्णन ही है । कारण, श्रीगोपालतापनी प्रभृति श्रुति में वर्णित है—'राम, अनिरुद्ध, प्रद्युम्नरूप के सहित एवं शक्तिरूपा रुक्मिणी के सहित सम्यक् लीलासौष्ठव समन्वित विभु श्रीकृष्ण, जहाँ पर अवस्थित हैं, भक्तगण उस स्थान को प्राप्त करते हैं।" (गोपालतापनी उत्तर विभाग ४०) सुतरां शिवनेत्रदग्ध कामदेव का प्रद्युम्न होना सम्भव नहीं है । कामदेव साधारण आधिकारिक देवता है । उनका सन्निवेश चतुर्व्यूह में होना सर्वथा असम्भव ही है ।

अतएव भा० १०।५५।१ के वर्णनाभिप्राय से विदित है कि—मुख्य कामदेव श्रीवासुदेव का ही अंश है । पहले शिव कोपानल से दग्ध होकर काम पुनर्बार शरीर प्राप्ति के निमित्त उनमें प्रविष्ट हुआ । श्रीमद्भागवतीय 'कामस्तु' पद्य से उक्तार्थ का सुस्पष्ट बोध होता है,—"वासुदेवांश काम, रुद्र कोपानल से दग्ध होकर पुनर्बार देह प्राप्ति के निमित्त उनको प्राप्त किया।" यहाँ प्रष्टव्य यह है कि—श्रुत्यादि के वर्णनानुसार वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—चतुर्व्यूह ईश्वराविर्भाव हैं, एवं नित्य हैं । प्राकृत काम, इन्द्रभृत्य देवताविशेष है, एवं इन्द्रभृत्य जीवविशेष है । सुतरां उसका श्रीकृष्ण पुत्र, प्रद्युम्न रूपमें आविर्भूत होना एवं ईश्वरतत्त्व में पर्य्यवसित होना कैसे सम्भव होगा ? इस प्रश्न का समाधान के निमित्त पूर्वोक्त यथाश्रुतार्थ से सन्तुष्ट न होकर ग्रन्थकार स्वयं ही उक्त पद्य की व्याख्या कर रहे हैं ।

"अवेदज्ञस्यापि ब्राह्मण्ये सत्येव ब्राह्मणस्तु वेदज्ञ इतिवत्" 'तु' शब्दोऽत्र मुख्यतां सूचयति । ब्राह्मण कुलोत्पन्न अवेदज्ञ का भी ब्राह्मणत्व है, किन्तु वेदज्ञ ही ब्राह्मण है । यहाँ जिस प्रकार किन्तु-स्थ 'तु' शब्द

ततः 'कामस्तु वासुदेवांशः' इत्यस्य वासुदेवांशो यः कामः स एव मुख्य इत्यर्थः। 'तु'-शब्दोऽयं भिन्नोपक्रमे वा। ततो 'वासुदेवांशस्तु कामः' इत्यन्वयेऽपि पूर्ववदेवार्थः। तदेवं सति यः प्राग्रुद्रमन्युना दग्धो देवताविशेष इन्द्रभृत्य इत्येकादशप्रसिद्धः कामः, स देहोपपत्तये तत्कोपदग्धतया नित्यमेवानङ्गतां प्राप्तस्य तस्य स्वतो देहोपपत्त्यभावाद्देहप्राप्त्यर्थं तमेव वासुदेवांशं प्रद्युम्नाख्यं मुख्यं काममेव प्रत्यपद्यत प्रविष्टवान्। 'भूयः'-शब्देन प्रद्युम्नादेव पूर्वमप्युद्भुतोऽसाविति बोध्यते। यद्वा, यस्तु कामः प्राग्रुद्रमन्युनाऽदग्धो न दग्धः, स भूयः प्रकटलीलायां देहोपपत्तये स्वमूर्त्तिप्रकाशनार्थं तं श्रीवासुदेवमेव प्रविष्टवान्। अदग्धत्वे हेतुः—वासुदेवांश इति॥

८८। पूर्वोक्तमेव व्यनक्ति (भा० १०।५५।२)—

(८८) "स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्य्यसमुद्भवः।
प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः॥"१७५॥

यः कृष्णवीर्य्यसमुद्भवो यश्च प्रद्युम्न इति विख्यातः, स एव प्रकटलीलावसरेऽपि वैदर्भ्यां जात आविर्भूतः, न त्वन्यः प्राकृतकाम एव। तत्र हेतुः—सर्वतो गुणरूपादिष्वशेषेष्वेव धर्मेषु पितुः श्रीकृष्णादनवमस्तुल्य एवेति। अन्यथा तादृशानवमत्वं न कल्पत इति भावः।

के द्वारा 'मुख्य ब्राह्मणत्व वेदज्ञ का ही है' बोध होता है, तद्रूप "कामस्तु वासुदेवांशः" स्थल में भी वासुदेवांश जो काम है, वह मुख्य काम है, इस प्रकार अर्थ बोध होता है।

अथवा 'तु' शब्द का अर्थ भिन्नोपक्रम है। अर्थात् 'तु' शब्द प्राकृत काम से वासुदेवांश काम रूप प्रद्युम्न को पृथक् करता है। उससे वासुदेवांश काम ही—इस प्रकार अन्वय करने से पूर्व के समान उनका मुख्य कामत्व प्रतीत होगा। सारार्थ यह है कि—पहले रुद्र कोप से दग्ध देवताविशेष जो काम, वह अनङ्ग हो गया था, निज शक्ति से पुनर्बार देह धारण की क्षमता उसकी नहीं रही। देवत्व प्राप्ति के निमित्त वासुदेवांश प्रद्युम्नाख्य मुख्य कामदेव में प्रविष्ट हुए थे। श्लोकोक्त 'भूयः' शब्द के द्वारा प्रतीत होता है कि—पूर्व में भी उस कामदेव की उत्पत्ति श्रीप्रद्युम्न से ही हुई थी। अथवा, जो वासुदेवांश काम, रुद्र कोपानल से दग्ध नहीं हुआ, वह पुनर्बार प्रकटलीला में निज मूर्त्ति प्रकटन के निमित्त उन श्रीवासुदेव में प्रविष्ट हुआ था।

अदग्ध होने का कारण, वह श्रीवासुदेव का अंश है। अर्थात् ईश्वर तत्त्व को रुद्र कोपानल दग्ध करने में अक्षम है, प्राकृत काम को ही दग्ध किया था॥८७॥

अनन्तर पूर्वोक्त वासुदेवांश काम का विशेष वर्णन करते हैं। भा० १०।५५।२ में वर्णित है—"जो श्रीकृष्ण वीर्य्य से समुद्भूत होते हैं, जो प्रद्युम्न नाम से अभिहित हैं, आप ही विदर्भराजकन्या रुक्मिणी के गर्भ से समुत्पन्न हुए हैं। आप सर्वतोभावेन पिता श्रीकृष्ण के अनुरूप ही हैं।"

"यः कृष्णवीर्य्यसमुद्भवो यश्च प्रद्युम्न इति विख्यातः"—

जो कृष्णवीर्य्य समुद्भव—कृष्णांश में आविर्भूत, जो प्रद्युम्न नाम से विख्यात हैं। वह प्रकटलीला के समय भी वैदर्भी से 'जातः' आविर्भूत हुये हैं। वह प्राकृत काम नहीं है। उसके प्रति कारण—'सर्वतः' गुण-रूपादि अशेष धर्म से ही पिता श्रीकृष्ण के 'अनवम' अनुरूप ही हैं। अन्यथा प्राकृत काम—

तस्माद्यथा महाभारते सर्वत्र श्रीमदर्जुनस्य नरत्वप्रसिद्धावपि पञ्चेन्द्रोपाख्याने इन्द्रत्व-प्रसिद्धिरिन्द्रस्यापि तत्र प्रवेशविवक्षया घटते, तद्वदत्रापि। अतः श्रीनारदेन रत्यै तथोपदेशस्तया तत्प्राप्तिश्च न दोषाय। पूर्वपद्यस्योत्तरस्मिन्नर्थेऽपि श्रीनारदोपदेशबलेनैव दग्धकामस्य प्रवेशस्तत्र गम्यः। ततः साक्षात् प्रद्युम्नसङ्गमयोग्यता चास्याः स्पर्शमणिवत्तत्-सामीप्यगुणादेव मन्तव्या। श्रीप्रद्युम्नस्य निजशक्तिस्तु श्रीमदनिरुद्धमातैवेति ज्ञेयम्। अतस्तापनीश्रुतिलब्धोऽर्थः समञ्जसः॥ श्रीशुकः॥

८९। एवमनिरुद्धस्यापि साक्षाच्चतुर्व्यूहत्वे लिङ्गमाह (भा० ३।१।३४)—

जीवतत्त्व देवताविशेष हैं, उनका श्रीभगवान् के सहित सर्वथा साम्य होना सर्वथा असम्भव है। श्रीकृष्ण का व्यूह विशेष ही श्रीकृष्ण के समान हो सकता है। श्लोक का यह ही भावार्थ है।

"प्रद्युम्न इति विख्यातः" इससे प्रद्युम्नरूप की नित्यता ध्वनित हुई। जीव का जन्मग्रहण के पश्चात् नामकरण होता है। किन्तु प्रद्युम्न—श्रीरुक्मिणीनन्दन रूप में जन्मग्रहण के पूर्व में भी प्रद्युम्न नाम से विख्यात थे। उनका उक्त रूप अवश्य ही था, रूप को आश्रय कर ही नाम का प्रकाश होता है। सुतरां जन्म हेतु प्रद्युम्न के नाम-रूप प्रकटित नहीं हुये। अप्रकट प्रकाश में द्वारका में श्रीरुक्मिणी नन्दन रूप में नित्य स्थिति उनकी है। इसका विवरण तापन्यादि श्रुति में है।

श्रीप्रद्युम्न रूप में प्राकृत काम का जन्म होना असम्भव है। अतः "कामस्तु वासुदेवांशः" इत्यादि श्लोक सङ्गति के निमित्त निम्नोक्त रीति से सिद्धान्त करना समीचीन होगा।

नररूप में सर्वत्र सुप्रसिद्ध श्रीअर्जुन का निर्देश—महाभारतीय पञ्चेन्द्रोपाख्यान में इन्द्र रूप में हुआ है। यहाँ अर्जुन में इन्द्र का प्रवेश कथनाभिप्राय से ही हुआ है, उस प्रकार रीति का अनुसरण प्रद्युम्न प्रसङ्ग में भी करना होगा। अर्थात् प्रद्युम्न में रुद्र कोपानल दग्ध काम का प्रवेश हेतु तदीय जन्मलीला का वर्णन श्रीमद्भागवत में उक्त रूप से हुआ है। अतएव श्रीनारद के द्वारा प्रद्युम्न को वरण करने के निमित्त 'रति' उपदिष्टा हुई थी। प्रद्युम्न में रतिपति का प्रवेश हेतु, रति प्रद्युम्न को वरण कर दोषभाक नहीं हुई। उससे रति ने निज पति काम को प्राप्त किया।

पूर्व पद्यस्थ 'कामस्तु वासुदेवांशः' का सार अर्थ—"जो पहले रुद्र कोपानल से दग्ध नहीं हुआ, वह देह प्राकट्य के निमित्त वासुदेव में प्रविष्ट हुआ"-स्वीकार करने पर भी रुद्र कोपानल दग्ध काम की प्रद्युम्न में प्रवेशवार्त्ता रति के प्रति श्रीनारदोपदेश से अनुमित होती है। सर्वज्ञ नारद- दग्ध काम का प्रद्युम्न में प्रवेश हुआ था, इसको जानते थे। तज्जन्य ही आपने पति रूप में वरण करने का उपदेश दिया था। अन्यथा परमभागवत देवर्षि नारद, पति वियोगिनी रतिदेवी को अपर पुरुष संसर्ग के निमित्त क्यों प्रवर्त्तित करते।

प्रश्न हो सकता है कि—प्राकृत नायिका रति किस प्रकार से ईश्वरतत्त्व श्रीप्रद्युम्न की अनुरूपा होगी? उत्तर में कहते हैं—स्पर्शमणि का स्पर्श से लौह जिस प्रकार स्वर्णत्व प्राप्त करता है, उस प्रकार प्रद्युम्न के सामीप्य प्रभाव से रति तदीय अनुरूपा हुई थी, इस प्रकार मानना होगा। श्रीप्रद्युम्न की निज शक्ति, रति नहीं है। किन्तु श्रीअनिरुद्ध की माता ही उनकी निज शक्ति है। अतएव गोपालतापनी श्रुत्युक्त 'रामानिरुद्ध प्रद्युम्न एवं रुक्मिणी के सहित श्रीकृष्ण नित्य विराजित हैं', इस वाक्य के सहित श्रीमद्भागवतीय वाक्य का सामञ्जस्य हुआ। प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥८८॥

इस प्रकार ही श्रीअनिरुद्ध भी साक्षात् चतुर्व्यूहान्तर्गत हैं। सङ्कर्षण—प्रद्युम्न के समान अनिरुद्ध

(८६) "अपिस्विदास्ते भगवान् सुखं वो, यः सात्वतां कामदुघोऽनिरुद्धः।
यन्नामनन्ति स्म हि शब्दयोनिं, मनोमयं सत्त्वतुरीयतत्त्वम् ।।" १७६।।

शब्दयोनिं निश्वासव्यञ्जितवेदवृन्दम् (वृ २।४।१०) "एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत् यदृग्वेदः" इत्यादि श्रुतेः। मनोमयं चित्ते वासुदेववत् मनस्युपास्यम्; सत्त्वं शुद्धसत्त्वात्मकः श्रीवासुदेवादिरूपो भगवान् यत्र तुरीयं रूपम्। अतो वाणयुद्धादौ बन्धनानुकरणादिकमात्मेच्छामयी लीलैव, श्रीरामचन्द्रादिवत्। अस्य पाद्मवृहत्सहस्रनाम्नि नामानि चैतानि—

"अनिरुद्धो वृहद्ब्रह्म प्राद्युम्निर्विश्वमोहनः। चतुरात्मा चतुर्वर्णश्चतुर्युगविधायकः।।१७७।।
चतुर्भेदैकविश्वात्मा सर्वोत्कृष्टांशकोटिसूः। आश्रयात्मा" इति।

अतः श्रीकृष्णव्यूहत्वेन महानिरुद्धत्वादस्यैवाविर्भावविशेषः प्रलयार्णवादिधामा पुरुष इति ज्ञेयम्। अतएवाभेदेन (भा १।३।१) "जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्" इत्याद्युक्तम्।

का भी साक्षात् चतुर्व्यूहत्व का विषय भा० ३।१।३४ में है—

श्रीविदुर श्रीउद्धव को पूछे थे—"भगवान् अनिरुद्ध कुशलपूर्वक हैं ? आप उपासकों की अभीष्टपूर्त्ति करते हैं। वेदसमूह उनको शब्दयोनि, मनोमय, सत्त्व एवं तुरीय तत्त्व कहते हैं।" अनिरुद्ध के निश्वास से ही वेदसमूह की अभिव्यक्ति होने से ही उनको शब्दयोनि कहते हैं। उसका प्रमाण वृहदा० २।४।१० श्रुति है। "अरे मैत्रेयि ! विभु पूर्वसिद्ध ईश्वर के निश्वास स्वरूप यजुर्वेद प्रभृति हैं।"

'मनोमयं' मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, अन्तःकरण के भेद चतुर्विध हैं। चित्त का वासुदेव, अहङ्कार का सङ्कर्षण, बुद्धि का प्रद्युम्न, एवं मन का अधिष्ठाता अनिरुद्ध हैं। अतएव चित्त में जिस प्रकार वासुदेव उपास्य हैं, उस प्रकार मन में अनिरुद्ध उपास्य हैं। 'सत्त्वं' शुद्ध सत्त्वस्वरूप, मायिक सत्त्व अविशुद्ध है। सन्धिनी शक्ति ही शुद्धसत्त्व का मूलाधार है। श्रीवासुदेवादिरूप चतुर्व्यूह विशिष्ट जो भगवान् हैं, उनमें अनिरुद्ध ही तुरीय—चतुर्थ है। प्रथम व्यूह—वासुदेव, द्वितीय व्यूह—सङ्कर्षण, तृतीय व्यूह—प्रद्युम्न, चतुर्थ व्यूह श्रीअनिरुद्ध हैं।

वाण युद्ध में श्रीअनिरुद्ध का बन्धन संवाद है। ईश्वरस्वरूप होने से बन्धन असम्भव है ? उत्तर, आपका बन्धन वास्तविक नहीं था। बन्धानुकरण लोलामात्र ही है, वह भी स्वेच्छाकृत है। श्रीरामचन्द्र भगवान् होकर भी महीरावण कर्त्तृक पाताल में नीत हुये थे, एवं बन्धन प्राप्त भी हुये थे। वह बन्धन जिस प्रकार वास्तविक नहीं है, तद्रूप नरलीलानुरूप अनुकरणमात्र ही है।

पद्मपुराणस्थ वृहत् सहस्रनामस्तोत्र में श्रीअनिरुद्ध के महिमा प्रकाशक श्लोकसमूह हैं—"अनिरुद्ध, वृहद्ब्रह्म, प्राद्युम्नि, विश्वमोहन, चतुरात्मा, चतुर्वर्ण, चतुर्युग विधायक, शुक्ल, रक्त, शुकपक्ष, श्यामवर्ण युगावताररूप चतुरात्मा होकर सत्य-त्रेता-द्वापर-कलिरूप चतुर्युग का विधायक हैं। जरायुज, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज रूप में जीव चतुर्विध होने पर भी श्रीअनिरुद्ध—निखिल विश्व का एकमात्र आत्मा हैं। सर्वोत्कृष्टांश प्रसवकारी अर्थात् सृष्टिकारी आश्रयात्मा हैं।

अतएव नरलीलानुरत प्रद्युम्न कुमार अनिरुद्ध, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण व्यूह होने के कारण महा अनिरुद्ध हैं, प्रलयार्णव धामा वटपत्रशायी पुरुष महा अनिरुद्ध का ही अंशविशेष हैं। संशय यह है कि—नरलील श्रीकृष्ण चतुर्व्यूह का ही यदि सर्वश्रेष्ठत्व है, तब "जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः सम्भूतं षोड़शकलमादौ लोकसिसृक्षया" श्लोक के द्वारा जगदुन्मुख चतुर्व्यूह का वर्णन प्रधान रूप से करने का

मूलसङ्कर्षणाद्यंशैरेव हीतरसङ्कर्षणाद्यवस्थात्रयं पुरुषं प्रकाशयतीति। तथैवाभेदेन विष्णुधर्मोत्तरेऽपीदमुक्तम्। तत्र श्रीवज्रप्रश्नः—

"कस्त्वसौ बालरूपेण कल्पान्तेषु पुनः पुनः। दृष्टो यो न त्वया ज्ञातस्तत्र कौतूहलं मम।।"१७८।।

श्रीमार्कण्डेयोत्तरञ्च—

"भूयोभूयस्त्वसौ दृष्टो मया देवो जगत्पतिः। कल्पक्षयेण विज्ञातः स मायामोहितेन वै।।१७९।।
कल्पक्षये व्यतीते तु तं देवं प्रपितामहात्। अनिरुद्धं विजानामि पितरन्ते जगत्पतिम्।।"१८०।। इति।

भीष्मपर्वणि दुर्य्योधनं प्रति भीष्मशिक्षायां श्रीकृष्णस्यावत्तारारम्भे गन्धमादनमागतस्य ब्रह्मणस्तदाविर्भावं मनसि पश्यतस्तु बालस्य तदिदं वचनम्—

"सृष्ट्वा सङ्कर्षणं देवं स्वयमात्मनमात्मना।।१८१।।
कृष्णत्वमात्मनास्राक्षीः प्रद्युम्नं ह्यात्मसम्भवम्। प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धन्तु यं विदुर्विष्णुमव्ययम्।।१८२।।
अनिरुद्धोऽसृजन्मां वै ब्राह्मणं लोकधारिणम्।
वासुदेवमयः सोऽहं त्वयैवास्मिन् विनिर्मितः।।"१८३।। इति।

कारण क्या है? समाधान हेतु कहते हैं—श्रीकृष्ण चतुर्व्यूह का ही सर्वश्रेष्ठत्व निर्विवादसिद्ध है। किन्तु नरलीला एवं जगदुन्मुख लीलाद्वयस्थ चतुर्व्यूह को अभेद मानकर ही 'जगृहे पौरुषं रूपं' श्लोक का वर्णन हुआ है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण, मूल सङ्कर्षणादि नरलील बलदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध रूप अंशसमूह के द्वारा अपर वैकुण्ठस्थ के सङ्कर्षण, प्रद्युम्न अनिरुद्ध, एवं जगदुन्मुख के कारणार्णवशायी, गर्भोदकशायी एवं क्षीरोदशायी रूप सङ्कर्षणादि अवस्था त्रयात्मक पुरुषों का प्रकाश करते हैं।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण का वर्णन भी उक्तानुरूप है। अर्थात् "जगृहे पौरुषं रूपं" श्लोक में मूल सङ्कर्षण के सहित कारणार्णवशायी का अभेद वर्णन के समान, मूल अनिरुद्ध के सहित क्षीरोदकशायी का अभेद वर्णन विष्णुधर्मोत्तर में सुस्पष्ट है। व्रजनाभ ने पूछा,—कल्पक्षय होने से बालक रूप धारण कर कौन आपके दृष्टिगोचर होते हैं, जिनको आप नहीं जान सकते हैं? उस विषय में मेरा कौतूहल है। श्रीमार्कण्डेय ने कहा,—जगत्पति, बारम्बार मेरे द्वारा दृष्ट हुए थे। मायामोहित मैं कल्पक्षय में उनको जानगया। कल्प अतीत होने से वह देव कौन हैं, उनका परिचय तुम्हारे प्रपितामह श्रीकृष्ण के निकट से प्राप्त हुआ। वह पुरुष तुम्हारे पिता अनिरुद्ध हैं। आप जगत्स्वामी हैं। श्रीकृष्ण, सर्वांशी होने के कारण, मूल वासुदेव हैं। एतज्जन्य ही "जगृहे पौरुषं रूपं" श्लोक व्याख्या के समय श्रीकृष्ण को अनिरुद्ध का अवतार नहीं कहा गया है।

श्रीकृष्णपौत्र अनिरुद्ध का प्रकाशविशेष क्षीरोदकशायी से समस्त युगावतारगण आविर्भूत होते हैं। द्वापर का युगावतार शुकपक्ष वर्ण है। "सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्" तापनी के वचनानुसार तमालश्यामलद्युति श्रीकृष्ण प्रति कल्प में स्वयं अवतीर्ण होते हैं। जिस द्वापर युग में श्रीकृष्ण अवतीर्ण होते हैं, उस समय शुकपक्षाभ द्वापरयुगावतार श्रीकृष्ण में प्रविष्ट होते हैं।

महाभारतीय भीष्मपर्व में दुर्य्योधन के प्रति भीष्म शिक्षात्मक जो प्रकरण है, उसमें श्रीकृष्णावतार के प्रारम्भ में गन्धमादन पर्वत में समागत ब्रह्मा के मन में आविर्भूत रूप के विषय में बालक का कथन इस प्रकार है—

"स्वयं के द्वारा सङ्कर्षणदेव को सृजन करके स्वयं ही निजानुरूप प्रद्युम्न को आपने प्रकट किया। प्रद्युम्न से अनिरुद्ध आविर्भूत हुये, जिनको मुनिगण विष्णु अव्यय रूप में जानते हैं। लोकसृजनकारी मुझ ब्रह्मा को श्रीअनिरुद्ध ने सृजन किया। आप वासुदेवमय हैं, उनसे ही मैं सृष्ट हुआ।

अतएव च पूर्वमपि (भा० १।३।१) 'जगृहे' इत्यत्र श्रीकृष्णानिरुद्धावतारान्तःपातित्वं न व्याख्यातम् ।। विदुरः श्रीमदुद्धवम् ।।

९०। तदेतत्तस्य चतुर्व्यूहात्मकस्यैव पूर्णत्वं व्याख्यातम् । श्रीगोपालोत्तरतापन्यामपि तथैवायं प्रणवार्थत्वेन दर्शितः (उ० ५५-५६)—

"रोहिणीतनयो रामोऽकाराक्षरसम्भवः ।
तैजसात्मकः प्रद्युम्न उकाराक्षरसम्भवः ।।१८४।।
प्रज्ञात्मकोऽनिरुद्धो वै मकाराक्षरसम्भवः ।
अर्द्धमात्रात्मकः कृष्णो यस्मिन् विश्वं प्रतिष्ठितम् ।।"१८५।। इति ।

अथ श्रीकृष्णेऽवतरति तत्तदंशावताराणामपि प्रवेश इति यदुद्दिष्टं तद्यथा तत्र (भा० १।३।२८)

एतज्जन्य ही भा० १।३।१ "जगृहे" श्लोक की व्याख्या सन्तर्पण से हुई है, एवं श्रीकृष्ण को अनिरुद्ध में सन्निवेश नहीं किया गया है। श्रीविदुर श्रीमदुद्धव को कहे थे ।।८९।।

"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" श्रीमद्भागवतीय प्रतिज्ञा के अनुसार श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता अर्थात् निरपेक्ष सत्ता एवं परिपूर्णता प्रदर्शन के निमित्त जो विचार उत्थित हुआ था, उसका सुष्ठु समाधान हुआ। तथा श्रीकृष्ण के चतुर्व्यूहात्मक स्वरूप की ही पूर्णता है, इसका स्थापन भी हुआ। अर्थात् जिस प्रकार श्रीकृष्ण ही मूल वासुदेव हैं, उस प्रकार तदीय परिकर मूल सङ्कर्षण, मूल प्रद्युम्न एवं मूल अनिरुद्ध हैं। अतएव चतुर्व्यूहात्मक श्रीकृष्ण का ही पूर्णत्व प्रदर्शित हुआ। श्रीगोपालतापनीश्रुति में उक्त विषय का प्रतिपादन प्रणवार्थ प्रदर्शन के समय हुआ है। (गो० उ० ५५-५६)

"रोहिणीतनय—राम, प्रणवस्थ अ-काराक्षर सम्भव हैं। तैजसात्मक प्रद्युम्न, उ-काराक्षर सम्भव है। प्रज्ञात्मक अनिरुद्ध, म-काराक्षर सम्भव हैं। और जिनमें समस्त विश्व अधिष्ठित हैं, वह ही श्रीकृष्ण अर्द्धमात्रात्मक हैं।"

एक अद्वय ज्ञानतत्त्व ही उपासकों के प्रति अनुकम्पा प्रदर्शनार्थ वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध रूप चतुर्धा आविर्भूत होते हैं। उक्त विभाग चतुष्टय, उन परब्रह्म का वाचक शब्द ॐ कार में सन्निविष्ट है। ॐ का विश्लेषित रूप अ+उ+म् है। प्रणवस्थित 'अ' रूप आद्यक्षर से रोहिणीनन्दन श्रीबलराम का बोध होता है। इससे अन्यत्र प्रसिद्ध चतुर्व्यूह की व्यावृत्ति हुई है, एवं नरलीलोचित चतुर्व्यूह गृहीत हुआ है। उनके साहचर्य्य से वर्णित होने से प्रद्युम्न-अनिरुद्ध का भी ग्रहण नरलीलात्मक चतुर्व्यूह से ही होता है। उक्त रीति से 'उ'-कार के द्वारा प्रद्युम्न, एवं 'म'-कार के द्वारा अनिरुद्ध का बोध होता है।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त्यात्मक अवस्था भेद से जीव की विश्व तैजस-प्राज्ञ संज्ञा होती है। उससे निजैश्वर्य्यानुभूति की उत्तरोत्तर न्यूनता होती है, तज्जन्य ही प्रद्युम्न को तैजस, एवं अनिरुद्ध को प्राज्ञ कहा गया है। श्रीबलराम विश्वात्मक हैं। उत्तरोत्तर ऐश्वर्य्य की न्यूनता दर्शाने के निमित्त तैजस प्राज्ञ का उल्लेख हुआ है। शाङ्करीय मत के विश्व, तैजस, प्राज्ञ का ग्रहण यहाँ नहीं है। कारण उक्त मत में मायाशबलित ईश्वर की उक्त तीन अवस्था हैं।

व्यञ्जनवर्ण अर्द्धमात्रा है। अर्थात् 'नाद' अर्द्धमात्रात्मक है। केवल नाद का उच्चारण सम्भव न होने से ही अर्द्धमात्रा शब्द से पूर्ण प्रणव को ही जानना होगा। पूर्ण प्रणव का वाच्य श्रीकृष्ण होने के कारण उनकी पूर्णता निर्विवाद सिद्ध है।

"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्यादिकं सिद्धमेव, तथा तस्य तद्रूपेणैव श्रीवृन्दावनादौ सर्वदावस्थायित्वं प्रतिपादयिष्यामः। अथच श्रीहरिवंशमते उपेन्द्र एवावततारेति। जय-विजयशापप्रस्तावे च (भा० ११।६।३१) "यास्यामि भवनं ब्रह्मन् एतदन्ते तवानघ" इत्यत्र च (भा० ११।६।२७)"पाहि वैकुण्ठकिङ्करान्"इत्यत्र च स्वामि-व्याख्यानुसारेण विकुण्ठासुत एवेति, क्वचित् क्षीरोदशाय्येवेति, क्वचित् पुरुष एवेति, क्वचिन्नारायणर्षिरेवेति, वृहत्सहस्रनाम्नि लक्ष्मणस्यैव बलरामत्वकथनेन श्रीराघव एवेति, क्वचिन्नारायणकेश एवेत्यादिकं नानाविधत्वं श्रूयते। एवञ्चैकं सन्धित्सतोऽन्यत् प्रच्यवते, अत्र सत्यञ्च सर्ववाक्यम्। यथा स्वमत्यनुभवानुरूपात्

श्रीकृष्ण अवतीर्ण होने से उनके समस्त अंशावतारगणों का प्रवेश उनमें होता है। इसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन, भा० १।३।२८ "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" परिभाषा वाक्य व्याख्या में हुआ है। उक्त वाक्य के द्वारा जिस प्रकार श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता स्थापित हुई है। उस रीति से ही श्रीवृन्दावन प्रभृति में श्रीकृष्ण रूप में ही नित्य स्थिति है, उसका प्रतिपादन करेंगे। अप्रकट लीला में ही उक्त नित्य स्थिति को जानना होगा। लोकनयनगोचरीभूता लीला ही प्रकटलीला, एवं केवल परिकर दर्शन योग्या लीला ही अप्रकट लीला है। मर्त्यधाम में लीला प्राकट्य के समय अंशावतारसमूह श्रीकृष्ण में प्रविष्ट होते हैं। अप्रकट प्रकाश के समय श्रीकृष्ण उन सबको निज निज धाम में प्रेरण कर निज परिकरों के सहित विराजित होते हैं। उस समय ही श्रीकृष्ण केवल श्रीकृष्ण रूप में ही अवस्थित हैं। अनन्तर उस विषय का प्रतिपादन करेंगे।

श्रीहरिवंश पुराण के वर्णनानुसार उपेन्द्र ही श्रीकृष्ण रूप में धराधाम में अवतीर्ण हुए हैं। जय-विजय शाप प्रस्ताव में भा० ११।६।३१—"इदानीं नाश आरब्धः कुलस्य द्विजशापजः।
यास्यामि भवनं ब्रह्मन् एतदन्ते तवानघ।।" उक्त है—
श्रीकृष्ण ब्रह्मा को कहे थे—"हे अनघ! हे ब्रह्मन्! सम्प्रति विप्रशाप के द्वारा यदुकुल ध्वंसोन्मुख हुआ है। इसके पश्चात् मैं तुम्हारे भवन में होता हुआ वैकुण्ठ को जाऊँगा।" स्वामिपाद ने लिखा है—"वैकुण्ठं यास्यन् तव भवनं यास्यामि" 'वैकुण्ठ गमन के समय तुम्हारे भवन को जाऊँगा" इसके अनुसार एवं भा० ११।६।२७—"तत स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे।
स लोकान् लोकपालान्नः पाहिवैकुण्ठकिङ्करान्।।"
ब्रह्मा श्रीकृष्ण को कहे थे—"यदि आपकी इच्छा हो, तो आप अब निज परमधाम वैकुण्ठ को चले जाँय, एवं लोकों के सहित हम सब लोकपाल तथा, वैकुण्ठकिङ्करगण का प्रतिपालन करें।" इसके अनुसार प्रतीत होता है कि—विकुण्ठसुत श्रीकृष्णरूप में अवतीर्ण हुए हैं।

किसीके मत में क्षीरोदकशायी अनिरुद्ध ही श्रीकृष्ण है। अपर मत में पुरुष अर्थात् महाविष्णु ही श्रीकृष्ण हैं। किसीके मत में श्रीनारायण ऋषि ही श्रीकृष्ण हैं। वृहत्सहस्रनामस्तोत्रोक्त विवरण के अनुसार श्रीलक्ष्मण का ही बलरामत्व है। अतएव श्रीकृष्ण श्रीरामचन्द्र का ही अवतार है। कतिपय व्यक्ति के मत में तो श्रीकृष्ण नारायण के केश का अवतार हैं।

उक्त विरुद्ध वाक्यसमूह की पर्य्यालोचना करने से श्रीकृष्ण रूप में नित्य स्थिति की सम्भावना नहीं होती है। अर्थात् कृष्णस्वरूप नामक पृथक् कोई तत्त्व है ही नहीं, प्रकटलीला के अवसान में उपेन्द्रादि किसी रूप में श्रीकृष्ण की स्थिति की सम्भावना होती है। यह है पूर्वपक्ष। उसका निरसन हेतु कहते हैं—उक्त शास्त्रवाक्य के मध्य में एक वाक्य को प्रमाण रूप में मान लेने पर निश्चय ही अपर

नानावाक्यैकवाक्यता च। यथा क्रममुक्तिमार्गेऽर्च्चिरादिक्रम एवाङ्गी, नाड़ीरश्म्यादिमार्गास्तु तदङ्गत्वेनैव (ब्र० सू० ४।३।१) "अर्च्चिरादिना तत्प्रथितेः" इति सूत्रे स्वीक्रियन्ते, तद्वत्। यतः स्वयं भगवत्यवतरति सर्वेऽपि ते प्रविष्टा इति यदा यत्किञ्चिद्येनानुभूतम्, तदा तेन तदेव निर्द्दिष्टमिति। तस्माद्विद्वद्भिरेवं विचार्य्यताम्—स्वयं भगवति तस्मिन् प्रवेशं विना कथं

वाक्यसमूह स्खलित होंगे। जिस प्रकार श्रीहरिवंशपुराण को प्रमाण मानकर निर्णय करने पर श्रीकृष्ण, उपेन्द्र का अवतार हैं, मानना होगा। इससे अन्य वाक्यसमूह व्यर्थ होगा। ऐसा होना सम्भव नहीं है, कारण—श्रीकृष्णावतार सम्बन्धीय प्रागुक्त वाक्यसमूह यथार्थ ही है। निज निज अनुभूति के अनुसार ही उक्त विभिन्न प्रकार कथन है। तथापि बहुविध वाक्यों में एकवाक्यता सुस्पष्ट है। इस विषय में विद्वज्जनों की मीमांसा इस प्रकार है—स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की प्रकट लीला के समय उपेन्द्रादि श्रीकृष्ण में प्रविष्ट हुये थे। उसको कहने के निमित्त श्रीकृष्ण को उपेन्द्रादि के अवतार कहा गया है। किन्तु श्रीकृष्ण—उपेन्द्रादि का अवतार नहीं है। श्रीकृष्ण स्वयं सर्वावतारी एवं स्वयं भगवान् हैं। तज्जन्य श्रीकृष्ण में समस्त अवतारावतारी का प्रवेश सम्भव है। इस प्रकार सिद्धान्त व्यतीत अपर किसी भी प्रकार से उक्त वाक्यसमूह की अर्थ सङ्गति नहीं होगी। एक शास्त्र का प्रामाण्य अङ्गीकार करने पर अपर शास्त्र का अप्रामाण्य अवश्य ही होगा।

अतएव उपेन्द्रादि का प्राकट्य श्रीकृष्ण में प्रवेश के द्वारा ही सिद्ध होता है। दृष्टान्त प्रदर्शन पूर्वक बोध कराने के लिए वेदान्तदर्शन के चतुर्थ अध्याय के तृतीय पाद के क्रममुक्ति प्रसङ्ग को उठाते हैं। मुक्त होने की रीति का वर्णन छान्दोग्य में है। हृदय में एकशत एक नाड़ी संयुक्त हैं, तन्मध्य में एक नाड़ी मस्तक से अभिनिःसृता है, उसे सुषुम्णा कहते हैं। इस नाड़ी के द्वारा उत्क्रमण करने से मोक्ष होता है, अन्यान्य नाड़ीयों के द्वारा उत्क्रान्ति से संसार होता है। ब्रह्मवित् जन, नाड़ी के द्वारा उत्क्रान्त होकर रविरश्मि के अवलम्बन से ऊर्द्ध्व लोक गमन करते हैं। उक्त उपनिषद् में वर्णित है—ब्रह्मोपासकगण की मृत्यु होने से, पुत्र शिष्यादि शव संस्कार न करने पर भी ब्रह्मोपासक अर्चिरादि पथ से हरिलोक प्राप्त करते हैं। कौषीतकी ब्राह्मण में लिखित है,—मृत व्यक्ति प्रथम देवयान पथ से अग्निलोक गमन करता है। वायुलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक के पश्चात् वह ब्रह्मलोक गमन करता है। बृहदारण्यक में उक्त है—हरि ध्यायी व्यक्ति का प्रस्थान जब इस लोक से होता है, तब प्रथम—वायुलोक, की प्राप्ति होती है, अनन्तर रथचक्र के छिद्र के समान अवकाश मार्ग से वह ऊर्द्ध्वलोक गमन करता है। स्थलविशेष में सूर्य्य द्वार से विरजा धाम प्राप्ति की वार्त्ता भी है। इस प्रकार सुषुम्ना, देवयान, वायु, सुर्य्यरश्मि प्रभृति पथ की कर्त्ता भी प्रसिद्ध है। यहाँ संशय यह है कि—उक्त पथ समूह विभिन्न हैं अथवा एक है। उत्तर में कहते हैं—"अर्चिरादिना तत्प्रथितेः।" (वे० सू० ४।३।१) समस्त विद्वान् व्यक्ति ही अर्चिरादि मार्ग के द्वारा ब्रह्मलोक गमन करते हैं, उसका प्रमाण क्या है? उत्तर—"तद् य इत्थं विदुर्य्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते ते अर्चिषमिति" जो सब गृहस्थ, पञ्चाग्नि स्वरूप को जानते हैं, वे सब श्रद्धा के सहित तप का अनुष्ठान करते हैं। एवं मृत्यु के पश्चात् अर्चिरादि अभिमानी देवता को प्राप्त करते हैं। छान्दोग्य के ५।१०।१ वाक्य में अर्चिरादि मार्ग का वर्णन है। यहाँ जिस प्रकार क्रममुक्ति पक्ष में अर्चिरादि मार्ग अङ्गी है, ब्रह्मलोक गमन का मुख्य पथ, नाड़ी रश्मि प्रभृति अङ्ग हैं, अर्थात् इसकी सहायता से ही अर्चिरादि मार्ग में प्रवेश होता है। उस प्रकार श्रीकृष्णावतार प्रसङ्ग में श्रीकृष्णावतरण मुख्य हैं, और उनमें प्रविष्ट होकर उपेन्द्रादि का अवतरण गौण है। श्रीकृष्ण—प्रकटलीला आविष्कार के समय उन सब अवतारों को निज निज धाम में प्रेरण करते हैं, एवं स्वयं वृन्दावन, मथुरा, द्वारका में

तन् सम्भवेदिति। दृश्यते च तस्मात् केषाञ्चिदंशानां पुनराविर्भावः, यथा प्रद्युम्नादीनाम्। अतएव विकुण्ठासुतस्य प्रवेशाभिप्रायेणैव शिशुपाल-दन्तवक्त्रयोः श्रीकृष्ण-सायुज्यमेव तदानीं जातम्। पुनरवतारलीलासमाप्तौ श्रीविकुण्ठासुते स्वधामगते पार्षदत्वप्राप्तिः; यथोक्तं श्रीनारदेन (भा० ७।१।४६)—

"वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम्।
नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ॥"१८६॥ इति।

तथा हरिवंशे च 'क्षीरोदशायिनो मुकुटे दैत्यापहृते दैत्यमारणाय गरुड़ो यावत् कृतविलम्बस्तावत् श्रीकृष्णोऽवततार। ततश्चासौ मुकुटमाहृत्य तत्र चोर्द्ध्वलोके च कुत्रापि भगवन्तमदृष्ट्वा गोमन्थशिरसि श्रीकृष्णायैव समर्पितवान्' इति प्रसिद्धिः। एवमेव बलिसद्मगतयोः

अप्रकट भाव में नित्य अवस्थान करते हैं।

अतएव विद्वान्गण स्वयं विचार करें कि—उक्त प्रकार प्रवेश के विना उक्त वाक्यसमूहों का प्रामाण्य होगा? श्रीकृष्ण में जो अंशावतारों का प्रवेश हुआ था, उसका बोध प्रकट लीला की रीति से भी होता है। उनमें प्रविष्ट कोई कोई अंशावतार प्रकट लीला के समय ही उनसे आविर्भूत हुआ था। जैसे श्री प्रद्युम्न प्रभृति हैं।

श्रीकृष्ण में विकुण्ठा सुत प्रविष्ट हुये थे, उसको दर्शाने के निमित्त शिशुपाल दन्तवक्र की सायुज्य प्राप्ति श्रीकृष्ण में हुई। अवतार लीला समापनानन्तर श्रीविकुण्ठासुत का स्वधाम गमन होने पर जय-विजय का पुनर्बार पार्षदत्व लाभ हुआ। भा० ७।१।४६ में श्रीनारद ने कहा है—

"वैरानुबन्धतीव्रेण ध्यानेनाच्युतसात्मताम्। नीतौ पुनर्हरेः पार्श्वं जग्मतुर्विष्णुपार्षदौ॥"

"जय-विजय तीव्र वैरानुबन्ध के द्वारा तादात्म्य होकर अच्युत श्रीकृष्ण सायुज्य प्राप्त हुए थे। पुनर्बार सान्निध्य प्राप्त कर श्रीविष्णु पार्श्वदत्व प्राप्त किये थे।"

जय-विजय विकुण्ठासुत के पार्षद—द्वारपाल थे। वैकुण्ठ के अधिवासी थे। जय-विजय के द्वारा बाधाप्राप्त होकर सनकादि मुनि ने उन दोनों को शाप प्रदान किया था। उससे प्रथम आसुरिक जन्म—हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु, द्वितीय जन्म—रावण-कुम्भकर्ण, तृतीय जन्म में ही श्रीकृष्ण द्वारा शापमुक्त हुए थे। वे विकुण्ठासुत के पार्षद होने से विकुण्ठासुत ही उन दोनों के प्राप्य हैं। एक स्वरूप में वैकुण्ठ में अवस्थित होकर भी अपर स्वरूप में विकुण्ठासुत श्रीकृष्ण में प्रविष्ट हुए थे। सुतरां श्रीकृष्ण में प्रविष्ट विकुण्ठासुत के सहित ही उन दोनों का सायुज्य हुआ था। कार्य्य के द्वारा ही कारण का अनुमान होता है।

श्रीकृष्ण में क्षीरोदशायी का प्रवेश वर्णन—हरिवंश में ही है। "क्षीरोदकशायी का मुकुट दैत्य के द्वारा अपहृत होने से दैत्य संहारपूर्वक मुकुट आहरण के निमित्त गरुड़ प्रस्थान किये थे। कार्य्य सम्पादन में विलम्ब हुआ था। इत्यवसर में श्रीकृष्ण मर्त्यलोक में अवतीर्ण हुये थे। मुकुट आहरणपूर्वक प्रत्यागमन करके गरुड़ उर्द्ध्वलोक में कहीं पर क्षीरोदशायी को न देखकर गोमन्थ पर्वतस्थित श्रीकृष्ण को उक्त मुकुट प्रत्यर्पण किए थे। हरिवंशस्थ विष्णुपर्व ४१ अध्याय में इसका वर्णन है। जरासन्ध के भय से कृष्ण-बलराम परशुराम के परामर्शानुसार गोमन्थ पर्वत में आरोहण किये थे। यह पर्वत दक्षिणापथ के सह्याद्रि के निकट अवस्थित है। इस प्रसङ्ग से प्रमाणित हुआ कि—क्षीरोदकशायी श्रीकृष्ण में प्रविष्ट हुए थे। उस समय भी क्षीरोदकशायी प्रकाश भेद से निजधाम में अवस्थित थे। निखिल भगवत् स्वरूप युगपत् बहुधा प्रकाशित हो सकते हैं। लीलाशक्ति क्षीरोदकशायी का प्रवेश श्रीकृष्ण में सूचित

श्रीकृष्णरामयोस्तद्द्वारस्थविष्णवदर्शनम्। किन्तु तत्तद्वाक्यपर्य्यालोचनया केषाञ्चिन्मूर्त्याकर्षणं हरिवंशगतगिरिगुहाशयनपर्य्यालोचनया तु तच्छक्त्याकर्षणमिति लभ्यते। तच्च तदानीमात्मनि सर्वेषामेव भक्तानामेकतानताकृतिलीलाकौतुकार्थमेवेति च गम्यते। तदेतदेवाह (भा० ११।११।२८)—

(९०) "त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः।
अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः॥"१८७॥

साक्षाद्भगवानेव त्वमवतीर्णोऽसि। भगवत एव वैभवमाह—ब्रह्म त्वं परमव्योमाख्यो वैकुण्ठस्त्वं प्रकृतेः परः पुरुषोऽपि त्वमिति। भगवानपि कथम्भूतः सन्नवतीर्णः? (भा० १०।१४।२) "स्वेच्छामयस्य" इत्यनुसारेण स्वेषां सर्वेषामेव भक्तानां या इच्छा तां पूरयितुमुपात्तानि ततस्ततः स्वत आकृष्टानि पृथग्वपूंषि निजतत्तदाविर्भावा येन तथाभूतः सन्निति। तं प्रति

करने के निमित्त गरुड़ के समीप में धामस्थ स्वरूप को आवृत किये थे। एवं श्रीकृष्ण में प्रविष्ट स्वरूप का प्रकाश किए थे। इस रीति से ही बलि के भवन में श्रीरामकृष्ण के द्वारा श्रीविष्णु अदृष्ट हुए थे। किन्तु उक्त प्रकरणस्थ वाक्य की पर्य्यालोचना से प्रतीत होता है कि—मूर्त्ति का आकर्षण अर्थात् शक्ति का आकर्षण ही होता है। हरिवंशपुराणगत गिरिगुहा शयन प्रकरण की पर्य्यालोचना से उस तत्त्व का स्पष्टीकरण होता है। उस प्रकार करने का उद्देश्य यह है कि—उससे समस्त भक्तों की एकतानता उनके प्रति होती है। इस प्रकार कौतुक निबन्धन ही अन्यान्य अवतारों का समाहरण करते हैं।

श्रीकृष्ण में अंशावतारों का प्रवेश विवरण श्रीमद्भागवत के ११।११।२८ में लिखित है। श्रीकृष्ण के प्रति श्रीउद्धव कहते हैं—"त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः।
अवतीर्णोऽसि भगवान् स्वेच्छोपात्त पृथग्वपुः॥"

'तुम ब्रह्म, परमव्योम, प्रकृत्यतीत भगवान् हो, निजेच्छा के अनुसार पृथक् पृथक् वपुसमूह को आत्मसात् कर अवतीर्ण हुये हो।"

साक्षात् भगवान् ही तुम हो, एवं उस रूप में ही अवतीर्ण हुये हो। उन भगवान् के वैभव को कहते हैं—तुम ब्रह्म हो, परव्योम नामक बैकुण्ठ भी तुम हो, प्रकृति के परपुरुष तुम ही हो। साक्षात् भगवान् होते हुये भी किस प्रकार अवतीर्ण हो? भा० १०।१४।२—

"अस्यापि देववपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य नतु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महित्ववसितुं मनसाऽन्तरेण साक्षात् तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥"

टीका—ननु नौमि इति प्रतिज्ञाय किं स्वरूपानुवादमात्रं क्रियते अत आह—अस्यापीति। भो देव! अस्यापि सुलभत्वेन प्रकाशितस्यापि तव वपुषोऽवतारस्य महि—महिमानम्, अवसितुं ज्ञातुं कोऽपि, को ब्रह्मा, अहमपि—नेशे, न शक्नोमि। यद्वा, नेशे, न समर्थ आसीत्, सुलभत्वाय विशेषणद्वयम्। मदनुग्रहस्य—मम अनुग्रहो यस्मात् तत् मदनुग्रहं, तस्य, किञ्च—स्वेच्छामयस्य स्वीयानां भक्तानां यथा इच्छा तथा तथा भवतः। तर्हि किमिति ज्ञातुं न शक्यते, अत आह—नतु भूतमयस्य—अचिन्त्यशुद्ध-सत्त्वात्मकस्य, यदा—अस्यैव, तदा कथं पुनः साक्षात्, तव केवलस्य आत्मसुखानुभूतेरेव-स्वसुखानुभूतेरेव, स्वसुखानुभवमात्रस्यावतारिणो गुणातीतस्य, महिमानं, आन्तरेण—निरुद्धेनापि मनसा को वा ज्ञातुं समर्थो भवेत्।

यथाह जाम्बवान् (भा० १०।५६।२८)—

"यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षैर्वर्त्मादिशत् क्षुभितनक्रतिमिङ्गिलोऽब्धिः।
सेतुः कृतः स्वयश उज्ज्वलिता च लङ्का रक्षःशिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि॥"१८८॥ इति;

यथा च देवाः (भा० ११।६।१३)—

"केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन् पादः पुनातु भगवन् भजतामघान्नः॥"१८९॥ इति;

अथवा, भूतमयस्य, अपितु विराड्‌रूपस्य तव, तन्नियम्यस्य वपुषो महिमानमेवावसितुं कोऽपि नेशे इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः॥ इसके अनुसार स्वेच्छाक्रम से निज निज धाम से पृथक् वपु अर्थात् निजाविर्भाव उपेन्द्र प्रभृति को आकर्षण करतः तुम अवतीर्ण हुये हो।

श्रीकृष्ण के प्रति भा० १०।५६।२८ में जाम्बवान् ने भी कहा—

"यस्यैषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षैर्वर्त्मादिशत्क्षुभितनक्रतिमिङ्गिलोऽब्धिः।
सेतुः कृतः स्वयश उज्ज्वलिता च लङ्का रक्षः शिरांसि भुवि पेतुरिषुक्षतानि॥"

टीका—यत एवंभूतः, अतो ममेष्टदैवतं रघुनाथ एव त्वमित्याह—यस्येति, ईषदुत्कलित—उद्दीपितो यो रोषस्तेन ये कटाक्षमोक्षास्तैः क्षुभिता नक्रा ग्राहास्तिमिङ्गिला महामत्स्याश्च यस्मिन् सोऽब्धिर्वर्त्ममार्गम् आदिशत्—दत्तवान्। तथापि तस्मिन् येन त्वया स्वयश एव सेतुः कृतः। उज्ज्वलिता दग्धा च लङ्का। यस्येषुभिः क्षतानि—छिन्नानि रक्षसो दशग्रीवस्य शिरांसि भुवि पेतुः, स एव त्वमिति जाने।

आपको मैं जान गया। आप मेरा इष्टदेव रघुनाथ हैं। जिनके ईषत् रोषपूर्ण दृष्टि से अभिभूत होकर नक्रमकर सम्पद् युक्त दुर्द्धर्ष समुद्र ने भी मार्ग प्रदान किया था। उसमें भी आपने सेतुबन्ध किया, वह ही आपका यश रूप सेतु है। लङ्का को दग्ध किया, दशग्रीव के शिरसमूह से भूतल को सुशोभित किया वह आप ही हैं, मैं जान गया।

भा० ११।६।१३ में देवगणों ने कहा—

"केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत् पताको यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन् पाद पुनातु भगवन् भजतामघान्नः॥"

टीका—त्वच्चरणस्य भक्तपक्षपातः प्रसिद्ध एवेति स्तुवन्तः प्रार्थयन्ते केतुरिति। बलिबन्धने त्रिभिः विक्रमैर्युतः, तत्र द्वितीयविक्रमे सत्यलोकं गतस्तव पादः केतुरत्युच्छ्रितो विजयध्वज इव। तत् सम्पादयन्ति। त्रिपतत् पताका यस्य। तथा असुरदेवचम्वो स्तत् सेनयोरुभयोर्भयाभयकरः। साधुषु सुरेषु स्वर्गाय, खलेषु असुरेषु इतराय इतरस्मै अधो गमनाय। य एवं केतुरूपस्ते पादः भजतां नोऽघं पुनातु शोधयतु। अघादिति पाठे भजतां नः, इति कर्मणि षष्ठ्यौ। अघाद्भजतोऽस्मान् पुनात्विति। तथा च श्रुतिः— चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि। तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता अतिपाप्मानमरातिं तरेम। लोकस्य द्वारमर्च्चिषत् पवित्रम्। ज्योतिष्मद्भ्राजमानं महस्वत्। अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानम्। चरणं नो लोके सुधितां दधात्विति।

आपके चरणयुगल सुप्रसिद्ध भक्त पक्षपाती हैं। अतः स्तवन कर प्रार्थना करते हैं। गर्वित बलि बन्धन के समय आप त्रिविक्रम हुये थे। उसमें जो द्वितीय विक्रम प्रकट हुआ— वह सत्यलोकगत उच्छ्रित चरण से ही हुआ, वह ही पताका है, विजयध्वज के समान रहा। उससे तीन धारा से गङ्गा निःसृता हुई। वह असुर एवं सुर सेनाओं के निमित्त भय एवं अभयप्रद है। साधु एवं देववर्ग के निमित्त

यथा च ब्रह्मा (भा० १०।१४।१४) नारायणस्त्वम्" इत्यादौ ; (भा० १०।१४।१४) "नारायणोऽङ्गं" नरभूजलायनात्" इति ; यथा च त एव देवाः (भा० ११।६।१०)—

"स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः, क्षेमाय नो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः ।
यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्भि,-र्व्यूहेऽर्च्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥"१९०॥इति;

स्वर्गद है, असुर के निमित्त वह ही अधोगतिद है। वह यजनरत हम सबको शोधन करें। अघात् पाठ से 'हमारे पापों को विनष्ट करें' अर्थ होता है। भजनकारियों की रक्षा पापों से करें, यह भावार्थ है। श्रुति कहती है—पवित्र श्रीभगवच्चरण अवलम्बन कर दुष्कृत से मुक्त होता है। उससे पवित्र होकर पापरूप अराति को पराजित करेंगी। परमधाम प्राप्ति का एकमात्र द्वार ही श्रीभगवत् चरण की सेवा है। जोतिष्मद् रूप में शोभित महद्धाम है। उससे अनेकविध अमृत धारा निःसृत होती रहती हैं। श्रीभगवच्चरण हम सबको उत्तमबुद्धि प्रदान करें।

ब्रह्मा ने भी कहा भा० १०।१४।१४ में—

"नारायणस्त्वं नहि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात् तच्चापि सत्यं न तवैव माया ॥"

बृहत्क्रमसन्दर्भः। ननु भो ब्रह्मन्! तथापि नारायणादेव जातोऽसि, कुतो मत्त इत्युच्यते? सत्यम्। त्वञ्च नारायणः, यस्मादहमभूवम्, स तवाद्यावतारश्च। नारायण इत्यभिन्नत्वात् तदुत्पन्न एवेति श्रीकृष्णस्यैव मूर्त्तिविशेषो नारायण एव, यतस्त्वं सर्वदेहिनामात्मासि, अखिललोकसाक्षी चासि।

ननु तर्हि यस्य नाभिनालात्त्वमुत्पन्नोऽसि, स तावत् क्वेत्याशङ्क्याह—नारायणोऽङ्गमित्यादि—स नारायणः खलु तवाङ्गं मूर्त्तिराद्यावतारत्वात्। ननूभयोरेव नारायणत्वे कथं तज्जनकस्य मदङ्गत्वमित्याह—नरभूजलायनात्। नारायणशब्दस्य व्युत्पत्ति द्वयम्—नर-भूर्नरोत्पत्तिः, जलञ्च, तदयनात्—तत्स्थानात्। एकस्त्वं नरोत्पत्त्ययनान्नारायणः, नरशब्दोऽत्र जीवपरः, अन्यस्तवाङ्गं जलायनात् 'आपो नारा इति प्राक्ताः' तेन सर्वे जीवा नारं तदयनात्त्वं नारायणः, जलशायित्वात् तवाङ्गं नारायण इत्येषविशेषः। ननु जलशायित्वं तस्य मायिकं नेत्याह—तच्चापि सत्यम्, तज्जलशायित्वं च सत्यम्। सत्यलीलत्वात्तवैव, न तव माययैव, अतः पूर्वोक्तं त्वदुद्भूवत्वं मम सिद्धमेव।

ब्रह्मन्! तुम तो नारायण से उत्पन्न हो, कैसे कहते हो, मैं आपसे उत्पन्न हूँ? सत्य है, आप ही नारायण हो, जिनसे मैं उत्पन्न हूँ। वह आपका आद्य अवतार हैं। अभिन्न होने पर आप से ही मैं उत्पन्न हूँ। श्रीकृष्ण का ही मूर्त्तिविशेष ही नारायण हैं। कारण—आप निखिल देहियों का आत्मा हो, अखिललोकों का साक्षी भी हो, ठीक है। किन्तु जिनके नाभिनाल से उत्पन्न हो, वह कौन हैं? कहते हैं, —'नारायणोऽङ्गम्' वह नारायण तो आपका अङ्ग हैं, प्रथम अवतार होने से आपकी मूर्त्ति हैं। उभय ही जब नारायण हैं, तब तुम्हारा जनक कैसे मेरा अङ्ग होगा? उत्तर, नर भू जलायनात्। नारायण शब्द की व्युत्पत्ति दो हैं, नर भू—नरोत्पत्ति, एवं जल, उसका अयन—स्थान होने से आप ही नारायण हैं। एक तो आप नरोत्पत्ति का अयन होने से नारायण हैं। यहाँ नर शब्द जीववाची है। अन्य—आपका अङ्ग है, जलायन होने के कारण। 'आपो नारा इति प्रोक्ताः' समस्त जीव का आश्रय होने से आप नारायण हैं। जलशायी होने से आपका अङ्ग नारायण हैं, यह ही विशेष है। जलशायित्व तो मायिक है? नहीं, वह भी सत्य ही है। आप सत्य लीलाशील हैं, वह आपकी माया नहीं है, अतएव मैंने जो पहले कहा है, मैं आप से उत्पन्न हूँ, आप ही मेरा जनक हैं, यह स्थिर हुआ है।

भा० ११।६।१० में देवगणों ने भी कहा है—

अतएवाक्रूरः (भा० १०।४१।४)—

"अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले ।
त्वयि विश्वात्मके तानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः ॥"१८१॥ इत्यादि ;

अतएव (भा० ११।२।१)—

"गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारकायां कुरूद्वह ।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥"१८२॥ इति ।

उद्धवः श्रीभगवन्तम् ॥

९१ । तदेवं प्रमाणवत्त्वे प्रयोजनवत्त्वे स्थिते तमेव प्रवेशमाह, (भा० ३।२।१५)—

"स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः क्षेमाय नो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः ।
यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्भिर्व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥"

टीका—तदेवं तद्यशः श्रद्धैव शुद्धिहेतुः, अस्माभिस्तु तवाङ्घ्रिर्दृष्टः, अतस्तवाङ्घ्रिर्नोऽस्माकम्, अशुभाशयानां विषयवासनानां धूमकेतुदाहकः स्यात् । कथम्भूतः ? यः क्षेमाय मोक्षाय मुनिभिर्मुमुक्षुभिः प्रेमार्द्रहृदा उह्यमानश्चिन्त्यमानः । यश्च सात्वतैर्भक्तैः समविभूतये समानैश्वर्य्याय वासुदेवादिव्यूहे अर्चितः । तेषु च कैश्चिदात्मवद्भिर्धीरैः स्वरतिक्रमाय स्वर्गमतिक्रम्य वैकुण्ठप्राप्तये सवनश स्त्रिकालं अर्च्चितः ।

परम पावन यश को विस्तृत करने के निमित्त आपका कर्माचरण है । आपके यश के प्रति श्रद्धा ही शुद्धि हेतु है । हम सबने तो आपका चरण दर्शन किया है, अतः आपके चरण ही समारे विषयवासना का नाशक हैं । धूमकेतु अग्नि के समान होकर विषयवासना को दग्ध करें । वह श्रीचरण किस प्रकार हैं ? मोक्ष प्राप्ति हेतु मुमुक्षु मुनिगण प्रेमार्द्र हृदय में निरन्तर चिन्ता करते रहते हैं, एवं भक्तगण वासुदेवादि रूप में अर्चन करते हैं । कतिपय धीर व्यक्तिगण स्वर्ग को अतिक्रम कर वैकुण्ठ प्राप्ति के निमित्त त्रिकाल अर्चना भी करते रहते हैं । अतएव भा० १०।४१।४ में श्रीअक्रूर ने कहा है,—

"अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले । त्वयि विश्वात्मा तानि किं मेऽदृष्टं विपश्यतः ॥"

टीका—भूमौ वियति जले वा यावन्त्यद्भुतानि तानि त्वय्येव सन्ति तञ्च त्वां पश्यतो मे किमद्भुतन दृष्टम् अपितु सर्वं दृष्टमित्यर्थः ।

भूमि आकाश एवं जल में जो कुछ मैंने अत्यद्भुत देखा, वे सब ही आप में ही है । आपको और उस सबको देखकर क्या अद्भुत मैंने नहीं देखा है ? मैंने सब कुछ ही देखा है ।

अतएव भा० ११।२।१ में उक्त है—

"गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारकायां कुरूद्वह । अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥"

टीका—अभीक्ष्णं प्रस्थापितोऽपि पुनः पुनरवात्सीदित्यर्थः । ननु नारदस्यदक्षादिशापान्नैकत्र वासः सम्भवतीत्याशङ्क्याह—गोविन्दभुजगुप्तायामिति । न तस्यां शापादेः प्रभाव इत्यर्थः । कृष्णोपासने लालसा औत्कण्ठ्यं यस्य सः ।"

पुनः पुनः भेजे जाने पर भी बारम्बार आकर नारद द्वारका में ही रह जाते थे । नारद के प्रति तो दक्षशाप रहा, कैसे नारद एकत्र रह सकते हैं ? कहते हैं—गोविन्दभुज गुप्त द्वारका में रहते थे । वहाँ शाप का प्रभाव नहीं है । क्यों रहते थे ? उत्तर—कृष्णोपासन में लालसा हेतु रहते थे । अर्थात् कृष्णोपासन में उनकी अत्युत्कट उत्कण्ठा थी । उद्धव श्रीभगवान् को कहे थे ॥९०॥

उस प्रकार भा० ३।२।१५ में वर्णित है—

"स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपै,-रभ्यर्द्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो, ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाग्निः ॥"१६३॥

तच्च जन्म निजतत्तदंशानादायैवेत्याह— महदंशयुक्तो महतः स्वस्यैवांशैर्युक्तः, (कठ० १।२।२२) "महान्तं विभुमात्मानम्" इत्यादि श्रुतेः; (ब्र० सू० १।४।८) "महद्वच्च" इति न्यायप्रसिद्धेश्च । महान्तो ये पुरुषादयोऽशास्तैर्युक्त इति वा; श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रे "लोकनाथं महद्भुतम्" इतिवन्नात्मत्वव्यभिचारः; महद्भिरंशिभिरंशैश्च युक्त इति वा ॥ श्रीमदुद्धवः श्रीविदुरम् ॥

"स्वशान्तरूपेष्वितरैः स्वरूपैरभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।
परावरेशो महदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाग्निः ॥"

श्रीविदुर के प्रति श्रीउद्धव ने कहा—स्वीय शान्तरूप भक्तवृन्द, अशान्त मूढ़ व्यक्तिसमूह के द्वारा उपद्रुत होने से भक्तानुग्रहकातर परावरेश भगवान् अज महदंश युक्त होकर काष्ठ स्थित अनल के समान जन्म ग्रहण करते हैं ।

टीका—"एवम्भूत विम्व प्रदर्शने कारणमाह,—स्वीयान्येव शान्तानि अशान्तानि च रूपाणि । तत्र शान्तरूपेषु इतरैः पीड्यमानेषु अनुकम्पितः कृतानुकम्प आत्मा यस्य अजोऽपि जातः आविर्भूतः । महाभूतरूपेण नित्यसिद्ध एव अग्निर्यथा काष्ठेष्वाविर्भवति तद्वत् । अजस्य जन्मनि हेतुः । महान्—महत्तत्त्वम्, अंशः कार्य्यलेशो यस्याव्यक्तस्य तन्महदंशं तद्युक्त इति ।"

निज अंशसमूह को लेकर ही जन्मलीला प्रकट करते हैं । एतज्जन्य कहते हैं— महदंशयुक्त । महत्, आपके अंश, भगवत्स्वरूप समूह, उसके सहित युक्त । महद् शब्द का अर्थ भगवान् हैं । यह कहने से संशय हो सकता है—महत् शब्द से भगवान् का बोध सुप्रसिद्ध है—अथवा नहीं ? तज्जन्य कठोपनिषत् का प्रमाण दर्शाते हैं । कठ १।२।११ में उक्त है—'महान्त विभूमात्मानम्' महान् विभु आपको, यहाँ श्रीहरि को महान् शब्द से कहा गया है । वेदान्तसूत्र १।४।७ में 'महद्वच्च' उक्त है । महद्वच्चेति—बुद्धेरात्मेत्यत्र महच्छब्देन प्रथमविकारे वाच्ये महतो महान् पर इत्यनिष्टं स्यात् । तथा आत्मशब्देन महतो विशेषणं चानिष्टमतो न प्रथमविकारो गृह्यते । एवमात्मपरत्वोक्ते स्तत्राव्यक्तशब्देन प्रधानं न ग्राह्यम् । न ह्यात्मनः परतया प्रधानं सांख्यैर्मतं तस्मात् सूक्ष्मशरीरं तदिति सूष्ठूक्तम् । 'बुद्धि से महान् आत्मा श्रेष्ठ है ।' यहाँ बुद्धि से श्रेष्ठत्व कथन हेतु एवं आत्मशब्द के सहित एकार्थता निबन्धन जिस प्रकार महत् शब्द से स्मृत्युक्त महत्तत्त्व का ग्रहण नहीं होता है, तद्रूप आत्मा से श्रेष्ठत्व कथन हेतु अव्यक्त शब्द से प्रधान का ग्रहण नहीं होगा ।

अतएव महत् शब्द से परमात्मा ही गृहीत हैं । अथवा, महान्त जो पुरुषादि अंश, तत् समुदय युक्त होकर आविर्भूत हैं, तज्जन्य आप महदंश युक्त हैं ।

विष्णुसहस्रनामस्तोत्र में उक्त है—'लोकनाथं महद्भूतं' यहाँ जिस प्रकार महत् स्वरूप के सहित अव्यभिचार प्रदर्शित हुआ है । उस प्रकार महदंशयुक्त शब्द के द्वारा श्रीकृष्ण में निजांशसमूह सम्मिलित होने से भी निज स्वरूप की विकृति नहीं होती है । महद्भूत शब्द का अर्थ—परम कारण । श्रीहरि, अनन्त ब्रह्माण्ड एवं वैकुण्ठादि धाम का निमित्त उपादान कारण है । स्वयं ही ब्रह्माण्डसमूह के सृष्टि-स्थिति-विलय कार्य्य करते रहते हैं, एवं धामसमूह के आविर्भाव तिरोभाव सम्पन्न करते हैं । तथापि आपका स्वरूप ह्रास वृद्धि प्राप्त नहीं होता है ।

६२। तथैवम् (भा० १०।२।९) "अथाहमंशभागेन" इत्यादावप्येवं व्याख्येयम्। अंशानां भागो भजनं प्रवेशो यत्र तेन परिपूर्णरूपेण; अंशानां भजनेन लक्षितो वा। 'प्राप्स्यामि' इति प्रकटलीलाभिप्रायेण भविष्यन्निर्द्देशः। अतएव तदवतारसमये युगावतारश्च स एवेत्यभिप्रेत्याह, (भा० १०।८।१३)—

(६२) "आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥"१९४॥

अस्य तव पुत्रस्य प्रतियुगं तनुर्युगावतारलीलावतारान् गृह्णतः प्रकटयतो यद्यपि तत्र तत्र शुक्लादयस्त्रयोऽप्यन्ये वर्णा आसन्, तथापि यो यः शुक्लस्तथा रक्तः पीतश्च, स स इदानीमेतदवतारसमये कृष्णतामेव गतः; एतस्मिन् कृष्णाकार एवान्तर्भूतः। किमुत यो यः कृष्णः, स स एवेत्यर्थः। तस्मात् कृष्णीकर्त्तृत्वात् स्वयं कृष्णत्वात् सर्वाकर्षकत्वाच्च कृष्ण इत्येकमस्य नामेति प्राकरणिकोऽप्यर्थः श्रेयान्। तदानीं श्रीकृष्णस्यैव द्वापरयुगावतारत्वं श्रीकरभाजनेन

अथवा—महत् अंशसमूह के सहित, एवं अंशसमूह के सहित मिलित को महदंशयुक्त कहा जाता है। श्रीमदुद्धव श्रीविदुर को कहे थे॥६१॥

उक्त श्लोकस्थ "महदंशयुक्त' पद की जिस प्रकार व्याख्या की गई है, उस प्रकार भा० १०।२।९ "अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे। प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि॥" 'अंशभागेन' शब्द के द्वारा भी श्रीकृष्ण में निखिल अंशांश प्रविष्ट हैं इस प्रकार अर्थ को जानना होगा। योगमाया के प्रति श्रीकृष्ण ने कहा—मैं अंश भाग से अर्थात् पूर्णरूप से देवकी का पुत्र बनूँगा। तुम भी नन्दपत्नी यशोदा से आविर्भूत हो जाओ।

अंशानां—भाग भजन है जहाँ। उस प्रकार परिपूर्ण स्वरूप से आविर्भूत होंगे। अथवा अंश समूह के भजन द्वारा जो परिलक्षित हैं, वह अंश भाग है, अर्थात् अंशसमूह के भजन से अंशी श्रीकृष्ण का परिचय प्राप्त होता है। जिस प्रकार श्रीनृसिंहदेव का भजन से श्रीकृष्ण तत्त्व में परिज्ञान स्वामिचरण का हुआ। उक्त श्लोक में 'प्राप्स्यामि' क्रियापद का प्रयोग है, वह भी प्रयुक्त प्रकटलीलाभिप्राय से ही हुआ है। आगन्तुक देवकी पुत्र होने के अभिप्राय से उक्त पद का प्रयोग नहीं हुआ है। कारण, आप नित्य ही देवकीपुत्र हैं। श्रुति में 'कृष्णाय देवकीपुत्राय' प्रयोग है।

सर्वावतारावतारी श्रीकृष्ण के आविर्भाव के समय में युगावतार भी श्रीकृष्ण ही हैं। कारण, श्रीकृष्ण में ही सर्वावतारों का प्रवेश सुसिद्ध है। तज्जन्य नामकरण प्रसङ्ग में भी श्रीव्रजाचार्य्य के प्रति श्रीगर्गाचार्य्य ने कहा—"आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥"

'तुम्हारा यह पुत्र, प्रति युग में ही शरीर ग्रहण करता रहता है। इनके शुक्ल, रक्त, पीत तीन वर्ण हो गये हैं। सम्प्रति कृष्णता प्राप्त है, अतएव 'कृष्ण' इनका नाम है।

प्रति युग में तनु प्रकटनकारी इस बालक के अनेक तनु हैं, अर्थात् युगावतार, लीलावतार भेद से अनेक तनु प्रकट करते हैं। उसमे उस उस युग में शुक्ल, रक्त, पीत वर्णत्रय हो गये हैं। तथापि शुक्ल, रक्त, पीत वर्ण भी अधुना कृष्णावतार में अन्तर्भुक्त हो गये हैं। अतएव कृष्ण ही उन उन वर्णों में प्रकटित होते हैं, इसकी प्रतीति सुस्पष्ट रूप से होती है।

युगावतारोपासनायामुक्तम्, न तु द्वापरान्तरवच्छुकपक्षवर्णरयान्यरय ; (भा० ११।५।२७-२९)—

"द्वापरे भगवान् श्यामः पीतवासा निजायुधः ।
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ॥१९५॥
तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम् ।
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ॥१९६॥
नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥"१९७॥ इति ।

अत्र श्रीकृष्णत्वे लिङ्गं महाराजोपलक्षणमिति वासुदेवायेत्यादि च श्रीहरिवंशोक्त-राजराजाभिषेकाद्द्वारकायां चतुर्व्यूहत्वप्रसिद्धेश्च ॥ गर्गः श्रीव्रजेश्वरम् ॥

अर्थात् सत्य में युगावतार—शुक्ल, त्रेतावतार—रक्त, कलि में अवतार पीतवर्ण उपलक्षण से द्वापर युगावतार शुकपक्षाभ अवतार भी कृष्ण में अन्तर्भुक्त हैं। अतएव जो जो कृष्णवर्ण के नहीं हैं, उनको कृष्णवर्णाक्रान्त किये हैं, एवं स्वयं कृष्ण हैं। तथा सर्वाकर्षक हेतु "कृष्ण" इनका एक नाम है, यह ही प्रकरणलब्ध सारार्थ है।

वृहत्क्रमसन्दर्भः। "अथ वसुदेवेन प्रहितो गर्गः श्रीरामकृष्णयोर्नामकरणं यदकरोत्तदाह—आसन् वर्णास्त्रय इत्यादि सार्द्धेन। अस्य श्रीकृष्णस्यावतारिणस्तनूरवतार रूपाणि अनुयुगं युगे युगे गृह्णतस्त्रयो वर्णा आसन्। 'के ते' इत्याह—शुक्ल इत्यादि। सत्ये यमवतारकरोत्, तस्य शुक्लो वर्ण आसीत्, त्रेतायां रक्तवर्ण आसीत्, द्वापरे तथा अपीतः, यथा शुक्लो रक्तस्तथा श्यामोऽपि। अपीत शब्देन श्याम उच्यते—शुक्लरक्तकृष्णानां पारिशेष्यात्। वक्ष्यति च (भा० ११।५।७) 'द्वापरे भगवान् श्यामः' इत्येकादशे। इदानीं कलौ कृष्णतां गतः। कृष्णतेति भाव—निर्देशेन भावस्य च सत्तारूपतया स्वाभाविक-नित्यसिद्ध एवायं चिद्वर्णः, नतु पूर्वपूर्वावतारवदौपाधिकः। यद्वा इदानीमिति कलिकालपरत्वम्। तथैकादशे वक्ष्यति (भा० ११।५।३१-३२) 'कलावपि तथा शृणु' कृष्णवर्णं तथा कृष्णम्' इत्यादि।"

श्रीगर्गाचार्य्य के समान श्रीकरभाजन योगीन्द्र ने भी श्रीकृष्ण को द्वापर युगावतार रूप में निर्देश किया है। किन्तु द्वापरान्त में प्रकटित शुकपक्ष वर्ण का निर्देश नहीं किया है। आपने कहा है—(भा० ११।५।२७-२९) द्वापर युग में भगवान् अतसी कुसुमवत् श्यामवर्ण, पीतवसनधारी, चक्रादि आयुध समन्वित, श्रीवत्स एवं करचरणादिगत पद्मादि चिह्नाङ्कित एवं कौस्तुभ प्रभृति से विभूषित होकर अवतीर्ण होते हैं।

'हे नृप! उस समय ईश्वरतत्त्व जिज्ञासु व्यक्तिगण, वेद एवं तन्त्रोक्त पद्धति के अनुसार छत्र चामरादि द्वारा महाराजोपलक्षणयुक्त पुरुष की पूजा करते हैं।'

'वासुदेव को नमस्कार, सङ्कर्षण को नमस्कार, भगवान् प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध को नमस्कार, इस प्रकार कहकर द्वापरयुगाधिवासिगण जगदीश्वर का स्तव करते हैं।'

श्रीकरभाजनोक्त (भा० ११।५।२७-२९) श्लोकसमूह में श्रीकृष्ण ही द्वापर युग के उपास्य रूप में प्रविष्ट हुये हैं। कारण, उक्त कथन में 'महाराजोपलक्षण' एवं वासुदेवादि पद ही उनका प्रतिपादक है। श्रीकृष्ण की महाराजोचित अभिषेक की कथा का वर्णन हरिवंशस्थ विष्णुपर्व के ५० अध्याय में है। श्रीरुक्मिणी स्वयम्बरोपलक्ष्य में श्रीकृष्ण का आगमन समय में विदर्भ नगर में नराधिपति क्रथ कौषिक

९३। तदेवं श्रीकृष्णस्य स्वयं भगवत्त्वे सुष्ठु निर्धारिते नित्यमेतद्रूपत्वेनावस्थितिरपि स्वयमेव सिद्धा। तथापि मन्दधियां भ्रान्तिहानार्थमिदं विविच्यते। तत्र तावदाराधना-वाक्येनैव सा सिध्यति। आराध्यस्याभावेऽप्याराधनानोदनाया विप्रलिप्साजन्यत्वापत्तेः। तच्च परमाप्ते शास्त्रे न सम्भवति, सम्भवे च पुरुषार्थाभावात् शास्त्रानर्थक्यम्। आरोपश्च परिच्छिन्नगुणरूप एव वस्तुनि कल्पते, नानन्तगुणरूपे। स्वामिचरणैरपीदमेव पुष्टमेकादशान्ते

नामक भ्रातृयुगल ने, देवराज प्रेरित विश्वकर्मा निर्मित सिंहासन में श्रीकृष्ण को उपवेशन कराकर महाराजोचित अभिषेक किया था। एवं भा० ११।५।२७ श्लोकोक्त वासुदेवादि, द्वारका चतुर्व्यूह हैं, उस प्रकार ही सर्वत्र प्रसिद्धि है।

उक्त श्लोकत्रय की क्रमसन्दर्भ टीका। द्वापर युगावतार कथयन् श्रीकृष्णाविर्भावमय-तद्युग-विशेषस्य च वैशिष्ट्यातिशयमभिप्रेत्य तमेव तत्तत्सर्वमयमाह—द्वापर इति सामान्यतस्तु द्वापरे शुकपत्रवर्णत्वम्, कलौ श्यामत्वं विष्णुधर्मोत्तरे दर्शितम्। "द्वापरे शुकपत्राभः, कलौ श्यामः प्रकीर्त्तितः" इतीदृशेन।२७।

महाराजोपलक्षणमिति श्रीहरिवंशदर्शितराजेन्द्राभिषेकात्। तादृशं परं पुरुषं यजन्तीत्यन्वयः। यजने हेतुः—'जिज्ञासवस्तमेवानुभवितुमिच्छवः' इति।२८।

चतुर्व्यूहतालिङ्गेन श्रीकृष्णत्वमेव विशेषतः स्पष्टयन्नाह—'नमस्ते' इति।२९।

सत्य, त्रेता, द्वापर एवं कलि चतुर्युग में एक दिव्ययुग होता है। ७१ दिव्ययुग में एक मन्वन्तर है, १४ मन्वन्तर में ब्रह्मा का एक दिन है, उस परिमाण से ही रात्रि होती है। सप्तम मन्वन्तरीय अष्टाविंश चतुर्युग के द्वापर के शेषभाग में श्रीकृष्ण अवतीर्ण होते हैं। ब्रह्मा के अहोरात्र में श्रीकृष्ण एकवार अवतीर्ण होते हैं। जिस द्वापर में श्रीकृष्ण अवतीर्ण नहीं होते हैं, उस द्वापर में शुकपक्ष वर्ण का युगावतार होता है। श्रीगर्ग श्रीव्रजेश्वर को कहे थे। ९२॥

यद्यपि उक्त प्रमाणसमूह के द्वारा श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता सुष्ठुरूपेण निर्द्धारित होने पर सतत श्रीकृष्ण रूप में ही उनका अवस्थान स्वयं ही निष्पन्न होता है। तथापि मन्दबुद्धिसम्पन्न व्यक्तिसमूह की भ्रान्ति को विदूरित करने के निमित्त सप्रमाण विचार उपस्थित करते हैं।

प्रथमतः आराधना वाक्यसमूह के द्वारा ही श्रीकृष्ण रूप में नित्य स्थिति का प्रतिपादन सुचारु रूप से होता है। श्रीकृष्ण रूप में नित्य स्थिति का सन्देह रहने पर शास्त्र कदापि तदीय आराधना के निमित्त उपदेश प्रदान नहीं करते। आराध्य का अभाव होने पर यदि आराधना के निमित्त विधान प्रदत्त होता है तो, विप्रलिप्सा दोष उपस्थित होता है। 'भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव दोष चतुष्टय पुरुषगत हैं। तदीय वाक्य में उसका सञ्चार होता है। अवस्तु में वस्तु बुद्धि भ्रम, यथा—शुक्ति में रजत बुद्धि। अनवधानता—प्रमाद, जिससे निकटस्थित वस्तु का बोधन नहीं होता है। वञ्चनेच्छा ही विप्रलिप्सा है, यथा ज्ञातार्थ का प्रकाश शिष्य के समीप में न करना। इन्द्रिय मान्द्य को करणापाटव कहते हैं। जिससे मनोभिनिवेश के द्वारा भी वस्तुज्ञान नहीं होता है।

शास्त्रपरमाप्त अर्थात् परम विश्वस्त है, उनमें विप्रलिप्सा दोष की सम्भावना नहीं है। शास्त्र में विप्रलिप्सा दोष को मान लेने पर पुरुषार्थ वस्तु का अभाव से शास्त्र में आनर्थक्य उपस्थित होगा। अज्ञात यथार्थ पुरुषार्थ वस्तु का निर्देश, एवं उसका प्राप्त्युपाय कीर्त्तन में शास्त्र की सार्थकता है। जो है ही नहीं, उसका प्राप्त्युपाय कीर्त्तन व्यर्थ ही है। मायावादियों का मत खण्डनपूर्वक श्रीकृष्ण रूप का

(भा० ११।३१।६) "धारणाध्यानमङ्गलम्" इत्यत्र धारणाया ध्यानस्य च मङ्गलं शोभनं

नित्यत्व प्रतिपादन करते हैं। उक्त मत में 'श्रीकृष्ण नामक परमार्थभूत कोई भी वस्तु नहीं है। सगुण उपासक के निमित्त ब्रह्म में उक्त रूप का आरोप हुआ है, यह सम्पूर्ण भ्रम है। कारण, आरोप, परिच्छिन्न गुणरूपविशिष्ट वस्तु में कल्पित होता है, किन्तु अनन्त गुणरूपविशिष्ट वस्तु में आरोप कल्पित होने की सम्भावना ही नहीं है। 'सिंहो मानवकः' स्थल में परिच्छिन्न आकृतिविशिष्ट मानवक में सिंहत्व का आरोप परिच्छिन्न दृष्टि सम्पन्न जन करते हैं। आकारहीन असीम मानवक होने से उसमें सिंहत्व का आरोप करना असम्भव होगा। उभय वस्तु का बोध जहाँ पर है, वहाँ सादृश्य की सम्भावना होती है। गुण कर्मादि की प्रतीति होने से उसके सादृश्य से एक का धर्म अन्यत्र आरोपित हो सकता है। जैसे 'सिंहो मानवकः' स्थल में सिंहवत् पराक्रमविशिष्ट बालक है, कहा जाता है। किन्तु वाणी एवं मन का अगोचर अद्वय निरवयव पदार्थ में अपर वस्तु का धर्म कैसे आरोप होगा? सादृश्य हेतु उभय पदार्थ की स्थिति आवश्यक है। सिंह एवं बालक की स्थिति होने से ही सिंहगत शौर्य्यवीर्य्य का आरोप मानवक में हुआ। प्रस्तुत स्थल में आरोप असम्भव है। कारण, ब्रह्म असीम एवं अवयव विहीन, सजातीय द्वितीय रहित हैं। किसका धर्म कहाँ आरोपित होगा, एवं आरोप कौन करेगा?

कल्पना को पुष्ट करने के निमित्त शास्त्र वचनों को एकत्र कर परतत्त्व निर्वचन करने पर वह सर्वजन समादृत नहीं होता, कारण मुग्धगण ही उस सिद्धान्त को मानते हैं। विवेचकवृन्द का मन उसमें प्रविष्ट नहीं होता है। अतएव उक्त सिद्धान्त में मतभेद होना अनिवार्य्य है। किन्तु वह यदि महदनुभव के द्वारा प्रमाणित होता है, तब वह सिद्धान्त सर्वथा आदरणीय होता है। तज्जन्य विद्वद् गोष्ठीवरिष्ठ श्रीधरस्वामिचरण प्रभृति महानुभाववृन्द के अनुभव प्रमाण के द्वारा प्रतिपादित श्रीकृष्ण रूप में नित्य स्थिति का प्रदर्शन करते हैं। भा० ११।३१।६ में वर्णित है—

"लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्। योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥"

टीका—योगिनामिव स्वच्छन्दमृत्युभ्रमं वारयति—लोकाभिरामामिति। अयमर्थः—योगिनो हि स्वच्छन्दमृत्यवः स्वां तनुमाग्नेय्या योगधारणया दग्ध्वा लोकान्तरं प्रविशन्ति, भगवांस्तु न तथा किन्तु अदग्ध्वैव स्वतनुसहित एव स्वकं धाम वैकुण्ठाख्यमाविशत्। तत्र हेतुः—लोकाभिरामाम्, लोकानामभिरामोऽभितो रमणं स्थितिर्यस्यां ताम्। जगदाश्रयत्वेन जगतोऽपि दाहप्रसङ्गादित्यर्थः। किञ्च धारणाया ध्यानस्य च मङ्गलं शोभनं विषमम्, अन्यथा तयोर्निर्विषयत्वं स्यात्। दृश्यते चाद्यापि तदुपासकानां तथैव तद्रूपसाक्षात्कारः फलप्राप्तिश्चेति भावः। इच्छाशरीराभिप्रायेण वा यथा श्रुतमेवास्तु तत्रापि तु लोकाभिरामामित्यादीनां विशेषणानामानर्थक्य प्रसङ्गात् तदप्यदग्ध्वा तिरोधाय निर्गतः, इत्येव साम्प्रतम्।

श्रीशुक ने कहा—'आग्नेयी योगधारणा के द्वारा योगिगण निज देह को दग्ध करते हैं। किन्तु श्रीकृष्ण, लोकाभिराम धारणा—ध्यान का मङ्गलस्वरूप निज तनु को दग्ध न करके ही निज धाममें प्रविष्ट हुये थे।

उक्त श्लोकस्थ श्रीस्वामिपादकृत व्याख्या का तात्पर्य्य यह है—योगियों के समान श्रीकृष्ण की स्वच्छन्द मृत्यु का निवारण करते हैं। इसका अर्थ यह है कि- योगियों की मृत्यु स्वेच्छाधीन है। वे सब आग्नेयी योगधारणा द्वारा स्वीय तनु को दग्ध करके लोकान्तर गमन करते हैं। किन्तु श्रीभगवान् वैसा नहीं करते हैं। निज तनु को दग्ध न करके ही निज धाम में प्रविष्ट होते हैं। कारण यह है कि—लोकसमूह का अभिराम वह तनु है। अर्थात् सर्वतो भावेन उस तनु में सबकी स्थिति है। अतः वह तनु जगदाश्रय है। वह दग्ध होने से जगत् दग्ध होगा।

विषयम्, इतरथा तयोर्निर्विषयत्वम् । दृश्यते चाद्याप्युपासकानां साक्षात्कारस्तत्फलप्राप्तिश्चेति भावः । श्रूयते चैवं पञ्चमे नवसु वर्षेषु तत्तदवतारोपासनादि ; यथोक्तम् (भा० ५।१७।१४)—"नवस्वपि वर्षेषु भगवान्नारायणो महापुरुषः पुरुषाणां तदनुग्रहायात्मतत्त्वव्यूहेनात्मनाद्यापि सन्निधीयते" इति । सन्निधानञ्चेदं साक्षाद्रूपेणैव श्रीप्रद्युम्नादौ गतिविलासादेर्वर्णितत्वात् ।

श्रीकृष्ण रूप का अभाव होने से ध्यान धारणा का विषय कौन होगा ? श्रीकृष्ण रूप ही धारणा ध्यान मङ्गल है, अर्थात् परम सुन्दर है । यह रूप नित्य न होने से धारणा एवं ध्यान उभय ही निर्विशेष होगा । आज भी दृष्ट होता है—उपासकगण श्रीकृष्ण दर्शन करते हैं, एवं श्रीकृष्ण दर्शन का फल प्राप्त भी करते हैं । भगवत् साक्षात्कार का फल यह है—

"भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ।।"

(भा० १।२।२१)

हृदय में ईश्वर साक्षात्कार होने से हृदय ग्रन्थि का भेदन, सर्वसंशय ग्रन्थि का छेदन, एवं निखिल कर्म का क्षय होता है । धारणा एवं ध्यान का एकमात्र अवलम्बनस्वरूप श्रीकृष्ण रूप है । उक्त रूप ही उपासक का प्रत्यक्षगोचर होता है, अतः धारणा एवं ध्यान का वह अतीव मनोरम विषय है, उक्त कथन का यह ही भावार्थ है ।

अर्थात् मानव मन स्वभावतः ही मनोहर रूपगुणविशिष्ट वस्तु में आकृष्ट होता है । उक्त मनोहर रूपगुणों की परमावधि श्रीकृष्ण में ही है । श्रीकृष्ण में, असाधारण धर्मरूप सर्वाकर्षण सामर्थ्य, सर्वाधिक विद्यमान है । उसकी प्रतीति, श्रीकृष्ण नाम की व्युत्पत्ति से ही होती है ।

"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ।।"

श्रीकृष्ण सर्वाकर्षक आनन्दसत्ता है, रूप एवं गुण के द्वारा श्रीकृष्ण अतुलनीय हैं, एवं स्वभाव भी सर्वाकर्षक है । वह आकर्षण भी आनन्द के द्वारा ही है । सुतरां श्रीकृष्ण में मानव चित्त सकृत् निबद्ध होने से वह चित्त कभी भी वियुक्त नहीं होता है । उससे तैलधारावत् अविच्छिन्न चित्त संयोग स्वतः ही निष्पन्न हीता है । अन्तर्बहिः साक्षात्कार रूप फल ही श्रीकृष्ण ध्यान का है । उससे अन्तर बाहर परमानन्द से आप्लुत होता है । अपर भगवत् स्वरूप में इस प्रकार सर्वाचित्ताकर्षक सामर्थ्य नहीं है । ब्रह्म परमात्म स्वरूप तो श्रीकृष्ण स्वरूप के निकट उल्लेखयोग्य ही नहीं है । वेण की मुक्ति न होने का कारण ही है, उक्त श्रीभगवत् स्वरूप में आवेशाभाव, तज्जन्य ही श्रीकृष्ण रूप को धारणा ध्यान का परम शोभन विषय कहा गया है ।

केवल श्रीकृष्ण स्वरूप में स्वयं भगवान् की नित्य स्थिति नहीं, अपितु निखिल श्रीभगवत्स्वरूप समूह की उन उन रूपों में नित्य स्थिति है । उपासकगण भी उन उन स्वरूप की उपासना करते हैं, एवं साक्षात्कार भी करते हैं । भा ५।१७।१४ में उसका वर्णन है—

"नवस्वपि वर्षेषु भगवान् नारायणो महापुरुषः पुरुषाणां
तदनुग्रहायात्मतत्त्वव्यूहेनात्मनाद्यापि सन्निधीयते ।"

टीका—"नवस्वपि वर्षेषु ये पुरुषास्तेषां तदनुग्रहाय स चासौ वक्ष्यमाणोऽनुग्रहश्च तदर्थम् आत्मतत्त्व व्यूहेन स्वमूर्त्तिसमूहेन सन्निधीयते सन्निहितो भवति ।"

नाभिकिंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक्, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व, केतुमाल नामानुसार जम्बुद्वीप को नवधा विभक्त अग्निध्र पुत्र नाभि ने किया था । यह नववर्ष में ही महापुरुष भगवान् नारायण उपासकों के प्रति अनुकम्पा करने के निमित्त आत्मतत्त्व व्यूह में साक्षात् निज मूर्त्ति के द्वारा उन सबके

अत्र चात्मना स्वयमेवेत्युक्तम् । तथा नित्यत्व एव शालग्रामशिलादिषु नरसिंहत्वादिभेदश्च सङ्गच्छते । तत्तदवतारसान्निध्यादेव हि तत्तद्भेदः । तथा श्रीकृष्णमधिकृत्यापि गीतं श्रीविष्णुधर्मोत्तरस्थ-श्रीकृष्णसहस्रनाम-प्रारम्भे—

"तस्य हृष्टाशयः स्तुत्या विष्णुर्गोपीगणावृतः । तापिञ्छश्यामलं रूपं पिञ्छोत्तंसमदर्शयत् ॥"१९८॥ इति;

अग्रे च तद्वाक्यम्—

"मामवेहि महाभाग कृष्णं कृत्यविदाम्बर ।
पुरस्कृतोऽस्मि त्वद्भक्त्या पूर्णाः स्युस्ते मनोरथाः ॥"१९९॥ इति ;

तथा पाद्मे निर्माणखण्डे–"पश्य त्वं दर्शयिष्यामि स्वरूपं वेदगोपितम्" इति श्रीभगवद्वाक्यान्तरं ब्रह्मवाक्यम्—

"ततोऽपश्यमहं भूप बालं कालाम्बुदप्रभम् । गोपकन्यावृतं गोपं हसन्तं गोपबालकैः ॥२००॥
कदम्बमूल आसीनं पीतवाससमद्भुतम् । वनं वृन्दावनं नाम नवपल्लवमण्डितम् ॥"२०१॥ इत्यादि;

त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रे श्रीमदष्टादशाक्षरजप-प्रसङ्गे—

"अहर्निशं जपेद्यस्तु मन्त्री नियतमानसः । स पश्यति न सन्देहो गोपरूपधरं हरिम् ॥"२०२॥ इति;

सन्निकटवर्त्ती होते हैं ।

यह सन्निधान—साक्षात् रूप से होता है, प्रतिमादि रूप से नहीं । कारण, उक्त वर्षसमूह में विराजमान श्रीप्रद्युम्न प्रभृति के जो गति विलासादि वर्णित हैं, उसका वर्णन साक्षात् रूप से ही सम्भव है, प्रतिमा रूप से नहीं । उक्त वर्णन में 'आत्मना' पद का प्रयोग है । उससे बोध होता है, आप स्वयं हि सन्निहित होते हैं ।

श्रीभगवदाविर्भावसमूह का नित्यत्व मान लेने पर ही शालग्राम शिला में श्रीनरसिंहत्व प्रभृति भेद की सङ्गति सम्भव है । श्रीनरसिंह प्रभृति विभिन्न अवतारों का सान्निध्य निबन्धन शालग्राम शिला का नारसिंहादि भेद होता है । अर्थात् जिसमें श्रीनरसिंह देव का सन्निधान है, उनका नाम नरसिंह चक्र है । जहाँ श्रीमधुसूदन का सन्निधान है, उन्हें मधुसूदन कहते हैं । उस प्रकार भगवदाविर्भावसमूह का नित्यत्व प्रतिपादन मूलक वर्णन श्रीविष्णुधर्मोत्तरस्थ श्रीकृष्णसहस्रनाम वर्णनारम्भ में है—"उनकी स्तुति से आनन्दित होकर गोपाङ्गनावृत विष्णु, शिखिपिच्छ चूड़ालङ्कृत तमालश्यामल रूप का सम्यक् दर्शन कराये थे ।"

इस श्लोक के अग्रभाग में श्रीकृष्ण की उक्ति इस प्रकार है—हे महाभाग ! हे श्रेष्ठ कर्त्तव्यवित् ! मैं ही कृष्ण हूँ, मुझको उत्तम रूप से जानो, मैं तुम्हारी भक्ति से सन्तुष्ट होकर उपस्थित हुआ हूँ । तुम्हारे मनोरथ समूह पूर्ण होवें ।"

उस प्रकार वर्णना ही पद्मपुराण के निर्माणखण्ड में है—"देखो, मैं तुम्हें वेदगोप्य स्वरूप को दर्शाता हूँ ।"

इस प्रकार भगवद्वाक्य के अनन्तर ब्रह्मवाक्य यह है—"हे भूप ! तत्पश्चात् मैंने कालाम्बुदप्रभ बालक को देखा, आप पीताम्बर शोभित, गोपवेश, कदम्ब मूल में उपविष्ट, गोपकन्यावृत एवं गोप बालकवृन्द के सहित विनोदहास्य परायण थे । और नवपल्लवमण्डित वृन्दावन नामक वन को भी देखा ।" इत्यादि ।

त्रैलोक्यसम्मोहन तन्त्रस्थ श्रीमदष्टादशाक्षर मन्त्र प्रसङ्ग में उक्त है—"जो व्यक्ति संयत चित्त से

गौतमीये च सदाचारप्रसङ्गे—

"अहर्निशं जपेन्मन्त्रं मन्त्री नियतमानसः। स पश्यति न सन्देहो गोपवेशधरं हरिम् ॥"२०३॥ इति ;

श्रीगोपालतापनीश्रुतिश्चैवम् (पू० २९)—"तदु होवाच ब्राह्मणोऽसावनवरतं मे ध्यातः स्तुतः परार्द्धान्ते सोऽबुध्यत गोपवेशो मे पुरस्तादाविर्बभूव" इति सिद्धनिर्द्देशोऽपि श्रूयते, यथा— "वन्दे वृन्दावनासीनमिन्दिरानन्दमन्दिरम्" इति वृहन्नारदीयारम्भे मङ्गलाचरणम् ।

"गृहे संतिष्ठते यस्य माहात्म्यं दैत्यनायक। द्वारकायाः समुद्भूतं सान्निध्यं केशवस्य च।
रुक्मिणीसहितः कृष्णो नित्यं निवसते गृहे ॥"२०४॥

इति स्कान्दद्वारकामाहात्म्ये बलिं प्रति श्रीप्रह्लाद-वाक्यम् ।

"व्रतिनः कार्त्तिके मासि स्नातस्य विधिवन्मम। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं राधया सहितो हरे ॥२०५॥

इति पाद्मकार्त्तिक-माहात्म्ये तत्प्रातःस्नानार्घ्यमन्त्रः। एवञ्च श्रीमदष्टादशाक्षरादयो मन्त्रास्तत्तत्परिकरादिविशिष्टतयैवाराध्यत्वेन सिद्धनिर्द्देशमेव कुर्वन्ति। तदावरणादिपूजा-

अहर्निश मन्त्र जप करता है, वह गोपवेशधर हरि का दर्शन करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।"

गौतमीयतन्त्र के सदाचार प्रसङ्ग में उक्त है—"इस मन्त्र में दीक्षित व्यक्ति संयत चित्त से मन्त्र का जप अहर्निश करे। इस रीति से जप करने पर वह गोपवेशधारी हरि का दर्शन लाभ करेगा, इसमें संशय नहीं है।"

श्रीगोपालतापनी श्रुति में लिखित है—सनकादि मुनिगण, पञ्च पदात्मक षट्पदी श्रीमदष्टादशाक्षर मन्त्र के स्वरूप सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर, उत्तर में श्रीब्रह्मा कहे थे—पुत्रगण! मैं पुराकाल में परार्द्धकाल पर्य्यन्त ध्यान एवं स्तवपरायण होने से श्रीगोपाल मेरे प्रति मनोनिवेश किए थे। अनन्तर परार्द्धान्त में गोपवेशधर पुरुष मेरे सम्मुख में आविर्भूत हुए थे।

उक्त वचनसमूह के द्वारा प्रतिपादित हुआ कि—साधन का फलस्वरूप श्रीकृष्ण का आविर्भाव होता है। अनन्तर सिद्ध निर्देश द्वारा श्रीकृष्ण की नित्य स्थिति का प्रतिपादन शास्त्रीय वचनों से करता हूँ। वृहन्नारदीयपुराण के मङ्गलाचरण में वर्णित है—"वन्दे वृन्दावनासीनमिन्दिरानन्दमन्दिरम्" वृन्दावनस्थित इन्दिरा का आनन्दमन्दिर श्रीकृष्ण की वन्दना मैं करता हूँ।

साधन के द्वारा आविर्भूत स्वरूप का प्रतिपादन के अनन्तर सिद्ध निर्देश करने का प्रयोजन यह है कि—सिद्ध निर्देश न करने से मायावादिगण, श्रीकृष्णस्वरूप का अनित्यत्व प्रतिपादन करने का सुयोग प्राप्त करेंगे। उनके मत में एक निर्विशेष तुरीय ब्रह्म ही सगुण उपासक के निमित्त सत्त्वगुणोपहित होकर रामकृष्णादि रूप में आविर्भूत होते हैं। उस प्रकार आविर्भाव सर्वत्र सर्वदा सम्भव है। किन्तु श्रीकृष्ण रूप की नित्यसिद्ध स्थिति प्रमाणित होने से श्रीकृष्ण को निर्गुण ब्रह्म का गुणोपहित स्वरूप कहना असम्भव होगा। अतः सिद्ध निर्देश को दर्शाना परम आवश्यक है।

स्कन्दपुराणस्थ द्वारका माहात्म्य में बलि के प्रति श्रीप्रह्लाद का वाक्य यह है—"हे दैत्य नायक! द्वारका में श्रीकेशव का नित्य सान्निध्य रहता है। श्रीरुक्मिणी के सहित श्रीकृष्ण द्वारका भवन में नित्य विराजित हैं।"

पद्मपुराणीय कार्त्तिक माहात्म्य में उक्त है—"हे हरे! मैं नियमपूर्वक यथाविधि स्नानाचरण कर रहा हूँ। राधा के सहित हे हरे! आप मेरे द्वारा प्रदत्त अर्घ्य ग्रहण करें।" यह प्रातःकालीन स्नानार्घ्य मन्त्र है।

मन्त्रश्च। किं बहुना, कर्मविपाकप्रायश्चित्तशास्त्रेऽपि तथा श्रूयते। यदाह बौधायनः—
"होमस्तु पूर्ववत् कार्य्यो गोविन्दप्रीतये ततः" इत्याद्यनन्तरम्—

"गोविन्द गोपीजनवल्लभेश, कंसासुरघ्न त्रिदशेन्द्रवन्द्य।
गोदानतृप्तः कुरु मे दयालो, अर्शोविनाशं क्षपितारिवर्ग॥"२०६॥ इति;

अन्यत्र च यथा—

"गोविन्द गोपीजनवल्लभेश, विध्वस्तकंस त्रिदशेन्द्रवन्द्य।
गोवर्द्धनाद्रिप्रवरैकहस्त,-संरक्षिताशेषगवप्रवीण।
गोनेत्र-वेणुक्षपण प्रभूत,-मान्ध्यं तथोग्रं तिमिरं क्षिपाशु॥"२०७॥ इति;

स्पष्टश्च तथात्वं श्रीगोपालतापन्याम् (पू० ३७)—"गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावन-सुरभूरुहतलासीनं सततं समरुद्गणोऽहं तोषयामि" इति। अतएव "पुरस्कृतोऽस्मि त्वद्भक्तया" इत्येवोक्तमिति। अलञ्चैवंविधप्रमाणसंग्रहप्रपञ्चेन। यतश्चिच्छक्त्येक-व्यञ्जितानां तत्परिच्छदादीनामपि तथा नित्यावस्थितित्वेनाविर्भाव-तिरोभावावेव द्वितीयसन्दर्भे साधितौ स्तः। सर्वथोत्पत्तिनाशौ तु निषिद्धौ। ततस्तदवताराणाम्, किमुत स्वयंभगवतो वा तस्य

इस प्रकार श्रीमद् अष्टादशाक्षरादि मन्त्रसमूह, उन उन मन्त्र का ध्यान निर्दिष्ट परिकरगण के सहित आराध्य रूप में श्रीकृष्ण का सिद्ध निर्देश करते हैं, एवं तदीय आवरण देवगण के पूजनमन्त्र का भी निर्देश करते हैं। श्रीकृष्णोपासना शास्त्र में इस प्रकार बहुल प्रयोग हैं। विशेषतः कर्मविपाक प्रायश्चित्त शास्त्र में भी श्रीकृष्ण रूप में नित्य स्थिति का विवरण है,—कारण बौधायन की उक्ति से स्पष्टीकरण हुआ है। "अनन्तर श्रीगोविन्द के प्रीतिनिमित्त पूर्ववत् होमानुष्ठान करना कर्त्तव्य है। इसके बाद—हे गोविन्द! हे गोपीजन वल्लभ! हे ईश! कंसासुरघ्न! हे त्रिदशेन्द्रवन्द्य! हे दयालो! आप गोदानरूप कर्म के द्वारा सुतृप्त हो जाओ, आप अरिवर्ग विनाशकारी हो, अतः आप मेरा अर्शरोग को विनष्ट करें।

उक्त स्मृति के अन्य प्रकरण में भी लिखित है—"हे गोविन्द! हे गोपीजनवल्लभ! हे ईश! हे विध्वस्तकंस! त्रिदशेन्द्रवन्द्य! हे गोवर्द्धनाद्रिप्रवरैकहस्त! हे संरक्षिताशेषगव प्रवीण! हे गोनेत्र वेणुक्षपण! प्रभूत अन्धता एवं उग्र तिमिर रोग को सत्वर विनष्ट करो।"

गोपालतापनी में उक्त विवरण का सुस्पष्ट उल्लेख है, ब्रह्मा कहते हैं—"सच्चिदानन्द विग्रह श्रीगोविन्द, श्रीवृन्दावनस्थ कल्पतरु के मूलदेश में सतत विराजित हैं। श्रीगोविन्द, पञ्चपदात्मक श्रीमदष्टादशाक्षर मन्त्रमय हैं। मैं मरुद्गणों के सहित उत्कृष्ट स्तुति के द्वारा उनको सन्तुष्ट करता हूँ।
(पूर्व ता० ३७)

उक्त रूप उपासना निबन्धन श्रीविष्णुधर्मोत्तर में ब्रह्मा के प्रति श्रीकृष्ण के वाक्य इस प्रकार है—मैं तुम्हारी भक्ति से सन्तुष्ट होकर सम्मुख में अवस्थित हूँ।" इस प्रकार प्रमाणसमूह का संग्रह करना निष्प्रयोजन है। कारण—केवल चिच्छक्ति के द्वारा उनके परिच्छद प्रभृतिओं की भी श्रीभगवत् विग्रह के समान नित्य स्थिति है। तज्जन्य परिच्छद प्रभृतिओं के आविर्भाव-तिरोभाव होते रहते हैं। वे सब भी सर्वथा उत्पत्ति-विनाशरहित हैं। इसका प्रदर्शन भगवत् सन्दर्भ नामक द्वितीय सन्दर्भ में हुआ है। सुतरां श्रीभगवदवतार समूह की नित्य स्थिति प्रसिद्ध ही है। अतः स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य स्थिति के सम्बन्ध में किसी प्रकार संशय नहीं हो सकता है।

किमुततरामिति। तथा च व्याख्यातम् (भा० १।३।१) "जगृहे पौरुषं रूपम्" इत्यत्र तत्त्ववादिगुरुभिः—"व्यक्त्यपेक्षया" जगृहे। तथाहि तन्त्रभागवते—

"अहेयमनुपादेयं यद्रूपं नित्यमव्ययम्। स एवापेक्ष्यरूपाणां व्यक्तिमेव जनार्दनः।
अगृह्णाद्व्यसृजच्चेति कृष्ण-रामादिकां तनुम् ॥२०८॥
पठ्यते भगवानीशो मूढ़बुद्धि-व्यपेक्षया। तमसा ह्युपगूढस्य यत्तमःपानमीशितुः ॥२०९॥
एतत् पुरुषरूपस्य ग्रहणं समुदीर्य्यते। कृष्णरामादिरूपाणां लोके व्यक्तिव्यपेक्षया ॥"२१०॥ इति।

एवमेव प्रथमस्य द्वादशाध्याये (भा० १।१२।११) "विधूय" इत्यादि-पद्ये स्वामिभिरपि व्याख्यातम्—"यत्र दृष्टस्तत्रैवान्तर्हितः, न त्वन्यत्र गतः; यतो विभुः सर्वगतः" इति। तथा

प्रश्न हो सकता है कि—यदि श्रीकृष्ण की नित्य स्थिति सुनिश्चित है, तब जन्मलीलादि का विस्तार करने का प्रयोजन ही क्या है? तत्त्ववाद गुरु श्रीमन्मध्वाचार्य्य चरण उक्त प्रश्न का उत्तर स्वयं दिये हैं। भा० १।३।१ "जगृहे पौरुषं रूपं" इसकी व्याख्या में आपने कहा है—'व्यक्त्यपेक्षया जगृह इति' लोक में अभिव्यक्ति की अपेक्षा से ही रूप ग्रहण की कथा कही गई है। उक्त कथन के पश्चात् श्रीआचार्य्य मध्वमुनि ने तन्त्र भागवत का उद्धरण प्रस्तुत भी किया है। तथाहि तन्त्रभागवते—"अहेयमनुपादेयं यद् रूपं नित्यमव्ययम्। तदेवाक्षयरूपाणां व्यक्तिमेव जनार्दनः। अगृह्णाद् व्यसृजच्चेति कृष्णरामादिकां तनुम्। पठ्यते भगवानीशो मूढ़बुद्धि-व्यपेक्षया। तमसा ह्युपगूढस्य यत्तमःपानमीशितुः। एतत् पुरुषरूपस्य ग्रहणं समुदीर्य्यते। कृष्णरामादिरूपाणां लोकव्यक्तिव्यपेक्षया" इति।

जो रूप अहेय है, अनुपादेय है, जो नित्य एवं अव्यय है, वह ही समस्त रूप का अपेक्ष्य अर्थात् आश्रय है। अपेक्ष्य रूप समूह की अभिव्यक्ति ही वह जनार्दन हैं। भगवान् ईश्वर, रामकृष्ण प्रभृति तनुग्रहण एवं विसर्जन करते हैं। शास्त्र में वर्णित है—वह वर्णन केवल मूढ़ व्यक्तियों के सम्बन्ध में हुआ है। तमो द्वारा गुप्त अर्थात् स्वीय चिच्छक्तिरूपा योगमाया का आवरण प्रभाव से गुप्त रूप में स्थित भगवान् की जब जिस आवरणोन्मोचन करने की इच्छा होती है, तब उनके श्रीरामकृष्णादि रूप लोकों के समक्ष में प्रकटित होते हैं। रूप का इस प्राकट्य को 'ग्रहण' शब्द से कहते हैं। वह ग्रहण, लोक लोचन के अन्तराल में स्थित रूप का भुवन में प्रकाश मात्र ही है, किन्तु सृष्टि नहीं है।

अत्र श्रीजीवगोस्वामीचरण—"जगृहे—प्राकृतलये स्वस्मिन् लीनं सत् प्रकटतया स्वीकृतवान्" इति। श्रीविश्वनाथचक्रवर्त्ती—"महदादिभिर्लोक सिसृक्षया सम्भूतं रूपं जगृहे इत्यन्वयः" अर्थात् सम्यग्भूतं परमसत्यं पूर्वमपि सदैव स्वरूपेण स्थितमेव रूपं जगृहे,—लोकसृष्ट्यर्थमुपादत्त। ग्रहणस्य विद्यमानवस्तु-विषयत्वात्। घटस्याविद्यमानत्वे घटं जग्राहेति प्रयोगादर्शनाच्च। राजा सेनान्यं दिग्विजिगीषया स्वसङ्गे जग्राहेतिवत्" इत्यादि। यत्र हातुमुपादातुं य शक्यं तदेवहि शरीरं नित्यमित्युच्यते। नित्यरूपश्च भगवान्। तस्माद् रूपाणां व्यक्तिमेवापेक्ष्य तथा पठ्यते भगवान्।

सर्वव्यापक वस्तु की उत्पत्ति एवं विनाश असम्भव है, अतः श्रीकृष्ण रूप की विभुता हेतु श्रीकृष्ण रूप में नित्य स्थिति सुस्पष्ट है। भा० १।१२।११ में उक्त है—

"विधूय तदमेयात्मा भगवान् धर्मगुब्विभुः। मिषतो दशमासस्य तत्रैवान्तर्दधे हरिः ॥"

उत्तरा के गर्भ में ब्रह्मास्त्र तेजः से परीक्षित् की रक्षा हेतु श्रीकृष्ण आविर्भूत होकर भक्तवात्सल्यरूप धर्म का रक्षक एवं सर्वगत भगवान् हरि द्रष्टा परीक्षित् के समक्ष में ही अन्तर्हित हो गये। टीका में स्वामिपाद ने लिखा है—'यत्र दृष्टस्तत्रैवान्तर्हितः, नत्वन्यत्र गतः, यतो विभुः सर्वगतः' इति। परीक्षित् के द्वारा जहाँ पर दृष्ट हुये थे, वहाँ पर ही अन्तर्हित हो गये। अन्यत्र जाकर अन्तर्हित हुये, ऐसा नहीं।

माध्वभाष्यप्रमाणिता श्रुतिश्च—"वासुदेवः सङ्कर्षणः प्रद्युम्नोऽनिरुद्धोऽहं मत्स्यः कूर्मो वराहो नरसिंहो वामनो रामो रामो रामः कृष्णो बुद्धः कल्किरहं शतधाहं सहस्रधाहममितोऽहमनन्तोऽहम्, नैवैते जायन्ते, नैते म्रियन्ते नैषामज्ञानबन्धो न मुक्तिः, सर्व एव ह्येते पूर्णा अजरा अमृताः परमाः परमानन्दाः" इति चतुर्वेदशिखायाम्। तथा च नृसिंहपुराणे—"युगे युगे विष्णुरनादिमूर्त्ति,-मास्थाय विश्वं परिपाति दुष्टहा" इति। तथा च नृसिंहतापन्यां तद्भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातम्—"एतदेव नृसिंहविग्रहं नित्यम्" इति। श्रुतिश्च सेयम्—"ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नृकेशरिविग्रहम्" इति। एवञ्च ब्राह्मपाद्मोत्तरखण्डादावपि श्रीमत्स्यदेवादीनां पृथक् पृथक् वैकुण्ठलोकाः श्रूयन्ते। "एवमेव जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्त्तिः" इति नारायणवर्माद्युक्तमपि सङ्गच्छते। तस्मात् स्वयं भगवति श्रीकृष्णेऽप्यन्यथासम्भावनमनादिपापविक्षेप एव हेतुः। तदेवमभिप्रेत्य तान् दुर्बुद्धीनपि बोधयितुं तस्य स्वोपास्यत्वं प्रतिपादयन्नाह (भा० २।४।२०)—

(८३) "पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां, प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः" इति।

कारण, आप विभु हैं, अर्थात् सर्वगत हैं। विभु वस्तु का अन्यत्र गमनागमन असम्भव है। सुतरां आविर्भाव हेतु स्थानान्तर से उनको आना नहीं पड़ता है, एवं तिरोधान के निमित्त भी उनको अन्यत्र जाना नहीं पड़ता है।

निखिल भगवत् स्वरूपों का नित्यत्व के सम्बन्ध में माध्वभाष्य प्रमाणित श्रुति इस प्रकार है—मैं वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध हूँ। मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, नरसिंह, परशुराम, राम, बलराम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि, प्रभृति शतसहस्र रूप में मैं आविर्भूत होता हूँ। उक्त रूपसमूह की वृद्धि, उत्पत्ति, मृत्यु नहीं है। अज्ञानबन्ध नहीं है, मुक्ति भी नहीं है। समस्त रूप-पूर्ण-अजर, अमृत, परमानन्दस्वरूप हैं। यह श्रुति—चतुर्वेश शिखा की है।

उस प्रकार श्रीनृसिंह तापनी में उक्त है—'दुष्टहा विष्णु, युग युग में अनादि मूर्त्ति प्रकट कर विश्व पालन करते हैं।' नृसिंहतापनी में भाष्यकार की व्याख्या भी उक्तानुरूप ही है—"एतदेव नृसिंहविग्रहं नित्यम्" नृसिंह विग्रह, ऋत, सत्य है, सत्य—समदर्शी, पर—सर्वोत्तम, ब्रह्म—विभु, पुरुष—पुरुषरत्न हैं।

ब्रह्मपुराण एवं पाद्मोत्तर खण्ड प्रभृति में श्रीमत्स्यदेव प्रभृति के पृथक् पृथक् धामों का वर्णन है। उक्त वर्णन की रीति से ही श्रीभागवतस्थ नारायण कवच की उक्ति सार्थक होती है। 'जलेषु मां रक्षतु मत्स्यमूर्त्तिः' मत्स्यादि मूर्त्ति की नित्यता स्वीकृत होने से ही 'जल के मध्य में मत्स्यमूर्त्ति भगवान् मेरी रक्षा करें' उक्ति की सङ्गति होती है। यदि मत्स्यदेव नित्य रूप में अवस्थित नहीं होते हैं, तब आप कैसे रक्षा करेंगे ?

जब निखिल भगवत् स्वरूप का ही नित्यत्व है, तब स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का नित्यत्व के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं हो सकता है। श्रीकृष्ण ही सर्वमूल हैं, उनकी सत्ता में ही सबकी सत्ता है। उक्त श्रीकृष्ण रूप के सम्बन्ध में अनित्यत्व बुद्धि किसी को हो-तो उसे अनादि पाप हेतुक ही जाननी होगी। दुर्बुद्धि परायण जनगणों की पापीयसी बुद्धि को जानकर ही श्रीकृष्ण को निजोपास्य रूप में स्थापन करने के निमित्त श्रीशुकदेव ने कहा है, भा० २।४।२०—

स्पष्टम् ॥ श्रीशुकः ॥

६४। तथा (भा० १०।२६।२५) "देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा" इत्यादौ "प्रीयान्न इन्द्रो गवाम्" इति। स्पष्टम् ॥ सः ॥

६५। तथा (भा० १२।११।२५)—

"श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्,-राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य्य।
गोविन्द गोपवनिताव्रजभृत्यगीत,-तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल पाहि भृत्यान् ॥"२११॥

"श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां प्रसीदतां मे भगवान् सतांपतिः ॥"

टीका—सर्वपालकत्वमनुस्मरन्नाह—श्रिय इति। गतिश्च सर्वापत्सु रक्षकः।

"अन्धक-वृष्णि-सात्वतगणों का पति, सद्गणों का पति श्रीभगवान् मेरे प्रति प्रसन्न होवे।" प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥६३॥

उक्त सिद्धान्त के अनुरूप भा० १०।२६।२५ श्लोक है—

"देवे वर्षति यज्ञ विप्लवरुषा वज्राश्मपर्षानिलैः
सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन्।
उत्पाट्यैककरेण शैलमबलोलीलोच्छिलीन्ध्रं यथा
विभ्रद्गोष्ठमपान्महेन्द्रमदभित् प्रीयान्न इन्द्रो गवाम् ॥"

टीका—"गोवर्द्धनोद्धरणं सपरिकरमनुस्मरन् प्रकटितैश्वर्य्यस्य श्रीकृष्णस्य प्रीतिं प्रार्थयन्ते देव इति। यज्ञविलपवेन या रुट् तया देवे इन्द्रे वर्षति सति वज्राश्मपर्षानिलै रशनिजलशर्करातीव्रवायुभिः सीदत्पाल-पशुस्त्रि आत्मशरणं—सीदन्तः पालाः पशवः स्त्रियश्च यस्मिंस्तत् तथा। आत्मा स्वयमेव शरणं यस्य तद्गोष्ठं दृष्ट्वा अनुकम्पी उत्स्मयन् हसन् प्रौढ़िमाविष्कुर्वन् शैलमुत्पाट्य अबलो बालो लीलार्थमुच्छिलीन्ध्रं यथा तथैकेन करेण विभ्रत् दधत् गोष्ठमपात् पालितवान् एवं महेन्द्रमदभित्। गवामिन्द्र इत्युत्तराध्यायार्थकं स्मरति। स एवम्भूतः श्रीकृष्णो नः प्रीयात् प्रीयतामिति।"

"इन्द्रयागानुष्ठान से व्रजवासिगण निवृत्त होने पर इन्द्र कुपित होकर प्रचण्ड वारिवर्षण प्रभृति के द्वारा व्रज में विलपव उपस्थित कर व्रजवासिजनगण को उत्पीड़ित करने से श्रीकृष्ण, व्रजवासिजनगण की रक्षा के निमित्त हँस हँस कर अनायास गोवर्द्धन गिरि को उठाकर हाथ में धारण किये थे।" उस लीला की वर्णना कर श्रीशुकदेव प्रार्थना कर रहे हैं—गोगण के इन्द्र—"गोविन्द, हम सबके प्रति प्रसन्न होवें।" इसमें सुस्पष्ट रूप से श्रीकृष्ण रूप में सपरिकर स्थिति की वर्णना है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥६४॥

उस प्रकार ही वर्णन भा० १२।११।२५ में है—

"श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्, राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य्य।
गोविन्द गोपवनिताव्रजभृत्यगीत,-तीर्थश्रवः श्रवणमङ्गल पाहि भृत्यान् ॥"

टीका—"यस्येदमुपासनमुक्तं तं श्रीकृष्णं प्रार्थयते—कृष्णसख—अर्जुनस्य सख। वृष्णिश्रेष्ठ। अवनिद्रुहो ये राजन्यास्तेषां वंशस्य दहन! अनपवर्गमीक्षणं वीर्य्यं यस्य। गोपवनितानां व्रजाः समूहाः भृत्या नारदादय स्तैर्गीतं तीर्थभूतं श्रवः कीर्त्तिर्यस्य। श्रवणमेव मङ्गलं यस्य।"

हे कृष्ण! हे अर्जुनसख! हे वृष्णि श्रेष्ठ! हे पृथिवी के विघ्नकारि राजन्य वंश विनाशक! हे अक्षीणवीर्य्य! हे गोविन्द! गोपवनितासमूह, एवं नारदादि ऋषिगण आपका पवित्र यशोगान करते हैं।

स्पष्टम् । श्रीसूतः ॥

९६ । अपि च स्वयमेव स्वविग्रहमेव लक्ष्योकृत्याह (भा० १०।३।३७-३८)—

"तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषानघे ।
तपसा श्रद्धया नित्यं भक्तया च हृदि भावितः ॥२१२॥
प्रादुरासं वरदराड़्युवयोः कामदित्सया ।
व्रियतां वर इत्युक्ते माहशो वां वृतः सुतः ॥"२१३॥

इत्युपक्रम्य (भा० १०।३।४१-४३)—

(९६) "अदृष्ठान्यतमं लोके शीलौदार्य्यगुणैः समम् ।
अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति श्रुतः ॥२१४॥
तयोर्वां पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात् ।
उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः ॥२१५॥
तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषाथ वाम् ।
जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति ॥"२१६॥ इति ।

अमुना श्रीकृष्णस्य मम प्रादुर्भावसमयेऽत्र प्रकाशमानेनैतेन श्रीकृष्णाख्येनैव । तृतीय इति तेनैव पूर्वं वरार्थं प्रादुर्भावितेनैव । अतएव पृश्निगर्भादित्वेनैव वपुषेत्यनुक्तत्वात्, न तु

आपका नाम श्रवण से भी मङ्गल होता है । निज भृत्यवर्ग की रक्षा आप करें ।"

श्रीशुकदेव की इस प्रकार प्रार्थना के समय, श्रीकृष्णलीला अप्रकट थी, उस समय भी अन्धकादि के पति रूपमें श्रीकृष्ण विद्यमान न होने से श्रीशुकदेव उन शब्दों से प्रार्थना नहीं करते । ऋषि त्रिकालदर्शी हैं । उनमें भ्रमादि दोष की आशङ्का नहीं है । श्रीकृष्ण लीला वर्णन में रत होकर प्रेमनेत्र से श्रीकृष्ण के लीलामय स्वरूप का निरीक्षण करके ही उन्होंने उस प्रकार प्रार्थना की है । प्रवक्ता श्रीसूत हैं ॥९५॥

अधिकन्तु श्रीकृष्ण, स्वयं ही निज विग्रह को लक्ष्य करके (भा० १०।३।३७-३८) में श्रीवसुदेव देवकी के प्रति कहे थे,—उस समय मैं तुम दोनों की तपस्या से सन्तुष्ट हो गया था । हे अनघे ! तपस्या, श्रद्धा एवं भक्ति के सहित नित्य तुम्हारे हृदय भावित होकर अभीष्ट बरदानार्थ बरदाताओं के मध्य में श्रेष्ठ मैं उस समय में ही प्रादुर्भूत होकर 'बर मांगो !' कहने पर तुम दोनों ने मेरे सदृश पुत्र बर मांगा । मैं एकबार जिसको बर प्रदान करता हूँ, उसको प्रति युग में ही उस प्रकार बर देता रहता हूँ । इस नियम से "शील औदार्य्य एवं गुणों से जगत् में अपर किसी को मेरे सदृश न देखकर मैं स्वयं ही तुम्हारा पुत्र बन गया । उस जन्म में मेरा नाम पृश्नि गर्भ हुआ । पुनर्बार मैं तुम्हारा पुत्र बना । उस समय अदिति कश्यप से मेरा जन्म होने से उपेन्द्र रूप में मेरी ख्याति हुई । खर्वाकृति को देखकर लोक मुझको वामन कहने लगे । यह तृतीय जन्म है, उस रूप में ही पुनर्बार तुम दोनों का पुत्र बना । हे सति ! मेरा वाक्य सर्वथा सत्य है ।

'अमुना वपुषा' इस देह से—इस प्रकार कहने का तात्पर्य्य यह है—मैं श्रीकृष्ण हूँ, प्रकाशमान देह ही मेरा है । उस प्रकार श्रीकृष्णाख्य देह से ही सुतपा—पृश्नि के प्रति प्रसन्न होकर उनके निकट मैं आविर्भूत हुआ था । बर प्रदान के निमित्त जिस देह से आविर्भूत मैं हुआ था, उस देह से मैं तुम दोनों

तदानीमधुनैव स्वयमेव बभूव, किन्त्वंशेनैवेति गम्यते। (भा० १०।६।२५) "पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान् परः" इत्यत्राप्येतदेव गोर्देव्या सूचितमस्ति। अतएव तृतीय एव भवे तत्सदृशसूतप्राप्तिलक्षणवरस्य परमपूर्णत्वापेक्षया तत्रैव 'सत्यं मे व्याहृतम्' इत्युक्तं चतुर्भुजत्वञ्चेदं रूपं श्रीकृष्ण एव; (भा० १०।३।११) "कृष्णावतारोत्सव-" इत्यादिभिस्तस्यात्यन्तप्रसिद्धेः॥ श्रीभगवान् श्रीदेवकीदेवीम्॥

९७। एवञ्च (भा० १०।३।८) "देवक्यां देवरूपिण्याम्" इत्यादि॥ स्पष्टम्॥ श्रीशुकः॥

का पुत्र बना। अतएव पृश्नि गर्भ एवं उपेन्द्रावतार के प्रसङ्ग में 'तेनैव वपुषा' इस प्रकार उक्ति न होने से तृतीयबार अर्थात् वर्त्तमान अवतार के समय ही स्वयं आविर्भूत हुये हैं। अपर जन्मद्वय में अंश से अवतीर्ण हुये थे।

कारण, भा० १०।६।२५ में उक्त है—"पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान् परः" पूतना के वक्षःस्थल से गोपिका कर्त्तृक समानीत श्रीकृष्णाङ्ग रक्षार्थ गोपिकाओं ने जो मन्त्र पाठ किया था, उसमें उपरोक्त मन्त्र है। "पृश्निगर्भ—तुम्हारी बुद्धि एवं पर भगवान् आत्मा की रक्षा करें।"

यहाँ पर भी गोर्देवी पृश्निगर्भ का अंशत्व एवं श्रीकृष्ण का स्वयं भगवत्त्व का प्रकाश करती है। उक्त मन्त्र में अंशरूप पृश्निगर्भ द्वारा अंश बुद्धि का, एवं पूर्ण भगवान् शब्द के द्वारा पूर्ण सत्ता का बोध होता है। अतएव तृतीय जन्म में हो बर दानार्थ आविर्भूत श्रीभगवान् के सदृश पुत्रप्राप्ति लक्षण बर की परम पूर्णता हेतु, उक्त प्रसङ्ग में श्रीभगवान् ने कहा—"मेरा वाक्य सत्य है"। यहाँ प्रष्टव्य है कि—श्रीदेवकी-वसुदेव के सहित जिन्होंने वार्त्तालाप किया, वह तो चतुर्भुज भगवान् हैं। श्रीकृष्णरूप का नित्यत्व प्रतिपादन प्रस्ताव में उक्त रूप का प्रसङ्गोत्थापन क्यों हुआ? उत्तर—चतुर्भुजधारी श्रीकृष्ण ही हैं, अपर कोई नहीं है। कारण, भा० १०।३।११ में श्रीशुकदेव ने उस रूप को 'कृष्णावतार' कहा है।

"सविस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा।
कृष्णावतारोत्सवसंभ्रमोऽस्पृशन्मुदा द्विजेभ्योऽयुताप्लुतो गवाम्॥"

भगवान् श्रीहरि को पुत्ररूप में आविर्भूत होते देखकर वसुदेव के नयनद्वय विस्मय से उत्फुल्ल हो रहे थे। कृष्णावतार उत्सव निबन्धन सम्भ्रम से आनन्दाप्लुत होकर उन्होंने ब्राह्मण को अयुत संख्यक धेनु दान किया। स्नान के बिना, दान सङ्कल्प समीचीन नहीं होता है। कैसे आपने दान दिया? उत्तर—'मुदा', आनन्द समुद्र में निमज्जित होकर आपने दान किया था। वह दान सङ्कल्पात्मक था, पश्चात् कंस बधान्त में यथारीति दानकार्य्य सम्पन्न हुआ था।

'कृष्णावतार' शब्द से जिनका उल्लेख है, वह शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं। उक्त रूप से ही आविर्भूत हुये थे।

श्लोक में 'सः' शब्द से श्रीकृष्ण रूप पुत्रप्राप्ति रूप सौभाग्य सूचित हुआ है। स—आनकदुन्दुभिः परम भाग्यवान् श्रीवसुदेव। हरि—श्रीकृष्ण, कंसादि असुरों का ज्ञान हरणकर्त्ता हैं।

श्रीभगवान् श्रीदेवकी के प्रति कहे थे॥९६॥

भा० १०।३।८ में भी उक्तानुरूप कथन दृष्ट होता है,—

"देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः। आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥"

वृहत्क्रमसन्दर्भः। अथ (भा० १०।२।१८) "काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः" इति पूर्वोक्ते र्न देवकी चिरं मनस्यैव दधार, अवतारसमयमासाद्य भगवान् तन्मनसो वहिर्बभूवुरतिशयं भवितुमिच्छुः प्राकट्य

मासेदिवानित्याह—देववयामित्यादि देवरूपिण्यामिति—देवी-भक्तिर्भगवती, तद्रूपिणीति पुंवद्भावः। भक्तावेव भगवत्प्रकाशनियमात्। विष्णुः व्यापकोऽपि सर्वेषु गुहाशयत्वेन वर्त्तमानोऽपि तस्यां यथा यथावत् याथार्थ्येन—श्रीकृष्णाख्य-स्वरूपेणाविरासीत्। क इव कस्याम्? इन्दुः प्राच्यां दिशीव, पूर्णत्वेनान्यत्र स्थितोऽपि चन्द्रः प्राच्यां दिश्येवोदयति, नान्यस्यामित्येव याथार्थ्यम्।

भा० १०।२।१८ में वर्णित श्लोक के अनुसार देवकी ने चिरकाल तक मन में धारण नहीं किया, किन्तु अवतार समय को प्राप्त कर भगवान् देवकी के मन में प्रकट हुए थे। उसको ही देववयां देवरूपिण्यां शब्द से कहा गया है। देवरूपिणी शब्द से देवी भक्ति—भगवती हैं, तद्रूपिणी इस प्रकार पुंवद्भाव हुआ है। भक्ति में ही भगवान् का नियत प्रकाश होता है। विष्णु व्यापक होकर भी समस्त गुहाशय हाकर वर्त्तमान होकर भी देवकी में यथार्थ रूप में अर्थात् श्रीकृष्णाख्य रूप में आविर्भूत हुये। कहाँ, किसके समान? इन्दु जिस प्रकार पूर्वदिक् में आविर्भूत होता है। पूर्बरूप में अन्यत्र विद्यमान होने पर भी चन्द्र, पूर्वदिक् में ही उत्पन्न होता है, अन्य दिक् में नहीं, उस प्रकार जानना होगा।

कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि की मध्यरात्रि में श्रीकृष्णाविर्भाव समय निर्दिष्ट है। उस समय भी षोड़श कलापूर्ण पूर्णचन्द्र उदित हुआ था, उसको व्यक्त कर कहने के निमित्त चन्द्र में 'पुष्कल' पूर्ण विशेषण युक्त हुआ है। उपमान उपमेय में सर्वत्र ही सादृश्य विद्यमान है। यहाँ सादृश्य हेतु चन्द्र के समान श्रीविष्णु में भी 'पुष्कल' विशेषण युक्त करना होगा। उससे दृष्टान्त स्थानीय चन्द्र जिस प्रकार षोड़श कला से पूर्ण प्रतीत होता है, उस प्रकार दार्ष्टान्तिक श्रीकृष्ण भी सर्वांशसमन्वित परिपूर्ण स्वरूप प्रतीत होते हैं।

वैष्णवतोषणी। नेदुर्दुन्दुभय इत्यादिकं कदा इत्यपेक्षायामाह—निशीथे अर्द्धरात्रे, कीदृशं? तम उद्भूते—तमसा उच्चैर्व्याप्ते, भू प्राप्तौ। भाद्रकृष्णाष्टमीत्वात् विशेषणञ्चेदं तत् कान्तिद्वारा तमोनाशेनापीन्दूपमा योजनाय तथाप्यद्भुतोपमेयम्। निशीथे पूर्णचन्द्रोदयादर्शनात्, तेनोपमा चेयं यथा कथञ्चिदेव, न त्वतियोग्येति ज्ञाप्यते। दुन्दुभिनादादौ हेतुः—जायेति। श्रीब्रह्मादिभक्तजन प्रार्थ्यमान प्राकट्ये तस्मिन् प्रकटी भवति, तत्प्राकट्यक्षण इत्यर्थः। कंसादीनां तत्तदज्ञानं गोकुले जायमानमाया-प्रभावेनैवेति ज्ञेयम्। अथवा अथेऽति, यर्हि यदा—अजनस्य कदाप्यन्यदा जातत्वेनाश्रुतस्य श्रीकृष्णस्य जन्मर्क्षं निजजन्मना स्वीक्रियमाणं तद्द्वापरान्तसमयविशेषगतरोहिण्याख्यमभूत्, तर्ह्येव तदारम्भ एव। सर्वस्य ऋत्वादेः कालस्य स्वस्य च ये गुणाः सुखदा धर्मास्तैरुपेतः सर्वशुभसमेतश्च कालोऽभूत्। तदिच्छायां जातायां दुर्घटघटनीभिः तच्छक्तिभिरेव वा, स्व-स्वभावेनैव वा तथा सम्पन्न इत्यर्थः। अजन—जन्मर्क्षमिति शब्दश्लेषमयसङ्केतनिर्देशे रहस्यत्वं सूचयति। तच्च तद्व्रतोत्सवमहिमार्थमिति ज्ञेयम्। सर्वगुणोपेतत्वं दर्शयति, शान्तर्क्षेत्यादिना। महीत्यर्द्धवर्जितेन मनांसि इत्यर्द्धान्तेन। तत्र सर्वगुणोपेतत्वं शान्तेति परमशोभनत्व जायमान इत्यादिना च मुमुचुरित्यर्द्धान्तेन महीत्यर्द्धेन महीत्यर्द्धेन च। अत्र दिक्प्रसादि-वायुपर्य्यन्तवर्णनम्। शरद्वसन्तादि-सम्बन्धिनां गुणानां दर्शकम्। जलरुहश्रिय इति रात्रौ च दिवस-सम्बधिना अग्नय इत्यादिनापद्यम्। तेषां सत्यादिसम्बन्धिनाम् उपलक्षणम्, 'चैतदन्यदीयानां मन्दं मन्दं' इत्यर्द्धं दिगन्ते वर्षागुणानां दर्शकं, दिश इत्याद्युक्तत्वान्मध्ये हि ते न सम्भवन्ति, अतो 'मन्दं जगर्ज्जुर्जलदाः पुष्पवृष्टिमुचो द्विजाः' इति वैष्णववाक्यं जन्मर्क्षारम्भसम्बन्ध्येव ज्ञेयमिति। अन्यत् समानम्। देवस्य भगवतोरूपमिव रूपं सच्चिदानन्दविग्रहः, तद्वत्यामिति तदुदराविर्भावेऽपि न कश्चिद् दोषः इति भावः।

विष्णुरूपिण्यामिति पाठोऽपि क्वचित्। सर्वगुहाशयः—दुर्गमत्वात् दुर्वितर्क्यत्वाच्च गुहेव गुहा, श्रीभगवत्स्थानं सर्वासु सर्वजीवान्तरलक्षणासु श्रीवैकुण्ठादिलक्षणासु गुहासु शेतेऽक्षुभिततया विहरतीति। पुष्कलः सर्वांशपूर्ण इत्यन्तर्य्यामित्वादिना हृदयादिषु वर्त्तमानैरंशैः सर्वैरेव सम्भूयावतीर्णः। अन्तर्य्यामिनामपि तदानीं श्रीदेवकीनन्दनत्वेनैव महत्सु स्फूर्त्तेः तथा च श्रीभीष्मवाक्यम्—'तमिहमहमजं

९८। ननु सत्यं तस्य चतुर्भुजाकाररूपस्य तादृशत्वम्, किन्तु (भा० १०।३।२८) "रूपञ्चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं, मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः" इति मातृविज्ञापनानुसारेण (भा० १०।३।४४)

"एतद्वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते॥"२१७॥

इति प्रत्युत्तरस्य (भा० १०।३।४६)—

"इत्युक्त्वासीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया।
पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥"२१८॥

इत्युक्तदिशा, यन्मानुषाकाररूपं स्वीकृतवान्, तत्र सन्दिग्धमिवाभाति। अत्र च भवतु बा

शरीरभाजां हृदि हृदिधिष्ठितमात्मकल्पितानाम् प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेद मोहः। (भा० १।९।४२) तथा च श्रीवैकुण्ठलोकाद्यधिष्ठातारोऽपि, ततस्ततः सम्भूयावतीर्णा इति श्रीहरिवंशाद्युक्तेन मुकुटमाहृत्य गोमन्थे श्रीगरुड़गमनादिना स्पष्टत्वादिति, एतच्च श्रीभागवतामृते विवृतमस्ति, न चात्र दोषः। स्व-स्वरूपेनैव परमविभौ तत्रैव निजसर्ववृत्तिं प्रकाश्य तत्तेजो निगूढ़तया तेषां स्थितत्वात्। तथा च श्रीमध्वाचार्य्यधृतं पाद्मवचनम् "सदेवो बहुधा भूत्वा निर्गुणः पुरुषोत्तमः। एकीभूय पुनः शेते निर्दोषो हरिरादिकृत्॥" इति। प्राचामिति दृष्टान्तेन सर्वत्र प्रकाशमानस्यापि श्रीदेवक्यामाविर्भावयोग्यतोक्ता। अतएव श्रीविष्णुपुराणेऽपि—"ततोऽखिलजगत् पद्मबोधायाच्युतभानुना देवकी पूर्वसन्ध्यायामाविर्भूतं महात्मना।" इति। आविर्भावश्च कंसवञ्चनाद्यर्थमष्टमे मासीति श्रीहरिवंशे—'गर्भकालेत्वसम्पूर्णे अष्टमे मासिते स्त्रियौ। देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा॥" इति।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं।।९७।।

संशय यह है कि—श्रीकृष्ण का चतुर्भुजरूप नित्य एवं सत्य है। किन्तु (भा० १०।३।२८) देवकीदेवी के वाक्यानुसार—"स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्न स्त्राहि त्रस्तान् भृत्य वित्रासहासि।
रूपञ्चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः॥" यह चतुर्भुज रूप ऐश्वरिक एवं ध्येय है, इसे लोकनयनगोचरीभूत न करो।

टीका—प्रस्तुतं विज्ञापयति 'स त्वमिति' भृत्यानां वित्रासं हन्तीति भृत्य वित्रासहा। भृत्यवदिति वाच्छेदः। पौरुषमैश्वरम्—ध्यानधिष्ण्यं ध्यानास्पदम्, मांसदृशां मांसचक्षुषां प्रत्यक्षं मा कृथाः।

इस प्रकार जननी के कथनानुसार प्रत्युत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा, (भा० १०।३।४४)—मैंने पूर्वजन्म की कथा स्मरण करवाने के निमित्त उस प्रकार रूप को दर्शाया है। अन्यथा नर बालक रूप में आविर्भूत मेरे प्रति ईश्वर ज्ञान नहीं होता।

टीका—"प्राक् प्रथमं तावदेतद्रूपं मे जन्मेति स्मरणाय ज्ञानाय दर्शितम्। मद्भवं—मद्विषयम्। अनन्तरं तदिच्छया बालोऽपि भविष्यामीति भावः।"

इस प्रकार कहकर श्रीहरि मौन धारण करके दर्शनरत पितामाता के सम्मुख में कृपापूर्वक प्राकृत शिशु हो गये। भा० १०।३।४६ में—

"इत्युक्त्वा सीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया। पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः॥"

श्लोक में प्राकृत शिशु अर्थात् मनुष्य शिशु बनने की कथा है। उसमें सन्देह होता है—एक तो नराकृति रूप, अपर उस रूप को प्राकृत शिशु शब्द से कहा गया है। प्राकृत वस्तु नश्वर है, अतः श्रीकृष्ण का नराकृति रूप अनित्य क्यों नहीं होगा? केवल यह ही नहीं अपितु भा० ३।४।२८ में उक्त है—

(भा० ३।४।२८) "हरिरपि तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः" इति, (भा० ३।४।२९) "त्यक्ष्यन् देहम्" इति च तन्त्रभागवतानुसारेणान्तर्द्धापनार्थत्वादसहायम्; (भा० १।१५।३४-३५)—

"ययाहरद्भुवो भारं तां तनुं विजहावजः।
कण्टकं कण्टकेनेव द्वयञ्चापीशितुः समम् ॥२१९॥
यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम् ॥"२२०॥

इति तु परिपोषकम्। एतदेव श्रीवसुदेववचनेऽपि लभ्यते (भा० १०।८५।२०)—

"निधनमुपगतेषु वृष्णिभोजेष्वधिरथ यूथप यूथपेषु मुख्यः।
सतु कथमवशिष्ट उद्धवो यद्धरिरपि तत्यज आकृति त्र्यधीशः ॥"

अधीरथ यूथप के यूथपति वृष्णि एवं भोजवंशीयगण ब्रह्मशाप द्वारा निधन प्राप्त होने से त्र्यधीश—ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर अथवा महत् स्रष्टा त्रय के अधीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण भी देहत्याग करने पर उद्धव कैसे जीवित रहा? परीक्षित् के प्रश्न में सुस्पष्ट उल्लेख है कि—"श्रीकृष्ण ने देह त्याग किया।

एवं भा० ३।४।२९ में—"ब्रह्मशापापदेशेन कालेनामोघवाञ्छितः
संहृत्य स्वकुलं स्फीतं त्यक्ष्यन् देहमचिन्तयत्।"

टीका—"ब्रह्मशापः अपदेशो मिषं यस्य तेन कालेन शक्तिरूपेण। अमोघं वाञ्छितं यस्य। नह्यत्र शापः प्रभुः, किन्तु भगवदिच्छैवेत्यर्थः।"

"ब्रह्मशापरूप छल को उद्भावन कर अव्यर्थ इच्छाशील श्रीप्रभु भगवान्, कालरूपिणी निज शक्ति के द्वारा अतिसमृद्ध निज कुल को विध्वंस कर आत्म-देह को परित्याग करने का उपाय अन्वेषण किये थे।" श्रीशुकदेव की इस उक्ति के सहित "आत्मदेह परित्याग हेतु उपाय अन्वेषण किये थे।" एवं 'तत्यज आकृतिं त्र्यधीशः' श्रीकृष्ण ने देहत्याग किया? श्रीपरीक्षित् प्रश्न के सहित 'अहेयमनुपादेयं यद्रूपं नित्यमव्ययम्। स एवापेक्ष्यरूपाणां व्यक्तिमेव जनार्दनः। अगृह्णाद्व्यसृजच्चेति कृष्णरामादिकं तनुम्। पठ्यते भगवानीशो मूढ़बुद्धिव्यपेक्षया। तमसा ह्युपगूढ़स्य यत्तमः पानमीशितुः। एतत् पुरुषरूपस्य ग्रहणं समुदीर्य्यते। कृष्णरामादिरूपाणां लोके व्यक्तिव्यपेक्षया।' इत्यादि तन्त्रभागवतोक्त कथन असंलग्न होता है। तन्त्रभागवत का कथन है—श्रीभगवान् देहत्याग नहीं करते हैं, उनका रूप ही स्वरूप है। सूर्योदय-अस्त में जिस प्रकार एकरूप स्वरूप ही दृष्ट होता है, एकसूर्य्य ही प्रकाश्य अप्रकाश्य रूप में अवस्थित हैं। उस प्रकार श्रीभगवान् अविकृत निज स्वरूप में अवस्थित होकर कभी लोकनयनगोचरीभूत होते हैं, कभी अगोचर में अवस्थित होते हैं। लोकनयनगोचरीभूत होने के समय जिस प्रकार स्वरूप उनका दृष्ट होता है, उस स्वरूप में ही आप अन्तर्द्धान करते हैं। मनुष्यवत् देह को छोड़कर नहीं। सुतरां उक्त भा० ३।४।२९, ३।४।२८ का देहत्याग विवरण—अन्तर्द्धान अर्थ प्रकाशक है। कारण अन्तर्द्धान अर्थ करने से ही श्रीकृष्ण रूप का अनित्यत्व प्रतिपादित नहीं होता है। श्रीमद्भागवत के १।१५।३४-३५ में वर्णित है,—"जन्मादि रहित श्रीकृष्ण, जिस तनु के द्वारा पृथिवी का भारापनोदन किये हैं। विद्ध कण्ठक को जिस प्रकार अपर कण्ठक से ही निकालते हैं, बाद में उसको भी छोड़ते हैं। उस प्रकार उन्होंने उस तनु का भी त्याग किया। कारण—भूभार एवं तनु उभय ही सर्वसंहारी ईश्वर के पक्ष में समान है, ईश्वर नट के समान मत्स्यादि रूप धारण एवं त्याग करते हैं।

श्रीसूत की यह उक्ति, श्रीकृष्ण के द्विभुजत्व रूप की परिपन्थी है। अर्थात् द्विभुज रूप अनित्य है।

"सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ, संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ।
नानातनूर्गगनवद्विदधज्जहा(सि, को वेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम् ।।" २२१।।

इत्यत्र । अत्रोच्यते—तत्तद्वचनमन्यार्थत्वेन दृश्यमिति । एकस्मिन्नेव तस्मिन् श्रीविग्रहे कदाचिच्चतुर्भुजत्वस्य कदाचिद्द्विभुजत्वस्य च प्रकाशश्रवणेनाविशेषापाताद्भूभारक्षपणे द्वयोरपि सामान्यात् । 'सूतीगृहे' इत्यादिवाक्यस्य चतुर्भुजविषयत्वाच्च । किञ्च, यैर्विद्वदनुभव-सेवितशब्दसिद्धैर्नित्यत्वादिभिर्धर्मैः श्रीविग्रहस्य परमतत्त्वाकारत्वं साधितम्, ते प्रायशो नराकारमधिकृत्यैव ह्युदाह्रियन्ते स्म द्वितीयसन्दर्भे । तथात्रैव चोपासकेषु साक्षात्कारादि-

भा० १०।५८।२० के श्रीवसुदेव की उक्ति से भी उक्त कथन पुष्ट होता है । उन्होंने कहा—"सूतिका गृह में तुमने कहा है कि—तुम जन्मरहित भगवान् हो, अजो हो, प्रति युग में धर्मरक्षार्थ अवतीर्ण होते हो, हे उरुगाय ! महाकीर्त्तिसम्पन्न ! तुम गगन के समान असङ्ग होकर भी विविध तनु ग्रहण एवं त्याग करते रहते हो । परमेश्वर ! तुम्हारी विभूतिरूपा माया को कौन जान सकते हैं ?"

उक्त श्लोकत्रय में श्रीकृष्ण का देहत्याग का विवरण सुस्पष्ट दृष्टान्त रूप से वर्णित है । अतः द्विभुज रूप का नित्यत्व प्रतिपादन करना कैसे सम्भव होगा ? उत्तर में कहते हैं—'अत्रोच्यते तत्तद्वचनमन्यार्थत्वेन दृश्यमिति ।

आपात दृष्टि से जिन वचनों के द्वारा श्रीकृष्ण का द्विभुज रूप की अनित्यत्व प्रतीति होती है, उन वाक्यसमूह का अन्यार्थ अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है । कारण, एकमात्र श्रीकृष्ण रूप ही कभी द्विभुज, कभी चतुर्भुज वर्णित है । उभय रूप में वैशिष्ट्य कुछ भी नहीं है । भूभार हरण में उभय की सामर्थ्य भी समभाव में ही है । सूतिका गृह की उक्ति चतुर्भुज विषयक है । उक्त वाक्य के अनुसार द्विभुज रूप को अनित्य मान लेने पर चतुर्भुज रूप को भी अनित्य मानना पड़ेगा । किन्तु चतुर्भुज रूप के नित्यत्व विषय में किसी की भी आपत्ति नहीं है । विशेषतः प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दोपमानार्थापत्ति अनुपलब्धि सम्भव एवं ऐतिह्य नाम से प्रमाण अष्टविध स्वीकृत हैं । श्रीमध्वाचार्य्य प्रभृति प्राचीन वैष्णवाचार्य्यगण प्रत्यक्ष अनुमान एवं शब्द को प्रमाण मानते हैं, तद्भिन्न प्रमाणसमूह को उक्त प्रमाणत्रय में अन्तर्भुक्त करते हैं । श्रीचैतन्य मतानुयायि वैष्णववृन्द, आप्तवाक्य रूप शब्दप्रमाण को निर्दोष प्रमाण मानते हैं । कारण, स्थल विशेष में प्रत्यक्षानुमान व्यभिचार दोषग्रस्थ होते हैं ।

आर्ष एवं श्रौत भेद से उक्त शब्द द्विविध हैं, तन्मध्य में श्रौत शब्दात्मक वेद प्रमाण ही एकमात्र तत्त्व निर्णायक है । परतत्त्व उपनिषद् वेद्य है । ऋषिगण के मध्य में पारस्परिक मतानैक्य के कारण, आर्ष—ऋषिवाक्य के द्वारा परतत्त्व निरूपण करना असम्भव है । वेदव्यास पुराणादि प्रणयन के द्वारा वेदार्थ का विस्तार किये हैं । अतः पुराण प्रभृति आदरणीय हैं । श्रुत्यात्मक शब्द नित्य है । प्रलय में भी ध्वंस वर्जित है, सृष्टि समय में भी उत्पन्न नहीं होता है, आविर्भूत होता है । भ्रमादि दोषविशिष्ट जीव का कर्त्तृत्व श्रुत्यात्मक शब्द में नहीं है । अतः श्रुत्यात्मक शब्द अभ्रान्त प्रमाण है ।

जिन्होंने श्रुति प्रतिपाद्य वस्तु का अनुभव किया है, उनको विद्वान् तत्त्वदर्शी नाम से कहते हैं, उनके अनुभूत शब्दावलि ही निर्दुष्ट प्रमाण हैं ।

अतः उक्त विद्वदनुभवसेवित शब्द प्रमाण के द्वारा प्रतिपादित श्रीकृष्ण विग्रह ही परमतत्त्व स्वरूप एवं अन्यनिरपेक्ष सत्ताक सर्वमूल है । इसका विशेष विवेचन द्वितीय सन्दर्भात्मक भगवत्सन्दर्भ में हुआ है ।

लिङ्गेन सिद्धनिर्द्देशेन च तदाकारस्यापि नित्यसिद्धत्वं दृढ़ीकृतम्। उदाहरिष्यते च सिद्धनिर्द्देशः (भा० ६।८।२०) "मां केशवो गदया प्रातरव्याद्,-गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः" इति। सम्प्रत्यन्यदपि तत्रोदाह्रियते। तत्र नित्यत्वं यथा (भा० १०।३८।७-८)—

(६८) "कंसोवताद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं, द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितोऽमुना हरेः।
कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः, पूर्वेऽतरन् यन्नखमण्डलत्विषा ॥२२२॥
यदर्च्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः, श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः।
गोचारणायानुचरैश्चरद्वने, यद्गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम् ॥"२२३॥

श्रीकृष्णविग्रह स्वरूपसिद्ध नित्यत्वादि धर्मसमलङ्कृत हैं। द्वितीय सन्दर्भ के यावतीय प्रमाण श्रीकृष्ण के नराकार विग्रह को लक्ष्य करके ही उत्थापित हुआ है।

श्रीभगवद्रूप का नित्यत्व स्थापन हेतु द्विविध विचार शैली अवलम्बनीय हैं। प्रथमतः, उपासकवृन्द की उपासना के द्वारा उक्त रूप प्रत्यक्ष हुआ है, अथवा नहीं? द्वितीयतः सिद्ध स्वीय रूप में उक्त स्वरूप किसी धाम में विराजित है, अथवा नहीं?

प्रथमोक्त रीति से विचार करने पर मायावादिगण कहेंगे—निर्गुण ब्रह्म, सत्वगुणोपहित होकर साधकवृन्द के समीप में उपास्य रूप में आविर्भूत होते हैं। वस्तुतः वह रूप नित्य नहीं है। साधक के निकट आविर्भूत होने के निमित्त तत्काल रूप ग्रहण करते हैं। तद्व्यतीत समय में तुरीय निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप में अवस्थित होते हैं। किन्तु सिद्धनिर्देश के द्वारा उक्त रूप की नित्य स्थिति सप्रमाणित होने पर, मायावादी स्वतः ही निरस्त होगा, एवं श्रीविग्रह का नित्यत्व प्रतिपादन अभ्रान्त रूप से होगा। यहाँ पर उभय विचार पद्धति के द्वारा ही श्रीकृष्ण रूप का नित्यत्व प्रतिपादन हुआ।

सिद्ध स्वरूप का उदाहरण भा० ६।८।२० में सुस्पष्ट है। "मां केशवो गदया प्रातरव्याद्, गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः" श्रीकेशव, मेरी रक्षा स्वीय गदा द्वारा प्रातःकाल में करें। वंशी वादनपरायण गोविन्द, आसङ्गव के समय में अर्थात् प्रत्युष के पश्चात् छै दण्ड काल में मेरी रक्षा करें।

सम्प्रति अपर उदाहरण का उट्टङ्कन करते हैं। नित्यत्व का उदाहरण भा० १०।३८।१-८ में है। श्रीकृष्ण को मथुरा में आनयन करने के निमित्त कंस कर्त्तृक प्रेरित होकर अक्रूर चिन्ता कर रहे थे। कितना आश्चर्य्य है? कंस, स्वभावतः अत्यन्त खल होकर भी मेरे प्रति अतिशय अनुग्रह किया है। कारण, उसके द्वारा प्रेरित होकर ही मैं भूतल में अवतीर्ण श्रीहरि का श्रीचरण दर्शन करूँगा। पूर्वकाल में श्रीअम्बरीष श्रीप्रह्लाद प्रभृति जिनके नखमण्डल की कान्ति के द्वारा संसार से उत्तीर्ण हुये हैं। भा० ९।४।१८ में "स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः"। भा० ९।४।२९ में "आरिराधयिषुः कृष्णं महिष्या तुल्यशीलया" श्रीअम्बरीष की श्रीकृष्णोपासना की वार्त्ता है। श्रीप्रह्लाद का विवरण भा० ७।४।३७—

"कृष्णग्रहगृहीतात्मा नवेद जगदीदृशम्"

"नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः" ३।४।३८

"मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा" ७।५।३० में है।

ब्रह्मादि देवगण जिनके चरणकमल की अर्चना करते हैं, स्वयं लक्ष्मीदेवी श्रीचरण सेवा करती हैं, भक्तवृन्द के सहित मुनिगण जिनके चरणारविन्द का ध्यान करते हैं, अनुचरवृन्द के निमित्त जो चरण वन में विचरण करता है, जो गोपियों के कुचकुङ्कुम रञ्जित है, मैं उन चरणकमलों का सन्दर्शन करूँगा।

अत्र 'पूर्वे' इत्यादिद्योतितं 'गोचारणाय' इत्यादिलब्धस्य स्फुटं श्रीनराकारस्यैव नित्यावस्थायित्वं लभ्यते ॥ श्रीमदक्रूरः ॥

९९। तथा (भा० १०।४७।६२)—

(९९) "या वै श्रियार्च्चितमजादिभिराप्तकामै-
र्योगेश्वरैरपि सदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।
कृष्णस्य तद्भगवतः प्रपदारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥"२२४॥

उक्त श्लोक में "कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः, पूर्वेऽतरन् यन्नखमण्डल त्विषा" का उल्लेख है। उससे प्रतीत होता है, द्वापर युग के पहले भी श्रीकृष्ण रूप में नित्य स्थिति रही, 'गोचारणाय' पदोल्लेख से विदित होता है कि—श्रीकृष्ण नराकार विग्रह में नित्य स्थित हैं।

कारण, द्विभुज श्रीकृष्ण ही श्रीवृन्दावन में गोचारण किये थे। चतुर्भुज श्रीकृष्ण कभी भी गोचारण नहीं किये हैं। उक्त श्लोक में प्रपञ्चाधिकारी ब्रह्मा का उल्लेख उपासक रूप में होने से प्रतीत होता है—श्रीकृष्ण की उपासना श्रीब्रह्मा के ऊर्द्ध्वतन एवं अधस्तन समस्त व्यक्ति करते हैं।

लक्ष्मीदेवी का उपासक रूप में नामोल्लेख के कारण—वैकुण्ठ निवासी परिकरगण का उपास्य भी श्रीकृष्ण हैं। कारण—वैकुण्ठेश्वर की वक्षोविलासिनी लक्ष्मी का उपास्य श्रीकृष्ण होने पर अन्यान्य परिकरगणों का उपास्य भी श्रीकृष्ण ही हैं।

मुनिगणों का उल्लेख उपासक रूप में होने से प्रपञ्चस्थ निखिल भक्तवृन्दों का उपास्य श्रीकृष्ण ही हैं। कारण मुनिवर्य्यों का अनुसरण भक्तगण करते हैं। आगमोक्त विधि के द्वारा ब्रह्मादि देवगण, श्रुति-स्मृति-पञ्चरात्र के अनुसार प्रपञ्चान्तर्वर्त्ती मुनि एवं भक्तगण, एवं वैकुण्ठस्थ श्रीलक्ष्म्यादि परिकरगण प्रीति भक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण की उपासना करते हैं।

अनन्तर श्रीगोकुल का सौभाग्यातिशय का वर्णन निबन्धन कहते हैं—गोचारण के निमित्त जो चरण वन वन में विचरण रत है। अर्थात् आगमादि शास्त्रावलम्बन से ब्रह्मादि देव, मुनि प्रभृति भक्तवृन्द हृदय में जिन चरणों का ध्यान करते हैं, अर्थात् ध्येय एवं अर्चनीय जो चरण है, वह चरण श्रीगोकुल के वन में विचरणरत है। केवल वह ही नहीं अपितु जिन श्रीचरणों के निर्माल्य भक्तवृन्द मुनिगण, लक्ष्म्यादि परिकरगण, ब्रह्मादि देवगण आदरपूर्वक मस्तक में धारण करते हैं, वह चरण 'गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम्' है। गोपिगणों के कुचस्थ कुङ्कुमरूप निर्माल्य कुसुमों के द्वारा अर्चित नहीं है, किन्तु अङ्कित है, सुशोभित है। अर्थात् जो चरण अर्चनकारियों का सौभाग्य वर्द्धक है, उन चरणों का समृद्धि वर्द्धक गोपियों का कुचकुङ्कुम है।

श्रीकृष्ण का पितृव्य वर्षिष्ठ श्रीअक्रूर थे। आपने रहो लीलाव्यञ्जक कुचकुङ्कुम का प्रसङ्ग उत्थापन क्यों किया? उत्तर—देवर्षि श्रीनारद के मुख से प्रेमपराकाष्ठामयी रासलीला का श्रवण श्रीअक्रूर ने किया था। अतः प्रेममाधुर्य्यव्यञ्जक रूप में ही उस लीला का स्मरण आपने दिया था। किन्तु शृङ्गारोद्दीपक रूप से नहीं। अन्यथा उक्ति दोषदुष्टा होगी। अथवा, वात्सल्यरसानुभावक रूप में उक्त कथन हुआ है। अति बालक श्रीकृष्ण को अङ्क में स्थापन करते समय वर्षीयसी गोपिका के वक्षस्थ कुङ्कुम के द्वारा श्रीकृष्णचरण अनुरञ्जित होता था। उक्ति श्रीमदक्रूर की है ॥९८॥

उस प्रकार ही उद्धव महाशय की अपर उक्ति भा० १०।४६।६२ में है—

'सदा' भूत वर्त्तमान-भविष्यत्कालेषु श्र्यादीनां सर्वदावस्थायित्वेन प्रसिद्धेः, सदेत्यस्य तथैव ह्यर्थप्रतीतिः, सङ्कोचवृत्तौ कष्टतापत्तेः, श्रीभगवति तादृशत्वासम्भवाच्च। तथा च श्रीगोपालतापनीश्रुतौ (पू० ३७)—"गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुह-तलासीनं सततं समरुद्गणोऽहं तोषयामि" इति ब्रह्मवाक्यम्। तदुत्तरतापनीश्रुतौ श्रीगोपीः प्रति दुर्वाससो वाक्यम् (उ० २३)—"जन्मजराभ्यां भिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्योऽयं योऽसौ सौर्ये तिष्ठति, योऽसौ गोषु तिष्ठति, योऽसौ गाः पालयति, योऽसौ गोपेषु तिष्ठति, स वो हि स्वामी भवति" इति॥ श्रीमदुद्धवः॥

१००। एवञ्च, (भा० १०।१२।१२)—

(१००) "यत्पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो, धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः, किं वर्ण्यते दिष्टमहो व्रजौकसाम्॥"२२५॥

"या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामैर्योगेश्वरैरपि सदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।
कृष्णस्य तद्भगवतः प्रपदारविन्दं न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्॥"

क्रमसन्दर्भः। "तत्र या वै श्रियार्चितमित्यत्र, तथापि श्रियायत्तदप्राप्तिस्तत् खल्वेतासामिव तस्या अनन्यत्वाभावादिति भावः।"

बृहत्क्रमसन्दर्भः। औत्कण्ठ्यात् पुनरेव तासां महिमानं प्रकटयन्नाह—या वै इत्यादि। श्रियार्चितम्, तथा अजादिभिस्तथाप्तकामैर्योगेश्वरैरपि, तत्रापि सदा, तत्राप्यात्मनि मनसि, नतु साक्षात्तत् कृष्णस्य प्रपदारविन्दं रासगोष्ठ्यां स्तनेषु न्यस्तं कृत्वा परिरभ्य यास्तापं जहुः, तासां चरणरेणुजुषामिति पूर्वेणैवान्वयः। तस्मात् (६१तम श्लोके) "वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्" इति साधूक्तम्।

श्रीउद्धवोक्ति यह है—'लक्ष्मीदेवी, ब्रह्मादि देवगण, आत्माराम भक्तवृन्द, एवं शुद्धभक्तसमूह, योगिगण जिनकी मानसिक अर्चना सर्वदा करते हैं, गोपिगण—रासगोष्ठी में स्वीय स्तनोदर उन श्रीचरण कमल को आलिङ्गन कर ताप शान्त किये थे।'

श्लोकोक्त 'सदात्मनि' स्थित 'सदा' शब्द का अर्थ—भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान काल है। लक्ष्मी प्रभृति की सर्वदा अवस्थिति की वार्त्ता सुप्रसिद्ध है। अतएव उन सबके उपास्य की नित्य स्थिति भी स्वतःसिद्ध है। 'सदा' पद से नित्य स्थिति रूपार्थ ही प्रतीत होता है। सङ्कुचित वृत्ति के द्वारा उक्त सदा पद का अन्यार्थ करना असम्भव है। अर्थात् प्रकट समय में श्रीकृष्ण द्विभुज रूपमें उपास्य हैं, अपर समय में नहीं, इस प्रकार अर्थ सदा पद से नहीं हो सकता है। कारण उस प्रकार अर्थ सदा पद से करने में कष्ट कल्पना करनी पड़ेगी, एवं श्रीभगवान् में त्रिकाल विद्यमानता का अभाव कभी भी नहीं हो सकता है। श्रीगोपालतापनी श्रुति में भी श्रीब्रह्मा का वाक्य श्रीमद्भागवतीय वाक्यानुरूप है। "वृन्दावनस्थ कल्पतरु के तलदेश में अवस्थित सच्चिदानन्दविग्रह श्रीगोविन्द को मरुद्गण के सहित मैं निरन्तर सन्तुष्ट करता रहता हूँ। उत्तर तापनी में गोपी के प्रति दुर्वासा का वाक्य भी इस प्रकार है—"जन्म-जरारहित अच्छेद्य एवं स्थिर वह है। जो यमुनातीरस्थ श्रीवृन्दावन में अधिष्ठित हैं, धेनुवृन्द के मध्य में जो विराजित हैं, गोपालन ही जिनका व्रत है, गोपगणों के मध्य में जो विराजित हैं, वह ही तुम सबके अध्यक्ष हैं। यह कथन श्रीमदुद्धव का है॥९९॥

नराकार विग्रह ही श्रीकृष्ण का स्वरूप है, उसका वर्णन भा० १०।१२।१२-स्थ श्रीशुक वाक्य में है।

अत्र 'स्वयम्' इत्यनेन तु वाढ़मेवान्यथाप्रतीतिर्दुर्धियां निरस्ता। 'स्थित' इति वर्त्तमाने क्तः, (महा० ना० ६।५) "यच्च किञ्चिज्जगत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" इतिवत्॥ श्रीशुकः॥

"यत्पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो, धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः, किं वर्ण्यते दिष्टमहो व्रजौकसाम्॥"

वृहत्क्रमसन्दर्भः। "इदानीं वयस्यबालकानां सौभाग्यं तावदतिदुर्लभमेव, तदास्तां दूरे, व्रजवासिमात्रस्यैव सौभाग्यं वर्णनीयं न भवतीत्याह—यत्पादपांशुरित्यादि। बहुजन्मकृच्छ्रतो—बहुजन्मकृततपस्यातो हेतोर्बहुजन्मकृच्छ्रेन वा, धृतो निगृहीत आत्मा मनो यैस्तथाभूतैरपि योगिभिर्यत्पादपांशुरप्यलभ्यः, स एव येषां दृग्विषयः, सन् स्थितः, वर्त्तमाने क्तः, स वत्तमानो नित्यप्रवृत्तः। एतेन व्रजस्थत्वस्य नित्यत्वम्, अन्यथा दृग्विषय इत्यनेनैव सिद्धेः, स्थित इत्यधिकपदं स्यात्। तत्र कारणान्तरं नानुसन्धेयमित्याह—स्वयं स्वेच्छयैव, अथवा, स्वयं स्वरूपेणैव। अहो विस्मये, व्रजौकसां दिष्टं भागधेयं किं वर्ण्यते? वर्णनीयं न भवतीति शेषः।"

अनेक जन्म यावत् यमनियमादि अनुष्ठान के द्वारा संयतचित्त योगिगण जिनकी चरणरेणु प्राप्त करने में असमर्थ हैं, उन श्रीभगवान् स्वयं ही व्रजवासियों के नयन सन्निधान में निरन्तर अवस्थित हैं। उन सब व्रजवासियों की अनिर्वचनीय सौभाग्य कथा का वर्णन कैसे हो सकता है?

उक्त श्लोक में व्रजवासिगणों के सहित श्रीकृष्ण का नित्य विचित्र विहार सौभाग्य वर्णित है। व्रजवासिगण सतत जिनके सहित विहार करते हैं, एतद्व्यतीत अपर महद्व्यक्तिगण उन श्रीकृष्ण का दर्शन सौभाग्य प्राप्त करने में अक्षम हैं, उसको कहते हैं—'यत्पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतः' जिनके चरणसम्बन्धी चरणरेणु, अथवा दास्यभक्ति का यत्किञ्चित् सम्बन्ध, किम्वा पादप, श्रीवृन्दावनस्थित कदम्बादि वृक्ष प्रभृति की अंशु किरणच्छटा, अथवा पदयुगल पान, अर्थात् सप्रेमनिरीक्षणशील भक्तवृन्द की अंशु—किरणच्छटा, बहुजन्म पर्य्यन्त यमनियमादि द्वारा संयतचित्त समाधियुक्त योगियों के अलभ्य हैं। उन भगवान् स्वयं ही, स्वरूपान्तर से नहीं, किम्वा स्व-स्वरूप में—श्रीनन्दनन्दन रूप में, व्रजवासि जनगण के निकट निज निज स्वरूप में परिचित होकर नित्य विराजमान हैं। अहो! उन सब व्रजवासियों का कैसा विचित्र उत्सव है!

वैष्णवतोषणी—"अहो दूरे तावदास्तामेषां तेन सह निरन्तरविचित्रविहारसौभाग्यमहिमा, व्रजवासिमात्राणामपि तद्दर्शनमात्रसौभाग्यमपि, परममहद्भिरप्यन्यैरलभ्यमित्याह—यदिति, यस्य पादसम्बन्धी कुत्रापि पतितः पांशुरेकोऽपि साक्षात् स एव, किम्वा, यस्य पादपः श्रीवृन्दावनकदम्बादिवृक्षः। यद्वा, यस्य पादौ पिवन्ति, स निरीक्षणा इति भक्तविशेषस्तेषामंशुर्दूरतः किरणच्छटाविक्षेपैः धृतः स्थिरीकृत आत्मा मनो यैः, अतो योगिभिः समाधियुक्तैरपि अलभ्यः, लब्धुमशक्यः स एव स्वयं स्वभावतः स्वरूपतो वा स्थितः, स्थिरतया नित्यमस्ति, 'यच्च किञ्चिज्जगत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' इतिवत्। अहो आश्चर्य्ये, तेषां दिष्टं भाग्यम्, यद्वा, दिष्टस्य महोविचित्रोत्सवः किं वर्ण्यते—वर्णयिष्यते? अपितु वर्णयितुं न शक्यते' इत्यर्थः।"

यहाँ पर द्विभुज श्रीकृष्ण का ही वर्णन हुआ है। कारण, व्रज में द्विभुज रूप में लीला करते हैं। श्लोक में 'स्वयं स्थितः' पद का प्रयोग हुआ है। उससे दुष्टबुद्धिसम्पन्न व्यक्तिगण की—'द्विभुज रूप की अनित्यत्व प्रतीति' का निरास हुआ है।

महानारायणोपनिषत् में उक्त है—जागतिक जो भी वस्तु हैं, सब में श्रीनारायण नित्य रूप में स्थित हैं। उस प्रकार ही व्रज में श्रीकृष्ण अवस्थित हैं।

'स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः' स एष येषां दृग्विषयः सन् स्थितः वर्त्तमानेक्तः, स वर्त्तमानो

१०१। अतएव स्वभावसिद्धत्वं पूर्णैश्वर्य्याद्याश्रयत्वञ्च, (भा० १०।४४।१४)—

(१०१) "गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं, लावण्यसारमसमोर्द्ध्वमनन्यसिद्धम्।
दृग्भिः पिवन्त्यनुसवाभिनवं दुराप,-मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥"२२६॥

'अनन्यसिद्धम्' अन्येन तत् सिद्धमिति न, किन्तु स्वाभाविकमेवेत्यर्थः। अन्यत्रासिद्धमिति तु व्याख्यानं पिष्टपेषणम्। 'असमोर्द्ध्वम्' इति युक्तमेव, तदिदञ्च तासां वाक्यं श्रीशुकदेवादिभिः स्वयमनुमोदितमिति नान्यथा मन्तव्यम्॥ मथुरापुरस्त्रियः परस्परम्॥

१०२। अथ विभुत्वम् (भा० १०।९।१३) "न चान्तर्न वहिर्यस्य" इत्यादौ। प्राकृत-

नित्य प्रवृत्तः। एतेन व्रजस्थत्वस्य नित्यत्वम्, अन्यथा दृग्विषय इत्यनेनैव सिद्धेः, स्थित इत्यधिकपदं स्यात्।" (वृ० क्र० स०)

'स्थितः' पद प्रयोग से श्रीकृष्ण रूपमें व्रज में नित्य स्थिति सूचित हुई है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं॥१००॥

अतएव श्रीकृष्ण की नराकृति ही स्वभावसिद्ध एवं पूर्णैश्वर्य्यादि का आश्रय है। उसका वर्णन भा० १०।१४।१४ में है,—मथुरा नागरीगण परस्पर को कहती हैं, गोपीगण की कैसी अनिर्वचनीया तपस्या रही, जिससे वे सब श्रीकृष्ण के नित्य नवीन मनोहर स्वरूप का दर्शन अतृप्त नयनों से करते रहते हैं। वह रूप लावण्य का सार तो है ही, उसके समान अथवा अधिक लावण्यशाली अपर कोई नहीं है। वह रूप अनन्यसिद्ध है, यशः ऐश्वर्य्य एवं लक्ष्मी का एकान्त आश्रय है, वह अतिशय दुर्लभ भी है। अनन्यसिद्ध अर्थात् अपर के द्वारा निर्मित नहीं है, किन्तु स्वाभाविक है। अन्यत्र असिद्ध है, उस प्रकार व्याख्या पिष्टपेषण मात्र ही है। कारण उसका प्रकाश असमोर्द्ध्व पद से ही हुआ है।

उन सबके वाक्य का अनुमोदन श्रीशुकदेव प्रभृतियों ने किया है। उस विषय में सन्दिहान होना समीचीन नहीं है।

निरन्तर रूप पान करने की जो वार्त्ता है, उससे रूप का अक्षयत्व एवं उक्त रूप सुधापान से व्रजसुन्दरीगणों की अतृप्ति सूचित हुई है। अनन्त भगवदवतार सुप्रसिद्ध होने पर भी श्रीकृष्ण के ही रूपलावण्य अत्यधिक रूप से वर्णित क्यों हुये हैं? कहते हैं—असमोर्द्ध्व है, अर्थात् अनन्त भगवत्स्वरूप के कोई भी स्वरूप श्रीकृष्ण के समकक्ष होने में सक्षम नहीं हैं। यदि अन्यत्र उस प्रकार रूप की सम्भावना ही नहीं है तो उस रूप की प्राप्ति श्रीकृष्ण में कैसे हो सकती है? उत्तर,—यह उनका स्वाभाविक है, सुतरां वह रूप नित्य है। सुतरां जिस रूप की उत्पत्ति नहीं है, उसका विनाश भी नहीं है।

मथुरापुरस्त्रियों की पारस्परिक उक्ति है॥ ०१॥

श्रीकृष्ण का नराकृतित्व स्थापन के अनन्तर विभुत्व का प्रतिपादन करते हैं। भा० १०।९।१३ में वर्णित है—"न चान्तर्न वहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्। पूर्वापरं वहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः॥"

जिनका भीतर नहीं है, बाहर नहीं है, पूर्व नहीं है, पर नहीं हैं। जो जगत् के पूर्वपर, अन्तर-बाहर, तथा स्वयं ही जगत्स्वरूप हैं। कौतूहल की वशवर्त्ती होकर दधिभाण्ड भेदन एवं नवनीतापहरण रूप चपलता को देखकर 'पुनर्बार चापल्य न करे' इस प्रकार विचार कर निज तनय को यशोदा ने बंधी थी। उस लीला को देखकर विस्मित चित्त से श्रीशुकदेव ने कहा—'अहो! यशोदा का ममत्व का कैसा अनिर्वचनीय प्रभाव है। जो सर्वव्यापक, सर्वकारण, सर्वस्वरूप वस्तु को बन्धन करने में प्रवृत्त है! सर्वव्यापकता हेतु उनका बाहर नहीं है। रज्जु, उनकी जगच्छक्ति की अंशांशभूत है, उससे उनका बन्धन असम्भव है।

वस्त्वतितिरस्कृतत्वम् (भा० १०।६०।४५) "त्वक्श्मश्रुकेशनखरोमपिनद्धम्" इत्यादौ स्पष्टम्। स्वप्रकाशलक्षणत्वम् (भा० १०।१४।२)—

(१०२) "अस्यापि देववपुषो मदनुग्रहस्य, स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण, साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥"२२७॥

बृहद्क्रमसन्दर्भः। "अथ कौतुकेन दधिभाण्डभेद-नवनीतापहारचापलजातकोपा व्रजेश्वरी पुनरेवं चापल्यं मा करोत्विति स्वतनयं विनिनीर्षुर्दाम्ना बबन्धेति तस्य लीलान्तरं दर्शयति—न चान्त र्न बहिरित्यादि। यस्य न चान्तः प्राकृतवद् धातुसम्बन्धः, न बहिरित्यन्तर्वहिरेकस्वरूपत्वम्। अथवा, अन्तरङ्गावहिरङ्गा न यस्य सर्वसमम्, न पूर्वं, न प्राक्, न चापरं न पश्चात्, (भा० २।९।३२, ६।४।४७) 'अहमेवासमेवाग्रे' इति स्वोक्तेः। अथच यो जगतः पूर्वापरश्च वहिश्च। अनादित्वात् पूर्वः, अनन्तत्वादपरः, पर इत्यर्थः। अपावृतत्वाद् वहिर्जगतो यो जगच्च, जगदाधारत्वात्। एवम्भूतं तं श्रीकृष्णं विग्रहं कथं बध्नात्विति पूर्वोक्तमतद् वीर्य्यकोविदत्वं व्रजेश्वर्य्या वात्सल्येनैव कृतम्, नत्वज्ञानेन।"

पृथिवी-जल-अग्नि-वायु-आकाश पञ्चभूत हैं, उससे उत्पन्न शरीर एवं शरीरस्थ त्वक्, श्मश्रु प्रभृति मन, बुद्धि एवं अहङ्कार है। श्रीकृष्ण विग्रह प्राकृत वस्तु से अतिरिक्त है। श्रीकृष्ण विग्रह में प्राकृत वस्तु का समावेश नहीं है, उसका कथन श्रीरुक्मिणीदेवी के वाक्य से हुआ है।

"त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम्।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढ़ा या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री॥" (भा० १०।६०।४५)

बृहत्क्रमसन्दर्भः। व्यतिरेकमाह—त्वक्श्मश्रुरोमेत्यादि। त्वद्विग्रहस्य सान्द्रानन्दमयत्वात् अतस्त्वत्पदाब्जमजिघ्रती जीवच्छवं जीवन्मृतं भजति। या तु जिघ्रति, सा तु जीवच्छवान् त्वदितरान् पतीन् न कामयते।

जो स्त्री आपके पादपद्म का आघ्राण ग्रहण करने असमर्थ है, उस मूढ़मति स्त्री, त्वक्, श्मश्रु, रोम, नख एवं केश द्वारा आच्छादित एवं भीतर में मांस, अस्ति, रक्त, कृमि, विष्ठा, वात, पित्त, कफ पूरित जीवितशव देह का भजन कान्त बोध से करती है।" इस वाक्य में प्राकृत पुरुष देह एवं श्रीकृष्ण विग्रह में मूलतः जो पार्थक्य है, उसका वर्णन है। श्रीकृष्ण विग्रह में त्वक्, श्मश्रु, प्रभृति प्राकृत वस्तु का समावेश नहीं है। उनके निखिल अवयव स्वरूपभूत ज्ञानानन्दघन है।

श्रीकृष्ण के नराकृति वपु ही स्वप्रकाश स्वरूप है, उसका वर्णन भा० १०।१४।२ में है,—

"अस्यापि देववपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशेमहित्ववसितुं मनसान्तरेण, साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥"

टीका—ननु नौमि प्रतिज्ञाय किं स्वरूपानुवादमात्रं क्रियते अत आह—अस्यापीति। भो देव! अस्यापि सुलभत्वेन प्रकाशितस्यापि तव वपुषोऽवतारस्य महि—महिमानम्, अवसितुं—ज्ञातुं, कोऽपि—को—ब्रह्मा, अहमपि नेशे—न शक्नोमि। यद्वा, कश्चिदपि नेशे—न समर्थ आसीत्, सुलभत्वाय विशेषणद्वयम्। मदनुग्रहस्य मम अनुग्रहो यस्मात्—तत् मदनुग्रहं, तस्य, किञ्च, स्वेच्छामयस्य, स्वीयानां—भक्तानां यथा यथा इच्छा तथा तथा भवतः। तर्हि किमिति ज्ञातुं न शक्यते, अत आह—ननु भूतमयस्य, अचिन्त्यशुद्धसत्त्वात्मकस्य यदा अस्यैव, तदा कथं पुनः साक्षात् तव, केवलस्य आत्मसुखानुभूतेरेव—स्वसुखानुभवमात्रस्यावतारिणां गुणातीतस्य महिमानम्, आन्तरेण—निरुद्धेनापि मनसा को ज्ञातुं समर्थो भवेत्। अथवा भूतमयस्य—अपितु विराड्रूपस्य तव, तन्नियम्यस्य वपुषो महिमानमेवावसितुं कोऽपि नेशे, तदा साक्षात् तवैवास।धारणस्य नियम्यनियन्तृभेदरहितस्योक्तलक्षणस्य अस्य महिमानमवसितुं

अस्य (भा० १०।१४।१) "नौमीड्य ते" इत्यादिना वर्णितलक्षणस्य श्रीमन्नराकारस्य तव

कोऽपि नेश इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः।

"नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तड़िदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजेकवलवेत्रविषाणवेणु लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥" भा० १०।१४।१ में

भीत होकर स्तव आरम्भ कर क्या स्वरूप का अनुवाद ही कर रहे हो? उत्तर में ब्रह्मा ने कहा—हे ईड्य! स्तवनीय आपको प्रसन्न करने के निमित्त आपका स्तव कर रहा हूँ। आप नवनीरद के सदृश हैं, वसन भी आपका विद्युत् सदृश पीतिम्नारञ्जित है। कर्ण में गुञ्जा का कर्णभूषण है। मयूरपिञ्छ की चूड़ा के द्वारा मुखमण्डल अतिशय सुशोभित है। वनमाला, कवल 'दध्योदन ग्रास' वेत्र, शृङ्ग, वेणु इत्यादि चिह्न द्वारा आपकी अतीव शोभा वर्द्धित हो रही है। आपके चरणयुगल अतिशय मृदुल हैं, आप गोपराज श्रीनन्द के आत्मज—पुत्र हैं।

वैष्णवतोषणी। अस्यापीति—तैर्व्याख्यातम्, तत्र नन्वित्याद्यन्ते उत्कर्षवर्द्धनमेव हि स्तुतिर्नामेति हेतुरध्याहार्य्यः। तव वपुष इति चतुर्थचरणादत्रापि तवेति योजनया साधितम्, तवयद्वपुषः कश्चिदप्य-वतारस्तस्येत्यर्थः। कीदृशस्यापि तस्य? तत्राह—अस्यापीति। जगति सुलभत्वेन प्रकाशितत्वात् तत्रेदन्तानिर्देशं प्राप्तस्येत्यर्थः। मदनुग्रहस्येति—मदीय सृष्टिपालकत्वादिति भावः। तदेतन्मते तु ननु भूतमयस्येति तवर्गपञ्चमद्वयादिभागमय एव पाठः। नतु पञ्चमप्रथमादिभागमयः।

ननु वा तत् प्रथमपञ्चमादिभागमयः। उत्तरव्याख्यायां तयोर्नतु तन्वोरस्पर्शात्, तस्मात् प्रथम-व्याख्यायां 'नतु' इति व्याख्यातं, तत् खलु नुकारस्यैव तुकारार्थतया स्वीकाराज्ज्ञेयम्। "नेशे महित्वमवसितुम्" इत्यस्मान्नञा योजनया वा, अत्र नुस्तु वितर्कार्थो ज्ञेयः। द्वितीयार्थे ननु निश्चयार्थो ज्ञेयः, नन्विति तवर्गपञ्चमान्तपाठस्तु टीकायां मूले च प्रायः सर्वत्र दृश्यते। तस्मादथवेत्यस्य पाठान्तर इत्येवार्थो ज्ञेयः। साक्षात्तवेति—स्वयं भगवतस्तवेत्यर्थः। केवलस्येत्येवकारव्याख्या तत्तदवतारानतीत्यविराजमानस्येत्यर्थः। गुणातीतस्येति—तत्र च पुरुषत्रिदेवीवत्, नतु त्रैगुण्य-तत्तद्गुणपरिच्छिन्नाधिकारस्येत्यर्थः। स्वसुखानुभूतिमात्रस्यापि तत्तदवतारित्वं महिमवत्त्वञ्च, 'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' (श्रीवृ० आ० ४।३।३२) इति, 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै० ७।१) इति। 'परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे० ६।८) इति श्रुतिप्रामाण्येन अवगम्यते, न च निर्विशेषतया तदाविर्भावविशेषस्य ब्रह्मण एव दुर्ज्ञेयताधिक्यम्, अत्र प्रतिपाद्यते। 'तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते' (भा० १०।१४।६) इत्याद्युत्तरवाक्यद्वये सविशेषस्यैव तदाधिक्य व्याख्यास्यते।

अथवेति—अथ विराड् रूपस्यापि दुर्ज्ञेयेत्वोल्लेखः, स्वयं तु भगवति तस्मिन् परमकैमुत्यं प्रतिपादयति स्म। अस्मिन्नेव पक्षे तनु भूतमयस्येति चित्सुखपाठः सङ्गच्छते। तनुभिः सूक्ष्मैः आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तं-र्व्याप्तत्वादिति हि तद्व्याख्या। पूर्वस्मिन् पक्षे तु तनु सूक्ष्ममचिन्त्यं यद्भूतं शुद्धसत्त्वात्मकं भगवत्तत्त्वं, तत् स्वरूपस्येत्यर्थः। 'अस्य महतो भूतस्य' (वृ० आ० ४।५।११) इति श्रुते, 'लोकनाथो महद्भूतम्' इति सहस्रनामस्तोत्राच्च। नियन्तृनियम्यभेदरहितस्येति—विराड् रूपस्य त्वन्नियम्यस्येत्युक्तत्वान्न तस्य कश्चिन्नियन्ता, न च स कश्चिन्नियम्य इति विवक्षया।

उक्तलक्षणस्येति, अभ्रवपुरित्यादिविशेषणैर्दर्शितस्येत्यर्थः। अथ स्वव्याख्या—ननु ममैतादृशं स्वरूपमनूद्य किं स्तौषीत्याशङ्कया ससम्भ्रमं तत्र निजासामर्थ्यमाह—अस्यापीति, अस्य जगतो यद्दैववपु-राधिदैविकरूपं नारायणाख्यं तव वपुरधुना दर्शितेषु चतुर्भुजरूपेष्वेकमपि वपुस्तस्यापीति योज्यम्। 'नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात् (भा० १०।१४।१४) इति हि वक्ष्यते वपुषो विशेषणानि

सम्प्रति बालकवत्साद्यंशैर्दर्शितेषु तेष्वेकमपि देवरूपं चतुर्भुजाकारं यद्वपुस्तस्यापि; अस्तु तावत् समस्तानामित्यर्थः। एवञ्च सति साक्षादेतद्रूपस्यांशिनस्तव, किमुत देववपुषो विशेषणं मदनुग्रहस्येत्यादि। ममानुग्रहो यस्मात्तस्य बालवत्स-यष्टिवेण्वाद्यंशतस्ताटृशरूपप्रकटनदर्शनेनैव भवन्महिमज्ञानात्। कथम्भूतस्य तव? आत्मसुखानुभूतेः; आत्मना स्वेनैव, न त्वन्येन सुखस्यानुभूतिरनुभवो यस्य तस्यानन्यवेद्यानन्दस्येत्यर्थः॥ ब्रह्मा श्रीभगवन्तम्॥

१०३। कैमुत्येन स्वयंरूपत्वनिर्देशश्च (भा० १०।१२।३९)—

"सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहिता, मनोमयीं भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि,-व्युदस्तमायः परमोऽङ्ग किं पुनः॥"२२८॥

मदनुग्रहस्येत्यादीनि। साक्षात्तवैवेति पूर्ववत्। आत्मना स्वयमेव कर्त्ता सुखानुभूतिर्यस्य, अनन्यावेद्यानन्दस्येत्यर्थः। यद्वा, अस्य तव यद्देववपुरधुना दर्शितेषु चतुर्भुजरूपेषु एकमपि वपुस्तस्यापीति योज्यम्। अत्र मदनुग्रहस्येति—तद्दर्शनादेव हि तन्महिमा ज्ञात इति भावः।

सन्दर्भ। मेरे प्रति अनुग्रह प्रकटन हेतु जिस देववपु का प्रकाश आपने किया है, वह पाञ्चभौतिक नहीं है। किन्तु विशुद्ध सत्त्वात्मक है। वह रूप स्वेच्छामय है, अर्थात् स्व-स्वीय भक्तवृन्द की इच्छा के अनुसार प्रकट होते हैं। मैं ब्रह्मा होकर भी जब आपके अंश रूप में प्रकटित नारायण रूप को नहीं जान सकता हूँ, तब केवल आत्मसुखानुभूति स्वरूप सर्वमूलावतारी व्रजेन्द्रनन्दन रूप की महिमा को संयत मन के द्वारा भी कोई कदापि जानने में सक्षम होंगे? उसकी सम्भावना नहीं की जा सकती है।

अस्यापि—भा० १०।१४।१ में नौमिड्यते श्लोक के द्वारा जिनकी वर्णना हुई है। उन श्रीमन् नराकार स्वरूप के द्वारा प्रकटित, वत्स बालक प्रभृति अंशवृन्द के द्वारा जिन नारायण रूप का प्रदर्शन हुआ है, उन सबके मध्य में एक चतुर्भुजाकार मूर्त्ति की महिमा को जानने में कोई समर्थ नहीं हैं। तब उन सबके अंशी आप हैं, आपकी महिमा कौन जान सकते हैं? कैमुत्यन्याय की सङ्गति प्रदर्शन के निमित्त व्याख्या कर रहे हैं—'मदनुग्रहश्च' मेरा अनुग्राहक, यह पद 'वपुषः' पद का विशेषण है। अर्थात् जिस रूप से मेरे प्रति अनुग्रह प्रकटित हुआ है। अर्थात् पद्मपाङ्ग्ज रूप, जिस रूप का दर्शन कर आपकी महिमा को मैं जान गया हूँ, उस वपु का अर्थात् बालक, वत्स, यष्टि, वेणु प्रभृति का प्रकटन आपने निजांश से ही किया है। उसको देखकर ही आपकी महिमा का अनुभव हुआ है। आप किस प्रकार हैं? आत्मसुखानुभूति स्वरूप हैं। अर्थात् आप से ही जिसकी सुखानुभूति होती है। एवं जिसका आनन्दानुभव आपको छोड़कर अपर कोई कर नहीं सकते हैं। इस प्रकार परमानन्दमय आप हैं। स्वप्रकाश स्वयं ही जानते हैं, अपर कोई नहीं जानते हैं। निज सामर्थ्य से ही स्वप्रकाश प्रकाशित होता है। आप अनन्य वेद्य परमानन्दस्वरूप हैं। ब्रह्मा श्रीभगवान् को कहे थे॥१०२॥

कैमुत्य न्याय के द्वारा श्रीकृष्ण का स्वयंरूपत्व का प्रतिपादन करते हैं। युक्तिमूलक दृष्टान्त को न्याय कहते हैं। कैमुत्यन्यायः—'यद्भारवहनं दुर्बलस्यापि साध्यं तद्भारवहनं सुनरां सबलस्य साध्यम्' जिसको वहन करने में दुर्बल व्यक्ति समर्थ है, उसको वहन करने में सबल व्यक्ति समर्थ होगा, इसमें अधिक कहना क्या है?

भा० १०।१२।३९ में उक्त है—"सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहितामनोमयीं भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभिव्युदस्तमायः परमोऽङ्ग किं पुनः॥"

टीका—यस्याङ्गं मूर्त्तिस्तस्य प्रतिमा, प्रतिकृतिः, तत्रापि केवलं मनोमयी, सापि बलादन्तराहिता

स्पष्टम् ।। श्रीशुकः ।।

१०४। अतएव साक्षात् परब्रह्मत्वमेव दर्शितम्; (भा० १०।१४।१८) "अद्यैव त्वदृतेऽस्य"

सती भागवतीं गतिं ददौ प्रह्लादादिभ्यः। स एव साक्षात् स्वयमन्तर्गतः किं पुनः? नित्या चासौ आत्मसुखानुभूतिश्च तया अभितो व्युदस्ता माया येन सः।

वैष्णवतोषणी। मनोमयीति—मनसा सहजास्थैर्य्येण सदा सर्वसौन्दर्य्यादि अस्फूर्त्या शैलादि-प्रतिमाभ्यो न्यूनताभिप्रेता। अन्यत्तैः। अत्र प्रह्लादादिभ्य इवेति बोद्धव्यम्। तेषु स्वत एव स्फूर्त्तिः। नतु बलादिति नित्यात्मेति तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, नित्यमात्मनां सर्वजीवानां सुखानुभूतिर्यस्मात्, यतोऽभितो विशेषेणोदस्तमायः, तथा च वक्ष्यति श्रीब्रह्मा—'अत्रैव मायाधमनावतारे' (भा० १०।१४।१६) इति स चासौ सच, यतः परमः सर्वतः श्रेष्ठः, निजाशेष भगवत्ता प्रकटनात्, यद्वस्याङ्गेति सन्याय हर्ष सम्बोधने।"

हे परमप्रिय परीक्षित्! जिनकी केवल मनोमयी मूर्त्ति (प्रतिकृति) बलपूर्वक एकबार मात्र अन्तर में आहित होने से प्रह्लादादि भक्तवृन्द को भागवती गति प्रदान करती है, उन परमेश्वर श्रीकृष्ण, स्वयं अघासुर के अभ्यन्तर में प्रविष्ट होकर उसको भागवती गति प्रदान करेंगे, उनमें आश्चर्य्य क्या है? श्रीकृष्ण, नित्य आत्मसुखानुभूति के द्वारा समस्त माया को विदूरित किये हैं।

श्रीकृष्ण प्रभृति भगवत् स्वरूप में जीवदेहवत् देहदेही भेद नहीं है। सुतरां श्रीकृष्ण रूप, सर्व प्रकार से मायातीत है। उक्त रूप के प्रभाव से अपर का भी संसारबन्धन विनष्ट होता है। सुतरां उक्त नराकृति श्रीकृष्णरूप स्वयं सिद्ध है, यह सृष्ट नहीं है। एवं किसी का रूपान्तरित भी नहीं है।

कंसपक्षीय अघासुर बृहत् अजगर रूप धारण कर गोष्ठ में अवस्थित था। श्रीकृष्ण के सखावृन्द कौतूहलाक्रान्त होकर तदीय मुखविवर में प्रविष्ट हो गये थे। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण, उक्त मुखविवर में प्रविष्ट होने से श्वास रुद्ध होकर अघासुर पञ्चत्व प्राप्त हुआ था। अघासुर की आत्मज्योति श्रीकृष्ण चरण में लीन हुई थी। इस प्रकार सद्‌गति के प्रति हेतु—मनोमध्य में प्रतिकृति निविष्ट होने से भागवती गति मिलती है। यहाँ साक्षात् श्रीकृष्ण अघासुर के देहाभ्यन्तर में प्रविष्ट हुये थे, इससे भागवती गति लाभ होना, आश्चर्य्य नहीं है। श्रीकृष्ण रूप की उस सामर्थ्य कैसे है? उत्तर—आप स्वरूपसुखानुभूति के द्वारा माया को विदूरित किये हैं। सुतरां श्रीकृष्णाविर्भाव स्थल में माया का स्पर्श नहीं रहता है। उनका विग्रह—माया प्रकटित नहीं है, वह साक्षात् स्वरूप है। इसमें सन्देह नहीं है। कैमुत्यन्याय का यह ही तात्पर्य्य है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं ।।१०३।।

अतएव स्वप्रकाशता लक्षण सम्पन्न हेतु साक्षात् परब्रह्मत्व नराकृति सच्चिदानन्दविग्रह श्रीकृष्ण का ही है। भा० १०।१४।१८ में वर्णित है—

"अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शितमेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि।
तावन्तोऽपि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते।।"

श्रीकृष्ण को ब्रह्मा ने कहा—आपने स्वयं को छोड़कर समस्त विश्व को मायामयत्व क्या नहीं दर्शाते हैं? यहाँ 'त्वदृते' आप भिन्न, शब्द से स्वयं श्रीकृष्ण, एवं उनके वयस्य, वत्स एवं चतुर्भुजादि रूप समूह को जानना होगा। यह सब छोड़कर चतुर्विंशति तत्त्वसमूह एवं जगत् समूह मायिक हैं। जहाँ पर ब्रह्मा ने श्रीकृष्णलीला देखा था, वह श्रीवृन्दावन भी मायातीत है।

वस्तुत उसका दर्शन ही करवाया है। प्रथम—एकमात्र आप थे, अनन्तर समस्त व्रज सुहृद् 'वयस्य' एवं वत्ससमूह रूप में प्रकटित हो गये। पश्चात् सब ही चतुर्भुज होकर अखिल तत्त्वों के सहित

इत्यादौ, (भा० १०।१४।३२) "अहो भाग्यमहो भाग्यम्" इत्यादौ च। अतएवोक्तम् (भा० ७।१५।७५)—"गूढ़ं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" इति ; वैष्णवे च (वि० पु० ४।११।२)—

हम सबके द्वारा उपासित हो गये, एवं प्रत्येक का पृथक् पृथक् ब्रह्माण्ड दृष्ट हुआ। सम्प्रति आप अपरिमित अद्वय ब्रह्म ही अवशिष्ट हैं।

यहाँ उन नराकृति पशुपाङ्गज श्रीकृष्ण को अद्वय ब्रह्म कहा गया है। अद्वय ब्रह्म स्वप्रकाश हैं, कारण उनका प्रकाशक द्वितीय वस्तु नहीं है, अथच आप प्रकाशशील हैं। सुतरां आप स्वयं ही प्रकाशित हैं। ब्रह्माने तो नराकृति श्रीनन्दात्मज को ही अद्वय ब्रह्म कहा है। निर्विशेष ब्रह्म को नहीं कहा है।

टीका—अपि च न केवलं जनन्या ममापि तथैव दर्शितमित्याह—अद्यैवेति। त्वदृते त्वां विना अस्य विश्वस्य मायात्वं त्वया ममैव च तदप्यद्यैव किं न दर्शितं किन्तु दर्शितमेव। तथाहि—एकोऽसीत्यादि। तत्तो मया सह अखिलैस्तत्त्वादिभिरुपासितास्तावन्तश्चतुर्भुजा असि। जगन्ति ब्रह्माण्डानीति प्रागनुक्तमपि दृष्टमिति ज्ञातव्यम्।

वृ० वैष्णवतोषणी। ननु सर्वं तत्तन्मायिकं चेदत्र च वर्त्तमानस्य ममापि मायिकत्वं प्रसज्येत, न प्रपञ्चान्तर्गतत्वेऽपि तव तावकानाञ्च सत्यता त्वधुना साक्षान्मयैवानुभूतेति पुनर्मायिकपक्षमेवानुसृत्य साहङ्कारमाह—अद्यैवेति। यदस्य प्रपञ्चस्य मायात्वम्, तच्च त्वत्त्वः स्वप्नमनोरथादौ मायामये प्रपञ्चे वर्त्तमानादपि तथा विचित्रबहुरूपतया दृश्यमानादपि विनैवेत्यद्यैव किं ते त्वया मम नादर्शितम्, न सम्यग् दर्शितम्? अपितु दर्शिमेवेत्यर्थः। कथम्? तत्राह—एकोऽसीत्यादिना। सुहृदः सखायो बालाः। न च तत्तन्मायिकमित्याह—तत्तद्यदमूस्त्वं तत् सर्वममितं बालकवत्सादिभेदेन परिच्छिन्नत्वेऽप्यपरिच्छिन्नमेव। अद्वयं, तत्तन्नानाविधत्वेऽप्येकमेवातो ब्रह्मैव शिष्यते। स्वयं पर्य्यवस्यति (भा० १०।१३।५४)—

"सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः। अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥" इत्यादि स्वरूपतया दर्शनात्।

उक्त स्तव में ही ब्रह्मा ने नराकृति श्रीकृष्ण को ही पूर्ण ब्रह्म कहा है। भा० १०।१४।३२—

"अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसां यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्मसनातनम्।"

"अहो! नन्दगोप के जनवृन्द का कैसा अनिर्वचनीय सौभाग्य है! परमानन्द पूर्णब्रह्म ही जिनका सनातन मित्र हैं।"

वृ० वैष्णवतोषणी—न केवलं स्तन्यदायिन्यस्ता एव धन्याः, किन्तु श्रीनन्दादयः सर्वेऽपि व्रजवासिनोऽतिधन्या इत्याह—अहो इति वीप्सा परमहर्षेण, भाग्यातिशयाभिप्रायेण वा। नन्दगोपस्य व्रज ओको निवासो येषाम्, यद्वा, नन्दश्च गोपाश्चान्ये च व्रजौकसः पशुपक्ष्यादयः सर्वे तेषाम्, किं वक्तव्यं नन्दस्य भाग्यम्, अहो गोपानामपि सर्वेषां परमभाग्यमित्येवमत्र कैमुत्यिकन्यायोऽवतार्य्यो, येषां मित्रं बन्धुस्त्वम्। तत्र च परम आनन्दो यस्मादिति कदाचित् शोकदुःखादिकं सुखाल्पत्वञ्च निरस्तम्, पूर्वमिति प्रत्युपकारापेक्षकत्वादिकम्, सनातनं नित्यमिति कदाचिदप्यप्राप्यत्वम्। यद्वा, पूर्णं ब्रह्मत्वं येषां मित्रं सनातनं, नित्यमित्रतयैव नित्यं वर्त्तमानमित्यर्थः। न केवलमापत्त्राणादिकरम्, किन्तु परमानन्दप्रदं चेत्याह—परमानन्दं—परमानन्दस्वरूपम्। यद्वा, आनन्दयतीत्यानन्दं परं केवलम्, मित्रम्, न त्वीश्वरादिरूपम्, प्रेमविशेषहान्यापत्तेः, यद्वा, पूर्णं ब्रह्मापि त्वम्, ये नन्दगोपव्रजौकस एव मित्राणि यस्य, तथाभूतमसि, नपुंसकत्वं ब्रह्मविशेषणत्वात्, श्रीभगवत्प्रियतमानामपि श्रीराधादीनां माहात्म्यम्, तदानीं बाल्ये तद्रसाप्रवृत्तेः, किंवा पुत्रत्वादिना लज्जातः परमगोप्यत्वाद्वा व्यक्तं न वर्णितम्।

तज्जन्य ही देवर्षि श्रीनारदने श्रीयुधिष्ठिर को कहा था—

"यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते। यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परं ब्रह्म नराकृति॥"२२९॥ इति; "नराकृति परं ब्रह्म" इति वृहत्सहस्रनामस्तोत्रे च। एतेन श्रीकृष्णस्य नराकृतित्वमेवेति। द्विभुजत्व एव श्रीकृष्णत्वं नराकृतिकैवल्यात् मुख्यम्। चतुर्भुजत्वे तु श्रीकृष्णत्वं नराकृति-भूयिष्ठत्वात्तदनन्तरमेव। अतएव चतुर्भुजत्वेऽपि मनुष्यरूपत्वं वर्णितं श्रीमदर्जुनेन (गी० ११।४६) "तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन, सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते" इत्युक्त्वा (गी० ११।५१) "दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन" इत्युक्तत्वात्। एवंजातीयकानि बहूनि वाक्यानि सन्ति, तानि च द्रष्टव्यानि। अतएव सा नराकारमूर्त्तिरेव परमकारणं वस्तुतत्त्वमित्याह (भा० १०।४६।३३)—

(१०४) "नारायणे कारणमर्त्त्यमूर्त्तौ" इति।

"यूयं नृलोके वत भूरिभागा लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्॥"

मनुष्य लोक में आप सब ही अत्यन्त भाग्यवान् हैं। कारण—भुवनपावनकारि मुनिवृन्द आपके घर में आगमन करते रहते हैं, एवं मनुष्यरूपी साक्षात् परम ब्रह्म गूढ़ रूप में आपके गृह में अवस्थित हैं। इसमें श्रीकृष्ण को साक्षात् परमब्रह्म कहा गया है। (भा० ७।१५।७५)

टीका—त्वन्तु कृतार्थ एव इति हर्षेण पुनः पूर्वश्लोकानेव पठति। यूयमिति। अहो प्रह्लादस्य भाग्यं येन देवो दृष्टः, वयन्तु मन्दभाग्या इति विषीदन्तं तं प्रत्याह—यूयमिति त्रिभिः। येषां युष्माकं गृहान् मुनयोऽभियन्ति सर्वतः समायान्ति। तत् कस्य होतोः, येषु गृहेषु नराकारं गूढ़ं सत् श्रीकृष्णाख्यं परं ब्रह्म साक्षात् वसतीति।

क्रमसन्दर्भः—मनुष्यलिङ्गमिति, तदाकारे तदाविर्भावस्यापि न तादृशत्वमिति व्यञ्जितम्।

विष्णुपुराण में वर्णित है—श्रीकृष्णाख्य नराकृति परम ब्रह्म जहाँ अवतीर्ण हुये हैं, मनुष्य उन यदुवंश की वार्त्ता श्रवण कर पापों से मुक्त होता है।

वृहत् सहस्रनामस्तोत्र में "नराकृति परं ब्रह्म" उक्त है। इन सब प्रमाणों से निर्णीत हुआ कि—श्रीकृष्ण ही नराकृति परम ब्रह्म हैं। श्रीकृष्ण का वर्णन चतुर्भुज एवं द्विभुज रूप में होने पर भी नराकृति का समावेश द्विभुज में ही है। अतएव द्विभुज रूप का ही मुख्यत्व है, एवं उक्त द्विभुज श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् सर्वावतारी हैं। कारण केवल नराकृति का समावेश उनमें ही दृष्ट होता है। चतुर्भुज रूप में अधिक केवल भुजद्वय ही है, अपर समस्त हो मनुष्याकृति हैं। चतुर्भुज अवस्था में भी कृष्णत्व है, किन्तु गौण है, मुख्य नहीं है। चतुर्भुज रूप का प्रकाश अधिकतर रूप में होने के कारण श्रीअर्जुन ने कहा भी था—"हे सहस्रबाहो, हे विश्वमूर्त्ते! चतुर्भुज रूप का प्रकाश पुनर्बार करो। इस प्रकार कहकर गी० ११।५१ में कहा, हे जनार्दन! मनुष्यरूप जो शान्त रूप है, उसे देखकर मैं प्रकृतिस्थ हुआ। अर्जुन की उक्ति से प्रमाणित होता है कि—चतुर्भुज रूप को भी मनुष्य रूप कहा जाता है। इस प्रकार अनेक वाक्य है, प्रयोजन होने से अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है।

अतएव नराकृति ही परम कारण वस्तु है। (भा० १०।४६।३३)—

"तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ नारायणे कारणमर्त्त्यमूर्त्तौ।
भावं विधत्तो नितरां महात्मन्! किम्वावशिष्टं युवयो सुकृतम्॥"

टीका—अखिलस्यात्मा च हेतुश्च तस्मिन् कारणेन मनुष्याकृतौ महात्मन्—महात्मनि परिपूर्णे भवन्तौ भक्तिं कुरुतः, अतः कृतकृत्यावित्यर्थः।

सर्वकारणं यत्तत्त्वं तदेव मर्त्याकारा मूर्त्तिर्यस्य; तदुक्तम्, (भा० १०।४३।१७)—"तत्त्वं परं योगिनाम्" इति; तथा च पाद्मनिर्माणखण्डे श्रीवेदव्यास-वाक्यम्—

वैष्णवतोषणी—तत्र हेतुर्नारायणे। ननु स चतुर्भुजः तत्राह—सर्वकारणं यत्तत्त्वं, तदेव मर्त्याकारा मूर्त्तिर्यस्य तस्मिन्नराकृतिपरब्रह्मणीत्यर्थः। भावमीदृशानुरागं नितरामित्यनेन श्रीवसुदेवदेवकीभ्यामपि तदुत्कर्षं बोधयति—हे महात्मन्! तादृशानुरागशीलत्वात् परमोत्कृष्टस्वभाव श्रीव्रजेश्वर। वा शब्दो भ्रूक्षेपे। तयोर्युवयोः किं कतरत् अवशिष्टं, किन्तु सर्वं परिपूर्णमेव। केवलं युष्मत् सन्तोषकं तस्यैव कृत्यमवशिष्यते इति स्व-शब्दार्थः। युवयोस्त्विति पाठ स एवार्थः।

क्रमसन्दर्भः। ननु नारायणश्चतुर्भुजः? तत्राह—सर्वकारणं यत्तत्त्वम्, तदेव मर्त्याकारामूर्त्तिर्यस्य स नराकृतिपरं ब्रह्मेत्यर्थः। भावमीदृशानुरागम्।

सर्वकारण, सर्वात्मा, कारणमर्त्यमूर्त्ति नारायण में आपकी परमा भक्ति है। अतएव आपका निज कर्त्तव्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं है। सर्व कारण जो तत्त्व है, वह ही जिनकी मर्त्याकार (नराकार) मूर्त्ति है, वह कारण मर्त्यमूर्त्ति हैं। नराकृति श्रीकृष्ण मूर्त्ति ही परम तत्त्ववस्तु है, उसका वर्णन भा० १०।४३।१७ में है—

"मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराड़विदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितोरङ्गं गतः साग्रजः॥"

श्रीशुकदेव ने परीक्षित् महाराज को कहा—भगवान् श्रीकृष्ण, अग्रज के सहित रङ्गस्थल में प्रविष्ट होने पर—मल्लवर्ग की दृष्टि में अति कठिन वज्र, नरवर्ग के समीप में नरबर, स्त्रीवर्ग के निमित्त मूर्त्तिमान् कन्दर्प, गोपगण के समक्ष में स्वजन, असत् नरपतिगण के पक्ष में शासनकर्त्ता, मातापिता के निकट शिशु, भोजपति कंस के पक्ष में साक्षात् मृत्यु, अविद्वज्जन के निकट विराट्स्वरूप, योगियों के निकट परमतत्त्व, एवं वृष्णिगण के निकट परम देवतारूप में प्रकाशित हुये थे।

श्रीकृष्ण के अखिलरसामृत स्वरूप का वर्णन उक्त श्लोक में है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत एवं बीभत्स—द्वादश रस हैं। उक्त श्लोक में श्रीकृष्ण—योगिगण के निकट शान्त, वृष्णिगण के दास्य, गोपगण (सखावर्ग के निकट) सख्य, जनक-जननी के निकट वात्सल्य, पूजनीय महिला व्यतीत अन्यत्र मधुर, कुवलयापीड़बन्ध जनित रक्त मुक्ता मेद दन्तादि द्वारा शोभित होने से सखावर्ग के निकट हास्य, मल्लगण के दौरात्म्य भय से मातापिता के निकट करुण, मल्लगण के निकट रौद्र, असत् नृपतिवृन्द के पक्ष में शास्ता होने से वीर, लोकोत्तर विलास दर्शन हेतु नरगण के समक्ष में अद्भुत एवं अविद्वज्जन के निकट विराट् प्राकृत देहविशिष्ट प्रतीत होने से वीभत्स रस का विषय हुए थे।

टीका—तत्र शृङ्गारादिसर्वरसकदम्बमूर्त्तिर्भगवान् तत्तदभिप्रायानुसारेण बभौ न साकल्येन सर्वेषामित्याह—मल्लानामिति। मल्लादीनामज्ञानां द्रष्टॄणाम्, अशन्यादिरूपेण दशधा विदितः सन् साग्रजो रङ्गं गतः, इत्यन्वयः। मल्लादिषु अभिव्यक्तरसाः क्रमेण श्लोकेन निबध्यन्ते रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो हास्यं वीरो दया तथा, भयानकश्च बीभत्सः, शान्तः सप्रेमभक्तिकः॥ अविदुषां विराट्—विकलः अपर्य्याप्तो राजत इति तथा। अनेन बीभत्सरस उक्तः, विकलत्वञ्च क्व वज्रसारसर्वाङ्गावित्यादिना वक्ष्यते।

"दृष्ट्वातिहृष्टो ह्यभवं सर्वभूषणभूषणम्। गोपालमबलासङ्गे मुदितं वेणुवादिनम् ।।२३०।।
ततो मामाह भगवान् वृन्दावनचरः स्मयन्। यदिदं मे त्वया दृष्टं रूपं दिव्यं सनातनम् ।।२३१।।
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं सच्चिदानन्दविग्रहम्। पूर्णं पद्मपलाशाक्षं नातः परतरं मम।
इदमेव वदन्त्येते वेदाः कारणकारणम् ।।"२३२।। इत्यादि ।।

उद्धवः श्रीव्रजेश्वरम् ।।

१०५। अतएव बहूंश्चतुर्भुजान् दृष्टवानपि नराकारस्यैव विशेषतः स्तुत्यर्थं प्रतिजानीते (भा० १०।१४।१)—

(१०५) "नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे" इत्यादि।

इदमेव तव परमं तत्त्वमित्यज्ञात्वा पूर्वमहं भ्रान्तवान्, अधुना तु (भा० १०।१४।१८) "अद्यैव त्वदृतेऽस्य" इत्यादि-दर्शिकया भवतः कृपया ज्ञातवानित्यत एव तदाकारमेव त्वां

पद्मपुराण के निर्माणखण्ड में उक्त है, श्रीव्यासदेव कहते हैं—वेणुवादन परायण, अबलावृन्द के सहित आनन्दित, भूषणों का भूषणस्वरूप गोपाल को देखकर मैं अतीव आनन्दित हुआ। उसके बाद—वृन्दावनविहारी भगवान् स्मितहास्ययुक्त वदन से मुझको कहे थे—"तुमने जिस रूप को देखा, वह रूप ही मेरा दिव्य सनातन रूप है। उक्त रूप—निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, सच्चिदानन्द विग्रह, पद्मपलाश लोचन हैं। इसको छोड़कर अपर श्रेष्ठतर मेरा रूप नहीं है, यह ही कारणों का कारण है, वेदसमूह उस प्रकार ही कहते हैं। उद्धव श्रीव्रजेश्वर को कहे थे ।।१०४।।

अतएव श्रीब्रह्मा ने बहुधा चतुर्भुज रूप देखकर भी द्विभुज नराकार को ही परमश्रेष्ठ मानकर स्तव भी किया। (भा० १०।१४।१)

"नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तड़िदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजेकवलवेत्रविषाणवेणु लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय।।"

वत्स बालक अपहरण अपराध से भीत होकर ब्रह्मा, भगवन्महिमा को न जानकर यथादृष्ट रूप का स्तव करते हैं। प्रारम्भ में कहते हैं—हे ईड्य! स्तवनीय! आपको सन्तुष्ट करने के निमित्त आपका स्तव मैं कर रहा हूँ। आपका श्रीअङ्ग, नवीन नीरद के समान श्याम वर्ण, वसन—विद्युत् के समान पीत, गुञ्जानिर्मित कर्णभूषण, मयूरपिञ्छ रचित चूड़ा के द्वारा आपका वदन मण्डल सुशोभित है। वनमाला, दध्योदन ग्रास, वेणु, शृङ्ग, इत्यादि चिह्न द्वारा आप अतिशय शोभित हैं। आपके चरणयुगल अतीव सुकोमल हैं, आप नन्दगोपात्मज हैं, आपको प्रणाम करता हूँ।

द्विभुज नराकृति ही आप हैं, इसको मैं पहले नहीं जानता था, तज्जन्य मैं भ्रान्त रहा; अधुना—
"अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शितमेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि।
तावन्तोऽपि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासिता स्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते।।"

श्रीकृष्ण को ब्रह्मा ने कहा—आप, अर्थात् आप एवं आपके वयस्य, वत्स एवं चतुर्भुजादि रूपसमूह भिन्न समस्त विश्व को आपने मायामयत्व क्या नहीं दर्शाये हैं? वास्तविक रूप से उसका ही प्रदर्शन किये हैं। प्रथम, आप एक थे, उसके बाद—समस्त व्रजसुहृद्, वत्ससमूह रूप में आप प्रकट हो गये। अनन्तर सब ही चतुर्भुज हो गये एवं अखिल तत्त्वों के सहित ब्रह्मा कर्त्तृक सेवित भी हुये। प्रत्येक के पृथक् पृथक् ब्रह्माण्ड का प्रदर्शन भी आपने किया। अब तो आप अपरिमित अद्वय ब्रह्म रूप में ही विराजित हो गये। पहले मैं यह नहीं जानता था कि—आपका स्वरूप एकमात्र द्विभुज नन्दनन्दन ही है।

लब्धुं स्तौमीति तात्पर्य्यम् ॥ ब्रह्मा श्रीभगवन्तम् ॥

१०६ । तदेवं साधूक्तं तत्तद्वचनमन्यार्थत्वेन दृश्यमिति । तथा हि पूर्वरीत्या चतुर्भुजत्व-द्विभुजत्वयोर्द्वयोरपि ध्यानधिष्ण्यत्वे सति यत् पूर्वस्य जनन्या निगूहनप्रार्थनं तत्तु तस्य प्रसिद्धतया सर्व एव ज्ञास्यतीति (भा० १०।३।२९) "जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन" इत्याद्युक्त-लक्षणया कंसभिया, (भा० १०।३।३१) "विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते" इत्याद्युक्त-

आज मैं जान गया कि—आपका वास्तविक रूप ही नन्दात्मज है। मैं भ्रान्त था, 'अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं' इत्यादि श्लोक में आपकी कृपा का कीर्त्तन जो मैंने किया है, उससे मैं आपका कृपापात्र बन गया हूँ। आपकी कृपा से ही मेरा बोध हुआ है। अतः श्रीवृन्दावन में सुप्रकाशशील श्रीमन्नराकार रूप में आपको प्राप्त करने के निमित्त ही आपका स्तव कर रहा हूँ। यह ही भावार्थ है।

ब्रह्मा श्रीभगवान् को कहे थे ॥१०५॥

"नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे" प्रभृति कथनों के द्वारा द्विभुज नराकृति परमब्रह्म ही श्रीकृष्ण का वास्तविक नित्य स्वरूप का प्रतिपादन उत्तम रूप से हुआ है, किन्तु उक्त नराकार द्विभुज रूप के सम्बन्ध में उपस्थित होता है कि—पूर्व प्रकरण में चतुर्भुज एवं द्विभुज रूप को नित्य माना गया है, किन्तु "रूपञ्चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं मा प्रत्यक्षं मांसदृशां भो कृषीष्ठा इति मातृविज्ञापनानुसारेण, एतद्वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्म-स्मरणाय मे। नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते' इति प्रत्युत्तरय्य इत्युक्त्वासीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया। पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुरित्युक्तदिशा यन्मानुषाकाररूपं स्वीकृतवान् तत्र सन्दिग्धमिव भाति।" यहाँ प्राकृतशिशु होने की कथा है। यहाँ सन्देह है—नराकृति रूप, उसमें भी प्राकृत है। प्राकृत वस्तु नश्वर है। अतएव श्रीकृष्ण की नराकृति अनित्य होना स्वाभाविक है ?

श्रीकृष्ण का 'द्विभुज चतुर्भुज' उभय रूप ही नित्य है, अनित्य नहीं है। उभय रूप में ही श्रीकृष्ण, नराकृति परब्रह्म हैं। उभय रूप ही ध्यान का विषय है। किन्तु जननी देवकीदेवी की प्रार्थना चतुर्भुज रूप को गोपन करने की थी। उसका कारण है—चतुर्भुज मूर्त्ति रूप में श्रीहरि की प्रसिद्धि है। उस रूप में स्थित होने से अनायास ही सब व्यक्ति उनको जान जायेंगे। कंस का शत्रु श्रीहरि हैं, चतुर्भुज रूप को देखकर निज शत्रु को कंस जान लेंगे एवं अनिष्ट साधन के निमित्त तत्पर होंगे। नर शिशु रूप में अवस्थित होने से अनिष्टाशङ्का नहीं है, यह ही प्रार्थना का उद्देश्य है। तज्जन्य आपने कहा—"हे मधुसूदन ! यहाँ आपका जन्म हुआ है, उसको कंस न जान सके।" (भा० १०।३।२९)—

"जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन ! समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः।
उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्, शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥"

टीका—पौरुषमैश्वरम्, ध्यानधिष्ण्यं ध्यानास्पदम् मांसदृशां मांसचक्षुषां प्रत्यक्षं मा कृथाः। भवत एव हेतोर्निमित्तां कंसात् समुद्विजे—बिभेमि यतोऽधीरचित्ता।

उक्त वाक्य से कंस भय की आशङ्का व्यक्त हुई है। उक्त आशङ्का ही चतुर्भुज रूप गोपन करने की प्रार्थना का हेतु है। अपर हेतु भी भा० ३।३१।३१ में है—

'विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते यथावकाशं पुरुषः परो भवान्।
बिभर्त्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभूदहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत् ॥"

टीका—किमित्युपसंहर्त्तव्यमेवम्भूतेन मया पुत्रेण तव महती श्लाघास्यात् इति तत्राह—विश्वमिति। निशान्ते प्रलयावसाने यथाऽवकाशम् असङ्कोचतः। असम्भावितत्वात्तुपहास्यतैव स्यादित्यर्थः।

लक्षणया मांसदृक्शब्दोक्त-भगवत्स्वरूपशक्तिविलासतत्तज्जन्मादिलीलातत्त्वानभिज्ञप्राकृत-

वृहद्वैष्णवतोषणी—किञ्चास्मिन्नैश्वरे रूपे दृष्टे सति मनुष्याणां मादृशां त्वयि स्नेहोऽपि न सम्भवतीत्याह—विश्वमिति। तत मद्गर्भजत्वमनुकारणमात्रम्, नतु तात्त्विकमिति ज्ञानादित्यर्थः।

आप परमपुरुष हैं। प्रलयान्त में निज शरीर में चराचर विश्व को असङ्कोच से धारण करते हैं, वह आप गर्भ से उत्पन्न हुये हैं, यह नरलोक की विड़म्बना ही है। अर्थात् आपके सदृश पुत्र के द्वारा मेरी श्लाघा क्या होगी, लोक समाज में उपहास ही होगा। लोक कहेंगे—देवकी साहसी है, भगवान् को पुत्र कहती है, जिनके शरीर में अनन्त ब्रह्माण्ड विराजित हैं। उनको उदर में धारण करना वातुलता मात्र है।

श्रीभगवान् की जन्मादि लीला स्वरूपशक्ति का विलास है। श्रीभगवान् की अनन्त शक्ति हैं, तन्मध्य में 'चिच्छक्ति, मायाशक्ति, जीवशक्ति,' तीन शक्ति प्रधान हैं। अन्तरङ्गा—चिच्छक्ति, वहिरङ्गा—माया शक्ति, तटस्था—जीवशक्ति है। भगवत् स्वरूप के समान नाम, धाम, रूप, गुण, परिकर, लीला प्रभृति चिच्छक्ति से सम्पादित होते हैं। चिच्छक्ति केवल स्वरूप को अवलम्बन कर रहती है। अतः उसे स्वरूपशक्ति कहते हैं। तटस्थाशक्ति रूप जीव वहिर्मुखता दोषग्रस्त होकर स्व-कर्मफल भोग के निमित्त शरीर ग्रहण करता है। श्रीभगवान् की जन्मादि लीला कर्मफल भोग के निमित्त नहीं है, लोकशिक्षार्थ है। निजेच्छा से जगत् में प्रकट होते हैं। उनके परिकरसमूह उनकी स्वरूपशक्ति की अभिव्यक्ति रूप हैं। वे सब उनकी लीला के सहायक होते हैं। मनुष्य को सत्शिक्षा प्रदान करने के निमित्त आविर्भूत होते हैं। आविर्भाव के प्रारम्भ से ही यदि स्वीय ईश शक्ति की अभिव्यक्ति करें तो लोक शासक मानकर भयभीत होगा, एवं उनको नहीं अपनायेगा। शासक के प्रति अपनापन किसीका नहीं रहता है। शासक से हृदय में भय रहता है। अतः ईश्वर मान कर लोक हृदय से उनको वर्जन करेगा। अतः लौकिक लीला के मध्य में अलौकिकता का समावेश करके लीला का निरतिशय चमत्कारित्व स्थापन करते हैं। जिससे लोक उनके प्रति आकृष्ट होकर उनके व्यक्तित्व को हृदय में स्थापन करते हैं।

भक्त भिन्न अपर व्यक्ति उस लीला को जान नहीं सकते हैं। उस प्रकार लीला तत्त्वानभिज्ञ व्यक्तिगण को मांसदृष्टि सम्पन्न कहा गया है। (भा० १०।३।२८)—

"स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्नस्त्राहि त्रस्तान् भृत्यवित्रासहासि।
रूपञ्चेदं पौरुषं ध्यानधिष्ण्यं मा प्रत्यक्षं मांसदृशां कृषीष्ठाः॥"

टीका—"प्रस्तुतं विज्ञापयति—स त्वमिति। भृत्यानां वित्रासं हन्तीति भृत्यवित्रासहा। भृत्यविदिति वाच्छेदः। पौरुषमैश्वरं ध्यानधिष्ण्यं—ध्यानास्पदम्। मांसदृशां मांस चक्षुषां प्रत्यक्षं मा कृथाः।"

वृहत्क्रमसन्दर्भः। अथ स्त्रीत्व स्वभावात् कंसतो भीता स्वल्पतरमपि वरं प्रार्थयमानाह—स त्वं घोरादित्यादि, भिया—नामापि न गृहीतम्, उग्रसेनात्मजादित्येवोक्तम्। य त स्त्वं भृत्यवित्रासहासि, भृत्यवित्रासहा असि, अन्यच्च, इदं पौरुषं नारायणीयं रूपं चतुर्भुजाकारं मांसदृशां—चर्मचक्षुषां प्रत्यक्षं मा कृषीष्ठाः। अथवा इदं पौरुषम्, इदमुक्तप्रकारं ब्रह्मज्योतिर्यस्येत्यादिनिरुपमं पौरुषं पुरुषाकारो यस्य, तथाविधं, पौरुषमित्येकमेव पदम्। ध्यानधिष्ण्यं—परप्रेमानन्दसमाधिस्थानं द्विभुजं श्रीकृष्णरूपं मांसदृशां वहिर्मुखानां मा प्रत्यक्षं कृषीष्ठाः। अतो मातृवचनप्रतिपालनात् अन्तरङ्गेभ्य एव द्विभुजं रूपं प्रकाशयति। वहिरङ्गेभ्यस्तु चतुर्भुजरूपमिति पौण्ड्रादय स्तं ददृशुः। अथवा, सदृशां सचक्षुषां मध्ये मां प्रति इदं पौरुषं चतुर्भुजरूपं मा प्रत्यक्षं कृषीष्ठाः, मां प्रति द्विभुजमेव स्वरूपं दर्शनीयमित्यर्थः। यत्र पुत्रबुद्धया वात्सल्यं जनिष्यते।

दृग्भ्यो लज्जया च, न पुनरवरस्य (भा० ७।१५।७५) 'गूढ़ं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्'' इत्यादौ गूढ़त्वेन कथितस्य ध्यानधिष्ण्यत्वाभावविवक्षया। श्रीगोपालतापनीश्रुतावप्युभयोरपि ध्यानधिष्ण्यत्वं श्रूयते (उ० ६१, ६२)—

"मथुरायां विशेषेण मां ध्यायन् मोक्षमश्नुते ॥
अष्टपत्रं विकसितं हृत्पद्मं तत्र संस्थितम् ।"२३३॥

इत्यादिषु मध्ये (गो० ता० उ० ६३) "चतुर्भुजं शङ्ख-चक्र-" इत्यादिकमुक्त्वा सर्वान्ते (गो० ता० उ० ६५) "शृङ्गवेणु-धरं तु वा" इत्यप्युक्तम्। एवमागमेऽपि द्विभुजध्यानं श्रूयते।

तत्त्वानभिज्ञ व्यक्तिगण प्राकृत नेत्र से प्राकृत वस्तु निरीक्षण करते हैं, जड़ तत्त्व को जानते हैं। सच्चिदानन्द विग्रह श्रीभगवत् आविर्भाव को विश्वास नहीं करते हैं। अतः भगवत् आविर्भाव देवकी से हुआ है, यह विषय प्राकृत जनों के निकट उपहास का विषय होगा। उक्त आशङ्का से ही प्रार्थना की —उस रूप को गोपन करो, एवं निज नराकृति को प्रकट करो, जिससे वात्सल्य प्रीति हो, चतुर्भुज रूप तो आध्यात्मिक साधक का ध्येय है।

श्रीनारद महाशय ने भी श्रीयुधिष्ठिर के समीप में कहा है, (भा० ११।१५।७५)—"गूढ़ं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" "द्विभुज मनुष्य रूप में परं ब्रह्म गुप्त रूप में अवस्थित हैं।" इस वाक्य में मनुष्याकृति को 'गूढ़' कहा गया है, किन्तु ध्येय नहीं है, ऐसा निषेध नहीं हुआ है। ध्येय रूप में यदि केवल चतुर्भुज रूप का ही उल्लेख शास्त्र में होता, तो वैसा निषेध द्विभुज रूप के निमित्त होना सम्भव होता, किन्तु शास्त्र में उभय रूप ही समान रूप से ध्येय है, ऐसा उल्लेख है।

श्रीगोपालतापनी श्रुति में 'द्विभुज चतुर्भुज' उभय रूप का ही समान रूप से ध्यानास्पदत्व का उल्लेख है। द्विभुज का ध्यान—

"सत् पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्। द्विभुजमौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम्। दिव्यालङ्करणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम् ॥
कालिङ्गीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम्। चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेरिति ॥"

जिनके नयनयुगल, प्रशस्त पङ्कज सदृश हैं, मेघ सदृश अङ्गकान्ति, विद्युत् तुल्य वसन, एवं जो द्विभुज मौनमुद्रायुक्त (ओष्ठद्वय की सङ्कोचावस्था को मौनमुद्रा कहते हैं) वनमाली एवं ईश्वर हैं। जो गोप-गोपी-गो प्रभृति के द्वारा परिवृत हैं, कल्पतरु जिनका आश्रय है, जो उत्तमाभरण से भूषित हैं, एवं रक्तपङ्कज के मध्य में अवस्थित हैं। यमुना सलिल तरङ्ग सम्पृक्त समीरण जिनकी निरन्तर सेवा करते रहते हैं, उन श्रीकृष्ण की चिन्ता जो व्यक्ति निज चित्त में करते हैं, उनकी संसृति से मुक्ति होती है।

चतुर्भुज का ध्यान—

"मथुरायां विशेषेण मां ध्यायन् मोक्षमश्नुते ॥
अष्टपत्रं विकसितं हृत्पद्मं तत्र संस्थितं। दिव्यध्वजातपत्रैस्तु चिह्नितं चरणद्वयम् ॥
श्रीवत्सलाञ्छनं हृत्स्थं कौस्तुभं प्रभयायुतम्। चतुर्भुजं शङ्खचक्रशार्ङ्गपद्मगदान्वितम् ॥
सुकेयूरान्वितं बाहुं कण्ठं माला सुशोभितम्। द्युमत् किरीट-वलयं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥
हिरण्मयं सौम्यतनुं स्वभक्तायाभयप्रदम्। ध्यायेन्मनसि मां नित्यं वेणुशृङ्गधरं तु वा ॥"

(गो० ता० उत्तर विभाग)

तस्मान्निगूढ़त्वविवक्षैव समीचीना। तथैव तद्विवक्षया (भा० १०।३।४४) "नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते" इति श्रीभगवतोक्तम्। तथा च पाद्मनिर्माणखण्डे श्रीभगवद्वाक्यं व्यासवाक्ये—

"पश्य त्वं दर्शयिष्यामि स्वरूपं वेदगोपितम्। ततोऽपश्यमहं भूप बालं कालाम्बुदप्रभम्।
गोपकन्यावृतं गोपं हसन्तं गोपबालकैः ॥२३४॥ इति।

मथुरा में चतुर्भुज रूपी श्रीकृष्ण का ध्यान करने से सत्वर मुक्ति होती है। अतः चतुर्भुज रूप का ध्यान कहते हैं।

"विकसित अष्टदलस्वरूप हृदयपद्म में मैं अवस्थित हूँ। मेरे चरणयुगल उत्कृष्ट ध्वज छत्र प्रभृति चिह्न से चिह्नित हैं। हृदय में श्रीवत्स चिह्न एवं प्रभायुक्त कौस्तुभमणि विराजित हैं। चतुर्बाहु—शङ्ख-चक्र-शार्ङ्ग-पद्मयुक्त हैं, एवं अङ्गद के द्वारा परिशोभित हैं। कण्ठदेश में उत्तम माला शोभित है। मस्तक में दीप्तिशील मुकुट, कर्ण में मकराकृति कुण्डल विराजित है, मेरा तनु—प्रकाशबहुल सौम्य स्वभावाक्रान्त है। एवं निज भक्त के प्रति अभयप्रद है।"

इस प्रकार से अथवा शृङ्ग वेणुधर द्विभुजरूप में मनोमध्य में मेरा ध्यान करे।

उस प्रकार आगम में भी द्विभुज रूप का ध्यान वर्णित है। अतएव चतुर्भुज रूप का निगूढ़त्व कथनाभिप्राय से ही श्रीदेवकीदेवी की उक्त रूप गोपन करने की प्रार्थना हुई थी। इस प्रकार व्याख्या करना समीचीन है।

उक्ताभिप्राय से ही श्रीभगवान् ने श्रीदेवकीदेवी को कहा—

"एतद्वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते॥" (भा० १०।३।४४)

मेरा पूर्वतन जन्म का स्मरण कराने के निमित्त मैंने चतुर्भुज रूप का प्रदर्शन किया, अन्यथा मनुष्य रूप में आविर्भूत होने से मेरा ज्ञान नहीं होता।

बृहत्क्रमसन्दर्भः। अथ स्त्रीत्व स्वभावात् कंसतो भीता स्वल्पतरमपि वरं प्रार्थयमानाह—स त्वं घोरादित्यादि, भिया—नामापि न गृहीतम्, उग्रसेनात्मजादित्येवोक्तम्। य त स्त्वं भृत्यवित्रासहासि, भृत्यवित्रासहा असि, अन्यच्च, इदं पौरुषं नारायणीयं रूपं चतुर्भुजाकारं मांसदृशां—चर्मचक्षुषां प्रत्यक्षं मा कृषीष्ठाः। अथवा इदं पौरुषम्, इदमुक्तप्रकारं ब्रह्मज्योतिर्यस्येत्यादिनिरुपमं पौरषं पुरुषाकारो यस्य, तथाविधं, पौरुषमित्येकमेव पदम्। ध्यानधिष्ण्यं—परप्रेमानन्दसमाधिस्थानं द्विभुजं श्रीकृष्णरूपं मांसदृशां वहिर्मुखानां मा प्रत्यक्षं कृषीष्ठाः। अतो मातृवचनप्रतिपालनात् अन्तरङ्गेभ्य एव द्विभुजं रूपं प्रकाशयति। वहिरङ्गेभ्यस्तु चतुर्भुजरूपमिति पौण्ड्रादय स्तं ददृशुः। अथवा, सदृशां सचक्षुषां मध्ये मां प्रति इदं पौरुषं चतुर्भुजरूपं मा प्रत्यक्षं कृषीष्ठाः, मां प्रति द्विभुजमेव स्वरूपं दर्शनीयमित्यर्थः। यत्र पुत्रबुद्ध्या वात्सल्यं जनिष्यते।

उक्त श्लोक में चतुर्भुज रूप प्रकटन का यथार्थ कारण का सुस्पष्ट उल्लेख है। द्विभुज रूप ही श्रीकृष्ण का है। प्राक्तन जन्म स्मरण करवाने के निमित्त चतुर्भुज रूप में प्रकट हुये थे। इस प्रकार प्रयोजनविशेष में चतुर्भुज रूप प्रकटन का अपर दृष्टान्त श्रीरुक्मिणी परिहास लीला में है, देवी की सान्त्वना प्रदान करने के समय आप चतुर्भुज प्रकट किये थे।

पद्मपुराणस्थ निर्माणखण्ड में भी श्रीभगवद्वाक्य एवं श्रीव्यासवाक्य में द्विभुज का वर्णन है। "देखो! वेदगोपित रूप का प्रदर्शन कर रहा हूँ। हे भूप! अनन्तर मैंने कालाम्बुद के समान कान्ति

एवम् (भा० १०।३।४६) "इत्युक्त्वासीद्धरिस्तूष्णीम्" इत्यादौ च व्याख्येयम्। आत्ममायया स्वेच्छया "आत्ममाया तदिच्छा स्यात्" इति महासंहितोक्तेः। प्रकृत्या स्वरूपेणैव व्यक्तः प्राकृतः, न त्वौपाधिकतया, शैषिकोऽण्। तत्र हि भगवद्विग्रहे शिशुत्वादयो विचित्रा एव धर्माः स्वाभाविकाः सन्तीति (भा० १०।१४।२१) "को वेत्ति भूमन्" इत्यस्य व्याख्याने (३८ अनु०) द्वितीयसन्दर्भे दर्शितमेव। अत्र श्रीरामानुजाचार्य्यसम्मतिरपि। श्रीगीतासु (४।६)—

विशिष्ट गोपबालक को देखा, आप गोपकन्यागणों के द्वारा वेष्टित थे, एवं गोपबालकगण के सहित हास्य परिहास कर रहे थे।

अतएव वक्ष्यमाण भा० १०।३।४६—"इत्युक्त्वासीद्धरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया,
पित्रोः सम्पश्यतः सद्यो बभूव प्राकृतशिशुः।" श्लोक की व्याख्या इस प्रकार करना उचित है। भगवान् हरि, उस प्रकार कहकर नीरव हो गये। दर्शनकारी जनक-जननी के समक्ष में आत्ममाया के द्वारा प्राकृत शिशु हो गये।"

श्लोकस्थ 'आत्ममाया' एवं 'प्राकृतशिशुः' पदद्वय सन्दिग्ध हैं। उससे श्रीकृष्ण रूप द्विभुज सत्य है, अथवा नहीं सन्देह होता है। किन्तु उक्त पदद्वय का अर्थ निम्नोक्त रीति से करने पर उक्त सन्देह नहीं होगा। 'आत्ममाया' शब्द का अर्थ है—निजेच्छा। कारण—महासंहिता में उक्त है, आत्ममाया—तदिच्छा स्यात्। आत्ममाया शब्द का अर्थ—उनकी इच्छा है। प्राकृत शब्द का अर्थ—प्रकृति के द्वारा व्यक्त, प्रकृति का अर्थ—स्वरूप है। अर्थात् स्वरूप में व्यक्त हुए हैं, अतः आप प्राकृत हैं। अर्थात् श्रीमन्नराकार विग्रह ही श्रीकृष्ण का स्वरूप है, उस स्वरूप में ही आविर्भूत हुये हैं, अतः उनको प्राकृत कहा गया है। प्राकृतिक उपाधि परिच्छिन्न श्रीकृष्ण नहीं हैं। अतएव प्रसिद्ध प्राकृत श्रीकृष्ण नहीं हैं। प्राकृतिक उपाधि—प्रकृति का धर्म है, माया का गुण है। जीव जिस प्रकार मायागुण सम्बलित होकर जन्मग्रहण करता है। उस प्रकार श्रीकृष्ण मायागुणसम्बलित होकर शिशु नहीं हुए हैं। कारण उनकी जन्मादि लीलास्वरूप शक्ति का विलास है, जीववत् कर्मफल भोगार्थ नहीं है। प्राकृत शिशु शब्द से शिशुत्व धर्माविष्कार निबन्धन उक्त रूप को परिणामशील नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् शैशव, पौगण्ड, कैशोर, वार्द्धक्य क्रम से उक्त रूप विवृत होगा, इस प्रकार सन्देह नहीं होगा। कारण श्रीभगवद् विग्रह में शिशुत्व प्रभृति विचित्र धर्मसमूह स्वभावसिद्ध रूपमें विद्यमान है। उसका प्रदर्शन भा० १०।१४।२१ श्लोक में हुआ।

"को वेत्ति भूमन्! भगवन्! परात्मन्! योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम्।
क्वाहो कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीड़सि योगमायाम्॥"

हे भूमन्! हे भगवन्! हे परात्मन्! हे योगेश्वर! त्रिलोक के मध्य में कौन व्यक्ति, कहाँ, कैसे, कब आपकी लीला होती है। कैसे जान सकते हैं। कारण आपका माया वैभव अचिन्त्य है। आप स्वीय चिच्छक्ति रूप योगमाया का विस्तार कर क्रीड़ा करते रहते हैं। इसकी विशद व्याख्या भगवत् सन्दर्भ के ३८ अनुच्छेद में है। व्याख्या का सारार्थ यह है—

एक मुख्य भगवद्रूप श्रीकृष्ण हैं। उनमें ही भगवान् शब्दार्थ की परिपूर्णता है। आप युगपत् स्वीय अचिन्त्य शक्ति से अनन्तरूपात्मक होते हैं। उपासकगणों की उपासना के अनुसार रूप का प्रकटन करते हैं। वैदूर्य्य मणि के समान ही श्रीभगवान् श्रीकृष्ण, एक वपु में अनेक प्रकार दृष्ट होते हैं।

बृहत्क्रमसन्दर्भः। ननु त्वमेवेदं वेत्थ, किमुतान्येऽपि इत्याशङ्क्य च न कोऽपि तव लीलां वेत्तीत्याह —को वेत्तीत्यादि। हे भूमन्! देशतो अपरिच्छिन्न! विश्वव्यापक हे भगवन्! अचिन्त्यसर्वैश्वर्य्यसम्पन्न!

"प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य सम्भवाम्यात्ममायया" इत्यत्र स्वमेव स्वभावमास्थाय आत्ममायया स्वसङ्कल्परूपेण ज्ञानेनेत्यर्थः ; "माया वयूनं ज्ञानम्" इति नैघण्टुकाः। महाभारते चावतार-रूपस्याप्यप्राकृतत्वमुच्यते—"न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" इति। अतो वृहद्वैष्णवेऽपि—

"यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः। स सर्वस्माद्बहिष्कार्य्यः श्रौतस्मार्त्तविधानतः॥२३५॥
मुखं तस्यावलोक्यापि सचेलं स्नानमाचरेत्।
पश्येत् सूर्य्यं स्पृशेद्गाञ्च घृतं प्राश्य विशुध्यति॥"२३६॥ इति।

हे परात्मन्! अनन्तगुणकर्मन्! हे योगेश्वर! कालतोऽपरिच्छिन्न! तव ऊतीर्लीलाः, अहो आश्चर्य्यम्, क्व वा को वेत्ति, देशतो अपरिच्छिन्नत्वात्, क्वेत्य सिद्धन्, अथवा, को वेत्ति, अचिन्त्यपरमैश्वर्य्यत्वात्, कति वा को वेत्ति, अनन्तगुणकर्मत्वात्। कदा वा को वेत्ति, कालतो अपरिच्छिन्नत्वादिति। देश-प्रकार-संख्या-काल-वचनैः क्वेत्यादिभिश्चतुर्भिर्भूमन्नित्यादिसम्बोधन-चतुष्टयमसम्भावनायां हेतुमद्भेतुभावेन समन्वेतव्यम्। एतेन सर्वथैव ते महिमा ज्ञातुमशक्य इति वाक्यार्थः।

तुम तो मुझको सब प्रकार से जानते हो, अपर भी जानते होंगे। इस प्रकार कथन के उत्तर में कहते हैं—कोई भी आपकी लीला को नहीं जानते हैं। उसका वर्णन करते हैं,—हे भूमन्! आप देश से अपरिच्छिन्न हैं, परिच्छिन्न वस्तु को लोक जानते हैं। आप विश्वव्यापक हैं, व्याप्य पदार्थ व्यापक को कैसे जानेगा? हे भगवन्! अचिन्त्य सर्वैश्वर्य्यसम्पन्न! हे परात्मन्! अनन्तगुणकर्मसम्पन्न! हे योगेश्वर! कालतोऽपरिच्छिन्न! आपकी ऊति, लीला को कौन जान सकते हैं, आश्चर्य्य है, क्व वा को वेत्ति—देशतो अपरिच्छिन्न होने के कारण, कौन जान सकते हैं। अथवा अचिन्त्य परमैश्वर्य्यसम्पन्न आप हैं। अतएव अर्वाचीन क्षुद्र शक्तियुक्त व्यक्ति कैसे आपको जानेगा? कितने कार्य्य आपके हैं? कौन जान सकते हैं। आप अनन्त गुणकर्मा हैं, किस समय क्या करते हैं, कौन जान सकते हैं। काल से भी आप अपरिच्छिन्न हैं। देश, प्रकार, संख्या, काल, वचन के द्वारा भूमन्! भगवन्! परात्मन्! योगेश्वर! सम्बोधन चतुष्टय के द्वारा जानना असम्भव ही है, इसका प्रकाश हेतु हेतुमद्भाव से कहा गया है, उससे फलितार्थ यह है कि—आपकी महिमा सर्वथा सबके द्वारा अज्ञेय ही है।

उक्त भगवत्तत्त्व विषय में उक्तानुरूप सम्मति श्रीरामानुजाचार्य की भी है। आपने गीता (४।६) —"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य सम्भवाम्यात्ममायया॥"

श्रीभगवदुक्ति की व्याख्या में लिखा है—"मैं अज, अव्ययस्वरूप एवं भूतसमूह का ईश्वर होने पर भी निज प्रकृति को अधिष्ठान करके आत्ममाया के द्वारा ग्रहण करता हूँ।" निज स्वभाव में ही अवस्थित होकर, आत्ममाया—निज सङ्कल्प रूप ज्ञान द्वारा, जन्मग्रहण करता हूँ। माया शब्द का ज्ञानार्थ स्वकल्पित नहीं है। नैघण्टुकार के मत में माया शब्द का अर्थ—माया वयुन ज्ञान है। महाभारत में भी भगवदवतार रूप का अप्राकृतत्व वर्णित है। "परमात्मा का देह—भूतसमष्टि जनित अर्थात् पाञ्चभौतिक नहीं है।"

अतएव वृहद्विष्णुपुराण में उक्त है—जो व्यक्ति परमात्मा श्रीकृष्ण के देह को पाञ्चभौतिक मानता है, वह व्यक्ति श्रुति-स्मृति विधान के अनुसार समस्त सत्कर्म से वहिर्भूत है, अर्थात् महापतित है। दैवात् उसका मुखदर्शन होने से वस्त्र के सहित स्नान करे, एवं शुद्धि के निमित्त सूर्य्यदर्शन, गो स्पर्श एवं घृतपान करे।

अथ (भा० १।१५।३४) "ययाहरद्भुवो भारम्" इत्यादौ चैवं मन्तव्यम्,— तनुरूपकलेवर-शब्दैरत्र श्रीभगवतो भूभारजिहीर्षालक्षणो देवादिपिपालयिषालक्षणश्च भाव एवोच्यते, यथा तृतीये विंशतितमे तत्तच्छब्दैर्ब्रह्मणो भाव एवोक्तः। यदि तत्रैव तथा व्याख्येयम्, तदा सुतरामेव श्रीभगवतीति। ततश्च तस्य भावस्य भगवति तदाभासरूपत्वात् कण्टकदृष्टान्तः सुसङ्गत एव। तथा द्वयमेवेशितुः साम्यमपि। तत्तु तृतीयसन्दर्भ एव विवृतम्। (भा०

भा० १।१५।३४ में वर्णित—"ययाहरद्भुवो भारं तां तनुं विजहावजः।
कण्टकं कण्टकेनेव द्वयञ्चापीशितुः समम्॥
यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्तेजह्याद् यथा नटः।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम्॥"

भगवान् ने जिस तनु के द्वारा पृथिवी का भारापनोदन किया, उसको काँटा निकालने की रीति से अर्थात् काँटा से काँटा को निकाल कर काँटा को छोड़ दिया जाता है, उस प्रकार ही श्रीकृष्ण ने तनु त्याग किया। इसमें सुस्पष्ट से कथित शरीर त्याग किया है, उससे श्रीकृष्ण तनु का पाञ्चभौतिकत्व सिद्ध होता है? स्वरूपभूत तनु का परित्याग नहीं होता है। उत्तर—उक्त श्लोक में तनु, रूप, एवं कलेवर शब्द का प्रयोग है, उससे श्रीभगवान् का देह निर्दिष्ट नहीं हुआ है। किन्तु तदीय भाव उक्त है, वह श्रीभगवान् की भूभारहरण रूपेच्छा, एवं देवादि पालन रूपेच्छा रूप भाव ही है। भाव अर्थ में तनु शब्द का प्रयोग श्रीमद्भागवत में है—भा० ३।२०।२८ 'विमुमुञ्च तनुं घोरां'।

टीका—ब्रह्मा तां तनुं विमुमोच। सर्वत्र तनुत्यागोनाम तत्तन्मनोभावत्यागो विवक्षितः, ग्रहणञ्च तत्तद्भावापत्तिरिति द्रष्टव्यम्।

गर्भोदकशायी के नाभिकमल से उत्पन्न होकर ब्रह्मा ने सर्वप्रथम पञ्च प्रकार अविद्या की सृष्टि की, उस तमोमयी सृष्टि से ब्रह्मा का मन सन्तुष्ट नहीं हुआ। आपने 'विससर्जात्मनः कायं' निज शरीर का त्याग किया। अनन्तर असुर सृजन होने से असुरोंने उनको आक्रमण किया। श्रीहरि से उपदेश प्राप्तकर उन्होंने 'विमुमुञ्च तनुं घोरां' निज कामकलुषित तनु को परित्याग किया, अनन्तर ब्रह्मा ने निज कान्ति के द्वारा गन्धर्व अप्सरागण को सृजन कर 'विससर्ज तनुं तां' तनु त्याग किया। अनन्तर करचरण प्रसारित कर शयित ब्रह्मा ने देखा सृष्टि बर्द्धित नहीं हुई, तब क्रुद्ध होकर 'क्रोधादुत्ससर्ज ह तद्वपुः' वपुः त्याग किया।

स्वामिपाद के मत में 'तनु' त्याग शब्द का अर्थ—मनोभाव त्याग है। सुतरां तनु, वपुः, काय शब्द से ब्रह्मा का मनोभाव त्याग की प्रतीति होती है। ब्रह्मा का तनुत्याग असम्भव है। अतएव श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में प्रयुक्त तनु-कलेवर-देह प्रभृति का भी अर्थ भाव पर ही होगा। भार हरणादि कर्म श्रीविष्णु रूप का है, स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण नहीं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जब अवतीर्ण होते हैं, उस समय उनसे ही समस्त कार्य्य सम्पन्न होते हैं। अतएव अधिकारी व्यक्ति का श्रीकृष्ण में रहना सम्भव होता है। तज्जन्य ही कण्टक दृष्टान्त सुसङ्गत हुआ है। कण्टक विद्धाङ्ग व्यक्ति के पक्ष में विद्धकण्टक एवं मोचक कण्टक उभय ही समान है, तद्रूप श्रीभगवान् के पक्ष में भी भूभार एवं भूभार हरणेच्छा उभय ही समान है। अर्थात् उभय ही उनका एकान्त कर्त्तव्य विषय न होने से उभय के प्रति उनका आवेश अनुसन्धेय नहीं है। वह आवेश आभास रूप है। इसका सुविशद विवेचन परमात्म सन्दर्भ में है।

१।१५।३५) "मत्स्यादिरूपाणि" मत्स्याद्यवतारेषु तत्तद्भावान्। अथ नटदृष्टान्तेऽपि नटः श्रव्यकाव्यरूपकाभिनेता नटः। व्याख्यातञ्च टीकाकृद्भिः प्रथमस्यैकादशे (भा० दी० १।११।२१)—"नटा नवरसाभिनयचतुराः" इति। ततो यथा श्रव्यरूपकाभिनेता नटः स्वरूपेण स्ववेषेण च स्थित एव पूर्ववृत्तमभिनयेन गायन् नायक-नायिकादिभावं धत्ते जहाति च तथेति।

भा० १।१५।३५ में उक्त है—"यया मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद् यथा नटः।
भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम्॥"

टीका—श्रीकृष्णस्य मूर्त्तिविशेषमाह—ययेति। तान्यपि यथा धत्ते जहाति च। तदाह—यथा नटो निजरूपेण स्थित एव रूपान्तराणि धत्ते अन्तर्धत्ते च तथापि कलेबरं जहौ—अन्तरधादित्यर्थः। अन्तर्धान किये थे।

परमात्मसन्दर्भ में विवेचित विषय का सारार्थ यह है—सच्चिदानन्द भगवान् स्वरूपशक्ति के द्वारा नित्य अनन्तवैकुण्ठादिगत ऐश्वर्य्यादि युक्त हैं, एवं प्राकृत गुण वर्जित अतएव अविकारी हैं। स्वरूपशक्ति का अनन्त सक्रिय बिलास उनमें सतत विद्यमान हैं। तज्जन्य श्रीभगवान् निरन्तर अनन्त स्वरूप में अनन्त लीला में निरत रहते हैं। अतः अवस्थान्तर प्राप्ति उनकी नहीं होती है। प्राकृत कर्त्ता के समान विकारी भी नहीं होते हैं। निर्विकार अवस्था में गुण एवं स्थित्यादि क्रिया का अवस्थान होना कैसे सम्भव होगा? उत्तर—आप चिन्मात्र हैं, चिद्वस्तु बिरोधी गुण-क्रियासमूह की स्थिति आपमें सम्भव नहीं है। स्वरूपैश्वर्य्य में परिपूर्ण होने से ही आप भगवान् हैं। प्राकृत गुणावली ग्रहण करने की आवश्यकता उनकी कदापि नहीं होती है। केवल लीला जन्य ही गुणक्रियादि का प्रकाश करते रहते हैं। आप स्वयं ही प्रवृत्त होकर निज स्वरूपभूतोपकरणों के सहित क्रीड़ारत होते हैं, एवं स्वरूपगत बैभव में ही परितृप्त रहते हैं। तदीय आश्रिता वहिरङ्गा जड़ाशक्ति बिश्वस्थ विचित्र रचना करती है। उनके सङ्कल्प से ही उक्त शक्ति समस्त अघटनघटन कार्य्य करती रहती है, उक्त कार्य्य भी उनकी लीलारूप में बिख्यात है।

श्रीभगवत् चिच्छक्ति के द्वारा श्रीवैकुण्ठादि लीला एवं मायाशक्ति के द्वारा सृष्ट्यादि कार्य्य निष्पन्न होता है। भगवान् स्वरूपशक्ति में बिराजित होने के कारण मायाशक्ति का आश्रय से उनका अवस्थान नहीं होता है। तज्जन्य ही कथित हुआ है—भूभार हरणादि कार्य्य में उनका आवेश नहीं होता है।

स्वरूपशक्ति का विलास के कारण मत्स्यादि रूप भी उनका नित्य है। उक्त रूप समूह का त्याग एवं धारण सम्बन्ध में जो कुछ कथन है, उससे जानना होगा कि—मत्स्यादि अवतार के द्वारा पृथिवी का भारस्वरूप दैत्यबधादि विषयक भार ग्रहण एवं त्याग ही है। कहा गया है—'धत्ते जह्याद् यथा नटः' यहाँ दृष्टान्त नट का है। दृश्य-श्रव्य काव्य का अभिनेता को नट कहते हैं। 'श्रव्यकाव्यरूपकाभिनेता', नट—कथक शब्द से अभिहित होता है। भा० १।११।२१ में उक्त है—

"नटनर्त्तकगन्धर्वाः सूतमागधवन्दिनः। गायन्ति चोत्तमः श्लोकचरितान्यद्भुतानि च॥"

स्वामिटीका—"नटा नवरसाभिनयचतुराः। तालाद्यनुसारेण नृत्यन्तो नर्त्तकाः। गान्धर्वाः गायकाः, सूताः पौराणिकाः प्रोक्ता मागधा वंशशंसकाः। वन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः। अद्भुतानि चेति चकारस्य वन्दिनश्चेत्यन्वयः। ते सर्वे गायन्ति चेति उत्तमःश्लोकस्य अद्भुतानि चरितानि—भक्तवात्सल्यादीनि।"

"उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण के चरित्रसमूह गान—नट, नर्त्तक, गन्धर्व, सूत, मागध, वन्दीगण करने लगे थे।" टीकाकार ने 'नट' शब्द का अर्थ—'नट—नवरसचतुर' कहा है। श्रव्यकाव्यरूपकाभिनेता को नट कहते हैं। वह जिस प्रकार निज स्वरूप में यथावत् स्थित होकर ही पूर्ववृत्तान्त को अभिनय के

अतएव तृतीये (भा० ३।२।११)—

"प्रदर्श्यातप्ततपसामवितृप्तदृशां नृणाम् ।
आदायान्तरधाद्यस्तु स्वविम्बं लोकलोचनम् ।।" २३७।।

इत्यत्रापि लोकलोचनरूपं स्वविम्बं निजमूर्त्ति प्रदर्श्य पुनरादायैव च अन्तरधात्, न तु त्यक्त्वेत्युक्तं श्रीसूतेन (भा० १।१५।३५)—"यथा मत्स्यादिरूपाणि" इत्यनन्तरमपि तथोक्तम् (भा० १।१५।३६)—"यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं जहौ स्वतन्वा" इति । त्यागोऽत्र स्वतनुकरणक इति न तु स्वतन्वा सहेति व्याख्येयम्, सहेत्यध्याहार्य्यापेक्षा-गौरवात् ; उपपदविभक्तेः कारक-

द्वारा प्रकट करने के निमित्त नायक-नायिकादि भाव धारण एवं त्याग करता है । तद्रूप दार्ष्टान्तिक श्रीभगवान् को भी जानना होगा, अर्थात् श्रीभगवान् स्वरूप में अविकृत रूप में स्थित होकर ही विविध रूप का प्रकटन करते रहते हैं । अतएव तृतीयस्कन्ध भा० ३।२।११ में वर्णित है—

"प्रदर्श्यातप्ततपसामवितृप्तदृशां नृणाम् । आदायान्तरधाद्यस्तु स्वविम्बं लोकलोचनम् ।।"

टीका—कोऽसौ हरिरित्यपेक्षायामाह—प्रदर्श्येति । न तप्तं तपो यैः, अतोऽवितृप्ता दृशो येषां तेषाम् । स्वविम्बं श्रीमूर्त्तिम् । एतावन्तं कालं प्रकर्षेण दर्शयित्वा योऽन्तर्हितवान् । लोकस्य लोचनमादाय —आच्छिद्य । तादृशस्यान्यस्य विलोकनीयस्याभावात् ।

श्रीविदुर को श्रीउद्धव कहे थे—भगवान् श्रीकृष्ण, एतावत् काल पर्य्यन्त स्वीय मूर्त्ति प्रदर्शन कर, सम्प्रति लोकलोचनस्वरूप मूर्त्ति को उन सबके समीप से बलपूर्वक ग्रहण कर अन्तर्हित हो गये हैं। जनसमूह दीर्घकाल पर्य्यन्त उक्त मूर्त्ति का दर्शन किये थे, किन्तु वे सब उससे परितृप्त नहीं हुये थे ।

यहाँ पर सुस्पष्ट ही कहा गया है कि—श्रीकृष्ण, लोकलोचनरूप स्वीय मूर्त्ति का प्रदर्शन कर, उसको लेकर ही अन्तर्हित हो गये हैं । यह अन्तर्द्धान है, त्याग नहीं है । शरीर के सहित अन्तर्द्धान की वार्त्ता "यथा मत्स्यादिरूपाणि" श्लोक के बाद उक्त है, भा० १।१५।३६—

"यदा मुकुन्दो भगवानिमां महीं जहौ स्वतन्वा श्रवणीय सत्कथः ।
तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसामभद्रहेतुः कलिरन्ववर्त्तत ।।"

टीका—युधिष्ठिरस्य स्वर्गारोहणप्रसङ्गाय कलिप्रवेशमाह—यदेति । स्वतन्वा जहौ स्वतनोरेव वैकुण्ठ रोहात् । श्रवणार्हा सती कथा यस्य तदा यदहस्तस्मिन्नेव । अह इति लुप्तसप्तम्यन्त पदम् । अप्रतिबुद्धचेतसां - अविवेकिनमिति, विवेकिनान्तु न प्रभुरित्युक्तम् । अन्ववर्त्ततेति पूर्वमेवांशेन प्रविष्टस्य स्वेन रूपेणानुवृत्तिरुक्ता ।

जिनकी सत्कथा का श्रवण सुकृतिशील जनगण करते रहते हैं, उन श्रीभगवान् मुकुन्द, जिस दिन शरीर के द्वारा इस पृथिवी को परित्याग किये थे । उस दिन ही अविवेकिगण के अमङ्गल हेतु कलि का अनुवर्त्तन हुआ । अर्थात् कलि का प्रवेश हुआ ।

उक्त श्लोक में 'स्वतन्वा' पद का प्रयोग है । उस पद की तृतीया विभक्ति 'करणे तृतीया' सूत्र से करणकारक में तृतीया विभक्ति हुई है । 'सहार्थे तृतीया' नहीं हुई है । 'सहार्थे तृतीया' स्वीकार करने पर तनु के सहित पृथिवी त्यागरूप अर्थ का बोध होगा । अर्थात् जिस प्रकार पृथिवी का त्याग किया, उस प्रकार ही निज तनु का त्याग भी किया, इस प्रकार अर्थ होगा । मूल श्लोक में सह शब्द का प्रयोग नहीं है । अन्वय हेतु 'सह' शब्द का अध्याहार करना पड़ेगा । अध्याहार न करके अर्थ सङ्गति की अपेक्षा अध्याहार के द्वारा अर्थ सङ्गति गौरवावह है । द्वितीयतः—उपपद-विभक्ति से कारक-विभक्ति

विभक्तिर्गरीयसी" इति न्यायाच्च। अथवा (गी० ७।२५) "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया-समावृतः" इति श्रीगीतावचनेन;

"योगिभिर्दृश्यते भक्त्या नाभक्त्या दृश्यते क्वचित्।
द्रष्टुं न शक्यो रोषाच्च मत्सराच्च जनार्दनः॥"

इति पाद्मोत्तरखण्डनिर्णयेन; (भा० १०।४३।१७) "मल्लानामशनिः" इति श्रीभागवतदर्शनेन; (वि० पु० ४।१५।६) "आत्म-विनाशाय भगवदस्तचक्रांशुमालोज्ज्वलमक्षयतेजःस्वरूपं परमब्रह्म-

बलीयसी है, यह नियम भी है। अतएव यहाँ पर 'करणे तृतीया' मानना ही समीचीन है। उससे तनु के द्वारा पृथिवी का त्याग किया है, किन्तु तनु त्याग नहीं किया, इस प्रकार सुस्थिर अर्थ होगा।

अथवा गी० ७।२५—"नाहं प्रकाश सर्वस्य योगमाया समावृतः।
मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोकोमामजमव्ययम्॥"

मैं अव्यक्त था, अधुना सच्चिदानन्दस्वरूप श्यामसुन्दर रूप में अभिव्यक्त हूँ। इस प्रकार न मानना, कारण, मेरा श्यामसुन्दर स्वरूप नित्य है। यह रूप, चिज्जगत् का सूर्य्यस्वरूप है। स्वयं उद्भासित होने पर भी योगमायारूप आवरण के द्वारा साधारण के चक्षु आवृत होते हैं, तज्जन्य मूढ़ लोक अव्ययस्वरूप मुझको जान नहीं सकते।

टीका—"ननु भक्ता इव अभक्ताश्च त्वां प्रत्यक्षीकुर्वन्ति प्रसादादेव भजत्स्वभिव्यक्तिरिति कथम्? तत्राह—नाहमिति। भक्तानामेवाहं नित्यविज्ञानसुखघनोऽनन्तकल्याणगुणकर्मा प्रकाशोऽभिव्यक्तो, नतु सर्वेषामभक्तानामपि। यदहं योगमायया समावृतो मद्विमोहकव्यामोहकत्व योगयुक्तया मायया समाच्छन्न परिसर इत्यर्थः। यदुक्तं "मायाजवनिकाच्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः" इति। मायामूढ़ोऽयं लोकोऽति-मानुषदेवतप्रभावं विधिरुद्रादिवन्दितमपि मां नाभिजानाति। कीदृशम्? अजं जन्मशून्यं, यतोऽव्ययम-प्रच्युतस्वरूपसामर्थ्यसार्वैश्वर्यादिकमित्यर्थः।" इस प्रकार गीतोक्त नियम के द्वारा श्रीकृष्ण का वास्तविक रूप भक्त व्यतीत अपर कर्त्तृक दृष्ट नहीं होता है।

पाद्मोत्तर खण्ड के निर्णय भी इस प्रकार है—श्रीजनार्दन, योगिगणों की भक्ति दृष्टि से दृष्ट होते हैं, अभक्त दृष्टि से श्रीजनार्दन कभी भी दृष्ट नहीं होते हैं। भा० १०।३३।१७ में उक्त—

"मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराड़विदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितोरङ्गं गतः साग्रजः॥"

रङ्गभूमिस्थ श्रीकृष्ण—मल्लगण के निकट अशनि (वज्र), मनुष्यवृन्द के समीप में नटवर, युवती की दृष्टि में मूर्त्तिमान् कन्दर्प, गोपगण के स्वजन, असत् राजन्य के समीप में शासनकर्त्ता, मातापिता का शिशु, कंस की साक्षात् मृत्यु, अविद्वान् के समक्ष में विराट्, योगियों के निकट परमतत्त्व, एवं वृष्णिगण के निकट परम देवता रूप में अनुभूत हुये थे। श्रीभागवत के प्रमाणानुसार एक श्रीकृष्ण ही विभिन्न भावाक्रान्त हृदय में विभिन्न भावानुरूप अनुभूत होते हैं। भक्त के निकट यथार्थ एक रूप में अवस्थित अनुभूत सर्वदा होते हैं।

विष्णुपुराण का गद्य भी इस प्रकार है—"मुक्तिलाभ के समय शिशुपाल ने भगवत्तन्मयता से विद्वेष विदूरित होने पर अक्षय तेजःस्वरूप भगवान् को देखा था।" इस विष्णुपुराण के गद्य से प्रतीत

भूतमपगतद्वेषादिदोषो भगवन्तमद्राक्षीत्" इति शिशुपालमुद्दिश्य विष्णुपुराणगद्येन चासुरेषु यद्रूपं स्फुरति, तत्तस्य स्वरूपं न भवति, किन्तु मायाकल्पितमेव। स्वरूपे दृष्टे द्वेषश्चापयातीति ततश्चासुरेषु स्फुरत्या यया तन्वा भुवो भाररूपमसुरवृन्दमहरत्तां तनुं विजहौ, पुनस्तत्प्रत्यायन न चकारेत्यर्थः। भक्तिदृश्या तनुस्तु तस्य नित्यसिद्धैवेत्याह—'अजः' इति; (भा० १०।३।८) "देवक्यां देवरूपिण्याम्" इत्यादेः, (भा० १०।२८।१८) "कृष्णञ्च तत्र चछन्दोभिः स्तूयमानम्" इत्यत्र गोलोकाधिष्टातृत्वनिर्द्देशाच्च। ततश्च "यथा

होता है कि असुर के समक्ष में भगवान् का जो रूप दृष्ट होता है, वह उनका रूप नहीं है, किन्तु मायाकल्पित ही है। भगवत् स्वरूप दर्शन से दोष विनष्ट होता है, किन्तु आसुरिक दृष्टि से भगवत् स्वरूप दर्शन नहीं होता है। अतएव आसुरिक भावाक्रान्त हृदय के समीप जिस स्वरूप को प्रकट कर स्वेच्छाचारी व्यक्तियों को विनष्ट कर पृथिवी का भारापनोदन भगवान् ने किया, उस तनु का उस भाव का परित्याग किया। आसुरिक व्यक्तियों के सान्निध्य में अवस्थान की आवश्यकता न रहने से पुनर्बार असुर संहार कालीन प्रकटित रूप का प्रकाश नहीं किया। यह ही 'तनु' त्याग शब्द का यथार्थ अर्थ है। भक्तिनयनों से दृश्य तनु श्रीकृष्ण का नित्यसिद्ध हो है।

गीता ४।६ में उक्त है—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥"

मैं जन्मादि रहित एवं अव्यय स्वरूप हूँ, स्वीय चिच्छक्ति को अवलम्बन कर जीवों के प्रति अनुग्रह करने के निमित्त निज स्वरूप में ही आविर्भूत होता हूँ।

भा० १०।३।८ में वर्णित है—"देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्बगुहाशयः।
आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः॥" विशुद्धभक्तिस्वरूपिणी देवकी में सर्वगुहाशय विष्णु पूर्वदिक में पुष्कल चन्द्रोदय के समान आविर्भूत हुये थे।

टीका—यथा—यथावत् ऐश्वरेणैवरूपेण॥

स्वरूपभूतशक्तिविलासालङ्कृत होकर ही आविर्भूत हुये, अर्थात् स्वाभाविक निज स्वरूपशक्ति में जिस रूप में नित्य अवस्थित हैं। ठीक उस रूप में ही आविर्भूत हुये थे, मायिक अथवा कृत्रिम रूप में नहीं। भा० १०।२८।१७ में उक्त है—

"नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिवृ ताः कृष्णञ्च तत्र छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः।"

श्रीनन्दादि गोपवृन्द कौतुकवशतः स्वीय पारलौकिक स्थिति का जिज्ञासु होने पर श्रीकृष्ण ने उस ब्रह्मह्रद में उन सबको ले गया था एवं निमज्जित होने के लिए कहा, पश्चात् वे सब निमज्जित होकर अत्यद्भुत दृश्य देखे थे। श्रीकृष्ण को भी वहाँ पर आप सबने देखा, जो वेदों के द्वारा स्तुत हो रहे थे।

क्रमसन्दर्भः—(१८) छन्दोभिः—गोपालतापन्यादिभिः।

वृहत्क्रमसन्दर्भः—(१८) तत् पुर्नविशिष्यवदति—नन्दादय इत्यादि। तं नारायणलोकम्, तत्रैव छन्दोभिः स्तूयमानं नारायणरूपं ग्रहीतारं श्रीकृष्णं दृष्ट्वा सुविस्मिता बभूवुः।

वृहद्वैष्णवतोषणी—एवं गोपानामिष्टसिद्धया परमानन्दो जात इत्याह—नन्दादय इति। तं वैकुण्ठलोकं गोलोकं वा, परमानन्देन निवृ ता निःशेषेण व्याप्ता बभूवुः। स्व दिदृक्षित तदीय स्थानविशेष-दर्शनात्, तत्रापि स्वलोकत्वेन स्वाधीनताज्ञानोत्पत्तेः। अप्यर्थे चकारः। तत्र ब्रह्मलोकेऽपि कृष्णं दृष्ट्वा सुविस्मिता बभूवुः। यद्वा, तत्र छन्दोभिः स्तूयमानं कृष्णं निजपार्श्वेऽपि स्तूयमानं पूर्ववत् दृष्ट्वा

मत्स्यादिरूपाणि" इत्यस्याप्ययमेवार्थः,—यथा नट ऐन्द्रजालिकः कश्चित् स्वभक्षकाणां बकादीनां निग्रहाय मत्स्याद्याकारान् धत्ते, स्वस्मिन् प्रत्याययति, तन्निग्रहे सति यथा च तानि जहाति, तथा सोऽयमजोऽपि येन मायित्वेन लक्ष्यतां प्रापितेन रूपेण भूभाररूपासुरवर्गः

परमविस्मयं प्राप्ता इति तैर्व्याख्यातमेव ।

यद्वा, तुशब्दो भिन्नोपक्रमे, सर्वे गोपा औत्सुक्याधीत्वेन वैकुण्ठलोकं दृष्ट्वा सुखं प्रापुरेव, श्रीनन्दादय प्रियतमजनास्तु तत्र ब्रह्मलोकं छन्दोभिः स्तूयमानं कृष्णं दृष्ट्वा सुविस्मिता अपि तं निजपार्श्वे पूर्ववद्वर्त्तमानं परमबन्धुं जीवनप्रभुं दृष्ट्वैव परमानन्दनिर्वृताः, नतु ब्रह्मलोकमित्यर्थः। आदिशब्देन श्रीयशोदाश्रीदामादि-सहचराः श्रीराधादिगोप्यश्च। यद्वा, तत्र तैः स्तूयमानमपि कृष्णं तं पूर्ववन्निजपार्श्वे वर्त्तमानं दृष्ट्वैव परमानन्दनिर्वृताः सन्तः, अतएव सुशोभनं विशेषतः स्मितं येषां तथाभूता बभूवुः। यद्वा, तं निजप्रियतमं कृष्णं तत्र छन्दोभिरपि स्तूयमानं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः, यद्वा, तं गोलोकं भूर्लोकस्थगोकुलसदृशमेव दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृता बभूवुः।

अभीष्ट सिद्धि होने से गोपगण परम आनन्दित हुये थे। उसको कहते हैं—वैकुण्ठलोक अथवा कृष्णवैकुण्ठ गोलोक को देखा था। सर्वतोभावेन परमानन्दित दर्शनकारिगण हुये थे। निजेप्सित स्थान को देखा, वह कृष्ण का ही स्थान था। उसमें भी अतीव आनन्द का विषय था, निज लोक था। उससे ही स्वाधीनता का आनन्द हो सकता है। च-कार का प्रयोग, अपि अर्थ में हुआ है, उस ब्रह्मलोक में भी उन्होंने कृष्ण को देखा, इससे विस्मय हुआ। अथवा उस लोक में वेदों के द्वारा संस्तुत श्रीकृष्ण को निज पार्श्व में पूर्ववत् देखा, इससे ही परमविस्मय हुआ। इस प्रकार व्याख्या श्रीस्वामिपाद ने की है।

अथवा तु शब्द भिन्नोपक्रम में प्रयुक्त है। गोपवृन्द औत्सुक्य अतिरेक से वैकुण्ठलोक को देखकर आनन्दित हुये थे। श्रीनन्द प्रभृति प्रियतम जनगण किन्तु ब्रह्मलोक में वेदसंस्तुत कृष्ण को देखकर सुविस्मित हुए थे, तथापि निज पार्श्व में पूर्ववत् वर्त्तमान परमबन्धु जीवनप्रभु को देखकर ही परमानन्दित हुये थे। किन्तु ब्रह्मलोक को देखकर नहीं। आदि शब्द से यशोदा, श्रीदामादि सहचरवृन्द एवं श्रीराधादि गोपीगण को जानना होगा। अथवा वेदों के द्वारा स्तूयमान श्रीकृष्ण को पूर्ववत् निजपार्श्व में देखकर ही परमानन्दित हुये थे। अतएव सुशोभन स्मित हास्य से सबके मुखकमल उद्भासित हुये थे। अथवा उन प्रियतम कृष्ण को वहाँ स्तुति प्राप्त करते हुये देखकर परम आनन्दित हुये थे। अथवा उस गोलोक को भूलोकस्थ गोकुल के सदृश ही देखकर परमानन्दित हुये थे।

स्वामिपाद—एवं ब्रह्महृदं—ब्रह्मैव ह्रदवत् ह्रदः, तत्र निमग्नस्य विशेषविज्ञानाभावात् तं ब्रह्महृदं ते तु नीताः प्रापिता स्तस्मिन् मग्नाश्च। तुशब्दोक्तं विशेषमाह। पुनः कृष्णेनोद्धृताः, समाधेरिवोत्थापिताः सन्तो ब्रह्मणस्तस्यैव लोकं वैकुण्ठाख्यं ददृशुरिति।

ननु ब्रह्मनिमग्नानां पुनर्लोकदर्शनमघटितमेव इत्याह—यत्रेति। यत्र यस्मिन् कृष्णे निमित्ते सति पूर्वमक्रूरोऽध्यगात्-दृष्टवान्। शुकपरीक्षित्संवादात् प्राक्तनत्वात् भूतनिर्देशः। नह्यतर्क्यैश्वर्य्ये भगवति किञ्चिदप्यसम्भावितमिति भावः। अथवा अक्रूरो यत्र दृष्टवांस्तस्य यमुनाह्रदस्य ब्रह्मह्रद इति नाम। तं ह्रदं नीताः सन्तो ब्रह्मणो लोकं ददृशुः, पुनश्च कृष्णेनोद्धृताः, पूर्ववत् तं दृष्ट्वा विस्मिता बभूवुरिति व्यवहितान्वयः। अप्रसिद्धकल्पना च सोढव्येति।

इस श्लोक में श्रीकृष्ण को गोलोकाधिष्ठाता रूप में कहा गया है। अतएव यथा—

"मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद् यथा नटः। भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम् ॥"

इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार ही है—जिस प्रकार नट-ऐन्द्रजालिक-भक्षक बकादि को निगृहीत करने के

क्षपितः तद्वर्गं क्षपितवानित्यर्थः। तच्च कलेवरमजो जहौ, अन्तर्धापितवानित्यर्थः। किन्तु श्रीगीतापद्ये (७।२५) "योगमाया-समावृतः" सर्पकञ्चुकवन्मायारचितवपुराभाससमावृत इत्यर्थः। विष्णुपुराणगद्ये "आत्मविनाशाय" इति आत्मनः स्वस्य शिशुपालस्येत्यर्थः। भगवता अस्तं क्षिप्तं यच्चक्रं तस्यांशुमालया उज्ज्वलं यथा स्यात्तथाऽद्राक्षीत्। यतः

निमित्त मत्स्यादि आकार धारण करता है, अपने को उस प्रकार ही विश्वस्त करता, वकादि निगृहीत होने के बाद उस रूप को वह छोड़ देता है। उस प्रकार ही अज नित्य पुराणपुरुष होकर भी मायावी रूप में दृष्ट होकर भूभार रूप उच्छृङ्खल आसुरिक स्वभावाक्रान्त मानववृन्द को विनष्ट किया। अर्थात् असुरवर्ग को विनष्ट किया, आसुरिक भाव को अपसारित किया, यह अर्थ है। जिस देह से आसुरिक भाव को अपसारित करने का कार्य्य किया, उस कलेवर को परित्याग किया, अज होकर भी परित्याग किया, अर्थात् अन्तर्द्धान किया। एक अद्वय तत्त्व श्रीकृष्ण में समस्त आश्रित हैं। सत्शिक्षा प्रदान रूप कार्य्य सम्पादन हेतु विरुद्ध असत् शिक्षा को उपस्थित करते हैं। उसका अपसारण उसके समान आदेश से करने के पश्चात् सत्शिक्षा स्थापन के अनन्तर प्रयोजन न रहने से उस भाव को अन्तर्हित करते हैं। गीता (७।२५) में वर्णित है—"नाहं प्रकाशसर्वस्य योगमायासमावृतः।

मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥" सर्पकञ्चुकवत् मायारचित वपु के आभास के द्वारा सम्यक् आवृत रहता हूँ।

श्रीमन्मध्वाचार्य्य—"अज्ञानं च मदिच्छयेत्याह—नाहमिति। योगेन—सामर्थ्योपायेन, मायया च, मयैव मूढ़ो नाभिजानाति, तथाहि पाद्मे—आत्मनः प्रकृतिञ्चैव लोकचित्तस्य बन्धनम्, स्वसामर्थ्येन देव्या च कुरुते स महेश्वरः।"

मेरी इच्छा से लोकों में अज्ञानता होती है, और वह लोक मुझको जान नहीं सकता है। मूढ़गण नहीं जानते हैं। पद्मपुराण में उक्त है—निज, प्रकृति एवं लोकचित्त का बन्धन कार्य्य महेश्वर, निज सामर्थ्य रूप शक्ति से, एवं देवी से करते हैं। स्वयं का बन्धन निज अन्तरङ्गशक्ति के द्वारा करते हैं। लोकचित्त एवं प्रकृति का बन्धन दैवी वहिरङ्गा माया के द्वारा सम्पादन करते हैं।

विश्वनाथ चक्रवर्त्ती। ननु भक्ता इव अभक्तास्त्वां प्रत्यक्षी कुर्वन्ति, प्रसादादेव भजत्स्वभिव्यक्तिरिति कथम्? तत्राह—नाहमिति, भक्तानामेवाहं नित्यविज्ञानसुखघनाऽनन्तकल्याणगुणकर्मा प्रकाशोऽभिव्यक्तो ननु सर्वेषामभक्तानामपि। यदहं योगमायया समावृतो मद्विमुखव्यामोहकत्व योगयुक्तया मायया समाच्छन्नपरिसर इत्यर्थः। यदुक्तं (भा० १०।८४।२३) 'मायाजवनिकाच्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः"।

क्रमसन्दर्भः। अहो! दूरस्थाः के वयं यं कृष्णाख्यं भगवन्तममीनिकटस्था भूपा अपि तथा एकाराम वृष्णयोऽपि न विदन्ति? यावन्महिमा तावत्तेनानुभवितुं न शक्नुवन्ति? ननु सततं सर्वमहिमाश्रयस्य प्रकटस्याननुभवे किं कारणम्? तत्राहुः—मायेति। तर्हि तादृश महिमाश्रयत्वे किं प्रमाणम्? तत्राहुः—जवनिकेति। तद्वरत्वादिच्छयान्तरङ्गीकृतानामनुभवोऽपि भवत्येवेति भावः। महिमानमेवाहुः—आत्मानं ब्रह्मस्वरूपम्। कलयतीति। कालमन्तर्य्यामिरूपमीश्वरं स्वयं भगवत् स्वरूपमिति।

मेरा श्यामसुन्दर रूप ही नित्य है, यह चिज्जगत् का सूर्य्यस्वरूप है। स्वयं उद्भासित होने पर भी निज चिच्छक्तिरूप योगमायारूप छाया के द्वारा मूढ़ व्यक्ति के चक्षु को आवृत कर देता हूँ। इससे मूढ़ जनगण मेरा अव्यय स्वरूप को जान नहीं पाते हैं।

विष्णुपुराण के गद्य में उक्त है—'आत्मविनाशाय' अर्थात् शिशुपाल का विनाश के निमित्त, भगवान्

'अपगतद्वेषादिदोषः' इति। तया तस्य दृष्टावुज्ज्वलायां सत्यामपगतद्वेषादिदोषः सन् दूरीकृत-मायिकनिजावरणं भगवन्तमद्राक्षीदित्यर्थः। किञ्च, तन्मते कल्पान्तरगततत्कथायां शिशुपालादिद्वयमुक्तिविषयक-मैत्रेय-पराशरप्रश्नोत्तररीत्या जय-विजययोः शापसङ्गतिर्नास्तीत्यन्यावेव तावसुरौ ज्ञेयौ। युक्तञ्च तत्, प्रतिकल्पं तयोः शापकदर्थनाया अयुक्तत्वात्। अथ (भा० १०।८५।२०) "सूतीगृहे" इत्यस्यार्थः—एतत्प्राक्तनवाक्येषु श्रीभगवन्महिमज्ञानभक्तिप्रधानोऽसौ विशुद्धसत्त्वप्रादुर्भावस्यात्मनो मनुष्यलीलामेव दैन्यातिशयतः प्राकृतमानुषत्वेन स्थापयित्वा श्रीभगवत्यपत्यबुद्धिमाक्षिप्तवान्। ततश्च ननु तर्हि कथमपत्यबुद्धिं कुरुष इति

के द्वारा निक्षिप्त चक्रज्योतिमाला के द्वारा उज्ज्वल वपु को देखा था। कारण—द्वेषादि दोष का अपसारण उससे हुआ था। चक्रांशु माला के द्वारा शिशुपाल के नेत्र उज्ज्वल होने से वैरभाव विनष्ट हुआ। तदनन्तर मायिक आवरण विदूरित स्वरूप भगवान् को शिशुपाल ने देखा था।

अनुसन्धेय यह है कि—विष्णुपुराण के अनुसार शिशुपाल-दन्तवक्र का जो प्रसङ्ग वर्णन, मैत्रेय-पराशर के प्रश्नोत्तर क्रम से हुआ है, वह कल्पान्तरगत का है। जिससे जय-विजय की शापसङ्गति नहीं होती है, वे दोनों अन्य असुर थे। उचित भी यह है, कारण, प्रति कल्प में जय-विजय का शापग्रस्त होना एक कदर्थना ही है। विष्णुपुराणीय कथा अपर कल्पगत है, एवं श्रीमद्भागवतीय कथा उससे भिन्न कल्प की है।

अनन्तर भा० १०।८५।२० में वर्णित श्रीवसुदेव वचन की सङ्गति प्रदर्शित हो रही है।

"सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ संयज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै।
नाना तनू गगनवद्विदधज्जहासि को वेद भूम्न ऊरुगाय विभूतिमायाम्॥"

टीका—ननु कुत एतदहं परमेश्वर इति तत्राह—सूतीगृहे इति। नौ आवयोः। अनुयुगं—प्रतियुगम्। यदा सुतपाः पृश्निरिति युग्मम्। यदा कश्यपोऽदितिश्चेति युग्मम्। अधुना च वसुदेवो देवकीति युग्मम्। एवं हि प्रतियुग्ममज एवाहं सञ्जज्ञे—अवतीर्ण इति भवान् नूनं जगाद। ननु अन्योऽसौ चतुर्भुजो देव इति तत्राह—नानातनूरिति। गगनवदसङ्ग एव त्वम्। भूम्नः सर्वगतस्य ते विभूतिरूपां मायां को वेदेति।

मैं परमेश्वर हूँ, कैसे कहते हैं? उत्तर—तुमने ही प्रसूति गृह में कहा था। प्रति युग में आविर्भूत होता हूँ। सुतपा, पृश्नि, कश्यप, अदिति अधुना वसुदेव-देवकी में मैं आविर्भूत हूँ। अज होने से भी प्रति युग में मैं अवतीर्ण होता हूँ। यह तो तुमने निश्चित रूप से ही कहा। यदि कहो कि—वह तो चतुर्भुज है, मुझ से वह भिन्न है, मैं द्विभुज हूँ। अनेक तनु धारण तुम करते रहते हो। गगनवत् तुम असङ्ग हो, सर्वव्यापक हो, तुम्हारी विभूतिरूपा माया को कौन जान सकते हैं।

श्रीवसुदेव की भक्ति—भगवन्महिम ज्ञानप्रधान है, उस प्रकार भक्ति के कारण ही प्रचुर दैन्य होना सम्भव है, श्रीवसुदेव विशुद्धसत्त्वस्वरूप हैं, विशुद्ध सत्त्व में श्रीभगवान् अवतीर्ण होते हैं। किन्तु वसुदेव तो अपने को साधारण मनुष्य मान रहे थे, उससे ही उनमें प्रचुर दैन्य हुआ, एवं श्रीभगवान् में पुत्र बुद्धि करना असमीचीन है, इसका उद्गार पूर्ववर्त्ती श्लोकसमूह में आपने किया है। उक्त प्रसङ्ग में मन ही मन श्रीभगवदुक्ति का स्मरण कर स्वीय जल्पना को प्रकट किया है। "यदि मैं पुत्र नहीं हूँ, तब क्यों मुझे पुत्र कहते हो?" श्रीभगवान् के प्रश्न की आशङ्का कर श्रीवसुदेव कहते हैं—'उक्त विषय में तुम्हारा वाक्य गौरव ही मेरा प्रमाण है, अपर कोई प्रमाण नहीं है।' इसको सुव्यक्त करने के निमित्त

भगवत्प्रश्नमाशङ्क्य तत्र तद्वाक्यगौरवमेव मम प्रमाणम्, न तूपपत्तिरित्याह—'सूतीगृहे' इति ; नौ आवयोरनुयुगम् । अतएव भवानजोऽपि संजज्ञे, अवतीर्णवानिति सूतीगृहे भवान्ननुजगाद । ननु मया तदपि भवदादितनुप्रवेशनिर्गमापेक्षयैव संयज्ञ इत्युक्तम्, न तु मम प्रवेशनिर्गमलिङ्गेनैव जन्म वाच्यम् । जीवसखेन व्यष्टेः समष्टेर्वान्तर्यामिरूपेण (कठ० १।२।१२) "तं दुर्द्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं, गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्" इत्यादौ (तै० २।६।२) "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इत्यादौ च तत्तदनुप्रवेशादिदर्शनसामान्यात् । ततस्तद्वदिदमुपचरितमेवेति मन्यताम्, तत्राह—नानेति, (भा० १० ८७।१९) "स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया"

आपने कहा, आपने ही तो सूतिकागृह में कहा—"मैं जन्मरहित होकर भी तुम्हारे पुत्र रूप में जन्मग्रहण करता रहता हूँ ।" प्रति युग में ही तो आप हमारे पुत्र होते हैं । अतएव आप जन्मरहित होकर भी अधुना जन्मग्रहण किये हैं—अर्थात् अवतीर्ण हुये हैं । 'सूतीगृहे भवान्ननुजगाद' कथन का अर्थ इस प्रकार ही है ।

श्रीभगवदुक्ति यह है—"में आप दोनों के तनु-प्रवेश-निर्गम की अपेक्षा से ही 'जन्मग्रहण करता हूँ' कहा हूँ । मेरा प्रवेश-निर्गम चिह्न के द्वारा जन्म कहना समीचीन नहीं है । कारण, मैं जीव का सखा हूँ ।" परमात्म रूप में व्यष्टि (मनुष्यादि स्वतन्त्र जीवत्व को व्यष्टि कहते हैं, एवं ब्रह्माण्ड ही समष्टि जीव है) समष्टि जीव में प्रवेश—निर्गम करता हूँ । इसमें प्रमाण (कठ० १।२।१२) है—

"तं दुर्द्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वाधीरो हर्षशोकौ जहाति ।।"

धीर पुरुष उन दुर्दर्श (जिनका दर्शन अति दुर्लभ है), गूढ़ (अतिशय प्रयत्न से ज्ञेय है), अनुप्रविष्ट (सर्वान्तर्यामी), गुहाहित (सर्व प्राणियों के हृदय गुहा में अवस्थित), गह्वरेष्ठ (मुक्त जीव में अवस्थित), पुराण (सर्वपूर्ववर्त्ती), देव (स्वप्रकाश अथवा क्रीड़ादि गुणविशिष्ट), को ध्यानयोग से अवगत होकर हर्ष-शोक को परित्याग करते हैं ।

तै० २।६।२ में उक्त है—"उसका सृजन कर उसमें प्रविष्ट हुये" अतएव समस्त वस्तु का सृजन करके जिस प्रकार उसमें प्रविष्ट होता हूँ, उस प्रकार ही तुम दोनों में प्रविष्ट हूँ, वह ही मेरा आरोपित जन्म है । इस प्रकार मानना उचित है ।" उत्तर में श्रीवसुदेव ने कहा—"तुम तो गगन के समान असङ्ग होकर विविध तनु ग्रहण एवं त्याग करते हो ।"

भा० १०।८७।१९ श्रुतिस्तुति में वर्णित है—

"स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया तरतमतश्चकास्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथास्वमुष्ववितथं तव धामसमं विरजधियोऽनुयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ।।"

टीका—ननु ईश्वरस्यापि तर्हि जीववदुदरादिसम्बन्धे तदनुप्रविष्टस्य च तारतम्ये सति केन विशेषेणोपास्यत्वमितीमामाशङ्कां परिहरन्त्य एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्चेत्यादयः, श्रुतयः स्तुवन्तीत्याह—सकृतविचित्र-योनिष्विति । स्वयं कृतासु उच्चनीचमध्यमासु योनिषु अभिव्यक्ति स्थानेषु देहादिषु हेतुतया उपादानतया प्रागेवविद्यमानत्वेन मुख्यप्रवेशासम्भवात् विशन्निव वर्त्तमानस्तरतमतो न्यूनाधिकभावेन चकास्सि अवभाससे स्वकृता योनीरनुकरोतीति—स्वकृतानुकृतिः, अनलवत्—अग्निर्यथा स्वतस्तारतम्यहीनोऽपि काष्ठानुसारेण तथा तथा प्रकाशते तद्वत् ।

इत्यादि-श्रवणात् गगनवदसङ्ग एव त्वं यज्जीवानां नानातनूर्विदधत् प्रविशन् जहासि, मुहुः प्रविशसि त्यजसि चेत्यर्थः। तद्भूम्नस्तव विभूतिविशेषरूपां मायां को वेद बहुमन्यते, न कोऽपीत्यर्थः। इदन्त्वावाभ्यां जन्म सर्वैरेव स्तूयत इति भावः। ततो विद्वदादरोऽप्यत्रास्तु प्रमाणम्, मम तु तत् सर्वथा न बुद्धिगोचर इति व्यञ्जितम्। अत्र विदधातेः प्रवेशार्थो नानुपपन्नः; यथोक्तं सहस्रनामभाष्ये—"शिष्टान् करोति पालयति" इति। सामान्यवचनो

अथ अतो वितथासु मिथ्याभूतासु अमूषु योनिषु अवितथं सत्यं यतः सममविशेषम्, अतः सत्यं तव धाम स्वरूपं विरजधियो निर्मलमतयोऽनुयन्ति जानन्ति। 'नु' इति पृथक् पदं वा।

अत्र हेतुः अभिविपण्यव इति। अभितो विगतव्यवहाराः। पण व्यवहार इत्यस्य रूपं पण्युरिति। ऐहिकामुष्मिककर्मफलरहिता इत्यर्थः। अविशेषत्वादेवैकरस सन्मात्रम्, अतस्तवोपाधिकृततारतम्याभावात् अप्रच्युतैश्वर्य्यस्य उपास्यत्वमिति भावः॥ स्वनिर्मितेषु कार्य्येषु तारतम्यविवर्जितम्।
सर्वानुस्यूत सन्मात्रं भगवन्तं भजामहे॥"

जीव के समान मातृ उदर में प्रविष्ट होने से अनुप्रवेश का तारतम्य होने पर किस विशेषण से ईश्वर जीव का उपास्य होगा? इस प्रकार आशङ्का विदूरित करने के निमित्त श्रुतिस्तुति कहती है,—एक ही देव, समस्त भूतों में गूढ़ रूप में हैं। वह सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा, कर्माध्यक्ष, सर्वभूताधिवास, साक्षी, चेता, केवल एवं निर्गुण अर्थात् प्राकृत सत्त्व-रज-तमः गुणरहित हैं। स्वकृत-विचित्रयोनिषु—स्वयं उच्चनीचमध्यम योनि में अर्थात् अभिव्यक्त स्थान में, कार्य्यरूप देहादि में, उपादान रूप में पूर्व से ही विद्यमान है। अतएव मुख्य प्रवेश होने की सम्भावना उनमें नहीं है। अतएव 'विशन्निव', जिस प्रकार प्रवेश होता है, उस प्रकार ही प्रतीत होते हैं। एवं न्यूनाधिक भाव से प्रतीत होते हैं। निजकृत अभिव्यक्त स्थान का अनुकरण करते हैं। अनलवत्, अग्नि जिस प्रकार स्वत तारतम्य हीन होने से भी काष्ठ के अनुसार प्रकाशित होता है, उस प्रकार ही आप प्रकाशित होते हैं। अत—मिथ्याभूत अभिव्यक्त स्थान में आप सत्य रूप में प्रतीत होते हैं। अतः आपका धाम सत्य है। निर्मल मतिमान् व्यक्तिगण उस तत्त्व को जानते हैं। 'नु' यह पृथक् पद है, इसमें हेतु है—अभितो विगत व्यवहारसमूह हैं। पण—व्यवहारार्थक धातु है। ऐहिक आमुष्मिक कर्मफल रहित हैं। अविशेष होने से एकरस हैं, सन्मात्र हैं। अतएव उनमें उपाधिकृत तारतम्य का अभाव होने से अप्रच्युत ऐश्वर्य्य हैं, अतएव आप उपास्य हैं, जीव उपास्य नहीं है।

स्व-निर्मित कार्य्यसमूह में तारतम्य विवर्जित सर्वानुस्यूत सन्मात्र भगवान् का भजन हम करते हैं।

"आप निजकृत ब्रह्मादि स्थावर पर्य्यन्त विचित्र अभिव्यक्त स्थान में कारण रूप में अनुप्रविष्ट के समान विराजित हैं।" श्रुति के कथनानुसार वास्तविक ही तुम गगन के समान असङ्ग हो, अन्तर्य्यामी रूप में जीवों के विभिन्न देह में बारम्बार प्रवेश एवं त्याग रूप आचरण करते हो, तुम सर्वग—विभु हो, तुम्हारी विभूतिरूपा माया को कौन बहुमान प्रदान करता है? अर्थात् कोई भी उसका स्तव नहीं करता है, किन्तु हम दोनों से तुम्हारा जो जन्म हुआ है, उसका स्तव सब व्यक्ति करते रहते हैं। सुतरां तुम हम दोनों का पुत्र हो, इसमें विद्वद्गण का आदर ही एकमात्र प्रमाण है। किन्तु वह भी सर्वथा मेरी बुद्धि का अगोचर है।

"सूतिगृहे ननु जगाद भवानजो नौ संयज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै।
नानातनूर्गगनवद्विदधज्जहासि को वेद भूम्न ऊरुगाय विभूतिमायाम्॥" श्रीवसुदेव के इस वाक्य से उक्त अभिप्राय ही व्यञ्जित हुआ है। उक्त श्लोक में 'विदधत्' पद का प्रवेश अर्थ—अनुपपन्न नहीं

धातुर्विशेषवचने दृष्टः। कुरु काष्ठानीत्याहरणे तथा तद्वदिति। तदेवं श्रीकृष्णस्य स्वयंभगवत्त्वम्। तस्यैव नराकृति-परब्रह्मणो नित्यमेव तद्रूपेणावस्थायित्वञ्च दर्शितम्। तथा प्रथमे पृथिव्यापि (भा० १।१६।२७) "सत्यं शौचं दया क्षान्तिः" इत्यादिना तदीयानां

होता है। अर्थात् उस प्रकार अर्थ करना अलौकिक रीति है, इस प्रकार कहा नहीं जा सकता है। कारण, वाक्यार्थ सङ्गति निबन्धन धातु का प्रसिद्ध अर्थ का त्यागकर अन्यार्थ कल्पना भी होती है। सहस्रनाम भाष्य में 'शिष्टान् करोति—पालयति' अर्थ किया गया है। धातु का सामान्य वचन का प्रयोग विशेष वचन में भी होती है। जिस प्रकार 'काष्ठानि कुरु' प्रयोग में काष्ठ आहरण अर्थ ही होता है। अर्थात् 'कुरु' करो, पद के द्वारा 'आहरण' अर्थ बोध जिस प्रकार होता है, उस प्रकार शिष्यगण को कहते हैं, 'शिष्टान् करोति' इस वाक्य का अर्थ भी 'शिष्टगण को पालन करते हैं' होगा। सुतरां 'विदधत्' पद का प्रवेश अर्थ करना असमीचीन नहीं है।

अतएव जिस प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में श्रीकृष्ण का ही स्वयं भगवत्ता स्थापित हुई है, एवं उनका ही नराकृति परब्रह्मत्व, नित्य नराकृति श्रीकृष्ण रूप में नित्य स्थितित्व का प्रतिपादन यथावत् हुआ है। उस प्रकार ही श्रीकृष्ण के कान्ति सह ओज बल प्रभृति का स्वाभाविकत्व एवं अव्यभिचारित्व का प्रतिपादन भी हुआ है। श्रीकृष्ण रूप में नित्य स्थिति प्रमाणित होने पर भी सामयिक रूप में मनोमोहन रूप-लावण्य एवं अतुलनीय बल प्रभृति का अपनोदन होता है अथवा नहीं? संशय निरास हेतु प्रथम स्कन्धोक्त पृथिवी की उक्ति के द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि—श्रीकृष्ण का सौन्दर्य्य स्वाभाविक है। देश काल भोगादि द्वारा सम्पादित एवं रूपान्तरित नहीं है। उक्त समुदय ही अव्यभिचारी हैं। उनमें सामर्थ्य सौन्दर्य्य प्रभृति की अवस्थिति—सर्वदेश एवं सर्वकाल, सर्वावस्था में एकरूप ही होती है। भा० १।१६।२७-३२ में पृथिवी की उक्ति निम्नोक्त प्रकार है—

"सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः सन्तोष आर्जवम्। शमोदमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्य्यं शौर्य्यं तेजोबलं स्मृतिः। स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्ति धैर्यं मार्दवमेव च॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजबलं भगः। गाम्भीर्य्यं स्थैर्य्यमास्तिक्यं कीर्त्तिर्मानोऽनहङ्कृतिः॥
एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः। प्रार्थ्या महत्वमिच्छद्भि र्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥
तेनाहं गुण-पात्रेण श्रीनिवासेन साम्प्रतम्। शोचामि रहितं लोकं पाप्मना कलिनेक्षितम्॥
आत्मानञ्चानुशोचामि भवन्तञ्चामरोत्तमम्। देवानृषीन् पितृ न् साधून् सर्वान् वर्णांस्तथा श्रमान्॥

टीका—यत्र च सत्यादयो महद्गुणा न वियन्ति न क्षीयन्ते स्म, तेन श्रीनिवासेन रहितं लोकं शोचामीति षष्ठेनान्वयः। सत्यं—यथार्थभाषणम्, शौचं—शुद्धत्वम्, दया—परदुःखासहनम्, क्षान्तिः—क्रोधप्राप्तौचित्तसंयमनम्, त्यागोऽर्थिषु मुक्तहस्तता, सन्तोषः—अलंबुद्धिः, आर्जवम्—अवक्रता, शमो—मनोनैश्चल्यम्, दमो—वाह्ये न्द्रियनैश्चल्यम्, तपः—स्वधर्मः, साम्यम्—अरिमित्राद्यभावः, तितिक्षा—परापराधसहनम्, उपरतिः—लाभप्राप्तवौदासीन्यम्, श्रुतं—शास्त्रविचारः, ज्ञानं—आत्मविषयम्, विरक्तिः—वैतृष्णम्, ऐश्वर्य्यं—नियन्तृत्वम्, शौर्य्यं—संग्रामोत्साहः, तेजः—प्रभावः, बलं—दाक्षत्वम्, स्मृतिः—कर्त्तव्याकर्त्तव्यार्थानुसन्धानम्, स्वातन्त्र्यम्—अपराधीनता, कौशलं—क्रियानिपुणता, कान्तिः—सौन्दर्य्यम्, धैर्य्यं—अव्याकुलता, मार्दवं—चित्तकाठिन्यम्, प्रागल्भ्यं—प्रतिभातिशयः, प्रश्रयः—विनयः, शीलं—सुस्वभावः, सह ओजोबलानि—मनसो ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणाञ्च पाटवानि, भगः—भोगास्पदत्वम्, गाम्भीर्य्यं—अक्षोभ्यत्वम्, स्थैर्य्यं—अचञ्चलता, आस्तिक्यं—श्रद्धा, कोर्त्तिः—यशः, मानः—पूज्यत्वम्, अनहङ्कृतिः—गर्वाभावः। एते—एकोनचत्वारिंशत्। अन्ये च ब्रह्मण्यत्व शरण्यत्वादयो महान्तो गुणा

कान्तिसहओजोबलानां स्वाभाविकत्वमव्यभिचारित्वञ्च दर्शितम्। अतएव ब्रह्माण्डे चाष्टोत्तरशतनामस्तोत्रे नराकृतित्वं प्रकृत्यैवोक्तम्—

"नन्दव्रजजनानन्दी सच्चिदानन्दविग्रहः। नवनीतविलिप्ताङ्गो नवनीतनटोऽनघ।।"२३९।। इति;

श्रीगोपालपूर्वतापन्यामपि तथैव (२४)—

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना,-मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
त पीठगं ये तु यजन्ति धीरा,-स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।"२४०।। इति।

(गो० ता० पू० ३७) "तमेक गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्" इत्यादि च। तस्माच्चतुर्भुजत्वे च द्विभुजत्वे च श्रीकृष्णत्वस्याव्यभिचारित्वमेवेति सिद्धम्। अथ कतमत्तत् पदं यत्रासौ विहरति? तत्रोच्यते—

यस्मिन्। नित्याः सहजाः न वियन्ति—न क्षीयन्ते स्म। तेन गुणपात्रेण, गुणालयेन, पाप्मना—पापहेतुना।।

सत्य, शौच, दया, क्षमा, दान, सन्तोष, सारल्य, शम, दम, तपस्या, साम्य, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य, शौर्य्य, तेजः, बल, सुस्वभाव, सह, ओजः बल, भोगास्पदत्व, गाम्भीर्य्य, अचञ्चलता, श्रद्धा, कीर्त्ति, मान एवं गर्वाभाव, महत्त्वाभिलाषीओं के प्रार्थनीय एकोनचत्वारिंशत् गुण एवं अन्यान्य महागुणसमूह जिनमें नित्यरूप में विराजित हैं, कदापि क्षीण नहीं हैं। सम्प्रति उन गुणनिधि श्रीनिवास कर्त्तृक परित्यक्त जगत् पापात्मक कलि की दृष्टि में निपतित है। तज्जन्य मैं शोकाक्रान्त हूँ।

अतएव ब्रह्माण्डपुराण के अष्टोत्तरशतनामस्तोत्र में श्रीकृष्ण की नराकृति को अवलम्बन करके ही कहा गया है—"नन्दव्रजजनानन्दी सच्चिदानन्दविग्रह—नवनीत द्वारा लिप्ताङ्ग नवनीत हेतु नृत्यकारी एवं अनघ (विशुद्ध) हैं।"

श्रीगोपालतापनी श्रुति में उस प्रकार नराकृति को लक्ष्य करके वर्णित है—"जो नित्य समूह के मध्य में नित्य हैं, चेतन वस्तुसमूह के मध्य में चेतन हैं, जो एकाकी अनेकविध जनगण की कामना पूर्त्ति करते हैं, पीठस्थित उन श्रीकृष्ण का पूजन जो धीरव्यक्ति करते हैं, उन सबको अनन्त सुखलाभ होता है। किन्तु तद्भजन विमुख व्यक्तियों को उस प्रकार अक्षय सुख नहीं मिलता है।"

गोपालतापनी पूर्व ३७ में उक्त है—

"तमेक गोविन्द सच्चिदानन्दविग्रहम्। पञ्चपदं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनम्।
समरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या तोषयामि।

'स्वजातीय विजातीय स्वगत भेदरहित सच्चिदानन्द पञ्चपदात्मक मन्त्रविग्रह वृन्दावनस्थ कल्पतरुमूलासीन गोविन्द को मरुद्गण के सहित मैं उत्तमस्तव के द्वारा सन्तुष्ट करता हूँ।"

विचार्य्य प्रकरण का सारार्थ यह है कि—"श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् नराकृति परब्रह्म हैं। आप चतुर्भुज रूप में अथवा द्विभुज रूप में लीलाविलास प्रकट करें, उससे श्रीकृष्णत्व का अर्थात् श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता का किसी प्रकार अन्यथा नहीं होता है।" यह निष्पन्न हुआ।

श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता का निरूपण नराकृति परब्रह्म रूप में होने पर उनका नित्य धाम का निरूपण करना अत्यावश्यक है। अतः "कतमत् तत्पदं यत्रासौ विहरति?" उक्त स्वयं भगवान्

"या यथा भुवि वर्त्तन्ते पुर्य्यो भगवतः प्रियाः। तास्तथा सन्ति वैकुण्ठे तत्तल्लीलार्थमादृताः॥"२४१॥ इति स्कान्दवचनानुसारेण वैकुण्ठे यद् यत् स्थानं वर्त्तते, तत्तदेवेति मन्तव्यम्; तच्चाखिल-वैकुण्ठोपरिभाग एव। यतः पाद्मोत्तरखण्डे दशावतारगणने श्रीकृष्णमेव नवमत्वेन वर्णयित्वा क्रमेण पूर्व्वादिषु तद्दशावतारस्थानानां परमव्योमाख्यि-महावैकुण्ठस्यावरणत्वेन गणनया श्रीकृष्णलोकस्य ब्रह्मदिशि प्राप्ते सर्व्वोपरिस्थायित्वमेव पर्य्यवसायितम्। आगमादौ हि दिक्क्रमस्तथैव दृश्यते, अत्रास्माभिस्तु तत्तच्छ्रवणात्। श्रीकृष्णलोकस्य स्वतन्त्रैवावस्थितिः;

श्रीकृष्ण जहाँ पर विहार करते हैं, वह स्थान किस प्रकार है? तत्रोच्यते, उसका उत्तर यह है— स्कन्दपुराण में वर्णित है—"पृथिवी में भगवत् प्रिया जो सब पुरी विद्यमान हैं, उन उन लीला के निमित्त समादृत होकर वैकुण्ठ में भी उक्त पुरीसमूह ठीक उस रूप में ही उपस्थित हैं।" इसके अनुसार वैकुण्ठ में जो जो स्थान विद्यमान हैं, वे सब स्थान ही उनकी विहारभूमि हैं। निखिल भगवत्स्वरूपों का विहार स्थान वैकुण्ठ है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का विहार स्थान निखिल वैकुण्ठ के उपरिभाग में है।

ब्रह्माण्डमध्य में सप्त सर्ग सप्त पातालात्मक चतुर्दश भुवन विराजित हैं। उसके बहिर्देश में आठ आवरण हैं, उसके बाद कारणसमुद्र का अपर नाम विरजा नदी है। उसके उपरिभाग में सिद्ध लोक है, वह सायुज्य मुक्ति का स्थान है। वह ही निर्विशेष ज्योतिर्मय ब्रह्म है। सिद्ध लोक के उपरिभाग में परव्योम है। वहाँ पर श्रीकृष्ण को विलासमूर्त्ति परव्योमाधिपति श्रीनारायण अवस्थित हैं। उक्त परव्योम में ही मत्स्यकूर्मादि अनन्त भगवत्स्वरूप स्व स्व परिकरगणों के सहित विराजित हैं। उन सब भगवत्स्वरूप के पृथक् पृथक् वैकुण्ठ विद्यमान हैं। अतएव उक्त परव्योम नामक स्थान में अनन्त वैकुण्ठ की स्थिति हैं। जिस समय भगवत्स्वरूपों का अवतरण ब्रह्माण्ड में होता है। उस समय धाम परिकरों के सहित ही उन उन भगवत्स्वरूपों का आविर्भाव होता है। तज्जन्य ही स्कन्दपुराण में वर्णित है— प्रत्येक भगवत् पुरी वैकुण्ठ एवं पृथिवी में अवस्थित हैं।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण एक होकर भी अनेक रूपों में प्रकाशित होते हैं, उस प्रकार भगवद्धाम भी बहुधा प्रकटित होते हैं। तज्जन्य ऊर्द्ध्व एवं अधोलोक में युगपत् भगवद्धाम की स्थिति का सामञ्जस्य नहीं होता है। किन्तु भगवद्धाम—भगवत्स्वरूप के समान ही विभु है, सर्वव्यापक है। आविर्भूत होने के निमित्त भगवत्स्वरूप के समान ही उक्त धाम का भी स्थानान्तर से आना नहीं पड़ता है।

श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् एवं परमस्वरूप हैं, उनका धाम भी सर्वोपरि विराजमान है। सर्वोपरि विराजित वह धाम अचिन्त्य शक्ति से एकपाद विभूति रूप पृथिवी में भी विराजित है। पृथिवीस्थित वृन्दावन एवं परमव्योम के ऊर्द्ध्व भाग में विद्यमान श्रीवृन्दावन, पृथक् नहीं है। एक वृन्दावन की ही उभयत्र स्थिति है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण—वृन्दावन में विराजित हैं, उनका ही प्रकाश विग्रह श्रीकृष्ण मथुरा एवं द्वारका में विराजित हैं।

पद्मपुराण के उत्तर खण्ड में दशावतार गणन में श्रीकृष्ण नवम रूप में वर्णित हैं। उक्त स्थल में पूर्वादि क्रम में दशावतार का स्थान निर्देश के अनन्तर परमव्योम नामक महावैकुण्ठ का आवरण वर्णित होने से श्रीकृष्णलोक की स्थिति ब्रह्मदिक् में हुई है। अर्थात् श्रीकृष्णलोक की स्थिति का निर्णय ऊर्द्ध्व दिक् में ही हुआ है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, अग्नि, नैर्ऋत, वायु, ऊर्द्ध्व, अधः क्रम से दिक् गणना में ऊर्द्ध्व दिक् नवम संख्यक है। सुतरां श्रीकृष्णलोक का सर्वोपरि स्थायित्व पर्य्यवसित हुआ।

किन्तु परमव्योमपक्षपातित्वेनैव पाद्मोत्तरखण्डेन तदावरणेषु प्रवेशितोऽसाविति मन्तव्यम्। पाद्मोत्तरखण्डप्रतिपाद्यस्य गौणत्वन्तु श्रीभागवत-प्रतिपाद्यापेक्षया वर्णितमेव। स्वायम्भुवागमे स्वतन्त्रतयैव सर्वोपरि तत् स्थानमुक्तम्। यथा ईश्वर-देवीसंवादे चतुर्द्दशाक्षरध्यानप्रसङ्गे पञ्चाशीतितमे पटले—

"ध्यायेत्तत्र विशुद्धात्मा इदं सर्वं क्रमेण तु। नानाकल्पलताकीर्णं वैकुण्ठं व्यापकं स्मरेत् ॥२४२॥
अधः साम्यं गुणानाञ्च प्रकृतिं सर्वकारणम्। प्रकृतेः कारणान्येव गुणांश्च क्रमशः पृथक् ॥२४३॥
ततस्तु ब्रह्मणो लोकं ब्रह्मचिह्नं स्मरेत् सुधीः। ऊर्द्ध्वे तु सीम्नि विरजां निःसीमां वरवर्णिनि ॥२४४॥
वेदाङ्गस्वेदजनित-तोयैः प्रस्राविताम् शुभाम्। इमाश्च देवता ध्येया विरजायां यथाक्रमम् ॥२४५॥

इत्याद्यनन्तरम्—

"ततो निर्वाणपदवीं मुनीनामूर्द्ध्वरेतसाम्। स्मरेत्तु परमव्योम यत्र देवाः सनातनाः ॥२४६॥
ततोऽनिरुद्धलोकञ्च प्रद्युम्नस्य यथाक्रमम्। सङ्कर्षणस्य च तथा वासुदेवस्य च स्मरेत् ॥"२४७॥

"लोकाधिपान् स्मरेत्" इत्याद्यनन्तरञ्च,—

आगमादि में भी उस प्रकार ही दिक्क्रम का वर्णन है।

किन्तु पाद्मोत्तर खण्ड में श्रीकृष्णलोक का वर्णन—परव्योम का आवरण रूप में हुआ है। उसका समाधान यह है—हम सब श्रीमद्भागवत के अनुयायी हैं, अमलप्रमाण श्रीमद्भागवत के प्रतिपाद्य तत्त्व की अपेक्षा पद्मपुराण के प्रतिपाद्य तत्त्व वस्तु गौण है। सर्व पुराणशिरोमणि श्रीमद्भागवत हैं। उसका सप्रमाण प्रतिपादन तत्त्वसन्दर्भ ८० अनुच्छेद में हुआ है। श्रीमद्भागवत मत में श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं, श्रीकृष्ण रूप में उनकी नित्य स्थिति है। एवं स्वतन्त्र रूप में वैकुण्ठ के आवरण रूप में नहीं। वैकुण्ठ के ऊर्द्ध्व भाग में श्रीकृष्ण लोक की स्थिति हम सब मानते हैं।

पाद्मोत्तर खण्ड परव्योम का पक्षपाती है, अतएव उसका वैकुण्ठ के आवरण रूप में श्रीकृष्णलीला का वर्णन शोभनीय है, इस प्रकार जानना होगा।

वैकुण्ठ के सर्वोपरि स्थान में श्रीकृष्ण लोक की स्थिति के सम्बन्ध में हम सब का आग्रहविशेष अथवा अनुमान ही उपजीव्य नहीं है। इस विषय में सुस्पष्ट शास्त्रीय वर्णन भी उपलब्ध है। स्वायम्भुवागम में स्वतन्त्र रूप में ही सर्वोपरि श्रीकृष्ण लोक की स्थिति वर्णित है। उसका विवरण— ईश्वर-देवी संवाद के चतुर्दशाक्षर ध्यान प्रसङ्ग में जो पञ्चाशीतितम पटल है, उसमें समुपलब्ध है।

उसमें विशुद्धात्मा मानव क्रमशः इस प्रकार ध्यान करे—"विविध कल्पलताकीर्ण सर्वव्यापी वैकुण्ठ का स्मरण करे। उसके अधोभाग में सत्त्व-रजः-तमोगुण की साम्यावस्था रूपा सर्वकारण प्रकृति का एवं प्रकृति के कारण एवं गुणसमूह का पृथक् रूप से स्मरण करे। हे वरवर्णिनि! प्रकृति के ऊर्द्ध्व भाग में सीमारहित विरजा नदी है, उसमें वेदाङ्ग स्वेद सलिल प्रवाहित है। वह नदी सर्व शुभस्वरूपा है। विरजा में इन देवताओं का ध्यान यथाक्रम से करे।"२४२-२४५।

इत्यादि वर्णन के पश्चात् वर्णित है—विरजा के उपरिभाग में उर्द्ध्वरेता मुनिवृन्द का निवास स्थान है। वह मुनिस्थान से प्रसिद्ध है। उसके उपरितन देश में देवगण का विहार स्थान है। वह परमव्योम है, उसका स्मरण करे।२४६।

उसके उपरिभाग में क्रमशः अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सङ्कर्षण, वासुदेव का स्मरण करे। एवं लोकपालसमूह का स्मरण करना विधेय है।२४७।

"पीयूषलतिकाकीर्णां नानासत्त्वनिषेविताम्। सर्वर्त्तुसुखदां स्वच्छां सर्वजन्तुसुखावहाम् ॥२४८॥
नीलोत्पलदलश्यामां वायुना चालितां मृदु। वृन्दावनपरागैस्तु वासितां कृष्णवल्लभाम् ॥२४९॥
सीम्नि कुञ्जतटां येषितक्रीडामण्डपमध्यगाम्। कालिन्दीं संस्मरेद्धीमान् सुवर्णतटपङ्कजाम् ॥२५०॥
नित्यनूतनपुष्पादिरञ्जितं सुखसंकुलम्। स्वात्मानन्दसुखोत्कर्षशब्दादि-विषयात्मकम् ॥२५१॥
नानाचित्रविहङ्गादिध्वनिभिः परिरम्भितम्। नानारत्नलताशोभिमत्तालिध्वनिमन्द्रितम् ॥२५२॥
चिन्तामणिपरिच्छन्नं ज्योत्स्नाजालसमाकुलम्। सर्वर्त्तु फलपुष्पाढ्यं प्रवालैः शोभितं परि ॥२५३॥
कालिन्दीजलसंसर्गिवायुना कम्पितं मुहुः। वृन्दावनं कुसुमितं नानावृक्षविहङ्गमैः ॥२५४॥

इस प्रकार स्मरण के पश्चात्—सुधी व्यक्ति श्रीकृष्णवल्लभा श्रीयमुना का स्मरण करे। यमुना पीयूषलताकीर्णा, विविध प्राणिवृन्दनिषेविता, सर्वर्त्तुसुखदायिनी, स्वच्छसलिला, सर्वप्राणीसुखावहा, नीलोत्पलदल के समान श्यामवर्णा, समीरण के द्वारा ईषदान्दोलिता अर्थात् मृदुतर तरङ्गयुक्ता, श्रीवृन्दावन पराग द्वारा सुवासिता, श्रीकृष्ण की अति प्रिया है। उसके तटदेश में कुञ्ज, मध्यभाग मे व्रज ललनावृन्द के क्रीड़ा मण्डप है। तीर में सुवण भूमि है, एवं नीर में सुवर्णपङ्कज सुशोभित है।२४८-२५०।

श्रीवृन्दावन—अनन्तर सुधी व्यक्ति, साधकोल्लास निकेतन कुसुमित श्रीवृन्दावन का सम्यक् स्मरण करे। वृन्दावन, नित्य नवीन पुष्पादि से रञ्जित है, सुख समाकुलित है। स्वरूपानुभवजनित आनन्द तिरस्कारकारी समधिक सुखाभिव्यक्तिस्वरूप शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध रूप विषय पञ्चक से परिपूर्ण है। विविध विहङ्ग की ध्वनि से परिपूरित है, बहुविध रत्नलता शोभित है। मत्त भ्रमर गुञ्जित, चिन्तामणि परिशोभित, ज्योत्स्नाराशि से परिव्याप्त, समस्त जगत् के ऋतुजात फलपुष्प समन्वित, एवं प्रवाल परिव्याप्त है, उसमें कालिन्दी जलसंस्पर्शि पवन, मृदुल तरङ्गायित होकर प्रवाहित है, एवं विविध वृक्ष एव पक्षी शोभित है।

यहाँ स्वरूपानन्द का विवेचन इस प्रकार है—स्वरूप परमस्वरूप परमात्मा, अभेदवादी ज्ञानीवर्ग ब्रह्मसायुज्य प्राप्त करते हैं। उसमें आनन्दलाभ की वार्त्ता कल्पित है, ब्रह्मसायुज्य में अनुभव कर्त्ता नहीं है। पृथक् अस्तित्व अनुभवकर्त्ता का नहीं है, न-तो साधन ही है। योगिगण, परमात्मा का अनुभव समाधिस्थ होकर करते हैं, स्वरूपावबोध से यह प्रचुरतम है।

अणु चैतन्य जीव—'भूमिरापोऽनलो वायुः' रूप अष्टावरण के मध्य में रहकर सुख की द्युतिच्छटा के द्वारा परस्पर को उन्मादित करते रहते हैं। यदि आवरणमुक्त जीवस्वरूप का अनुभव होता अथवा दृष्टि गोचर होता, तब प्रतीत होता कि—वह कीदृश सुखपूर्ण है।

परमात्मा—अनन्त जीवों का आश्रय है। उनके सम्बन्ध से ही अनन्त जीवस्वरूप आनन्दरूप में प्रतिभात हैं, स्वतन्त्र रूप से जीव आनन्दात्मक नहीं है। सुतरां परमात्मानुभव से कीदृश आनन्द होता है। उसका वर्णना करना तो दूर है, धारणा करना भी असम्भव ही है।

उक्त प्राकृत शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध व्यतीत साक्षात् मन्मथमन्मथ श्रीकृष्ण के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द हैं, सच्चिदानन्दमय है, अप्राकृत है, स्वरूपशक्ति के विलासरूप है। श्रीवृन्दावन एवं श्रीवृन्दावनवासी परिजनवर्ग उक्त अप्राकृत शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-माधुरी परिपूरित हैं। कारण उक्त श्रीवृन्दावन एवं श्रीवृन्दावनवासियों की शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-माधुरी श्रीकृष्ण को सुखी करती हैं। योगिगण—परमात्म समाधिस्थ होकर जो आनन्दानुभव करते हैं, श्रीवृन्दावन निवासि परिजनगण परस्परालाप प्रभृति के द्वारा उससे भी प्रचुर आनन्दानुभव करते हैं। कारण—श्रीवृन्दावनस्थ वस्तुसमूह एवं प्राणीवृन्द प्रेममय विग्रह हैं। स्वरूपसुख से प्रेमसुख की प्राचुर्य्य का विवरण, श्रीवैकुण्ठदेव की 'नाहमात्मानमाशासे' "मैं निज आत्मा को भी भक्त-साधुजन को छोड़कर अधिक महत्त्व नहीं देता हूँ।" उक्ति से सुस्पष्ट

हुआ है।

जागतिक विषयसुख से आत्मानन्द सुख अति प्रचुर है। कारण, आत्मा अकृत्रिम सुखरूप तो है ही, उपरन्तु उसके सम्पर्क से ही आरोपित विषय सुख का अनुभव मुग्धता से होता है। विवेकि व्यक्तिगण, आत्मानन्दरूप सुखानुभव के निमित्त विषयसुख का त्याग वितृष्णा के सहित करते हैं। प्रश्न हो सकता है कि—श्रीवृन्दावन निवासिओं का क्या तज्जातीय विषयसुख नहीं है? है, परिपूर्ण रूप से है, उन सबके आत्मा, अन्तर्य्यामी परमप्रिय, श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीवृन्दावन निवासि जनगण उक्त श्रीकृष्णानुभव सुख का अभिलाषी हैं। जगत् में प्रायश विषयसुखान्वेषण में जनगण निरत हैं। क्वचित् कोई बिरल विवेकीजन आत्मानन्द का अभिलाषी होता है। श्रीवृन्दावनस्थ पशुपक्षी पर्य्यन्त समस्त वस्तु विवेक-विज्ञान समन्वित हैं, एवं निर्मल प्रेमभास्कर ज्योति से श्रीवृन्दावन सतत उद्भासित है।

जागतिक विषयसुख के प्रति अज्ञानकृत मोह से जीवगण धावित होते हैं, श्रीवृन्दावनवासिओं का तादृश मोह की सम्भावना है ही नहीं। तज्जन्य श्रीवृन्दावन निवासिओं का कभी भी विषयसुख अर्थात् पारस्परिक शब्दस्पर्शादिरूप सुखोपभोग की लालसा नहीं होती है। वे सब निरन्तर श्रीकृष्णानुभवसुख में निमग्न हैं। श्रीकृष्णानुभव सुख वार्त्ता को व्यक्त करने की शक्ति एवं भाषा जीव की नहीं है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती पाद की भाषा यह है—"नेत्रार्वुदस्यैव भवन्तु कर्णनासारसज्ञा हृदयार्वुदम्वा सौन्दर्य्यसौस्वर्य्यसुगन्धपूरमाधुर्य्यसंश्लेषरसानुभूत्यै।" श्रीकृष्ण सौन्दर्य्य सौस्वर्य्य सुगन्धराशि माधुर्य्य रसानुभव के निमित्त अर्वुद नयन, अर्वुद कर्ण, अर्वुद नासा, अर्वुद रसना एवं अर्वुद हृदय हो। (प्रेमसम्पुट)

श्रीमन्महाप्रभु की उक्ति भी यह है, (चै० च० अ०)—

कृष्णरूपामृतसिन्धु ताहार तरङ्गबिन्दु
सेइ बिन्दु जगत् डुबाय।
त्रिजगते यत नारी तार चित्त उच्च गिरि
ताहे डुबाय आगे उठि धाय॥
कृष्ण वचनमाधुरी नाना रस नर्मधारी
तार अन्याय कथन ना याय।
जगते नारीर काने माधुरीगुणे बान्धे टाने,
टानाटानि कानेर प्राण याय॥
कृष्ण अङ्ग सुशीतल, कि हइवे तार बल,
छटाय जिने कोटीन्दु चन्दन।
सशैल नारीर वक्ष, ताहा आकर्षिते दक्ष,
आकर्षये नारीगण मन॥
कृष्णाङ्ग सौरभ्यभर, मृगमद मदहर,
नीलोत्पलेर हरे गर्व धन।
जगत् नारीर नासा, तारभितर करे बासा,
नारीगणे करे आकर्षण॥
कृष्णेर अधरामृत ताहे कर्पूर मन्दस्मित,
स्व-माधुर्य्ये हरे नारी मन।
अन्यत्र छाड़ाय लोभ, ना पाइले मनः क्षोभ,
व्रजनारीगणेर मूलधन॥

संस्मरेत् साधको धीमान् विलासैकनिकेतनम्। एकीभावो द्वयोर्यत्र वृक्षयोर्मध्यदेशतः ॥२५५॥
तदधश्चिन्तयेद्देवि मणिमण्डपमुत्तमम्। त्रिलोकीसुखसर्वस्वं सुयन्त्रं केलिवल्लभम् ॥२५६॥
तत्र सिंहासने रम्ये नानारत्नमये सुखे। सुमनोऽधिकमाधुर्य्यकोमले सुखसंस्तरे ॥२५७॥
धर्मार्थकाममोक्षाख्यचतुष्पादैर्विराजिते। ब्रह्मविष्णुमहेशानां शिरोभूषणभूषिते ॥२५८॥
तत्र प्रेमभराक्रान्तं किशोरं पीतवाससम्। कलयकुसुमश्यामं लावण्यैकनिकेतनम् ॥२५९॥
लीलारससुखाम्भोधि-संमग्नं सुखसागरम्। नवीननीरदाभासं चन्द्रकाञ्चितकुन्तलम् ॥"२६०॥

इत्यादि।

मृत्युञ्जयतन्त्रे च—

"ब्रह्माण्डस्योर्द्ध्वतो देवि ब्रह्मणः सदनं महत्। तदूर्द्ध्वं देवि विष्णूनां तदूर्द्ध्वं रुद्ररूपिणाम् ॥२६१॥
तदूर्द्ध्वञ्च महाविष्णोर्महादेव्यास्तदूर्द्ध्वगम्। कालातिकालयोश्चाथ परमानन्दयोस्ततः ॥२६२॥
पारे पुरी महादेव्याः कालः सर्वभयावहः। ततः श्रीरत्नपीयूषवारिधिर्नित्यनूतनः ॥२६३॥
तस्य तीरे महाकालः सर्वग्राहकरूपधृक्। तस्योत्तरे समुद्भासी रत्नद्वीपः शिवाह्वयः ॥२६४॥
उद्यच्चन्द्रोदयः क्षुब्धरत्नपीयूषवारिधेः। मध्ये हेममयीं भूमिं स्मरेन्माणिक्यमण्डिताम् ॥२६५॥
षोड़शद्वीपसंयुक्तां कलाकौशलमण्डिताम्। वृन्दावनसमूहैश्च मण्डितां परितः शुभैः ॥२६६॥
तन्मध्ये नन्दनोद्यानं मदनोन्मादनं महत्। अनल्पकोटिकल्पद्रुवाटीभिः परिवेष्टितम् ॥"२६७॥

इत्यादि;

"तन्मध्ये विपुलां ध्यायेद्वेदिकां शतयोजनाम्। सहस्रादित्यसङ्काशां........"२६८॥ इत्यादि;

योगपीठ—हे देवि! श्रीवृन्दावन के जिस स्थान में कल्पवृक्षद्वय के मध्यदेश एकीभावापन्न हुये हैं, उसके तलदेश में उत्तम मणिमण्डप को चिन्ता करे। तन्मध्य में त्रिलोकी का सुख सम्पत् सर्वस्व केलिवल्लभ उत्तम यन्त्र नाना रत्नखचित मनोहर सिंहासन है। उसमें कुसुम से भी अतीव सुकोमल माधुर्य्यपूर्ण सुखमय आस्तरण है।

उक्त सिंहासन धर्मार्थकाममोक्ष नामक स्तम्भ चतुष्टय के द्वारा अवष्टम्भित है, एवं ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर के शिरोभूषण के द्वारा विभूषित है। ईदृश मनोरम सिंहासन में प्रेमभराक्रान्त किशोर-पीतवसन, कलायकुसुम सदृश श्यामवर्ण, लावण्यराशि का एकमात्र आश्रय, लीलारससुखसागर में निमग्न, सुखसागर, नवीननीरदाभास, मयूरपुच्छचूड़ा शोभित कुण्डल श्रीकृष्ण का ध्यान करे। इत्यादि।२४८-२६०।

मृत्युञ्जयतन्त्र में भी लिखित है—हे देवि! ब्रह्माण्ड के उपरिभाग में ब्रह्मा का महत् सदन है। हे देवि! उसके ऊर्द्ध्व में विष्णुओं का, उसके ऊपर रुद्रस्वरूपों का सदन है। उसके उपरिभाग में महाविष्णु का स्थान है, उसके ऊपर महादेवी का स्थान है। उसके बाद कालातिकाल परमानन्द का स्थान है। महादेवीपुरी के परपार में सर्वभयावह काल विद्यमान है। उसके पश्चात् नित्यनूतन श्रीरत्न पीयूषवारिधि हैं। उसके तीरदेश में सर्वग्राहक रूपी महाकाल भवन है। उसके उत्तरभाग में उद्भासित रत्नद्वीप शिवलोक है। क्षुब्धरत्नपीयूषवारिधि से उदित चन्द्र के समान माणिक्यमण्डित हेममय भूमि का स्मरण करे। वह षोड़श द्वीप संयुक्त, कलाकोशल मण्डित एवं सब ओर मङ्गलमय वृन्दावनसमूह के द्वारा मण्डित है। तन्मध्य में नन्दनोद्यान सुवृहत् मदनोन्मादन स्थान है। वह अनल्पकोटि कल्पवृक्ष वाटिका के द्वारा वेष्टित है। उसके मध्य में सहस्रादित्य शङ्काश शतयोजन विस्तृत विपुल वेदिका का ध्यान करे। इत्यादि।२६१-२६८।

"तस्यान्तरे महापीठं महाचक्रसमन्वितम्। तन्मध्ये मण्डपं ध्यायेद्व्याप्तब्रह्माण्डमण्डलम्॥"२६९॥ इत्यादि;

"ध्यायेत्तत्र महादेवीं स्वयमेव तथाविधः। रक्तपद्मनिभां देवीं बालार्ककिरणोपमाम्॥"२७०॥ इत्यादि;

"पीतवस्त्रपरीधानां वंशयुक्तकराम्बुजाम्। कौस्तुभोद्दीप्तहृदयां वनमालाविभूषिताम्।
श्रीमत्कृष्णाङ्कपर्य्यङ्कनिलयां परमेश्वरीम्॥"२७१॥ इत्यादि;

"इति ध्यात्वा तथा भूत्वा तस्या एव प्रसादतः। तदाज्ञया परानन्दमेत्यानन्दकलावृतम्॥२७२॥
तदाकर्णय देवेशि कथयामि तवानघे। एतदन्तर्महेशानि श्वेतद्वीपमनुत्तमम्॥२७३॥
क्षीराम्भोनिधिमध्यस्थं निरन्तरसुरद्रुमम्। उद्यदर्द्धेन्दुकिरणदूरीकृततमोभरम्॥२७४॥
कालमेघसमालोक-नृत्यद्बर्हिकदम्बकम्। कूजत्कोकिलसङ्घेन वाचालितजगत्त्रयम्॥२७५॥
नानाकुसुमसौगन्ध्यवाहिगन्धवहान्वितम्। कल्पवल्लीनिकुञ्जेषु गुञ्जद्भृङ्गगणान्वितम्॥२७६॥
रम्यावाससहस्रेण विराजितनभस्तलम्। रम्यनारीसहस्रौघैर्गायद्भिः समलङ्कृतम्॥२७७॥
गोवर्द्धनेन महता रम्यावासविनोदिना। शोभितं शुभचिह्नेन मानदण्डेन चापरम्॥२७८॥
अवाचीप्राच्युदीच्याशाः क्रमायतविवृद्धया। व्याप्ता यमुनया देव्या नीलमेघाम्बुशोभया।
तन्मध्ये स्फटिकमयं भवनं महदद्भुतम्॥"२७९॥ इत्यादि;

"तत्तदन्तर्महाकल्पमन्दारादिद्रुमैर्वृतम्। तत्तन्मध्ये समुद्भासि-वृन्दावनकुलाकुलम्॥"२८०॥ इत्यादि;
"कुत्रचिद्रत्नभवनं कुत्रचित् स्फटिकालयम्॥"२८१॥ इत्यादि;

उसके अभ्यन्तर में महाचक्रसमन्वित महापीठ विराजित है। उसके मध्य में व्याप्त ब्रह्माण्ड मण्डल मण्डप का ध्यान करे।२६९।

रक्तपद्मनिभ बालार्क किरण सदृश महादेवी का ध्यान करे। जिनके परिधान में पीत वसन है, वंशी से कराम्बुजशोभित है, कौस्तुभ से हृदय उद्दीप्त है, एवं वनमाला से विभूषित है। परमेश्वरी श्रीकृष्ण के अङ्क पर्य्यङ्क में अवस्थित हैं।२७०-२७१।

इस प्रकार ध्यान करके उनकी प्रसन्नता रूपी आज्ञा से आनन्द कलावृत परानन्द की प्राप्ति होती है।२७२।

हे अनघे! हे देवेशि! मैं कहता हूँ, श्रवण करो, इसके मध्य में अनुत्तम श्वेतद्वीप है।२७३।

वह क्षीराब्धि के मध्य में है, सुरद्रुमों के द्वारा निविड़ रूप से शोभित है, उदीयमान अर्द्धेन्दु किरण के द्वारा तमः समूह को विदूरित करके स्थित है।२७४।

कालमेघ के समान कान्ति को देखकर मयूरसमूह नृत्य करते रहते हैं, कदम्ब पादपसमूह शोभित है। कूजत् कोकिल सङ्घ के द्वारा वह मुखरित है।२७५।

विविध कुसुमगन्धवहनकारी गन्धवह समन्वित है, कल्पवल्लीनिकुञ्ज में भृङ्गवृन्द गुञ्जनरत हैं।२७६।

रम्य आवास सहस्र के द्वारा नभःस्थल व्याप्त है, रम्य नारीसमूह के सङ्गीत के द्वारा वह समलङ्कृत है।२७७।

रम्य आवासविनोदी महान् गोवर्द्धन पर्वत के द्वारा शोभित है। मानों वह शुभ मानदण्ड चिह्न को विस्तार कर रहा है।२७८।

अपरन्तु अवाची, प्राची, उदीची दिक् में क्रमशः विस्तृत नीलाम्बुद कान्तियुक्त जल के द्वारा परिपूर्ण श्रीयमुना देवी परिव्याप्त हैं। उसके मध्य में महदद्भुत स्फटिकमय भवन है।२७९।

उसके मध्य स्थल में स्थान स्थान पर महाकल्पवृक्ष मन्दार प्रभृति का निविड़ वन है, उसके मध्य में समुज्ज्वल वृन्दावन विराजित है। उसमें कहीं पर रत्न भवन है, कहीं पर स्फटिकालय है।२८०-२८१।

"गोपगोपैरसंख्यातैः सर्वतः समलङ्कृतम् । विपापं विलयं रम्यं सदा षड़ूर्मिवर्जितम् ।।"२८२।। इत्यादि;
"तस्य मध्ये मणिमयं मण्डपं तोरणान्वितम् । तन्मध्ये गरुड़ोद्वाहि-महामणिमयासनम् ।।"२८३।। इत्यादि;
"कल्पवृक्षसमुद्भासिरत्नभूधरमस्तके । ध्यायेत्तत्र परमानन्दं रमोपास्यं परं महः ।।२८४।।
स्मरेद्वृन्दावने रम्ये मोहयन्तमनारतम् । वल्लवीवल्लभं कृष्णं गोपकन्याः सहस्रशः ।।"२८५।। इत्यादि;
(श्रीपद्यावली ४६) "फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनम्" इत्यादि च ।

एतदनन्तरं नित्यानित्यलोकविवेके देव्या पृष्टे श्रीशिव आह—

"शृणु देवि महामाये यन्नित्यं यदनित्यकम् । ब्रह्मादीनाञ्च सर्वेषां भवनानाञ्च पार्वति ।
विनाशोऽस्तीह सर्वेषां विना तद्भवनं तयोः ।।"२८६।। इति ।

पूर्वोक्तयोः श्रीभगवन्महादेव्यो रित्यर्थः । तस्मात् "या यथा भुवि वर्त्तन्ते" इति न्यायाच्च स्वतन्त्र एव द्वारका-मथुरा-गोकुलात्मकः श्रीकृष्णलोकः स्वयं-भगवतो विहारास्पदत्वेन भवति

असंख्य गोपगोपीके द्वारा सर्वतः समलङ्कृत है । वह पापरहित है, प्रलयवर्जित है, मनोहर है, एवं षड़् ऊर्म्मिवर्जित है ।२८२।

उसके मध्य में तोरणान्वित मणिमय मण्डप है, तन्मध्य में गरुड़ोद्वाहि महामणिमय सिंहासन है ।२८३।

कल्प वृक्ष के द्वारा समुद्भासित रत्न भूधर के मस्तक में रमोपास्य परमानन्द परं महः का ध्यान करे ।२८४।

रम्य वृन्दावन में सतत मोहन परायण गोपकन्या सहस्रावृत वल्लवीवल्लभ श्रीकृष्ण का स्मरण करे ।२८५।

पद्यावली में वर्णित है । ४६)

"फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं वर्हावतंसप्रियं श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरं ।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसङ्घावृतं गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे ।।

प्रफुल्ल इन्दीवर के समान कान्ति, वर्हावतंस प्रिय, श्रीवत्साङ्क कौस्तुभयुक्त, पीताम्बर के द्वारा सुन्दर, गोपिओं के नयनोत्पल के द्वारा अर्च्चित तनु, गो गोप सङ्घावृत कलवेणुवादनरत दिव्याङ्ग भूषण समलङ्कृत श्री गोविन्द का भजन करें ।

इस के अनन्तर नित्यानित्य लोक विषयक परिज्ञान हेतु देवी के प्रश्नोत्तर में श्रीशिव कहे थे—

हे देवि ! हे महामाये ! नित्य एवं अनित्य लोक का विवरण श्रवण करें, हे पार्वति ! ब्रह्मादि प्रभृति के समस्त भवनों का विनाश है, किन्तु श्रीराधा कृष्ण समस्त भवनों का विनाश नहीं है ।२८६।

"तयोः" शब्द का अर्थ है,—पूर्वोक्त मृत्युञ्जय तन्त्र में वर्णित श्रीभगवान् श्रीकृष्ण एवं महादेवी स्वरूप--श्रीराधा, उन दोनों के भवनसमूह अविनाशी हैं ।२८६।

अतएव पूर्वोक्त स्कन्द पुराण के वचन में वर्णित है,—पृथिवी में जो सब भगवत् पुरी बिराजित हैं, श्रीवैकुण्ठ में भी उक्त पुरीसमूह अविकल रूपमें अवस्थित हैं । उसके वाद उक्त आगमवचन के द्वारा प्रतीत हुआ कि—श्रीकृष्ण लोक, निखिल भगवल्लोक के उपरि भाग में विराजित है । सुतरां द्वारका, मथुरा गोकुलात्मक श्रीकृष्ण लोक, स्वयं भगवान् के विहारास्पद रूपमें सर्वोपरि विराजित हैं, यह शास्त्र वचनों से प्रमाणित हुआ ।

अतएव श्रीवृन्दावन—जिसका अपर नाम-श्रीगोकुल है, वह सर्वोपरि विराजित होकर श्रीगोलोक नाम से प्रसिद्ध है, अर्थात् पृथिवी में विराजमान श्रीवृन्दावन का जो प्रकाश निखिल वैकुण्ठ के उपरि भाग

सर्वोपरीति सिद्धम् । अतएव वृन्दावन-गोकुलमेव सर्वोपरि विराजमानं गोलोकत्वेन प्रसिद्धम् । ब्रह्मसंहितायाम् (५।१) "ईश्वरः परमः कृष्णः" इत्युपक्रम्य (ब्र० सं० ५।१-६)—

"सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत्पदम् । तत् कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांश-सम्भवम् ॥२८७॥
कर्णिकारं महद्यन्त्रं षट्कोणं वज्रकीलकम् । षडङ्ग-षट् पदीस्थानं प्रकृत्या पुरुषेण च ॥२८८॥
प्रेमानन्द-महानन्दरसेनावस्थितं हि यत् । ज्योतीरूपेण मनुना कामबीजेन सङ्गतम् ॥२८९॥
तत्किञ्जल्कं तदंशानां तत्पत्राणि श्रियामपि ॥२९०॥
चतुरस्रं तत्परितः श्वेतद्वीपाख्यमद्भुतम् । चतुरस्रं चतुर्मूर्त्तेश्चतुर्धाम चतुष्कृतम् ॥२९१॥
चतुर्भिः पुरुषार्थैश्च चतुर्भिर्हेतुभिर्वृतम् । शूलैर्दशभिरानद्धमूर्द्ध्वाधो दिग्विदिक्षु च ॥२९२॥
अष्टभिर्निधिभिर्जुष्टमष्टभिः सिद्धिभिस्तथा । मनुरूपैश्च दशभिर्दिक्पालैः परितो वृतम् ॥२९३॥
श्यामैर्गौरैश्च रक्तैश्च शुक्लैश्च पार्षदर्षभैः । शोभितं शक्तिभिस्ताभिरद्भुताभिः समन्ततः ॥'२९४॥ इति ।

तत्राग्रे ब्रह्मस्तवे (ब्र० सं० ५।२९)—"चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष-लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्" इत्युपक्रम्य (ब्र० सं० ५।४३)—

में अवस्थित है, वह ही श्रीगोलोक है ।

ब्रह्म संहिता के ५।१ श्लोक में वर्णित है—

"ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः ।
अनादिरादि र्गोविन्दः सर्व कारण कारणम् ॥"

श्रीकृष्ण, परम ईश्वर हैं, सच्चिदानन्द विग्रह हैं, अर्थात् उनकी श्रीमूर्त्ति, नित्य ज्ञानानन्दस्वरूप है, आप स्वयं अनादि हैं, अतः समग्र तत्त्वों में अनादि हैं, आप सब के मूल हैं, आपके पहले अपर कोई तत्व नहीं हैं, आपका अपर नाम श्रीगोविन्द हैं, आप अनन्त जगत् कारणों के समस्त कारणों के मूल कारण स्वरूप हैं । इस कथन के द्वारा प्रारम्भ कर २-५ श्लोक के द्वारा उनके धाम का विस्तृत वर्णन किये हैं ।

महा भगवान् श्रीकृष्णका गोकुल नामक धाम का प्रतिपादन करते हैं,—उक्त स्थान-सहस्रदल कमल सदृश है, उक्त कमल की कर्णिका ही उनका धाम है । अनन्त का अंश से ही उक्त गोकुल नामक धाम सतत आविर्भूत है ।

उक्त कर्णिका हीरक—कीलक शोभित षट् कौण महद् यन्त्र स्वरूप है । उक्त षट् कोण में षट् पदी श्रीमदष्टादशाक्षर मन्त्र विन्यस्त है । उक्त कर्णिका,-प्रेमानन्द जनित जो महानन्द रस है, तदात्मक प्रकृति पुरुष कर्त्तृक अधिष्ठित है, एवं ज्योति रूप काम बीज का स्थान है ।

उक्त सहस्रदल कमल का किञ्जल्क,-श्रीकृष्ण के अंश स्वरूप स्वजाति गोप वृन्द का निवास स्थान है, कमल पत्र, श्रीगोपीवृन्द का निवास स्थान है ।

श्रीगोकुल के चतुर्दिक में श्वेत द्वीप नामक एक अत्यद्भुत धाम है, उक्त श्वेत द्वीप चतुर्भाग में विभक्त है । एवं चतुर्दिक में वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध के चतुर्धाम है, वह चतुर्विध पुरुषार्थ एवं चतुर्विध पुरुषार्थ साधन के द्वारा पूजित हैं, ऊर्द्ध्व अधः प्रभृति दिक् विदिक् अर्थात् दशदिक् दशशूल के द्वारा आनद्ध हैं, पद्म, महापद्म, मकर, कच्छप मुकुन्द, नील, नन्द एवं शङ्ख रूप अष्टनिधि एवं अणिमा-महिमा लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशित्व एवं कामावशायिता रूप अष्ट सिद्धि से सेवित है, मन्त्र स्वरूप इन्द्रादि इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋत, वरुण, मरुत, कुवेर, ईश, ब्रह्म अनन्त, रूप दशदिक् पाल कर्त्तृक परि रक्षित है एवं श्याम गौर, रक्त, शुक्ल वर्ण पार्षद वृन्द के द्वारा परिवृत तथा सर्वदिक् अत्याश्चर्य्य शक्ति समूह से सुशोभित हैं ।२८७। ।२९४।

"गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य, देवी-महेश-हरि-धामसु तत्र तत्र ।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥" २९५॥ इति ।

व्याख्यामाह—सहस्राणि पत्राणि यत्र तत् कमलं चिन्तामणिमयं पद्मं तद्रूपम् । तच्च महत् सर्वोत्कृष्टं पदं महतो महाभगवतो वा पदं श्रीमहावैकुण्ठरूपमित्यर्थः । तत्तु नानाप्रकारमित्याशङ्क्य प्रकारविशेषत्वेन निश्चिनोति—गोकुलाख्यमिति । गोकुलमित्याख्या रूढ़िर्यस्य तत् गोगोपावासरूपमित्यर्थः, 'रूढ़िर्योगमपहरति' इति न्यायेन तस्यैव प्रतीतेः । तत एतदनुगुणत्वेनैवोत्तरग्रन्थोऽपि व्याख्येयः । तस्य श्रीकृष्णस्य धाम श्रीनन्दयशोदादिभिः सह वासयोग्यं महान्तःपुरम् । तस्य स्वरूपमाह—तदिति । अनन्तस्य श्रीबलदेवस्यांशात् सम्भवो नित्याविर्भावो यस्य तत् । तथा तन्त्रेणैतदपि बोध्यते । अनन्तोऽंशो यस्य तस्य श्रीबलदेवस्यापि सम्भवो निवासो यत्र तदिति । सर्वमन्त्रगणसेवितस्य श्रीमदष्टादशाक्षराख्य-महामन्त्रराजस्य बहुपीठस्य मुख्यं पीठमिदमेवेत्याह—'कर्णिकारम्' इति द्वयेन । 'महद्यन्त्रम्' इति यत्प्रतिकृतिरेव सर्वत्र यन्त्रत्वेन पूजार्थं लिख्यत इत्यर्थः । यन्त्रत्वमेव दर्शयति—

अनन्तर आदि गुरु श्रीकृष्ण से त्रयीविद्या प्राप्तकर श्रीकृष्ण की स्तुति श्रीब्रह्माने की उसका प्रथम श्लोक यह है—चिन्तामणि प्रकट सद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभि रभिपालयन्तम् लक्ष्मीसहस्रशत सम्भ्रम सेव्य मानम् गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ।५।२९।

श्रीकृष्ण धाम चिन्तामणि निर्मित गृह समूह से सुशोभित हैं, लक्ष लक्ष कल्प वृक्ष समावृत हैं, उक्त गोकुल नामक धाम में जो सुरभि पालनरत हैं, जिनकी सेवा शत शत ब्रज लक्ष्मी गण आदर पूर्वक करती रहती हैं, उन आदि पुरुष श्रीगोविन्द देवका भजन मैं करता हूँ ।५।२९। ५।४३ में उक्त हैं—

गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य देवी महेश हरिधामसु तेषु तेषु,
ते ते प्रभावनिचया बिहिताश्चयेन गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।"

श्रीवृन्दावन का अभिन्न प्रकाश स्वरूप श्रीगोलोक धाम के क्रमशः निम्नदेश में हरिधाम, महेश्वर धाम, एवं देवीधाम बिलसित हैं, उक्त धाम समूह में एवं निजधाम में शास्त्र विहित प्रभाव का प्रकाश जो निरन्तर करते रहते हैं, मैं उन आदि पुरुष श्रीगोविन्द देव का भजन करता हूँ ।

अनन्तर 'सहस्र पत्र कमलं' इत्यादि श्लोक समूह की व्याख्या करते हैं । 'सहस्र पत्रं कमलं' सहस्र पत्र दल जिसमें हैं, इस प्रकार कमलहै । वह पद्म चिन्तामणिमय है, चिन्तामणि-सर्वाभीष्ट पूरक मणि है । श्रीवृन्दावन की भूमि चिन्तामणिमय है, उक्त भूमि को आश्रय करने से अखिल वाञ्छा पूर्त्ति होती है ।

वह महत् पद है, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट स्थान है, अथवा महत् महा भगवान् का पद—स्थान श्रीमहा-वैकुण्ठ रूप है । महावैकुण्ठ अनेक प्रकार होने से विशेष रूपसे निश्चय करके कहते हैं, 'गोकुलाख्यं' 'गोकुल' यह आख्या ख्याति है, जिस की, अर्थात गोकुलनाम से प्रसिद्ध गो गोपावास है । इस प्रकार अर्थ-- गोकुल शब्दकी रूढ़ि वृत्ति से हुआ है, मुख्य लक्षणागुण भेद से शब्द वृत्ति त्रिविध हैं, मुख्यावृत्ति रूढ़ योग भेद से द्विविधा है, रूढ़ स्वरूप जाति एवं गुण के द्वारा निर्देशार्ह वस्तु में संज्ञा संज्ञि सङ्केत से प्रवर्त्तित होती है, उदाहरण – 'डित्थः, गौः, शुक्लः' योग—एतत्त्रिविध वृत्ति प्रतिपादित पदार्थ का प्रकृति प्रत्ययार्थ के योग से होता है । यथा—'पङ्कजं, औपगवः, पाचकः ।'

मण्डप शब्द का यौगिकवृत्ति से अर्थ है 'मण्डपायी' रूढ़ि वृत्तिसे देवगृह । मण्डप शब्दका रुढ़ि वृत्ति

षट्कोणा अभ्यन्तरे यस्य तत् 'वज्रकीजकम्', कर्णिकारे बीजरूपहीरककीलकशोभितम्। षट्कोणत्वे प्रयोजनमाह—षट् अङ्गानि यस्याः सा या षट्पदी श्रीमदष्टादशाक्षरी तस्याः स्थानम्। प्रकृतिर्मन्त्रस्य स्वरूपं स्वयमेव श्रीकृष्णः, कारणरूपत्वात्, पुरुषश्च स एव तदधिष्ठातृदेवतारूपः ताभ्यामवस्थितमधिष्ठितम्। ऋष्यादि-स्मरणे हि तथा प्रसिद्धम्। किञ्च, द्वयोरपि विशेषणं प्रेमेति। प्रेमरूपा ये आनन्दा महानन्दरसास्तत्परिपाकभेदास्तदात्मकेन, तथा ज्योतीरूपेण स्वप्रकाशेन मनुना मन्त्ररूपेण च कामबीजेनावस्थितमिति मूलमन्त्रान्तर्गतत्वेऽपि पृथगुक्तिः कुत्रचित् स्वातन्त्र्यापेक्षया। तदेवं तद्धामोक्त्वा तदावरणान्याह—तदिति। तस्य कर्णिकारस्य किञ्जल्कं किञ्जल्कास्तद्रूपनाभ्यन्तरवलय इत्यर्थः। तदंशानां तस्मिन्नंशो दायो विद्यते येषां तेषां सजातीयानां धामेत्यर्थः। गोकुलाख्यमित्युक्तेरेव तेषां तज्जातीयत्वमेवोक्तं श्रीशुकेन च (भा० १०।३६।१५)—

"एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः स्वजातिभिः।
विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः॥"२८६॥ इति।

लब्ध अर्थ प्रसिद्ध है। गोकुल शब्द का योग वृत्ति प्रतिपादित अर्थ—गोसमूह है, किन्तु गो गोपावास रूप स्थान विशेष रूप अर्थ का लाभ रूढ़ि वृत्ति से होता है, अतएव रूढ़ि वृत्ति प्रतिपादित गोकुल शब्द का अपर अर्थ करना उचित नहीं है।

अतएव इस श्लोक के आनुगत्य से ही ब्रह्मसंहितोक्त श्लोक समूह की व्याख्या होगी, अर्थात् उक्त श्लोक समूह का तात्पर्य भी गो गोपावासरूप गोकुल में पर्य्यवसित होगा। (तद्धाम) श्रीकृष्ण का धाम,-श्रीनन्द यशोदा के सहित निवास योग्य महाअन्तःपुर।

गोकुल का स्वरूप वर्णन करते हैं, 'तदनन्तांश सम्भवम्' श्रीगोकुल—अनन्त श्रीबलदेव के अंश से सम्भूत है, अर्थात् श्रीबलदेव के अंशसे श्रीगोकुल का नित्याविर्भाव है। उभयार्थ प्रकाशक रूप तन्त्ररीति से प्रतीत होता है कि—अनन्त-अंश है जिनका, इस प्रकार श्रीबलदेवका निवास स्थान ही श्रीगोकुल नाम से प्रसिद्ध है। अर्थात् उक्त गोकुल भूमि, श्रीकृष्ण बलराम की विहार भूमि है।

निखिल मन्त्र गण सेवित श्रीदृमष्टादशाक्षर महामन्त्र राजके अनेक योग पीठ विद्यमान होने से भी, 'कर्णिकारं महद्यन्त्रं' श्लोक द्वय के द्वारा श्रीकृष्ण का मुख्य उपवेशनस्थान रूप योग पीठक वर्णन करते हैं, सहस्र दलाकृति कमल तुल्य गोकुल का कर्णिकार महद् यन्त्र है, अर्थात् जिनकी प्रतिकृति सवत्र मन्त्र रूप में लिखित है, उनकी आकृति उक्त रूप ही है, यन्त्रत्व का प्रदर्शन करते हैं, वह षट् कोण हैं, अर्थात् जिसके अभ्यन्तर में षट् कोण हैं, इस प्रकार यन्त्र उक्त षट् कोण कर्णिकार वज्र कीलक—हीरक कीलक द्वारा शोभित है, स्तम्भ को कीलक कहते हैं, "गवां गात्र कण्डुयनार्थं गोष्ठे निखातः स्तम्भः यत्र, बद्धा गौ र्दुह्यते वा"। गो समूह के गात्र कण्डुयन निमित्त, अथवा गो दोहन निमित्त गोष्ठ में प्रथित काष्ठ दण्ड की खूँटाको कीलक कहते हैं। षट् कोण को सार्थक करते हैं, षडङ्ग-षट्पदीस्थ नं' षट संख्यक अङ्ग पद है जिस का वह षट् पदी—श्रीमदष्टादशाक्षर मन्त्र, उसका स्थान। 'प्रकृत्या पुरुषेण च' पद की व्याख्या करते हैं, प्रकृतिः, मन्त्र का स्वरूप,—उक्त मन्त्रका कारण स्वरूप श्रीकृष्ण ही हैं। अतएव अष्टादशाक्षर मन्त्रकी प्रकृति श्रीकृष्ण हैं, उक्तमन्त्र देवता-श्रीकृष्ण ही हैं, अतः पुरुष श्रीकृष्ण हैं, अर्थात् जिस से मन्त्र का आविर्भाव होता है, उसे प्रकृति कहते हैं, जो मन्त्र का देवता है, अर्थात् मन्त्र का प्रतिपाद्य अथवा उपास्य है, वह मन्त्र का

तस्य कमलस्य पत्राणि श्रियां तत्प्रेयसीनां श्रीराधादीनामुपवनरूपाणि धामानीत्यर्थः। अत्र पत्राणामुच्छ्रितप्रान्तानां मूलसन्धिषु वर्त्मानि, अग्रिमसन्धिषु गोष्ठानि ज्ञेयानि। अखण्ड-कमलस्य गोकुलाख्यत्वात् तथैव समावेशाच्च। अथ गोकुलावरणान्याह—'चतुरस्रम्' इति। तस्य गोकुलस्य वहिः सर्वतश्चतुरस्रं चतुष्कोणात्मकं स्थानं श्वेतद्वीपाख्यम्। तदंशे गोकुलमिति नामविशेषाभावात्। किन्तु चतुरस्राभ्यन्तरमण्डलं वृन्दावनाख्यं वहिर्मण्डलं केवलं श्वेतद्वीपाख्यं ज्ञेयम्। गोलोक इति यत्पर्य्यायः। तदेतदुपलक्षणं गोलोकाख्यञ्चेत्यर्थः।

पुरुष होता है, यह शास्त्र नियम है। श्रीकृष्ण,—श्रीमदष्टादशाक्षर मन्त्र की प्रकृति एवं पुरुष हैं। गोकुलाख्य सहस्रदल कमल, उभय का ही अधिष्ठान है, प्रकृति पुरुष उभय का विशेषण,-'प्रेमानन्द महानन्द रसेन' प्रेम रूप जो आनन्द—महानन्द रस, प्रेमानन्द समूह ही महानन्दरस राशि है, अर्थात् प्रेमानन्द का परिपाक विशेष है। उस महानन्द रस स्वरूप में भी ज्योति रूप है, अर्थात् स्व प्रकाश मन्त्ररूप में एवं कामवीज में प्रकृति पुरुष रूप श्रीकृष्ण अवस्थित हैं।

काम वीज, मूल मन्त्रका अन्तर्भुक्त ही है, तथापि अर्थ वैशिष्ट्य हेतु उसका पृथक् उल्लेख हुआ है, अष्टादशाक्षर मन्त्र में उसका पृथक् उल्लेख उक्त वैशिष्ठ्य हेतु हुआ है। स्थल विशेष में पृथक् उल्लेख भी है, उसका कारण वीजमन्त्र स्वतन्त्र है।

श्रीकृष्ण धाम वर्णन के अनन्तर उक्त धाम का आवरण को कहते हैं, 'तत् किञ्जल्कम्' उक्त कर्णिकार का किञ्जल्क अर्थात् कर्णिकार संलग्न अभ्यन्तर वलय। तदंश-अर्थात् श्रीकृष्ण जिनके अंश दाय-विद्यमान हैं, ऐसा सजातीय गोपगणों का स्थान-धाम-वासस्थान। गोपगण-श्रीकृष्ण के सजाति हैं, उसका उल्लेख श्रीशुकदेवने किया है, भा० १०।३६।१५—

एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तुयमानः स्व जातिभिः।
विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः॥

वृष रूपी अरिष्टासुर को बध करने के पश्चात् सजाति कर्त्तृक स्तूयमान, गोपीगण का नयनानंद श्रीकृष्ण, श्रीबलदेव के सहित गोष्ठ में प्रविष्ट हुये थे।

उक्त कमल के पत्र समूह में महालक्ष्मी स्वरूपिणी श्रीकृष्ण प्रेयसी श्रीराधा प्रभृति के उपवन फल पुष्पोद्यान रूप धाम समूह हैं। उच्छ्रित पत्र समूह के प्रान्त भाग के मूल सन्धि समूह में मार्ग समूह हैं एवं अग्रिमसन्धि में गोष्ठ समूह की स्थिति है। कारण,—अखण्ड कमल का ही गोकुल नाम है, अतएव गोकुलस्य निखिल सामग्रीओं का समावेश भी उक्त कमल के विभिन्न स्थानों में है।

अनन्तर "चतुरस्र" रूप से वर्णित गोकुल के आवरण का वर्णन करते हैं, गोकुल के बाहर चतुरस्र-अर्थात् चतुष्कोणात्मक स्थलका नाम श्वेत द्वीप है। कारण,-उक्त अंश विशेष में गोकुल नाम का प्रयोग नहीं होता है। किन्तु 'चतुरस्र'के अभ्यन्तर मण्डल, वृन्दावन नामसे विख्यात है, एवं वहिर्मण्डल, श्वेतद्वीप नामसे प्रसिद्ध है। अनुसन्धान पूर्वक इस को जानना आवश्यक है।

जिसका—पर्य्याय वाचि शब्द गोलोक है, गोकुल जिसके अभ्यन्तर में है, एवम्भूत स्थान का नाम श्रीवृन्दावन है-इस प्रकार निर्देश नहीं हुआ है, यह उपलक्षण है, अर्थात् गोलोक आख्या से भी विभूषित है। क्रोड़ीकृत समस्त वहिर्मण्डल को गोलोक एवं श्वेतद्वीप नाम से जानना होगा।

तात्पर्य्य यह है कि—गो एवं गोपावास रूप सहस्र दल कमल का नाम श्रीगोकुल अथवा श्रीवृन्दावन है, एवं उक्त गोकुल का वहिर्मण्डल चतुष्कोणात्मक स्थान, एवं अभ्यन्तरस्थ रूप गोकुल—उभय समष्टिका

यद्यपि गोकुलेऽपि श्वेतद्वीपत्वमस्त्येव, तदवान्तरभूमिमयत्वात्, तथापि विशेषनाम्नाम्नातत्वात् तेनैव तत् प्रतीयत इति तथोक्तम्; किन्तु चतुरस्रेऽप्यन्तर्मण्डलं श्रीवृन्दावनाख्यं ज्ञेयम्, बृहद्वामन-स्वायम्भुवागमयोस्तथा दृष्टत्वात्। चतुर्मूर्त्तेश्चतुर्व्यूहस्य श्रीवासुदेवादिचतुष्टयस्य चतुष्कृतं चतुर्द्धा विभक्तं चतुर्धाम। किन्तु देवलीलत्वात्तदुपरिव्योमयानस्था एव ते ज्ञेयाः। हेतुभिः पुरुषार्थ-साधनैः मनुरूपैः स्वस्वमन्त्रात्मकैरिन्द्रादिभिः। श्यामैरिति चतुर्भिर्वेदैरित्यर्थः; (भा० १०।२८।१८) "कृष्णञ्च तत्र च्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः" इति श्रीदशमोक्तेः। शक्तिभिरिति विमलादिभिरित्यर्थः। इयञ्च बृहद्वामनपुराणप्रसिद्धिः। यथा श्रीभगवति श्रुतीनां प्रार्थनापूर्वकानि पद्यानि—

'अनन्दरूपमिति यद्विदन्ति हि पुराविदः। तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि नः ॥२९७॥
श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वं लोकं प्रकृतेः परम्। केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमव्ययम् ॥२९८॥
यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः। मनोरमनिकुञ्जाढ्यं सर्व्वर्त्तुसुखसंयुतम् ॥२९९॥
यत्र गोवर्द्धनो नाम सुनिर्झरदरीयुतः। रत्नधातुमयः श्रीमान् सुपक्षिगणसंकुलः ॥३००॥
यत्र निर्म्मलपानीया कालिन्दी सरितां वरा। रत्नबद्धोभयतटा हंसपद्मादिसङ्कुला ॥३०१॥
शश्वद्रासरसोन्मत्तं यत्र गोपीकदम्बकम्। तत्कदम्बकमध्यस्थः किशोराकृतिरच्युतः॥"३०२॥ इति।

नाम गोलोक है।

यद्यपि गोकुल में श्वेत द्वीपत्व है ही, कारण उसके अभ्यन्तर भूमिमय वह है, तथापि विशेष नाम के द्वारा वह परिचित है, अतएव पृथक पृथक् शब्दों से उक्त धाम का वर्णन हुआ है। किन्तु चतुरस्रात्मक स्थान में भी जो अन्तर्मण्डल है—उस का ही नाम श्रीवृन्दावन है।

बृहद्वामन पुराण एवं स्वायम्भुव गम में वर्णित प्रमाणों के द्वारा ही उस प्रकार निर्णय हुआ है।

गोलोक के बाहर में जो चतुष्कोण स्थान है, वह चतुर्धा विभक्त है, उस में क्रमशः श्रीवासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध-मूर्त्ति चतुष्टय के धाम हैं। श्रीवासुदेवादि देवलील होने के कारण—धाम चतुष्ट्रय के उपरिभाग में व्योमयान में वे सब अवस्थित होते हैं।

उक्त चतुष्कोण स्थान—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चतुर्विध-एवं उक्त पुरुषार्थ वस्तु समूह को प्राप्त करने के उपाय समूह द्वारा व्याप्त हैं। उसके चतुर्द्दिक में मन्त्र रूपी—अर्थात् निज निज मन्त्रात्मक इन्द्रादि दिक्पाल गण अवस्थित हैं। एवं श्याम गौर, रक्त, शुक्ल—वर्णात्मक मूर्त्तिमान् ऋक् साम, यजुः, अथर्व वेद के द्वारा सुशोभित है। मूर्तिमान् वेदादि का वर्णन भा० १०।२८।१८ में इस प्रकार है—

'कृष्णञ्च तत्र च्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिता इति।'

श्रीशुकदेव कहे थे—'उक्त श्रीगोलोक में मूर्त्तिमान् वेदगण कर्त्तृक स्तूयमान श्रीकृष्ण का दर्शन कर गोपगण अतिशय विस्मित हुये थे।' शक्तिभिः—शब्द से विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योग, प्रह्वी, सत्या, ईशाना अनुग्रह रूप शक्ति समूह को जानना होगा, उक्त शक्ति समूह के द्वारा उक्त गोलोक धाम सुशोभित है।

श्रीकृष्ण लोक की ईदृशी स्थिति वार्त्ता बृहद्वामन पुराण में प्रसिद्ध है,—श्रीभगवान् के निकट प्रार्थना पूर्वक श्रुति समूह का कथन यह है—"यदि हम सव वर प्राप्त करने के योग्य हैं, तो पूर्वतन तत्त्व विद्गण जिन को आनन्द रूप जानते हैं, उस रूप का प्रदर्शन आप करें।' यह सुनकर प्रभुने प्रकृत के

एतदनुसारेण श्रीहरिवंशवचनमप्येवं व्याख्येयम् । तद् यथाह शक्रः—

"स्वर्गादूद्ध्वं ब्रह्मलोको ब्रह्मर्षिगणसेवितः । तत्र सोमगतिश्चैव ज्योतिषाञ्च महात्मनाम् ॥३०३॥
तस्योपरि गवां लोकः साध्यास्तं पालयन्ति हि । स हि सर्व्वगतः कृष्ण महाकाशगतो महान् ॥३०४॥
उपर्य्युपरि तत्रापि गतिस्तव तपोमयी । यां न विद्मो वयं सर्व्वे पृच्छन्तोऽपि पितामहम् ॥३०५॥
गतिः शमदमाढ्यानां स्वर्गः सुकृतकर्म्मणाम् । ब्राह्म्ये तपसि युक्तानां ब्रह्मलोकः परा गतिः ।
गवामेव तु गोलोको दुरारोहा हि सा गतिः ॥"३०६॥

स तु लोकस्त्वया कृष्ण सीदमानः कृतात्मना । धृतो धृतिमता वीर निघ्नतोपद्रवान् गवाम् ॥'३०७॥ इति ।

अस्यार्थः—'स्वर्ग'-शब्देन (भा० २।५।४२)—

"भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः ।
स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोककल्पना ॥"३०८॥

इति द्वितीयोक्तानुसारेण स्वर्लोकमारभ्य सत्यलोकपर्य्यन्तं लोकपञ्चकमुच्यते । तस्मादूद्ध्वमुपरि

परस्थित निज लोक का दर्शन कराया । वह केवल अनुभवानन्द स्वरूप एवं ब्रह्म ज्योति के अभ्यन्तर में विराजित है, जहाँ कल्प वृक्षपूर्ण निकुञ्ज शोभित सर्वर्त्तु सुखावह श्रीवृन्दावन नामक वन है । उत्तम निर्झर युक्त एवं गह्वर समन्वित रत्नधातुमय शोभा सम्पन्न उत्तम पक्षिवृन्द सङ्कुल गोवर्द्धनगिरि है, निर्मल सलिला, रत्नबद्धोभयतटा हंस-पद्म प्रभृति द्वारा सुशोभिता नदी श्रेष्ठा कालिन्दी प्रवाहिता है, निरन्तर रास रसोन्मत्त गोपी मण्डली, एवं गोपीमण्डली के मध्यस्थल में किशोराकृति अच्युत विराजित हैं । २९७-३०२।

ब्रह्म संहिता एवं वृहद् वामन पुराण के वर्णनानुसार श्रीकृष्ण लोक की विराजमानता सर्वलोकोपरिभाग में है । अतएव उस वर्णन के अनुसार ही श्रीहरिवंशस्थ वचन समूह की व्याख्या करना आवश्यक है, इन्द्र ने कहा—'ब्रह्मर्षिगण सेवित ब्रह्मलोक,--स्वर्ग लोक के ऊर्द्ध्व भाग में विराजित है । वहाँ महात्मा ज्योतिगण की एवं सोमकी गति विद्यमान है, उसके उपरिभाग में गोगण का लोक है, उसका पालन साध्यगण करते हैं ।

हे कृष्ण ! वह लोक-सर्वगत, महाकाशगत, एवं महान् है । सर्वोपरि विराजमान स्थान में भी आप की तपोमयी गति है । पितामह ब्रह्मा के निकट भी जिज्ञासु होकर हम सब उसको जानने में सक्षम नहीं हुये हैं ।

शमदमादि सम्पद् युक्त सुकृत कर्मानुष्ठानरत व्यक्तिगण-स्वर्गगमन करते हैं, ब्राह्मय तपोयुक्त व्यक्ति गण की ब्रह्म लोक प्राप्ति होती है, किन्तु गो गण की लोकगति—दुरारोहा है, वह गोलोक है । हे कृष्ण ! हे वीर ! गो गण के विघ्ननाश कर्त्ता कृतात्मा धृतिमान् आप हैं, आप के द्वारा उक्त व्यथित लोक की रक्षा होती है । (३०३--३०७)

श्लोक समूह का अर्थ इस प्रकार है—

भा० २।५।४२ के वर्णनानुसार--जानना होगा—"इनके चरण युगल के द्वारा भूर्लोक नाभिद्वारा भुवर्लोक, मस्तक के द्वारा स्वर्गलोक कल्पित है, इस प्रकार लोक की कल्पना है ।" यहाँ के स्वर्ग शब्द से स्वर्ग लोक से आरम्भ कर सत्य लोक पर्य्यन्त लोक पञ्चक को जानना होगा । पृथिवी लोक, अन्तरीक्ष लोक, स्वर्ग लोक, महर्लोक, जन लोक, तपो लोक, सत्य लोक—उपर्य्युपरि वर्त्तमान सप्त लोक हैं, अतल, वितल, सुतल; रसातल, तलातल, महातल, पाताल, सप्तलोक अधोऽधः विद्यमान हैं, लोक समष्टि चतुर्दश

ब्रह्मलोको ब्रह्मात्मको लोको वैकुण्ठाख्यः, सच्चिदानन्दरूपत्वात्, ब्रह्मणो भगवतो लोक इति वा, (भा०१०।२८।१७) "ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा" इति श्रीदशमात्। एवं द्वितीये (भा० २।५।३९) "मूर्द्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः" इति टीका च--"ब्रह्मलोको वैकुण्ठाख्यः, सनातनो नित्यः, न तु सृज्यप्रपञ्चान्तर्वर्त्तीत्यर्थः" इत्येषा। ब्रह्माणि मूर्त्तिमन्तो वेदाः, ऋषयश्च श्रीनारदादयः, गणाश्च श्रीगरुड़विष्वक्सेनादयः, तैर्निषेवितः। एवं नित्याश्रितानुक्त्वा तद्गमनाधिकारिण आह। तत्र ब्रह्मलोके उमया सह वर्त्तत इति सोमः श्रीशिवस्तस्य गतिः,(भा० ४।२४।२९)

"स्वधर्म्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान्, विरिञ्चतामेति ततः परंहि माम्।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं, पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये।।" ३०९।।

इति चतुर्थे श्रीरुद्रगीतात्; सोमेति 'सुपां सुलुक' इत्यादिना षष्ठ्या लुक् छान्दसः। तत उत्तरत्रापि गतिपदान्वयः। ज्योतिर्ब्रह्म तदैकात्म्यभावानां मुक्तानामित्यर्थः। न तु

भुवन हैं। उसके मध्य में स्वर्गादि लोक पञ्चक स्वर्ग शब्द से अभिहित हैं। उक्त स्वर्ग शब्दाभिहित लोक पञ्चक के उपरिभाग में स्थित ब्रह्मलोक है। उक्त लोक ब्रह्मात्मक होने के कारण सच्चिदानन्दात्मक है। उसका अपर नाम वैकुण्ठ है। किंवा ब्रह्म लोक शब्द का अर्थ—ब्रह्म भगवान् उनका लोक ब्रह्म लोक है।

भा० १०।२८।१७ में वर्णित है, "ददृशु र्ब्रह्मणो लोकं यत्र क्रूरोऽध्यगात् पुरा" जहाँ पर अक्रुर स्तव किए थे, वहाँ व्रजवासि गोपगण ब्रह्मलोक दर्शन किए थे।" इस प्रकार भा० २।५।३९ में उक्त है,—मूर्द्धभिः सत्य लोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः। स्वामिकृत टीका ब्रह्मोलोक वैकुण्ठाख्य सनातन—नित्य है, किन्तु प्रपञ्चान्तर्वर्त्ती सृज्य पदार्थ के समान अनित्य नहीं है।।

ब्रह्माणि—मूर्त्तिमन्त वेद समूह, उक्त ब्रह्मलोक ऋषि गण द्वारा संवृत है। ब्रह्म-मूर्त्तिमान् वेद समूह, ऋषि—नारदादि, गण-गरुड़ विष्वक्सेन प्रभृति के द्वारा, इन सबों से संवृत—निषेवित हैं। इस प्रकार निरन्तर निवास रत व्यक्ति गण का संवाद कहने के पश्चात् गमनाधिकार अर्जन पूर्वक जो लोक वहाँ पर जाते हैं, उन सब का उल्लेख करते हैं। उमा—पार्वति, उनके सहित-सोम-श्रीशिव-वहाँ पर जा सकते हैं। भा० ४।२४।२९ में उक्त है।

"स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभिः पुमान् विरिञ्चतामेति ततः परं हि माम्।
अव्याकृतं भागवतोऽथ वैष्णवं, पदं यथाहं विबुधाः कलात्यये।।"

स्वधर्म निष्ठ व्यक्तिगण शतजन्म स्व धर्मानुष्ठान करने पर विरिञ्चिलोक प्राप्त करते हैं, उस से अधिक पुण्य अर्जित होने से शिव लोक को प्राप्त करते हैं, भागवत गण—देहान्त होने पर प्रपञ्चातीत वैष्णव लोक प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार मैं रुद्र होकर आधिकारिक देववत् वर्त्तमान हूँ। आधिकारिक देवगण कलात्यय होने से अर्थात् अधिकार समाप्त होने से लिङ्गभङ्ग के पश्चात् उक्त स्थान को प्राप्त करते हैं।

रुद्र गीत में यह कथन है। 'सोमगति' पद में सोमस्यगतिः, षष्ठी विभक्ति का लोप—'सुपां सुलुक' सूत्र से हुआ है। छन्दः के अनुरोध से वैसा हुआ है। ब्रह्म लोक में गमनाधिकारी का विवरण वर्णित होने के कारण 'पद पर' के सहित 'गति' शब्द का भी अन्वय करना होगा। 'ज्योतिः' शब्द का अर्थ 'ब्रह्म' है, उन ब्रह्म के सहित जिन्होंने एकात्मभाव को प्राप्त किया है। उस प्रकार मुक्तगण वहाँ जा सकते हैं।

तादृशानामपि सर्व्वेषामेवेत्याह--महात्मनां महाशयानां मोक्षनिरादरतया भजतां श्रीसनकादितुल्यानामित्यर्थः (भा० ६।१४।५) —

"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥" ३१०॥

इत्यादौ, (गी० ६।४७)—

"योगिनामपि सर्व्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥" ३११॥

इत्यादावपि तेष्वेव महत्त्वपर्य्यवसानात्। तस्य च ब्रह्मलोकस्योपरि सर्व्वोर्द्ध्वप्रदेशे गवां लोकः श्रीगोलोक इत्यर्थः। तञ्च श्रीगोलोकं साध्या अस्माकं प्रापञ्चिकदेवानां प्रसादनीया मूलरूपा नित्यतदीयदेवगणाः पालयन्ति, तत्र दिक्पालत्वेनावरणरूपा वर्त्तन्ते, (ऋग्वेद० १०।९०।१६) "ते ह नाकं महिमानः सचन्तः; यत्र पूर्व्वे साध्याः सन्ति देवाः" इति श्रुतेः,

उक्त मुक्त वर्ग समूह का गमनाधिकार वहाँ पर है ऐसा नहीं, किन्तु 'महात्मनां' महाशयगण वहाँ पर जाते हैं, अर्थात् मोक्ष को अनादर पूर्वक भक्तचनुष्ठान के द्वारा जो लोक श्रीकृष्ण भजन करते हैं, सनकादि तुल्य व्यक्ति गण ही वहाँ के गमनाधिकारी हैं। भा० ६।१४।५ में वर्णित है "मुक्तोनामपि सिद्धानां नारायण परायणः, सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने" हे महामुने ! असंख्य मुक्त एवं सिद्ध गणों के मध्य में भी नारायण परायण प्रशान्तात्मा मुनिगण अत्यन्त दुर्लभ हैं। अर्थात् असंख्य जीवन्मुक्त एवं सिद्धमुक्तगणों के मध्य में नारायण परायण व्यक्ति सुदुर्लभ है। भा० १०।९।२१ में उक्त है, 'नायं सुखापो भगवान्' भगवान् गोपिकासुत को मुक्त गण उपादेय नहीं मानते हैं। भा० ५।६।१८ में वर्णित है 'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्ति योगम्" भगवान् मुक्ति दान करते हैं, किन्तु भक्ति दान सहसा नहीं करते हैं कारण वे लोक प्रशान्तात्मा हैं, जिनकी प्रकृष्ट भगवत्तत्त्वनिष्ठा वरिष्ठा है।

भगवान् ने भा० ११।१९।३६ में शमो मन्निष्ठता बुद्धे' कहा है।

मुझ में निष्ठा प्राप्त बुद्धि का नाम ही 'शम' है। यहाँ मुक्तानां—शब्द से जानना होगा कि—प्राकृत शरीरस्थ होकर भी उसमें अभिमान शून्य व्यक्तिगण हैं। सिद्ध शब्दसे जानना होगा, जिन्होंने सालोकादि लाभ किया है, इस प्रकार कोटि कोटि व्यक्तियों के मध्य में नारायण सेवा मात्राकाङ्क्षी व्यक्ति सुदुर्लभ है। कारण वह प्रशान्तात्मा है, अर्थात् सर्वोपद्रवरहित है। गीता के ६।४७ में उक्त है—

'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना
श्रद्धावान् भजते यो मां समे युक्ततमो मतः।'

समस्त योगिगणों के मध्य में श्रद्धा पूर्वक मद् गतचित्त होकर जो व्यक्ति मेरा भजन करता है, वह योगि श्रेष्ठ है। वह ही मेरा अभिमत है। उक्त वाक्य समूह पर्य्यालोचन से प्रतीत होता है कि—जो व्यक्ति मोक्ष को तिरस्कार कर श्रीकृष्ण भजन करते हैं, वे ही महान् हैं।

उस ब्रह्म लोक के उपरिभाग में अर्थात् सर्वोर्द्ध्व प्रदेश में गोसमूह का लोक श्रीगोलोक है। 'साध्यास्तंपालयन्ति हि' वाक्य का अर्थ करते हैं, वह गोलोक—हम सब प्रापञ्चिक इन्द्रादि देवगण का प्रसादनीय मूल रूप है।

"तत्र पूर्व्वे ये च साध्या विश्वेदेवाः सनातनाः । ते ह नाकं महिमानः सचन्तः शुभदर्शनाः ॥" ३१२॥

इति महावैकुण्ठवर्णने पाद्मोत्तरखण्डाच्च । यद्वा, (भा० १०।१४।३४) "तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि" इत्याद्युक्त्यनुसारेण तद्विधपरमभक्तानामपि साध्या स्तादृशसिद्धिप्राप्तये प्रसादनीयाः श्रीगोपगोपीप्रभृतयः, तं पालयन्ति, अधिकृत्य भुञ्जन्ति, हि प्रसिद्धौ, स श्रीगोलोकः सर्वगतः श्रीकृष्णवत् सर्वप्रापञ्चिकाप्रापञ्चिक-वस्तुव्यापकः । अतएव महान् भगवद्रूप एव, (कठ० २।१।४) "महान्तं विभुमात्मानम्" इति श्रुतेः । तत्र हेतुः--

अर्थात् ब्रह्माण्डस्थ दिक् पालगण—जीव तत्त्व होते हैं । वे सब साधन द्वारा देवत्व प्राप्त करते हैं, श्रीगोलोकस्थ दिक् पाल गण नित्यसिद्ध हैं अर्थात् भगवत् परिकर हैं ।

जीव जब साधन के बलसे देव स्वरूप प्राप्त कर प्रापञ्चिक दिक् पाल होता है, तब श्रीगोलोकस्थ दिक् पालगणों की शक्ति—प्रापञ्चिक दिक् पाल में सञ्चारित होती है, उक्त शक्ति समन्वित होकर निजाधिकार रूप दिक् पालत्वकार्य्य निर्वाह प्राकृत दिक् पालगण करते हैं, इस अभिप्राय से ही इन्द्र ने कहा है श्रीगोलोक के दिक् पाल गण हमारे प्रसादनीय हैं ।

श्रीगोलोक सम्बन्धीय देवगण ही श्रीगोलोक का पालन करते हैं, तत्रत्य दिक्पाल होने के कारण वे सब श्रीगोलोक के आवरण रूप में स्थित होते हैं । इस विषय में श्रुति प्रमाण इस प्रकार है—"तत्र पूर्वे ये च साध्या विश्वेदेवाः सनातनाः । तेह नाकं महिमानः सचन्तः शुभदर्शनाः ।"

"पूर्व सिद्ध महिमान्वित देवगण—दुःखास्पृष्ट सुखमय श्रीकृष्ण स्थानकी सेवा करके अवस्थित हैं ।' पाद्मोत्तर खण्ड में भी वर्णित है—नित्यसिद्ध—उपासना द्वारा प्रसादनीय, सनातन विग्रह, शुभदर्शन विश्व-देवगण महिमान्वित होकर श्रीगोलोक की सेवा करते हैं ।" श्रीमद् भागवत के १०।१४।३४ में वर्णित है । "तद् भूरि भाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि" इस ब्रह्मा की उक्ति के अनुसार 'साध्य' शब्द से श्रीगोप गोपीगण का बोध ही होता है, श्रीब्रह्माने श्रीकृष्ण को कहा है—"हे भगवन् ! परमेष्ठि जन्म प्राप्त कर मैं अपने को अधन्य मानता हूँ, उस दिन मैं अपने को कृतार्थ मानूँगा, जिस दिन इस गोकुल के गभीर अरण्य में जिस किसी प्रकार तृण गुल्मादि जन्म मेरा होगा, उस से मैं किसी व्रजवासि की चरणरेणु से अभिषिक्त हो जाऊँगा ।" उक्त प्रार्थना के अनुसार प्रतीत होता है—व्रजके गोप गोपीगण—ब्रह्मादि देवगणों के आराध्य हैं, वे सब ही गोकुल रक्षक हैं, सुतरां गोकुल के पालन कारी साध्यगण व्रजवासी गोपगोपी हैं ।

'तं पालयन्ति' गोलोक का पालन करते हैं, अर्थात् व्रजवासी गोपगोपीगण श्रीगोलोक को अधिकार कर भजन करते हैं, 'हि' शब्द प्रसिद्धार्थक है,– "स हि सर्वगतः" वह गोलोक सर्वगत है, श्रीकृष्णके समान प्रापञ्चिक अप्रापञ्चिक निखिल वस्तु को प्राप्त कर अवस्थित है । अतएव सर्व व्यापकता हेतु यह श्रीगोलोक 'महान्' है । अर्थात् श्रीभगवत् स्वरूप से अभिन्न हैं, 'महान्' शब्द भगवत् वाचक है—उसका प्रमाण-यह श्रुति है—"महान्तं विभुमात्मानं मत्वाधीरो न शोचति" (कठ द्वितीय वल्ली २२)

महान् विभु आत्मा को जानकर सुधी व्यक्ति कदापि दुःख प्राप्त नहीं करता है । यहाँ पर महान् शब्द से श्रीभगवान् अभिहित हुये हैं ।

श्रीगोलोक भगवत् स्वरूप से अभिन्न है, उसका कारण निर्देश करते हैं, वह महाकाश—परव्योम नाम से विख्यात है । गोलोक का विशेषण 'ब्रह्म' है, स्वर्गादूद्धर्व ब्रह्म लोक कहा गया है । उसका अर्थ यह है, जो ब्रह्म है, वह ही लोक है, उससे श्रीकृष्ण लोक की विभुता एवं भगवत् स्वरूपता सिद्ध होती है। महाकाश शब्दसे भी श्रीगोलोक की भगवत् स्वरूपता सुव्यक्त होती है । कारण महाकाश शब्द से भगवान्

महाकाशः परमव्योमाख्यं ब्रह्मविशेषणलाभात् (ब्र० सू० १।१।२२) 'आकाशस्तल्लिङ्गात्" इति न्यायप्रसिद्धेश्च, तद्गतः, ब्रह्माकारोदयानन्तरमेव वैकुण्ठप्राप्तेः, यथा श्रीगोपानां वैकुण्ठ-दर्शने तैरेव व्याख्यातम् । यथा वा श्रीमदजामिलस्य वैकुण्ठगमनम्, यद्वा, महाकाशः परम-व्योमाख्यो महावैकुण्ठस्तद्गतस्तदूद्ध्र्वभागे स्थितः। एवं उपर्य्युपरि सर्वोपर्य्यपि विराजमाने तत्र श्रीगोलोकेऽपि तव गतिः। नानारूपेण वैकुण्ठादौ क्रीड़तस्तव तत्रापि श्रीगोविन्दरूपेण

श्रीगोलोक की भगवत् स्वरूपता सुव्यक्त होती है, कारण, आकाश शब्द से भगवान् का ही बोध होता है, ब्रह्म सूत्र १।१।२२ 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' में सुमीमांसित हुआ है।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यन्तं यान्त्याकाशः, परायण मित्ति—दृश्यमान भूत प्रपञ्च आकाश से उत्पन्न है, आकाश में लीन होता है, एवं आकाश में ही अवस्थित है, श्रुत्युक्त आकाश शब्द से प्रसिद्ध भूताकाश का ग्रहण होगा अथवा ब्रह्म का ? उत्तर में कहते हैं-"ब्रह्मैव स न वियत्। कुतः तल्लिङ्गात्। सर्वभूतोत्पादनत्वादि लक्षण ब्रह्मलिङ्गादित्यर्थः।' एतदुक्तं भवति। सर्वाणीत्यसङ्कुचित सर्व शब्दाद्वियत् सहित सर्वभूतोत्पत्ति हेतुत्वमवगतम्। न च वियत् पक्षे सम्भवेत् स्वस्य स्व हेतुत्वाभावात्। आकाशादेव—इत्येवकारेण हेत्वन्तरञ्च निरस्तम्। एतदपि नतत्पक्षे। मृदादेर्घटादि हेतोर्दृष्टत्वात्। ब्रह्म पक्षे तु सङ्गतिमत् तस्यैव सर्वशक्तिमतः सर्व स्वरूपत्वात्। यद्यप्याकाश शब्दस्तत्र रूढ़ स्तथापि श्रौत रूढ़ितो ब्रह्मणि प्रयुज्यते, बलिष्ठत्वादिति।

आकाश ब्रह्म हैं, कारण, ब्रह्म ही सर्वभूतोत्पत्ति, लय, स्थिति का स्थान है। सुतरां श्रीकृष्ण लोक को महाकाश कहने से वह भगवत् स्वरूप ही है। तद्गतः—महाकाशगतः। श्लोक में उक्त है—"महाकाशो गतो महान्" महान्—भगवत् स्वरूप, श्रीकृष्ण लोक—महाकाशगत—अर्थात् महाकाश प्राप्त। पहले कहा गया है, महाकाश—शब्द का अर्थ—ब्रह्म है। "तद् गतः" ब्रह्माकारोदय के पश्चात् वैकुण्ठ लोक प्राप्ति होती है, तज्जन्य श्रीकृष्ण लोक को महाकाशगत कहा गया है, ब्रह्माकारोदय के पश्चात् वैकुण्ठ प्राप्ति होती है, वह प्रसङ्ग—गोपगणों के वैकुण्ठ दर्शन प्रसङ्ग में श्रीधर स्वामिपाद की टीका में है, इस का अपर दृष्टान्त श्रीमद् अजामिल का वैकुण्ठ दर्शन है। भा० १०।२८।१५ में उक्त है।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणपाये समाहिताः।"

स्वामि टीका—"देहादि पिहितानां दर्शनमशक्यमिति प्रथमं देहादि व्यतिरिक्तं ब्रह्म स्वरूपं दर्शयामास। तदाह—सत्यमिति-सत्यं अबाध्यं। ज्ञानं अजड़म्, अनन्तं अपरिच्छिन्नं, ज्योतिः, स्व प्रकाशं। सनातनं—शश्वत् सिद्धं ब्रह्म-गुणापाये—गुणापोहे—ज्ञानिनो यत् पश्यन्ति, तत् कृपयैव दर्शयामास॥" देहादि में आच्छन्न बुद्धि विशिष्ट व्यक्ति भगवद्धामदर्शन में असमर्थ है, इस को दर्शाने के निमित्त देहादि व्यतिरिक्त ब्रह्म स्वरूप को दिखाये थे।

विष्णुदूतगण के सङ्ग प्रभाव से अजामिल का निर्वेद उपस्थित होने पर पुत्रादि को परित्याग पूर्वक अजामिल गङ्गातीर में उपस्थित हुये थे। वहाँ एक स्थान में उपवेशनकर योग धारणा किये थे। अनन्तर देह सङ्ग से मुक्त होकर समाधि के द्वारा अनुभवात्मक भगवत् स्वरूप में सत्तामात्र ब्रह्म में मनो-योग किये थे।

अनन्तर—यर्ह्युपारत धीस्तस्मिन्नद्राक्षीत् पुरुषान् पुरः।
उपलभ्योपलब्धान् प्रागवन्दे शिरसा द्विजः॥

ब्रह्म में बुद्धि स्थैर्य्य लाभ के पश्चात् अजामिल ने पूर्व दृष्ट पुरुष विष्णुदूतगण को अवनत मस्तक

क्रीड़ा विद्यत इत्यर्थः । अतएव सा च गतिः साधारणी न भवति, किन्तु तपोमयी अनवच्छिन्नैश्वर्य्यमयी, 'परमं यो महत्तपः' इत्यत्र सहस्रनामभाष्येऽपि तपः-शब्देन तथैव व्याख्यातम् । अतएव ब्रह्मादिदुर्व्वितर्क्यत्वमप्याह— यामिति । अधुना तस्य गोलोकेत्याख्या-बीजमभिव्यञ्जयति—गतिरिति । ब्राह्मये ब्रह्मलोकप्रापके तपसि विष्णुविषयकमनः प्रणिधाने युक्तानां रतचित्तानां प्रेमभक्तानामित्यर्थः । ब्रह्मलोको वैकुण्ठलोकः, परा प्रकृत्यतीता, गवाम्

के द्वारा प्रणाम किया ।

पश्चात्—हित्वा कलेवरं तीर्थे गङ्गायां दर्शनादनु ।
सद्यः स्वरूपं जगृहे भगवत् पार्श्ववर्त्तिनाम् ॥

अनन्तर गङ्गामें देह त्याग पूर्वक सद्यः भगवत् पार्षद स्वरूप प्राप्त किया । अतः पर—

'साकं विहायसा विप्रो महापुरुषकिङ्करैः ।
हैमं विमानमारुह्य ययौ यत्र श्रियः पतिः ॥'

महापुरुष श्रीहरि के किङ्करगण के सहित सुवर्ण मण्डित रथ में आरोहण पूर्वक जहाँ श्रीपति विराजित हैं, वहाँ उपस्थित हो गया । इस में ब्रह्म साक्षात्कार के बाद श्रीभगवद्धाम प्राप्त की कथा सुस्पष्ट रूप से वर्णित है ।

अथवा,—महाकाश,—शब्द से परमव्योम नामक महावैकुण्ठ को जानना होगा, तद् गतः-उक्त वैकुण्ठ के ऊर्द्धवभाग में अवस्थित । "उपर्य्युपरि तत्रापि गतिस्तव तपोमयी" इस प्रकार उपर्य्युपरि सर्वोपरि भाग में अवस्थित होने पर भी श्रीगोलोक में ही आप की गति—अवस्थिति है । हे कृष्ण । विभिन्न रूप में आप वैकुण्ठ प्रभृति में क्रीड़ा करते रहते हैं, आपकी क्रीड़ा श्रीगोलोक में भी श्रीगोविन्द रूप में विद्यमान है । अतएव उक्त गति साधारणी नहीं है, किन्तु तपोमयी है, अर्थात् अनवच्छिन्न ऐश्वर्य्यमयी है । 'तपः' शब्द का अर्थ—ऐश्वर्य्य है, इस में आश्चर्य्य कुछ नहीं है । श्रीआचार्य शङ्कर ने विष्णुनामस्तोत्रस्थ 'तपः' का अर्थ ऐश्वर्य्य ही किया है । "परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥"

श्रीयुधिष्ठिर का प्रश्न यह था—भूतसमूह की परमागति कौन है ? उत्तर में श्रीभीष्मदेव ने कहा,-जो परम महत्तेज, जो परम महत्तप, एवं जो सब का एकमात्र आश्रय हैं; वह देवाधिदेव ही सर्व भूतों की परमा गति हैं । आचार्य श्रीशङ्कर कृत टीका—"तपस्यत्यैश्वर्य्यमनवच्छिन्नमिति महत्त्वं । एष सर्वेश्वर इत्यादि श्रुतेः ।" यहाँ 'तपः' शब्द का अनवच्छिन्न ऐश्वर्य्य अर्थ किया गया है ।

अनन्तर "यां न विद्मो वयं सर्वे पृच्छन्तोऽपि पितामहम्" वाक्य का अर्थ करते हैं, उक्त गति अनवच्छिन्न ऐश्वर्य्यमयी होने के कारण—ब्रह्मादि का भी बोधगम्य नहीं है । इस को व्यक्त करने के निमित्त कहा है—पितामह को जिज्ञासा कर के भी आप की तपोमयी गति—अर्थात् क्रीड़ा को जानने में असमर्थ हूँ ।

सम्प्रति श्रीकृष्ण लोक गोलोक नाम से प्रसिद्ध है, उसका कारण को कहते हैं—"गतिः शमदमाढ्यानां" शमदमादि युक्त पुण्यात्मा व्यक्ति गण स्वर्ग लोक गमन करते हैं, ब्राह्मय तपस्यायुक्त व्यक्तिगण ब्रह्म लोक प्राप्त करते हैं, किन्तु गो गणों का लोक— दूरारोह है, इस वाक्य का अर्थ यह है,—ब्राह्मये-ब्रह्म धाम प्रापक,—तपस्या—विष्णु विषयक मनोऽभिनिवेशयुक्त चित्त वृत्ति विशिष्ट प्रेमवान् भक्तगण -श्रीहरि में अभिनिविष्ट चित्त होकर ब्रह्म लोक में—वैकुण्ठ लोक में—परा—प्रकृत्यतीता गति प्राप्त करते

(भा० १०।३५।२५) "मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्" इत्युक्तानुसारेण तत्रैव 'निघ्नतोपद्रवान् गवाम्' इत्युक्त्या च। गोकुलवासिमात्राणां स्वतस्तद्भावभावितानाञ्च साधनवशेनेत्यर्थः। अतएव तद्भावस्यासुलभत्वात् दुरारोहा। तदेवं गोलोकं वर्णयित्वा तस्य गोकुलेन सहाभेदमाह—स त्विति। स तु स एव लोको गोलोको धृतो रक्षितो गोवर्द्धनोद्धरणेन। यथा मृत्युञ्जयतन्त्रे—

"एकदा सान्तरीक्षाच्च वैकुण्ठं स्वेच्छया भूवि। गोकुलत्वेन संस्थाप्य गोपीमयमहोत्सवा।
भक्तिरूपा सतां भक्तिमुत्पादितवती भृशम् ॥"३१३॥ इति।

हैं। गो समूहों का लोक होने के कारण—श्रीकृष्ण लोक का नाम गोलोक है। गो समूह का निवास हेतु श्रीगोलोक ख्याति उक्तलोक की होने पर भी वहाँ पर गोप गोपी प्रभृति की अवस्थिति है, उस को दर्शाने के निमित्त भा० १०।३५।२५ पद्य को लिखते हैं—'मुदित वक्त्र उपयाति दुरन्तं।
मोचयन् व्रजगवां दिनतापम् ॥'

प्रफुल्ल वदन श्रीकृष्ण,—व्रजस्थ हम सब का दिवस गत—श्रीकृष्ण विरह जनित-तापोपशम करने के निमित्त सम्मुख में आ रहे हैं। इस श्लोक की टीका में श्रीस्वामि पाद ने 'व्रज गवां' का अर्थ—अस्माकम्' 'हम सब का' तापापनोदन किया है। एवं श्रीहरिवंशोक्त "निघ्नतोपद्रवान् गवां" उक्ति के अनुसार निखिल गोलोक वासियों की स्थिति—सर्वोद्धर्व लोक में है।

"निघ्नतोपद्रवान् गवाम्" वाक्य गोवर्द्धन धारण लीलाका स्मारक है, व्रजवासिगण की रक्षा करने के निमित्त गोवर्द्धन धारण श्रीकृष्णने किया था, केवल गोरक्षा के निमित्त नहीं। सुतरां 'गवां' पदसे निखिल गोलोक वासियों का बोध होता है। स्वतः गोलोकवासियों के भावविभावित जनगण भी गोलोक गमन करते हैं।

अतएव गोलोक वासी भगवत् परिकर गण, एवं तादृश भाव सम्पन्न व्यक्ति गण की स्थिति गोलोक में होती है। उक्त गोकुल जातीय भाव अति दुर्लभ होने के कारण—अन्य व्यक्ति का एवं वैकुण्ठ पर्य्यन्त गमनाधिकारी व्यक्ति का वह गोलोक सुदुर्ल्लभ है। अतएव दुरारोहा कहा गया है।

स्वतस्तद् भाव भावित कहने का अभिप्राय यह है कि—रागानुगीय भक्त गण की श्रीव्रजगति होती है, इष्टे स्वारसिकीरागः परमाविष्टता भवेत् तन्मयी या भवेद् भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता, तदनुगता भक्ति ही रागानुगा है, विधिमार्ग भजन से व्रज में श्रीकृष्ण प्राप्ति नहीं होती है। "गाढ़ लौल्यैकलभ्या" सुतीव्र लालसा से ही व्रजभावानुगत्य होता है। स्वतस्तद् भावभावित पद के द्वारा उसकी सूचना हुई है। रागानुगा मार्गानुरत साधक गण ही व्रज प्राप्ति के अधिकारी हैं। व्रज वासियों के भाव माधुर्य्य श्रवण से जिनके चित्त में व्रजभाव प्राप्त करने का लोभोदय होता है, वे सब जन व्रजजनानुगत्य से श्रीकृष्ण भजन करते हैं। अर्थात् निजाभीष्ट श्रीकृष्ण की तादृश परिकर गण के सहित जो लीला होती है, उस के श्रवण कीर्त्तन से चित्त, व्रज परिकर गण के भाव से आक्रान्त होता है। अतएव व्रजवासियों के भावसे चित्त विभावित होने के निमित्त लोभ ही एक मात्र हेतु है, वह लोभ स्वतः उत्पन्न होता है। लोभोत्पत्ति के निमित्त अपर कर्त्तृक उपदेश की अपेक्षा नहीं है। इस को ही 'स्वतस्तद् भावभावित' शब्दसे कहा गया है।

स्वर्गस्थागङ्गा का मर्त्यलोक में अवतरण के समान ही यदृच्छा क्रम से भक्त के हृदयानुसरण से प्रेमाविर्भाव होता है। जगत् में धारणा यह है कि—जीव हृदय में पत्नी पुत्र के प्रति प्रीति रूप में प्रेम नित्य सिद्ध है, साधन के द्वारा उस प्रेम को श्रीकृष्ण में स्थापन करना ही कृष्ण प्रेम है। इस प्रकार सिद्धान्त

अत्र शब्दसाम्यभ्रमप्रतीतार्थान्तरे 'स्वर्गादूर्द्ध्वं ब्रह्मलोकः'' इत्ययुक्तम् । लोक त्रयमति-क्रम्योक्तेः । तथा सोमगतिरित्यादिकं न सम्भवति, यतो ध्रुवलोकादधस्तादेव चन्द्रसूर्य्यादीनां गतिर्महर्लोकेऽपि न वर्त्तते । तथाऽवरसाध्यगणानां तुच्छत्वात् सत्यलोकस्यापि पालनं नोपयुज्यते, कुतस्तदुपरिलोकस्य श्रीगोलोकाख्यस्य तथा सर्व्वगतत्वं चासम्भाव्यं स्यात् ? अतएव तत्रापि तव गतिरित्यपि शब्दो विस्मये प्रयुक्तः । 'यां न विद्मः' इत्यादिकञ्च, अन्यथा तथोक्तिर्न सम्भवति,--स्वेषां ब्रह्मणश्च तदज्ञानज्ञापनात् । तस्मात् प्राकृतगोलोकादन्य एवासौ सनातनो गोलोको ब्रह्मसंहितावत् श्रीहरिवंशेऽपि परोक्षवादेन निरूपितः । एवञ्च नारदपञ्चरात्रे विजयाख्याने—

भ्रमात्मक है । स्त्री पुत्र प्रीति मायिक रजोधर्म है, श्रीकृष्ण प्रेम शुद्ध सत्त्वात्मक चिन्मय वस्तु है । जहाँ प्रेम है, वहाँ श्रीकृष्ण का आविर्भाव है । ऐसा होने से जीव का कृष्ण वैमुख्य होता ही नहीं भगवदवतार होना एव लोकशिक्षार्थ शास्त्र प्रणयन भी व्यर्थ होता ।

कृष्ण प्रेम को जो लोक पुरुषार्थ मानते हैं, वे सब प्रेमभक्त नाम से अभिहित होते हैं, प्रेम प्राप्ति ही जिनका लक्ष्य है कृष्ण प्राप्ति नहीं, वे सब प्रेमभक्त होते हैं, कारण—कृष्ण प्राप्ति पुरुषार्थ में कृष्ण प्राप्ति की निश्चयता नहीं है, किन्तु श्रीकृष्ण प्रेम प्राप्ति पुरुषार्थ से श्रीकृष्ण प्राप्ति सुनिश्चित है । 'भक्तिवशः पुरुषः' श्रीभगवान् भक्तिवश हैं । अतएव भगवद् भक्त वर्ग से प्रेम भक्तका अधिकार अत्यधिक है । तादृश प्रेमभक्त व्यक्ति व्रज प्रेम लाभ न करने पर व्रज प्राप्ति उनकी नहीं होती है ।

प्रेमका आलम्वन, विषय एवं आश्रय भेद से द्विविध हैं । श्रीभगवान् विषय हैं, भक्त आश्रय हैं । जो व्यक्ति--जिस भगवत् स्वरूप के प्रेम को साध्य मानकर भजन करता है । वह उक्त भगवद् धाम प्राप्त करने का अधिकारी होता है । श्रीव्रजेन्द्रनन्दन जिनका प्रेम का विषय हैं, वे सब ही व्रजवासी होने के अधिकारी हैं । अपर व्यक्ति व्रज प्राप्ति का अधिकारी नहीं हैं । व्रज परिकर एवं उनके अनुगत जन व्यतीत अपर के पक्ष में व्रज लाभ सम्भव नहीं है । वैकुण्ठ नाथ के भक्त की कथा दूर है । वैकुण्ठ पार्षद—तथा वैकुण्ठेश्वरी का वृन्दावन लीला में प्रवेशाधिकार नहीं है । तज्जन्य ही कहा गया है कि गोलोक गति-अपर के पक्ष में दुरारोहा है ।

उक्त रूप से श्री गोलोक की वर्णना करने के पश्चात् पृथिवीस्थ गोकुल वृन्दावन की वर्णना उस के सहित अभिन्न रूप से करते हैं, ''सतु लोकः'' 'तु' शब्द का अर्थ यहाँ 'एव' है । वह लोक तुम से धृत हुआ है । अर्थात् रक्षित है, पृथिवी में प्रकाशित श्रीवृन्दावन में ही कुपित इन्द्र का उपद्रव हुआ था, गोवर्द्धन धारण भी उस उपद्रव से व्रजवासियों की रक्षा हेतु हुआ था । वैकुण्ठोर्द्ध्वस्थित गोलोक में कुपित इन्द्र का उपद्रव होना सम्भव नहीं है । उक्त लोक रक्षा की जो कथा है, वह वैकुण्ठोर्द्ध्व गोलोक एवं पृथिवी में प्रकाशमान श्रीगोकुल को अभिन्न मानकर ही है ।

सुतरां श्रीगोकुल का उपद्रव को गोलोक का उपद्रव मानकर वर्णन से दोष नहीं होता है ।

श्रीगोकुल एवं गोलोक की अभिन्नता के सम्बन्ध में प्रमाणान्तर का उपन्यास करते हैं । मृत्युञ्जय तन्त्र में वर्णित है, ''एकदिन स्वेच्छाक्रम से अन्तरीक्ष से श्रीवैकुण्ठ को पृथिवी मण्डल में श्रीगोकुल रूप में स्थापन कर गोपीमय महोत्सवा भक्ति रूपा योगमायाने साधुगण के हृदयमें अतिशय भक्ति उत्पन्न किया ।

श्रीहरिवंशोद्धृत वचन समूह का अर्थान्तर करने पर आश्चर्य भक्ति होने की सम्भावना नहीं है, उस प्रकार व्याख्या न होने से दुरपनीय दोष होगा । प्रथमतः स्वर्गादूर्द्ध्व ब्रह्म लोकः का यथाश्रुत अर्थ ही

"तत् सर्व्वोपरि गोलोके तत्र लोकोपरि स्वयम्। विहरेत् परमानन्दी गोविन्दोऽतुलनायकः ॥" ३,४॥

एवञ्चोक्तं मोक्षधर्म्मे नारायणीये तथा स्कान्दे च—

"एवं बहुविधै रूपैश्चरामीह वसुन्धराम्। ब्रह्मलोकञ्च कौन्तेय गोलोकञ्च सनातनम् ॥" ३१५॥ इति।

तदेवं सर्व्वोपरि श्रीकृष्णलोकोऽस्तीति सिद्धम्। स च लोकस्तत्तल्लीलापरिकर-भेदेनांशभेदात् द्वारका-मथुरा-गोकुलाख्यस्थानत्रयात्मक इति निर्णीतम्। अन्यत्र तु भुवि प्रसिद्धान्येव तत्तदाख्यानि स्थानानि तद्रूपत्वेन श्रूयन्ते। तेषामपि वैकुण्ठान्तरवत् प्रपञ्चातीतत्व-नित्यत्वालौकिकरूपत्व-भगवन्नित्यास्पदत्व-कथनात्। तत्र द्वारकायास्तत्त-द्विष्णुपुराणादिवचनैरुदाहरिष्यते। इयञ्च श्रुतिरुदाहरणीया—

असिद्ध है। स्वर्ग शब्द से स्वर्ग लोक से सत्य लोक पर्य्यन्त लोक पञ्चक अर्थ न करने पर केवल स्वर्ग लोक ही अर्थ होगा। इस प्रकार ब्रह्म लोक शब्द से वैकुण्ठ लोक अर्थ न करने पर सत्य लोक अर्थ होगा। उस से 'स्वर्गादूद्ध्वं ब्रह्म लोकः' स्वर्ग के ऊद्धर्व में ब्रह्म लोक है, कथन असङ्गत होगा। स्वर्ग के वाद महर्ल्लोक, उसके वाद जनलोक पश्चात् तपोलोक अनन्तर सत्यलोक ब्रह्मलोक है।

स्वर्ग के वाद लोकत्रय को अतिक्रम करके ही ब्रह्म लोक की स्थिति है। किन्तु हरिवंश वचन से बोध होता है कि—स्वर्ग के ऊद्ध्वं में ही ब्रह्म लोक है।

सोमगति—शब्द का अर्थ—उमासहित वर्त्तमान सोम श्रीशिव हैं, इस प्रकार अर्थ न करने पर सोम शब्द का प्रसिद्ध अर्थ चन्द्र है, किन्तु चन्द्र की गति वैकुण्ठ में नहीं है। यह असम्भव है। चन्द्र सूर्य्यादि ज्योतिष्कगण ध्रुव लोक के अधोभाग में अवस्थित हैं, महर्ल्लोक में भी उन सब की गति नहीं है, महर्ल्लोक के ऊद्धर्वभाग में श्रीवैकुण्ठ अवस्थित है, वहाँपर चन्द्र की गति की सम्भावना कहाँ है।

साध्य शब्द से गोलोक के दिक् पाल अथवा तत्रत्य परिकर अर्थ न करने पर—साध्य—गग देवता द्वादश संख्यक रुद्रानुचर का बोध होगा। अग्नि पुराण में उक्त है।

मनोमन्ता तथा प्राणो नरोऽपानश्च वीर्य्यवान्
"विनिर्मयोनयश्चैव दंसो नारायणो वृषः।
प्रभुश्चैते समाख्याताः साध्यद्वादश पूर्विकाः ॥"

मन, मन्ता, प्राण, नर, अपान वीर्य्यवान्, विनिर्मय, नय, दंस, नारायण, वृष एवं प्रभु—द्वादश-साध्य हैं।

उक्त साध्यगण, सामान्य देवता विशेष होते हैं, उन सब के द्वारा सत्यलोक की पालन वार्त्ता ही असम्भव है, श्रीगोलोक की पालन वार्त्ता तो दूरवर्त्ती है। विशेष कथा यह है कि—उक्त देवता के द्वारा उक्त पालन कर्म स्वीकार करने पर गोलोक की 'सहि सर्वगतः' रूपमें सर्व व्यापकता है, उसकी हानि होगी, सामान्या देवताधिकृत स्थान—कैसे सर्व गत होगा? अतएव श्रीगोलोक की सर्वोद्धर्व में स्थिति को निश्चय कर इन्द्र कहे थे,—'तत्रापि तवगतिः' 'उस में भी आप की गति' यह अतीव आश्चर्य्य का विषय है! यहाँ पर आप शब्द विस्मयार्थ में प्रयुक्त हुआ है।

गो गण का लोक—शब्द से गोलोक को यदि प्राकृत गोलोक अर्थात् सुरभी लोक कहा जाय, तो—"यां न विद्मः' इत्यादि वाच्य असंलग्न होगा। कारण इन्द्रने कहा था, 'हम सब उस गोलोक के वृत्तान्त को नहीं जानते हैं।' पितामह को जिज्ञासा करके भी जानने में असमर्थ हैं। अतएव ब्रह्मा भी गोलोक वृत्तान्त से अपरिचित हैं। प्राकृत गोलोक का वृत्तान्त इन्द्र एवं ब्रह्मा अवगत हैं। श्रीकृष्ण विहार भूमि,

"अन्तः समुद्रे मनसा चरन्तं, ब्रह्मान्वविन्दन्दशहोतारमर्णे ।
समुद्रेऽन्तः कवयो विचक्षते, मरीचीनां पदमन्विच्छन्ति वेधसः ।।" ३१६।। इत्याद्या ;

अत्र श्रीमथुरायाः प्रपञ्चातीतत्वं यथा वाराहे-"अन्यैव काचित् सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी" इति । नित्यत्वमपि यथा पाद्मे पातालखण्डे—"ऋषिर्माथुरनामात्र तपः कुर्व्वति शाश्वते" इति । अत्र मथुरामण्डले शाश्वते नित्ये कुर्व्वति करोति । अलौकिकरूपत्वं यथा आदिवाराहे-

"भूर्भुवःस्वस्तले नापि न पातालतलेऽमलम् । नोद्धर्वलोके मया दृष्टं तादृक् क्षेत्रं वसुन्धरे ।।" ३१७।। इति

श्रीभगवन्नित्यास्पदत्वं यथा—"अहोऽतिधन्या मथुरा यत्र सन्निहितो हरिः" इति । न च वक्तव्यमुपासनास्थानमेवेदम् । यत आदिवाराहे—

"मथुरायाः परं क्षेत्रं त्रैलोक्ये न हि विद्यते । तस्यां वसाम्यहं देवि मथुरायान्तु सर्व्वदा ।।" ३१८।। इति ।

गोलोक—प्राकृत गोलोक अर्थात् सुरभिलोक होता, तब इन्द्र - 'यां न विद्मः' नहीं कहते । सुतरां प्राकृत गोलोक से सनातन गोलोक रूपस्थान भिन्न है । ब्रह्म संहिता में सुस्पष्ट रूप से जिस गोलोक की वर्णना है, श्रीहरिवंशोक्त गोलोक वर्णन भी परोक्षवाद से तदनुरूप ही है ।

उस प्रकार श्रीनारद पञ्चरात्रस्थ विजयाख्यान में उक्त है—"सर्वोपरि गोलोक तत्र लोकोपरि स्वयम् । विहरेत् परमानन्दो गोविन्दोऽतुलनायकः" सर्वोपरि विराजमान गोलोक में गोपीकुल नायक-परमानन्दी श्रीगोविन्द स्वयं सर्वदा विहार करते हैं ।"

उस प्रकार वर्णना है—मोक्ष धर्मस्थ नारायणीय में एवं स्कन्द पुराण में "एवं बहुविधै रूपैश्चरामीह वसुन्धराम् ब्रह्मलोकञ्च कौन्तेय गोलोकञ्च सनातनम् ।"

हे कौन्तेय ! इस प्रकार विविध रूप धारण पूर्वक मैं पृथिवी में, ब्रह्म लोक में एवं सनातन गोलोक में विचरण करता हूँ ।'

अतएव श्रीकृष्ण लोक सर्वोपरि विराजित है । यह सिद्ध हुआ । वह लोक—विभिन्न लीला एवं परिकर भेद से अंश भेद हेतु द्वारका, मथुरा एवं गोकुल नामक निर्णीत स्थान त्रयात्मक है ।

पृथिवी में प्रकाशित धाम समूह का अप्राकृतत्व है । सर्वोपरि विराजित श्रीकृष्ण लोक भिन्न अन्यत्र पृथिवी में श्रीगोकुल-मथुरा, द्वारका नाम से विख्यात जो सब धाम हैं, वे सब धाम भी स्वरूप एवं आकृति से प्रपञ्चातीत धाम के सदृश ही हैं । कारण वे सब धाम भी श्रीवैकुण्ठ के समान प्रपञ्चातीत, नित्य, अलौकिक रूप एवं श्रीभगवान् के नित्य विहरण स्थल रूप में निर्णीत हैं । तन्मध्य में श्रीद्वारका का प्रपञ्चातीतत्वादि का वर्णन स्कन्द पुराणीय प्रह्लाद संहितादि में सुस्पष्ट है ।

"श्रुति का उदाहरण यह है—"जो समुद्र सलिल के मध्य में यथेष्ट विचरण करते हैं, जो दशेन्द्रिय विषय समूह के होतृ स्वरूप हैं, उनको ब्रह्म जानें । विधातृ पुरुषगण समुद्रमध्यस्थित जीव गणों का परमाश्रयरूप जिस स्थान लाभ का अभिलाष करते हैं । प्राज्ञगण उस प्रकार कहते हैं । श्रीमध्वभाष्योदाहृता श्रुति है । श्रीमथुरा का प्रपञ्चातीतत्व का वर्णन वराह पुराण में उक्त है,—'ब्रह्माण्डस्थ वस्तु समूह की सृष्टि ब्रह्मा करते हैं, किन्तु मथुरा की सृष्टि ब्रह्मा व्यतीत है, वह सृष्टि अन्यविध है ।"

नित्यत्व का वर्णन पद्म पुराणीय पातालखण्ड में है, 'माथुर नामक ऋषि-मथुरा नामक स्थान में शाश्वत तपस्या करते हैं । 'शाश्वत' शब्द का अर्थ—नित्य है । 'कुर्वति' प्रयोग, आर्ष है । लौकिक व्याकरण सम्मत पद 'करोति' है, जहाँपर माथुर ऋषि नित्य तपस्या करते रहते हैं, उस स्थान की नित्यता के सम्बन्ध में संशय नहीं हो सकता है ।

तत्र वासस्यैव कण्ठोक्तिः। अत्रेदृशं श्रीवराहदेववाक्यमंशांशिनोरैक्यविवक्षयैव, न तु तस्यैवासौ निवासः, श्रीकृष्णक्षेत्रत्वेनैव प्रसिद्धेः। तथैव पातालखण्डे—"अहो मधुपुरी धन्या यत्र तिष्ठति कंसहा" इति। वायुपुराणे तु स्वयं साक्षादेवेत्युक्तम्—

"चत्वारिंशद्योजनानां ततस्तु मथुरा स्मृता। यत्र देवो हरिः साक्षात् स्वयं तिष्ठति सर्व्वदा ॥"३१९॥ इति

अत्र 'साक्षात्'-शब्देन सूक्ष्मरूपता, 'स्वयं'-शब्देन श्रीमत्प्रतिमारूपता च निषिद्धा। तत इति पूर्व्वोक्तात् पुष्कराख्यतीर्थादित्यर्थः। 'मथुरायाः परं क्षेत्रम्' इत्यनेन वाराहवचनेन पूर्व्वमिव

अलौकिक रूपत्व का वर्णन आदि वाराह में है—'हे वसुन्धरे! 'भू भुवः स्वः' तीन लोकों के मध्य में एवं पाताल – ऊर्द्ध्वलोक में कहीं पर मथुरा के समान निर्मल क्षेत्र नहीं है।"

श्रीभगवान् का नित्यलीलास्पदत्व का वर्णन वहाँ पर इस प्रकार है--अर्थात् श्रीभगवान् जहाँ पर नित्य विराजित हैं, उसका वर्णन—'अहो! आश्चर्य्य का विषय है। मथुरा अति धन्या है, जहाँ श्रीहरि सर्वदा नित्य सन्निहित हैं। अर्थात् तल्लोकवासिगण के निकट श्रीहरि नित्य अवस्थित हैं।'

यह केवल उपासनास्थान ही नहीं है, अर्थात् भक्तगण—यहाँपर केवल उपासना के निमित्त ही रहते हैं, उपासना के पश्चात् स्थान त्याग पूर्वक अभीप्सित स्थान पर चले जाते हैं, भगवत् प्राप्ति अन्यत्र होती है—ऐसा नहीं। आदि वाराह में वर्णित है--पृथिवीस्थ मथुरा में श्रीकृष्ण नित्य विराजित हैं, उपासना फल लाभ के समय—उपासक उपासनाक्षेत्र मथुरा में ही उपास्य का लाभकर सकते हैं, यदि मथुरा को उपासना क्षेत्र कहा जाय तो कहना होगा कि—श्रीकृष्ण मथुरा में नित्य विराजित नहीं हैं, केवल अवतार काल में रहते हैं। अनन्तर सर्वदा श्रीगोलोक में रहते हैं। वर्त्तमान में अथवा आविर्भाव के पूर्व मथुरा में भगवान् नहीं रहते हैं। स्थान माहात्म्य से उपासनासिद्धि सत्वर होती है। इस प्रकार धारणा भ्रम विजृम्भित है। कारण वराह पुराण में श्रीवराह देवने स्वयं ही कहा है—"हे देवि! मथुरा से श्रेष्ठ स्थान त्रिलोक के मध्य में द्वितीय नहीं है। मैं सर्वदा श्रीमथुरा में निवास करता हूँ।" इस कथन से मठुरा में श्रीभगवान् की नित्य स्थिति घोषित हुई है।

संशय हो सकता है—यह उक्ति वराह देवकी है, वराह देवकी नित्य स्थिति मथुरा में हो सकती है, किन्तु वराह देव की उक्ति से श्रीकृष्ण की नित्यस्थिति मथुरा में कैसे प्रमाणित होगी? उत्तर में कहते हैं-

श्रीवराह देव की उक्ति—अंशांशी की ऐक्यविवक्षा से हुई है। अर्थात् अंशांशी की स्वरूप गत अभेद विवक्षा से उस प्रकार कथन हुआ है। श्रीभगवान् स्वरूप ऐश्वर्य्य एवं माधुर्य्य पूर्ण तत्त्व विशेष है। स्वरूप परमानन्द है, निखिल भगवत् स्वरूप तत्वरूप में परमानन्द पूर्ण हैं, किन्तु स्थान, लीला, परिकर ऐश्वर्य्य एवं माधुर्य्य भेद से विभिन्न भगवत् स्वरूप में पार्थक्य विद्यमान है।

वस्तुतः श्रीवराह देव की लीलाभूमि मथुरा नहीं है, श्रीकृष्ण लीलाभूमि रूप में मथुरा की प्रसिद्धि है, उसका वर्णन—पद्म पुराण के पाताल खण्ड में है—"अहो मधुपुरी धन्या अत्र तिष्ठति कंसहा" अहो! मथुरा ही धन्या है, जहाँ श्रीकृष्ण नित्य अवस्थित हैं।

वायु पुराण में कथित है—"पूर्व वर्णित पुष्कर तीर्थक्षेत्र से चालीस योजन दूर में मथुरा पुरी विराजित है। वहाँ पर साक्षात् क्रीड़ाशील श्रीकंसारि स्वयं सर्वदा अवस्थित हैं।" "यत्र देवो हरिः साक्षात् स्वयं तिष्ठति सर्वदा" श्लोक स्थित साक्षात् शब्द से सूक्ष्म रूप में अन्तर्हित होकर, एवं स्वयं शब्द से श्रीमत् प्रतिमारूपमें अवस्थिति का निर्णय निरस्त हुआ है, अतएव मथुरा में श्रीकृष्ण-, लीलामय सच्चिदानन्द विग्रह रूप में निरन्तर विराजमान हैं। इसका निर्देश उक्त प्रमाण से हुआ। अतएव मथुरा केवल उपासना स्थान ही

तिष्ठतीत्यपि निरस्तम् । अत्र श्रीगोपालतापनीश्रुतिश्च (गो० ता० उ० २९)–"स होवाच तं हि नारारणो देवः सकाम्या मेरोः शृङ्गे यथा सप्त पूर्य्यो भवन्ति तथा सकाम्या निष्काम्याश्च भूगोलचक्रे सप्त पूर्य्यो भवन्ति। तासां मध्ये साक्षात् ब्रह्मगोपालपुरो हि" इति; (गो० ता० उ० ३०) "सकाम्या निष्काम्या देवानां सर्व्वेषां भूतानां भवन्ति । यथा हि वै सरसि पद्मं तिष्ठति, तथा भूम्यां तिष्ठतीति चक्रेण रक्षिता हि वै मथुरा तस्माद्-गोपालपुरी हि भवति । वृहद्वृहद्वनं मधोर्मधुवनम्" इत्यादिका । पुनश्च एतैरावृता पुरी भवति, तत्र तेष्वेव गहनेष्वेवमित्यादिका । तथा (गो० ता० उ० ३४-३५)–"द्वे वने स्तः

नहीं है, अपितु परम प्राप्य स्थान ही है । श्लोकस्थ "ततः" शब्द का अर्थ पूर्वोक्त पुष्कर तीर्थ से । आदि वाराह में उक्त है--मथुरायाः परं क्षेत्रम्" इस प्रमाण से मथुरापुरी में ही निरन्तर श्रीकृष्ण विराजित हैं। इससे उपासनास्थानादि रूप विरुद्ध कल्पना निरस्त हुई है ।

श्रीकृष्ण की नित्य साक्षात् स्थिति के सम्बन्ध में श्रीगोपाल तापनी श्रुति इस प्रकार है--श्रीनारायण श्रीब्रह्मा को कहे थे—"हे विधातः ! जिस प्रकार सुमेरु शृङ्ग में काम फलदा सप्त पुरी विद्यमान हैं, उस प्रकार भू मण्डल में मोक्षदा, भोगदा अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्चि अवन्ती एवं द्वारका ये सप्तपुरी हैं । तन्मध्य में गोपाल पुरी मथुरा, साक्षात् ब्रह्म स्वरूपा है । देवगण एवं सर्व प्राणि निकर के पक्ष में यह श्रीमथुरा सकाम्या एवं निष्काम्या भी है, अर्थात् कामना पूर्वक यदि कोई यहाँ निवास करता है तो, उस की वासना पूर्त्ति होती है, अधिकन्तु अवाञ्छित श्रीकृष्ण प्रेमलाभ भी होता है । जो लोक--निष्काम भाव से निवास करते हैं, वे लोक श्रीकृष्ण प्रेम सेवा प्राप्त करते हैं ।

जिस प्रकार सरोवर के मध्य में पद्म अवस्थित है, अथच जल लिप्त नहीं होता है, तद्रूप इस भूमि में साक्षात् ब्रह्म श्रीगोपाल पुरी श्रीमथुरा सुदर्शन चक्र के द्वारा रक्षित होकर प्रापञ्चिक दोष मुक्त है । अति वृहद्वन (१) मधुदैत्य सम्बन्धीय मधुवन (२) तालवृक्ष अवस्थित हेतु तालवन (३) कामदेव की स्थिति हेतु काम्यवन (४) बहुलानाम्नी श्रीहरिप्रिया का निवास स्थान हेतु बहुलावन (५) कुमुद स्थिति हेतु कुमुदवन (६)खदिर स्थिति हेतु खदिरवन (७) भद्र--श्रीबलभद्र का विहार स्थल भद्रवन (८) भाण्डीर वट की स्थिति हेतु भाण्डीर वन (९) श्रीलक्ष्मी अवस्थान हेतु श्रीवन (१०) लोह नामक असुर का सिद्धि स्थान लोहवन (११) लीलाख्य महाशक्ति की प्रादुर्भाव विशेष रूपा वृन्दा का वन (१२) यह द्वादश वन के द्वारा आवृता पुरी मथुरा नाम से सुप्रसिद्धा है ।

मथुरा समीपस्थ द्वादशवन में देवता, मनुष्य, गन्धर्व, नाग, किन्नरगण, निरन्तर नृत्य गीत करते हैं । द्वादशवन में वरुण, सूर्य्य, वेदान्त, भानु, इन्द्र, रवि, गमस्तिमान् यम, हिरण्यरेता, दिवाकर मित्र एवं विष्णु रूप द्वादशादित्य, एकादश रुद्र—(वीरभद्र, शम्भु, गिरीश, अजैकपाद, अहिब्रध्न, पिनाकी, दिक्पति स्थाणु, भग, भुवनाधीश्वर एवं कपाली) अष्टवसु, भव, (धर अथवा धव) ध्रुव, सोम, विष्णु (अह) अनल, अनिल, प्रभूष (प्रत्यूष) प्रभव (प्रभास) गङ्गा से उत्पन्न ये अष्ट गण देवता, सप्तमुनि—कश्यप, अत्रि, भरद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि एवं वशिष्ठ, पञ्च विनायक—मोद, प्रमोद, आमोद, सुमुख एवं दुर्मुख, अष्टलिङ्ग—वीरेश्वर, रुद्रेश्वर, अम्बिकेश्वर, गणेश्वर, नीलकण्ठेश्वर, विश्वेश्वर, गोपीश्वर, एवं भद्रेश्वर तथा अपर चतुर्विंशति लिङ्ग हैं,

उक्त कानन में कृष्णवन एवं भद्रवन नामक वनद्वय हैं । उक्त वनद्वय के मध्य में ही द्वादश वन समूह हैं । तन्मध्य में कतिपय वन पुण्यात्मक, कतिपय पुण्यतम, हैं, किन्तु समस्त वन में ही देवगण; नित्य

कृष्णवनं भद्रवनम्, तयोरन्तर्द्वादश वनानि पुण्यानि पुण्यतमानि तेष्वेव देवास्तिष्ठन्ति सिद्धाः सिद्धिं प्राप्ताः । तत्र रामस्य राममूर्त्तिः" इत्यादिका । तदप्येते श्लोकाः (गो०ता०उ० ३९-४०)-

"प्राप्य मथुरां पुरीं रम्यां सदा ब्रह्मादिसेविताम् । शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गरक्षितां मुषलादिभिः ।।३२०।।
यत्रासौ संस्थितः कृष्णस्त्रिभिः शक्त्या समाहितः ।
रामानिरुद्धप्रद्युम्नै रुक्मिण्या सहितो विभुः ।।'३२१।। इति ।

किं तस्य स्थानमिति श्रीगान्धर्व्याः प्रश्नस्योत्तरमिदम् । एवमेव श्रीरघुनाथस्याप्ययोध्यायां श्रूयते । यथा स्कान्दायोध्यामाहात्म्ये स्वर्गद्वारमुद्दिश्य—

"चतुर्द्धा च तनुं कृत्वा देवदेवो हरिः स्वयम् । अत्रैव रमते नित्यं भ्रातृभिः सह राघवः ।।'७२२।।इति ।

अतएव "यत्र यत्र हरेः स्थानं वैकुण्ठं तद्विदुर्बुधाः" इत्यनुसारेण महाभगवतः स्थानत्वात् महावैकुण्ठ एवासौ, यतो वैकुण्ठात्तस्य गरीयस्त्वं श्रूयते, यथा पातालखण्डे—

"एवं सप्तपुरीणान्तु सर्व्वोत्कृष्टन्तु माथुरम् । श्रूयतां महिमा देवि वैकुण्ठो भुवनोत्तमः ।।३२३।। इति ।

आदिवाराहे—

"मथुरायां ये वसन्ति विष्णुरूपा हि ते खलु । अज्ञानास्तान्न पश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।"३२४।। इति

अतएव तत्रैव पातालखण्डे—"अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी" इति । अथ श्रीवृन्दावनस्य प्रपञ्चातीतत्वादिकं मथुरामण्डलस्यैव तत्त्वेन सिद्धम् । यथा च श्रीगोविन्द-वृन्दावनाख्ये बृहद्गौतमीयतन्त्रे नारदप्रश्नानन्तरं श्रीकृष्णस्योत्तरम् । तत्र प्रश्नः—

श्रीकृष्ण परिकर गण एवं साधनसिद्ध गण अवस्थान करते हैं, यह विवरण—गोपाल तापनी उत्तर ३४-३५ में है । 'रम्या, ब्रह्मादि निषेविता, शङ्ख चक्र गदा शार्ङ्ग मुषलादि द्वारा सुरक्षिता मथुरापुरी की प्रदक्षिणा करने से अभीष्ट सिद्धि होती है । उक्त मथुरा में श्रीराम, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, एवं रुक्मिणी के सहित विभु श्रीकृष्ण,—अवस्थित हैं । उत्तर तापनी—(३९—४०) किस प्रकार श्रीकृष्ण स्थान हैं ?

गान्धर्विका श्रीराधा के प्रश्नोत्तर में श्रीदुर्वासा ऋषिने कहा था । इस प्रकार श्रीरामचन्द्र की अयोध्या में स्थिति है । स्कन्द पुराणस्य अयोध्यामाहात्म्य में स्वर्गद्वार को उद्देश्य करके वर्णित है—"देवदेव स्वयं श्रीहरि रामचन्द्र,—स्वीय मूर्त्तिको चतुर्धा विभक्त कर भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न—भ्रातृवृन्द के सहित निरन्तर अयोध्या में भ्रमण करते रहते हैं ।" अतएव जहाँ जहाँ श्रीहरिका स्थान है, उसको विद्वान् गण-वैकुण्ठ जानते हैं । इस प्रमाण के अनुसार—महाभगवान् का स्थान होने के कारण-मथुरा महावैकुण्ठ है, कारण—वैकुण्ठ से मथुरा गरीयसी है, पाताल खण्ड में उक्त है,—"हे देवि ! 'सप्तपुरीके मध्य में सर्वोत्कृष्ट पुरी मथुरा है, उसकी महिमा श्रवण करो, आदि वाराह में वर्णित है—जो व्यक्ति मथुरा में निवास करते हैं, वे सब विष्णुरूप होते हैं । अज्ञानी व्यक्तिगण उन सबको उस प्रकार देख नहीं पाते हैं, ज्ञानीगण—ज्ञान नेत्र से उस प्रकार दर्शन करते हैं । अतएव उक्त पद्म पुराण के पाताल खण्ड में वर्णित है—अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी' अहो ! मथुरा, वैकुण्ठ से भी अतिश्रेष्ठाहै, उक्त वचन समूहके द्वारा वैकुण्ठ से भी अति श्रेष्ठा मथुरा है, प्रति पादित हुआ ।

अनन्तर श्रीवृन्दावन का प्रपञ्चातीतत्व, नित्यत्व प्रभृति का निरूपण श्रीमथुरा मण्डल का तत्त्व निरूपण के द्वारा ही सुसिद्ध हुआ है । तद्व्यतिरिक्त स्वतन्त्र भाव से भी श्रीवृन्दावन का तत्त्व वर्णन शास्त्र

"किमिदं द्वादशाभिख्यं वृन्दारण्यं विशाम्पते । श्रोतुमिच्छामि भगवन् यदि योग्योऽस्मि मे वद ॥"३२५॥

अथोत्तरम्—

"इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम् । अत्र मे पशवः पक्षि-वृक्षाः कीटा नरामराः ।
ये वसन्ति ममाधिष्ण्ये मृता यान्ति ममालयम् ॥३२६॥
अत्र या गोपकन्याश्च निवसन्ति ममालये । योगिन्यस्ता मया नित्यं मम सेवापरायणाः ॥३२७॥
पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम् । कालिन्दीयं सुषुम्नाख्या परमामृतवाहिनी ॥३२८॥
अत्र देवाश्च भूतानि वर्त्तन्ते सूक्ष्मरूपतः । सर्व्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित् ॥३२९॥
आविर्भावस्तिरोभावो भवेन्मेऽत्र युगे युगे । तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्म्मचक्षुषा ॥"३३०॥ इति ।

विशेषतस्तादृगलौकिकरूपत्व-भगवन्नित्यधामत्वे तु दिव्यकदम्बाशोकादि—वृक्षादीनां हम्वारववेणुवाद्यादीनामप्यद्यापि महाभागवतैः साक्षात्क्रियमाणत्व-प्रसिद्धेः । यथा वाराहे कालियह्रदमाहात्म्ये—

'तत्रापि महदाश्चर्य्यं पश्यन्ति पण्डिता जनाः । कालियह्रदपूर्व्वेण कदम्बो महितो द्रुमः ॥३३१॥
शतशाखं विशालाक्षि पुण्यं सुरभिगन्धि च । स च द्वादशमासानि मनोज्ञः शुभशीतलः ।
पुष्पायति विशालाक्षि प्रभासन्तो दिशो दश ॥"३३२॥ इति ।

शतानां शाखानां समाहारः शतशाखं तद्यत्र वर्त्तत इत्यर्थः । प्रभासन्तः प्रभासयन्तित्यर्थः । तत्रैव तदीयब्रह्मकुण्डमाहात्म्ये—

में है। यथा—श्रीगोविन्द वृन्दावन नामक वृहद् गौतमीय तन्त्र में श्रीनारद के प्रश्नोत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा है—प्रश्न—'हे गोपपते ! द्वादशवनात्मक-वृन्दावन का तत्त्व क्या है ? मैं सुनना चाहता हूँ । भगवन् श्रवण योग्य यदि मैं हूँ, तब कृपा पूर्वक आप वर्णन करें ।' उत्तर में श्रीकृष्ण बोले थे—'यह रमणीय श्रीवृन्दावन-केवल मेरा ही धाम है, पशु, पक्षी, वृक्ष, कीट, नर, अमर प्रभृति जो भी व्यक्ति मेराधाम में निवास करते हैं, वे सब ही मृत्यु के पश्चात् मेरा नित्यधाम में प्रविष्ट होते हैं ।" मेरी निवास भूमि, वृन्दावन में जो सब गोप कन्या निवास करती हैं, वे सब योगिनी हैं, मेरे सहित संयोग प्राप्ता एवं नित्य सेवापरायणा हैं, पञ्च-योजन परिमित वृन्दावन, मेरादेह स्वरूप है । परमामृत कालिन्दी सुषुम्ना नामसे अभिहिता है, यहाँपर देव गण एवं भूतगण सूक्ष्म रूप में अवस्थित हैं, सर्व देव मय मैं कदापि वृन्दावन को परित्याग नहीं करता हूँ । इस वृन्दावन में युग युग में मेरा आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है, यह तेजोमय वृन्दावन, रमणीय है एवं चर्म चक्षु द्वारा अदृश्य है ॥३२५—३३०॥

विशेषतः पूर्वोक्त अलौकिक रूपत्व भगवन्नित्य धामत्व का प्रमाण—विद्वदनुभव है, आज भी महा-भागवत गण-उक्त वृन्दावन में दिव्य अशोक एवं कदम्बवृक्षादि का दर्शन करते हैं, धेनु वृन्द का हम्वारव वेणुध्वनि का श्रवण भी महाभागवत गण आज भी करते हैं । यह विवरण प्रसिद्ध है । वराह पुराण में कालियह्रद का माहात्म्य वर्णित है—श्रीवराह देव का वाक्य यह है -हे विशालाक्षि । पण्डित व्यक्ति गण श्रीवृन्दावनस्थ कालीय ह्रद के पूर्वभाग में सर्वजन पूजित पवित्र, सुरभिगन्धयुक्त, शतशाख कदम्ब वृक्षका दर्शन करते हैं, हे विशालाक्षि ! उक्त कदम्बवृक्ष द्वादश मास शुभ शीतल पुष्पित है, एवं उसकी कान्ति से दशदिक् उद् भासित होते हैं । उक्त वृक्ष में शत शाखा है, तज्जन्य उसको शतशाख कहते हैं ।

उक्त वराह पुराण में ब्रह्मकुण्डका माहात्म्य भी वर्णित है,—"हे वसुन्धरे ! ब्रह्मकुण्ड के सम्बन्ध में

"तत्राश्चर्य्यं प्रवक्ष्यामि तच्छृणु त्वं वसुन्धरे। लभन्ते मनुजाः सिद्धिं मम कर्म्मपरायणाः ॥३३३॥
तस्य तत्रोत्तरे पार्श्वेऽशोकवृक्षः सितप्रभः। वैशाखस्य तु मासस्य शुक्लपक्षस्य द्वादशी ॥३३४॥
स पुष्पति च मध्याह्ने मम भक्तसुखावहः।
न कश्चिदपि जानाति विना भागवतं शुचिम् ॥"३३५॥ इत्यादि।

द्वादशीति द्वादश्यामित्यर्थः। 'सुपां सुलुक' इत्यादिनैव पूर्व्वसवर्णः। शुचित्वमत्र तदनन्य-वृत्तित्वम्। अनेन पृथिव्यापि तस्य तादृशरूपं न ज्ञायत इत्यायातम्। अतएव तदीयतीर्थान्तर-मुद्दिश्य यथा चादिवाराहे—

'कृष्णक्रीड़ासेतुबन्धं महापातकनाशनम्। वलभीं तत्र क्रीड़ार्थं कृत्वा देवो गदाधरः ॥३३६॥
गोपकैः सहितस्तत्र क्षणमेकं दिने दिने। तत्रैव रमणार्थं हि नित्यकालं स गच्छति ॥"३३७॥ इति।

पुनस्तदुद्दिश्य स्कान्दे—

"ततो वृन्दावनं पुण्यं वृन्दादेवीसमाश्रितम्। हरिणाधिष्ठितं तच्च ब्रह्मरुद्रादिसेवितम् ॥३३८॥

श्रुतिश्च दर्शिता (गो० ता० पू० ३७)—"गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुर-भूरुहतलासीनं सततं समरुद्गणोऽहं तोषयामि।" इति। एवं पातालखण्डे—"यमुनाजल-कल्लोले सदा क्रीड़ति माधवः" इति यमुनाया जलकल्लोला यत्र एवम्भूते श्रीवृन्दावन इति

आश्चर्य्य कर वार्त्ता कहता हूँ, श्रवण करो, यहाँपर जो व्यक्ति निवास कर सत् कर्म परायण होता है, अर्थात् मद् भक्ति का अनुष्ठान करता है, वह स्थान माहात्म्य से सत्वर सिद्धिलाभ करता है। उस ब्रह्मकुण्ड के उत्तर पार्श्व में एक श्वेत वर्ण का अशोक वृक्ष है, वैशाख मास के शुक्लपक्ष की द्वादशी तिथिके मध्याह्न काल में भक्त जन सुखावह वृक्ष पुष्पित होता है, शुचि भागवत व्यतीत अपर कोई इस तत्त्व को नहीं जानता है।"३३३—३३५॥ द्वादशी—शब्द का अर्थ--द्वादशी तिथि में है। 'सुपां सुलुक' सूत्रानुसार सप्तमी विभक्ति का लोप हुआ है। यहाँ शुचि शब्द का अर्थ—भगवान् में अनन्य वृत्तिता, अर्थात् श्रीभगवद् भिन्न अपर वस्तु में महत्त्व राहित्य है। इस प्रकार अनन्यता जिस व्यक्ति में है, वह उत्तम भागवत है' एवं शुचि है। वह उक्त अशोक वृक्ष दर्शनक्षम है।

इससे व्यक्त हुआ है कि—पृथिवी भी उक्त कदम्ब एवं अशोक वृक्षका तत्त्व नहीं जानती है। कारण ज्ञात होने पर श्रीवराह देव ज्ञातार्थ वर्णन नहीं करते, ज्ञात विषय का उपदेश निष्फल है।

अतएव श्रीवृन्दावनीय तीर्थान्तर को उद्देश्यकर आदि वाराह में वर्णित है;—श्रीकृष्ण क्रीड़ा सेतुबन्ध-महापाप नाशक है, वहाँ वलभी अर्थात् तृण कुटीर निर्म्माण कर निवास हेतु गोपगण के सहित क्षण काल के निमित्त श्रीकृष्ण गमन करते हैं। उक्त श्लोक में 'नित्य कालं स गच्छति" पद का प्रयोग है। 'गच्छति' वर्त्तमान कालीय क्रियासे श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण की नित्यस्थिति सूचित हुई है।

स्कन्द पुराण में भी वर्णित है—"अतएव पुण्य वृन्दावन, श्रीहरि कर्त्तृक अधिष्ठित है, ब्रह्मरुद्रादि कर्त्तृक निषेवित है, एवं श्रीवृन्दा कर्त्तृक सम्यक् सेवित है।'

श्रीगोपाल तापनी श्रुति में वर्णित है—'वृन्दावनस्थ कल्पतरु के तल देश में अवस्थित सच्चिदानन्द घन विग्रह श्रीगोविन्द देवको मरुद् गण के सहित मैं (ब्रह्मा) सतत परिचर्य्या के द्वारा सन्तुष्ट करता हूँ।'

पाताल खण्ड में वर्णित है—'यमुना जल कल्लोल में माधव सर्वदा क्रीड़ा करते हैं।'

जहाँपर यमुना का जल कल्लोल है, इस प्रकार श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण सतत क्रीड़ा करते हैं, यह

प्रकरणलब्धम्। तत्राजहल्लक्षणया तीरह्रदावेव गृह्येते। तीरञ्च वृन्दावनलक्षणं तत्र प्रस्तुतम्। अतएवास्य वृन्दावनस्यावान्तरं गोकुलाख्यं वैकुण्ठमिति श्रीकृष्णोपनिषदि-- "गोकुलं वनवैकुण्ठम्" इति। तस्मान्नित्यधामत्वश्रवणाच्च श्रीमथुरादीनां तत्स्वरूप-विभूतित्वमेव, "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि" इति श्रुतेः। अतएव तापन्याम् (गो० ता० उ० २९)-"साक्षाद्ब्रह्मगोपालपुरी हि" इति, वृहद्गौतमीयतन्त्रे-"तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्म्मचक्षुषा" इति। तदीदृशरूपता काशीमुद्दिश्य ब्रह्मवैवर्त्ते त्वित्थं समाधीयते। यथा तत्र श्रीविष्णुं प्रति मुनीनां प्रश्नः-

अथ श्रीविष्णूत्तरम्--

"छत्राकारन्नु किं ज्योतिर्ज्जलादूर्द्ध्वं प्रकाशते। निमग्नायां धरायाञ्च न वै मज्जति तत् कथम् ॥३३९॥
किमेतच्छाश्वतं ब्रह्म वेदान्तशतरूपितम्। तापत्रयार्त्तिदग्धानां जीवनं छत्रतां गतम् ॥३४०॥
दर्शनादेव चास्याथ कृतार्थाः स्मो जगद्गुरो। वारं वारं तवाप्यत्र दृष्टिर्लग्ना जनार्द्दन।
परमाश्चर्य्यरूपोऽपि साश्चर्य्यं इव पश्यसि॥" ३४१॥

अर्थ प्रकरण से प्राप्त है। तद् गुण संविज्ञान बहुव्रीहि समास के द्वारा अर्थात् अजहल्लक्षणा के द्वारा तीर एवं नीर उभय ही तदीय क्रीड़ास्थान हैं, प्रतीत होता है। यमुना तीर श्रीवृन्दावन है-यह प्रसिद्ध है, उक्त प्रमाण समूह के द्वारा भौम श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण की नित्यस्थिति प्रदर्शित हुई है। अतएव श्रीवृन्दावन का अवान्तर स्थान गोकुल नामक वैकुण्ठ है-इसका वर्णन श्रीकृष्णोपनिषद् में है।

"वंशस्तु भगवान् रुद्रः शृङ्गमिन्द्रः सखासुरः।
गोकुलं वन वैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः।' श्रुति।

गोकुल को वन वैकुण्ठ कहा गया है। अतएव नित्यधामत्व वर्णित होने से श्रीमथुरा द्वारका प्रभृति श्रीकृष्ण के स्वरूप विभूति स्वरूप ही हैं। श्रुति यह है—'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः इति—स्वे महिम्नि" आचार्य्य श्रीशङ्कर कृत भाष्य—

"तर्ह्येवं लक्षणो भूमा हे भगवः—भगवन् ! कस्मिन् प्रतिष्ठितः' इत्युक्तवन्तं नारदं प्रत्याह सनत् कुमारः। स्वे महिम्नीति, स्वे-आत्मीये महिम्नि—माहात्म्ये—विभूतौ प्रतिष्ठितोभूमा। नारद, सनत् कुमार को कहे थे,—हे भगवन् ! वह भूमा कहाँ रहते हैं, ? उत्तर में सनत् कुमार बोले थे,—स्वमहिमा में, अर्थात् स्वरूप विभूति में। श्रीभगवान् का स्वरूप सच्चिदानन्दमय, सुतरां तदीय धाम भी सच्चिदानन्दमय ऐश्वर्य्य स्वरूप है। (छान्दोग्य १।२४।१)

उस प्रकार श्रीगोपाल तापनी श्रुति में उक्त है—

(साक्षाद् ब्रह्म गोपाल पुरीहि" गोपाल पुरी साक्षाद् ब्रह्म है। वृहद् गौतमीय तन्त्र में वर्णित है— "श्रीकृष्ण धाम, तेजोमय एवं रमणीय है, यह चर्मचक्षु से अदृश्य है," श्रीभगवान् की नित्य विहार भूमि हेतु, उक्त धाम समूह की चिन्मयता है, काशी को उद्देश्य करके ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में इस प्रकार समाधान उक्त है। श्रीविष्णु के प्रति मुनिवृन्द का प्रश्न—"जल के उपरि भाग में छत्राकार ज्योति स्वरूप यह क्या है ? समस्त पृथिवी जल निमग्नाहोने से भी यह निमज्जित क्यों नहीं हुआ है ? यह क्या वेदान्त निरुपित शाश्वत ब्रह्म है ? अथवा तापत्रय दग्धजीव गण को परित्राण करने के निमित्त यह क्या जीवन छत्र स्वरूप हुआ है ? ३३९—३४०। हे जगद् गुरो ! आपकी दृष्टि बारम्बार उस ज्योति में निबद्धा क्यों हो रही है ?

अथ विष्णूत्तरम्--

"छत्राकारं परं ज्योतिर्दृश्यते गगनेचरम् ।
तत्परं परमं ज्योतिः काशीति प्रथितं क्षितौ ।।३४२।।
रत्नं सुवर्णे खचितं यथा भवे,-त्तथा पृथिव्यां खचिता हि काशिका ।
न काशिका भूमिमयी कदाचि,-त्ततो न मज्जेन्मम सद्गतिर्यतः ।
जड़ेषु सर्व्वेष्वपि मज्जमाने,-ष्वियं चिदानन्दमयी न मज्जेत् ।।"३४३।। इत्यादि,

तथाग्रे च--

"चेतनाजड़योरैक्यं यद्वन्नैकस्थयोपरि । तथा काशी ब्रह्मरूपा जड़ा पृथ्वी च सङ्गता ।।३४४।।
निर्म्माणन्तु जड़स्यात्र क्रियते न परात्मनः । उद्धरिष्यामि च महीं वाराहं रूपमास्थितः ।
तदा पुनः पृथिव्यां ही काशी स्थास्यति मत्प्रिया ।।"३४५।। इति ।

'चेतना'-शब्देनात्रान्तर्याम्युपलक्ष्यते; 'जड़'-शब्देन तु देहः परमात्मन इत्युक्तत्वात् । ततश्च (भा० २।२।८) "केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे, प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्" इत्यादिना चतुर्भुजत्वेन वर्णितोऽन्तर्य्यामी देहस्थितोऽपि यथा देहक्लेदादिना न स्पृश्यते तद्वदिति ज्ञेयम् ।

आप परमाश्चर्य्य स्वरूप होकर भी विस्मित होकर उसका दर्शन क्यों कर रहा हूँ ! (३४१)

उत्तर में श्रीविष्णु ने कहा—"छत्राकार गगन विहारी ज्योतिः को देख रहे हैं, वह पृथिवी में काशी पुरी है । जिस प्रकार सुवर्ण मध्य में रत्न खचित होता है, उस प्रकार ही पृथिवी में काशी पुरी खचित है । काशी, कभी भी भूमिमयी नहीं है । अर्थात् कभी भी जड़धर्मान्विता नहीं होती है, तज्जन्य वह जल मग्ना नहीं होती है । कारण-उसमें मैं नित्य विराजित हूँ । निखिल जड़ वस्तु निमज्जित होने से भी चिदानन्दमयी काशी निमज्जिता नहीं होती है ।' ३४२-३४३।।

ब्रह्म वैवर्त्त पुराण के अग्रिम भाग में वर्णित है कि—"एक देह के मध्य में जड़ एवं चेतन की स्थिति होने पर भी जिस प्रकार चेतन जड़ धर्म से लिप्त नहीं होता है, उस प्रकार ब्रह्म रूपा काशी एवं जड़ रूपा पृथिवी एकत्र अवस्थिता होने से भी पार्थिव जड़ धर्म से काशी लिप्त नहीं है । जिस प्रकार जड़ की उत्पत्ति है, परमात्मा की उत्पत्ति नहीं है । इस प्रकार पृथिवी की उत्पत्ति है, काशी की उत्पत्ति नहीं है । मैं वराह रूप धारण कर जब पृथिवी का उद्धार करूँगा, तब पुनर्वार मेरी प्रिया काशी-पृथिवी में विराजिता होगी ।"।।३४४—३४५।।

श्लोकस्थ 'चेतना' शब्द से यहाँ परमात्मा को जानना होगा; जड़ शब्द से देह को जानना होगा । परमात्मनः परवर्त्ती श्लोक में 'परमात्मा की उत्पत्ति नहीं है, जड़ की उत्पत्ति है, इस प्रकार कहा गया है । अतएव चेतन शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण होता है, 'निर्म्माणन्तु जड़स्यात्र क्रियते न परमात्मनः" इस प्रकार ३४५ श्लोक में कहा गया है । कारण—परमात्मा ही एकमात्र कारण वस्तु हैं ।

इस प्रकार व्याख्या करने का हेतु यह है—काशी प्रभृति धाम समूह अणु चैतन्य जीव स्वरूप नहीं है, विभु चैतन्य—परमात्मा स्वरूप हैं, जीव स्वरूप के सदृश चिद्वस्तु होने से माया द्वारा अभिभूत होना धाम समूह का सम्भव होता, तज्जन्य परमात्मा स्वरूप निश्चित हुआ है ।

परमात्मा को दृष्टान्त रूप में उपस्थित करने का तात्पर्य्य यह है कि-योगिगण निजदेह के मध्यमें अवस्थित प्रादेशमात्र आकृति विशिष्ट पुरुष का ध्यान करते हैं । श्रीमद् भागवत २।२।८ में वर्णित है—चतुर्भुज रूप में वर्णित अन्तर्य्यामी परमात्मा शरीर के मध्य में अवस्थित होने पर भी देह पीड़ादि के द्वारा व्यथित

तदेवं तद्धाम्नामुपर्य्यधः प्रकाशमानत्वे नोभयविधत्वं प्रसक्तम् । वस्तुतस्तु श्रीभगवन्नित्याधिष्ठानत्वेन तच्च श्रीविग्रहवदुभयत्र प्रकाशाविरोधात् समान-गुण-नाम-रूपत्वेनाम्नातत्वाल्लाघवाच्चैकविधत्वमेव मन्तव्यम् । एकस्यैव श्रीविग्रहस्य बहुत्वप्रकाशश्च (४१ अनु०) द्वितीयसन्दर्भे दर्शितः, (भा० १०।६९।२)—

"चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ।।"३४६।।

इत्यादिना । एवम्विधत्वञ्च तस्याचिन्त्यशक्तिस्वीकारेण सम्भावितमेव । स्वीकृतश्चाचिन्त्यशक्तित्वम् (ब्र० सू० २।१।२७) "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इत्यादौ । तदेवमुभयाभेदाभिप्रायेणैव श्रीहरिवंशेऽपि गोलोकमुद्दिश्य—"स हि सर्वगतो महान्" इत्युक्तम् । भेदे तु ब्रह्मसंहितायामपि (५।४८)—"गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः" इत्येवकारोऽत्र स्वकीयनित्यविहारप्रतिपादक-वाराहादिवचनैर्विरुध्येत । अविरोधस्तूभयेषामैक्येनैव भवतीति तं न्याय

नहीं होते हैं । तद्रूप काशी प्रभृति भगवद्धाम समूह पृथिवी में अवस्थित होने से भी प्रकृति धर्म से अलिप्त हैं ।

श्रीभगवान् के धाम समूह तदीय स्वरूप विभूति स्वरूप हैं । तज्जन्य उक्त धाम समूह उपरितन देश में अथवा अधस्तन देश में प्रकाशित हैं, अतएव उक्त धाम समूह की उभयविधरूप में प्रसिद्धि है, एक पाद विभूति एवं त्रिपाद विभूति रूप में विभूति क्रोड़ीकृत होती है । वस्तुतः श्रीभगवान् नित्य अधिष्ठित होने के कारण—उपर्य्यधः प्रकाशमान धाम समूह में एकत्व ही विद्यमान है, उभय विधत्व नहीं है । अर्थात् एकही धाम ऊर्द्ध्वदेशरूप परव्योम में एवं अधस्तल रूप पृथिवी में विद्यमान है । एक ही धाम कैसे विरुद्ध उभय स्थान में युगपत् विराजित हो सकता है ? उत्तर,—श्रीभगवद्विग्रह—जिस प्रकार एक समय में अनेक स्थान में युगपत् प्रकाशित हो सकते हैं, तदीय धाम सम्बन्ध में भी उस प्रकार ही जानना होगा । उभय धाम एक है—इसका बोध कैसे होगा ? कहते हैं—उभयत्र प्रकाशमान धाम के समान गुण नाम रूप का वर्णन सुप्रसिद्ध है । उभयस्थलस्थ धाम समूह में ऐक्य स्वीकृत होने से कल्पना लाघव होता है, अन्यथा परव्योम एवं अनन्त ब्रह्माण्ड में प्रकाशित अनन्त धामों का पृथक् पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना होगा । उस प्रकार कल्पना असमीचीन है, धाम समूह भगवान् की सन्धिनी शक्ति से प्रकटित हैं ।

श्रीभगवद्विग्रह एक ही समय में बहुत्र युगपत् प्रकाशित होने में सक्षम हैं, इसका प्रतिपादन द्वितीय सन्दर्भ रूप भागवत सन्दर्भ के ४१ अनुच्छेद में हुआ है । भा० १०।६९।२ में उक्त है—

"चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्ट साहस्रं स्त्रियएक उदावहत् ।।"

आश्चर्य्य है—कि एक शरीर के द्वारा ही एक समय में षोड़श सहस्र संख्यक स्त्री के सहित परिणय कार्य्य सम्पन्न श्रीकृष्ण किये थे ।

बृहद् वैष्णव तोषणी—दिदृक्षा हेतुमेव विस्तारयन् उक्त पोषणन्यायेनाह—चित्रमिति सार्द्धेन-आश्चर्य्यम् बत हर्षे, ननु किं नामात्र चित्रम्, सौभरि प्रभृतयो मुनयोऽपि बहु रूपधारणेनैवं किल कुर्वन्ति, तत्राह—एकेनैव वपुषा, न तु बहु रूप धारणेनेत्यर्थः । एतच्चान्ते व्यक्तं भावि, पृथगित्यत्र वीप्सा द्रष्टव्या, प्रत्येकं

सिद्धमेवार्थं ब्रह्मसंहितानुगृह्णाति । अतएव श्रीहरिवंशेऽपि शक्रेण (विष्णु-प० १९।३५)—

"स तु लोकस्त्वया कृष्ण सीदमानः कृतात्मना । धृतो धृतिमता वीर निघ्नतोपद्रवान् गवाम् ।।'३४७।।

इति गोलोक-गोकुलयोरभेदेनैवोक्तम् । तस्मादभेदेन भेदेन चोपक्रान्तत्वादेकविधान्येव श्रीमथुरादीनि प्रकाशभेदेनैव तूभयविधत्वेनाम्नातानीति स्थितम् । दर्शयिष्यते चाग्रे—क्षौणि-प्रकाशमान एव श्रीवृन्दावने श्रीगोलोकदर्शनम् । ततोऽस्यैवापरिच्छिन्नस्य गोलोकाख्य—

सर्व्वेष्वेवैकवोद्वाहात् । यद्वा, पृथग् गृहेषु—नानागारेषु तावत्स्वेव, अर्थः स एवा आ सम्यक्, पितृ मातृ पुरोहितादिभिः सह तत्तत् कृत्य विधिना उदवहत् । आकारस्यान्तः प्रयोगः 'छान्दस व्यवहिताश्च' इति छान्दसत्वाददोषः ।

नरकासुर बध के अनन्तर तत्रत्य कन्या समूह का परिणय के अनन्तर श्रीनारद योगमाया वैभव दर्शनेच्छु होकर द्वारका आये थे, श्रीकृष्ण, अष्टादश सहस्र कन्याका पाणि ग्रहण एक ही समय में पृथक् पृथक् गृह में किये थे । उस में पृथक् पृथक् पुरोहित—पिता माता प्रभृति बन्धु वर्ग का यथारीति समावेश हुआ था । देवर्षि आश्चर्य्यान्वित हुए थे । आश्चर्य्यान्वित होने का कारण यह है, यह सौभरि प्रभृति योगिगण स्वयं अभ्यस्त एवं परिचित थे । किन्तु आश्चर्य्य का विषय यह है—स्वीय प्रकाश मूर्त्ति का आविष्कार किये थे । काय व्यूह में एक देहका अनेक बिस्तार होता है, एकको क्रिया से अपर में क्रिया होती है, प्रकाश में एक होकर भी पृथक् पृथक् आविर्भाव के द्वारा पृथक् पृथक् क्रियाओं का पृथक् पृथक् आस्वादन होता है, यह ही विस्मय का विषय था ।

एक विग्रह का युगपत् बहुत्र प्रकाश-श्रीभगवान् की अचिन्त्य शक्तिके द्वारा ही होता है । श्रीभगवान् की अचिन्त्यशक्तिका प्रतिपादन ब्र० सू० २।१।२७—'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' में हुआ है । गोविन्द भाष्य—'ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्षे लोक दृष्टया दोषा न स्युः । कुतः श्रुतेः । अलौकिकमचिन्त्यं ज्ञानात्मकमपि मूर्त्तं ज्ञानवच्चैकमपि बहुधावभातं च, निरंशमपि सांशं च, मितमप्यमितं च सर्वकर्त्तृ निर्विकारं च ब्रह्म इति श्रवणादेवेत्यर्थः । मुण्डके अलौकिकत्वादि श्रुतम् । अविचिन्त्यार्थस्य शब्दैक प्रमाणत्वादित्यर्थः । ब्रह्म बोधकस्तु श्रुति शब्द एव । "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमित्यादि श्रवणात् । स्वतः सिद्धत्वेन निर्दोषत्वाच्चेति ।

ब्रह्म का निरूपण श्रुति से ही होता है, ब्रह्म—अलौकिक अचिन्त्य, ज्ञानात्मक होने पर भी मूर्त्ति विशिष्ट एवं ज्ञान सम्पन्न हैं, एक होकर भी बहुरूप से विराजित हैं, निरंश होकर अंश युक्त हैं, परिमित होकर अपरिमित हैं, सर्व कर्त्ता होने परभी विकार रहितहैं । शब्द प्रमाणके द्वारा वह प्रतिपादित हैं । श्रुति एवं तदनुगत शास्त्र से श्रीभगवान् में अलौकिक शक्ति श्रुत है, मनुष्य जगत् में वह असम्भव होने पर भी श्रीभगवान् में अचिन्त्य शक्ति होने से वह सम्भव है ।

अचिन्त्य शक्ति प्रभाव से श्रीभगवदभिन्न भगवद्धाम की स्थिति उभयत्र होती है, उसका वर्णन श्रीहरिवंश में है,—"स हि सर्वगतोमहान्" वह गोलोक सर्वगत महान् है" इत्यादि । अर्थात् उपरि भाग में एवं अधोभाग में युगपत् विद्यमान है, कारण वह महान् हैं ।

उभयस्थानगत धाम में भेद स्वीकार करने पर ब्रह्मसंहितोक्त (५।४८) 'गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः श्रीगोविन्द गोलोक में ही निवास करते हैं, इस वाक्यस्थ 'एव' 'ही' शब्द के द्वारा भौम वृन्दावन में श्रीकृष्णका नित्य विहार प्रति पादक वराह पुराणोक्त वचनोंके सहित विरोध उपस्थित होता है।

गोलोक एवं गोकुल में अभेद स्वीकार करने पर ब्रह्मसंहिता एवं वराह पुराण में विरोध नहीं होगा। उक्त युक्ति युक्त अभिन्नार्थ का अङ्गीकार ब्रह्मसंहिता में हुआ है ।

वृन्दावनीयप्रकाशविशेषस्य वैकुण्ठोपर्य्यपि स्थितिर्माहात्म्यादलम्बनेन भजतां स्फुरतीति ज्ञेयम् । अयमेव मथुरा-द्वारका-गोकुल-प्रकाशविशेषात्मकः श्रीकृष्णलोकस्तद्विरहिणा श्रीमदुद्धवेनापि समाधावनुभूत इत्याह (भा० ३।२।६)—

(१०६) "शनकैर्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनरागतः ।
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रत्याहोद्धव उत्स्मयन् ।।"३४८।।

स्पष्टम् ।। श्रीशुकः ।।

१०७ । इममेव लोकं द्यु-शब्देनाप्याह (भा० १२।२।२९।३०)

अतएव श्रीहरिवंश में भी देवराज इन्द्रने कहा है- हे कृष्ण ! हे वीर ! मेरे द्वारा अनुष्ठित गो गोकुल का उपद्रव विनाशकारी धृतिमान् आप हैं, आपने ही पीड़ित गोकुल की रक्षा की है।" देवराज ने तो गोलोक एवं गोकुल में अभेद मानकर ही कहा है। सुतरां कहीं अभेद रूप से कहीं भिन्न रूप से वर्णित होने से भी श्रीमथुरा प्रभृति धाम उभय लोक गत एकविध ही है, किन्तु प्रकाश भेद से उभयविध वर्णित होता है। यह सिद्धान्त स्थिर हुआ है। इस ग्रन्थ के अग्रिम भाग में प्रदर्शित होगा कि पृथिवी में प्रकाशित श्रीवृन्दावन में ही व्रजवासिगण गोलोक दर्शन किये थे।

अतएव जो लोक माहात्म्य ज्ञानावलम्बन से श्रीकृष्ण का भजन करते हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण लोक निखिल वैकुण्ठ के उपरि भाग में अवस्थित है, इस प्रकार धारणा के द्वारा भजन करते हैं, उनके समीप में अपरिच्छिन्न यह गोलोक नामक श्रीवृन्दावनीय प्रकाश विशेष की स्फूर्त्ति वैकुण्ठ के उपरिभाग में होती है।

मथुरा द्वारका गोकुल का प्रकाश विशेष रूप यह श्रीकृष्ण लोक ही श्रीकृष्ण विरही श्रीमदुद्धव कर्त्तृक समाधि में अनुभूत हुआ था।

भा० ३।२।६ में वर्णित है "शनकै र्भगवल्लोकान्नृलोकं पुनर गतः ।
विमृज्य नेत्रे विदुरं प्रत्य होद्धव उत्स्मयन् ।"३४८।।

श्रीविदुर महोदय के द्वारा श्रीकृष्ण चरित जिज्ञासित होकर विरह व्याकुल उद्धव दण्डद्वयकाल तूष्णीम्भाव से स्थित थे। अनन्तर परमानन्द से पूर्ण हृदय होकर विदुरादिमय दृश्यमान जगत् में धीरे-धीरे पुनरागमन किए थे। टीका,—"भगवानेव लोक स्तस्मात् नृ लोकं-देहानुसन्धानम् उत्स्मयन्—यदुकुल संहारादि भगवच्चातुर्य्यस्मरणेन विस्मयं प्राप्नुवन् ।"

क्रमसन्दर्भ—"भगवल्लोक नित्य लीलामय द्वारकाख्यान्नृलोकं वहिर्दृश्यमानं विदुरादि मनुष्यलोक मागतः, अनुसन्दधानः । उत्स्मयन्—तदनुभवेनोच्चैरानन्दित इत्यर्थः ।।'

"नेत्रद्वय से विगलित प्रेमाश्रु को मार्जन करके उत्फुल्ल अन्तः करण से प्रीति पूर्वक कहे थे।"

इस प्रमाण से प्रतिपन्न हुआ है कि—मौनावलम्बन के समय श्रीउद्धव, उक्त श्रीकृष्ण लोक में तदीय लीला दर्शन किये थे। कारण, श्रीकृष्ण विच्छेद से व्याकुल श्रीमान् उद्धव, तद्दर्शन व्यतीत अपर वस्तु से प्रफुल्ल नहीं हो सकते हैं। उस समय भौम मथुरादि में श्रीकृष्ण की अप्रकट लीला चल रही थी, सुतरां श्रीउद्धव, उक्त धाम समूह में श्रीकृष्ण लीला का दर्शन किये थे।

सुस्पष्ट प्रकरण प्रवक्ता श्रीशुक हैं (१०६)

भा० १२।२।२९-३० में इस श्रीकृष्ण लीला को ही 'दिव्' शब्द से कहा गया है, श्रीशुकने कहा है—

(१०७) "विष्णोर्भगवतो भानुः कृष्णाख्योऽसौ दिवं गतः ।
तदाविशत् कलिर्लोकं पापे यद्रमते जनः ॥३४९॥
यावत् स पादपद्माभ्यां स्पृशन्नास्ते रमापतिः ।
तावत् कलिर्वै पृथिवीं पराक्रन्तुं न चाशकत् ॥" ३५०॥

यदा गुणावतारस्य भगवतो विष्णोस्तदंशत्वाद्रश्मिस्थानीयस्य कृष्णाख्यो भानुः सूर्य्य-मण्डलस्थानीयो दिवं प्रापञ्चिकलोकोगोचरं मथुरादीनामेव प्रकाशविशेषरूपं वैकुण्ठं गतः, तदा कलिर्लोकमविशत् । एषां स च प्रकाशः पृथिवीस्थोऽप्यन्तर्द्धानशक्त्या तामस्पृशन्नेव विराजते । अतस्तया न स्पृश्यते पृथिव्यादिभूतमयैरस्माभिर्वाराहोक्त-महाकदम्बादिरिव । यस्तु प्रापञ्चिकलोकगोचरो मथुरादिप्रकाशः, सोऽयं कृपया पृथिवीं स्पृशन्नेवावतीर्णः । अतस्तया च स्पृश्यते तादृशैरस्माभिर्दृश्यमानकदम्बादिरिव । अस्मिंश्च प्रकाशे यदावतीर्णो भगवांस्तदा तत्स्पर्शेनापि तत्स्पर्शात्तां स्पृशन्नेवास्ते स्म । सम्प्रति तदस्पृष्टप्रकाशे विहरमाणः

जब भगवान् श्रीविष्णु का श्रीकृष्णाख्य भानु द्युलोक 'दिवं' गमन किये थे, उस समय उस जगत में कलि का प्रवेश हुआ । कलि के कारण लोक समूह पाप में लिप्त हैं । यावत् पर्य्यन्त रमापति श्रीकृष्ण श्रीचरण युगल के द्वारा पृथिवी को स्पर्शकर विराजित थे, तावत् काल पर्य्यन्त पृथिवीस्थ जनगण के प्रति प्रभाव विस्तार कलि करने में असमर्थ थे । अन्तर्मुखीन जनगण के प्रति कलि किसी भी काल में प्रभाव विस्तार करने में सक्षम नहीं है ।

क्रमसन्दर्भ श्रीकृष्ण लोकमेव 'द्यु' शब्देनाप्याह—विष्णोरिति । यदा गुणावतारस्य भगवतो विष्णोस्तदंशत्वाद्रश्मि स्थानीयस्य कृष्णाख्यो भानुः सूर्य्य मण्डलस्थानीयः, दिवं—प्रापञ्चिक लोकोगोचरं मथुरादीनामेव प्रकाशविशेषरूपं वैकुण्ठलोकं गतस्तदा कलिर्लोकमविशत् । एषां च प्रकाशविशेषरूपं वैकुण्ठलोकं गत स्तदा कलिर्लोकमविशत् एषां च प्रकाश पृथिवीस्थोऽप्यन्तर्द्धानशक्त्या तामस्पृशन्नेव विराजते, अतस्तया न स्पृश्यते, पृथिव्यादिभूतमयैरस्माभि र्वाराहोक्तमहाकदम्बादिरिव, यस्तु प्रापञ्चिक लोक गोचरो मथुरादि प्रकाशः, सोऽयं कृपया पृथिवीं स्पृशन्नेवावतीर्णः । अतस्त्वया स्पृश्यते तादृशैरस्माभि र्दृश्यमानकदम्बादिरिव । अस्मिश्च प्रकाश यदावतीर्णो भगवान्,तदा तत् स्पर्शेनापि तत् स्पर्शात्तां स्पृशन्नेवास्ते स्म । सम्प्रति तदस्पृष्ट प्रकाशे विरहमाणः पुनरपृस्शन्नेव भवति । यद्यप्येवम्, तथापि क्वचिद् द्वयोर्भेदेन क्वचिदभेदेन च विवक्षा तत्र तत्रावगन्तव्या ।

उक्त श्लोकद्वयका अर्थ इस प्रकार है—श्रीकृष्ण स्वयं भगवान्—सर्वावतारी होने के कारण-सूर्य्य-स्थानीय हैं । गुणावतार विष्णु—उनका अंश, हैं, रश्मिस्थानीय हैं । तज्जन्य श्लोक में कथित है—'भगवान्' विष्णु का कृष्णाख्य भानु' अर्थात् भगवान् विष्णु का अवतारी श्रीकृष्ण हैं । उन श्रीकृष्ण जब द्यु लोक अर्थात् प्रापञ्चिक लोक के अगोचर में स्थित मथुरादि का प्रकाश विशेष रूप वैकुण्ठ लोक में गमन करते हैं, तब इस पृथिवी में कलि का प्रवेश हुआ । यहाँपर मथुरा, द्वारका, वृन्दावन धामके त्रिविध प्रकाश का वर्णन है ।—अप्रकट प्रकाश, अस्मद् दृशमान वर्त्तमान प्रकाश, एवं प्रकट प्रकाश यह है ।

अप्रकट प्रकाश—श्रीकृष्ण जिस प्रकाश में गमन कर सम्प्रति विहार करते हैं । उक्त प्रकाश, पृथिवीस्थ होने पर भी अन्तर्द्धान—शक्ति के द्वारा पृथिवी को स्पर्श न करके विराजित है । अतएव पाश्व

पुनरस्पृशन्नेव भवति । यद्यप्येवं तथापि क्वचिद्द्वयोर्भेदेन क्वचिदभेदेन च विवक्षा तत्र तत्रावगन्तव्या । तदेतदभिप्रेत्याह—यावदिति । पराक्रन्तुमित्यनेन तत्पूर्वमपि कञ्चित् कालं व्याप्य प्रविष्टोऽसाविति ज्ञापितम् ।।शुकः ।।

१०८। (वृ० ४।४।८) "तेन धीरा अपि यन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः"

भौतिक देहधारी व्यक्तिगण जिस प्रकार वराह पुराणोक्त वृन्दावनस्थित महाकदम्बादि का दर्शन नहीं कर पाते हैं, उक्त प्रकाश भी उस प्रकार पृथिवी को स्पर्श न ही करता है ।

अस्मद् दृश्यमान प्रकाश—प्रापञ्चिक लोक समूह जिस मथुरादि का दर्शन स्वीय नेत्रसे करते रहते हैं, वह कृपापूर्वक-पृथिवी को स्पर्श न करके ही अवतीर्ण है । पाञ्चभौतिकदेहधारी व्यक्ति गण जिस प्रकार कदम्बादि वृक्ष को देखते रहते हैं, उस प्रकार पृथिवी भी इस प्रकाश को स्पर्श करने में सक्षम है ।

प्रकट प्रकाश—दृश्यमान प्रकाश में जब श्रीकृष्ण अवतीर्ण होते हैं, तब आप इस प्रकाश में परिकर वर्ग के सहित विविध लीला विस्तार करते हैं । यह ही प्रकट प्रकाश है, जब श्रीकृष्ण प्रकट विहार करते हैं, तब आप इस वर्त्तमान प्रकाश को स्पर्श करते हैं । इस धाम का स्पर्श से ही पृथिवी का स्पर्श होता है, अतएव आपने पृथिवी को स्पर्श किया है, ऐसा कहा गया है । अर्थात् दृश्यमान पृथिवी को स्पर्श कर अवस्थित हैं । यदि श्रीकृष्ण उक्त प्रकाश को स्पर्श करते हैं, तब पृथिवी का भी स्पर्श होता है ।

सम्प्रति श्रीकृष्ण पृथिवी का अस्पृष्ट प्रथमोक्त प्रकाश में अवस्थित हैं अतएव कहा गया है कि—पृथिवी को स्पर्श न करके ही श्रीकृष्ण विद्यमान हैं । इस अभिप्राय से ही कहा गया है कि—"यावत् पादपद्माभ्यां 'स्पृशन्नास्ते रमापतिः" यावत् काल पर्य्यन्त रमापति श्रीकृष्ण चरण कमल युगल के द्वारा पृथिवी को स्पर्श कर अवस्थित थे ।" अर्थात् श्रीकृष्ण, कुछ समय चरण कमल युगलके द्वारा पृथिवी को स्पर्श करते थे, सम्प्रति आप पृथिवी को स्वीय चरण युगल के द्वारा स्पर्श कर नहीं हैं ।

जब तक आप पृथिवी को स्वीयचरण द्वारा स्पर्श कर थे, तब तक कलि प्रभाव विस्तार करने में अक्षम थे । इस से बोध होता है कि—कुछ ही समय पूर्व में कलि का प्रवेश हुआ था ।

सारार्थ यह है कि— श्रीकृष्ण सतत निजधाम में अवस्थित हैं, निज धाम त्याग कर पृथिवी में विहार नहीं करते हैं, तब श्रीकृष्ण का पृथिवी स्पर्श वर्णन कैसे सार्थक होगा ? उत्तर,— जब भगवान् प्रकट होते हैं, उस समय अस्मद् दृश्यमान मथुरा द्वारका श्रीवृन्दावन में सपरि कर अवस्थित होते हैं । दृश्यमान धाम समूह पृथिवी को स्पर्शकरते हैं, अतएव पृथिवी का स्पर्श उपपन्न होताहै, जिस समय अप्रकट लीला होती है, उस समय धाम समूह का अप्रकट प्रकाश पृथिवी में रह कर भी पृथिवी को स्पर्श नहीं करता है, अतएव श्रीकृष्ण का पृथिवी स्पर्श नहीं होता है ।

मनुष्य का विश्वास है कि—जिस मथुरादि धाम को हम देखते हैं, वे सब वास्तविक धाम नहीं है, पृथिवी का प्रदेशविशेष है । किसी समय यहाँ श्रीकृष्ण आविर्भूत हुये थे । इस प्रकार कथन असमीचीन है, कारण—श्रीकृष्ण मायातीत सच्चिदानन्द विग्रह हैं, आप जिस समय प्रकट विहार करते हैं, उस समय नरलीलाहेतु अनेकविध मानव धर्म अङ्गीकार करते हैं, ईदृश लीलाविष्कार के प्रति हेतु उनकी करुणा है ।

श्रीकृष्ण वपु के समान मथुरादि धाम भी मायातीतचिन्मय हैं । कृपा वशतः इस पृथिवी में प्रकाशित होते हैं, श्रीकृष्ण की नरलीला अङ्गीकार के समान श्रीधाम समूह भी लीलावशतः ही किसी किसी पार्थिव धर्म को अङ्गीकार करते हैं ।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—(१०७)

इति श्रुत्यनुसारेण 'स्वर्ग'-शब्देनाप्याह, (भा० १०।६।३८) —

(१०८) "यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगतिम्" इति ।

अत्र 'जननीगतिम्' इति विशेषणेन लोकान्तरं निरस्तम् । तत्प्रकरण एव तदादीनां बहुशो गत्यन्तरनिषेधात् (भा० १०।१४।३५) "सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता" इत्यत्र साक्षात्तत्प्राप्तिनिर्द्धारणाच्च । तथा च केनोपनिषदि (१।१-२) दृश्यते—"केनेषितं मनः पतति, प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति" इत्युपक्रम्य (केन० १।४) "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि" इति मध्ये प्रोच्य (केन० २।४) "अमृतत्वं हि विन्दते", (केन० ४।८) "सत्यमायतनम्", (केन० ४।६) "यो वा एतामुपनिषदं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे

वृहदारण्यक श्रुति में वर्णित है—"ब्रह्मविद् धीर व्यक्तिगण—भक्तियोग प्रभाव से उत्क्रान्त होकर विमुक्त होते हैं, एवं स्वर्ग लोक गमन करते हैं," उक्त श्रुति में मुक्त प्राप्य स्थान श्रीभगवद्धाम को स्वर्ग शब्द से अभिहित किया गया है । उसके अनुसार श्रीमद् भागवत भी १०।६।३८ में भगवद्धाम को स्वर्ग शब्द से कहते हैं । "धातु धान्यपि सा स्वर्गमवाप जननी गतिम् ।" पूतना राक्षसी ने भी जननी गणों का प्राप्य स्थान स्वर्ग को प्राप्त किया ।

यहाँ—स्वर्ग को जननी गति शब्द के द्वारा प्रकाशित करने से उक्त स्वर्ग शब्द से प्रसिद्ध देवनिवास स्थल रूप स्वर्ग का निरास हुआ । कारण पूतनामोक्ष प्रसङ्ग में जननीगणकी गति—श्रीकृष्णलोक व्यतीत अन्यत्र नहीं है, बहुधा निषिद्ध भी हुआ है, ब्रह्मस्तव में उक्त है, पूतनाने कृष्ण को प्राप्त किया है ।

ब्रह्मा श्रीकृष्ण को कहे थे भा० १०।१४।३५

'सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता" इस वाक्य में साक्षात् रूप से ही स्पष्टतः ही श्रीकृष्ण प्राप्ति की वार्त्ता घोषित है । भक्तवेशानुकरण कारिणी पापिष्ठा पूतना भी कुलस्थ परिजन वर्ग के सहित आप को प्राप्त किया है । सुतरां स्वर्ग शब्द से श्रीकृष्ण लोक को ही जानना होगा । देव पुरी रूप स्वर्ग लोक नहीं । भगवद्धाम को स्वर्ग शब्द से कहा जाता है, उसका प्रसङ्ग केनोपनिषद् में है । "किसकी प्रेरणा से मनः निज विषय में गमन करता है ?" इत्यादि प्रश्न के बाद कहा गया है "जो प्राणों का प्राण है, चक्षुका चक्षु है, अर्थात् धीर व्यक्तिगण, सकलेन्द्रिय का प्रवर्त्तक परमात्मा हैं, इस प्रकार जानकर इस लोक से विमुक्त होकर अमरत्वलाभ करते हैं ।" प्रथम प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, "तुम उनको ही ब्रह्म जानना ।' इस प्रकार कह कर ब्रह्म विदित होने से अमृतत्व का लाभ होता है, द्वितीय उत्तर में कहा गया है—तपः दम, कर्म, वेद, वेराङ्ग प्रभृति समुदय विद्या प्राप्ति का एकमात्र उपाय एवं सत्य का आश्रय एकमात्र ब्रह्म है । जो जन उक्त ब्रह्म को जानते हैं, वे सब पापों से मुक्त होकर सर्व महत्तर अनन्त स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठित होते हैं । इस प्रकार उपसंहार किया गया है ।

"क्षीयन्त चास्य कर्माणि" ब्रह्मविद् गण का कर्म क्षीण होता है, ज्ञात्वादेवं सर्वपाशाप हानिः, परमेश्वर को जानने से बन्धन छिन्न होता है । यह श्रुति है । सुतरां देवगण कर्मतन्त्राधीन हैं, ब्रह्मविद् गण, कर्म बन्धन मुक्त हैं, अतः देवलोक से ब्रह्मविदों का गन्तव्य स्थान भिन्न है, देवलोक विनाशी है, किन्तु यहाँ स्वर्ग का विशेषण—अनन्त है, विनाशी का विशेषण अनन्त नहीं होता है । इस से स्वर्ग शब्द वाच्य देवलोक निरस्त हुआ है । स्वर्ग शब्दका अर्थ भगवद्धाम है, उसकी प्रतीति निबन्धन'सर्वमहत्तर' विशेषण योजित है । अतएव केनोपनिषद् प्रमाणानुसार बोध हुआ कि स्थल विशेष में भगवद्धाम भी स्वर्ग शब्द से अभिहित

लोके प्रतिष्ठति" इत्युपसंहृतम् । 'ततः को वासुदेवः, किं तद्वनं को वा स्वर्गः किं तद्ब्रह्म ?'— इत्यपेक्षायां नारायणोपनिषद्याह— "पुरुषो ह वै नारायणः" इत्युपक्रम्य पुनश्चाभ्यासेन "नित्यो देव एको नारायणः" इत्युक्त्वा नारायणोपासकस्य च स्तुतिं कृत्वा "तद्ब्रह्म नारायण एव" इति व्यज्य स्वर्गं प्रतिपादयिष्यन् "वैकुण्ठलोकं गमिष्यति, तदिदं पुरमिदं पुण्डरीकं विज्ञानघनं तस्मात्तड़िदावभासम्" इति वनलोकाकारस्य वैकुण्ठस्यानन्दात्मकत्वं प्रतिपाद्य स च तदधिष्ठाता नारायणः कृष्ण एवेत्युपसंहरति—"ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रः" इति ॥

श्रीशुकः ॥

१०९। 'काष्ठा'-शब्देनापि तमेवोद्दिशति, (भा० १।१।२३)—

(१०९)"ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्म्मवर्म्मणि ।
स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्म्मः कं शरणं गतः ।।" ३५१।।

स्वां काष्ठां दिशम् । यत्र स्वयं नित्यं तिष्ठति, तत्रैव प्रापञ्चिकलोकसम्बन्धं त्यक्त्वा गते सतीत्यर्थः ।। श्रीशौनकः ।।

होता है। अन्यत्र उपनिषद् में वर्णित हैं—

'स्वर्ग क्या है ? ब्रह्म क्या है ? वासुदेव कौन है ? उनका वन क्या है ? प्रश्नोत्तर में कहा गया है- 'पुरुष ही नारायण हैं, इस प्रकार कथनोपक्रम के पश्चात् अभ्यास के द्वारा पुनर्वार कथित हुआ है, 'नित्य देव एक नारायण हैं" इस प्रकार नारायणोपासक की स्तुति करने के पश्चात् कहा गया है—"वह ब्रह्म नारायण ही हैं" इस प्रकार व्यक्त करके स्वर्ग प्रतिपादन हेतु कहते हैं, "वैकुण्ठ लोक प्राप्त होगा।" यह पुर कमलाकार विज्ञान घन स्वरूप है, अतएव तड़ित् के समान उद्भासित है। यहाँपर श्रीनारायण विराजित हैं।" वनलोकाकार वैकुण्ठ की आनन्द स्वरूपता का प्रतिपादन के पश्चात् उक्त वैकुण्ठ का अधिष्ठाता श्रीकृष्ण ही हैं वह ही नारायण हैं, इस प्रकार उपसंहार किया है, ब्रह्मण्य उदार महत् दाता देवकी पुत्र ही हैं। यहाँ पर श्रुतिने श्रीकृष्ण लोक को स्वर्ग शब्द से कहा है।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—(१०८)

भा० १।१।२३ में वर्णित है—

ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्म वर्मणि ।
स्वां काष्ठामधुनोपेते धर्मः कं शरणं गतः"

टीका—"पुनः प्रश्नान्तरं ब्रूहीति,-धर्मस्य वर्मणि कवचवद्रक्षके स्वां काष्ठां—मर्यादां स्वरूपमित्यर्थः। अस्य चोत्तरं—"कृष्णे स्वधामोपगते धर्म ज्ञानादिभिः सह इत्यादि श्लोकः।" काष्ठा शब्द के द्वारा भी निज लोक सूचित हुआ है, श्री शौनक बोले थे—"हे सूत ! कवच के समान धर्म रक्षक ब्रह्मण्य योगेश्वर श्रीकृष्ण स्वीय काष्ठा को प्राप्त होने पर धर्म किस को अवलम्बन कर रहा ?

काष्ठा—शब्द का अर्थ दिक है, स्वीय काष्ठा शब्द का अर्थ है जहाँ श्रीकृष्ण सतत विराजित हैं, उस का बोध होता है। अर्थात् प्रापञ्चिक लोक सम्बन्ध त्याग कर वहाँपर चले जाने पर—इस प्रकार कथन का अभिप्राय है।

इस के पूर्व अनुच्छेद में श्रीधाम वृन्दावन के द्विविध प्रकाश कहा गया है, तन्मध्य में अप्रकट प्रकाश में श्रीकृष्ण नित्य विराजित हैं। समयपर लोक नयन गोचरीभूत होकर प्रकट विहार करते हैं। उस

११० । तदेवमभिप्रेत्य द्वारकायास्तावन्नित्य-श्रीकृष्णधामत्वमाह, (भा० १०।६०।३५)—

(११०) "सत्यं भयादिव गुणेभ्य उरुक्रमान्तः शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा ।
नित्यं कदिन्द्रियगणैः कृतविग्रहस्त्वं त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतं तमोऽन्धम् ॥" ३५२।

अयमर्थः,—पूर्व्वं श्रीकृष्णदेवेन श्रीरुक्मिणीदेव्यै (भा० १०।६०।१२) —

"राजभ्यो बिभ्यतः सुभ्रु समुद्रं शरणं गतान् ।
बलवद्भिः कृतद्वेषान् प्रायस्त्यक्तनृपासनान् ॥" ३५३॥

(भा० १०।६०।११) —"कस्मान्नो वव्रुषे" इति परिहसितम् । तत्रोत्तरमाह—सत्यमिति । अत्र आत्मा त्वमित्येतयोः पदयोर्युगपच्छेत इति क्रियान्वयायोगात् विशेषणविशेष्यभावः प्रतिहन्यते । वाक्यच्छेदभेदे तु कष्टतापतेत् । ततश्चोपमानोपमेयभावेनैव ते उपतिष्ठतः । इयञ्च

समय दुष्ट दमन प्रभृति प्रापञ्चिक कार्य्यं अनुष्ठित होता है । कियत् कालानन्तर प्रकट विहार के पश्चात् इस श्रीवृन्दावन का ही अप्रकट प्रकाश में गमन करते हैं, उस समय प्रापञ्चिक सम्बन्ध नहीं रहता है । इस अप्रकट प्रकाश ही "स्वां काष्ठां स्वीय दिक् शब्द से अभिहित है । उक्त प्रमाण समूह के द्वारा श्रीवृन्दावन का प्रपञ्चातीतत्व प्रदर्शित हुआ ।

श्रीशौनक कहे थे ।१०९।

श्रीभगवद्धाम समूह का प्रपञ्चातीतत्वस्थापित होने पर द्वारका का नित्य श्रीकृष्ण धामत्व को कहते हैं, भा० १०।६०।३५ में उक्त है—"हे उरुक्रम ! चैतन्यघन आत्मस्वरूप आप हैं, मायिक गुणों से भीत होकर मानों आप अन्तर्हृदय में अवस्थित हैं । दुष्ट इन्द्रियपरायण राजन्यवृन्द सतत आपके प्रति विरुद्धाचरण करते रहते हैं, आप भी तद्रूप उसके भय से समुद्र मध्यस्थित द्वारका में लुक्कायित होकर अवस्थित हैं, आपने नृपासन त्याग किया है, यह भी सत्य है, आपके सेवक गण भी गाढ़ तमः स्वरूप नृपासन त्याग करते हैं । सुतरां आपका नृपासन त्याग, आश्चर्य्य का विषय क्या है ?

श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—इसके पहले श्रीकृष्णदेव श्रीरुक्मिणी देवी को परिहास पूर्वक कहे थे-, हे सुभ्रु ! मैं राजन्यवृन्द से भीत होकर समुद्र में शरणागत हूँ । बलवान् राजन्यवृन्द के विद्वेष के कारण-राज्यासन से वञ्चित हूँ । तुमने असदृश मुझ को वरण क्यों किया ? श्रीरुक्मिणी देवीने उत्तर में कहा—

"सत्यं भयादिव गुणेभ्यउरुक्रमान्तः शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा ।
नित्यं कदिन्द्रियगणैः कृत विग्रहस्त्वं त्वत् सेवक नृपपदं विधुतं तमोऽन्धम् ॥

इस श्लोकस्थ 'आत्मा' एवं 'त्वं' कर्त्तृपद द्वय के सहित 'शेते' क्रिया का युगपत् अन्वय होना असम्भव है । अतः पदद्वय का विशेषण विशेष्य भाव व्याहत हुआ है ।

अर्थात् 'आत्मा' पद 'त्वं' पद का विशेषण नहीं हो सकता है, उक्त पदद्वय का कर्त्तृत्व को सफल करने के निमित्त उक्त श्लोक को द्विधा विभक्त करना भी कष्ट साध्य होगा, सुतरां 'आत्मापद—उपमान है, और "त्वं' पद उपमेय है । इस प्रकार से अर्थ सङ्गति होती है, यहाँ 'लुप्तोपमा' अलङ्कार है, उसका लक्षण यह है—कथञ्चित् साधर्म्यमुपमा । उपमान उपमेय में किसी प्रकार समानधर्म द्वारा जो सम्बन्ध, उसको उपमा कहते हैं । पूर्णा एवं लुप्ता भेद से उपमा दो प्रकार हैं, 'लुप्ता तु लोपतः' । धर्म इवादि उपमा वाचक शब्द एवं उपमान प्रभृति के लोप से लुप्ता उपमा होती है ।

अतः, आत्मा,—साक्षी, अर्थात् परमात्मा जिस प्रकार, गुण समूह—अर्थात्—सत्वादि मायिक गुण

लुप्तोपमा। तथा च आत्मा साक्षी यथा गुणेभ्यः सत्त्वादिविकारेभ्यस्तदस्पर्शलिङ्गाद्भयादिव समुद्रे तद्वदगाधे विषयाकारैरपरिच्छिन्ने उपलम्भनमात्रे ज्ञानमात्रस्वशक्त्याकारे अन्तर्हृदये नित्यं शेते, अक्षुभिततया नित्यं प्रकाशते। हे उरुक्रम तथा त्वमपि तेभ्यः सम्प्रति तद्विकारमयेभ्यो राजभ्यो भयादिव उपलम्भनमात्रे वैकुण्ठान्तरवत् चिदेकविलासे अन्तः समुद्रे द्वारकाख्ये धाम्नि नित्यमेव शेषे, स्वरूपानन्दविलासैर्गूढं विहरसि। अर्थवशाद्विभक्ति-विपरिणामः प्रसिद्ध एव। उदाहरिष्यते च तत्र नित्यस्थायित्वम् (भा० ११।३१।२३) "द्वारकां हरिणा त्यक्ताम्" इत्यादौ (भा० ११।३१।२४) "नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः" इति।

विकार से,—स्पर्श न हो, इस प्रकार भयसे ही, मानों जिस प्रकार समुद्र में—अर्थात् समुद्र के समान अगाध बिषयाकार के द्वारा अपरिच्छिन्न है, उपलम्भन मात्र है,—ज्ञान मात्र स्वशक्त्याकार—अन्तर्हृदय में नित्य शयन करते हैं। अर्थात् अक्षुब्ध भावसे प्रकाशित होते हैं, हे उरुक्रम ! तद्रूप तुम भी सम्प्रति गुण विकारमय राजन्य वर्ग से भीत होकर ही मानों उपलम्भन मात्र,—अर्थात् वैकुण्ठान्तरवत् विशुद्ध चिच्छक्ति की बिभूति रूप समुद्र के अभ्यन्तर में अवस्थित श्रीद्वारका नामक निजधाम में नित्य शयित हैं, अर्थात् स्वरूपानन्द का विचित्र विलास में सत्य ही निगूढ़ भाव से विहरण शील हो। आत्मा' कर्त्तृपद के सहित श्लोकोक्त प्रथम पुरुषीय क्रिया 'शेते' का अन्वय है। 'त्वं' कर्त्तृ पद के सहित 'शेषे' क्रिया पद का व्यवहार हुआ है, अर्थानुरोध से विभक्ति को रूपान्तरित करने की रीति चिरन्तनी है।

भा० ११।३१।२३ में श्री शुकदेव कर्त्तृक उदाहरण प्रस्तुत हुआ है।

"द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात् वर्जयित्वा महाराज श्रीमद् भगवदालयम्।
नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः। स्मृत्याऽशेषाशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम्॥

"महाराज ! श्रीकृष्ण परित्यक्त द्वारका धाम को समुद्र ने जलप्लावित किया था, किन्तु श्रीभगवदालय यथावत् था। वह प्लावित नहीं हुआ। कारण, उक्त आलय में भगवान् मधुसूदन नित्य सन्निहित हैं, उक्त भगवदालय का स्मरण करने से समुदय अशुभ विनष्ट होते हैं, वह सर्व मङ्गलों का मङ्गल स्वरूप है।"

क्रमसन्दर्भ—द्वारका लीलाया अनित्यत्वमाशङ्क्य दुःखितं राजानं तन्नित्यत्वेन तं यदुभिः साकं भगवतो द्वारकायामेव नित्यां स्थितिमाह, द्वारकामिति—युग्मकेन। लोक दृष्ट्यैव हरिणा त्यक्ताम्, अत्यक्तामिति वा, "नित्यं सन्निहितः" इति वक्ष्यमाणात्। ततश्चोभयथाप्याप्लावनम्—परितो जलेन परिखावदावरणम्। तज्जल मज्जनञ्च समुद्रेणैव श्रीभगवदाज्ञयात्यक्तभूमिलक्षणस्य हस्तिनापुर प्रस्थापित वहिर्जन गृहाद्यधिष्ठान—वहिरावरणस्यैव, तथा रचनं—विश्वकर्मणा अस्यैव प्रकट लीलायाः प्रापञ्चिक मिश्रत्वादतः सुधर्मादीनां स्वर्गादागमनञ्च युज्यते। अप्रकट लीलायां ततोऽपि दिव्यतरं सभान्तरादिकमपि स्यात्। श्रीमान् यादवादि गृहवृन्द लक्षण शोभोपशोभावान् यो भगवदालयस्तं वर्जयित्वा। तदेवमद्यापि समुद्रमध्ये कदाचिदसौ दूरतः किञ्चिद् दृश्यत इति तत्रत्यानां महती प्रसिद्धिः। तत्र महाराजेति सम्बोधनम्-दृष्टान्त गर्भम्, यद्वा, महान्तो राजानो यादवलक्षणा—यत्र, तथाभूतं, तदालयं श्रीकृष्ण नित्य धाम रूपं द्वारकापुरम्, न केवलं पुर मात्रास्तित्वम्। तत्र श्रीमति भगवदालये मधुसूदनः श्रीकृष्णोनित्यमेव सन्निहितः अर्थात् तत्रत्यानाम्, किं वान्—तत्र सन्निहितः ? भगवान् यादवादि—लक्षणाखिलनिजैश्वर्य्यवानेव। तदालयमेव विशिनष्टि—स्मृत्येति, साक्षादधुना व्यक्त—तद् दर्शनाभावात् स्मृत्येत्युक्तम्। यः स्वयमेवम्भूत-स्तस्य त्वन्यथा सम्भावितत्वमपि नास्तीतिभावः एवमेव बिष्णुपुराणे—'प्लावयामास तां शून्यां द्वारकाञ्च महोदधिः। यदुदेव गृहन्त्वेकं नाप्लावयत सागरः। नात्यक्रामत्ततो—ब्रह्मन् स्तदद्यापि महोदधिः, नित्यं

अतो वस्तुतस्तस्य तदाश्रयकस्य जीवचैतन्यस्य यदि तेभ्यो भयं नास्ति, तदा सुतरामेव तव नास्ति, किन्तूभयत्रापि स्वधामैकविलासित्वात्तत्रौदासीन्यमेव भयत्वेनोत्प्रेक्षत इति भावः। एवं तस्य तव च समञ्जसता। तेषान्तु दौरात्म्यमेवेत्याह—तथाप्यात्मा कुत्सितानामिन्द्रियाणां गणैस्तदीयनानावृत्तिरूपैः कृतो विग्रहो यत्र तथाविधः, त्वमपि कुत्सितेन्द्रियगणो येषां तथाभूतै राजभिः कृतविग्रहः। उभयत्राप्यावरणधाष्टर्यम्।

सन्निहित स्तत्र भगवान् केशवो यतः। तदतीव महापुण्यं सर्वपाप—प्रणाशनम्। विष्णु क्रीड़ान्वितं स्थानं दृष्ट्वा पापात् प्रमुच्यते।' इति। तथैव श्रीहरिवंशे यादवान् प्रति इन्द्रप्रेषितस्य श्रीनारद वाक्यम्—। विष्णु पुराणे, कृष्णो भोगवतींरम्यामृषिकान्तां महायशाः। द्वारकामात्मसात् कृत्वा समुद्रं गमयिष्यति। इत्यत्रात्मसात् कृत्वेति, नतु त्यक्त्वेति।"

श्लोकस्थ 'हरिणात्यक्ता' पद के अर्थ दो प्रकार हैं, लोक दृष्टि से श्रीहरि के द्वारा परित्याग, अथवा श्रीहरि के द्वारा अत्यक्ता, 'हरिणा+अत्यक्ता' कारण द्वितीय श्लोक में उक्त है, 'नित्य सन्निहितः' वह परमधुसूदन नित्य अधिष्ठित हैं, उभय अर्थ में ही प्लावन, श्रीभगवदालय के चतुर्दिक में परिखा के समान आवरण जलके द्वारा है, जलमग्नस्थान, श्रीभगवदालयके वहिर्देश है, जहाँ श्रीभगवत् पार्षदभिन्न अपर जनों का आवासस्थान था। श्रीभगवदिच्छा क्रमसे तत्रत्य लोक समूह का अप सारण कर हस्तिनापुर में प्रस्थापित हुआ था उसके बाद उक्तस्थान में जलप्लावन श्रीभगवदाज्ञा से हुआ था, सुधर्मा से भी दिव्यतरसभा एवं यादवों के भवन समन्वित श्रीभगवदालय प्लावित नहीं हुआ। अधुनातन काल में भी कभी कभी समुद्र के मध्य में दूर से भगवत पुरी का किञ्चिदंश दृष्ट होता है। इस प्रकार प्रसिद्धि उक्त देशवासिओं के मध्य में है।

परिहास प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण ने श्रीरुक्मिणी देवी को कहा था—राजन्यवृन्द के भय से भीत होकर समुद्र के मध्य में अवस्थान करता हूँ। उत्तरमें देवीने कहा—द्वारका में जिन सबकी नित्यस्थिति है, उनसब के आश्रय तुम हो, उस प्रकार जीव चैतन्य का ही जब मायिक गुण विकार से भय नहीं है, तब जो विभु चैतन्य—निखिल जीवों का आश्रय है, इस प्रकार आप का भय त्रिगुणात्मिका माया से नहीं है।

किन्तु अणु चैतन्य जीव है, एवं विभु चैतन्य श्रीकृष्ण हैं, आप ही निज स्वरूप में अवस्थित होने के कारण मायिक गुण विकारों से भय, उभय का नहीं है, गुण विकार से उदासीन है। उक्त औदासीन्य की ही भय रूप में उत्प्रेक्षा की गई है। यह ही मर्म्मार्थ है।

श्रीरुक्मिणी देवी का अभिप्राय यह है कि—मुक्त जीवात्मा एवं तुम्हारे में सामञ्जस्य है। तेषान्तु दौरात्म्यमाह—उस सब का दौरात्म्य को कहती है, गुण विकार एवं जरासन्ध प्रभृति राजन्य वर्ग का दौरात्म्य को कहती है। 'तथापि आत्मा' आत्मा एवं श्रीकृष्ण,-उभय ही निज स्वरूप में विलसित होने पर भी, आत्माके कुत्सित् इन्द्रिय वर्ग के—अर्थात् इन्द्रिय वर्ग की विविध वृत्ति के सहित विरुद्ध धर्म विद्यमान हेतु सतत विवाद है। उस प्रकार तुम्हारे सहित कुत्सित् इन्द्रिय राजन्य वर्ग का विरुद्ध धर्म विद्यमान हेतु विरोध है।

यहाँ 'विग्रह' शब्द से उभयत्र आत्मा एवं श्रीकृष्ण में। स्वरूप धर्म आवरण की चेष्टारूप धृष्टता को जानना होगा। अर्थात् इन्द्रिय वृत्ति समूह जड़ विषय संसर्ग से मलिन होकर ज्ञानाश्रय, ज्ञान गुण, चेतन, प्रकृत्यतीत आत्माका स्वरूप को आवृत करती है, अर्थात् उक्त स्वरूप धर्म विस्तार में विघ्न अवस्थित करती है। कर्म बद्ध को जीवरूप में प्रतीति कराती है, कुत्सितेन्द्रिय राजन्यवर्ग भी स्वरूपानन्द से परिपूर्ण

यद्येवम्भूतस्त्वम्, तर्हि का तव नृपासनपरित्यागे हानिः ? तत्तु त्वत्सेवकैः प्राथमिक-त्वद्भजनोन्मुखैरेव विधुतं त्यक्तम् । तच्चोक्तं तयैव (भा० १०।६०।४१) —'यद्वाञ्छया नृपशिखामणयः" इत्यादिना । यतोऽन्धं तम एव तत्, प्राकृतसुखमयत्वात्, अतः श्रीद्वारकाया नित्यत्वमपि ध्वनितम् ।। श्रीरुक्मिणीदेवी श्रीभगवन्तम् ।।

१११। अथ श्रीमथुरायाः (भा० १०।१।२८) —

(१११) "मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः" इति ।

अर्थात् तत्रत्यानाम् ।। श्रीशुकः ।।

११२। (भा० ४।८।४२) —

(११२) "तत् तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि :
पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः ।।" ३५४।।

स्पष्टम् ।। श्रीनारदो ध्रुवम् ।।

हैं। स्वरूप शक्ति बिलासी, सर्व शक्ति वर्ग निषेवित चरण तुम को साधारण जनके समान प्रतिपन्न करने के निमित्त चेष्टाशील हैं। किन्तु उस सब की चेष्टा सुदूर पराहत है। तुम स्वरूपानन्द से परिपूर्ण होने के कारण जब निश्चिन्त हो गये, तब राजसिंहासन परित्याग से हानि क्या हुई है ? उसका परित्याग तो तुम्हारे प्रथम भजनोन्मुख व्यक्ति ही करता है।

उक्त अध्याय के अन्तिम में श्रीरुक्मिणी बोलीं ।

"यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्ग वैण्य जायन्त नाहुषगयादय ऐकपत्यम् ।
राज्यं बिसृज्य विविशु वन मम्बुजाक्ष सीदन्ति तेनु पदवीं त इहस्थिताः किम् ।।

"हे अरविन्दलोचन ! नृपशिखामणि स्वरूप अङ्ग, पृथु, भरत, ययाति एवं गय प्रभृति राजन्य वर्ग आप को प्राप्त करने के निमित्त राज्य त्यागकर वन में प्रविष्ट हुये थे, एवं आप के चरणार विन्द के सामीप्य प्राप्त किये थे। वे सब कभी भी अवसन्न नहीं हुये थे।"

इस श्लोक में भी द्वारका का नित्य धामत्व ध्वनित हुआ है। अङ्ग पृथु प्रभृति राजन्य वृन्द श्रीकृष्णाविर्भाव के अनेक पूर्व में आविर्भूत हुये थे। श्रीद्वारका में श्रीकृष्ण लीला विद्यमान होने से ही उक्त नृपति वृन्द श्रीकृष्णसान्निध्य लाभ हेतु राज्यादि परित्याग पूर्वक वन गमन किये थे।

अन्य स्वरूप में अन्यधाम में निवास करने पर श्रीरुक्मिणी देवी की उक्त उक्ति सार्थक नहीं होती।

श्रीरुक्मिणी देवी श्रीभगवान् को कही थीं ।।११०।।

अनन्तर श्रीमथुरा का नित्य धामत्व का प्रति पादन करते हैं। भा० १०।१।२८ में वर्णित है—

"राजधानी ततः साभूत् सर्वयादव भू भुजाम् ।
मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितोहरिः ।।'

जहाँ श्रीहरि नित्यसन्निहित हैं, उस मथुरा में समस्त यादव भू पति की राजधानी हुई थी" यह सन्निधि—मथुरा निवासिगणों के सम्बन्ध में ही जानना होगा। जहाँपर श्रीहरि नित्य सन्निहित हैं, उस स्थान का नित्यत्व की प्रतीति अनायास होती है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं—(१११)

श्रीमथुरा में कृष्ण की नित्यस्थिति की वार्त्ता अन्यत्र भी प्रसिद्ध है, भा० ४।८।४२ में श्रीनारद ने

११३। तस्य हरेः श्रीकृष्णत्वमेव व्यनक्ति, (भा० ४।८।६२)—

(११३) "इत्युक्तस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च नृपार्भकः।
ययौ मधुवनं पुण्यं हरेश्चरणचर्च्चितम् ॥" ३५५॥

पाद्मकल्पारम्भकथने प्रथमस्वायम्भुवमन्वन्तरे तस्मिन् हरेश्चरणचर्चितत्वं श्रीमथुरायास्तन्नित्यत्वात् श्रीकृष्णावतारस्य। तथा हरि-शब्देनाप्यत्र श्रीकृष्ण एव विवक्षितः, श्रुत्यादौ तदवस्थिति-प्रसिद्धेः। प्रतिकल्पमाविर्भावात् तस्यैव चरणाभ्यां चर्च्चितमिति श्रीकृष्णस्यैव नित्यसान्निध्यं गम्यते। अतएव द्वादशाक्षरविद्यादैवतस्य श्रीध्रुवाराध्यस्य स्वन्यत एव तत्रागमनमभिहितम् (भा० ४।९।१) "मधोर्वनं भृत्यदिदृक्षया गतः" इत्यनेनेति ॥ श्रीमैत्रेयः ॥

११४। अथ श्रीवृन्दावनस्य (भा० १०।१८।३) —

(११४) "स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः।
यत्रास्ते भगवान् साक्षात् रामेण सह केशवः ॥" ३५६॥

ध्रुव को कहा—

"तत् तातगच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि।
पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः ॥"

हे तात ! यमुना के तट देश में परम पवित्र मधुवन है, वहाँ श्रीहरि नित्य अवस्थित हैं, तुम उस मथुरा को जाओ।" सुस्पष्ट रूप से श्रीनारद ध्रुव को कहे थे ॥११२॥

उक्त श्लोक में जिस श्रीहरि का उल्लेख है, वह हरि श्रीकृष्ण ही हैं, उसका विवरण भा० ४।८।६२ में ही है— "इत्युक्तस्तं परिक्रम्य प्रणम्य च नृपार्भकः।
ययौ मधुवनं पुण्यं हरेश्चरण चर्चितम् ॥"

देवर्षि नारद के द्वारा उपदिष्ट होकर नृपनन्दनध्रुव उनको प्रणाम एवं प्रदक्षिणा करके श्रीहरि चरणाङ्कित मथुरा गमन किये थे। प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरस्थ प्रथम पाद्मकल्पारम्भ में उक्त वृत्तान्त हुआ था। उस समय ही मथुरा को श्रीहरि चरण चर्चित रूप से कहा गया है, अतएव मथुरा का नित्यत्व प्रति पादन उक्त वर्णन से ही होता है। कारण मथुरा में ही श्रीकृष्णावतार है। उस प्रकार श्लोकस्थ 'हरि' शब्द से श्रीकृष्ण को ही कहा गया है। श्रुत्यादि में मथुरा में श्रीकृष्णावस्थिति का प्रसिद्ध वर्णन है। प्रति कल्प में आविर्भूत होने के कारण श्रीकृष्ण का नित्यसान्निध्य है, अर्थात् प्रति कल्प में श्रीकृष्ण मथुरा में आविर्भूत हैं। अतएव श्रीकृष्ण मथुरा में नित्य सन्निहित हैं।

उनके चरण चिह्नों के द्वारा मथुरा चर्च्चित है। अतएव द्वादशाक्षर मन्त्रके देवता ध्रुवप्रिय श्रीहरि का आगमन अन्यत्र से हुआ था, भा० ४।९।१ में वर्णित है—

"मधोर्वनं भृत्य दिदृक्षया गतः" "भृत्य को देखने के निमित्त मधुवन आप गये थे।" श्रीमैत्रेय कहे थे ॥११३॥

अनन्तर श्रीवृन्दावन का नित्यत्व प्रतिपादन करते हैं। भा० १०।१८।३ में वर्णित है—

"स च वृन्दावन गुणैर्वसन्त इव लक्षितः
यत्रास्ते भगवान् साक्षात् रामेण सह केशवः ॥"

अत्र यत्रासीदित्यप्रोच्य यत्रास्त इत्युक्त्या नित्यस्थितित्वमेव व्यक्तीकृतम् ॥ श्रीशुकः ॥

११५। अथवा त्रिष्वप्येतदेवोदाहरणीयम् (भा० १०।९०।४८)—

(११५)"जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो, यदुवरपरिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्म्मम् ।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन, व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम् ॥"३५७॥

यदुवराः परिषत् सभ्यरूपा यस्य सः; देवकीजन्मवादस्तज्जन्मत्वेन लब्धख्यातिः। देवक्यां जन्मेति वादस्तत्त्वबुभुत्सुकथा यस्य स इति वा श्रीकृष्णो जयति परमोत्कर्षेण सदैव विराजते। लोहितोष्णीषां प्रचरन्तीतिवत् यदुवरसभ्यविशिष्टतयैव जयाभिधानम् । अत्र

सम्प्रति ग्रीष्म ऋतु होने से भी श्रीवृन्दावन के गुणों से हो वृन्दावन वसन्त काल परिमण्डित दृष्ट होता है, कारण यहाँपर साक्षात् भगवान् केशव, बलराम के सहित विराजित हैं।

उक्त श्लोक में 'यत्रासीद्" जहाँ थे, इस प्रकार न कह कर 'यत्रास्ते' जहाँ हैं। इस प्रकार कहने से श्रीकृष्ण के सहित श्रीवृन्दावन की नित्यस्थिति सूचित हुई है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥११४॥

भा० १०।४४।१३ में भी उक्त है—

पुण्यावत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्ग गूढ़ः पुराण पुरुषो वनचित्रमाल्यः।
गाः पालयन् सह बलः क्वणयंश्च वेणु विक्रीड़याञ्चतिगिरित्ररमार्च्चिताङ्घ्रिः॥

टीका--अन्या ऊचुः ।पुण्या वतेति । नृलिङ्गेन मनुष्य देहेन गूढ़ः । वनजानि चित्राणि माल्यानि यस्य सः। 'गिरित्रः शिवः रमा च' ताभ्यामर्च्चितावङ्घ्रि यस्य सः । अयं भावः । धिगिमां सभां यस्यामयं पराभूयते। तास्तु व्रजभुवो धन्याः, यस्याः यद् यासु अयं कृष्णो विविध क्रीड़या अञ्चति गच्छन्तीति ॥

रङ्गस्थल गत श्रीकृष्ण को देखकर माथुर रमणी गण बोली थीं, "अहो ! व्रज भूमि परम पुण्यवती है, कारण, मनुष्य चिह्न से गूढ़ परम पुरुष श्रीकृष्ण, विचित्र वनमालासे विभूषित होकर बलराम के सहित गो पालन कर विहार करते रहते हैं। गिरिश, रमा, इनका चरणार्चन करते हैं।'

सन्दर्भ—अत्र पुर्वोदाहृत श्रुत्याद्यदष्टम्भेन तिष्ठन्ति पर्वता इति वदञ्चति, सदैव विहरतीति मथुरा-स्त्रीणां श्रीभगवत् प्रसादजा यथावद् भारती निःसृतिरियमिति व्याख्येयम् ॥ श्रुतिबलीयसी है, 'साक्षात् उपदेश श्रुतिः।' यहाँ अञ्चति क्रिया के द्वारा साक्षात् रूप से ही श्रीकृष्ण का नित्य व्रजविहार उक्त है, पर्वत समूह विद्यमान हैं, ऐसा कहने से पर्वत समूह की नित्यस्थिति का बोध होता है। उस प्रकार ही अञ्चति क्रिया के द्वारा गोकुल में श्रीकृष्ण की नित्यस्थिति का बोध होता है।

श्रीभगवत कृपा से ही मथुराङ्गना बृन्द की वाणी निःसृता हुई है। अन्यथा पुरस्त्री गणों की वर्णना के समय श्रीकृष्ण मथुरा में अवस्थित थे, उसमें व्रजविहार करते रहते हैं, इस प्रकार वर्त्तमान क्रिया का प्रयोग नहीं होता। कारण,प्रकट लीला में श्रीकृष्ण उस समय व्रजमें नहीं थे। अप्रकट लीलामें श्रीकृष्ण सतत श्रीवृन्दावन में अवस्थित हैं, इस को व्यक्त करने के निमित्त श्रीभगवत कृपाशक्ति की उस प्रकार वर्णन करने की प्रेरणा हुई थी। पुरस्त्रियों का परस्पर कथन है (११४)

अथवा द्वारका, मथुरा गोकुल—नामक धामत्रय में ही श्रीकृष्ण नित्य विराजित हैं, इसका उदाहरण श्रीमद्भागवत के १०।९०।४८ में है—

"जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो, यदुवरपरिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्म्मम् ।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन, व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम् ॥"

'यदुवर'-शब्देन श्रीव्रजेश्वर-तद्भ्रातरोऽपि गृह्यन्ते, तेषामपि यदुवंशोत्पन्नत्वेन प्रसिद्धत्वात्।
तथा च भारततात्पर्य्ये श्रीमध्वाचार्य्यैरेवं ब्रह्मवाक्यत्वेन लिखितम्—

"तस्मै वरः स मया संनिसृष्टः, स चास नन्दाख्य उतास्य भार्य्या।
नाम्ना यशोदा स च शूरतात,—सुतस्य वैश्याप्रभवस्य गोपः ॥" ३५८॥ इति।

शूरतातसुतस्य शूरसपत्नीमातृजस्य वैश्यायां तृतीयवर्णायां जातस्य सकाशादास बभूवेत्यर्थः।

जो निखिल जीवों का एकमात्र आश्रय स्वरूप हैं, वह ही देवकी से जन्म ग्रहण किये हैं, जिन की ख्याति भी वैसी है। यादव श्रेष्ठ वृन्द जिनके परिषद् हैं, निज बाहुद्वय के द्वारा जो निरन्तर अधर्म का निरसन करते रहते हैं, उससे स्थावर जङ्गमों का क्लेश विदूरित होता है, जो सुस्मित श्रीमुख कमलके द्वारा व्रजपुर वनिता का काम वर्द्धन करते रहते हैं। वह श्रीकृष्ण जययुक्त होकर विराजित हों।"

श्लोकार्थ इस प्रकार है—

यदुवरगण परिषत्—सभ्य हैं जिनके, आप यदुवर परिषत् हैं। देवकी जन्मवाद—देवकी से जन्म ग्रहण निबन्धन जिनकी ख्याति विस्तृत हुई है, अथवा देवकी में जन्मवाद—तत्त्व जिज्ञासु गण-जिनके सम्बन्ध में कहते रहते हैं, उन श्रीकृष्ण सर्वोत्कर्ष से सदैव विराजित हैं।

यहाँ यदुवर परिषत् विशेषण के द्वारा इस प्रकार बोध होता है,—'लोहितउष्णीषधारि व्यक्ति विचरण कर रहे हैं, "इस प्रकार कहने से जिस प्रकार लोहित उष्णीष विशिष्ट रूप में विचरण का बोध होता है, उस प्रकार यदुवर परिषत् विशिष्ट रूप में श्रीकृष्ण की जय कीर्त्तित है।

यहाँ यदुवर शब्द से श्रीवसुदेव प्रभृति के समान श्रीव्रजराज एवं तदीय भ्रातृवर्ग का ग्रहण भी होगा। कारण – वे सब भी यदु वंशोत्पन्न हैं। श्रीमन्मध्वाचार्य चरण ने भी भारत तात्पर्य्य में ब्रह्मा का कथन कहकर लिखा है,

"तस्मै बरः स मया संनिसृष्टः, स चास नन्दाख्य उतास्य भार्य्या।
नाम्ना यशोदा स च शूरतात्, सूतस्य वैश्या प्रभवस्य गोपः ॥"

"द्रोण एवं वसु को मैंने बर प्रदान किया था। वह द्रोण--नन्द नामसे, तदीय पत्नी—यशोदानाम से ख्यात हैं। नन्द, वैश्या सम्भूत – शूरतात पुत्र का पुत्र गोप हैं।' इसका अभिप्राय यह—यदु वंशीय देवमीढ़ की दो पत्नी थीं, एक क्षत्रिया, अपर वैश्या, शूर – क्षत्रिया से उत्पन्न हुआ था, एवं पर्ज्जन्य—वैश्य गर्भ सम्भूत है, 'भातृवत् वर्ण सङ्कर' न्याय से पर्ज्जन्य का वैश्यत्व हुआ, और आप गोप जाति के हुये। श्रीनन्द, उक्त पर्ज्जन्य के पुत्र हैं, श्रीवसुदेव,—शूर के पुत्र हैं, एतज्जन्य श्रीवसुदेव श्रीव्रजराज को 'भ्रातः' शब्द से बारम्बार सम्बोधन करते हैं। उक्तरूप से उनके वंश पर्य्याय को अङ्गीकार करने पर सम्बोधन का अर्थ स्वाभाविक प्रतीत होता है।

श्रीशुकदेव भी श्रीनन्द को श्रीवसुदेव के भ्राता कहे हैं। "वसुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्दमागतम्॥ श्रीवसुदेव ने सुना कि—'भ्राता नन्द का आगमन हुआ है," भा० १०।५।२० के श्रीमन्मुनीन्द्र वचनके अनुसार निर्णीत हुआ कि श्रीनन्द—यदु वंशसम्भूत हैं। यह उपलक्षण है, श्रीव्रजराज के भ्रातृ वर्ग भी यदुवंशस्थ हैं। श्रीबलदेव व्रजराज प्रभृति को यदुवंशान्तर्भुक्त रूप में कहे हैं। स्कन्द पुराण के मथुराखण्ड में वर्णित है—"इन्द्र वृष्टि निवारण के द्वारा यादवों की रक्षा की गई।" "जहाँपर यदुवैरिइन्द्र के द्वारा भगवान् कृष्ण अभिषिक्त हुये थे" यादवों के हित के निमित्त मैंने गिरिवर का धारण किया।" इस प्रकार अन्यत्र भी वर्णित है।

अतएव श्रीमदानकदुन्दुभिना तस्मिन् भ्रातरिति मुहुः सम्बोधनमविलष्टार्थं भवति, (भा० १०।५।२०) "भ्रातरं नन्दमागतम्" इति श्रीमन्मुनीन्द्रवचनञ्च। तदेतदप्युपलक्षणं तद्भ्रातॄणाम्। यथा स्कान्दे मथुराखण्डे—"रक्षिता यादवाः सर्वे इन्द्रवृष्टिनिवारणात् ।" इति, यत्राभिषिक्तो भगवान्मघोना यदुवैरिणा" इति च, "यादवानां हितार्थाय धृतो गिरिवरो मया" इति चान्यत्र। यथा च यादवमध्यपातित्वेनैव तेषु निर्द्धारणमयं श्रीरामवचनं श्रीहरिवंशे "यादवेष्वपि सर्व्वेषु भवन्तो मम बान्धवाः" इति। सप्तम्या ह्यस्य जातावेव निर्द्धारण-मुच्यते, पुरुषेषु क्षत्रियः शूरतम इतिवत्। विजातीयत्वे तु श्रौघ्नेभ्यो माथुरा आढ्यतमा इतिवत् यादवेभ्योऽपि सर्व्वेभ्य इत्येवोच्येतेति ज्ञेयम्। अत्र जयतीत्यत्र लोड़र्थत्वं न सङ्गच्छते, सदैवोत्कर्षानन्त्यमिते तस्मिन्नाशीर्व्वादानवकाशात् । तदवकाशे वा आशीर्व्वादविषयस्य तदानीमाशीर्व्वादक-कृतानुवादविशेषविशिष्टतयैव स्थितेरवगमात् प्रतिपिपादयिषितं तादृशत्वेनैव तात्कालिकत्वमागच्छत्येव। यथा धार्म्मिकसभ्योऽयं राजा वर्द्धतामिति। तदेवं (भा० २।४।२०)"पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वताम्" इत्यत्राप्यनुसंधेयम्। अनेन यदुवराणामपि

श्रीहरिवंश में श्रीबलराम का कथन इस प्रकार है—"समस्त यादवों के मध्य में आप सब मेरा बान्धव हैं।" मूल श्लोक में "यादवेष्वपिसर्वेसु" जाति निर्द्धारणार्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार प्रयोग होता है—'पुरुषेषु क्षत्रियः शूर इतिवत्" पुरुषगण के मध्य में क्षत्रिय शूर है। यह निर्द्धारण यदि विजातीयस्थल में होता तब सप्तमी विभक्ति न होकर पञ्चमी विभक्ति होती—यथा—"श्रौघ्नेभ्यो मथुरा ह्याढ्यतमा इतिवत् यादवेभ्योऽपि सर्वेभ्यो' इत्येवोच्येतेति ज्ञेयम्" श्रौघ्नदेश निवासी से मथुरावासिगण प्रचुरधनशाली हैं, यहाँ भी समस्त यादवों से आपसब मेरा बान्धव हैं। इस प्रकार कथन होता।

'जयति जन निवासः" श्लोक में 'जयति' क्रिया का प्रयोग हुआ है, कतिपय व्यक्ति, लोड़, अर्थ में लिट्' वर्त्तमान में अच्युत का प्रयोग मानते हैं, यह समीचीन नहीं हैं, यहाँ आशीर्वाद अर्थ में लोट् का प्रयोग हो सकता है, किन्तु जो सर्वदा अनन्तोत्कर्ष में विराजित हैं, उन में आशीर्वाद का अवसर है ही नहीं। अतएव लोट्का प्रयोग नहीं हो सकता है, जिसका अभाव है,आशीर्वाद के द्वारा उस का अभाव की पूर्त्ति की जाती है। खतः अनन्त उत्कर्ष प्राप्त व्यक्ति को आशीर्वाद के द्वारा पूर्ण करने की प्रचेष्टा असार्थक है, किन्तु आशीर्वाद का विषय जो श्रीकृष्ण हैं, उनकी, आशीर्वाद कृतानुवाद रूप में अर्थात् देवकी नन्दन—यदुवर परिषत्, सुस्मित श्रीमुखादि स्वरूप में आशीर्वाद करते समय अवस्थिति सुस्पष्ट है, एतज्जन्य प्रतिपाद्य विषय श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण परिकर, एवं तदीय धाम की अवस्थिति तात् कालिक,—अर्थात् श्रीशुकोक्ति के समय है।

जिस प्रकार 'धार्मिक सभ्योऽयं राजा वर्द्धताम्' 'धार्मिक सभ्यसह राजा अभ्युदय मण्डित हो' कहने से आशीर्वाद के समय, धार्मिक मण्डली के सहित राजा की स्थिति वाञ्छनीय है, यहाँ पर 'जयति' क्रिया आशीर्वाद अर्थ में प्रयुक्त होने पर उस से देवकी नन्दनादि रूप में श्रीकृष्ण की नित्यस्थिति सिद्ध होती है। यादव वर्ग के सहित श्रीकृष्ण की नित्यस्थिति को सूचित करना ही श्रीशुक देवका अभिमत है। उस का प्रकाश—भा० २।४।२० "पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वताम्" पद्य में हुआ है। 'यादव गण के पति, गति श्रीकृष्ण मेरे प्रति प्रसन्न हों।' यह शुकोक्ति है।

'यदुवर परिषत् श्रीकृष्ण की जय घोषणा होने से, श्रीकृष्ण के सहित यादववर्ग का जय कीर्त्तन

जयो विवक्षितः। नन्वेवं तथा विहरणशीलश्चेत् पुनः कथमिव देवकीजन्मवादोऽभूत् ? तत्राह-स्वैर्दोर्भिर्दोर्भ्यां चतुर्भिश्चतुर्भुजैरधर्म्मं तद्बहुलमसुरराजवृन्दमस्यन् निहन्तुम्। लक्षणहेत्वोः क्रियायाः शतृप्रत्ययविधानात्। तदर्थमेव लोकेऽपि तथा प्रकटीभूत इत्यर्थः। किंवा किं कुर्व्वन् जयति ? स्वैः कालत्रयगतैरपि भक्तैरेव दोर्भिरिव दोर्भिस्तद्द्वारा अधर्म्मं जगद्गतं पाप्मानम्, अस्यन् नाशयन्नेव, तदुक्तम् (भा० ११।१४।२४) "मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति" इति। पुनः किमर्थं देवकीजन्मवादः? तत्राह—स्थिरचरवृजिनघ्नो निजाभिव्यक्त्या निखिलजीवानां दुःखहन्ता तदर्थमेवेत्यर्थः। तदुक्तम् (भा० १०।२९।१६) "यत एतद्विमुच्यते" इति। किंवा

करना ही श्रीशुक का अभिप्राय है, यह प्रतीत होता है। यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि—श्रीकृष्ण, यदि उक्तरूप में नित्य विहरण शील हैं, तब, देवकी नन्दन रूप में कथन-'देवकी से जन्म' यह प्रसिद्ध वचनोल्लेख कैसे सम्भव होगा ?

उत्तर में कहते हैं, "स्वैर्दोर्भि र्दोर्भ्यां" भुजयुगल के द्वारा, एवं भुज चतुष्टय के द्वारा अधर्म, अर्थात् बहुल असुर स्वभावाक्रान्त राजन्यवृन्द की हत्या करने के निमित्त मनुष्य लोक में भी देवकी नन्दन रूपमें प्रकट होते हैं। भुजद्वय का व्रजमें प्रकट करतेहैं, एवं मथुरा द्वारकामें भुज चतुष्टय का प्रदर्शन करतेहैं, असुर संहार उक्त रूप से होता है। द्वारका मथुरा में चतुर्व्यूह वासुदेव रूप में प्रकट हैं, अतएव उनका चतुर्भुज रूप में वर्णन हुआ है।

पक्षान्तर में अर्थ करते हैं – अथवा—किस कार्य्य करके श्रीकृष्ण उत्कर्ष मण्डित हैं ? उत्तर में कहते हैं, स्वैर्दोर्भिः' कालत्रय गत भक्तवृन्द उनके बाहु स्वरूप हैं। उन सब के द्वारा जगत गत पापराशि को विनष्ट करके जय युक्त हो रहे हैं। भक्त वृन्दकी पापराशि कोविनष्ट करतेहैं,-उसका वर्णन भा० ११।१४।२० "मद् भक्ति युक्तो भुवनं पुनाति" में है, श्रीकृष्णोक्ति यह है—है उद्धव ! मुझ में प्रेम भक्ति सम्पन्न भक्तगण-भुवन को पवित्र करते हैं।

पुनः किस निमित्त देवकी से जन्म ग्रहण ख्याति हुई ? उत्तर—"स्थिरचर वृजिनघ्नः" निज अभिव्यक्ति के द्वारा स्थावर जङ्गम प्रभृति सांसारिक जीव समूह का दुःखापनोदनकरते हैं। तज्जन्य आप देवकी देवी से आविर्भूत हुये थे। श्रीकृष्ण स्थावर जङ्गमादि का दुःख नाश करते हैं—उसका वर्णन भा० १०।२९।१६ श्रीशुकोक्ति में है—

"न चैवं विस्मयः कार्य्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते ॥

हे राजन् ! व्रजदेवी गण, श्रीकृष्ण में तन्मय होकर सद्य गुणमय देह त्याग किये थे, योगेश्वरगण के ईश्वर भगवान् अज श्रीकृष्ण के इस कार्य्य में विस्मय का अवकाश नहीं है। श्रीकृष्ण से स्थावरादि की भी मुक्ति होती है।

बृहत् क्रमसन्दर्भ—"एवं क्रोधावेशं विहाय शिष्य वात्सल्याद् उपदिशति—न चैवमित्य दि। पुनरेवं विस्मयो न च कार्य्यः। नैवं कार्य्य इत्यर्थः। भवता श्रीकृष्ण प्रभावज्ञानां पौत्रेण, कुत्र ? कृष्णे, अन्यत्र वरं सन्देहः क्रियताम्। कीदृशे ? अजे स्वप्रकाशे, भगवत्यचिन्त्य परमैश्वर्य्ये, योगेश्वराणां अपीश्वरे,—कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं समर्थे। एतेन तस्मिन् ब्रह्म ज्ञानेनापि न किञ्चिद् भवति, कान्त ज्ञानेनापि तदङ्ग सङ्ग मङ्गलत्वं भवतीत्यन्यथा—कर्त्तृत्वे योगेश्वरेश्वरता, यत एतत्तरु गुल्मादिकमपि विमुच्यत, इति, मुक्ति कर्त्तृत्वे

कथम्भूतो जयति ? व्रज पुरवासिनां स्थावरजङ्गमानां निजचरणवियोगदुःखहन्ता सन् । नित्यविहारे प्रमाणमाह—जननिवासः, 'जन' शब्दोऽत्र स्वजनवाचकः, (भा० ३।२९।१३) 'सालोक्य'—इत्यादि-पद्ये जना इतिवत् । स्वजनहृदये तत्तद्विहारित्वेन सर्व्वदैवावभासमान इत्यर्थः । सर्व्वप्रमाणचयचूड़ामणिभूतो विद्वदनुभवएवात्र प्रमाणमिति भावः । स्वयन्तु किं कुर्व्वन् जयति ? व्रजवनितानां मथुरा-द्वारकापुरवनितानाञ्च कामलक्षणो यो देवः स्वयमेव तद्रूपस्तं वर्द्धयन् सदैवोद्दीपयन् । अत्र तदीय-हृदयस्थ-काम-तदधिदेवयोरभेदविवक्षा, तादृश-तद्भावस्य तद्वदेव परमार्थताबोधनाय श्रीकृष्णस्फूर्त्तिमयस्य तादृशभावस्याप्राकृतत्वात् परमानन्दपरमकाष्ठारूपत्वाच्च । श्रीकृष्णस्य कामरूपोपासना चागमे व्यक्तास्ति, "वनिता

योगेश्वरेश्वरता, अभक्तानां कृतार्थता करणे-अकर्त्तृत्वे, योगेश्वरेश्वरता"। अप्रकट लीला आविष्कार करने पर श्रीकृष्ण की कारुण्यादि शक्ति समूह सुप्त प्राय रहती हैं। प्रकट लीला में उक्त शक्ति समूह का परिपूर्ण विकास होता है, उस समय सिद्ध असिद्ध एवं सिद्ध भक्त वृन्द को स्वीय कारुण्य शक्ति के द्वारा निज चरण सन्निधान में आकर्षण करते हैं। कारुण्य की सुप्रचुर अभिव्यक्ति के कारण प्रकट लीला के समय श्रीकृष्ण से स्थावर प्रभृति की भी मुक्ति होती है,

उक्त श्लोक में साधन सिद्धा गोपीगण के मध्य में कतिपय गुणमय देह त्याग हुआ था, नित्यसिद्ध गोपिओं का गुणमय देह सम्पर्क नहीं है, प्रकट लीलामें प्रापञ्चिक एवं अप्रापञ्चिक का मिश्रण हेतु साधन सिद्धागोपिओं का गुणमय देह सम्पर्क होना सम्भव है। अथवा पत्यादि की वञ्चना हेतु योगमाया प्रभाव के द्वारा तत् कालीन आगन्तुक जो गुणमय देह, उसका त्याग गोपियों ने किया था। अथवा किस प्रकार से जय युक्त होते हैं ? कहते हैं,—यदुपुर एवं व्रजवासी स्थावरजङ्गम समूह का निज चरण दुःख हन्ता होकर श्रीकृष्ण जययुक्त हैं। उनसब के सहित नित्य विहरण व्यतीत उनसब का उक्त विच्छेद विरह दुःख नाश होना सम्भव नहीं है। नित्य विहरण में प्रमाण प्रदर्शन करते हैं।—'जन निवासः" यहाँ जन शब्द स्वजन वाचक है। भा० ३।२९।१३ में उक्त है—

"सालोक्य सार्ष्टि—सारूप्य सामीप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।' मदीय जन गण को सालोक्य (एकत्र वास) सार्ष्टि—(तुल्यऐश्वर्य्य) सामीप्य—(निकट वर्त्तिता)सारूप्य—(समानरूपता) किंवा-एकत्व (सायुज्य) मुक्ति प्रदानेच्छु होने पर भी वे सब मेरी सेवा व्यतीत अपर कुछ भी ग्रहण नहीं करते हैं।" इस श्लोक में जन शब्द का अर्थ—भगवान का निज जन है। भक्त भिन्न अपर जन निज जन नहीं होता है। एवं अपर को मुक्ति प्रदान हेतु आग्रह शील भी नहीं होते हैं। उस प्रकार ही जन निवास पदस्थ जन शब्द से निज भक्त के हृदय में सपरिकर द्वारका मथुरा वृन्दावन विहारि रूप में विराजित हैं, इस प्रकार अर्थ बोध होता है। इस प्रकार व्याख्या में प्रमाण क्या है ?

उत्तर में कहते हैं—निखिल प्रमाण समूह की चूड़ामणि स्वरूप विद्वदनुभव ही यहाँपर एकमात्र प्रमाण है।

जिस कार्य्य के द्वारा श्रीकृष्ण सर्वोत्कर्ष मण्डित हैं, उसका प्रदर्शन हुआ। सम्प्रति श्रीकृष्ण स्वयं किसरीति से जय युक्त हैं ? उस को दर्शाते हैं,-व्रजवनिता एवं मथुरा द्वारका पुरवनिता वृन्द का कामलक्षण जो देव, श्रीकृष्ण, स्वयं ही तद्रूप में विराजमान हैं। काम देव का कार्य्य निर्वाह श्रीकृष्ण ही करते हैं। काम

जनितात्यर्थानुरागायाञ्च योषिति" इति नामलिङ्गानुशासनम् । व्रजेति श्रैष्ठेचन पूर्व्वनिपातः। अतएव पूर्व्वं मेरुदेव्यां सुदेवीति संज्ञावत् देवकी-शब्देन श्रीयशोदा च व्याख्येया—

"द्वे नाम्नी नन्दभार्य्याया यशोदा देवकीति च। अतः सख्यमभूत्तस्या देवकया शौरिजायया।।"३५९।।

इति स्कान्दवचनात् । तदेवं त्रिष्वपि नित्यविहारित्वं सिद्धम् ।। श्रीशुकः ।।

११६। अथ यदुक्तं श्रीवृन्दावनस्यैव प्रकाशविशेषे गोलोकत्वम्, तत्र प्रापञ्चिकलोक-प्रकटलीलावकाशत्वेनावभासमान-प्रकाशो गोलोक इति समर्थनीयम् । प्रकटलीलायां तस्मिंस्तच्छब्दप्रयोगादर्शनात् भेदांशश्रवणाच्च । प्रकटाप्रकटतया लीलाभेदश्चाग्रे दर्शयितव्यः। तदेवं वृन्दावन एव तस्य गोलोकाख्यप्रकाशस्य दर्शनेनाभिव्यनक्ति, (भा० १०।२८।११-१८)—

रूपी श्रीकृष्ण सर्वदा अपने को उद्दीप्त करके जय युक्त हैं । यहाँपर व्रजपुर वनिता गणका हृदयस्थ काम एवं उस काम का अधिष्ठातृ देवता को अभेदमान कर कहा गया है । कारण, व्रजपुर वनिता गण का वर्द्धन शील जो कामभाव है, वह भी श्रीकृष्ण के समान परमार्थ पदार्थ है ।

उसका प्रकाश करने के निमित्त कहा है—श्रीकृष्ण स्फूर्त्तिमय तादृश भाव अप्राकृत है, लौकिक नहीं है, एवं परमानन्द परम काष्ठा रूप है । उक्त श्लोक में ही श्रीकृष्ण को कामदेव रूप में कहा गया है, यह नहीं, अपितु,—आगम में श्रीकृष्ण की उपासना कामदेव रूप में ही है ।

अत्रत्य श्लोकस्थ 'वनिता' शब्द से श्रीकृष्ण में अनुरागवती वृन्दावन—मथुरा—द्वारकास्थ रमणी वृन्द का बोध होता है । नामलिङ्गानुशासन में वर्णित है—जिस रमणी का अतिशय अनुराग कान्त के प्रति है—उस को 'वनिता' कहते हैं । व्रजरमणी वृन्द का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन हेतु कहते हैं—'व्रजपुर वनिता' यहाँ व्रज शब्द का पूर्व निपात हुआ है ।

अतएव वृन्दावन, मथुरा, द्वारका धाम में श्रीकृष्ण की नित्य स्थिति होने से उक्त (जयति जन निवास) श्लोक में श्रीकृष्ण को देवकी नन्दन शब्द से कहा गया है । वहाँ 'देवकी' शब्द से केवल वसुदेव पत्नी का बोध ही नहीं होता है अपितु श्रीनन्द पत्नी यशोदा का बोध भी होता है । जिस प्रकार श्रीऋषभदेव जननी 'मेरुदेवी का नाम 'सुदेवी' है, उस प्रकार श्रीयशोदा का अपर नाम देवकी है ।

स्कन्द पुराण में वर्णित है, "द्वेनाम्नी नन्द भार्य्याया यशोदा देवकीति च, अतः सख्यमभूत्तस्या देवकया शौरिजायया।" नन्दभार्य्या यशोदा के नामद्वय 'यशोदा देवकी' थे, नामसाम्य हेतु यशोदा का वसुदेवपत्नी देवकी के सहित सख्य भाव हुआ था । अतएव 'जयति जन निवासः' श्लोक के द्वारा श्रीवृन्दावन, मथुरा द्वारका धाम में श्रीकृष्ण की नित्य विहरण परायणता सुनिश्चित रूप से प्रति पादित हुई । प्रकरण प्रवक्ता श्रीशुक हैं—(११५)

अनन्तर श्रीगोलोक तत्त्व का वर्णन करते हैं,—इतः प्राक् श्रीवृन्दावन का प्रकाश विशेष को ही गोलोक कहा गया है । अनन्तर उक्त गोलोक का तत्त्व वर्णन करते हैं । वृन्दावनीय लीला के स्थिति स्थान दो हैं—वृन्दावन एवं गोलोक । वृन्दावन में प्रकट एवं अप्रकट रूप लीलाद्वय की स्थिति है, और गोलोक में केवल अप्रकट लीलाकी स्थिति है । सुतरां जो लीला प्रापञ्चिक जगत् में अभिव्यक्त नहीं होती है । उस लीला का अभिव्यक्ति स्थान गोलोक है । कारण,—प्रकट लीलास्थल श्रीवृन्दावन में 'गोलोक' शब्द का प्रयोग दृष्ट होता है, एवं गोलोक एवं गोकुल का भेद भी कियदंश में श्रुत है । प्रकट एवं अप्रकट रूप लीलाद्वय का भेद वर्णन अग्रिम ग्रन्थ में करेंगे । वृन्दावन का प्रकाश विशेष ही गोलोक है, तज्जन्य

(११६) "नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम् ।
कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत् ॥३६०॥
ते चौत्सुक्यधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम् ।
अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः ॥३६१॥
इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाखिलदृक् स्वयम् ।
सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत् ॥३६२॥
जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्म्मभिः ।
उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन् ॥३६३॥
इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको विभुः ।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥३६४॥

श्रीवृन्दावन में ही उक्त गोलोकाख्य प्रकाश दृष्ट हुआ है । श्रीमद् भागवत के १०।२८।११ १८ में इसका सुविशद् वर्णन है—

"नन्द महाराज, लोक पाल वरुण का अदृष्टपूर्व ऐश्वर्य्य एवं वरुण लोकनिवासि जनगण की श्रीकृष्ण के प्रति सम्यक् प्रणति दर्शन कर अत्यन्त विस्मित होकर ज्ञाति वृन्दको कहे थे—"हे राजन् ! उक्त गोप समूह श्रीकृष्ण को ईश्वर मानकर समुत्सुकचित्त से सोच रहे थे—'भगवान् अवश्य ही हमारी सूक्ष्मा गति को दिखलायेंगे।' सर्वज्ञ भगवान्—ज्ञातिवर्ग के सङ्कल्प को जानकर उनसब की सङ्कल्पसिद्धि के निमित्त कृपा पूर्वक स्वयं इस प्रकार चिन्ता किये थे,—जनगण—अविद्या काम कर्म के द्वारा देव एवं तिर्य्यगादि नाना शरीर में भ्रमण करते रहते हैं, किन्तु निज गति को नहीं जानते हैं।

महाकारुणिक विभु भगवान् इस प्रकार चिन्ता करके प्रकृति के परस्थित गोपगण के निज लोक का दर्शन कराये थे। मुनिगण—गुणक्षय होने से जिस का दर्शन करते हैं, जो सत्य, ज्ञान, अनन्त ज्योतिर्म्मय ब्रह्म स्वरूप है, गोपगण उस को देखे थे। श्री अक्रूर जहाँपर ब्रह्म दर्शन किये थे—श्रीकृष्ण के द्वारा गोपगण वहाँपर नीत होकर उस ब्रह्महृद में निमज्जित एवं उद्धृत होकर ब्रह्मरूप दर्शन किये थे। श्रीकृष्ण वहाँपर मूर्त्तिमान् वेद समूह के द्वारा स्तुत हो रहे थे, यह देखकर गोपगण परम विस्मित एवं परमानन्द निर्वृत हुये थे।

उक्त श्लोक समूह का अर्थ इस प्रकार है—अतीन्द्रिय—अदृष्ट पूर्व, लोकपाल—वरुण, स्वगति—निजधाम, सूक्ष्मा—दुर्ज्ञेया, उपाधा यत्-उपधास्यति, हम सब को उसधाम प्राप्त करायेंगे। जन—व्रजवासी श्रीकृष्ण के निजजन, एतस्मिन्—प्रापञ्चिकलोक में, अविद्या—देहादि में अहंबुद्धि, काम्यकर्म द्वारा कृता उच्चावचा गति, देव तिर्य्यक् जन्म।

गोपवृन्द का सङ्कल्प को जानकर श्रीकृष्ण विचार कर रहे थे,—मेरा परिकर यह गोपगण हैं, प्रापञ्चिक लोक में अविद्या द्वारा रचित देवादि तिर्य्यक् पर्य्यन्त विभिन्न शरीर में अवस्थित जीव गण के सहित अपना कुछ भी विशेष नहीं है इस प्रकार भ्रम में पड़कर निज अवस्था को जानने में अक्षम हैं।

यद्यपि इस भ्रम के प्रति लीलाशक्ति ही कारण है, तथापि व्रजवासि स्वजन वृन्द को कुछ समय के निमित्त सर्व विलक्षणा गति दिखाऊँगा, एवं भ्रम विदूरित करूँगा। भा० ३।२९।१३ में वर्णित "सालोक्य सार्ष्टि—' इत्यादि पद्योक्त जन शब्दवत् यहाँपर भी 'जनो वै' शब्द का अर्थ भी निजजन है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥६६५॥
ते तु ब्रह्मह्रदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः ।
ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा ॥३६६॥
नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्द-निर्वृता ।
कृष्णञ्च तत्र छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः ॥"३६७॥

अतीन्द्रियमदृष्टपूर्व्वम्, लोकपालो वरुणः, स्वगतिं स्वधाम, सूक्ष्मां दुर्ज्ञेयाम्, उपाधारयत् उपधारयति; नोऽस्मान् प्रति प्रापयिष्यतीति सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः । जन इति 'जन'—शब्देनात्र तदीयस्वजन एवोच्यते, (भा० ३।२९।१३) "सालोक्य-सार्ष्टि-" इत्यादि-पद्ये जना इतिवत् । अत्रैते मत्सेवनं विना प्राप्यमाण-सालोक्यादि-परित्यागेन तत्सेवैकवाञ्छाव्रताः साधका एवेति लभ्यते । 'न वेद स्वां गतिम्' इत्यत्र तु श्रीभगवता तस्मिन् लोके स्वीयत्व-तदीयत्वयोरेकत्वमननेन स्वाभेद एव प्रतिपादित इति परम एवासौ तदीय-स्वजनः । अतएव (भा० १०।२५।१८)—

जहाँपर मेरीसेवा नहीं है, उस प्रकार स लोक्य को भी मदीय जन गण नहीं चाहते हैं, कारण—उन सब की मदीय सेवामें ही निष्ठा एवं महत्त्व है । 'न वेद स्वां गतिं भ्रमन्" यहाँ पर श्रीभगवान्—उस लोक में स्वीयत्व तदीयत्व को एक मानाहै, स्वाभेद ही वहाँ प्रतिपादित हुआहै । अतएव गोपगण उनके परम स्वजन हैं । भा० १०।२५।१८ में स्वयं भगवान् ने ही कहा है,—' व्रजवासिजन गण मेरा आश्रित हैं, मैं ही रक्षक हूँ, मेरा ही वे सब निज जन हैं, अतएव मैं व्रज की रक्षा करूँगा, गोपाये—रक्षिष्यामि । किञ्च सोऽयं में मया व्रतो नियमः सङ्कल्पो वा आहितो धृतः' इत्यर्थः । स्वामिपादः । क्रमसन्दर्भकार के मतमें—गोपाये—इति बर्त्तमान प्रयोगेन स्वाभाविकत्वं व्यञ्जयति । मैं ने यह व्रतधारण किया है । व्रत, नियम, संकल्प यह ही मेरा है । 'गोपाये' बर्त्तमान प्रयोग से स्वाभाविकता व्यञ्जित हुई है !

स्वयं भगवान् ने कहा है व्रजवासिजनगण मत् परिग्रह हैं । मत् परिग्रह शब्द से प्रतीति होता है, व्रज वासि जनगण श्रीकृष्ण के ही परिकर हैं, मच्छरण शब्द से भी क्रमप्राप्त बहुव्रीहिके द्वारा श्रीकृष्ण का निज परिकरत्व सिद्ध हुआ है । सोऽयं में व्रतः" इस के द्वारा रक्षा करना व्रत श्रीकृष्ण का सुनिश्चित है, सूचित हुआ है । अतएव जन शब्द से निज परिकर व्रजवासि जनका लाभ हुआ है, अतः करुणापूर्वक उन सबको गोलोक दर्शन उक्त रूप से कराए थे । किन्तु अपर के प्रति उस प्रकार करुणा नहीं होती है । "स्वां गतिं" शब्द से सामानाधिकरण्य प्रकटित हुआ है, किन्तु उस पदद्वय के द्वारा वस्तु द्वयकी प्रतीति नहीं हुई है । "स्वर्गातं" सूक्ष्मां" पूर्वोक्त कथन से भी उक्तार्थ का बोध ही होता है । अतएव उभय वाक्य से ही उन का निज लोक दर्शन प्रसङ्ग लाभ ही हुआ है । निज लोक गोलोक का कहना अभीप्सित होने पर वह लोक सर्व साधारण जनगण का प्राप्य नहीं है अतएव 'जन' शब्द विशिष्ट जन—अर्थात् परिकर जन गण का ग्रहण होता है, उनसब का स्थान ही गोलोक है ।

पद व्याख्या उस प्रकार होने पर सरलार्थ इस प्रकार है—जनगण व्रजवासी हैं, और मेरा परम स्वजन हैं । इस जगत में प्रापञ्चिक लोक में अविद्या के द्वारा निर्मित उच्चनीच शरीर रूप गति—देव--

"तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः ।।"३६८।।

इति स्वयमेव भगवता मत्परिग्रहमित्यनेन स्वस्मिंस्तत्परिकरतामच्छरणमित्यादिक्रम-प्राप्त-बहुव्रीहिणा दर्शिता, 'सोऽयं मे व्रतः' इत्यनेन स्वस्य तद्गोपनव्रतता च। तदेवं व्रज-वासिजन एव लब्धे तं प्रत्येव करुणया दर्शितवान्, न त्वन्यान् 'स्वां गतिम्' इति सामानाधिकरण्य एव व्यक्ते, न तु ताभ्यां पदाभ्यां वस्तुद्वयमुच्यते। स्वगतिं सूक्ष्मामिति पूर्वोक्तमपि तथा। तस्मात्तल्लोकदर्शनमेवोभयत्र विवक्षितम्। विवक्षिते च तल्लोके स तु जनमात्रस्य स्वगतिर्न भवतीति च जन-शब्देन तद्विशेष एव व्याख्यातः। तदेवं सत्यमर्थः— जनोऽसौ व्रजवासी मम परमस्वजनः। एतस्मिन् प्रापश्चिकलोके अविद्यादिभिः कृता या उच्चावचा

तिर्य्यग् प्रभृति हैं, उस के सहित निज शरीर का तुल्य बोध होने से ही निज गति की उपलब्धि उन सब की नहीं हुई।

अनन्तर सर्वोत्तम प्रेम भक्ति के द्वारा मेरा दर्शन होता है, इसमें भ्रम की सम्भावना ही नहीं है। सर्वोत्तम पदार्थ मैं हूँ।

परम भक्ति योग के द्वारा मुझ को जानने के बाद पुनर्वार भ्रम की सम्भावना ही नहीं होती है, तथापि तत्तत् लीला रस पोषण निबन्धन मदीय लीलाशक्ति भ्रमादि की कल्पना करती रहती है। किन्तु वह भ्रम अविद्या विजृम्भित नहीं हैं। भा० १०।११।५८ में उक्त है

"इति नन्दादयो गोपाः कृष्ण राम कथां मुदा
कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविदन् भववेदनाम् ।।

"नन्दादि गोपगण, आनन्द से रामकृष्ण के चरित कथा में रत होकर सांसारिक क्लेश को जान नहीं पाये थे।" अतएव उन सब की प्राकृत कर्माधीन जीववत् गति की सम्भावना ही नहीं है। भा० १०।१४।३५ में ब्रह्माने भी कहा है—

"एषां घोष निवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न
श्चेतोविश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थ सुहृत् प्रियात्मतनय प्राण शयास्त्वत् कृते ।।"

टीका—'अपि च किं वर्ण्यते कृतार्थत्वमेतेषां येषां भक्त्या भवानपि ऋणीवास्ते' ननु किं दातुम-समर्थोऽहं येन ऋणी स्याम्? अत आह—उत अपि,—भवानपि, एषां कुत्रापि, किं विश्वफलात् सर्व-फलात्मकात् त्वत् त्वत्तः, परं राता दास्यतीति, न श्चेतः, अयत् सर्वत्र गच्छत्—विचारयत् मुह्यति।

ननु मामेव दत्त्वानृणः स्यामिति चेन्नहि नहि, सद्वेषादिव,— सतां भक्तानां यो वेषः, तदनुकरण-मात्रेण पापिष्ठा पूतनापि त्वामेवापिता प्रापिता। तर्हि तत् सम्बन्धिनामपि दास्यामीति चेत्—तत्राह सकुलेति। बकासुराघासुर सहिता। एषामपि तावदेव चेदपर्य्याप्तमित्याह यदिति,— येषां धामादय स्त्वत्कृते त्वदर्थ मेवेत्यर्थः ।।"

किन्तु भगवन्! मेरा एक महान् संशय है, उसका अपनोदन आप भी करने में अक्षम हैं। उस को

गतयो देवतिर्य्यगादयस्तासु स्वां गतिं भ्रमन् ताभिस्तुल्यतया जानन् तामेव स्वां गतिं न वेदेत्यर्थः। ततो मामपि सर्व्वोत्तमतया प्रेमभक्त्या सर्व्वोत्तमतया द्रष्टुरेतस्य यद्यपि तत्तल्लीलारसपोषाय मदीयलीलाशक्त्यैव भ्रमादिकं कल्पितम्, न पुनरविद्यादिभिः (भा० १०।११।५८—)

"इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्व्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम् ॥"३६९॥ इति।

(भा० १०।१४।३५) "यद्धामार्थसुहृत् प्रियात्मतनय–प्राणाशयास्त्वत्कृते" इत्यादि; तथाप्येतस्येच्छानुसारेण क्षणकतिपयमेतदीयां सर्वविलक्षणां स्वां गतिं दर्शयन् तदपनेष्यामीति भावः। वैलक्षण्यं त्वग्रे व्यञ्जनीयम्। गोपानां स्वं लोकं श्रीगोलोकम्। यः खलु "गोपीगोपैरसंख्यातैः सर्व्वतः समलङ्कृतम्" इति मृत्युञ्जयतन्त्रे वर्णितम्, तथा—

प्रकाश कर कहते हैं—हे देव! यह सब घोषनिवासीयों को, उत विस्मयार्थ में प्रयुक्त है। भवान्—आप विश्व से श्रेष्ठ हैं, आप से अपर कौन वस्तु देय है? यह ही संशय सङ्कट है, इस में मेरा मन निपतित है। इसमें संशय ही क्या है, मैं अपने को दे सकता हूँ। अतः देयवस्तु को न देखकर चित्तमोह प्राप्त करना व्यर्थ है? अपने को देंगे, इस प्रकार कहना अपाण्डित्य पूर्ण है, कारण सद्वेषादिव—सती माता, उनके वेष के समान वेष से ही, किन्तु उनके वेष से नहीं, स्तन्यदानकर मातृगति को प्राप्त किया, ऐसा नहीं, किन्तु हत्या करने के निमित्त स्तन दान किया। मातृ वेषाभासमात्र से ही पूतना ने आप को प्राप्त कर लिया है; उन में भी निज गोष्ठी के सहित—वक अघ के सहित सद्गति को प्राप्त किया। इन सब को यदि आत्मदान करते हैं, आप में योग्यायोग्य विचार नहीं है, अतः पाण्डित्य हीनता ही आती है।

अपने से अधिक अपर कोई वस्तु है ही नहीं, अतः अपर क्या देय है, चिन्ताकर मेरा चित्त सन्दिहान है। ब्रह्मन्! तुम संशय न करो। इन सब को समुचित जो देना है, वह मैंने दिया ही है। ब्रह्मा के वाक्य से ही सरस्वती ने सिद्धान्त कर दिया है—श्रीकृष्ण के सुख के निमित्त धाम प्रभृति का अर्पण इन्होंने किया है, यह ही सिद्धान्त है। पूतना प्रभृति को सायुज्य प्रदान किया, व्रजवासिओं को सायुज्य से परम दुर्लभ प्रेम प्रदान किया है। इस से मुझ में अपाण्डित्यदोष का अवसर नहीं हुआ। इस से प्रतिपादित हुआ, व्रज वासिओं की कभी भी न जीववत् साधारणी गति नहीं रही। तथापि श्रीकृष्णकी इच्छाके अनुसार क्षण कतिपय इन सबको सर्व विलक्षण गति को दर्शन कराकर उसको अपसारित करेंगे, इस प्रकार अभिप्राय श्रीकृष्ण का था। इस से ही उक्त प्रसङ्ग का समारम्भ हुआ था। विलक्षणस्थिति की कथा का वर्णन अग्रिम ग्रन्थ में करेंगे।

गोपगण के निज लोक का नाम ही श्रीगोलोक है। जो लोक असंख्य गोप गोपी प्रभृति के द्वारा सर्वतः समलङ्कृत है। इस प्रकार वर्णन ही मृत्युञ्जय तन्त्र में है।

उस प्रकार वर्णन नारद पुराण के विजयोपाख्यान में भी है—पद्म की आकृति युक्त धाम है, उत्तम गोपुर के द्वारा शोभित है "असंख्य नायिकावृन्द मण्डलीबद्ध रूप में अवस्थित हैं। महाशक्ति सम्पन्न रामादि गोपगण पुरके चतुर्दिक में अवस्थित हैं।" ब्रह्म संहिता के ५।२९ में वर्णित है—गोलोक के गृह समूह—चिन्तामणि समूह के द्वारा निर्मित हैं, वन समूह—कल्पवृक्षमय हैं। इत्यादि रूप में बहु वैभव के

"पद्माकृतिपुरीद्वारि लक्षमण्डलनायिकाः। रामादयस्तु गोपालाश्चतुर्दिक्षु महेश्वराः॥"३७०॥

इति नारदपञ्चरात्रे विजयाख्याने वर्णितः। (ब्र०सं० ५।२६) "चिन्तामणि-प्रकरसद्म-" इत्यादिना ब्रह्मसंहितादिषु वर्णित-व्यक्तवैभवातिक्रान्त-प्रपञ्चाप्रपञ्चलोकमहोदयस्तमेवेत्यर्थः। तमसः प्रकृतेः परं प्रपञ्चानभिव्यक्तत्वात्तदीयेनाप्यसङ्कुरम्। अतएव सच्चिदानन्दरूप एवासौ लोक इत्याह—सत्यमिति। सत्यादिरूपं यद्ब्रह्म, यच्च मुनयो गुणात्यये पश्यन्ति, तदेव स्वरूप शक्तिवृत्तिविशेषप्राकट्यविशेषेण सत्यादिरूपाव्यभिचारिणं गोलोकरूपं दर्शयामासेति पूर्व्वेणान्वयः। यथान्यत्रापि वैकुण्ठे भगवत्सन्दर्भोदाहृतं पाद्मादिवचनं ब्रह्माभिन्नतावाचित्वेन दर्शितं तद्वत्। अथ श्रीवृन्दावने च तादृशदर्शनं कतमदेशस्थितानां तेषां जातमित्यपेक्षायामाह-ब्रह्मह्रदमक्रूरतीर्थं श्रीकृष्णेन नीताः पुनश्च तदाज्ञयैव मग्नाः, पुनश्च तस्मात्तीर्थात् श्रीकृष्णेनैवोद्धृताः, उद्धृत्य वृन्दावनमध्यदेशमानीतास्तस्मिन्नेव नराकृतिपरब्रह्मणः श्रीकृष्णस्य लोकं गोलोकाख्यं ददृशुः। कोऽसौ ब्रह्मह्रदः ? तत्राह—यत्रेति। पुरेत्येतत्प्रसङ्गाद्भाविकाल इत्यर्थः, "पुरा पुराणे निकटे प्रबन्धातीतभाविषु" इति कोषकाराः। अध्यगादस्तौदधिगतवानिति वा। सर्व्वत्रैव श्रीवृन्दावने यद्यपि तत्प्रकाशविशेषोऽसौ गोलोको दर्शयितुं शक्यः

द्वारा वरुण का प्राकृत वैभव पराभूत हुआ है, उक्त गोलोक ही उनका निजधाम है। 'तमसः-प्रकृतेः परम्' वह तमः—अर्थात् प्रकृत्यस्पृष्ट है, प्रपञ्च में अवतरित न होने से प्रपञ्च में अभिव्यक्त नहीं होता है। अतएव यह लोक—सच्चिदानन्द स्वरूप है। एतज्जन्य कहा गया है—'सत्यं ज्ञानं इत्यादि।

सत्यादि रूप जो ब्रह्म हैं, गुणातीत अवस्था में मुनिगण जिस का अनुभव करते हैं, वह ब्रह्म हैं, स्वरूप शक्ति की वृत्ति विशेष के द्वारा सत्यादि स्वरूप में व्यतिक्रम उपस्थित न करके ही गोलोक रूप में अभिव्यक्त हैं।

सत्यज्ञान आनन्द अनन्त ब्रह्म में शक्ति क्रिया नहीं है अतः अनभिव्यक्त स्वरूप-निरवयव कहते हैं। वह ब्रह्म—स्वरूप शक्ति क्रिया विशेष से सावयव श्रीगोलोक नामसे अभिहित हैं। श्रीकृष्ण, गोपगणको उक्त धाम दर्शन कराने के निमित्त कृतसङ्कल्प थे।

भगवत् सन्दर्भ में पद्म पुराणीय वचन समूह के द्वारा दर्शाया गया है कि अन्यान्य वैकुण्ठ भी ब्रह्मसे अभिन्न हैं, श्रीगोलोक के सम्बन्ध में उस प्रकार समझना होगा।

अनन्तर श्रीवृन्दावन के किसस्थान में गोपों ने श्रीगोलोक दर्शन किया था उसका वर्णन करते हैं—ब्रह्मह्रद में-अपर नाम अक्रूरतीर्थ है, श्रीकृष्ण कर्त्तृक नीत होकर श्रीकृष्ण की आज्ञा से ही उसमें आप सब निमग्न हुये थे. पुनर्वार उस तीर्थ से श्रीकृष्ण ने ही उनसब को उठाया, उठाकर श्रीवृन्दावन के मध्यदेश में ले आये थे, वहाँपर ही नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण का लोक गोलोक का दर्शन उन्होंने किया।

वह ब्रह्मह्रद कौन है ? उत्तर में कहते हैं, जिस ब्रह्म ह्रद में श्रीअक्रूर इस प्रसङ्ग के पूर्व में श्रीकृष्ण का स्तव किये थे। उस ब्रह्मह्रद में ही गोपों ने गोलोक दर्शन किया था।

इस कल्प में श्रीअक्रूर का ब्रह्म दर्शन के पहले ही गोपों ने श्रीगोलोक का दर्शन उस ब्रह्मह्रद में किया था। पुरा—पहले, कहने का अभिप्राय यह है कि—पूर्ववर्त्तिकल्प में भी श्रीअक्रूरने इस ब्रह्मह्रद में उसबार के समान ब्रह्म दर्शन किये थे। उसका स्मारक पूर्व वाचक पुरा शब्द का प्रयोग हुआ है। पुराशब्द

स्यात्तथापि तत्तीर्थमाहात्म्य-ज्ञापनार्थं विनोदार्थमेव वा तत्र तेषां नयनादिकमिति ज्ञेयम् । नन्दादय इति कर्त्रन्तरानिर्द्देशाच्छन्दोभिरेव मूर्त्तैः कर्त्तृभिः, तदभिज्ञापनार्थं तज्जन्मादि–लीलया स्तूयमानम् । अन्तरङ्गाः परिकरास्तु पूर्व्वदर्शितरीत्या गो गोपादय एव । अतएव कृष्णं यथा ददृशुस्तथा तत्परिकरान्तराणां दर्शनानुक्तेस्तत्र क एव तत्र परिकरा इत्यभिव्यज्यते । त एव च पूर्वदर्शित–मृत्युञ्जयादि-तन्त्र-हरिवंशवचनानुसारेण प्रकटाप्रकटप्रकाशगततया द्विधाभूताः सम्प्रत्यप्रकटप्रकाशप्रवेशे सत्येकरूपा एव जाता इति न पृथग्दृष्टाः । यदा तत्प्रकाशभेदो भवति, तदा तत्तल्लीलारसपोषाय तेषु प्रकाशेषु तत्तल्लीलाशक्तिरेवाभिमानभेदं परस्परमननुसन्धानञ्च प्रायः सम्पादयतीति गम्यते, उदाहरिष्यते चाग्रे । अतएवोक्तं

का अर्थ कोषकारके मत में—पुराण, निकट, प्रसङ्ग के अतीत काल, एवं भविष्य अर्थ है । अध्यगात्—अस्तौत्—अधिगतवान्—स्तुति की, एवं उत्तमरूप से जाना ।

यद्यपि समस्त श्रीवृन्दावन नामक स्थान में ही श्रीवृन्दावन का प्रकाश विशेष रूप उक्त गोलोक का प्रदर्शन सम्भव है, तथापि अक्रूर तीर्थ का माहात्म्य विशेष प्रकट करने के निमित्त अथवा आमोद विशेष प्रकटन हेतु गोपगण को उक्त ह्रदमें निमज्जित करके उक्त गोलोक दर्शन कराये थे । 'नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा उक्ति से दर्शन कर्त्ता प्रसिद्ध नन्दादि ही थे, अपर व्यक्ति नहीं, 'छन्द" अर्थात् वेदगण निज मूर्त्ति में स्थित होकर श्रीकृष्ण का स्तव किये थे । श्रीकृष्ण स्वरूप को विशेष रूप से प्रकट करने के निमित्त सुप्रसिद्ध श्रीकृष्ण की जन्मादि लीला का वर्णन करते हुये स्तुति किये थे । इस प्रकार श्रीकृष्ण को नन्दादि गोपगण देखे थे । श्रीकृष्ण के अन्तरङ्ग परिकरगण पूर्व दर्शित रीति से गो गोपगण ही हैं । अतएव श्रीकृष्णको आप सबोंने जिस प्रकार देखा था, अपर परिकर वर्ग का दर्शन प्रसङ्ग यहाँपर उल्लिखित नहीं है, अतएव श्रीकृष्ण जिन परिकर गण के सहित अर्थात् गो गोपगण के सहित निरन्तर अवस्थित होते हैं, उन सब परिकर समन्वित श्रीकृष्ण का दर्शन गोपगणोंने किया था । सु प्रसिद्ध नन्दादि गोपगण ही श्रीकृष्ण के परिकर थे—अपर कोई परिकर नहीं थे—इसका विवरण मृत्युञ्जय तन्त्र एवं हरिवंशोक्त कथन के अनुसार-एक ही परिकर प्रकट अप्रकट प्रकाश भेदसे द्विविध होने परभी सम्प्रति अप्रकट प्रकाशमें प्रवेश हेतु उभय प्रकाश एक रूप ही हुये थे—तज्जन्य पृथक दर्शन नहीं हुआ अर्थात् श्रीमद् भागवत की उक्ति के अनुसार गोपगण—उक्त धाम में श्रीकृष्ण दर्शन किये थे । किन्तु तदीय परिकरों का उल्लेख नहीं है । सुतरां गोलोक एवं गोकुल में परिकर एकविध ही है । सुतरां व्रजलीला एवं गोलोक लीला में श्रीकृष्ण के समान तदीय परिकर वृन्द का प्रकाश भेद होता है । अर्थात् श्रीकृष्ण जिस प्रकार एक प्रकाश में श्रीवृन्दावन में, अपर प्रकाश में श्रीगोलोक में विहार करते हैं, उनके परिकर वृन्द भी ठीक उस प्रकार एक प्रकाश में श्रीवृन्दावन में एवं अपर प्रकाश में श्रीगोलोक में अवस्थित हैं । जिस समय प्रकाश भेद होता है, उस समय उभय धामगत विविध लीलारस पोषण निबन्धन लीलाशक्ति परिकर वृन्दों में अभिमान भेद सम्पन्न करती है, इससे पारस्परिक अनुसन्धान भी नहीं रहता है ।

जिस प्रकार गोलोक में एक श्रीनन्द है, गोकुल में भी उस प्रकार श्रीनन्द है, उभय धाम गत श्रीनन्द जानते हैं, मैं ही नन्द हूँ । अपर किसी स्थान में नन्द नामक कोई नहीं है । अग्रिम ग्रन्थ में इसका विशेष विवरण प्रस्तुत करेंगे ।

अतएव कहा गया है—" न वेदं स्वां गतिं भ्रमन्' गोपगण भ्रमवशतः निजगति अवगत नहीं हैं ।

'न वेद स्वां गतिं भ्रमन्' इति। तथा च सतीदानीं श्रीव्रजवासिनां कथञ्चिज्जातया तादृश्येच्छया तेभ्यस्तेषामेव तादृशलोकप्रकाशविशेषादिकं दर्शितमिति गम्यते। न च प्रकाशान्तरमसम्भावनीयम्। परमेश्वरत्वेन तच्च श्रीविग्रह-परिकर-धाम-लीलादीनां युगपदेकत्राप्यनन्तविधवैभवप्रकाशशीलत्वात्। तत्र स्वां गतिमिति तदीयतानिर्द्देशो गोपानां स्वं लोकमिति षष्ठी-स्वशब्दयोर्निर्द्देशः, कृष्णमिति साक्षात्तन्निर्द्देशश्च वैकुण्ठान्तरं व्यवच्छिद्य श्रीगोलोकमेव प्रतिपादयति। अतएव तेषां तद्दर्शनात् परमानन्दनिर्वृतत्वं सुविस्मितत्वमपि युक्तमुक्तम्। तस्यैव पूर्णत्वात्तथा तेषां पुत्रादिरूपेणोदयाच्च। तदेवमुक्तोऽर्थः समञ्जस एव ॥ श्रीशुकः ॥

११७। एवं श्रीद्वारकादीनां तस्य नित्यधामत्वं सिद्धम्। अथ तत्र के तावदस्यपरिकराः? उच्यते—पुर्य्योर्यादवादयो वृन्दावने गोपादयश्चेति,—श्रीकृष्णस्य द्वारकादिनित्यधामत्वेन तेषां स्वतः सिद्धेः, तद्रूपत्वे परिकरान्तराणामयुक्तत्वादश्रवणाच्च। तत्परिकरत्वेनैवाराधनादि-वाक्यानि दर्शितानि दर्शयितव्यानि च अतएवोक्तं पाद्मे कार्त्तिक-माहात्म्ये श्रीकृष्णसत्यभामा संवादे—

तज्जन्य व्रजवासिगण—निजगति दर्शनेच्छु होने से श्रीकृष्ण उनसब के प्रकाश विशेषादि का प्रदर्शन किये थे। इस प्रकार जानना होगा।

इस प्रकाशान्तर का सङ्घटन होना असम्भव नहीं है। श्रीकृष्ण-परमेश्वर हैं। उनके श्रीविग्रह, धाम, परिकर, लीला प्रभृति एक है। समयमें एकही स्थान में अनन्त प्रकार वैभव प्रकाश करने में आप सक्षम हैं।

श्रीकृष्ण, गोपवृन्द को जिस लोक का प्रदर्शन किये थे, वह लोक वैकुण्ठान्तर गत गोलोक नहीं हैं, इसका प्रकाश "स्वां गतिं' गोपानां स्वं लोकं" "कृष्णञ्च" प्रयोगत्रय से ही हुआ है। "स्वां गतिं' कहने पर उक्त लोक की तदीयता निर्दिष्ट हुई है। उक्त लोक गोपवृन्द का निज धाम है। "गोपानां" यहाँ षष्ठी विभक्ति प्रयोग है, उस से उक्त धाम के सहित गोपगण का सम्बन्ध, एवं स्वं शब्द से वहाँ पर गोपगणों का अधिकार सूचित हुआ है। 'कृष्ण' शब्द से प्रतीत होता है, उक्त लोक में श्रीकृष्ण साक्षात् रूप में अवस्थित हैं। अतएव वह वैकुण्ठ विशेष नहीं है। वैकुण्ठ में श्रीनारायण विविधरूप में विहार करते हैं, श्रीकृष्ण नहीं। गोपवृन्द भी वैकुण्ठ में नहीं रहते हैं। उनसब का निवास स्थान गोलोक एवं गोकुल हैं, यह वार्त्ता सुप्रसिद्ध है।

अतएव गोलोक को देखकर परमानन्दित होना एवं परम विस्मित होना समीचीन है। कारण—पूर्ण—भगवान् श्रीकृष्ण का धाम होनेसे श्रीगोलोक, स्वरूप गत ऐश्वर्य्य एवं माधुर्य्य से परिपूर्ण है। गोपवृन्द ने समझा—हम सब इस धाम में रहेंगे। यहाँपर प्राण कोटि प्रतिम श्रीकृष्ण हमारे पुत्र रूप में अवस्थित होंगे—यह ही परमानन्द का विषय है। अपर कथा यह है कि—उन सब के पुत्र रूपमें अवस्थित श्रीकृष्ण ही मूर्तिमान् वेद गण कर्त्तृक स्तुत हो रहे हैं—यह ही अतीव विस्मयावह है।

सुतरां उपरि उक्त अर्थ समूह सुसङ्गत ही हैं। प्रवक्ता श्रीशुक हैं—११६॥

श्रीद्वारका श्रीमथुरा, श्रीवृन्दावन—श्रीकृष्ण के नित्य धामहैं, श्रीकृष्ण, उक्त धाम में सतत विराजित हैं, इस प्रकार नित्य धामत्व का निरूपण के अनन्तर उक्त धामत्रय में उनके परिकर कतिविध हैं? इस

"एते हि यादवाः सर्व्वे मद्‌गणा एव भामिनि। सर्व्वदा मत्‌प्रिया देवि मत्तुल्यगुणशालिनः ।।'३७१।। इति।

एवकारान्न देवादयः। श्रीहरिवंशेऽप्यनिरुद्धान्वेषणे तादृशत्वमेवोक्तमक्रूरेण (विष्णु-प० १२१।५७)—"देवानाञ्च हितार्थाय वयं याता मनुष्यताम्" इति। श्रीमथुरायां त्ववतारावसरेऽनभिव्यक्ता अपि निगूढ़तया केचित्तस्यामेव वर्त्तमानाः श्रूयन्ते, यथा श्रीगोपोलोत्तरतापन्याम् (उ० ५०)—

"यत्रासौ संस्थितः कृष्णस्त्रिभिः शक्त्या समाहितः।
रामानिरुद्धप्रद्युम्नै रुक्मिण्या सहितो विभुः ।।"३७२।। इति।

श्रीवृन्दावने तैः सदा विहारश्च, यथा पाद्मपातालखण्डे श्रीयमुनामुद्दिश्य—

"अहो अभाग्यं लोकस्य न पीतं यमुनाजलम्। गोगोपगोपिकासङ्गे यत्र क्रीड़ति कंसहा ।।"३७३।। इति।

स्कान्दे तु—

"वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सदा क्रीड़ति माधवः। वृन्दावनान्तरगतः सरामो बालकैर्वृतः ।।" ३७४।। इति।

न तु प्रकटलीलागतेभ्य एते भिन्नाः, 'एते हि यादवाः सर्व्वे' इत्यनुसारात्। तथाहि पाद्म-निर्माणखण्डे च श्रीभगवद्वाक्यम्—

प्रकार जिज्ञासा का उदय होने से परिकरनिकर का निरूपण करते हैं। पुरी में अर्थात् द्वारका मथुरा में यादवादि श्रीकृष्ण के परिकर हैं।" एवं श्रीवृन्दावन में श्रीगोप गोपी प्रभृति उनके परिकर हैं। कारण-द्वारका, मथुरा, वृन्दावन-यादव, एवं गोपगोपी प्रभृति का नित्य धाम—स्वतः सिद्ध है। श्रीकृष्णस्वरूप का यादव गण एवं गोप गोपी गण व्यतीत अपर परिकर की वार्त्ता अयुक्त है। शास्त्रादि में अन्यविध परिकर का वर्णन नहीं है। श्रीकृष्ण के परिकर रूप में यादवादि का एवं गोप गोपी वृन्द का वर्णन पूर्व में हुआ है, उत्तर ग्रन्थ में भी होगा।

अतएव पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य में वर्णित है, कृष्ण सत्यभामा का संवाद उस प्रकार है—हे भामिनि! यह यादवगण, मदीय निजजन हैं, हे देवि! ये सब सर्वदा मत् प्रिय हैं, 'एवं' मेरे तुल्य गुण शाली हैं। 'मद्‌गणा एव' कथन से 'एव' कार के द्वारा देवादि का निरास हुआ है। अर्थात् देवगण, श्रीकृष्ण के परिकर नहीं हैं, केवल यादव गण ही तदीय परिकर हैं, यह निर्णय हुआ—।

श्रीहरिवंश में भी अनिरुद्धान्वेषण प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण परिकर रूप में यादवगण का वर्णन श्रीअक्रूर ने किया है। "देव निकर के हितसाधन के निमित्त हम सब मनुष्य होकर आविर्भूत हुए हैं।" इस प्रकार यादवगण द्वारका के परिकर हैं।

श्रीमथुरा में आविर्भाव के समय अर्थात् प्रकट लीला अवसर में जो सब परिकर आविर्भूत हुये थे, उनमें से कोई कोई वहाँपर निगूढ़ रूप से विराजित थे। अर्थात् प्रकट लीला में भी मथुरा के कतिपय परिकर अप्रकट भावसे अर्थात् जन नयनगोचर न होकर अवस्थान करते हैं, इस प्रकार सुनने में आता है। यथा—गोपाल तापनी के उत्तर विभाग में वर्णित है—'मथुरा में विभु श्रीकृष्ण, राम, अनिरुद्ध प्रद्युम्न एवं शक्ति श्रीरुक्मिणी के सहित अवस्थित हैं, इस प्रमाण के अनुसार प्रकट लीलाके समय मथुरा में अनिरुद्धादि की अवस्थिति की वार्त्ता अप्रसिद्ध होने परभी मानव नेत्र के अगोचर में सर्वदा वे सब अवस्थित हैं। यादववर्ग—मथुरा के परिकर हैं। उस प्रकार श्रीवृन्दावन के प्रकट अप्रकट प्रकाश में उभय लीला में ही गोपादि ही श्रीकृष्ण के परिकर हैं। पद्म पुराण के पाताल खण्ड में श्रीयमुना को उद्देश्य कर कहा गया है-अहो!

"नित्यां मे मथुरां विद्धि वनं वृन्दावनं तथा। यमुनां गोपकन्याश्च तथा गोपालबालकान्।
ममावतारो नित्योऽयमत्र मा संशयं कृथाः।।"३७५।। इति।

अतस्तानेवोद्दिश्य श्रुतौ च, तत्र ऋक्षु (१।१५४।६)–"तां वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि" इति। व्याख्यातञ्च—"तां तानि वां युवयोः कृष्णरामयोर्वास्तूनि लीलास्थानानि गमध्यै गन्तु उश्मसि कामयामहे। तानि किं विशिष्टानि? यत्र येषु भूरिशृङ्गा महाशृङ्ग्यो गावो वसन्ति, यथोपनिषदि 'भूम'-वाक्ये धर्म्मिपरेण 'भूम'-शब्देन महिष्ठमेवोच्यते, न तु बहुतरमिति, यूथदृष्टैव वा भूरिशृङ्गा बहुशृङ्ग्यो बहुशुभलक्षणा इति वा, अयासः शुभाः, "अयः शुभावहो विधिः" इत्यस्य देवास इतिवत् जसन्तं पदमिदम्। अत्र भूमौ तल्लोकवेदप्रसिद्धं श्रीगोकुलाख्यमुरुगायस्य स्वयं भगवतो वृष्णः सर्व्वकामदुघचरणारविन्दस्य परमं प्रपञ्चातीतं पदं स्थानं 'भूरि' बहुधा अवभातीत्याह— वेद इति। यजुःसु माध्यन्दिनीयास्तु या ते धामान्युश्मसीत्यादौ विष्णोः परमं पदमवभाति भूरीत्यन्ते पठन्ति। पाद्मोत्तरखण्डे

लोको का अभाग्य कैसा है, जिसने यमुना जलपान नहीं किया है, जहाँ गो गोप गोपिका के सहित कंसहा श्रीकृष्ण निरन्तर क्रीड़ा करते रहते हैं। इस प्रकार अनेक वर्णन हैं। स्कन्द पुराण में उक्त है—

'वत्स वत्सतरी गण के सहित माधव सर्वदा वृन्दावन में राम एवं बालक वृन्द के सहित सर्वदा क्रीड़ा रत हैं।" इस प्रकार विविध वर्णन उपलब्ध हैं। किन्तु उक्त परिकर वृन्द प्रकट लीला गत परिकर से भिन्न नहीं हैं।

'एते हि यादवाः सर्वे मद्गणा एव भामिनि।
सर्वदा मत् प्रिया देवि! मत्तुल्य गुण शालिनः।।

श्रीकृष्ण मुख वचन से ही प्रतीत होता है कि—प्रकट अप्रकट गत परिकर एक प्रकार ही है। भिन्न भिन्न नहीं हैं। पद्म पुराण के निर्माण खण्ड में भगवद्वाक्य यह है—

"मेरी मथुरा को नित्य जानना, वृन्दावन नामक वन, यमुना, गोप कन्या, एवं गोप बालक गण को भी तद्रूप नित्य ही जानना चाहिये। मथुरा एवं वृन्दावन में मेरा नित्य अवतार है—इस विषय में कुछ भी संशय नहीं है।

अतएव गोप प्रभृति को लक्ष्य करके ही नित्यता कही गई है। श्रुति में वर्णित है—(ऋग्वेद) "राम कृष्ण के लीलास्थान समूह को प्राप्त करने के निमित्त कामना करता हूँ।" उक्त लीलास्थान समूह कीदृश हैं? वहाँ पर भूरि शृङ्ग विशिष्ट गो समूह निवास करते हैं, यहाँ 'भूरिशृङ्गी—' शब्दका अर्थ – महाशृङ्गी है, जिस प्रकार उपनिषत् का भूम शब्द धर्मिपर है, तत् द्वारा महिष्ठ 'वृहत्' अर्थ प्रकाशित होता है, बहुतर अर्थ का बोध नहीं होता है, यहाँ पर भी तद्रूप भूरि शब्द का बहुतर अर्थ नहीं होगा। किन्तु महिष्ठ अर्थ होगा ।

अथवा 'भूरि' शब्द का 'बहुतर' अर्थ स्वीकार करके भी अनुरूप अर्थ हो सकता है, गो यूथ के प्रति दृष्टि रखकर (बहुतर शृङ्गी) अर्थ हो सकता है, यूथ में अनेक धेनुविद्यमान हैं, उन सब के अनेक शृङ्ग हैं। गो समूह किस प्रकार हैं?—'अयास' शुभ लक्षण युक्त हैं। 'अत्र' इस भूमि में लोकवेद प्रसिद्ध श्रीगोलोक नामक स्थान है, वह स्थान 'उरुगाय' स्वयं भगवान् जो वृष्ण हैं-अर्थात् जिनके श्रीचरण कमल सर्वाभिलाष

यत्त्वियं श्रुतिः परव्योमप्रस्तावे उदाहृता, तत् खलु परमव्योम-गोलोकयोरेकतापत्त्यपेक्षयेति मन्तव्यम् । 'गो'-शब्दस्य सास्नादिमत्येव प्रचुर प्रयोगेण झटित्यर्थप्रतीतेः, श्रीगोलोकस्य ब्रह्म-संहिता-हरिवंश-मोक्षधर्म्मादिषु प्रसिद्धत्वाच्च । अथर्व्वसु च श्रीगोपालतापन्याम् (उ० २७)- "जन्मजराभ्यां भिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्योऽयं योऽसौ सौर्य्ये तिष्ठति, योऽसौ गोषु तिष्ठति, योऽसौ गाः पालयति, योऽसौ गोपेषु तिष्ठति" इत्यादि । सौर्य्यं इति सौरी यमुना तस्या अदूरभवे देशे श्रीवृन्दावन इत्यर्थः । सहस्रनामसु यामुन इत्यत्र हि तथा व्याख्यातं भाष्यकृद्भिः । आगमे च—"सकललोकमङ्गलो नन्दगोपतनयो देवता" इति । तदीयपरममहामन्त्र-गतऋष्यादिषु तदीयाराध्यत्वेन तस्य स्मरणम् । तदेवमुभयेषामपि नित्यपार्षदत्वे सिद्धे यत्तु शस्त्राघातक्षत-

पूरक है । उनका 'परम' प्रपञ्चातीत 'पद' स्थान बहुविध रूप में प्रकाशित है—यह विवरण ऋग्वेद में है । यजुर्वेद की माध्यन्दनीय श्रुति में उक्त है—"उस धाम की कामना करता हूँ । जो विष्णु का परम धाम है एवं बहुधा प्रकाशमान है ।

यद्यपि पाद्मोत्तर खण्ड में यह श्रुति परव्योम प्रतिपादक रूपमें उल्लिखित है, तथापि परव्योम एवं श्रीगोलोक में ऐक्य को मानकर ही परव्योम प्रस्ताव में उक्त श्रुति उल्लिखित है । कारण यह है कि गोशब्द का गलकम्बल विशिष्ट पशुमें भूरि प्रयोग दृष्ट होने से तादृश प्रणाली से ही सत्वर अर्थ की प्रतीति होती है, विशेष कर—ब्रह्मसंहिता—हरिवंश मोक्ष धर्म प्रभृति में श्रीगोलोक का वर्णन उक्त रूप में ही प्रसिद्ध है । अथर्ववेदीय श्रीगोपाल तापनी श्रुति में वर्णित है—

"जो जन्म जरा रहित हैं, त्रिकाल स्थायी, अपक्षय शून्य हैं, जो सूर्य्य मण्डल में अवस्थित हैं । गो समूह में अवस्थित हैं । जो गो पालन रत हैं, जो गोपगण के मध्य में अवस्थित हैं । "इत्यादि । उक्त श्रुतिसे सुस्पष्ट प्रमाणित हुआ है कि गोपादि के सहित श्रीकृष्ण श्रीवृन्दावन में नित्य अवस्थित हैं । उक्त श्रुतिस्थ "सौर्य्य" पद का अर्थ है—सौरी—यमुना, उसके अदूरवर्त्तिदेश श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण अवस्थित हैं । सहस्र नाम की व्याख्या में श्रद्धेय भाष्यकार आचार्य शङ्कर ने कहा है-"यामुन-यमुना के अदूरवर्त्ती देशमें स्थित ।'

आगम में भी वर्णित है—"सकल लोकमङ्गलो नन्द गोप तनयो देवता " इति । तदीय परम महामन्त्र गत ऋष्यादि में तदीय आराध्य रूप में ही श्रीकृष्ण का स्मरण हुआ है ।

उक्त प्रमाण समूह से प्रतिपन्न हुआ है कि—यादव वर्ग एवं गोपवर्ग- श्रीकृष्ण के नित्य परिकर हैं । ऐसा होने पर भी यादवगण, शत्रुकृत शस्त्राघात से क्षत हुये थे, गोपगण कालियह्रद के विषजल पान से मूर्च्छित हुये थे, श्रीवसुदेव-उद्धव तत्त्व जिज्ञासु हुये थे, कुरुक्षेत्र में श्रीवसुदेव-समागत मुनिवृन्द के निकट संसार निस्तारोपाय जिज्ञासा किये थे ।—इस प्रकार संशयास्पदविषयों का समाधान यह है कि—उक्त प्रसङ्ग समूह का विस्तार नर लीला का पोषक रूप से ही किया गया है, अर्थात् श्रीभगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रकार नरलीला के अभिप्राय से विविध मनुष्यवत् चेष्टा करते हैं, उनके परिकर वृन्द भी उनके नरलीलाके सहायक हैं आप सबने भी मनुष्योचित व्यवहार का प्रदर्शन किया है । उसका प्रकृष्ट उदाहरण भा० १०।५४।४२ श्रीरुक्मिणी के प्रति श्रीबलदेव वाक्य में है—'तवेयं विषमाबुद्धिः सर्वभूतेषुदुर्हृदाम् । यन्मन्यसे सदाभद्रं सुहृदां भद्रमज्ञवत् ॥

टीका—"पुनर्देवीं प्रत्याह--तवेयमिति । सर्वभूतेषु दुर्हृदाम्, अहितानां भ्रातॄणाम्--अज्ञवद् यद्भद्रं मन्यसे इच्छसि, इयं तव विषमा असमीचीना बुद्धिः : कुतः ? यत स्तदेव सुभद्रामभद्रमिति । यद्वाभूतेषु-

विषपानमूर्च्छातत्त्वबुभुत्सासंसारनिस्तारोपदेशास्पदत्वादिकं श्रूयते, तद्भगवत इव नरलीलौपयिकतया प्रपञ्चितमिति मन्तव्यम् । तथा (भा० १०।५४।४२) —"तवेयं विषमा बुद्धिः" इत्यादिकम् साक्षात् श्रीरुक्मिणीं प्रति श्रीबलदेववाक्ये, यच्च श्रीमदुद्धवमुद्दिश्य (भा० ३।२।३)— "स कथं सेवया तस्यकालेन जरसं गतः" इत्युक्तम्, तदपि चिरकालसेवातात्पर्य्यकमेव । (भा० १४।४५।१९) "तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिबलौजसः" इति विरोधात् । क्वचिच्च प्रकटलीलायाः प्रापञ्चिकलोकमिश्रत्वाद्यथार्थमेव तदादिकम् । यथा (भा० १०।५७।२१) शतधन्ववधादौ । उभयेषां विभागश्च श्रीदशमान्ते दृश्यते (भा० १०।९०।४३-४४,४५)—

दुर्हृदामपि स्व सुहृदां भद्रमेव दण्डरूपं मुण्डनम् अभद्रं यन्मन्यसे तवेयं विषमा बुद्धिः । अथवा सर्वभूतेषु मध्ये दुर्हृदां शिशुपालादीनामभद्रं सुहृदि भद्रञ्च यन्मन्यसे तवेयं विषमा बुद्धिः समा न भवति । अज्ञवत् अज्ञानामिव ।"

बलदेव कहे थे—"तुम अज्ञके समान—सर्वजन अहितकारी भ्रातृवर्ग की हित चिन्ता करती रहती हो, यह तुम्हारी असमीचीना बुद्धि है । कारण—उस प्रकार चिन्ता तुम्हारे भ्रातृ वर्ग के निमित्त अशुभकरी है ।" श्रीरुक्मिणी का भगवद्द्रोही भ्राता रुक्मी के प्रति रुक्मिणी की सहानुभूति को देखकर बलदेव उस प्रकार कहे थे । श्रीकृष्ण प्रेयसी रुक्मिणी देवी का—प्राणीमात्र के प्रति अनिष्टकारी के प्रति सहानुभूति प्रकाश नहीं हो सकता है । तादृश व्यक्ति में भ्रातृत्वबुद्धि, एवं तज्जनित हितानुसन्धान केवल नरलीला की मुग्धता है, अज्ञता नहीं है । भा० ३।२।३ में उद्धव को लक्ष्य कर कहा गया है—"सकथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः । हे राजन् ! शैशवावधि श्रीकृष्णसेवा करते करते कालक्रम से वृद्धत्व प्राप्त उद्धव,—श्रीविदुर कर्त्तृक जिज्ञासित होकर प्रत्युत्तर प्रदान में अक्षम हुये थे । कारण-आप निजप्रभु श्रीकृष्ण की विरहोत्कण्ठा से अत्यन्त अधीर हो गये थे ।" यहाँपर वृद्धत्व प्राप्ति की जो कथा है—वह कालकृत वार्द्धक्य सूचना के निमित्त नहीं है । किन्तु आप चिरकाल श्रीकृष्ण सेवा किये थे, उसको सूचित करने के निमित्त ही कहा गया है । भा० १०।४५।१९ में वर्णित है—

"तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानो ऽतिबलौजसः
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्भोजसुधां मुहुः ॥

महाराज ! कंसभयसे भीत होकर यदु, वृष्णि, अन्धक, मधु, कुकुर, प्रभृति वंशोद्भव व्यक्तिगण अन्यत्र चले गये थे । श्रीकृष्ण पुनर्वार उन सब को आनयन पूर्वक वित्त प्रदान करतः स्व स्व गृह में स्थापन किये थे । उन सब के मध्य में वृद्ध व्यक्ति गण भी श्रीकृष्ण मुखाम्भोजमधु को नयन के द्वारा पान कर अतिशय बलसम्पन्न युवा के समान सम्पन्न हुये थे ।'

श्रीकृष्ण दर्शन करके वयोवृद्ध यादवगण यदि युवक हो सकते हैं,—तब शैशवावधि श्रीकृष्ण सेवा परायण श्रीउद्धव का वृद्धत्व होना कैसे सम्भव होगा ? पक्षान्तर में - प्रकट लीला में प्रापञ्चिक लोक मिश्रण हेतु स्थल विशेष में मनुष्य के समान यथार्थ अज्ञता भी दृष्ट होती है । जिस प्रकार शतधन्वा बन्ध प्रभृति हैं— श्रीअक्रूर,—शतधन्वा के सहित मिलित होकर श्रीसत्यभामा के पिता को हत्या करने का उपदेश प्रदान किये थे । यहाँ अक्रूर की दुःसङ्ग जनित दुरभिसन्धि की कल्पना नहीं की जा सकती है, किन्तु प्रापञ्चिक लोक मिश्रण हेतु उस प्रकार संघटित हुआ था ।

दशमस्कन्ध के अन्त में ९०।४३।४४-४५ श्लोक में यादवों का आविर्भाव वर्णित है-देव एवं असुर के

"देवासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः ।
ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता बबाधिरे ॥३७६॥
तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले ।
अवतीर्णा कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप ॥३७७॥
ये चानुर्वर्त्तिनस्तस्य ववृधुः सर्व्वयादवाः ॥"३७८॥

इत्यनुवर्त्तिनां पृथङ्निर्द्देशात् । अन्तरङ्गानां भगवत्साधारण्यन्तु यादवानुद्दिश्योक्तम्—'मत्तुल्य-गुणशालिनः' इति, गोपानुद्दिश्य च—'गोपैः समानगुणशीलवयोविलासवेशैश्च' इति, पाद्मनिर्माणखण्डे—"गोपाला मुनयः सर्व्वे वैकुण्ठानन्दमूर्त्तयः" इति । यतो यो वैकुण्ठः श्रीभगवान्, स इवानन्दमूर्त्तयस्ते, ततस्तत्-परमभक्तत्वादेव मुनय इत्युच्यते, न तु मुन्यवतारत्वादिति ज्ञेयम् ।(भा० १०।१३।३९) "नैते सुरेशा ऋषयो न चैते" इत्यादिकं श्रीबलदेववाक्यञ्च भगवदाविर्भावलक्षण-गोपादीनां (भा० १०।१३।३७) "केयं वा कुत आयाता

संग्राम में निहत सुदारुण दैत्यगण मनुष्य लोक में राजन्य होकर उत्पन्न हुये थे, एवं प्रजापीड़न में रत थे। उक्त आसुरिक स्वभाव सम्पन्न नृपति वृन्द को संहार करने के निमित्त श्रीहरि के आदेश से देवगण यदुकुल में उत्पन्न हुये थे। अतएव यादव गण द्विविध हैं, देवरूपी, एवं नित्य पार्षद। यदुकुल में अवतीर्ण देवगण की संख्या अपरिमेय हैं। उस का विवरण १०।९०।४३-४४ श्लोक में है।

नित्य पार्षदगण की संख्या उक्त देव कुलोत्पन्न यादवों से अत्यधिक है। किन्तु भगवान् की इच्छाधीन है। उसका विवरण १०।९०।४५ में है, नित्य पार्षद यादवगण का अभ्युदय सर्वाधिक था। कारण वे सब भगवत् अनुवर्त्ती नित्य पार्षद थे" अभ्युदय एवं प्रभुत्व में वे सब अत्यधिक थे, किन्तु संख्या विषय में भगवान् हरि ही साक्षी है—अर्थात् साक्षात् द्रष्टा श्रीहरि ही थे—अपर कोई नहीं।

१०।९०।४५ में वर्णित है—ये च अनुवर्त्तिनस्तस्यववृधुः सर्वयादवाः" अतएव यादव गण-अनुवर्त्ती-नित्यपार्षद एवं सामयिक अवतार समय में लब्ध जन्मा यादव गण हैं। अनुवर्त्तिनां—शब्द प्रयोग से ही उभय में भेद सुस्पष्ट हुआ। अन्तरङ्ग भक्तगण की श्रीभगवत् तुल्य धर्मता का वर्णन यादवगण को लक्ष्य करके पद्म पुराण में उक्त है—

"मत्तुल्यगुण शालिनः" ये सब मेरे समान गुण शाली हैं। भगवत्तुल्य धर्मता के सम्बन्ध में उक्त है—'गोपैः समान गुण शीलवयो विलासवेशैश्च" समान गुण शील वयस बेष विशिष्ट गोपगण के सहित श्रीकृष्ण विहार करते हैं। पद्म पुराण के निर्म्माण खण्ड में लिखित है—गोप समूह—मुनि हैं—कारण वे सब वैकुण्ठानन्द मूर्त्ति हैं। अर्थात् वैकुण्ठ भगवान् जिस प्रकार आनन्द मूर्त्ति हैं, तदीय परिकर गोप समूह भी उस प्रकार आनन्द मूर्त्ति हैं। श्रीभगवान् के परमभक्त होने के कारण गोपगण—आनन्द मूर्त्ति हैं,—अतएव गोपगण को मुनि कहा गया है। मुनि गण का अवतार होने के कारण उन सब को मुनि नहीं कहा गया है।

भा० १०।१३।३९ में श्रीबलदेव ने कहा है—'नैते सुरेशा ऋषयो न चैते, त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि' गोपगण एवं वत्स समूह—देवता एवं ऋषि नहीं हैं, भेदाश्रय होने पर भी तुम ही सब के मध्य में प्रकाशित हो रहे हो। अर्थात् ब्रह्मा कर्त्तृक श्रीकृष्ण के सखा गोप बालक एवं वत्सगण अपहृत होने से श्रीकृष्ण निज

दैवी वा नार्य्युतासुरी" इत्यादि-प्राप्तमन्यत्वमेव निषेधति, न तु पूर्व्वेषाञ्च तद्विदधाति, कल्पनागौरवादिति ज्ञेयम्,— (भा० १०।१२।११) "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या" इत्यादेः, (भा० १०।१४।३४) "तद्भूरिभाग्यम्" इत्यादेश्च । युक्तञ्चैषां तद्‌साद्दश्यम्, (भा० ६।३।१७) —

स्वरूप से ही गोपादि प्रकाश कर उन सब के सहित क्रीड़ा करते थे । तज्जन्य श्रीबलराम ने कहा—तुम ही प्रकाशित हो। इस वाक्य से निर्णय हुआ कि—गोपगण श्रीकृष्ण के आविर्भाव विशेष हैं । भा १०।१४।३४ में कथित है—

"केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्य्युतासुरी
प्रायो मायान्तु मे भर्त्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी ।'

इस श्लोक में गोपगण—श्रीकृष्ण माया द्वारा रचित हैं, इस प्रकार धारणा निरस्ता हुई है । जो सब वत्स वत्सपालक ब्रह्मा की माया द्वारा अभिभूत थे, वे सब मुनि एवं देवांश सम्भूत हैं एवं श्रीकृष्ण जो सब वत्स बालक आविर्भूत किये थे—वे सब मुनि एवं देवता के अंश सम्भूत नहीं हैं—इस प्रकार निर्द्धारण नहीं हुआ है । उस प्रकार निर्द्धारण करने से कल्पना गौरव होगा ।

भा० १०।१२।११ में कहा गया है—'इत्थंसतां ब्रह्मसुखानुभूत्या, दास्यं गतानां पर दैवतेन, मायाश्रितानां नर दारकेण सार्द्धंविजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ।

वृहत् क्रमसन्दर्भः—एवं भगवता सह क्रीड़ती व्रजबालानाम् प्रशंसन्नाह—इत्थं सतामित्यादि । मायाश्रितानां मायया कैतवेन आश्रितानां निष्कैतवानां सतामुत्तमानां दास्यं गतानां भक्तानां मध्ये कृतपुण्य पुञ्जाः, कृतं कारितं पुण्यपुञ्जं यैः, अर्थविद्रष्टॄणां श्रोतॄणाञ्च, ते गोपबाला नरदारकेण-नरदारकाकारेण तेन कृष्णेन सममित्थं विजह्रुः । कीद्दशेन ? ब्रह्मसुखानुभूत्या ब्रह्मसुखानुस्वरूपेण, अथवा, एकदेश-स्त्रीत्वाद् स्वमत्यै पुरुषायेतिवत् पुंलिङ्गेऽपि स्त्रीवद्रूपम् । नरदारकाकृतिना ब्रह्मानन्दज्ञानेन--भा० ७।१०।४८, ७।१५।७५ गूढ़ं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् इत्याद्युक्तेः । पुनः कीदृशेन ? पर दैवतेन-सार्द्धं विजह्रुः । ब्रह्मसुखानुभूत्येति करणे तृतीया । तत्र विहारे तेषां य आनन्द आसीत्,सैव ब्रह्मसुखानुभूति स्तया । विशेषणे वा तृतीया । कीद्दशेन नरदारकेण ? 'नृ विक्षेपे' नरोविक्षेपः, तस्य दारकेण—खण्डकेन ।

अथवा, सतां ज्ञानिनां ब्रह्मसुखानुभूत्या,, तेऽपि तद्व्यतिरिक्तमन्यद् ब्रह्मेति न जानन्तीत्यर्थः । दास्यं गतानां परदैवतेन-परमेश्वरेण पूर्ववन्मायाश्रितानां रागिणां नरदारकेण-विक्षेपखण्डकेनपरमनिवृत्तिकारिणां नरबालकपक्षेऽनुत्कर्षादि चमत्कारः ।।'

श्रीभगवान् के सहित क्रीड़ारत व्रजबालकों की प्रशंसा करते हैं । इत्थं सतां वाक्य के द्वारा । कैतव पूर्वक आश्रित—एवं निष्कैतव भाव से आश्रित—सज्जनों के मध्य में दास्य भावाश्रित भक्तगण के मध्यमें जो सब अतिशय पुण्यशाली हैं, जिन्होंने उत्तम पदार्थों को जाना है एवं श्रवण भी किया है--इस प्रकार गोपबालक गण-नरबालकाकृति नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्णके सहित क्रीड़ा करते हैं । कीद्दशेन-ब्रह्मसुखानुभूति स्वरूप के सहित । नरदारकाकृति ब्रह्मानन्द ज्ञान के सहित क्रीड़ा करते रहते हैं, भा० ७।१०।४८, ७।१५।७५ में उक्त है—"गूढ़ं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" पुनः कीद्दशेन ? परदैवत रूप के सहित—परोपदेवताधिदेवके सहित, अथवा परदैवत के सहित क्रीड़ा करते हैं, ब्रह्मसुखानुभूत्या—करण में तृतीया है, श्रीकृष्ण के सहित विहार में जो आनन्द है, वह ही ब्रह्म सुखानुभूति है, उसके सहित ही क्रीड़ा करते रहते हैं । किस प्रकार नरदारक के सहित क्रीड़ा करते रहते हैं ? नृ विक्षोपार्थकधातु है—नरो विक्षेपः—उस को जो खण्डन करते हैं, अथवा सतां—ज्ञानि गणकी जो ब्रह्म सुखानुभूतिहै—उसके सहित, ज्ञानिगण—भी उससे अतिरिक्त कोई ब्रह्म हैं—इस प्रकार नहीं जानते हैं । दास्य प्राप्त जनगण के परदैवत—परमेश्वर के सहित क्रीड़ा करते रहते हैं । पूर्ववत् मायाश्रित रागियों का विक्षेपापनोदनकारी के सहित क्रीड़ा करते हैं, एवं परम निर्वृति कारियों

"तस्यात्मतन्त्रस्य हरेरधीशितुः, परस्य मायाधिपतेर्महात्मनः ।
प्रायेण दूता इह वै मनोहरा,–श्चरन्ति तद्रूपगुणस्वभावाः ॥" ३७९॥

इति श्रीयमवाक्याद्यनुगतत्वात्, दृष्टञ्च यथा प्रथमे (भा० १।११।११)–"प्राविशत् पुरम्' इत्यारभ्य (भा० १।११।१२) "मधुभोजदशार्हार्ह-कुकुरान्धकवृष्णिभिः । आत्मतुल्यबलैर्गुप्ताम्"

के निमित्त नरबालक अर्थ करने पर उत्कर्ष की सम्भावना नहीं है, एवं चमत्कार भी नहीं है ।

भा० १०।१४।३४ में श्रीब्रह्माने कहा भी है—

"तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रि रजोभिषेकम् ।
यज्जीवितन्तु निखिलं भगवान् मुकुन्द स्त्वद्यापि यत् पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥"

टीका—अतो मया प्राथितं तदस्तु मे नाथ स भूरिभाग इतियत् तदेतदेवेत्याह तत्रापि अटव्यां यत्, तत्रापि गोकुले यत् । अहो सत्यलोकं विहाय अत्र जन्मनि जाते को लाभोऽत आह--अपि कतमाङ्घ्रि--रजोऽभिषेकमिति । गोकुलवासिनां मध्येऽपि कतमस्य यस्य कस्याप्यङ्घ्रि रजसा अभिषेको यस्मिंस्तत् । ननु कुतो गोकुलवासिन एव धन्यास्तत्राह यदिति । येषां जीवितं निखिलं भगवान् मुकुन्दः, मुकुन्दपरमेव जीवन मित्यर्थः । दुर्लभतामाह--अद्यापीति । श्रुतिमृग्यं वेदैरपि मृग्यत एव नतु दृश्यत इत्यर्थः ॥

भगवन् ! मैंने जो कुछ प्रार्थना की है, उसका फल स्वरूप मैं इसको ही भूरि भाग्य मानता हूँ । मुझ को इस गोकुल में नगण्य जन्म प्रदान करें । ब्रह्म शरीर से व्रजवासियों का आनुगत्य स्वच्छन्द रूपसे नहीं हो सकता है । यदि यहाँपर जन्मान्तर लाभ नहीं होता तो, अतः आप कृपा करें, जिस से यहाँ की अटवी में यत् किञ्चित् जन्म लाभ करूँ । ब्रह्मा जन्म से भी उसको भूरिभाग्य मानूँगा । वह क्या है ? व्रज वृन्दावन में मनुष्य जन्म हो, अति तुच्छ जन्म क्यों न हो, सत्य लोक की सुख सुविधा प्रभुत्व को छोड़कर वृन्दावन में मनुष्य जन्म लेने का अभिलाषी क्यों होते हो ? कहते हैं ब्रह्मा जन्म भूरि भाग्य का द्योतक नहीं है । किन्तु व्रज वृन्दावन में यत् किञ्चित् जन्म ही सौभाग्य का द्योतक है । गोकुल में यत् किञ्चित् जन्म होगा, उसमें भी अटवी में होगा, उससे गोकुल वासियों की चरण रज से अभिषिक हो सकूँगा, ब्रह्मा तुम क्या कहते हो, यह ही तुम्हारा अभिलषणीय है,गोकुल वासियों की जिस किसी की चरण धूलि को प्राप्त करूँ ? कारण-जिन गोकुल वासियों का जीवित मुकुन्द है,प्राण, जाति धनादि सब कुछ ही मुकुन्द हैं, मैं तो मुकुन्द हूँ, मुझ को तुमने प्राप्त कर ही लिया है, अपर अभिलाष तुच्छ वस्तु का क्यों करते हो ? कहते हैं-जिनके चरण रज का अन्वेषण श्रुतिगण करते रहते हैं । आप भगवान् मुकुन्द हैं, आपकी चरणधूलि श्रुति प्राप्त कर नहीं पाती है, केवल ढूँढ़ती रहती है । किन्तु गोकुल वासियों ने तो सर्वथा अपना ही लिया है । अतः इनसब की चरणधूलीसे अभिषिक्त होना ही परम जन्म सौभाग्य है ।

इससे प्रतिपन्न हुआ गोपगण श्रीकृष्ण के नित्य सहचर हैं । श्रीकृष्ण का सर्वथा सादृश्य गोपगण के सहित है—यमराजने भा० ६।३।१७ में दूतगण को कहा है—"उन परम स्वतन्त्र अधीश्वर मायाधिपति महात्मा सर्वनियामक श्रीहरि के मनोहर दूतगण—रूप, प्रभावादि गुण एवं भक्त वात्सल्यादि स्वभाव समूह के द्वारा सर्वथा श्रीहरि के तुल्य हैं, वे सब भक्तरक्षा हेतु सर्वत्र भ्रमण करते रहते हैं," इस वाक्य प्रमाण से भगवत् पार्षद मात्र की ही श्रीभगवत् के तुल्य गुणशालिता होती है । यह प्रतिपन्न हुआ । भा० १।११।११ के वर्णन में भी पार्षद वृन्दों का भगवत् सादृश्य दृष्ट होता है । श्रीकृष्ण का द्वारकापुर प्रवेश प्रसङ्ग में उक्त है—"मधु भोजदशार्हार्ह कुकुरान्धक—वृष्णिभिः । आत्मतुल्यैर्बलै गुप्तां नागैर्भोगवतीमिव ।

नागवृन्द के द्वारा सुरक्षित भोगवती पुरी के समान बिज्ञ तुल्य बलशाली मधुभोजयादव, अर्ह कुकुर

इत्यादौ । अतएव ब्रह्मणा हृतेषु बालवत्सेषु भगवता नान्येषां तत्तद्रूपाणां सृष्टिः, किन्तु स्वेनैव तत्तद्रूपताप्राप्तिरित्युक्तम् । अतएव (भा० १०।१८।११)—

गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणम् ।
ईड़िरे कृष्णं रामञ्च नटा इव नटं नृपः ॥" ३८०॥

इत्यत्र साम्यमेव सूचितम् । अर्थश्च—देवाः श्रीकृष्णावरणे (भा० ११।१६।२१) "मद्भक्त-पूजाभ्यधिका" इति न्यायेन तद्वद्देवोपास्या अपि श्रीदामादयो गोपजात्या प्रतिच्छन्ना अन्य-गोपसामान्यभावेन प्रायस्तादृशतया लक्षयितुमशक्याः । तत्र कृष्णं रामञ्च गोपालरूपिणमिति दृष्टान्तगर्भे यथा तादृशावपि तौ तद्रूपिणौ तथा तेऽपीत्यर्थः । अत्र देवा इत्यनेन महत्त्वसाम्यम् । गोपालरूपिणमित्यनेन प्रकृतिवेश-लीला-साम्यम्, नटा इव नटमित्यनेन गुणसाम्यञ्चाभि-प्रेतमिति । तत्र यादवादीनां तत्पार्षदत्वं योजयति (भा० १०।८५।२३)—

(११७) "अहं यूयमसावार्य्य इमे च द्वारकौकसः ।
सर्व्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृग्याः सचराचरम् ॥" ३८१॥

(वंशविशेष) अन्धकगण, कर्त्तृक रक्षित द्वारका पुरी में श्रीकृष्ण प्रविष्ट हुये थे ।" इस श्लोक में यादवगण की श्रीकृष्णतुल्यबलशालिता का वर्णन हुआ है ।

अतएव ब्रह्मा कर्त्तृक अपहृत वत्सबालकों की सृष्टि भगवान् ने माया द्वारा नहीं की है, किन्तु स्वयं ही तत्तद्रूप हुये थे ।

भगवत् परिगणों का सर्वथा भगवत् सादृश्य हेतु—वक्ष्यमाण श्लोक में गोपगण की श्रीकृष्ण तुल्यता सूचित हुई है । भा० १०।१८।११ में उक्त है— हे नृप ! नट जिस प्रकार नट का स्तव करता है, गोप जाति प्रतिच्छन्न देवगण भी तद्रूप गोपाल रूपी रामकृष्ण का स्तव किये थे । यहाँपर ,देवता' शब्द के द्वारा श्रीकृष्ण सखागण अभिहित हुये हैं ।

भा० ११।१६।२१ के वर्णनानुसार श्रीदामादि कृष्ण सखागण—"मद्भक्त पूजाभ्यधिका" इस नियम से 'मेरी पूजा से मेरी भक्त की पूजा सर्वश्रेष्ठा है—"आदरः परिचर्य्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् । मद्भक्त पूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ।"

श्रीकृष्ण सखागण—श्रीकृष्ण के समान उपास्य होने से भी, वे सब गोप जाति द्वारा प्रतिच्छन्न हैं, अर्थात् अपर गोप के समान वेश व्यवहार विशिष्ट हैं;—अतः श्रीकृष्ण तुल्य उपास्य का बोध सहसा नहीं होता है । "गोपाल रूपी रामकृष्ण" भा० १०।१८।११ श्लोक में उक्त है, यह वाक्य दृष्टान्त गर्भ है, अर्थात् श्रीकृष्ण-स्वयं भगवान् एवं श्रीबलराम मूल सङ्कर्षण—होने पर भी उभय ही जिस प्रकार गोपाल रूपी हैं, भगवन्नित्य पार्षद श्रीदामादि भी उस प्रकार गोप रूपी हैं । उक्त श्लोकस्थ 'देव' पद के द्वारा श्रीकृष्ण के सहित गोपवृन्द का माहात्म्य साम्य सूचित हुआ है । 'गोपाल रूपिणम्' पदके द्वारा प्रकृति, वेश लीलासाम्य भी सूचित हुआ है, एवं 'नटशब्द के द्वारा गुण साम्य प्रदर्शित हुआ है ।

'यादव प्रभृतिओं का श्रीकृष्ण पार्षदत्व प्रतिपादन करते हैं,—भा० १०।८५।२३ में वर्णित है— श्री-कृष्ण वसुदेव को कहे थे—हे यदुश्रेष्ठ ! मैं, आप सब, एवं आर्य्य, श्रीबलराम, एवं द्वारका वासि चराचर समूह ब्रह्म स्वरूप—ईश्वर तत्त्व रूप हैं, एवं पुरुषार्थ रूप में अन्वेषणीय हैं । उक्त श्लोक की व्याख्या इस प्रकार है—

यूयं श्रीमदानकदुन्दुभ्यादयः, विमृग्याः परमार्थरूपत्वादन्वेषणीयाः। तथान्यदपि द्वारकौको स्थावरजङ्गमसहितं यत्किञ्चित्तदप्यन्वेष्यम्। अहं श्रीकृष्ण इति दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तम्। ततश्च नराकार-परब्रह्मणि स्वस्मिन्निव तन्नित्यपरिकरे सर्व्वत्रैव परमपुरुषार्थत्वमिति भावः। तस्माद् यथा पूर्व्वं (भा० १०।८५।१३) "सत्त्वं रजस्तमः" इत्यादिना सत्त्वादिगुणानां तद्-वृत्तीनाञ्च ब्रह्मणि त्रैकालिकस्पर्शासम्भवान्माययैव तदध्यासो भवता वर्णितस्तथा दृष्टिरत्र तु न कार्य्येति तात्पर्य्यम्॥

११८। लौकिकाध्यात्मगोष्ठीत्येवमेवेत्याह द्वयेन। तत्र प्रथमेन यथा (भा० १०।८५।२४)

(११८) "आत्मा ह्येकः स्वयं ज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते॥"३८२॥

आप सब—श्रीवसुदेव प्रभृति, पारमार्थिक सत्य वस्तु हेतु अन्वेषणीय हैं, अपर—द्वारकावासी स्थावर जङ्गम यावतीय वस्तु समूह, तद्रूप अन्वेषणीय हैं। द्वारकास्थित समस्त वस्तु पारमार्थिक सत्य हैं, इस को दर्शाने के निमित्त श्रीकृष्ण, स्वयं को दृष्टान्त रूप में उपन्यस्त किये हैं, उससे प्रतिपन्न हुआ कि नराकृति पर ब्रह्म--श्रीकृष्ण के समान तदीय नित्य परिकर वर्ग भी नित्य परमपुरुषार्थ स्वरूप हैं। पुरुषार्थ वस्तु का अन्वेषण लोक करते हैं—श्रीकृष्ण—परमपुरुषार्थ वस्तु होने से जिस प्रकार अन्वेषणीय हैं, तद्रूप उनके परिकर वर्ग भी पुरुषार्थ वस्तु हेतु अन्वेषणीय हैं, अर्थात् श्रीकृष्ण प्राप्ति यद्रूप प्रयोजनीय है, तद्रूप तदीय परिकर गण की प्राप्ति भी प्रयोजनीय तत्व है।

सपरिकर श्रीकृष्ण प्राप्ति से ही समधिक आनन्दलाभ है। केवल श्रीकृष्ण प्राप्ति से लीलारस आस्वादन की सम्भावन नहीं है।

अतएव—भा० १०।८५।१३ में वर्णित है—

'सत्त्वं रज, स्तम गुणत्रय, महत्तत्त्वादि गुण वृत्ति--अर्थात् गुण परिणाम समूह—योगमाया के द्वारा साक्षात् परब्रह्मरूप आप में कल्पित है" इस श्लोक के द्वारा सत्त्वादि गुण एवं गुण वृत्ति समूह का सम्बन्ध कालत्रय में असम्भव हेतु ब्रह्म में उक्त समूह अध्यस्त हैं। इस प्रकार श्रीवसुदेवकी उक्ति में अध्यास वाद स्थापित हुआ है, किन्तु भगवत् परिकरगण में तद्रूप गुण वृत्तिका अध्यास अस्वीकृत है।

असर्पभूते रज्जौ सर्पारोपवत् वस्तुनि—अवस्त्वारोप अध्यारोपः। जो सर्प नहीं है, रज्जु है, उस रज्जु में सर्पारोप के समान वस्तु में अवस्तु का आरोप—अध्यारोप है। अध्यारोप का अपर नाम-अध्यास है—अध्यास भ्रम है, वस्तु—ब्रह्म है। माया एवं माया कल्पित वस्तु समूह अवस्तु हैं॥११७॥

लौकिक आध्यात्मिक गोष्ठी में अध्यास वाद स्वीकृत है, जहाँ पर साधारण मानव आत्मतत्त्व की आलोचना करता है, वह लौकिक अध्यात्म गोष्ठी है, गोष्ठीस्थ जनगण लीलानभिज्ञ होते हैं, अतएव मानते हैं—ब्रह्म, मायाशवलित होकर बहुधा प्रकाशित होते हैं, वस्तुतः वैसा नहीं है,—परमेश्वर--शक्ति समन्वित तत्त्व हैं, चिच्छक्ति, जीवशक्ति, माया शक्ति के द्वारा अनन्त वैकुण्ठ, एवं अनन्त ब्रह्माण्ड में बिचित्र लीला करते रहते हैं। पार्षदगण--स्वरूप शक्ति के विचित्र विलास रूप हैं। एवं जीव शक्ति तथा माया शक्ति के द्वारा विचित्र विश्व की सृष्टि होती है।

अत्र द्वारकायामिति प्रकरणेन लभ्यते । हि यस्मादेक एवात्मा मल्लक्षणं भगवत्त्वमात्मसृष्टैः स्वरूपादेवोल्लसितैर्गुणैः स्वरूपशक्तिवृत्तिविशेषैः कर्त्तृभिस्तत् कृतेषु तस्मिन् स्वरूपे एव प्रादुर्भावितेषु भूतेषु परमार्थसत्येषु द्वारकान्तर्वर्त्तिवस्तुषु बहुधा तत्तद्रूपेणईयते प्रकाशते । सहस्रनामभाष्ये—"लोकनाथं महद्भूतम्" इत्यत्र च भूतं परमार्थसत्यमिति व्याख्यातम् । तथा तथा च प्रकाशः स्वरूपगुणापरित्यागेनैवेत्याह—स्वयञ्ज्योतिः स्वप्रकाश एव सन्, नित्य एव सन्, अन्यः प्रपञ्चेऽभिव्यक्तोऽपि तद्विलक्षण एव सन्, निर्गुणः प्राकृतगुणरहित एव सन्निति ।

११९। तर्हि कथं भवत आत्यन्तिकं सममेवात्र सर्वमित्याशङ्क्य तथापि मय्यस्ति वैशिष्ट्य-मित्याह (भा० १०।८५।२५)—

(११९) "खं वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम् ।
आविस्तिरोऽल्पभूर्य्येको नानात्वं यात्यसावपि ॥" ३८३॥

सत्कार्य्यवादाभ्युपगमात्तस्य कारणानन्यत्वाभ्युपगमाच्च । यथा खादीनि भूतानि तत्

यहाँ पारमार्थिक विचार गोष्ठी है, भगवत् परिकर गण की तत्त्वालोचना यहाँपर होती है । उस में व्यवहारिक अध्यास बाद की सम्भावना नहीं है, लौकिक अध्यात्म गोष्ठी में अध्यास की कथा होती है, उसका वर्णन उक्त अध्याय के श्लोकद्वय में है, आत्मास्वयं ज्योति रूप नित्य निर्गुण हैं, निज सृष्ट गुण के द्वारा रचित देह समूह में विविधरूप में प्रकाशित हैं ।

भा० १०।८५।२४ में श्लोक उक्त है-स्थूल दृष्टि से उक्त श्लोक का अर्थ ब्रह्म ज्ञान पर होने पर भी प्रकरण पर्य्यालोचना से अन्यार्थ होता है । यहाँ परिकर वृन्दों का भगवत् सादृश्य निर्णय हो रहा है । तदनुसार उक्त श्लोक की व्याख्या इस प्रकार है—आत्मा, स्थान विशेष में निजसृष्ट गुण समूह के द्वारा देह समूह में बहुधा प्रकाशित होते हैं, श्लोक में उसका उल्लेख न होने पर भी द्वारका में उक्त रूप में प्रकाशित हैं, प्रकरणानु सन्धान से उक्तार्थ का बोध होता है । परिकरगण श्रीभगवत सदृश हैं । कारण, एकमात्र आत्मा भगवतत्त्व हैं, आत्मसृष्ट--स्वरूप से उल्लसित गुण--स्वरूप शक्ति के वृत्ति विशेष रूप गुण समूह—तद् द्वारा उस स्वरूप में ही प्रादुर्भूत--भूत---पारमार्थिक सत्य द्वारकास्थित वस्तु समूह में--स्थावर जङ्गमरूप विविध वस्तु रूप में बहुधा प्रकाशित होते हैं ।

"भूत" शब्द का---परमार्थ सत्य है, यह अर्थ स्वकपोल कल्पित नहीं है, सहस्र नाम भाष्य में आचार्य्य श्रीशङ्कर ने 'लोकनाथं महद्भूतं" की व्याख्या में कहा है--भूत--परमार्थ सत्य ।

श्रीभगवान् बहुधा प्रकाश प्राप्त होने से भी कभी भी स्वरूप एवं स्वरूपानुबन्धि गुण को परित्याग नहीं करते हैं, उस को कहते हैं—श्लोकस्थ 'स्वयं ज्योतिः' के द्वारा,—स्वयं ज्योतिः—स्व प्रकाश, नित्य-अन्य अर्थात् प्रपञ्च में अभिव्यक्त होकर भी प्रपञ्च धर्मातीत है, निर्गुण--प्राकृतगुण रहित है, किन्तु स्वरूपानुबन्धि अनन्तगुण पूर्ण होकर विद्यमान हैं ॥११८॥

द्वारकास्थित वस्तु समूह सब प्रकार से आपके समान ही हैं ? समाधान हेतु कहते हैं—द्वारकास्थित वस्तु समुह मेरी स्वरूप शक्ति की वृत्ति स्वरूप हैं, तथापि उक्त समूह वस्तुसे मुझ में वैशिष्ट्य है,—भा० १०।८५।२५ श्लोक के द्वारा कहते हैं—"आकाश, वायु, तेज, जल पृथिवी जिस प्रकार तद्रचित वस्तु समूह में यथा योग्य रूपसे अल्पभूरि एक अनेक,—विविध रूप में आविर्भूत तिरोभूत होते हैं । उस प्रकार आत्माभी बहुधा अनेक रूपों में आविर्भूत तिरोभूत होते रहते हैं ।

कृतेषु तत्स्वरूपेणैव विकासितेषु वाय्वादिघटान्तेषु यथाशयं वाय्वाद्याविर्भावाद्यनुरूप-मेवाविर्भावादिकं यान्ति, न तु तेष्वधिकम् । यत्र यावान् वायुर्गृह्यते, तत्र तावानाकाशधर्म्मः शब्दोऽपि गृह्यते । यावज्ज्योतिस्तावानेव वायुधर्म्मः स्पर्शोऽपीत्यादिकं ज्ञेयम् । तथा स्वरूपेणैव विकासितेषु द्वारकावस्तुषु असौ भगवदाख्य आत्मापि । तस्मादहन्तु तत्तत्सर्व्वमयः सर्व्वस्मात् पृथक् परिपूर्णश्चेत्यस्ति वैशिष्ट्यमिति भावः । अनेन दृष्टान्तेन मत्त एवोल्लासिता मद्धर्म्मा एव ते भवितुमर्हन्ति, नत्वाकाशे धूसरत्वादिवन्मयि केवलमध्यस्था इति च ज्ञापितम् । अत्र यथा तथेति व्याख्यानमपि-शब्देन द्योत्यते ।। श्रीभगवान् श्रीमदानकदुन्दुभिम् ।।

१२०। अतएवाह (भा० १०। ८२।३०) —

(१२०) "तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प,-शय्यासनाशन-सयौन-सपिण्डबन्धः ।
येषां गृहेऽनिरयवर्त्मनि वर्त्ततां वः, स्वर्गापवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः ।।" ३८४।।

येषां वो युष्माकं वृष्णीनां गृहे विष्णुः श्रीकृष्णाख्यो भगवान् स्वयमात्मना स्वभावत एव

सत्कार्य वाद में कार्य्य को कारण से अभिन्न मानते हैं, आकाश प्रभृति भूतसमूह-तत्तद् भूतसमूह से उत्पन्न वस्तु समूह में यथायोग्य रूप में आविर्भूत होते रहते हैं। अर्थात् यावत् परिमाण वायु गृहीत होता होता है, तावत् परिमाण ही आकाश धर्म शब्द गृहीत ह ता है, ज्योति जिस परिमाण में गृहीत होती है, उस परिमाण में ही वायु धर्म स्पर्श भी गृहीत होता है। उससे स्वल्प एवं अधिक नहीं। इस प्रकार जल प्रभृति के सम्बन्ध में भी जानना होगा। तद्रूप स्वरूप द्वारा विकसित द्वारका वस्तु समूह में—उक्त भगवदाख्य आत्मा, यथायोग्य रूप में विद्यमान हैं। अतएव मैं श्रीकृष्ण सर्वमय हूँ, सकल वस्तु से पृथक् हूँ, एवं परिपूर्ण स्वरूप हूँ। द्वारकास्थित वस्तु समूह से मुझ में वैशिष्ट्य है।

इस दृष्टान्त से यह परिज्ञात होता है कि—मुझसे विकसित वस्तु समूह मेरा स्वरूप धर्मापन्न होने के योग्य हैं। आकाश—का वर्ण नहीं है, किन्तु उस में धूसर वर्ण अध्यस्त होता है, उस प्रकार मुझ में द्वारका स्थित वस्तु निचय का अध्यास अर्थात् मिथ्या प्रत्यय नहीं होता है। उक्त वस्तु समूह यथा अवस्थित रूप में नित्य हैं। श्लोक में सादृश्य वाचक यथा तथा शब्द का प्रयोग नहीं है, तथापि 'यात्यसावपि, वाक्यस्थित अपि शब्द के द्वारा सादृश्य अर्थ व्यञ्जित हुआ है।

श्रीभगवान् आनक दुन्दुभि को कहे थे ।।११९।।

यादव गणों की श्रीकृष्ण तुल्यता हेतु—कुरुक्षेत्र यात्रा में राजन्यवर्ग श्रीकृष्णाश्रित यादवगण को कहे थे—"आप सब के प्रपञ्चातीत भवन मे दर्शन, स्पर्श, अनुगमन, शय्या, कथन, आसन शयन, विवाह, सम्बन्ध, ज्ञाति सम्बन्धान्वित स्वर्गापवर्ग में वितृष्णा कारी श्रीकृष्ण सर्वदा अवस्थित हैं, आप सब के जीवन ही सार्थक है।

सन्दर्भस्थ श्लोक व्याख्या—वृष्णि वंशीय आप सब के भवन में श्रीकृष्णाख्य भगवान् किसी प्रकार हेतु की अपेक्षा न करके स्वभावतः ही निवास करते हैं। वह भवन किस प्रकार है ? वह अनिरय वर्त्म है,--अर्थात् प्रपञ्चातीत है, निरय--संसार—उसका मार्ग--प्रपञ्च--उस से भिन्न--प्रपञ्चातीत गृह में। आप सब कीदृश हैं ? आप सब श्रीकृष्ण में ही विराजित हैं, श्रीकृष्ण किस प्रकार हैं ? "स्वर्गापवर्ग विरमः हैं" जिनसे स्वर्ग एवं अपवर्ग मुक्तिके प्रति वितृष्णा होती है, अर्थात् जो निज भक्तगण को भगवद्बहिर्मुखतापादक स्वर्गप्रदान नहीं करते हैं, एवं भगवद् भक्ति सम्पर्कलेश हीन मोक्ष प्रदान भी नहीं करते हैं। उनसब भक्त

आस निवासं चक्रे, न त्वन्येन हेतुनेति तद्वासस्य स्वाभाविकत्वमेव दर्शितम्। कथम्भूते गृहे ? अनिरयवर्त्मनि निरयः संसारस्तद्वर्त्म प्रपञ्चः, ततोऽन्यस्मिन् प्रपञ्चातीत इत्यर्थः। कीदृशानाम् ? वस्तस्मिन्नेव वर्त्तमानानाम्। स्वयं कथम्भूतः ? स्वर्गापवर्गविरमः स्वर्गस्यापवर्गस्य च विरमो येन। यो निजभक्तेभ्यस्तद्वहिर्मुखताकरं स्वर्गं न ददाति, तद्भक्त्युदासीनं केवलमोक्षञ्च न ददाति, किन्तु तान् स्वचरणारविन्दतल एव रक्षतीत्यर्थः। येषां युष्माकं तु गृहे स एवम्भूत एवासेत्याह—तद्दर्शनेति। तस्य युष्मत्कर्त्तृकं दर्शनञ्च स्पर्शनञ्च अनुपथोऽनुगतिश्च, प्रजल्पो गोष्ठी च, तथा युष्मत् संवलिता शय्या शयनञ्च आसनञ्च अशनं भोजनञ्च तैर्विशिष्टश्चासौ सयौनसपिण्डबन्धश्चेति शाकपार्थिवादिवन्मध्यपदलोपी कर्म्मधारयः। तत्र वृष्णिभिः सह यौनबन्धो विवाहसम्बन्धः, सपिण्डबन्धो दैहिकसम्बन्धस्ताभ्यां सह वर्त्तमानोऽसाविति बहुव्रीहिगर्भता ॥ राजानः श्रीमदुग्रसेनम् ॥

१२१। किञ्च, (भा० १०।९०।४२) —

(१२१) "संख्यानं यादवानां कः करिष्यति महात्मनाम्।
यत्रायुतानामयुतलक्षेणास्ते सदाहुकः ॥" ३८५॥

आहुक उग्रसेनः, 'यत्रास्ते' इति वर्त्तमानप्रयोगेण तत्रापि सदेति नित्यतावाचकाव्ययेन तेषां नित्यपार्षदत्वं सुव्यक्तम् ॥ श्रीशुकः ॥

१२२। अतस्तेषां श्रीभगवत्पार्षदत्वे योग्यतामव्यभिचारित्वमपि दृष्टान्तेन स्पष्टयति (भा० १०।७०।१८)—

वृन्दको निज चरण सन्निधान में स्थापन करते हैं, वह श्रीकृष्ण हैं। आप सब के गृह में एवम्भूत श्रीकृष्ण विराजित हैं, आप सब उनका दर्शन, अनुगमन करते रहते हैं, उनके सहित कथोपकथन करते रहते हैं, आप सब के सहित श्रीकृष्ण, शयन, उपवेशन, भोजन एवं सयौन 'विवाह' सम्बन्ध एवं सपिण्ड सम्बन्ध स्थापन करते हैं। यहाँ 'सयौन सपिण्डबन्ध' पद में शाकपार्थिववत् मध्यपदलोपी कर्मधारय समास हुआ हैं, अर्थात् शाक प्रधान पार्थिव-यहाँ जिस प्रकार मध्य पदलोपी समास हुआ है, तद्रूप उक्त पद में भी समास हुआ है। उसमें इस समास की बहु व्रीहिगर्भता है। तज्जन्य अर्थ इस प्रकार होगा,—वृष्णिगण का यौन सम्बन्ध—विवाह सम्बन्ध, एवं सपिण्ड—दैहिक सम्बन्ध, एतदुभय सम्बन्ध के सहित वर्त्तमान जो श्रीकृष्ण हैं। इस श्लोक में यादव गणों का श्रीकृष्ण साम्य प्रदर्शित हुआ है। समान व्यक्ति के सहित एकत्र शयनादि सम्भव हैं, एवं सजातीय के सहित ही वैवाहिक सम्बन्ध एवं दैहिक सम्बन्ध होता है।

राजन्यवृन्द—श्रीमदुग्रसेन को कहे थे ॥१२०॥

यादववृन्द के नित्य पार्षदत्व के सम्बन्ध में भा० १०।९०।४२ में और भी वर्णित है, "महात्मा यादवों की संख्या कौन कर सकता है ? कारण—आहुक,—'उग्रसेन' तीन अयुत के अयुत लक्ष-अर्थात् तीन शङ्ख परिमित परिजन वर्ग के सहित सर्वदा अवस्थित हैं।

आहुक—उग्रसेन का नाम है। 'यत्रास्ते' श्लोक में वर्त्तमान क्रिया का प्रयोग हुआ है, उस में भी 'सदा' शब्द का प्रयोग हुआ है, इस नित्यत्व वाचक अव्ययपद के द्वारा यादवों का नित्य पार्षदत्व सुव्यक्त हुआ है।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—(१२१)

(१२२) "तत्रोपविष्टः परमासने विभु,-र्बभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन् ।
वृतो नृसिंहैर्यदूभिर्यदुत्तमो, यथोड़ुराजो दिवि तारकागणैः ॥" ३८६॥

स्पष्टम् । एवमेव दुर्योधनं प्रति स्वयं विश्वरूपं दर्शयता श्रीभगवता तेषां यादवादीनां निजावरणरूपत्वं दर्शितमित्युद्यमपर्व्वणि प्रसिद्धिः । श्रीशुकः ॥

१२३ । यश्चैषामेकादशस्कन्धान्ते तदन्यथाभावः श्रूयते, स तु श्रीमदर्जुनपराजय-विमोहपर्य्यन्तो मायिक एव । तथावचनञ्च ब्रह्मशापानिवर्त्यताख्यापनायैव गोब्राह्मण-हितावतारिणा भगवता विहितमिति ज्ञेयम् । दृश्यते च कूर्म्मपुराणे व्यासगीतायां सदाचार-प्रसङ्गे पतिव्रतामाहात्म्ये रावणहृतायाः सीताया मायिकत्वं यथा तद्वत् । तथाहि तदानीमेवाह (भा० ११।३०।४६)—

(१२३) "त्वन्तु मद्धर्म्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः ।
मन्मायारचितामेतां विज्ञायोपशमं व्रज ॥" ३८७॥

त्वन्तु दारुको ज्ञाननिष्ठो मदीयलीलातत्त्वज्ञः । मद्धर्म्मं मम स्वभक्तप्रतिपालयितृत्वरूपं

अतएव यादवों की श्रीभगवत् पार्षद योग्यता अव्यभिचारी है, अर्थात् कभी भी यादवगण भगवत् पार्षदत्व से वञ्चित नहीं होते हैं । दृष्टान्त के द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं, भा० १०।७०।१८ में उक्त है— 'सुधर्मासभामें विभु श्रीकृष्ण श्रेष्ठासन में नरश्रेष्ठ यादवगणों से परिवृत होकर उपविष्ट हैं । एवं निज प्रभाके द्वारा दिक् समूह को उद्भासित करतः तारका वेष्टित शशधर के समान शोभित हैं ।"

जिस प्रकार तारका निकर के सहित चन्द्रका विच्छेद कभी नहीं होता है, उस प्रकार यादवगणों के सहित श्रीकृष्ण का विच्छेद कभी नहीं होता है । एवं तारकानिकर की चन्द्र के सहित अवस्थिति योग्यता के समान यादवों की श्रीकृष्ण पार्षद योग्यता है । यहाँ दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक सुस्पष्ट है ।

महाभारत के उद्यमपर्व में प्रसिद्ध वर्णन यह है--दुर्योधन के समक्ष में श्रीकृष्ण जब विश्वरूप प्रदर्शन किये थे, तब यादवों का प्रदर्शन निजावरण रूप में किये थे । प्रवक्ता श्रीशुक हैं—(१२२)

भा० ११।३०।४६ श्लोक में यादवों का पार्षदत्व का अन्यथा वर्णन दृष्ट होता है, अर्थात् "मैरेय मधु पान करने के पश्चात् यादवों का बुद्धिनाश हुआ, एवं परस्पर कलह लिप्त होकर प्राण त्याग किये थे," भगवत् पार्षद होने से उक्त प्रसङ्ग कैसे सम्भव होगा ? केवल यह ही नहीं, अपितु भगवत् परिकरों में जो कुछ सम्भव नहीं है, ऐसा भी अनेक प्रसङ्ग हैं, अतएव उसका समाधान क्या होगा ? उत्तर में कहते हैं,— यह सब पार्षद विरुद्ध धर्म हैं, किन्तु यथार्थ नहीं हैं, श्रीअर्जुन पराजय, विमोह पर्य्यन्त सब कुछ इन्द्रजाल के समान माया कल्पित हैं । प्रश्न हो सकता है कि—श्रीमद् भागवत में उक्त लीला समूह का सङ्कलन क्यों हुआ ? उत्तर,—ब्रह्म शाप का अन्यथा कभी नहीं होता है, इस को सूचित करने के निमित्त, गो ब्राह्मण हितार्थ अवतीर्ण स्वयं भगवान् उक्त यादवों की मत्तता प्रभृति की व्यवस्था किए थे । केवल यहाँपर ही नहीं अपितु वृहदग्नि पुराण में वर्णित है—रावण कर्त्तृक—अपहृता सीता माया कल्पिता थी, वृहदग्नि पुराण में—उक्त है—

"सीतया राधितो वह्निः छाया सीतामजीजनत् ।
तां जग्राह दशग्रीवः सीता वह्निपुरं गता ।"

स्वतुल्यपरिकरसङ्गित्वरूपञ्च स्वभावमास्थाय विश्रभ्य एतामधुना प्रकाशितां सर्व्वामेव मौषलादिलीलां मम माययैव इन्द्रजालवद्रचितां विज्ञाय उपेक्षको वहिर्दृष्ट्या जातं शोकमुपेक्षमाण उपशमं चित्तक्षोभान्निर्वृत्तिं व्रज प्राप्नुहि। 'तु'—शब्देनान्ये तावन्मुह्यन्तु तव तु तथा मोहो न युक्त एवेति ध्वनितम्। अत्र श्रीमद्दारुकस्य स्वयं वैकुण्ठावतीर्णत्वेन

सीताकर्त्तृक आराधिता वह्नि-छाया सीता का उद्भावन किये थे, रावण ने उसका अपहरण किया, श्रीराम पत्नी सीता अग्निपुरीमें गमन किये थे। लङ्काविजय के पश्चात् अग्निपरीक्षार्थ सीता होने पर यथार्थ सीता का आविर्भाव हुआ था,' सीता हरण लीला यद्रूप मायिक है, तद्रूप मौषल लीला भी मायिक है, कूर्म्मपुराणस्थ व्यास गीता में सदाचार प्रसङ्ग के पतिव्रता माहात्म्य में रावण कर्त्तृक अपहृता सीता का मायिकत्व वर्णन है। मौषल लीला का विवरण इस प्रकार है—

श्रीकृष्ण के आदेश से यादवगण पिण्डारक तीर्थ में यज्ञानुष्ठान किये थे, वहाँपर आमन्त्रित विश्वामित्र कण्व असित प्रभृति अनुष्ठान समापनानन्तर निजाश्रम में प्रत्यावर्त्तनोन्मुख थे, तब यदुकुलस्थ दुर्विनीत बालकगण साम्ब को स्त्रीवेश में मुनिगण के समक्ष में उपस्थित कर पूछे थे—गर्भिणी—पुत्र अथवा कन्या प्रसव करेगी ? दुर्व्यवहार से मुनिगण कुपित होकर कहे थे—कुलनाशन मुषल प्रसव करेगी।

बालकगण साम्ब के उदरस्थ वस्त्रापसारण कर देखे थे—मुषल है, वे सब भीत होकर उग्रसेन के निकट मुषल उपस्थापित किये थे। उग्रसेन ने मुषल को चूर्ण कर समुद्र में निक्षेप करने का आदेश दिया। चूर्णावशेष लौह खण्ड भी जल में निक्षिप्त हुआ। निक्षेप मात्र से ही मत्स्य ने उसे निगल लिया। चूर्ण समूह तरङ्गाघात से तीरदेश में सञ्चित हुये थे। उससे एरका नामक तृणोत्पन्न हुआ लौह खण्ड ग्रस्त मत्स्य जाल बद्ध होने से उसके उदर से लोहखण्ड निष्कासित हुआ था उसको जरा नामक व्याधने शराग्र भागमें निबद्ध किया था।

कियत् कालानन्तर श्रीकृष्ण द्वारका परिकरवृन्द के सहित प्रभासतीर्थ में उपस्थित हुये थे। वहाँ यादवगण मैरेय मधुपान से मत्त हो गये थे एवं श्रीकृष्ण माया विमोहित होकर पारस्परिक कलह में प्रवृत्त हुये थे, एवं पारस्परिक तृणाघात से निधन प्राप्त हो गये थे। अनन्तर श्रीबलराम का देहत्याग हुआ पश्चात् श्रीकृष्ण,—चतुर्भुज धारण कर वृक्षमूल में उपवेशन किये थे, जरा व्याध ने चरण पद्म की अरुणिमा से मृगभ्रान्ति युक्त होकर चरणों में शराघात किया था। यह सब लीला मायिक है।

इसके अग्रिम ग्रन्थ भा० ११।३०।४९ भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा भी है।

"त्वन्तुमद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः।
मन्मायारचितामेतां विज्ञायोपशमं व्रज ॥"

क्रम सन्दर्भ—अथ दारुक—सान्त्वनाय मौषलाद्यर्जुनपराभवपर्य्यन्ताया लीलाया माययैन्द्रजाल वद्रचितत्वमुपदिशति--त्वन्त्विति। त्वं दारुको मज्ज्ञाननिष्ठो मदीय लीलातत्त्वज्ञो मद्धर्मं—मम, स्वभक्त प्रतिपालपितृ रूपं स्व तुल्य परिकर सङ्गित्वरूपञ्च स्वभावमास्थाय विस्रभ्यैतामधुना प्रकाशिता सर्वामेव मौषलादिलीलां मम माययैवेन्द्रजालवद्रचितां विज्ञायोपेक्षको वहिर्दृष्ट्या जातं शोकमुपेक्षमाण उपशमं चित्तक्षोभान्निर्वृत्तिं व्रज प्राप्नुहि। 'तु' शब्देन अन्य तावन्मुह्यन्तु नाम, तव तु तथा मोहो नयुक्तः। एवेति ध्वनितम्। अत्र श्रीमद् दारुकस्य स्वयं वैकुण्ठादवतीर्णत्वेन सिद्धत्वादेतामित्यत्रातिसन्निहितार्थ लाभाच्चान्यथाव्याख्यानमेव प्रथमप्रतीत्यविषय इति विवेक्तव्यम्। दृश्यते चेयं परिपाटी स्वर्गपर्वणि प्रतीतभीमादिनरकं श्रीयुधिष्ठिरं प्रति धर्मराजवचनेन—

सिद्धत्वादेतामित्यत्रातिसन्निहितार्थलाभाच्चान्यथाव्याख्यानमेव प्रथमप्रतीत्यविषय इति विवेक्तव्यम् ॥ श्रीभगवान् दारुकम् ॥

१२४। तथा च पद्यत्रयम् (भा० ११।३१।११) —

(१२४) "राजन् परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा, मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य। सृष्ट्वात्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते, संहृत्य चात्ममहिमोपरतः स आस्ते ॥" ३८८॥

परस्य श्रीकृष्णस्य ये तनुभृतः (भा० १।६।२९) "प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं

"नच ते भ्रातरः पार्थ नरकस्था विशाम्पते !
मायैषा देवराजेन महेन्द्रेण प्रयोजिता।"

श्रीकृष्ण दारुक को कहे थे, तुम द्वारका में जाकर—ज्ञाति निधन, बलदेव निर्य्याण एवं जरा व्याध का वाणाघात वृत्तान्त कहो। द्वारकावासिगण—अर्जुन कर्त्तृक रक्षित होकर इन्द्र प्रस्थ गमन करें। दारुक ! तुम ज्ञाननिष्ठ, मदीय लीलातत्त्वज्ञ, मद्धर्म्म—मद्भक्त पालन कारिता, एवं निजतुल्य परिकर सङ्गि स्वरूप में आस्था प्राप्तकर अधुना प्रकाशित मौषलादि लीलासमूह को इन्द्रजालवत् माया रचित जानकर—उपेक्षक—वहिर्जात दृष्टि जनित शोक की उपेक्षा कर चित्तक्षोभ से विमुक्त हो जाओ। श्लोकस्थ 'तु' शब्द के द्वारा व्यञ्जित होता है कि—अपर व्यक्ति इस प्रकार लीला दर्शन से शोकातुर हो सकता है, किन्तु तुम्हारे में उस प्रकार मोह उपस्थित होना ठीक नहीं है, यह ध्वनित हुआ।

श्री दारुक, वर्त्तमान शरीर के सहित ही वैकुण्ठ से अवतीर्ण हुये थे। यह प्रसिद्ध है। सुतरां यहाँ एतां पद से अति समीपवर्ती मौषलादि लीला रूप अर्थ गृहीत होता है, अन्य प्रकार अर्थ—देवादि अभिमान कृत मोह, किं वा, आत्मज्ञानाभाव रूप अर्थ सुसङ्गत नहीं होगा। कारण,—पार्षदवर्ग का मोह, एवं आत्म ज्ञानाभाव—नहीं हो सकता है, उक्त अर्थ यहाँ स्वाभाविक रूप से प्रतीत नहीं होता है, सुतरां उक्त विरुद्धार्थ प्रकाशन में आग्रह कोई न करें।

श्रीभगवान् दारुक के प्रति कहे थे ॥१२३॥

नित्य पार्षद स्वरूप यादवों का देह त्याग इन्द्रजालवत् है, उसका वर्णन भा० ११।३१।११--१२--१३ में क्रमश उसका उट्टङ्कन करते हैं (भा० ११।३१।११)

'राजन् परस्य तनुभृज्जनाप्ययेहा, माया विडम्बनमवेहि यथानटस्य। सृष्ट्वात्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते, संहृत्य चात्ममहिमोपरतः स आस्ते।" श्रीशुकदेव बोले—हे राजन् ! परम कारण—श्रीकृष्ण के पार्षद गणके आविर्भाव तिरोभाव चेष्टा को नटके समान माया विडम्बन मात्र ही है। श्रीकृष्ण परिदृश्यमान जगत् की रचना करके उसमें अनुप्रविष्ट होते हैं, एवं विक्रिया के द्वारा उसका संहार कर स्वमहिमा में विराजित होते हैं।'

टीका—अभिप्रायापरिज्ञानात् प्रथमं परिक्लिष्टं ततश्च दृष्टान्तेन स्पष्टमुक्तं हृष्टं दृष्ट्वा पुनस्त-मेवार्थं प्रपञ्चयति राजन्निति त्रिभिः। परस्य सर्वकारणस्य--तनुभृत्सु यादवादिषु जननाप्ययेहाः, आविर्भाव तिरोभाव रूपाश्चेष्टाः मायया अनुकरणमात्रमवेहि। नटो यथा अविकृत एव नाना रूपैः जन्मादीनि विडम्बयति तद्वत्। आस्तां तावत् यादवादिषु जन्मादि शङ्का, यावद्विश्वसर्ग निरोधादिष्वप्यसावविकृत एवास्त इत्याह सृष्ट्वेति। आत्मना स्वयमेवेदं जगत् सृष्ट्वा अन्तर्य्यामित्वेनानुविश्य आत्ममहिमा स्व महिमा उपरत आस्ते ॥"

क्रम सन्दर्भ--तत्र यादवानामपि नान्यथात्वं सम्भवति, किमुत श्रीरामस्य श्रीकृष्णस्य चेति सिद्धान्तयन्नाह

तनुम्'' इति श्रीनारदोक्त्यनुसारेण तदीयां तनुमेव धारयन्तस्तत्पार्षदा यादवादयस्तेषां जननाप्ययरूपा ईहाश्चेष्टाः केवलं परस्यैव मायया विड़म्बनमनुकरणमवेहि । यथेन्द्रजालवेत्ता नटः कश्चिज्जीवत एव मारयित्वेव पुनश्च दग्ध्वेव तद्देहं जनयित्वेव दर्शयति, तस्येव । विश्वसर्गादिहेत्वचिन्त्यशक्तेस्तस्य तादृशशक्तित्वं न च चित्रमित्याह—सृष्ट्वेति । एवं सति सङ्कर्षणादौ मुग्धानामन्यथाभानहेतूदाहरणाभासः सुतरामेव मायिकलीलावर्णने प्रवेशितो भवति । स्कान्दे श्रीलक्ष्मणस्याप्यन्यादृशत्वं न संप्रतिपन्नम् । नारायणवर्म्मणि च शेषाद्विलक्षणशक्तित्वेन नित्यमेवोपासकपालकत्वेन तथैवानुमतमिति दर्शितम् । अतएव जरासन्धवाक्ये (भा० १०।५०।१८) "तव राम यदि श्रद्धा" इत्यत्र श्रीस्वामिभिरपीत्थं

—राजन्निति—परस्य श्रीकृष्णस्य ये तनुभृतः (भा० १।६।१९) प्रयुज्यमाने मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्' इति श्रीनारदोक्त्यनुसारेण तदीयां तनुमेव धारयन्त स्तत् पार्षदा यादवादय स्तेषां जननाप्ययरूपेहा श्चेष्टाः केवलं परस्यैव मायया विड़म्बनं—अनुकरणमवेहि, यथेन्द्रजाल वेत्ता नटः कश्चिज्जीवत एव मारयित्वेव दग्ध्वेव पुनश्च तद्देहं जनयित्वेव दर्शयति, तस्येव । विश्वसर्गादिहेत्वविचिन्त्य शक्तेस्तस्य तादृश शक्तित्वं न च चित्रमित्याह-सृष्ट्वेति एवं सति श्रीसङ्कर्षणादौ मुग्धानामन्यथाभान हेतूदारणाभासः सुतरामेव मायिक लीला वर्णने प्रवेशितो भवति । स्कान्दे—लक्षणस्याप्यन्यादृशत्वं न तत् प्रतिपन्नम् । नारायण वर्मणि (भा० ६।८।१८) च शेषाद् विलक्षणशक्तित्वेनमित्यमेवोपासक पालकत्वेन तथैवानुमतमिति दर्शितम् ॥ अतएव जरासन्ध वाक्ये(भा०१०।५०।१८)"तव रामयदि श्रद्धा" इत्यत्र श्रीस्वामिभिरपीत्थं वास्तवार्थो व्यञ्जितः—"अच्छेद्यदेहोऽसाविति स्वयमेव मत्वापरितोषात्—पक्षान्तरमाह, यद्वा, मां जहीति । इत्येषा तदेवं चानेन व्याख्यानेन (षष्ठ श्लोक) लोकाभिरामामित्यादि पद्येषु योगिजन विलक्षण भगवच्छक्ति व्यञ्जकं श्रीस्वामिचरणाम्—(अदग्ध्वा) इत्यादि पदच्छेदादिमयव्याख्या सौष्ठवं कैमुत्याति-शयेन सुष्ठेव स्थापितम्, यतएव "दृश्यते चाद्याप्युपासकानाम्' इत्यादिकञ्च, तदुक्तं सुसङ्गतं भवति, तत्तत् परिकरेणैव सार्द्धं तेषु तत् साक्षात्कार इति ।

उक्त श्लोक व्याख्या—"परम कारण श्रीकृष्ण के जो सब 'तनुभृतः' हैं, अर्थात् भा० १।६।१९ में देवर्षि नारद की उक्ति के अनुसार—"शुद्धा भगवती तनु—पार्षद देह, मुझ में संयुक्त होने से आरब्ध कर्म समूह क्षीण होने पर मेरा पाञ्चभौतिक देह पतित हुआ ।" जो सब व्यक्ति श्रीकृष्ण सम्बन्धिनी तनु-अर्थात्—अप्राकृत तनु तदीय सेवोपयोगी तनु, धारण करते हैं—इस प्रकार पार्षद वर्ग यादव गण हैं, उन सब की जन्म मृत्युरूप चेष्टा—केवल श्रीमाया अनुकरण है । जिस प्रकार इन्द्रजालज्ञ व्यक्ति जीवितावस्था में किसी को दग्ध करके पुनर्वार उक्त देहोत्पन्नकरप्रदर्शन करवा देता है, उस प्रकार ही यहाँ पर जानना होगा ।

सृष्टि स्थिति लय के प्रति एक मात्र माया कारण है, अचिन्त्य शक्ति समन्वित भगवान् के पक्ष में तादृश महामायिक लीला विस्तार करना आश्चर्य्य जनक नहीं है । तज्जन्य कहते हैं—जगत् सृष्टि करके उस में अनुप्रवेश पूर्वक विक्रिया के द्वारा उस को विनष्ट करके निज महिमा में अवस्थान करते हैं ।

यादवगण का देहत्याग ही जब इन्द्र जालके समान मायिक है,—तब श्रीसङ्कर्षण प्रभृति में अज्ञजन गण की अन्यथा प्रतीति सम्भव है । उक्त उदाहरण भी उदाहरणाभास ही है, कारण—श्रीबलदेव प्रभृति का विग्रह—नित्य सच्चिदानन्दमय हैं । विज्ञगण की प्रतीति इस प्रकार ही है । अज्ञ व्यक्ति गण के निकट सांसारिक वस्तु अनित्य है, इसका उदाहरण स्वरूप यादववृन्दों का देहत्याग वर्णित हुआ है, यह भी

वास्तवार्थो व्यञ्जितः—"अच्छेद्यदेहोऽसाविति स्वयमेव मत्वा अपरितोषात् पक्षान्तरमाह—यद्वा 'मां जहि' इति । तदेवं चानेन व्याख्यानेन (भा० ११।३१।६) "लोकाभिरामाम्" इत्यादि-पद्येषु योगिजनशक्तिविलक्षण-भगवच्छक्तिव्यञ्जकं श्रीस्वामिचरणानाम् 'अदग्ध्वा' इत्यादि-पदच्छेदादिमयव्याख्यासौष्ठवं कैमुत्यातिशयेन सुष्ठ्वेव स्थापितम् । यत एव "दृश्यते चाद्यप्युपासकानाम्" इत्यादिकञ्च तदुक्तं सुसङ्गतं भवति, तत्तत्परिकरेणैव सार्द्धं तेषु तत् साक्षात्कार इति ।

१२५। अप्राकृतदेहानां तेषां तन्न सम्भवतीत्यास्ताम्, श्रीकृष्णपाल्यत्वेनैव न सम्भवतीत्याह, (भा० ११।३१।१२)—

(१२५) "मर्त्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं, त्वाञ्चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम् ।
जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसावनीशः किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम् ॥"२८६॥

मायिक लीला वर्णन में अन्तर्भुक्त है ।

स्कन्द पुराण में श्रीलक्ष्मण का देहत्याग प्रसङ्ग,—मायिक जनवत् नहीं हुआ है । इन्द्र लक्ष्मण को सशरीर वैकुण्ठ में प्रेरण किये थे । नारायण वर्म में श्रीबलदेव का विलक्षण शक्तित्व—एवं सतत उपासक पालक रूप में नित्य स्थितित्व सिद्धान्ततः वर्णित हुआ है ।

अतएव जरासन्ध वाक्य में—"तव राम यदि श्रद्धा युद्धस्व स्थैर्य्यमुद्वह; हित्वा वा मच्छरैश्छिन्नं देहं स्वर्य्याहि मां जहि ॥ भा० १०।५०।१६ । हे राम ! यदि श्रद्धा हो तो, युद्ध करो, अथवा, स्थैर्य्य अवलम्बन करो, किम्वा मदीयशर से भिन्न देह होकर स्वर्ग गमन करो, अथवा मुझ को विनष्ट करो ।" स्वामिपादने इस प्रकार वास्तवार्थ किया है यह बलदेवका अच्छेद्य देह है, जरासन्ध स्वयं इस को मानकर अपरितोष हेतु कहा था मुझ को विनष्ट करो, ।

श्रीभगवत् पार्षदवृन्द के शरीर त्यागादि मायिक होने के कारण—

(भा० ११।३१।६) लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणया आग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥

योगिगण—आग्नेयी योगधारणा से निज देहको दग्ध करते हैं । श्रीकृष्ण लोकाभिराम धारणा ध्यान मङ्गल रूप निजतनु को दग्ध न करके ही निज धाम में प्रवेश किये थे ।" इत्यादि पद्यमें—योगिगण से विलक्षण शक्तिमत्ता प्रकट करने के निमित्त—'आग्नेय्या—अदग्ध्वा' आग्नेयी योगधारणा से देह को दग्ध न करके ही" इस प्रकार पदच्छेदादिमय श्रीस्वामिपाद की व्याख्या सौष्ठव, कैमुत्यातिशय के द्वारा सुन्दर रूप से स्थापित हुआ है । जिस से " दृश्यते चाद्यापि उपासकानां तथैव तद्रूप साक्षात्कारः तत् फल प्राप्तिश्चेति-' अद्यापि दृष्ट होता है कि—उपासकगण तादृश श्रीकृष्ण रूप दर्शन करते हैं । एवं दर्शन का फल भी प्राप्त होते हैं । इस प्रकार स्वामिव्याख्या भी सुसङ्गत है । भगवत् साक्षात् कार के समय उपासक का भगवत् साक्षात् कार परिकर गण के सहित ही होता है ।।१२४।।

यादव गणों का अप्राकृत देह है अप्राकृत देहत्याग असम्भव है । किन्तु श्रीकृष्ण कर्त्तृक पालित व्यक्तियों का भी देह त्याग नहीं होता है । (भा० ११।३१।१२) में वर्णित है ।

"मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं, त्वाञ्चानयच्छरणदः परमास्त्र दग्धम् ।
जिग्येऽन्तकान्तक मपीशमशावनीशः किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम् ॥"

यः श्रीकृष्णो यमलोकं गतमपि गुरुसुतं गुरोर्जातेन पञ्चजन-भक्षितेन तेन मर्त्येन देहेनैव आनयत्, न च ब्रह्मतेजसो बलवत्त्वं मन्तव्यम्। त्वाञ्च ब्रह्मास्त्रदग्धं यस्तस्माद्-ब्रह्मास्त्रादनयद्रक्षितवानित्यर्थः, किमन्यद्वक्तव्यम्, यश्चान्तकानामन्तकमीशं श्रीरुद्रमपि वाणसंग्रामे जितवान्, अहो यश्च तं जराख्यं मृगयुमपि स्वः स्वर्गं वैकुण्ठविशेषं सशरीरमेव प्रापितवान्, स कथं स्वानां यदूनामवने ईशो न भवति? तस्मात्तेष्वन्यथादर्शनं न तात्त्विक-लीलानुगतम्। सशरीरन्तु तेषां स्वलोकगमनमतीव युक्तमित्यर्थः॥

१२६। ननु गच्छन्तु ते सशरीरा एव स्वधाम, तत्रापि स्वयं भगवान् विराजत एवेति न तेषां तद्विरहदुःखमपि। श्रीभगवांस्तु तथासमर्थ श्चेत्तर्हि कथमन्यांस्तादृशानाविर्भाव्य तैः

जिन्होंने यम लोक से गुरु पुत्र को आनयन किया है, शरणागतवत्सल प्रभु ने आपको परमास्त्र दग्ध से आनयन किया है। जो यम का यम हैं, ईश का पराभूतकारी हैं, जिन्होंने व्याध को सशरीर स्वर्ग में प्रेरण किया है, वह क्या निज शरीर रक्षण में असमर्थ हैं?

टीका—न पुनरन्यथा मन्तव्यं यतोऽस्मिन्नेवावतारे तत् प्रभावो निरतिशयो दृष्टः" इत्याह-मर्त्येनेति यमेन स्वलोकं प्रति नीतं गुरुसुतं मर्त्येन तेनैव शरीरेण य आनयत् आनीतवान् मृगयुं लुब्धकं सदेहं स्वः स्वर्गमनयत्—नित्ये। असौ स्वावने स्वरक्षणे अनीशोऽसमर्थः किम्?"

क्रमसन्दर्भ—अप्राकृतदेहानां तेषां तन्नसम्भवतीत्यस्ताम्, श्रीकृष्णपाल्यत्वेनैव न सम्भवती न सम्भवतीत्याह,—मर्त्येनेति। यः श्रीकृष्णो यम लोकं गतमपि गुरु सुतं गुरोर्जातेन पञ्चजन भक्षितेन तेन-मर्त्येन देहेनैवानयत्। न च ब्रह्म तेजसो बलवत्त्वं मन्तव्यम्, त्वाञ्च ब्रह्मास्त्रदग्धं यस्तस्माद् ब्रह्मास्त्रादनयत् रक्षितवानित्यर्थः। किमन्यद् वक्तव्यम्? यश्च अन्तकानामन्तकमीशं श्रीरुद्रमपि वाणसंग्रामे जितवान्, अहो! यश्च तं जराख्यं मृगयुमपि स्वं स्वर्गं वैकुण्ठ विशेषं सशरीरमेव प्रापितवान् स कथं स्वानां यदूनामवने ईशो न भवति? तस्मात्तेष्वन्यथा दर्शनं न तात्त्विकलीलानुगतम्, सशरीरं तु तेषां स्वलोकगमनमतीव युक्त मित्यर्थः॥"

जो श्रीकृष्ण, यम लोकगतगुरु पुत्र को, गुरु से उत्पन्न पञ्चजन कर्त्तृक भक्षित जो देह, अविकल उस नर देह में ही आनयन किये थे। यदि कहा जाय कि—उक्त कार्य्य श्रीकृष्ण के पक्ष में सम्भव है, किन्तु ब्रह्मशाप ग्रस्त यदुकुल रक्षा करना श्रीकृष्ण के पक्ष में असम्भव है। तज्जन्य कहते हैं—श्रीकृष्ण के निकट ब्रह्मतेज भी प्रभाव विस्तार करने में अक्षम हैं। उस का साक्षी,—'परीक्षित्' तुम हो, ब्रह्मास्त्र दग्ध आपको ब्रह्मास्त्र से आनयन किये थे—अर्थात् ब्रह्मास्त्र से रक्षा किये थे। अधिक कहने की आवश्यकता ही क्या है,—जिन्होंने यम का ईश—श्रीरुद्र को भी वाणयुद्ध में पराजित किये थे, अहो! जिन से जरानामक व्याध ने सशरीर में ही वैकुण्ठ प्राप्त किया है, उन श्रीकृष्ण,—निज जन यादवगण की रक्षाके निमित्त सक्षम नहीं हैं? आप निश्चय ही परमसमर्थ हैं। अतएव यादवगणों में निधनादि विरुद्ध दर्शन तात्त्विक लीलानु गत नहीं है, उन सब का सशरीर में ही निजलोक गमन अतीव सङ्गत है॥१२५॥

प्रश्न यह है कि—यादवगण सशरीर में ही निजधाम गमन करें, कारण वहाँपर स्वयं भगवान् विराजित हैं, अतएव श्रीकृष्ण विरह जनित दुःख उन सब का नहीं है, श्रीभगवान् यदि उस प्रकार शक्ति विशिष्ट हैं, तब यादव गणके समान अन्यभक्त वृन्द को आविर्भावित करके नर लोक को अनुकम्पित करने के निमित्त कियत् काल यावत्, यादव गणों का अन्तर्द्धान के पश्चात् उन सबके सहित मर्त्यलोक में प्रकट

सह मर्त्यलोकानुग्रहार्थमपरमपि कियन्तं कालं मर्त्यलोकेऽपि प्रकटो नासीत् ? इत्यत्र सद्धान्तयन् तेषां श्रीभगवतश्च सौहार्दभरेणापि परस्परमव्यभिचारित्वमाह, (भा० ११।३१।१३

(१२६) "तथाप्यशेषस्थितिसम्भवाप्यये,–ष्वनन्यहेतुर्यदशेषशक्तिधृक् ।
नैच्छत् प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं, मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन् ॥" ३८०॥

यद्यप्युक्तप्रकारेणाशेषस्थिति–सम्भवाप्ययेष्वनन्यहेतुः, यद्यस्मात्तदूर्ध्वमप्यनन्त-तादृश-शक्तिधृक्, तथापि यादवानन्तर्द्धाप्य निजं वपुरत्र शेषितं प्रणेतुं कञ्चित् कालं स्थापयितुं नैच्छत्, किन्तु स्वमेव लोकमनयत् । तत्र हेतुः-तान् विना मर्त्येन लोकेन किं मम प्रयोजनमिति स्वस्थानां तद्धामगतानां तेषां गतिमेव स्वस्याभिरुचितत्वेन प्रकृष्टां दर्शयन्निति ॥ श्रीशुकः ॥

१२७। अतस्तेषां श्रीभगवद्वदन्तर्द्धानमेव; न त्वन्यदस्तीति श्रीभगवदभिप्रायकथनेनाप्याह, (भा० ३।३।१५)

विहार क्यों नहीं किये ? इस विषय में सिद्धान्त प्रकटन हेतु श्रीकृष्ण के सहित यादवों का प्रचुर सौहार्द्द निबन्धन पारस्परिक अव्यभिचारित्व को कहते हैं – भा० ११।३१।१३ में वर्णित है—

तथाप्यशेष स्थिति सम्भवाप्यये, ष्वनन्य हेतुर्यदशेष शक्तिधृक् नैच्छत् प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं, मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन् ॥" यद्यपि अशेष शक्ति सम्पन्न श्रीकृष्ण, अनन्त ब्रह्माण्ड के सृष्टि स्थितिलय कार्य्य का एक मात्र हेतु हैं । तथापि निजाश्रित जनगण की गति को दर्शाने के निमित्त अवशेष में निज वपु को मर्त्यलोक में रखना नहीं चाहते हैं । कारण—निज जन को छोड़कर मर्त्य जनके सहित उनका प्रयोजन ही क्या है, मर्त्यजन मायामुग्ध होकर तत् सृष्ट अतिनश्वर पदार्थ में आसक्त होता है, प्रभु को नहीं चाहता है, एवं उनका हितोपदेश को कर्ण कुहरमें स्थापन करना कर्त्तव्य नहीं समझता है ।

टीका—'ननु यदि समर्थ स्तर्हि कञ्चित् कालमत्रैव तेन वपुषा किं नातिष्ठत्—तत्राह तथापीति । यद्यपि उक्त प्रकारेण--अशेषस्य जगत्श्चराचरस्य स्थित्यादिषु अनन्य हेतु निरपेक्ष एव कारणं, स्वयं यद् यस्मात् अशेष शक्ति धृक् तथापि यादवान् संहृत्य निजं वपुरत्र शेषितमवशेषितं प्रणेतुं कर्त्तुं नैच्छत् किन्तु स्वमेव लोकमनयत् । तत्र हेतुः मर्त्येन देहेन किं ? न किञ्चित् कार्य्यमिति स्वस्थानामात्मनिष्ठानां दिव्यां गतिमेव प्रकृष्टां दर्शयन् । अन्यथा तेऽपि दिव्यागति मनादृत्य योगबलेन देहसिद्धि विधाय अत्रैव रन्तु यतेरन् तन्माभूदित्येतदर्थमिति भावः ॥

श्लोक व्याख्या– यद्यपि श्रीकृष्ण, उक्त प्रकार से अनन्त ब्रह्माण्ड के सृष्टि स्थिति नाश के प्रति एक मात्र हेतु हैं, कारण—सृष्टयादि के ऊपर भी उनमें अनन्त शक्ति हैं, तथापि--यादवगण को अन्तर्धापित करने के पश्चात् मर्त्यलोक में क्षण काल के निमित्त भी अवशेष निजवपु रखने की इच्छा उनकी नहीं हुई । किन्तु निजलोक में तत् काल प्रविष्ट हुये थे । कारण है—श्रीकृष्ण की यह भावना हुई—यादव गण को छोड़ कर मर्त्यलोक में रहने की आवश्यकता ही क्या है ? एतज्जन्य निजधामस्थित यादवगण की जो गति है, वह ही निज अभिमत है । इसकी प्रकृष्ट रूप से दर्शाने के निमित्त ही अप्रकट निजधाम में प्रविष्ट हुए थे ।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—॥१२६॥

अतएव—यादववृन्दों के निधनादि मायिक लीला हेतु श्रीभगवान् जिस प्रकार अन्तर्द्धान करते हैं, उस प्रकार यादवों का अन्तर्धान ही है । साधारण जनगण के समान निधन प्राप्त होने की सम्भावना नहीं है । तज्जन्य श्रीभगवदभिप्राय कथन के छल से उद्धव कहे थे—

(१२७) "मिथो यदैषां भविता विवादो, मध्वामदाताम्रविलोचनानाम् ।
नैषां बधोपाय इयानतोऽन्यो, मय्युद्यतेऽन्तर्द्दधते स्वयं स्म ।।"३६१।।

एषां यदूनां यदा मिथो विवादस्तदाप्येषां पृथिवीपरित्याजने बधरूप उपायो न विद्यते, किमुतान्येन विवादे स न स्यादिति तर्हि तेषां मयाभिलषिते पृथिवी-परित्याजने कतम उपायो भवेत् ? तत्र पुनः परामृशति-अतो बधादन्य एव इयान् एतावानेव उपायो वर्त्तते । कोऽसौ ? मय्युद्यते ममेच्छायां सत्यां एते स्वयमन्तर्द्धधत इति यः । स्मेति निश्चये, यद्वा, बधस्योपायो न विद्यते इत्येवं व्याख्याय, अतो बधोपायादन्य इयान् बधोपायतुल्य उपायो विद्यत इति व्याख्येयम् । अन्यत् समानम् ।। श्रीमदुद्धवो विदुरम् ।।

१२८ । अतएवान्तर्हिते श्रीभगवति श्रीमदुद्धवस्य विदुरिति वर्त्तमानप्रत्ययनिर्द्देशवाक्येन तदानीमन्तर्हितस्यापि तद्वर्गस्यैव श्रीभगवतैव सह संवासो व्यज्यते, यथा (भा० ३।२।८) —

(भा० ३।३।१५) "मिथो यदैषां भविता विवादो मध्वामदाताम्र विलोचनानाम् ।
नैषां बधोपाय इयानतोऽन्यो, मय्युद्यतेऽन्तर्द्दधते स्वयं स्म ।।"

टीका—"तेषां नचान्य उपायः प्रभवति, किन्तु मधुना च आमदः सर्वतो मदस्तेन आताम्र विलोचनानामेषां विवादो यदा भविष्यति तदा इयानेवैषां बधोपायः।अतोऽन्यो नास्ति एकात्मनोऽपि मय्युद्यते सति स्वयमेव विवादेनान्तर्दधीरन्नित्यर्थः ।।" मधुपानमत्त यादवों में परस्पर विवाद बध का कारण नहीं है । एतद्भिन्न उपाय यह है कि—स्वयं यदि वे सब अन्तर्द्धान करें, तबही यादवों का पृथिवी परित्याग सम्भव होगा ।

यादवों का पृथिवी परित्याग सम्बन्ध में श्रीकृष्ण का अभिमत यह है, यदुगणके मध्य में यदि परस्पर विवाद उपस्थित होता है तो, तब वह विवाद उनसब के द्वारा पृथिवी परित्याग करने का अर्थात् निधन प्राप्त होने का उपाय नहीं होगा । अन्य के सहित विवाद से सुतरां निधन नहीं होगा, तथा पृथिवी परित्याग भी नहीं होगा तब मेरा अभिलषित यादवों के द्वारा पृथिवी त्याग का क्या उपाय हो सकता है ?

पुनर्वार विचार पूर्वक उपायस्थिर करते हैं, किसी प्रकार से बध की सम्भावना नहीं है, तब बधभिन्न अपर उपाय हो सकता है, वह यह है—मदीय इच्छानुसार यदि वे सब अन्तर्द्धान करें तो उनसबके द्वारा पृथिवी परित्याग सम्भव होगा । इस उपाय की निश्चयता को सूचित करने के निमित्त 'स्म' अव्यय का प्रयोग हुआ है ।

अथवा,—अर्थान्तर में—इन सब का बधोपाय नहीं है, इस प्रकार व्याख्या करके, अतएव बधोपाय भिन्न, बधोपाय के समान एक उपाय है । इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है । उस के बाद--'मदीय इच्छानुसार' इत्यादि पूर्व व्याख्या के समान योजना करणी होगी ।

श्रीमदुद्धव विदुर को कहे थे—।।१२७।।

श्रीकृष्ण के अभिप्रायानुसार यादवगण अन्तर्हित होने पर श्रीभगवान् अन्तर्हित होने से भी श्रीउद्धव 'विदुः' क्रिया का वर्त्तमान प्रत्यय निर्देश युक्त वाक्य के द्वारा,—उद्धव के कथन सम काल में यादवों का अन्तर्द्धान सम्पन्न होने पर भी,परिकर वर्गके सहित श्रीभगवान् की नित्यावस्थिति व्यञ्जित होती है । भा० ३।२।८ में उक्त है—

(१२८) "दुर्भगो वत लोकोऽयं यदवो नितरामपि ।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोड़ुपम् ॥" ३६२॥

अयं मम हृदये स्फुरन् द्वारकावासी लोकः। ये संवसन्तः सह-वसन्तोऽपि न विदुर्न जानन्ति। अहन्तु संवासभाग्यहीनो न जानामीति नाश्चर्य्यमिति भावः। अत्र तदानीं यदि संवासभाग्यहीनो न जानामीति नाश्चर्य्यमिति भावः। अत्र तदानीं यदि संवासो नाभविष्यत्, तदा नावेदिषुरित्येवावक्ष्यदिति ज्ञेयम्।

१२६। नन्वधुनापि न जानन्तीति कथं जानासीत्याशङ्क्य तत्र हेतुं प्राचीननिजानुभावमाह, (भा० ३।२।६)—

(१२६) "इङ्गितज्ञाः पुरुप्रौढ़ा एकारामाश्च सात्वताः ।
सात्वतामृषभं सर्व्वे भूतावासममंसत ॥" ३६३॥

यं सात्वता स्वेषामेव ऋषभं नित्यकुलपतित्वेन वर्त्तमानं स्वयं भगवन्तमपि भूतावासं तदंशमेव भूतान्तर्यामिनमेवामंसतेति, (श्वे० ६।११) "एको देवः" इत्यादौ "सर्व्वभूताधिवासः"

"दुर्भगो वत लोकोऽयं यदवो नितरामपि ।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोड़ुपम् ॥" ३६२॥

श्रीउद्धवने श्रीविदुर को कहा—बड़ी दुःख की बात है, लोक अत्यन्त दुर्भग हैं, यादवगण तो सुतरां दुर्भग हैं। कारण—क्षीरसमुद्रजात मत्स्यगण चन्द्र के सहित एकत्र निवास करके भी जिस प्रकार चन्द्र को जलचर रूप से ही जानते थे, तद्रूप यदुगण, श्रीकृष्ण के सहित एकत्र निवास करने पर भी श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् नहीं जानते थे।

श्लोक व्याख्या—मेरे हृदय में स्फूर्त्ति प्राप्त द्वारकावासी जनगण—श्रीकृष्ण के सहित द्वारका में निवास करके भी श्रीकृष्ण को नहीं जानते हैं, मैं उनके सहित अवस्थित होने के सौभाग्य से वञ्चित हूँ। मैं श्रीकृष्ण को नहीं जानता हूँ, यह कोई आश्चर्य्य का विषय नहीं है। यदि अन्तर्द्धान के पश्चात् यादव गण श्रीकृष्ण के सहित एकत्र निवास नहीं करते तो 'अवेदिषुः" नहीं जानते, अर्थात् जब प्रकट लीलाका समय था तब श्रीकृष्ण को नहीं जाने थे, इस प्रकार कहते। इस प्रकार जानना होगा ॥१२८॥

यदि विदुर कहे कि—इस समय भी श्रीकृष्ण को यादवगण स्वयं भगवान् रूप में नहीं जानते हैं, आप इसको कैसे जानते हैं, आप तो परोक्ष में अवस्थित हैं ? इस आशङ्का का अपनोदन करने के निमित्त प्राचीननिजानुभव का वर्णन करते हैं। भा० ३।२।६—

"इङ्गितज्ञाः पुरुप्रौढ़ा एकारामाश्च सात्वताः ।
सात्वतामृषभं सर्व्वे भूतावासममंसत ॥"

"मनोभाव अवगत होने में सुनिपुण एकमात्र श्रीकृष्ण में प्रीतिशील यादवगण--सात्वतर्षभ श्रीकृष्ण को भूतावास मानते थे।

सन्दर्भ—जो सात्वतों के यादवों के ऋषभ—नित्य कुलपतिरूप में वर्त्तमान, स्वयं भगवान् को भी 'भूतावास' श्रीकृष्ण का अंशरूप भूतान्तर्य्यामी परमात्मा ही मानते थे। स्वयं भगवान् रूपमें श्रीकृष्ण को जानने में यादवगण अक्षम थे। 'भूतावास' शब्द का अर्थ अन्तर्य्यामी है, उसका प्रमाण 'सर्वभूताधिवासः'

इत्यन्तर्यामीति श्रुतिः, उक्तञ्च (भा० १०।४३।१७)—"वृष्णीनां परदेवता" इति ॥ श्रीमदुद्धवः श्रीविदुरम् ॥

१३०। यमेव संवासं पूर्वमपि प्रार्थयामास, (भा० ११।६।४३)—

(१३०) "नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्द्धमपि केशव ।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि ॥"३९४॥

स्वधाम द्वारकाया एव प्रापञ्चिकाप्रकटप्रकाशविशेषमपीति । यथा यादवानन्यान् नयसि, तथा मामपि नयेत्यर्थः अर्थान्तरे त्वपि-शब्दवैयर्थ्यं स्यात् ॥ श्रीमानुद्धवः ॥

यह अन्तर्य्यामी श्रुति है।

श्रीकृष्ण को यादवगण—अन्तर्य्यामी पुरुष रूप में जानते थे—उसका वर्णन "वृष्णीनां पर देवतेति" यादवगणों के श्रीकृष्ण परम देवता हैं, इस वाक्य में है।

यादवगण—श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् रूप में नहीं जानते थे। किन्तु अन्तर्यामी पुरुष रूप में जानते थे। इसका तात्पर्य्य यह है कि—जो स्वयं भगवान् हैं, वह निज परिकरगणों के सहित नित्यनिज धाम में विराजित हैं। किन्तु अन्तर्य्यामी ईश्वर, भक्तगण के उपास्य हैं। भक्तवृन्द के प्रति कृपा करने के निमित्त उन सब के निकट समय समय में आविर्भूत होते हैं। यादव गण की धारणा यह थी—हमारे उपास्य श्रीकृष्ण, सम्प्रति हम सब के समीप में अवस्थित हैं। आप स्वतन्त्र अन्तर्य्यामी पुरुष हैं, आपका स्वतन्त्र धाम है।

वरुण लोक गमन प्रसङ्ग में निरतिशय प्रेमवान् व्रजवासिगण के मन में ऐश्वर्य्य की कथा सुनकर बद्ध धारणा हुई थी—श्रीकृष्ण का अवश्य ही धामान्तर है।

ऐश्वर्य्य ज्ञान प्रधान प्रेमवान् द्वारका परिकर गण की तादृशी धारणा आश्चर्य्य जनक नहीं है, यदि द्वारका वासिगण जानते कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं,—तब समझ जाते कि उनका नित्य धाम द्वारका है-एवं समस्त परिकर गण के सहित प्रकट अप्रकट लीला में श्रीकृष्ण नित्य स्थित हैं।

श्रीमदुद्धव श्रीविदुर को कहे थे ॥१२९॥

श्रीकृष्ण के सहित अप्रकट प्रकाशस्थ द्वारका में यादव गण की नित्य स्थिति की वार्त्ता श्रीकृष्णान्तर्द्धान के समय श्रीविदुर के सहित वृत्तान्त आलाप के पहले ही श्रीउद्धव द्वारा ज्ञात रही, तज्जन्य ही उन्होंने भा० ११।६।४३ में प्रार्थना की है—

"नाहं तवाङ्घ्रि कमलं क्षणार्द्धमपि केशव ।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि ॥"

हे नाथ ! हे केशव ! मैं क्षण काल के निमित्त भी तुम्हारे चरण युगल को परित्याग करने में समर्थ नहीं हूँ। मुझ को निज धाम में ले चलो।

क्रमसन्दर्भ—अतः स्वस्मिंस्तद् गोपनमनयनं च दृष्ट्वा प्रार्थयते नाहमिति स्वधाम—द्वारकाया एव प्रापञ्चिकाप्रकट प्रकाश विशेषमपीति । यथा यादवानन्यान्नेष्यस्यैव तथा मामपि नयेत्यपि अर्थान्तरे त्वपि-शब्द--वैयर्थ्यं स्यात् ।

स्वधाम--शब्द का अर्थ--द्वारका का ही प्रापञ्चिक अप्रकट प्रकाश विशेष है। अपरापर यादवगण को जिस प्रकार वहाँपर ले जा रहे हो, मुझ को वहाँपर ले चलो। उस श्लोक का अन्य रूप अर्थ करने पर अर्थात् यादवोंका गमन उक्त द्वारका का अप्रकट प्रकाशमें न मानने से श्लोकस्थ'अपि' शब्दका प्रयोग व्यर्थ ही होगा।

प्रवक्ता श्रीमानुद्धव हैं ॥१३०॥

१३१। पाद्मोत्तरखण्डे कार्त्तिकमाहात्म्ये च यादवानां तादृशत्वम्—

"यथा सौमित्रि-भरतौ यथा सङ्कर्षणादयः। तथा तेनैव जायन्ते निजलोकाद्यदृच्छया॥३६५॥
पुनस्तेनैव गच्छन्ति तत्पदं शाश्वतं परम्। न कर्म्मबन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते॥"३६६॥इति

अत्र निजालोकादिति तत्पदमिति च रामकृष्णादिवैकुण्ठमेव पाद्ममतम्,—श्रीमत्स्याद्यवताराणां पृथक् पृथग्वैकुण्ठावस्थितेस्तत्र साक्षादुक्तत्वात्। तादृशानां भगवत इव भगवदिच्छैव जन्मादिकारणञ्चोक्तं श्रीविदुरेण (भा० ३।१।४४)

"अजस्य जन्मोत्पथ-नाशनाय, कर्म्माण्यकर्त्तुर्ग्रहणाय पुंसाम्।
नन्वन्यथा कोऽर्हति देहयोगं, परो गुणानामुत कर्म्मतन्त्रम्॥"३६१॥ इति।

"को वान्योऽपि" इति टीका च। तदेवं तेषां श्रीकृष्णनित्यपरिकरत्वे सिद्धे साधिते

पाद्मोत्तर खण्डस्थ कार्तिक माहात्म्य में यादवों का भगवत्तुल्यगुणशालित्व वर्णित है। एवं श्रीकृष्ण के सहित नित्यावस्थिति का वर्णन भी है।

"यथा सौमित्रि--भरतौ यथा सङ्कर्षणादयः। तथा तेनैव जायन्ते निजलोकाद्यदृच्छया।
पुनस्तेनैव गच्छन्ति तत्पदं शाश्वतं परम्। न कर्म बन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते॥

जिस प्रकार लक्ष्मण भरत श्रीरामचन्द्र के सहित—एवं जिस प्रकार श्रीबलदेव प्रभृति--श्रीकृष्ण के सहित निज निज धाम से स्वेच्छा क्रम से प्रपञ्च में अवतीर्ण होते हैं। उस प्रकार यादवगण भी निज लोकसे श्रीकृष्ण के सहित स्वेच्छा से अवतीर्ण होते हैं पुनर्वार उनके सहित प्रकृत्यतीत निज नित्य धाम में गमन करते हैं। कारण--वैष्णववृन्द का कर्म बन्धन निमित्त जन्म नहीं होता है।

मूल श्लोक में "निजलोक" एवं 'तत् पद' का प्रयोग है, उससे श्रीराम कृष्ण प्रभृति का स्वतन्त्र निज धाम का बोध होता है। अर्थात् श्रीरामचन्द्र—निज वैकुण्ठ—अयोध्या का अप्रकट प्रकाश से, एवं श्रीकृष्ण निज वैकुण्ठ द्वारकादि का अप्रकट प्रकाश से आविर्भूत होते हैं। पाद्मोत्तर खण्ड का अभिमत यह ही है। कारण—मत्स्यादि अवतारों की पृथक् पृथक् वैकुण्ठ में स्थिति की वार्त्ता उक्त ग्रन्थ में लिखित है।

श्रीभगवान् के समान ही भगवत् पार्षदों का अवतरण यदृच्छा क्रम से 'ईश्वरेच्छा से' होता है। भा० ३।१।४४ से श्रीविदुर महाशयने उक्त विषय का कथन सुस्पष्ट रूप से किया है। प्राकृत जन्म रहित श्रीकृष्ण का आविर्भावरूप जन्म उत्पथ परायण दुर्वृत्त गण को विनष्ट करने के निमित्त होता है। एवं सत्त्वादि गुण हेतुक कर्त्तृत्व रहित श्रीभगवान् का कर्माचरण—केवल लोक शिक्षा के निमित्त ही होता है, अर्थात् जिस के प्रति जनगण का चित्त आकृष्ट कराने के निमित्त, एवं उत्तम आदर्श से प्रेरित होकर जनहित कर उत्तम कर्माचरण कराने के निमित्त श्रीभगवान् कर्माचरण करते हैं।

अन्यथा गुणातीत कौन व्यक्ति, माता पिता से उत्पन्न होकर प्राकृत देह धारण एवं प्राकृत सत्त्वादि गुण जन्म कर्म विस्तार करने में सक्षम होता है।

क्रमसन्दर्भ—अजस्य जन्मेत्याविर्भाव मात्रं तदित्यर्थः। अकर्त्तुः कर्माणीति स्वैरलीला इत्यर्थः। पुंसां सर्वेषां ग्रहणाय स्वस्मिन्मनस आकर्षणाय, यथोक्तं पञ्चमे (भा० ५।२५।१०) "यल्लीलामृगपतिराददेऽनवद्यामादातु" स्वजनमनांस्युदारवीर्य्यः" इति॥ अतो देहयोगमिति पितृत्वेन स्वीक्रियमाणानां देहेष्वाविर्भावमात्रमित्यर्थः। गुणानांपरः कः पार्षदादिरपि। भा० ५।२५।१० का क्रमसन्दर्भ, मृगपतिः--श्रीवराह देवः, भा० ३।१८।२ 'जहास चाहो वनगोचरोमृगः" इति तत्रापि मृग शब्द प्रयोगात् यस्य लीलां

श्रीवसुदेवादीनां प्रागजन्मनि साधकत्वादिकथनञ्च भगवत इव भगवदिच्छयैव लोकसंग्रहाद्यर्थमंशेनैवावतारात् क्वचिज्जीवान्तरावेशात् सम्भवति । पुनश्च स्वयमवतरत्सु तेषु तदंशप्रवेशकथारीत्या त्वेकत्वेन कथनमिति ज्ञेयम्, यथा प्रद्युम्नस्य व्याख्यातम् । एवं तृतीये (भा०३।४।११) "वेदाहम्" इत्यादि-भगवद्वाक्ये उद्धवं प्रति वस्वंशत्वापेक्षयैव 'वसो' इति सम्बोधनम् । तादृशांशपर्य्यवसानास्पदांशिरूपत्वेन चरमजन्मतोक्तिश्च ज्ञेया । अतः आह, (भा० १०।३।३२)—

पृथिवी धारण लक्षणामाददे—स्वीकृतवानिति परम माहात्म्यं दर्शितम् ।

स्वामि टीका—सर्व दुर्वृत्त बधाद्यर्थमेव भगवतो जन्म कर्माणि नान्यथेतिकैमुत्यन्यायेनाह, अजस्यापि जन्म—अकर्त्तु रपि कर्माणि पुंसां ग्रहणार्थाय कर्मसु प्रवृत्तये । अन्यथा न चेदेवं तर्हि भगवतो जन्मादि कथा तावदास्ताम् । को वा अन्योऽपि गुणानां परो गुणातीतो देह योगं कर्म विस्तारञ्चार्हतीति ।

सर्व--दुर्वृत्त बध करने के निमित्त ही श्रीभगवान् के जन्म कर्माचरण होते रहते हैं । अन्यथा कैसे सम्भव होगा । जन्म रहित का भी कर्म, अकर्त्ता होकर भी कर्माचरण—कैसे सम्भव होगा । केवल मनुष्य को आदर्श शिक्षा प्रदान हेतु ही होता है । जन्म कर्म भगवान् का होता है । यदि ऐसा न माना जाय तो भगवान् की जन्मादि कथा तो दूर रही, अपर भगवत् पार्षदों का भी गुणातीत देह धारण एवं कर्म करण कैसे सम्भव होगा ? भगवान् जन्म ग्रहण एवं कर्म करते हैं, तब ही कर्म जन्म प्रभृति का विस्तार होता है ।

उक्त श्लोक में स्वामिपादने ('को वान्योऽपि) कौन व्यक्ति, अपर कोई व्यक्ति—इस प्रकार व्याख्या की है, इस से प्रतीत होता है--गुणातीत श्रीभगवान् का प्राकृत जन्म कर्म्म तो है ही नहीं, किन्तु गुणातीत अपर किसी का भी प्राकृत जन्म कर्म नहीं है, अर्थात् भगवत् पार्षदगणों का भी तादृश जन्म कर्म नहीं है । उन सब के जन्म कर्म लीलामात्र है, स्वरूप शक्ति का विलास मात्र है ।

उक्त प्रमाण समूह से यादव प्रभृतिओं का नित्य परिकरत्व सिद्ध होनेपर—श्रीवसुदेव प्रभृति का पूर्व जन्म वृत्तान्त वर्णन--साधक स्वरूप जो वर्णन है, उसका समाधान होना अत्यावश्यक है । समाधान यह है-कि—श्रीभगवान् चरित्र के समान ही भगवत् पार्षदों का चरित्र भगवदिच्छा क्रम से लोक संग्रह के निमित्त ही होता है । श्रीवसुदेवादि का अंशावतार के द्वारा साधक जीव में आवेश हेतु उक्त वर्णन सम्भव होता है ।

जिस समय श्रीवसुदेवादि का स्वयं अवतरण होता है, उस समय उक्त अंश श्रीवसुदेवादि में प्रविष्ट होता है, कथा वर्णन परिपाटी से अंश अंशी का वर्णन अभिन्न भावसे हुआ है । इस प्रकार जानना होगा। इतः प्राक् प्रद्युम्न प्रसङ्ग में जिस प्रकार व्याख्या हुई है, श्रीवसुदेवादि के सम्बन्ध में भी उस प्रकार जानना होगा । उस प्रकार भा० ३।४।११ में वर्णित है—

वेदाहमन्तर्मनसीप्सितं ते ददामि यत्तत् दुरवापमन्यैः ।
सत्रे पुराविश्वसृजां वसूनां मत्सिद्धिकामेन वसोत्वयेष्टः ।।

श्रीभगवान् कहते हैं—हे वसो ! मैं तुम्हारे अन्तर में अवस्थित होकर मनोऽभिलाषको जान गया हूँ । अपर का दुष्प्राप्य साधन प्रदान मैं तुम को करूँगा । पहले तुमने विश्वश्रेष्ठ गण के यज्ञ में मुझ को प्राप्त करने के निमित्त अनुष्ठान किया था । यहाँ उद्धव को 'वसु' शब्द से सम्बोधन करने का तात्पर्य्य यह है-- 'वसु' उद्धव का अंश है--उद्धव, उसका अंशी हैं । चरम जन्म में अंशी उद्धव में अंश वसुका प्रवेश होने से 'वसु' शब्द से सम्बोधन हुआ है ।

(१३१) "त्वमेव पूर्व्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति।
तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः ॥" ३६८॥

त्वं श्रीदेवकीदेव्येव पृश्निरभूः, न तु पृश्निस्त्वमभूरिति । एवं तदायमपीति ॥ श्रीभगवान् ॥

१३२। एवमेवाह (भा० ६।२४।३०)

(१३२) "वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिम्" इति।

(भा० ४।३।२३) "सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं, यदीयते तत्र पुमानपावृतः" इत्यादौ प्रसिद्धं वसुदेवाख्यं हरेः स्थानमत्रानकदुन्दुभिं वदन्ति मुनय इति ॥ श्रीशुकः ॥

१३३। तथात्राप्येवं व्याख्येयम् (भा० १०।३।८) —

(१३३) देवक्यां देवरूपिण्याम्" इति।

तज्जन्यही भा० १०।३।३२ में कहा गया है

"त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वयम्भुवे सति।
तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः ॥"

अंश का प्रवेश अंशी में होता है, इस नियम से श्रीभगवान् देवकी को कहे थे,--हे सति ! पूर्व सृष्टि में स्वायम्भुव मन्वन्तर में तुम पृश्नि थी, उस समय वसुदेव--सुतपा नामक शुद्ध चित्त प्रजापति थे।" यहाँ प्रतीत होता है कि—देवकी देवी पृश्नि हुई थी, किन्तु पृश्नि--देवकी नहीं हुई। देवकी देवी—पृश्नि की अंशिनी है। तद्रूप वसुदेव भी सुतपा का अंशी है। प्रवक्ता श्रीभगवान् हैं—॥१३१॥

इस प्रकार ही भा० ६।२४।३० में उक्त है—

"वसुदेवं हरेः स्थानं वदन्त्यानक दुन्दुभिम्" इति।

श्रीहरि का स्थान—वसुदेव को आनक दुन्दुभि कहते हैं। जिनसे स्व प्रकाश श्रीहरि—प्रकाशित होते हैं, उनको वसुदेव कहते हैं। भा० ४।३।२३ के कथनानुसार वसुदेव नामक श्रीहरिका स्थान--श्रीहरि का आविर्भावस्थान को--द्वारका--मथुरा के मुनिगण, आनकदुन्दुभि कहते हैं। श्लोक में वदन्ति क्रिया पद का उल्लेख हैं, अतएव बहुवचनान्त कर्त्ता का अध्याहार किया गया है।

"सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं, यदीयते तत्र पुमानपावृतः
इत्यादौ प्रसिद्धं वसुदेवाख्यं हरेः स्थानं वदन्त्यानकदुन्दुभिं वदन्ति मुनय इति।
प्रवक्ता श्रीशुक हैं—॥१३२॥

इस प्रकार (भा० १०।३।८) देवक्यां देव रूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः" इस श्लोक की भी व्याख्या करना कर्त्तव्य है। व्याख्या "देव—वसुदेव, तद्रूपिणी शुद्ध सत्त्व--वृत्तिरूपा श्रीदेवकी देवी, उनमें सर्वगुहाशय विष्णु आविर्भूत हुये थे। अतएव श्रीदेवकी देवी शुद्ध सत्त्व स्वरूपा होने के कारण विष्णु पुराण में उनके प्रति देववृन्द की स्तुति इस प्रकार है—"त्वं परा प्रकृतिः सूक्ष्मा" "तुम सूक्ष्मा परा प्रकृति हो" इत्यादि। मायामयी प्रकृति—अपरा संज्ञा से अभिहित है, एवं चित्प्रकृति—'परा' शब्द से अभिहित है। अतएव परा प्रकृति शब्द से विशुद्ध सत्त्व का ही बोध होता है।

वृहद् क्रमसन्दर्भ—अथ भा० १०।२।१८ "काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः" इति पूर्वोक्ते र्न देवकी चिरं मनस्येव दधार, अवतारसमयमासाद्य भगवान् तन्मनसो वहिर्बभूवुरतिशयं भवितु मिच्छुः प्राकट्य

देवो वसुदेवस्तद्रूपिण्यां विशुद्धसत्त्वरूपायामेवेति । अतएव विष्णुपुराणे तां प्रति देवस्तुतौ (वि० पु० ५।७) "त्वं परा प्रकृतिः सूक्ष्मा" इति बहुतरम् ।। श्रीशुकः ।।

१३४। अतएवाहमिव नित्यमेव मत्पितृरूपेणाप्रकटलीलायां वर्त्तमानौ युवामधुना प्रकट-लीलामनुगतौ पुनरप्रकटलीलाप्रवेशं यदृच्छयैवाप्स्यथ इत्याह (१०।३।४५) —

(१३४) "युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन वासकृत् ।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम् ।।" ३८८।।

ब्रह्मभावेन नराकृतिपरब्रह्मबुद्धया परां प्रकटलीलातोऽन्यां मद्गतिं लीलाम् ।।

मासेदिवानित्याह— देवक्यामित्यादि । देवरूपिण्यामिति—देवी— भक्ति र्भगवति, तद्रूपिणीति पुंवद्भावः भक्तावेव भगवत् प्रकाशनियमात् । विष्णु र्व्यापकोऽपि सर्वेषु गुहाशयत्वेन वर्त्तमानोऽपि तस्यां यथा यथावत् याथार्थ्येन श्रीकृष्णाख्य—स्वरूपेणाविरासीत् । क इव कस्याम् ? इन्दुः—प्राच्यां—दिशीव, पूर्णत्वेनान्यत्र स्थितोऽपि चन्द्रः प्राच्यां दिश्येवोदयति, नान्यस्यामित्येव याथार्थ्यम् ।।

भा० १०।१।१८ के वर्णनानुसार—शूरसुत श्रीवसुदेवने समाधि भावना के द्वारा प्राप्त जगन्मङ्गलावतार श्रीकृष्ण को मनमें धारण किया था । उसमें दृष्टान्त पूर्वदिक् आनन्द कर चन्द्रको जिस प्रकार धारण करती है, चन्द्र उस दिक् में उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु उदित होता है । इस से प्रतीत होता है कि श्रीदेवकी ने चिरकाल से मन में हरि को धारण नहीं किया, किन्तु अवतार समय प्राप्त होने से भगवान् श्रीदेवकी के मनसे आविर्भूत होने की इच्छा किये थे । अतः प्रकट ही गये । देवरूपिणी देवकी हैं, वह भक्ति स्वरूपिणी भगवती हैं । देवरूपिणी—पुंवद्भाव होने का कारण है भक्ति में ही भगवान् का नियत प्रकाश होता है । श्रीविष्णु—व्यापक हैं, सर्वत्र वर्त्तमान होने पर भी श्रीदेवकी में यथार्थतः ही श्रीकृष्णरूप में आविर्भूत हुये थे । कहाँ, किस के समान ? कहते हैं,—इन्दु जिस प्रकार पूर्व दिक् में आविर्भूत होता है, पूर्ण रूपेण अन्यत्र अवस्थित होने से भी चन्द्र पूर्व दिक् में ही आविर्भूत होता है, अन्यदिक् में नहीं यह ही यथार्थ्य है ।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं—।।१३३।।

श्रीवसुदेव देवकी श्रीहरिका आविर्भाव स्थान होने के कारण श्रीभगवान् उनके प्रति कहे थे—भा० १०।३।४५

युवां मांपुत्रभावेन ब्रह्मभावेन वासकृत् ।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम् ।।

बृहत् क्रमसन्दर्भ—किन्तु नारायणरूपं दर्शितमिति भवद्भ्यां मयि ब्रह्मभावो न कार्य्यः, पुत्रभाव एव कार्य्यः । इत्याह । युवां मामित्यादि । असकृत् सकृद् वा, 'च' कारो वार्थः । पुत्र भावेन कृतस्नेहौ सन्तौ मां चिन्तयन्तौ । ब्रह्मभावे सति परां परात्परां मद्गतिं मल्लोकाख्यां न यास्येथे । ब्रह्मभावे कैवल्यमेव भवति, नतु मल्लोक प्राप्तिः । येन पूर्वमपवर्गं न बव्राथे, तेनैवाधुनापि पुत्रभावमेव कुरुतम् । अथ नित्य तथैव मयि वात्सल्यवन्तौ भविष्यथ इति भावः ।

आप नित्य रूप में पितृ स्वरूप में अप्रकट लीला में भी वर्त्तमान हैं, सम्प्रति प्रकट लीला में आप दोनों माता पिता रूप में विद्यमान हैं । पुनर्वार अप्रकट लीला में आप दोनों का प्रवेश होगा । इस अभिप्राय से श्रीकृष्ण नें कहा—मेरे प्रति—स्नेह शील आप दोनों मेरी चिन्ता बारम्बार पुत्र भावसे करते करते परम गति को प्राप्त करेंगे ।

ब्रह्म भावके द्वारा कैवल्य प्राप्ति होती है । मल्लोक की प्राप्ति नहीं होती है ।'ब्रह्मभाव'शब्दसे नराकृति परब्रह्म,

१३५। युवयोः प्रागंशेनाविर्भूतयोरपि मदेकनिष्ठासीदित्याह (भा० १०।३।३९)—

(१३५) "अजुष्टग्राम्यविषयावनपत्यौ च दम्पती ।
न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम मायया ॥"४००॥

मम मायया मद्विषयकस्नेहमय्या शक्त्येत्यर्थः, (१०।८।४७) "वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः" इति व्रजराज्ञीं प्रति च तथा-दर्शनात् । तादृशस्नेहजनिकया मम कृपयेति वा,—"माया दम्भे कृपायाञ्च" इति विश्वप्रकाशात्, तत्प्रेम्णैव ह्यपवर्गस्य तिरस्कारः सर्व्वत्र श्रूयते, यद्यपि मोक्षवरणे हेतुरस्तीत्याह—अजुष्टेति । विषयावेशाभावाद्वैराग्योत्-पत्तेरिति भावः ॥ श्रीभगवान् पितरौ ॥

१३६। अथ श्रीगोपादीनामपि तन्नित्यपरिकरत्वम् (भा० १०।९०।४८) 'जयति जननिवासः' इत्यादावेव व्यक्तम् । अतएवाह (भा० १०।२५।१८) —

नराकृति बुद्धि को जानना होगा। 'पराम्' शब्द से—प्रकट लीला से भिन्न श्रीकृष्ण की गति लीला को जानना होगा ।।१३४।।

मत् प्राप्ति में वात्सल्य बुद्धि ही कारण है। आप दोनों में उक्त तद्‌विषयक उत्‌कट अनुराग था, । स्वायम्भुवमन्वन्तर में—आप दोनों के अंश से पृश्नि--सुतपा रूप से आविर्भूत हुये थे ।, उस समय भी आप दोनों की निष्ठा उक्त भाव में ही रही। इस अभिप्राय से ही भगवान् ने भा० १०।३।३९ में कहा—आप दोनोंने ग्राम्य विषय भोग में वितृष्ण होकर अनपत्य होते हुये भी मेरी मायासे मुग्ध होकर मोक्षकी प्रार्थना नहीं की। श्लोक की व्याख्या—मेरी माया— मेरी विशेष स्नेहमयी शक्ति उससे मुग्ध होकर अपवर्ग की प्रार्थना आपने नहीं की। भा० १०।८।४३ में उक्त मायाका विवरण है-"वैष्णवीं व्यतनोत् मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः"—उक्त शक्ति ही श्रीमद् भागवत में माया शब्द से अभिहित है।

व्रजराज्ञी के प्रति विभुने पुत्रस्नेहमयी माया का विस्तार किया।" यहाँ माया शब्द का उक्तार्थ प्रसिद्ध है। अथवा माया शब्द का अर्थ कृपा है, माया—मेरी तादृश स्नेह जनिका कृपा है विश्व प्रकाश की में—"माया—दम्भे—कृपायाञ्च" उल्लेख है। तद्यपि—श्रीकृष्ण प्रीति के निकट अपवर्ग तिरस्कृत होता है, वह सर्वत्र प्रसिद्ध है, तथापि—श्रीवसुदेव देवकी में मोक्षवर प्रार्थना की सम्भावना थी। वे दोनों ग्राम्य विषय भोग में विरत थे। विषयावेश के अभाव हेतु वैराग्योदय होता है। सर्वत्र अनादर केवल मोक्षलाभ हेतु ही होता है। इस प्रकार वैराग्य सम्पन्न श्रीवसुदेव देवकी मोक्ष की उपेक्षा करके श्रीकृष्ण को पुत्र रूप में प्राप्त करने का अभिलाषी हुए थे। यह श्रीकृष्ण निष्ठा का ही परिचायक है।

श्रीभगवान् मातापिता को कहे थे ।।१३५।।

अनन्तर श्रीगोप प्रभृतिओं का नित्य परिकरत्व प्रतिपादन करते हैं।। भा० १०।९०।४८ स्थ 'जयति जन निवास' श्लोक में नित्य परिकरत्व सुस्पष्ट प्रतिपादित हुआ है। भा० १०।२५।१८ में भी कथित है—

"तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत् परिग्रहम् ।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं में व्रत आहितः ।।"

क्रमसन्दर्भ—गोपाय इति वर्त्तमान—प्रयोगेन स्वाभाविकत्वं व्यञ्जयति। श्रीकृष्ण ने कहा-पित्रादि व्रजजनगण को विनष्ट करने के निमित्त इन्द्र—वर्षण कर रहा है। गोष्ठ किन्तु मदाश्रित है, मैं इसका एकमात्र रक्षक हूँ, एवं निजत्व बुद्धि से मैं इसका ग्रहण किया हूँ। सुतरां मैं निज असाधारण प्रभाव के

(१३६) "तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत् परिग्रहम् ।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः ॥" ४०१॥

स्पष्टम् ॥ श्रीभगवान् ॥

द्वारा इसकी रक्षा करूँगा । गोष्ठ रक्षा विषय में कृत सङ्कल्प हूँ ।

वैष्णव तोषणी—यस्मान्ममात्मनिर्विशेषत्वेनास्मच्छन्दकोड़ीकृतानां मत् पित्रादि गोष्ठवासिनां नाशाय इन्द्रो वर्षति, तत्र च प्रतिविधिं सम्प्रत्येव साधयिष्यामि, तत्र चानुषङ्गिकतया लोकेशमात्राणां तमोहरिष्ये । तच्च युक्तं, तस्मादहमेवेतदिदं गोष्ठम् आत्मयोगेन साध्ये, असाधारण—स्वाभाविक प्रभावेण गोपाये, सम्प्रत्येव गोपयिस्यामि । न केवलं सम्प्रत्येव, किन्तु स पूर्वपूर्वसिद्धः । अयं गोष्ठस्य पालनरूपो मम व्रतोनियम एवाहितो विहित इत्यर्थः । कीदृशं गोष्ठम् ? तत्राह—अहमेव शरणं रक्षिता यस्य तत् यतोऽहमेव नाथ ईश्वरो यस्य तत् । किञ्च मम परिग्रहं कुटुम्बमतो अकृत्येनापि रक्ष्यमित्यर्थः, वृद्धौ च माता-पितरौ साध्वीभार्य्या सुतः शिशुः । अप्यकार्य्यशतं कृत्वा भर्त्तव्या मनुरब्रबीत् ।" इतिवत् ।

यद्वा, मम शरणमाश्रयं, मम नाथं परि पालकम् । कुतः ? अहमेव परिग्रहो धन पुत्रदारादि सर्वं यस्य तत्, मदेकप्रियमित्यर्थः । अतो गोपाये इति—वर्त्तमान प्रयोगेन स्वाभाविकत्वं व्यञ्जयति । अतः, आत्मयोगेनेत्युक्तम्, अतः सोऽनादिसिद्धोयं सम्प्रत्यपि प्राप्त इति दर्शितम् । तत्र हेतुः—ये मम नित्यनराकृति लीलस्य ईश्वरस्य इति व्रतः प्रतिज्ञा आहितः सर्वांशेन धृतः । तदेवमिन्द्रस्य मच्छरणात्वादि—विरुद्ध-धर्मवन्मच्छरणादिरूपगोष्ठवासिनां विरोधाय प्रवृत्तत्वान्मानभङ्गोऽपि गोष्ठवासिगोपनाय योग्य इति विवक्षितम् ।

मेरा अभिन्न हृदय स्वरूप गोष्ठवासियों को विनष्ट करने के निमित्त इन्द्र वर्षा कर रहा है । उसका प्रतिकार मैं सत्वर करूँगा । आनुषङ्गिक रूप में लोकेश मात्रका तमो अपसारण भी करूँगा । यह उचित है । अतएव मैं ही गोष्ठ की रक्षा करूँगा, असाधारण स्वाभाविक प्रभाव से ही रक्षा करूँगा । सम्प्रति ही करूँगा । केवल सम्प्रति करूँगा, यह नहीं—किन्तु वह कार्य्य पूर्व पूर्व परम्परासिद्ध ही हैं, सनातन है, गोष्ठ का पालन करना मेरा सुनिश्चित व्रत नियम है । गोष्ठ किस प्रकार है । कहते हैं—मैं ही जिसका एकमात्र रक्षक हूँ, मैं ही उसका नाथ ईश्वर स्वामी हूँ । और भी—मेरा परिग्रह है, अर्थात् कुटुम्ब रूप में मैं ने उस को ग्रहण किया है, कुटुम्ब होने के कारण अकृत्य के द्वारा भी उसे रक्षा करना कर्त्तव्य है, मनु ने कहा भी है—वृद्ध माता पिता, साध्वी भार्य्या, शिशु पुत्र का पालन शतशत अकार्य्य करके भी करें । इस शास्त्रीय विधानवत् मुझे भी करना है ।

अथवा—मेरा एकमात्र शरण—आश्रय गोष्ठ है, मेरा नाथ है—परिपालक है । कैसे ? मैं ही गोष्ठ वासियों के एकमात्र धन पुत्रदारादि सब कुछ हूँ, वे सब मेरे प्रति एकमात्र प्रीति शील हैं'— अतएव रक्षा करूँगा, 'गोपाय' वर्त्तमान क्रिया प्रयोग से रक्षा कार्य्य स्वाभाविक है, कृत्रिम नहीं है । अतः आत्मनिर्विशेष निखिल शक्ति के द्वारा रक्षा करूँगा । यह अनादि सिद्ध है, सम्प्रति भी प्राप्त हुआ है । कारण है—मैं नराकृति पर ब्रह्म ईश्वर हूँ, मेरी प्रतिज्ञा सर्वान्त करण से पालनीय है, गोष्ठ मेरा आश्रय है, मैं सब का आश्रय हूँ, इस प्रकार मेरे समान विरुद्धधर्माक्रान्त मेरा आश्रय स्वरूप गोष्ठ का विनाश कार्य में प्रवृत्त इन्द्र है, अतएव उसका मानभङ्ग करना भी गोष्ठ वासियों की रक्षा निबन्धन सर्वथा उचित है, कथन का अभिप्राय यह है, मैं उक्त कार्य्य सम्पादन में कृत सङ्कल्प हूँ ।

स्पष्टोक्ति श्रीभगवान् की है ॥१३६॥

१३७। तथा (भा० १०।५।१८)—

(१३७) "तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्व्वसमृद्धिमान् ।
हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीड़मभून्नृप ।।" ४०२।।

हरेर्निवासभूतो य आत्मा तस्य ये गुणास्तैरेव सर्व्वसमृद्धिमान्, नित्ययोगे मत्वर्थीयेन नित्यमेव सर्व्वसमृद्धियुक्तः श्रीनन्दस्य व्रजः ; ततस्तं श्रीकृष्णप्रादुर्भावमारभ्य तु रमाक्रीड़ (ब्र० सं० ५।२९) "चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष,-लक्षावृतेषु सुरभिरभिपालयन्तम् ।

उस प्रकार ही भा० १०।४।१८ में कथित है—

"तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् ।
हरेर्निवासात्मगुणैरमाक्रीड़मभून्नृप ।।"

हे नृप ! श्रीकृष्ण के आविर्भाव समय से ही नन्दव्रज हरिनिवास आत्म गुण के द्वारा सर्व समृद्धिमान् एवं रमा का क्रीड़ास्थल हुआ था ।

वैष्णवतोषणी । ननु सद्य एव धेनुनियुतद्वयस्य सम्यगङ्कारसम्पादनं, सप्ततिलाद्रयादि साधनं कथं सिद्धमित्यपेक्षायामाह--तत इति । प्राक् स्वत एव मथुरा 'मथुरा भगवान् यत्र नित्यम्' (भा० १०।१।१८) इत्यादि न्यायेन 'योऽसौ गोपेषु तिष्ठति' इत्यादितापनी श्रुत्या 'जयति जननिवासः" (भा० १०।९०।४८) इति प्रोयान्निइन्द्रोगवाम् (भा० १०।२६।२५) इति 'भगवान् गोकुलेश्वरः' इति शुकोक्त्या च हरिनिवास भूतो च आत्मा, तस्य स्वस्यैव येगुणास्तैः सर्वसमृद्धिमान् व्रजः, तत इति ततस्य जन्मारभ्य तु रमाक्रीड़मभूत् बभूव । चिन्तामणिसद्मसुकल्पवृक्ष—लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम् । लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।' (ब्र० सं० ५।२९) इति ब्रह्मसंहितानुसारेण तत्तन्मन्त्रादौ स्वयं भगवन्नित्य प्रेयसीतया सेव्यत्वेन । ' नायं श्रियः' (भा० १०।४७।६०) इत्यादौ वैकुण्ठश्रीविजयेन तासु स्वर्योषिदादि—सर्वान्ययोषित्वपरिहारेण च व्रजदेवीनामेव परमरमारूपाणां तासां परमरमायाः श्रीराधायाश्च तदानीमेवाविर्भावाद्विहारस्थानमपि बभूवेत्यर्थः। यदि च 'तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्व समृद्धिमान्' सन् 'हरेर्निवासात्मगुण रमाक्रीड़म्' यथास्यात् तथाभूदिति सरलान्वयः क्रियते, तदपि पूर्ववदेवार्थः प्रसज्जते । तदारभ्य तस्य व्रजः सर्व समृद्धिमान् आसीदितिमात्रं किं वक्तव्यं यः खलु हरिनिवास लक्षणस्य स्वरूपस्य गुणै रमाणां तासामप्याक्रीड़तयासीदिति, ततो जगल्लक्ष्मी दृष्ट्यापाताकस्मिक--सर्व सम्पत्ति सम्भवात्तदानीं तत्र किमिवासम्भवं, यत्र चिन्तामणिमन्दिरादयोऽपि निगूढ़ लीलायां सन्तीति भावः । ताश्चाष्टाविंशाध्यायादौ प्रति पादयिष्यामः । तदेवं प्रसङ्गतः व्रजदेवीनामपि भगवद्वत् प्राकट्य मात्रं जन्मसूचितम् । रमाक्रीड़शब्देन च सर्व समृद्धिमत्त्वे वाच्ये पौनरुक्तं स्यात्, रमान्तराक्रीड़त्वे वाच्ये प्रसिद्धि विच्युति र्भवति, हरे निवासात्मगुणैरित्येतावता दिवक्षित सिद्धेरात्मपदवैयर्थ्यं जायते, तस्मादविचार प्रतीतिमर्थान्तरं नादृतम् ।।

श्लोक व्याख्या—हरि निवास आत्मगुण—श्रीहरि का निवासभूता जो आत्मा—उसका गुण, उस से व्रज सर्वसमृद्धिमान् था, अर्थात्--आत्म शब्द स्वरूपवाची है, व्रज का स्वरूप यह है कि वहाँ श्रीकृष्ण नित्य अवस्थित हैं । भक्त हृदय में श्रीहरि विराजित हैं, किन्तु श्रीकृष्ण विच्छेद की स्फूर्त्ति भी हृदय में होती है । किन्तु व्रज के सहित श्रीकृष्ण का विच्छेद कभी भी नहीं होता है । सुतरां श्रीकृष्ण विहार स्थल में जो सब गुण की आवश्यकता है, उक्त गुणों से व्रज सर्व समृद्धिमान् है । यहाँ समृद्धि शब्द के उत्तर नित्य योग में मतुप् प्रत्यय हुआ है । इस प्रकार प्रत्यय के द्वारा ही व्रज नित्य सर्व समृद्धि पूर्ण है यह

लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्" इत्यत्र प्रसिद्धरमाणां महालक्ष्मीरूपाणां श्रीव्रजदेवीनामपि साक्षाद्विहारास्पदं बभुव । हरिनिवासात्मनि तत्र श्रीकृष्णो यावन्निगूढ़तया विहरति स्म, तावत्ता अपि तथैव विहरन्ति स्म । व्यक्ततया तु ता अपि व्यक्ततयेत्यर्थः ।। श्रीशुकः ।।

१३८। एतदेव प्रपञ्चयति षड़्भिः (भा० १०।१४।३२) —

(१७८) "अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।।" ४०३।।

भाग्यमनिर्वचनीया कापि श्रीकृष्णकृपा, तस्य पुनरुक्तयादरेण सर्व्वथैवापरिच्छेद्यत्वमुक्तम् । पूर्णपरमानन्दब्रह्मत्वेनैव सनातनत्वे सिद्धे यत् पुनस्तदुपादानं तन्मित्रपदस्यैव विशेषणत्वेन लभ्यम् । अथवा विधेयस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थमनूद्यं विशिष्यते । यथामनोरमं सुवर्णमिदं

प्रतीत होता है ।

उक्त व्रज का विशेष परिचायक शब्द—'श्रीनन्द व्रज है, अर्थात् जहाँ श्रीव्रजराजनन्द सपरिकर निरन्तर अवस्थित हैं । उक्त व्रज सर्वदा उक्त निखिल सम्पद पूर्ण है । सुतरां श्रीकृष्ण आविर्भाव समय से आरम्भ कर व्रज—रमा की क्रीड़ा भूमि हुई थी ।

यहाँ रमा शब्द से प्राकृत लक्ष्मी का ग्रहण नहीं होता है, अन्यथा विविध दुरपनीय दोष का प्रसङ्ग होगा । किन्तु रमा शब्द से महालक्ष्मी स्वरूपा व्रजदेवी का ग्रहण ही होता है । ब्रह्मसंहिता में (५।२९) श्लोक के अनुसार व्रजदेवीयों का ग्रहण हुआ है । चिन्तामणि समूह के द्वारा निर्मित गृह समूह एवं लक्षलक्ष उत्तम कल्प वृक्ष समावृत श्रीगोकुल में सर्वतोभावेन सुरभिपालन करते करते सहस्र शत लक्ष्मी द्वारा सादर से सेवित होते हैं, उन श्रीगोविन्द का भजन मैं करता हूँ । इस प्रकार ब्रह्मा की उक्ति से उल्लिखित सर्व लक्ष्मीभूता व्रज देवियों का विहार स्थल—श्रीकृष्णाविर्भाव समय से ही व्रज हुआ था । उस समय ही उक्तस्थल रमा की क्रीड़ाभूमि हुई थी, ऐसा नहीं, अपितु श्रीहरि की निवासभूमि स्वरूप श्रीगोकुल श्रीकृष्ण यावत् निगूढ़ रूप से विहार करते हैं, तावत् वृजदेवी गण भी निगूढ़ रूपसे विहार करती हैं । जिस समय श्रीकृष्ण,—प्रकट विहार करते हैं, व्रजदेवी गण भी उस समय प्रकट विहार करती हैं ।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं (१३७)

श्रीमद् भागवतस्थ ब्रह्मस्तव के षट् श्लोक के द्वारा उक्त वृत्तान्त का विस्तार करते हैं—भा० १०।१४।३२

"अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजोकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।।"

बृहत्क्रमसन्दर्भ—"नन्वस्तु तावदासां भाग्यम्, तवानेन किमायातम्" भवज्जनानां मध्ये एकोऽपि भूत्वा तव पादपलपल्लवं निषेवे इतियदुक्तं तत्रेदं नोपयुज्यते ? सत्यम्, अहन्तु ब्रजौकसां मध्ये यः कश्चिदपि भूयासमिति व्रजौकमात्रमेव स्तौमीत्याह—अहोभाग्यमहोभाग्यमित्यादि, अतिशय विस्मय में वीप्सा । यद् येषां नन्दगोप व्रजौकसां पूर्णं ब्रह्म श्रीकृष्णस्त्वं मित्रं सुहृद्विग्रहतया पूर्णं घनमतः सनातनं परम आनन्दो यत्र, अथवा, सनातनं मित्रम्, नहितदानीन्तनमेव, अपि तु त्रैकालिकमेतेषामपि त्रिकालसिद्धत्वात् । "अहो ! नन्दगोप व्रजवासियों का अनिर्वचनीय सौभाग्य है । कारण— परमानन्द पूर्ण ब्रह्म उन सब के सनातन मित्र हैं ।"

कुण्डलं जातमिति कुण्डलस्यैव मनोरमत्वं साध्यम्, तस्मादत्राप्यनूद्यस्य श्रीकृष्णाख्य--परब्रह्मणः परमानन्दत्वपूर्णत्वलक्षणं विशेषणद्वयं विधेयाया मित्रताया एव तत्तद्भावं साधयतीति तदेकार्थप्रवृत्तं सनातनत्वं तस्यास्तद्भावं साधयेत् । किञ्चात्र 'मित्रम्' इति कालविशेषयोगनिर्द्देशाभावात् कालसामान्यमेव भजते । ततश्च तस्य मित्रतालक्षणस्य विधेयस्य कालत्रयावस्थायित्वमेव स्पष्टम् । कालान्तरासञ्जनं तु कष्टम् । अत्र चोत्तरयोरर्थयोः श्रीकृष्णस्य सनातनत्वे शब्दलब्धे सति तदीयमैत्रीमतां परिकराणामपि सनातनत्वं नासम्भवमपि । श्रीरुक्मिणीप्रभृतीनां तथा दर्शनात् ।

१३९। अहो अस्तु तावदेषां नित्यमेव श्रीकृष्णमैत्री--परमानन्दमनुभवतां भाग्यम्, सम्प्रत्यस्माकमपि तत् किमपि जातमित्याह, (भा० १०।१४।३३) —

सन्दर्भ – यहाँ पर व्रज व सियों का भाग्य– शुभ कर्म जनित अदृष्टात्मक नहीं है । तद् द्वारा श्रीकृष्ण प्राप्ति असम्भव है । श्रीकृष्ण कृपा ही श्रीकृष्ण प्राप्ति का एकमात्र कारण है । तज्जन्य उक्त भाग्य श्रीकृष्ण की अनिर्वचनीय कृपा है । "अहोभाग्यं" श्लोक में भाग्य शब्द की पुनरुक्ति है, उस से परमादर के द्वारा उक्त भाग्य का अपरिच्छेद्यत्व सुव्यक्त हुआ है । अर्थात् व्रजवासियों का जो भाग्य है, वह वैशिष्ट्य पूर्ण है । श्रीकृष्ण,—उनका मित्र हैं, देश, काल, पात्र के द्वारा वह खण्डित नहीं होता है । निखिलावस्था में वे सब श्रीकृष्ण कृपा रूप सोभाग्य मण्डित हैं ।

पूर्ण, परमानन्द, एवं ब्रह्म पदत्रय के द्वारा सनातनत्व सिद्ध हुआ है । अर्थात् पूर्ण, परमानन्द, ब्रह्म ही सनातन नित्य' वस्तु हैं, तथापि सनातन' पदका विन्यास हुआ है । वह पद मित्र पद का विशेषण है, अर्थात् श्रीकृष्ण—व्रज वासि गण के मित्र रूप में अवस्थित हैं ।

अथवा—विधेय मित्रपद को विशेष रूप से परिचित कराने के निमित्त 'सनातन' पद मित्र पद का विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है । यह अनुवाद रूप श्रीकृष्ण पद को विशेष रूप से कहता है । जिस प्रकार "मनोरमां सुवर्णमिद कुण्डलं जातम्" यह मनोरम सुवर्ण कुण्डल हुआ है, इस वाक्य में कुण्डल का ही मनोरमत्व साध्य है, अर्थात् अनुवाद्य सुवर्ण पदका विशेषण, मनोरम पद, विधेय कुण्डल पद का ही मनोरमत्व साधन करता है, सुतरां "यन्मित्रं परमानन्दं" श्लोक में अनुवाद श्रीकृष्णाख्य पर ब्रह्म का परमानन्दमय पूर्णत्व विशेषणद्वय विधेय मित्रता का परमानन्दमयत्व पूर्णत्व साधन करता है ।

उक्त पदद्वय तुल्यार्थ में प्रयुक्त हेतु—सनातन पद भी मित्रता का सनातनत्व साधन करता है, अर्थात् सनातन श्रीकृष्ण मित्र होने से ही उक्त मित्रता भी सनातन है, उक्त मित्रता का कभी ध्वंस नहीं होता है । और भी 'मित्र' पद में काल विशेष का योग का निर्देश नहीं हुआ है । अर्थात् किस समय के निमित्त मित्रता है, इस प्रकार निर्देश न होने से वह कालसामान्य का सूचक है, अर्थात् सर्वकाल व्यापी मित्रता है, अतएव, उक्तमित्रता लक्षण विधेय की अवस्थिति कालत्रय में स्पष्ट रूप में ही है । व्रज वासिगण के सहित श्रीकृष्ण की मित्रता काल विशेष में होती है, – इस प्रकार व्याख्या कष्ट कल्पना प्रसूत है ।

यहाँ उत्तर अर्थद्वय से श्रीकृष्ण का सनातनत्व—नित्य विद्यमानत्व, जब शब्दोपात्त ही है, तब उन में मित्रभावापन्न परिकरगण का सनातनत्व—असम्भव नहीं है । कारण—श्रीरुक्मिणी प्रभृति द्वारका परिकर गण के सहित श्रीकृष्ण की नित्य विद्यमानता सुस्पष्ट है । (१३८)

अहो ! श्रीकृष्ण मैत्रीभाव रूप--परमानन्दानुभवकारी व्रजवासिगण का भाग्य की कथा क्या कहूँ ?

(१३९) "एषान्तु भाग्यमहिताच्युत तावदास्ता;--मेकादशैव हि वयं वत भूरिभागाः ।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिवामः, शर्व्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥"४०४॥
एका अखण्डिता नित्येति यावत् । सा भाग्यमहिता भाग्यमाहात्म्यमेषां तावदास्तां सम्प्रति शर्व्वादयो दशदिक्पालदेवता एव वयं भूरिभागाः, परमभक्तत्वात्तेषु मुख्यत्वाच्च

सम्प्रति हम सब ब्रह्मा प्रभृति का भी अनिर्वचनीय सौभाग्य समुपस्थित है । उक्त अभिप्राय से कहते हैं—भा० १०।१४।३३

> "एषान्तु भाग्य महिमाच्युत तावदास्तामेकादशैव हि वयं वत भूरिभागाः।
> एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥"

हे अच्युत ! व्रजवासियों की अखण्ड महिमा की कथा का वर्णन वार्त्ता तो दूर है, उस को कहने में कौन समर्थ हैं ? एकादशेन्द्रियाधिष्ठाता देवता रूप हम सब भी महा सौभाग्य शाली हैं, कारण—इन्द्रियरूप पान पात्र द्वारा आप के पाद पद्म का मकरन्द—जो अमृत—एवं परम मादकस्वरूप है, उसका पान कर रहे हैं।

व्रजवासिवृन्द की एकादश अखण्डित--नित्य भाग्य महिमा,—भाग्य महिमा का वर्णन- कैसे करूँ । शर्व--महादेव प्रभृति दशदिक् पाल देवता—एवं हम सब महा भाग्य शील हैं । दशदिक् पाल में परम भक्त हेतु श्रीमहादेव मुख्य हैं, एतज्जन्य शर्वादि—अर्थात् महादेव का उल्लेख प्रथम हुआ है । महा भाग्य शालिता का प्रदर्शन करते हैं, हम सब यहाँ पर आकर इन्द्रिय रूप पान पात्र के द्वारा साक्षात् रूप में आप के चरणार विन्द का मधु--अमृत का पान बारम्बार करते रहते हैं । श्रीचरणों के सौन्दर्य्यादि निरतिशय मनोहारी होने के कारण—मधु—अमृत—आसव—त्रिविध वस्तु रूप में समाहार द्वन्द्वसमास के द्वारा उस का निरूपण हुआ है । श्लोकस्थित एतत् पद—अङ्घ्र्युदजमध्वामृतासव—पद का विशेषण है । अर्थात् यह चरण कमल—मध्वामृत मदिरा है, इस प्रकार अर्थ भी होता है ।

"एतद्धृषीक चषकैः" इस पद का अर्थ कतिपय व्यक्ति, इस प्रकार करते हैं—व्रजवासिगण के इन्द्रियादि रूप पान पात्र के द्वारा इन्द्रियाधिष्ठातृ देवगण आपके चरणारविन्द के मधु, अमृत, मदिरा पान कर परम सौभाग्य शाली हैं । "तुष्यतु दुर्जनः" न्याय से अर्थात् विरोध मीमांसा हेतु असमीचीन वस्तु को स्वीकार पूर्वक समाधान में प्रवृत्त होने पर भी सुष्ठुसमाधान नहीं होता है । अर्थात् जिन लोकों के मत में व्रज वासियों के देह प्राकृत है—इस मत को मान कर समाधान में प्रवृत्त होने से भी समाधान नहीं होता है । इस मत में ही—प्राकृत जनगण के समान व्रज वासिगण के देहादि में देवता गण अधिष्ठित हैं, इस प्रकार स्वीकृत होता है । किन्तु व्रजवासिगण—अप्राकृत प्रेममयविग्रह हैं । उनके श्रीविग्रह के चक्षुरादि अवयव में विभिन्न इन्द्रियाधिष्ठातृ देवता का कर्त्तृत्व नहीं है । प्रेम ही सर्वेन्द्रिय प्रवर्त्तक है । जिस समय—जिस इन्द्रिय में चेष्टा प्रकाशित होने से श्रीकृष्ण सुखी होंगे, उस समय ही प्रेम उन सब के इन्द्रिय प्रभृति में उस प्रकार चेष्टा का प्रकाश करता है । कारण—व्रजवासियों के इन्द्रियसमूह के द्वारा जो भोग निष्पन्न होता है, वह इन्द्रियाधिष्ठातृ देववृन्द के कर्त्तृत्वाधीन से वह भोग सम्पन्न नहीं होता है । उसका प्रमाण—ब्रह्म सूत्र २।४।१६ "तस्य च नित्यत्वात्" है, सूत्र भाष्यमें आचार्य्य शङ्कर लिखते हैं—इन्द्रियाधिष्ठातृदेवगण करण पक्षपाती है—अर्थात् इन्द्रियवृन्द की जिस प्रकार भोग साधनता है, भोग कर्त्तृत्व नहीं है, उस प्रकार—देवगण भोग साधन करते हैं—भोग विषय में उन सब का कर्त्तृत्व नहीं है, देहगत सुख दुःख का भोक्ता आत्मा है, इस प्रकार निर्द्धारित हुआ है ।

शर्व्वादय इत्युक्तम् । भूरिभागत्वमेव दर्शयति—हृषीकचषकैश्चक्षुरादिलक्षणपानपात्रैः कृत्वा वयमप्येतत् साक्षादेव यथा स्यात्तथा ते तव अङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवमसकृत् पुनः पुनरिहागत्य पिवाम इति । चरणकमलसौन्दर्य्यादिकमेवातिमनोहरत्वात् मध्वादितया त्रिधापि रूपितं समाहारद्वन्द्वेन । एतदिति चास्यैव वा विशेषणम् । अत्र "तुष्यतु दुर्जनः"

शाङ्कर भाष्य । तस्य च शारीरस्यास्मिञ्छरीरे भोक्तृत्वेन नित्यत्वं पुण्यपापोपलेपसम्भवात् सुख दुःखोपभोग सम्भवाच्च, न देवतानाम् । तेहि परस्मिन्नैश्वर्य्ये पदेऽवतिष्ठमाना न हीने ऽस्मिञ्छरीरे भोक्तृत्वं प्रतिलब्धुमर्हन्ति, श्रुतिश्च भवति—'पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान् पापं गच्छति, (बृहदारण्यक १।५।२) इति । शारीरेणैवच नित्यः प्राणानांसम्बन्धः, उत्क्रान्त्यादिषु तदनुवृत्ति दर्शनात्, तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राण मनूत्क्रामन्ति (४।४।२) इत्यादि श्रुतिभ्यः । तस्मात् सर्वास्वपि करणानां नियन्त्रीषु देवतासु न शारीरस्य भोक्तृत्वमपगच्छति, करण पक्षस्यैव हि देवता, न भोक्तृपक्षस्येति ॥

शरीर के सहित जीव का ही सम्बन्ध है,कारण,— पुण्य पाप का भोग जीव ही करता है, देवता नहीं, देवगण निज महिमा में अवस्थित हैं । हीन शरीर में उनका भोक्तृत्व सम्भव नहीं है, देवतागण पुण्य भोग करते हैं, पाप भोग नहीं करते हैं । शरीर के सहित ही प्राणों का सम्बन्ध है, जीव की उत्क्रान्ति के सहित प्राणों की उत्क्रान्ति होती है । करणों का नियन्ता देवता होने से भी शारीर का भोक्ता देवता नहीं है । देवता का करण पक्ष ही है—भोक्तृ पक्ष नहीं है ।

वैष्णवतोषणी ।—अहो एषां माहात्म्यं को नाम वर्णयितुं शक्नुयात् वयमप्येषां सम्बन्धेनैव परम कृतार्था जाता, इत्याह—एषामिति । तु शब्दो भिन्नोपक्रमे, अङ्घ्र्युदजमधु श्रीचरणारविन्दमाधुर्य्यम् ।, तत् पानं तु तदीयाभिमानाध्यवसाय- सङ्कल्पदर्शनश्रवणादि रूपम्, देवताश्च— शर्व ब्रह्म इन्द्रदिग्वातार्क प्रचेतोऽश्वि वह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः । यद्वा, गुह्येन्द्रियद्वयस्य अनुपयोगादश्लीलत्वाच्च तदधिष्ठात्रोर्मित्र—प्रजापत्योस्त्यागेनैकादश । पादाधिष्ठातोपेन्द्रस्तु तदीय धारणशक्त्यावेशावतारो देवता विशेष एव कश्चित् चित्ताधिष्ठातारं श्रीवासुदेवं विना तेषां सर्वेषामप्यकर्त्तुं क्षमत्वेन तृतीयेऽभिधानात्, तस्य तु तत् समीपगत्यनु भवसुखं श्रीगोपादीनां स्वयं भगवतो नित्याप्राकृतपरिकरत्वादेतेषाञ्च प्राकृताधुनिकत्वात्तदसम्भवेऽपि तन्नित्यावरणस्थ देवगणाभेद विवक्षयेदमुक्तं, तदावेशित रूपास्तेषाम् । तथा च पाद्मोत्तरखण्डे—

"नित्याः सर्वे परे यान्ति ये चान्ये च दिवौकसः ।
ते वै प्राकृतनाकेऽस्मिन्ननित्यास्त्रिदिवेश्वराः ॥"

उभयथापि तस्य तस्य च नित्यत्वात्--इत्यत्रकरण पक्षस्यैव हि देवता, न भोक्तृपक्षस्येति—शारीरिक निर्णयः । श्रीगोपादीनामन्तरङ्ग परिकरत्वेन स्वतः सर्वशक्तित्वमिति-श्रीकृष्ण शास्त्राभिप्रायः । पूर्ववदश्लील परिहारः, सूर्य्यादीनां नयनादि कोटिभिः युगपद्दर्शनादि सुखाधिक्य सातत्य परिहारश्च विरुद्धयेत । तत इयं वा व्याख्या—श्रीमन्नन्दराज—व्रजौकसां तादृशं भाग्यकैमुत्येन स्तोतुं कदाचित् केनापि तन्माधुरी मात्रलाभेन स्वेषामपि भाग्यमभिनन्दति, तेन च तादृशनिजाभिलाषमपि द्रढ़यति--एषामिति । यद्वा,--एकाऽद्वितीयाऽनुपमेत्यर्थः । एतद्व्रजे प्रथमानं तदेतदित्यर्थः । ते दशदिक् पालदेवता वयमसकृत् पुनः पुनरिहागत्य पिवामः । वक्ष्यते च "वन्द्यमान चरणः पथि वृद्धैः" (श्रीमद् भा० १०।३५।१५) इति, 'शक्रशर्व परमेष्ठि पुरोगा' श्रीभा० १०।३५।१५ इति च । कीदृशम्— अमृतासवम् ? परमस्वादुत्वादिनाऽमृतं परममादकत्वेन चासवः, तयो र्द्वन्द्वैक्यं तद्रूपम्, यद्वा, एते च ते हृषीकचषकाश्च, तैः । एतच्छब्द

इति न्यायेन श्रीव्रजवासिनां प्राकृतदेहित्वमतेऽपि तेषां करणैर्देवताकर्त्तृकभोगो न युज्यते, (ब्र० सू० २।४।१७) "तस्य च नित्यत्वात्" इत्यत्र श्रीशङ्कराचार्य्येण च–'करणपक्षस्यैव हि देवता, न भोक्तृत्वपक्षस्य" इत्यात्मन एव भोक्तृत्वनिर्द्धारणात् ॥

१४०। अतः पूर्व्वमपि (भा० १०।१४।३०) "तदस्तु मे नाथ स भूरिभागः" इत्यादिना यत्

प्रयोगश्चात्यन्त चमत्कारेण। अमृता--मृत्यु हीना--मुक्ता स्तेषामप्यासवं—मादकमित्यर्थः।

व्रजस्थ जन वृन्द की महिमा का वर्णन करने में कौन सक्षम होगा? हम सब भी उन के सम्बन्ध से ही परम कृतार्थ हैं, विशद रूपसे कहते हैं-तु शब्दका अर्थ--भिन्नोपक्रम है।--अङ्घ्रि--उदज मधु-चरणारविन्द का मधु--श्रीचरणारविन्द का माधुर्य्य,--उसका पान-- तदीय अभिमान अध्यवसाय--सङ्कल्प दर्शन श्रवणादि रूप है, देवता शर्व-ब्रह्मा, चन्द्र दिक् वात अर्क, प्रचेता, अश्विनीकुमार वह्नि इन्द्र उपेद्र मित्र।

अथवा—गुह्येन्द्रिय का अनुयोग एवं अश्लील हेतु उसके अधिष्ठातृ देवता मित्र प्रजापति का त्याग करने से एकादश हुआ है।

पादाधिष्ठाता--उपेन्द्र है, तदीय धारण शक्त्यावेशावतार देवता विशेष है, यह मत किसी का है। चित्ताधिष्ठाता श्रीवासुदेव के बिना किसी में कर्त्तृत्व की सम्भावना नहीं होती है। तृतीय स्कन्ध में वर्णित है। देवता का अनुभवसुख तदीय सामीप्य से ही है, श्रीगोपगण--स्वयं भगवान् के नित्य अप्राकृत परिकर हैं, देवतागण—प्राकृत एवं आधुनिक भक्त हैं, अतएव उक्त सुखानुभव की योग्यता नहीं है, तथापि नित्यावरणस्थ देवगण के सहित अभेद विवक्षा से ही इस प्रकार कथन हुआ है। नित्यदेवगणका आवेश होने से ही उक्त उक्ति हुई है। पाद्मोत्तर खण्ड में उक्त है, परम धाम में नित्य देवतावर्ग हैं, प्राकृत स्वर्ग में उस उस नामके अनित्य देवगण हैं, श्रीकृष्ण एवं उनके परिकर नित्य होने के कारण नित्य परिकरवृन्द के इन्द्रिय समूह के द्वारा श्रीकृष्ण चरणारविन्द का सुधापान असम्भव है, अतएव देवतागण भोक्ता नहीं हैं, करण मात्र हैं शारीरिक भाष्य में आचार्य्य श्रीशङ्करने प्रतिपादन भी किया है—देवता भोक्ता नहीं हैं, किन्तु करण हैं।

श्रीगोपगण अन्तरङ्ग परिकर होने के कारण उनमें स्वतः सर्वशक्ति हैं, श्रीकृष्णोपासना शास्त्र का अभिप्राय यह ही है। पूर्ववत् अश्लीलता का परिहार भो हुआ है। सूर्य्य प्रभृति का नयनादि के द्वारा युगपद् दर्शनादि सुखाधिक्य सातत्यादि एवं परिहार भी विरुद्ध पड़ेगा। अतएव व्याख्या यह है—श्रीमन् नन्द व्रजनिवासियों की अनिर्वचनीय भाग्यमहिमा है, कैमुत्यन्याय से स्तव करते हैं, कदाचित् स्वल्पमात्र माधुर्य्यानुभवलेशसे कृतार्थ होकर ब्रह्मा निज भाग्यका अभिनन्दन करते हैं। और उसके द्वारा निजाभिलाष को भी प्रकट करते हैं। एषामिति,—यद्वा,—एका---अद्वितीया--अनुपमा, इस वृज में विपुलरूप से उसकी अवस्थिति है। आपके चरणारविन्द मधु का पान, हम सब शर्व आदि दशदिक्पाल देवता पुनः पुनः वृज में आकर निज निज चक्षुरादि पान पात्र के द्वारा यथा शक्ति एवं भक्ति के द्वारा करते रहते हैं। भा० १०।३५।२२ में कहेंगे---वन्द्यमानचरणः पथिवृद्धैः। (भा० १०।३५।१५) "शक्रशर्वपरमेष्ठि पुरोगाः" कीदृश--अमृतासव परमस्वादु अमृत, परमादक--आसव, दोनों का द्वन्द्व समास से एक रूप हुआ है।

यद्वा—यह हृषीकचषकाः—उसके द्वारा। एतच्छब्दप्रयोग से अत्यन्त चमत्कार सूचित हुआ है। अमृता—मृत्युहीना—मुक्त गण, उन सबको विभोर कारक श्रीचरणारविन्द का मधु है। (१३९)

व्रजवासिवृन्द के अप्राकृत शरीर में इन्द्रियाधिष्ठातृ देववृन्द का कर्त्तृत्व किसी प्रकार से न होने का कारण भा० १०।१४।३० में है।

प्रार्थितम्, तदेतदेवेत्याह, (भा० १।१४।३४)—

(१४०) "तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां, यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितन्तु निखिलं भगवान् मुकुन्द,-स्त्वद्यापि यत् पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥" ४०५॥

"तदस्तु, में नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

इस श्लोक के द्वारा पहले भी ब्रह्माने प्रार्थना की है, " हे नाथ ! मेरा जन्म ब्रह्मा रूप में हो, किंवा पशु पक्ष्यादि के मध्य में जो कुछ भी जन्म हो, उस जन्म में मेरा यह सौभाग्य हो, मैं तदीय जनों के आनुगत्य से आपकी सेवा कर सकूँ।

वैष्णव तोषणी। ममातु तादृश प्रसादस्य फलं यज् ज्ञानं, तस्यापि यत् फलमुपासनं, तस्यापि यत् फलं—साक्षात्कारः, सएवसहसा संवृतस्तस्मादेतदेव प्रार्थय" इति नौमीत्यादि प्रतिज्ञामेव सक्तमयन्, सर्वं प्रकरणं तादृशे श्रीकृष्ण एव पर्य्यवसाययन्नाह—यावत् समाप्ति। तत्तस्मात् नाथ हे सर्वकामपरिपूरक ! पारमेष्ठ्यपदप्रापकं यन्मम भाग्यं, तन्महान्न भवति, किन्तु स एव भूरिभागः महद् भाग्यम्, यद् भवज्जनानामेको ऽपीति सेवायाः सम्यक्त्वाद्यपेक्षया, अतएव निः शब्दः, तत्र च तत्र ब्रह्मजन्मनि, अन्यत्र तत् प्रतियोगि-- हरिणादि तिर्य्यग्यौनौ वा न ममाग्रहः, किन्तु तद् भक्ताविवेति वा शब्दाभ्यां सूच्यते, हरिणादियोनौ सेवा च स्नेहेन रज आदि मार्जनायावहेलनादि रूपा साच तद्विधानां दृष्टैव किल प्रार्थ्यते, पद्यदयमिदम्-इत्थं वा सङ्गमनीयम्—यद्यप्येवं तव महिमा, तथापि त्वत् पदाम्बुजद्वयस्य यः प्रसादोऽनुग्रहः, तस्य लेशोऽपि यत्र, किमुत पूर्णः, स तेनानुगृहीत एवेति, भवज्जनानामनुगत रूप एकोऽपि कश्चनापि भूत्वेति च।

भवदीय प्रसाद का फल जो ज्ञान है, उसका फल--उपासना है, उस का भी फल साक्षात् कार है, वह मेरा सहसा हुआ, तज्जन्य प्रार्थना करते हैं, ब्रह्मा,—प्रारम्भ रूप वाक्य 'नौमिड्यते' के सहित समन्वय करके समाप्तिपर्य्यन्त।

अतएव हे नाथ ! हे सर्वकाम परिपूरक ! पारमेष्ठ्यपदप्रापक जो मेरा भाग्य है, वह महान् नहीं है, किन्तु वह ही महद्भाग्य है,—भवदीय जनों के मध्य में एक के आनुगत्य में रहकर आपकी सेवा करूँ, तब ही आपकी सम्यक् सेवारूप आनुकूल्य—उल्लासात्मक कार्य्य हो सकता है, अतएव निषेवे—यहाँ नि उपसर्ग का प्रयोग किया गया है, भवदीय जनानुगत्य के विना सम्यक् सेवा की सम्भावना नहीं है। वह ब्रह्म जन्म में हो अथवा हरिणादि तिर्य्यग्योनि में हो; मेरा जन्म विशेष में आग्रह नहीं है, किन्तु भवदीय जनानुगत्य से सेवा सौभाग्य लाभ में आग्रह है। उस से ही आप की भक्ति प्राप्ति होगी—अतएव भक्ति में ही तात्पर्य्य है। 'वा' शब्द से सूचित हुआ है। हरिणादि योनि में सेवा प्रकार की रीति यह है—स्नेह से रज आदि की मार्ज्जना के निमित्त अवहेलन रूप जानना होगा, सेवा—सेव्य का उल्लास कर आचरण है, ब्रह्माने साक्षात् हरिण प्रभृतिओं का आचरण—श्रीकृष्ण का उल्लास सम्पादक रूप में देखा था, अतएव आप की प्रार्थना हुई।

अतएव—'अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयं प्रसादलेशानुगृहीत एव हि,
जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्।
तदस्तु मे नाथ स भूरिभागोभवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥'

श्लोकद्वय की सङ्गति इस प्रकार करना आवश्यक है। यद्यपि आपकी महिमा ईदृशी है। तथापि-भवदीय पदाम्बुजद्वय का जो प्रसाद-अनुग्रह है,

अनेन श्रीगोकुलजन्मलाभादेव तव पादनिषेवालक्षणो याचितो भुरिभागः सदैव रेत्स्यतीति सूचितम्। तस्मात्तेषां भागधेयं किं वर्णनीयम् ॥

१४१। अहो येषां भक्त्या भवानपि नित्यमृणितामापन्नो येषु रुद्ध इवास्ते इत्याह, (भा० १०।१४।३५) –

(१४१) "एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनय--प्राणाशयास्त्वत् कृते ॥"४०६॥

उसका लेश भी जहाँ है, पूर्णता की बात तो दूर है, वह उस से पूर्ण अनुगृहीत ही है,— वह क्या है ? भवज्जनों के मध्य में एक का आनुगत्य रूप है, वह आनुगत्य रस में भी हो, अथवा किसी प्रकार शरीरलाभ के द्वारा भी हो। उक्त श्लोक द्वारा जो सेवा प्रार्थना हुई है—उस प्रार्थना का स्पष्टीकरण करके कहते हैं,

"तद्भूरि भाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रि रजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितन्तु निखिलं भगवान् मुकुन्द, स्त्वद्यापि यत् पदरजः श्रुतिमृग्यमेव।"

गोकुल में—यत् किञ्चित् नगण्य जन्म लाभ ही भूरि पुण्य का द्योतक है। उस से गोकुल वासिजन की चरणरेणु से अभिषिक्त होने का अवसर होगा। कारण जिसकी चरण रजः, का अन्वेषण श्रुतिगण अद्यापि करती रहती हैं, इस प्रकार भगवान् मुकुन्द ही जिन व्रजवासियों का एकमात्र जीवन सर्वस्व हैं।

गोकुलवासी जनगण-श्रीकृष्ण के नित्य परिकर हैं, उस से सूचित हुआ सुतरां आपका चरण निषेवण स्वरूप जो भूरिभाग्य है, उसका लाभ—श्रीगोकुल में जन्म प्राप्त होने से ही होगा, अर्थात् गोकुल में जन्म होने से भक्तजन सङ्ग होगा, तज्जन्य-आपकी चरण सेवा प्राप्ति होगी। अतएव उन व्रजवासियों की भाग्य महिमा का वर्णन कैसे हो सकता है ?।

टीका –"अतो मया प्रार्थितं तदस्तु मे नाथ ! स भूरिभाग इति यत् तदेतदेवेत्याह तद् भूरि भाग्यमिति। किं तत्— इह मनुष्य लोके यत् किमपि जन्म, तत्राप्यटव्यां यत्, तत्रापि गोकुले यत्। अहो-सत्यलोकं विहाय अत्र जन्मनि जाते को लाभोऽतआह अपि--कतमाङ्घ्रि रजोऽभिषेकमिति, गोकुल-वासिनां मध्येऽपि कतमस्य यस्य कस्यापि-अङ्घ्रि रजसा अभिषेको यस्मिंस्तत् ॥

ननु कुतो गोकुलवासिन एव धन्यास्तत्राह--चेदिति। येषां जीवितं निखिलं भगवान् मुकुन्दः, मुकुन्द परमेव जीवनमित्यर्थः। दुर्लभतामाह अद्यापीति, श्रुतिमृग्यं वेदैरपि मृग्यते नतु दृश्यते-इत्यर्थः ॥१४०॥

अहो, आप के चरणनलिनयुगल की सेवा ही एकमात्र प्रार्थनीय हैं, उस सेवा सुख में श्रीगोकुल वासिगण सतत निमग्न हैं। जिनकी भक्ति से आप नित्य ऋणी होकर उनसब के मध्यमें अवरुद्ध के समान विराजित हैं। इस अभिप्राय को व्यक्त करने के निमित्त भा० १०।१४।३५ में कहते हैं—

"एषां घोष निवासिनामुत भवान् किं देवरातेति न श्चेतो विश्व फलात् फलं तदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति। सद्वेशादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता यद्धामार्थ सुहृत प्रियात्मतनय प्राणाशयास्तत्कृते।

हे देव ! जिनके धाम, अर्थ सुहृत्, प्रिय, आत्मा, तनय, प्राण, आशय--आप के सुख के निमित्त समर्पित हैं, उन घोषनिवासिगण को आप क्या देंगे ? इस प्रकार चिन्ताकर मेराचित्त मुग्ध हो रहा है।

सतां शुद्धचित्तानां धात्र्यादिजनानामिव वेषादित्यर्थः, (भा० ३।२।२३) "लेभे गतिं धात्र्युचिताम्" इति तृतीयोक्तेः। तदेवमनादि कल्पपरम्परागतत्वादवतारत एवैवं प्राप्तत्वेन तैरेकैरेव भक्तिरुद्धत्वात् सनातनं मित्रमित्येवं साधूक्तम्। ततश्च 'तद्भूरिभाग्यम्' इत्यादिकमपि साध्वेव प्रार्थितमिति भावः॥

कारण—सर्व फलात्मक आपसे श्रेष्ठतर अपर कुछ भी नहीं है। सद्वेश का अनुकरण कर पापिष्ठा पूतनाने भी निज बन्धु बान्धव के सहित आप को प्राप्त किया है। व्रजवासि जनगण को इससे उत्तम कुछ प्रदान करना उचित है, किन्तु आपके समीप में वैसा कुछ तो नहीं है।"

सतां—शुद्ध चित्तानां, सत् शुद्धचित्त धात्र्यादि जनगण का जो वेश, पूतनाने तद्रूप वेश धारण किया था, पूतनाने केवल मात्र, अवतार लीलासमय में सद्वेष धारण कर उक्त भाव से श्रीकृष्ण को प्राप्त किया। किन्तु व्रजवासिगण अनादि कल्प परम्परा क्रम से आप को प्राप्त करते आ रहें हैं। एवं उन सब के मध्य में एक जन की भक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण अवरुद्ध हैं। अतएव श्रीकृष्ण को व्रजवासिवृन्द का सनातन मित्र कहा गया है, वह सुसङ्गत है, व्रजपरिकरगण की प्रीति से अवरुद्ध होकर उनके सहित श्रीकृष्ण नित्य विराजित हैं, तज्जन्य 'तद्भूरि भाग्यम्" इत्यादि श्लोक में श्रीब्रह्माने तृणजन्मलाभ के द्वारा व्रज वासियों का चरणरज स्पर्श" की प्रार्थना की है—वह सर्वथा समीचीन है।

स्वामिटीका—अपि किं वर्ण्यते कृतार्थत्वमेतेषां येषां भक्त्या भवानपि ऋणीवास्ते। ननु किं दातुम समर्थो येन ऋणी स्याम् अतः आह। उत अपि भवानपि एषां कुत्रापि किं विश्वफलात् सर्व फलात्मकात् त्वत् त्वत्तः पर फलं राता दास्यतीतिनश्चेतः अयत् सर्वत्र गच्छत् विचारयत् मुह्यति।

ननु मामेव दत्त्वानृणः स्यामिति चेन्नहि नहि—सद्वेषादिव—सतां भक्तानां योवेष स्तदनुकरणमात्रेण पापिष्ठा पूतनापि तामेवापिता प्रापिता तर्हि तत् सम्बन्धिनामपि दास्यामीति चेत् तत्राह—सकुलेति। वकाघासुरसहिता एषामपि तावदेव चेदपर्य्याप्तमित्याह--यदिति। येषां धामादयस्त्वत्कृते त्वदर्थमेवेत्यर्थः।

बृहत् क्रमसन्दर्भ—किन्तु भगवान्! एक एवास्ति मे महान् सन्देहः, तं स्वयमपि त्वं दूरीकर्त्तुं न शक्नोषीत्याह—एषामित्यादि। हे देव! एषां घोषनिवासिनाम्, उत विस्मये, भवान् विश्व फलात् विश्वस्य फल भूतात् त्वत्तोऽपरं किं राता दाता इति कुत्रापि सन्देह सङ्कटे अयत् पतन्नोऽस्माकं चेतो मुह्यति।

ननु कथं ते चेतोमोह? आत्मानमेवदास्यामीति चेदवैदग्ध्यापत्ते रिदमनुचितमित्याह--सद्वेषादिवेति, सती माता तद्वेषादिव, न तु तद्वेषात्, स्तन्यदानाय मातृ वपुः कृत्वा गतेति न, अपितु जिघांसयैवेति इव शब्द, तद्वेषाभासमात्रेणैव पूतना त्वामेवात्मानमेवापिता प्रापिता, तत्रापि सकुला वकाघादि सहिता। एभ्योऽपि यदि स एवात्मैव दातव्यस्तदा योग्यायोग्यविचाराभावाद् अवैदग्ध्यमेवापतति। आत्मनोऽधिकं वस्तु तव नास्त्येव, तत् किमपरं दास्यसीति योग्य एवसन्देहः।

ननु भो ब्रह्मन्! मा सन्देहं कार्षिः, एभ्यो यद्देयं तद्दत्तमेव। यद्वा, त्वत्कृते त्वत् कर्मणि धामादीनि सर्वाणीति ब्रह्मणो वाक्यशेष एवान्तर्य्यामिरूपेण सरस्वतीं देवीं प्रेरयता सिद्धान्तितम्। तेभ्यः पूतनादिभ्य आत्मानं सायुज्यं दत्तम्, एभ्यस्तु एवम्भूतं सायुज्यादपि परमदुर्लभं प्रेमदत्तमिति ममावैदग्ध्यमितिसिद्धान्तः'

किन्तु एक मेरा महान् सन्देह है, हे देव! विस्मय की बात है। व्रजवासियों को आप क्या देंगे? विश्वस्थ समस्त फलों में श्रेष्ठ फल आप हैं, आप अपनेको समर्पण कर चुके हैं, यह ही मेरा मोह सङ्कट है। सन्देह का कारण ही क्या है? मैं आत्मदान करूँगा। यह भी उपाय अपाण्डित्य पूर्ण है। कारण—सत् माता उनका वेष धारण कर पूतनाने कुलस्थ जनगण के सहित आपको प्राप्त किया है, व्रजवासिगण को

१४२। नन्वेषां मनुषान्तरवद्रागादिकं दृश्यते, कथं तर्हि स्वयं भगवतो मम नित्यपरिकरत्वम्? तत्र कैमुत्येनाह, (भा० १०।१४।३६)—

(१४२) "तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगड़ो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥" ४०७॥

स्तेनाः पुरुषसारहराः, अन्येषां प्राकृतजनानामपि तावदेव रागादयश्चौरादयो भवन्ति, यावत्ते जनास्ते तव न भवन्ति, सर्व्वतोभावेन त्वय्यात्मानं न समर्पयन्ति, समर्पिते चात्मनि तेषां रागादयोऽपि त्वन्निष्ठा एवेति रागादीनां प्राकृतत्वाभावान्न चौरादित्वम् प्रत्युत परमानन्दरूपत्वमेवेत्यर्थः। तथैव प्रार्थितं श्रीप्रह्लादेन (वि० पु० १।२०।१९)—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥"४०८॥इति

अतो यदि साधकानामेवं वार्त्ता, तदा किं वक्तव्यम्, नित्यमेव तादृशप्रियत्वेन सतां श्रीगोकुलवासिनामेवमिति। इत्थमेवोक्तम् (भा० १०।११।५८)—

"इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्व्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्॥"४०९॥ इति।

आत्मदान करने से पाण्डित्य नहीं होगा। और आप के समीप में आत्मा से अधिक वस्तु नहीं है। इस में ब्रह्मन् सन्देह न करें। पूतना प्रभृति को सायुज्य दिया है, वृजवासियों को सायुज्य से परम दुर्ल्लभ प्रेम प्रदान किया है, इस से मेरा अवैदग्ध्य नहीं हुआ है।(१४१)

कतिपय व्यक्ति कहते हैं—वृजवासिगण, साधारण मनुष्य हैं, उनमें साधारण मनुष्य के समान विषय तृष्णादि हैं, तब वे सब कैसे नित्य भगवत् परिकर हो सकते हैं? उत्तर में कहते हैं—

(भा० १०।१४।३६) "तावद्रागादयस्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रि निगड़ो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥"

हे कृष्ण! रागादि तावत् पर्य्यन्त तस्कर रूप धारण करते हैं, गृह तावत् पर्य्यन्त कारागृह होता है, मोह तब तक परश्रृङ्खल होता है, यावत् पर्य्यन्त जीव, आपके चरणों में आत्म समर्पण नहीं करता है।"

सन्दर्भ—स्तेनाः—तस्कर—पुरुष के सारस्वरूप धैर्य्यादिअपहरण कारी हैं। अपर प्राकृत जनों के सम्बन्ध में रागादि तावत् पर्य्यन्त चौरादि के समान कार्य्य करते रहते हैं, यावत् पर्य्यन्त वे सब आप के भृत्य नहीं बनते हैं। अर्थात् सर्वतो भावेन आप में आत्म समर्पण नहीं करते हैं, जो लोक आत्मसमर्पण करते हैं, उन सब के रागादि आपके सम्बन्ध में ही विद्यमान हैं, सुतरां रागादि अप्राकृत होने के कारण तस्कर के समान पुरुषधैर्य्यापहरणकारी नहीं हैं, प्रत्युत परमानन्द स्वरूप हैं। तज्जन्य प्रह्लाद महाशय ने प्रार्थना की है "या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनु स्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु" "अविवेकी जनगण की मायिक विषयों में जिस प्रकार अनपायिनी प्रीति है, निरन्तर स्मरण परायण मेरा हृदय से उस प्रकार प्रीति का विलोप साधन जैसे न हो"।

श्रीकृष्ण में आत्मसमर्पणकारी भक्तगण की जब उस प्रकार अवस्था है। तब श्रीकृष्ण जिनका निरतिशय प्रियरूप में विद्यमान हैं, उन सब श्रीगोकुलवासिगण के सम्बन्ध में वक्तव्य ही क्या है? तज्जन्य भा० १०।११।५८ में कहा है—

भवन्त्यस्मिन्निति भवः प्रपञ्चः। यद्यपि प्रपञ्चजनेष्वभिव्यक्तास्ते तथापि तत्सम्बन्धिनी या वेदना विषयदुःखादि ज्ञानं तां नाविन्दन्नित्यर्थः, "वेदना ज्ञान–पीड़योः" इति कोषज्ञाः॥

१४३। तर्हि कथं गोकुले प्रपञ्चवद्भानं लोकानां भवति ? तत्राह (भा० १०।१४।३७)—

(१४३) "प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विड़म्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितु प्रभो॥" ४१०॥

प्रपञ्चातीतोऽपि त्वं भूतले स्थितं प्रपञ्चं विड़म्बयसि, जन्मादिलीलया 'ममायं पिता

"इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा।
कुर्व्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम्॥"

जहाँ जीव उत्पन्न होता है, उसे 'भव' कहते हैं, उसका अपर नाम प्रपञ्च है। यद्यपि व्रजवासिवृन्द प्रपञ्चस्थ जनगण के मध्य में अभिव्यक्त हैं, तथापि प्रपञ्च सम्बन्धिनी वेदना विषय सुखादि का ज्ञान, उन सब का नहीं है। वेदना शब्द का अर्थ ज्ञान एवं पीड़ा है।

वैष्णवतोषणी—"रामकृष्ण कथाः। कथामिति क्वचित् पाठः। न केवलमेतावदेव, अपितु रममाणाः, श्रीभगवता सह क्रीड़न्तश्च भववेदनां भवे संसारे—सांसारिकाणां यद् दुःखं—तत्तेषु अवतीर्णा अपि नाविदन्, न ज्ञातवन्तोऽपि, ततः "क्षुधार्त्ता इदमब्रुवन्" इत्यादौ यत्तेषां क्षुधादिकं दृश्यते तत्तु न भवसम्बन्धि, किन्तु लीलोपद्वलकत्वाल्लीलामयमेवेति भावः। तत्रैवं विहारैरित्यादि पद्यमपि पठन्ति. तत्र पुरतः पुनः कौमार लीला वर्णनं स्मृति विशेष चमत्काराभिप्रायेण, अतोऽग्रेऽपि तस्य पुनरुक्तेरिति ज्ञेयम्। सम्बन्धोक्तावुभयत्र व्याख्यातत्वात्।"

श्लोक में पाठ कृष्णरामकथाः पाठ, है एवं कृष्ण राम कथाम्" पाठ क्वचित् है। कुर्वन्तः-का अर्थ—कथयन्तः है, केवल यह ही नहीं है, किन्तु रममाणाः—श्रीभगवान् श्रीकृष्ण के सहित क्रीड़ा करते हुये—सांसारिक जनगण के मध्य में अवतीर्ण होकर भी सांसारिक यन्त्रणा का अनुसन्धान उन सब का नहीं था, नहीं जानते थे। यदि कहे कि—'गोपगण क्षुधार्त्त होकर कहे थे" इस से प्रतीत होता है, वे सब सांसारिक दुःख से दुःखी थे ? उत्तर,--वह भव सम्बन्धि नहीं है। किन्तु लीलापोषक रूप में लीलामय ही है। वहाँ "विहारैः" पद्य का पाठ भी करते हैं, वहाँ पुनर्बार कौमार लीला का वर्णन स्मृति चमत्कार हेतु हुआ है। (१४२)

यद्यपि श्री गोकुल, प्रापञ्चिक विषयसुखादि का अनुभव वर्जित है, श्रीकृष्ण सुख से परिपूर्ण है, तथापि तत्रत्य जनगण के निकट प्रपञ्चवत् प्रतिभात क्यों होता है ? उत्तर में कहते हैं—भा० १०।१४।३४

"प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विड़म्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्द सन्दोहं प्रथितु प्रभो॥"

हे विभो ! आप प्रपञ्चातीत होकर भी प्रपन्न जनसमूह की आनन्द राशि का विस्तार करने के निमित्त भूतल में प्रपञ्च का अभिनय करते हैं।"

बृहत्क्रमसन्दर्भ—"नन्ववगतमेव भवतैषां तत्त्वम्, मत्तत्त्वं कीदृशम् ? तदपि कथयेत्याह,—प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपीत्यादि। हे प्रभो ! तव तत्त्वं को वेत्ति, प्रभुत्वात्, प्रभुर्हि—कर्त्तमकर्त्तु मन्यथा कर्त्तुं समर्थः। तथापि यत् किञ्चिद् वदामीति। प्रभो, इति सम्बोधनार्थः। किं वक्तव्यम्, तद्वदेत्याह—निष्प्रपञ्चोऽपि त्वं केवल सच्चिदानन्दलीलोऽपि भूतले प्रपञ्चं लौकिकव्यवहारं विड़म्बयसि, अनुकरोषि, किं कर्त्तुम् ? तत्राह प्रपन्न जनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रथयितुं तव लौकिक लीलाया येषां प्रपन्नानामानन्दसन्दोहस्तं वर्द्धयितुम्॥

ममेयं माता, इत्यादि-भावालिङ्गितः स्वयमनेन प्रस्तुतेन गोकुलरूपेणानुकरोषि। वस्तुतस्तु श्रीगोकुलरूपमिदं तव स्वरूपं प्रपञ्चवदेव भाति, न तु प्रपञ्चरूपमेवेति तात्पर्य्यम्। तद्वच्च भानं किमर्थम्? तत्राह—प्रपन्नेति। एतादृशलौकिकाकारलीलयैव हि प्रपन्नजनवृन्दस्य परमानन्दो भवतीत्येतदर्थम्। तस्मात् साधुक्तम्—'अहो भाग्यम्' इत्यादि॥
ब्रह्मा श्रीभगवन्तम्॥

१४४। अतएवाह (भा० १०।६।४०)—

(१४४) "तासामविरतं कृष्णे कुर्व्वतीनां सुतेक्षणम्।
न पुनः कल्पते राजन् संसारोऽज्ञानसम्भवः॥" ४११॥

तासां श्रीगोपपुरन्ध्रीणां संसारः संसारित्वं प्रापञ्चिकत्वं न पुनः कल्पते, न तु घटते,

प्रपञ्चातीत होकर भी आप भूतलस्थित प्रपञ्च की विड़म्बना करते हैं, अर्थात् स्वयं गोकुल रूप का अनुकरण करते रहते हैं। वस्तुतः यह गोकुल रूप आप का ही स्वरूप है, उसका प्रकाश प्रपञ्च के समान करते हैं, किन्तु वह प्रपञ्च स्वरूप नहीं है। जन्मादि लीला के द्वारा "यह मेरा पिता, यह मेरी माता" इत्यादि भावालिङ्गित होकर स्वयं गोकुल रूप का अनुकरण करते रहते हैं। वस्तुतस्तु यह श्रीगोकुल रूप आप का ही स्वरूप है, प्रपञ्चवत् प्रकाशित है, किन्तु प्रपञ्च रूप नहीं है, प्रपञ्चातीत गोकुल—प्रपञ्चका भान क्यों करते हैं? उत्तर में कहते हैं, 'प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितु' इस प्रकार लौकिक लीला के द्वारा ही प्रपन्न जन समूह का परमानन्द होता है। तज्जन्य आप प्रपञ्च का अनुकरण करते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण ईश्वर लीलासे नरलीला में अधिक आनन्दित होते हैं, परिकरगण भी अत्यधिक आनन्दित होते हैं एतज्जन्य अप्राकृत धाम का मनुष्य लोकोचित रूप में प्रकाश कर नररूपी श्रीकृष्ण तादृश परिकर वृन्द के सहित विचित्र लील।रसास्वादन करते हैं।

ब्रह्मस्तवस्थ श्लोक समूह की पर्य्यालोचना से प्रतीत होता है कि—श्रीकृष्ण व्रज परिकर वृन्द के सहित नित्य अवस्थित हैं। अतएव "अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजोकसां

यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनमित्यादि श्लोक में श्रीकृष्ण की श्रीनन्दादि व्रजवासिगण का सनातन मित्र कहकर जो व्याख्या की गई है, वह अतिशय सुसङ्गत है।

ब्रह्मा श्रीभगवान् को कहे थे। (१४३)

श्रीगोपादिका नित्य श्रीकृष्ण परिकरत्व हेतु—श्रीशुकदेव—भा० १०।६।४० में कहते हैं—

'तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम्।
न पुनः कल्पते राजन्! संसारोऽज्ञानसम्भवः॥"

"हे राजन्! जिन्होंने श्रीकृष्ण में अविरत पुत्रदृष्टि की है, उन गोपी गणों के सम्बन्ध में अज्ञान सम्भूत संसार की कल्पना नहीं हो सकती है।"

श्रीगोपपुरपुरन्ध्रीगण श्रीकृष्ण में नियत पुत्रदृष्टि सम्पन्ना हैं। जन्मान्तर में उन सब का संसारित्व अर्थात् प्रापञ्चिकत्व की सम्भावना नहीं है, उन सब का अप्रापञ्चिकत्व ही चिरन्तन है। अर्थात् प्रकट लीलामें गोपगण श्रीकृष्ण परिकर हुये हैं, प्रकट लीलाका अवसान होने पर पुनर्वार संसारी साधारण जीवत्व की प्राप्ति उन सब की होगी, ऐसी नहीं है। उस समय भी वे सब प्रपञ्चातीत धाम में रहेंगे। कारण—अज्ञान से ही संसार कल्पित होता है, श्रीगोकुलस्थ पुराङ्गनावृन्द का तादृशाज्ञान स्पर्श नहीं है। अज्ञान

किन्त्वप्रापञ्चिकत्वमेव घटत इत्यर्थः, यतोऽसावज्ञानसम्भवः। तासान्तु कथम्भूतानाम्? अज्ञानतमः सूर्य्यस्य ज्ञानस्योपरिविराजमानो यः प्रेमा तस्याप्युपरि विराजमानं यत् सुतेक्षणं पुत्रभावो वात्सल्याभिधः प्रेमा तदेव, तत्राप्यविरतं नित्यमनादित एव श्रीकृष्णे कुर्व्वतीनाम्, इति स्थिते तन्नामसिद्ध--श्रीकृष्णनामविशेषाङ्कित-विदितानां श्रीकृष्णेन सहान्तरङ्गतया तन्महायोगपीठध्येयानां तद्वदन्यास्वपि लीलासु तादृशतया दर्शयितव्यानां तासां श्रीकृष्ण-प्रेयसीनान्तु किं वक्तव्यम्॥ श्रीशुकः॥

१४५। तदेवमेव तासां श्रीकृष्णवदानन्दविग्रहाणां तैरेव विग्रहैः श्रीकृष्णसङ्गः प्रोक्तः। उक्तञ्च तासां विग्रहमाहात्म्यम् (भा० १०।३३।६) "तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः" इत्यादिभिः। श्रीमदुद्धवेन च तान् नमस्यता प्रथमम् (भा० १०।४७।५८) "एताः परं तनुभृतः' इत्यनेन तासामेव परमतनुभृत्त्वं प्रदर्श्य मध्ये (भा० १०।४७।५९) "क्वेमाः स्त्रियः" इत्यनेन परमतमनुद्य तत् खण्डयता (भा० १०।४७।६०) "नायं श्रियोऽङ्ग" इत्यनेन लक्ष्मीतोऽपि विलक्षणं

तमो विनाशकारी ज्ञान सूर्य्य के उपरितनदेश में विराजित जो प्रेम है, उस प्रेम के उपरितन देश में वर्त्तमान जो सुतेक्षण—पुत्र भाव—वात्सल्य नामक प्रेम है, उस प्रेम के सहित अविरत—नित्य—अनादि काल से ही जो सब श्रीकृष्ण के प्रति पुत्र दृष्टि सम्पन्ना हैं, तादृशी गोपीगण के सम्बन्ध में अज्ञान सम्भूत संसार की कल्पना नहीं हो सकती है।

वास्तविकीस्थिति उस प्रकार होने से गोपी नामाङ्कित श्रीकृष्णमन्त्रराज ही उक्त गोपी साहचर्य्य का प्रकाशक है। श्रीकृष्ण के सहित अन्तरङ्ग रूप में महायोगपीठ ध्यान में एवं अपरापर लीला में निरन्तर प्रकाशित श्रीकृष्ण प्रेयसी रूप गोपी वृन्द की वार्त्ता ही क्या है, सुतरां वे सब श्रीकृष्ण प्रेयसी रूप परिकर हैं। प्रवक्ता श्रीशुक हैं। (१४४)

गोपीगण श्रीकृष्ण के नित्य प्रेयसी रूप परिकर हैं, किन्तु भागवतीय रासलीला प्रसङ्ग में गोपियों का गुणमय देह वर्णित है, अतः गोपीगणके गुणमय देह त्याग कथन की मीमांसा करते हैं—श्रीव्रजगोपीगण सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण के समान ही सच्चिदानन्द विग्रह के हैं, उक्त सच्चिदानन्दमय विग्रह के सहित ही सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण का सङ्ग होता है। भगवत सन्दर्भ में विशेष विवेचन हुआ है? श्रीगोपियों का श्रीविग्रह माहात्म्य भा० १०।३३।६ में है—

"तत्राति शुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः।
मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतो यथा॥"

टीका—महामारकतो नीलमणिरिव हैमानां मणीनां मध्ये मध्ये ताभिः स्वर्णवर्णाभिराश्लिष्टाभिः शुशुभे। गोपी दृष्ट्यभिप्रायेण वा विनैव मध्यपदावृत्तिमेक वचनम्॥

वृहत्क्रमसन्दर्भ—उक्त प्रकारस्य श्रीभगवत एकविधत्वमुपमालङ्कारेण द्योतयति—तत्रेत्यादि। अति-अतिशयं शुशुभे। कुतः? ताभिर्हेतुभूताभिः हैमानां मणीनां मध्ये महामारकतो नीलेन्द्रमणिरिति। एकवचननिर्देशान्न नानाविधत्वम्।

भगवान् देवकीसुत—गोपियों के साहचर्य्य से अत्यधिक शोभित हुये थे। उसे उपमालङ्कार के द्वारा कहते हैं, जिस प्रकार अनेक सुवर्णमणियों के मध्य में एक मरकत मणि शोभित होती है। तद्वत्। परिकर

तासु तत्प्रेयसीरूपत्वं प्रदर्श्य परमनित्यत्वं स्थापयित्वा तत्र च 'यः प्रसाद उदगात्' इत्यनेन तत्प्रसादस्य सदान्तर्भूय स्थायित्वं सूचयित्वा पुनः (भा० १०।४७।६१) "आसामहो चरण" इत्यादिना स्वीयपरमपुरुषार्थचरणरेणुत्वं दर्शितम्। यत्र (भा० १०।४७।६१) "भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्" इत्यनेन यदेव पुरुषार्थतया स्थापितम्। यत्र 'वृन्दावने इत्यादिना

विशिष्ट से ही स्वयं भगवान् का वैशिष्टच प्रकाशित होता है असमोर्द्ध प्रेमसम्पन्न परिकर गोपीगण हैं, अतः उन सबके सान्निध्य में ही सर्वाधिक भगवत्ता रूप सोन्दर्य्यादि प्रकाशित होते हैं।

भा० १०।४७।५७ में श्रीउद्धव ने प्रथम व्रजदेवियों को प्रणामकर यह कहा था 'दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्। उद्धवः परम प्रीतस्तानमस्यन्निदं जगौ॥"

श्रीकृष्णतन्मयता से विह्वल गोपियों को देखकर उन सब को प्रणाम करके इस प्रकार कहे थे।

"एताः परं तनुभृतो भुवि गोपबध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढ़भावाः।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्त कथा रसस्य।"

केवल शरीरधारियों में केवल गोपीगण ही सफल जन्मा हैं, तनुधारियों के मध्य में चरम सौभाग्य सीमा प्राप्त हैं, कारण—अखिलात्मा गोविन्द में अनिर्वचनीय बद्ध मूल भाव उन सबका हैं, यह सब स्वभाव सिद्ध हैं। कहा जा सकता है—इस प्रकार भाव की महिमा क्यों है? जिससे तनु धारियों के मध्य में उन सब का श्रेष्ठत्व है? उत्तर में कहते हैं,—जिस भावकी वाञ्छा जीवन्मुक्तगण, भक्तगण, करते रहते हैं, प्राप्त करने की कथा तो दूर है।

ब्रह्म कैवल्य परम पुरुषार्थ है,—गोपी भावका दुर्लभत्व कैसे हुआ? जिसकी वाञ्छा मुमुक्षु प्रभृति सतत करते रहते हैं? उत्तर—उन सवकी कथा ही अनुराग पूर्ण एवं अनुकूल होने से रस रूप है, कथोपकथन में परिस्फुट अनुराग होता है, अतएव ब्रह्म कैवल्य की आवश्यकता क्या है? अथवा—अनन्त कथा—श्रीकृष्ण कथा—गोप बधू विलास रूप कथा रूप रसका आस्वादन है, उसका मूल कारण प्राप्त होने पर सायुज्यमुक्ति की लोभनीयता नहीं रहती है।

बृहत् क्रमसन्दर्भ—"स चोद्धवः ६३ तम श्लोके 'वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां" इत्यादि वन्दनं करिष्यन् सर्वोत्कृष्टत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां दर्शयन्नाह—एताः परमिति द्वाभ्याम्। गोपबद्ध स्तनुभृतः, तनुभृन्मात्रस्य परं पारमेताः प्राप्ताः। तत्र हेतुः--अखिलात्मनि गोविन्दे अनिर्वाच्यं यथास्यात्तथा रूढ़ो बद्धमूलो भावोयासाम् तेनामूस्तनुभृत् परा तनुभृतः। एवं गोविन्दे भावो नास्त्येवेति भावः। एतास्तु स्वभावसिद्धाः। नन्वेतादृशस्य भावस्य कथमेवं महिमा, येन कृतेन तनुभृत् परत्वं सम्भाव्यते? तत्राह—वाञ्छन्तीत्यादि। यत् यं भावं भवभियो मुमुक्षवो मुनयो जीवन्मुक्ताः वयञ्च भक्ताः वाञ्छन्ति, न लभन्ते।

ननु ब्रह्म कैवल्यमेव परमपुरुषार्थः, तदनुकूलत्वात्। कथमस्य गोपीकृतभावस्य दुर्लभत्वम्? यो मुमुक्षु प्रभृतिभिरपि वाञ्छ्यत इत्याह,—कथा यासामिति वा तासां रसोऽनुरागस्तस्य, जन्मभिरुत्पत्तिभिः, सवासनैः सह कथोपकथनात् प्ररोहैः, किं ब्रह्म? ब्रह्म कैवल्यं किमित्यर्थः। यद्वा, अनन्त कथया श्रीकृष्ण कथया गोपबधूविलास कथया यो रस आस्वादस्तस्य जन्मभिरुत्पत्तिभिरिति॥"

उक्त श्लोक के द्वारा व्रजाङ्गनावृन्द का श्रेष्ठतनुभृतत्व प्रदर्शन के पश्चात् भा० १०।४७।५९ में परमत का उट्टङ्कन, खण्डन करने के निमित्त किया है। परमतप्रतिपादक श्लोक यह है—

"क्वेमाः स्त्रियो वनचरी र्व्यभिचारदुष्टाः कृष्णे क्वचैष परमात्मनि रूढ़भावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः॥

वृन्दावनस्य च तादृशत्वं स्थापितम् । तदेतद्व्यतिरेकेण द्रढ़यितुमन्यासामागन्तुकानामसिद्ध-देहानां विग्रहत्यागेनैव तत्सङ्गप्राप्तिरित्याह,(भा० १०।२६।६) –

टीका—किञ्च ईश्वर प्रसादो महत्त्वे कारणं तस्य च न जातिराचारो ज्ञानं वा कारण, किन्तु केवल भजनमेवेत्याह--क्वेम इति । साक्षाद् भजतः पुंसः, ननु अहो उपयुक्तः सेवितः, अगदराजोऽमृतं यथेति ।।

वृहत् क्रमसन्दर्भ—अन्वयेनोक्त्वा व्यतिरेकेणाह—क्वेमा इत्यादि । एताश्चेत्तनुभृतपरा न स्यु स्तदासां गोविन्दे कथमेवं भावः, इति व्यतिरेकः । तथाहि –इमा अवनचरीः, अवनचर्य्यः, श्रीवृन्दावनचरी भिन्नाः स्त्रियः क्व, गोविन्दे एवं रूढ़ भावः क्व ? अत्यन्तासम्भावनायां क्व द्वयम् । अवनचर्य्यः कीदृश्यः ? व्यभिचारदुष्टाः श्रीकृष्णादन्यत्र रतिमत्त्वं हि व्यभिचारः, तेनदुष्टा, तथाचोक्तं लक्ष्म्या— भा० ५।१८।२० सवै पतिः स्याद् अकुतोभयः स्वयम् " इत्यादि । अथवा, इमा वनचरी वनचर्य्यो गोप्यः क्व, व्यभिचार दुष्टाः स्त्रियो वा क्व, प्रकाराद् गोविन्दे परमात्मनि एष भावः क्वेति क्वानुवृत्तिः । गोविन्दाधि--करणक एवभावः किं गोपीविना सामान्य स्त्रीणां भवति ? नैवेत्यर्थः ।

अथवा, वनचरीर्वनचर्य्यो गोप्यः क्व ? न क्वापि, अत्रैवेत्यर्थः । अथवा, वनचरीर्वनचर्य्यो गोप्यः क्व ? न क्वापि, अत्रैवेत्यर्थः । कृष्णे रूढ़भावः क्व ? न क्वापि अस्त्येव । कीदृश्यः ? अदृष्टाः अप्राकृतत्वात् । भावः कीदृशः ? व्यभिचारः, विशेषणाभिमुख्येन चारयति गमयति कृष्णमित्यर्थात् व्यभिपूर्वात् णिजन्तस्य चरतेः क्विपि रूपम् ।

अन्यथा 'ता नमस्यन्' "एताः परं तनुभृतः" 'नायं श्रियोऽङ्ग' इत्यादि पौर्वापर्य्य विरोधः । गोविन्द एवमखिलात्मनि रूढ़भावाः" पूर्वोक्तेः । अतो गोपीनां भजनमेव भजनम्, नान्यदित्यायाते भजनान्तरस्यावरता भवतीत्याशङ्क्याह—नन्वीश्वरोऽन्वित्यादि । अविदुषोऽपि अनुभजतो यस्यैतद् गोपी भजन रहस्यमविजानतोऽनुक्षणं भजतो जनस्येश्वरः श्रीकृष्णः, नु वितर्के,न श्रेयस्तनोति,अपितु श्रेयस्तनोत्येव । तत्र दृष्टान्तः, उपयुक्तः—सेवितोऽगदराजो रसायनविशेषोऽमृतं वा यथा विशेषज्ञानाभावेनापिसेवितएव रोगोपशमाय भवति, तथा भजनमात्रमेव भवरोगापहम्, ईदृग् भजनन्तु परमानन्दप्रदमिति वाक्यार्थः ।।'

नन्दव्रजस्त्रीयों का सर्वोत्कृष्टत्व का वर्णअन्वयमुखसे करने के बाद व्यतिरेक मुखसे वर्णन करते हैं । क्वेमा इत्यादि । शरीरधारिओं के मध्य में व्रजस्त्रीगण यदि सर्वोत्कृष्ट न हो तो कैसे श्रीगोविन्द के प्रति इस प्रकार भाव होगा, यह व्यतिरेक है । ये अवनीचरी अवनीचर्य्य—श्रीवृन्दावनचरीभिन्न स्त्री कहाँ, गोविन्द में इस प्रकार रूढ़ भाव ही कहाँ है ? अत्यन्त असम्भावना में क्वद्वय का प्रयोग होता है । अवनीचरीगण कीदृश हैं ? व्यभिचार दुष्टा हैं । लक्ष्मीने भी कही है,—वह ही पति है, जो स्वयं अकुतोऽभय है । अथवा, ये अवनीचरी—वनचरी गोपीगण कहाँ, और व्यभिचार दुष्टा स्त्री कहाँ ? चकार से गोविन्द रूढ़ परमात्मा में, इस प्रकार अनुवृत्ति कहाँ ? गोविन्दाधिकरणक भाव—गोपीगण भिन्न अपर स्त्रीयों में असम्भव है ? नहीं है । अथवा – वनचरी, वनचर्य्य – वनवासी गोपीगण वहाँ ? कहीं नहीं यहाँ ही है । कृष्ण में रूप भाव कहाँ ? कहीं नहीं है । किस प्रकार - अदुष्टः है—अप्राकृत है । भाव किस प्रकार है ? व्यभिचार है, विशेष रूप से आभिमुख्य में श्रीकृष्ण को स्थापन करता है, वि—अभि पूर्व– निजन्त चर धातु का क्विप् प्रत्यय का पद है ।

अथवा—नमस्कार करते हुये श्रीउद्धव ने कहा था—"एताः परं तनुभृतः ।" तनु धारियों में श्रेष्ठ गोपीगण ही है,—इस प्रकार प्रसादलाभ लक्ष्मी का भी नहीं हुआ, पुर्वापर विरोध होगा । और भी ये सब कहाँ ? गोविन्द में भाव ही कहाँ ? इन सब का ही भाव गोविन्द में सम्भव है । भावकी सम्भावना ही होगी, तब प्रकरण विरोध होगा, "गोविन्द एवमखिलात्मनि रूढ़ भावाः" पहले कहाँ है ? अतएव गोपियों

(१४५) "अन्तर्गृहगताः" इत्यादिकेन (भा० १०।२६।१६) "न चैवं विस्मयः कार्य्यः" इत्याद्यन्तेन। 'अन्तर्गृहगताः' 'शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित्' इत्यत्रोक्ता इत्यर्थः। विशेषव्याख्या च क्रमसन्दर्भे दर्शयिष्यते तत्र अन्तरिति स्फुटमेव अशुभं श्रीकृष्णप्राप्तावन्तरायरूपं

का भजन ही भजन है। अन्य को भजन नहीं कहा जाता है, भजनान्तर की अवरता होगी, इस आशङ्का से कहते हैं, नन्वीश्वरोऽन्वित्यादि—अविदुषः—जिसका गोपीभजन रहस्य विषयक ज्ञान नहीं है- किन्तु अनुक्षण—भजन करता है, उनको श्रीकृष्ण क्या श्रेयः प्रदान नहीं करते हैं? नु वितर्क, न श्रेयस्तनोति, अपितु श्रेयस्तनोत्येव। उस में दृष्टान्त—उपयुक्त सेवित अगदराज—रसायन विशेष अमृत वा यथा विशेष ज्ञानाभाव से भी सेवित होने से रोगोपशमक होता है, तथा भजनमात्र से ही भवरोग विनष्ट होता है। है, ईदृक् भजन ही परमानन्द प्रद है। इस प्रकार वाक्यार्थ है।

परमतका अनुवाद पूर्वक खण्डन करने के पश्चात् भा० १०।४७।६० में

'नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिन गन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्ड गृहीत कण्ठ लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम् ॥

लक्ष्मी से भी गोपिकागण का परम प्रेयसीत्व स्थापन पूर्वक परमनित्यत्व स्थापन किया है।

टीका—'अत्यन्तापूर्वश्चायं गोपीषु भगवतः प्रसाद इत्याह नायमिति अङ्गे वक्षसि उ अहो नितान्तरतेः कान्तरतिमत्याः श्रियोऽपि नायं प्रसादो ऽनुग्रहोऽस्ति। नलिनस्येव गन्धोरुक् कान्तिश्चयासां तासां स्वर्गाङ्गनानामप्सरसामपि नास्ति अन्याः पुनर्दूरतो निरस्ताः, रासोत्सवे कृष्णभुजदण्डाभ्यां गृहीत आलिङ्गितः कण्ठस्तेन लब्धा आशिषो याभिस्तासां गोपीनां य उदगात् आविर्बभुव ॥"

गोपीयों में भगवत् प्रसाद अति अपूर्व है, विस्मय की कथा तो यह है। वक्षः विलासिनी लक्ष्मी का सौभाग्य वैसा नहीं हुआ, नलिन गन्धवती स्वर्गीय रमणीगण की वार्त्ता तो दूर है, अन्य स्त्रियों की कथा तो प्रसङ्ग क्रम से भी नष्ट हो जाती है।

रासोत्सव में भुजदण्ड के द्वारा गृहीत कण्ठ होकर ही श्रीकृष्णका आविर्भाव गोपी मण्डली में हुआ।

"यः प्रसाद उदगात्" इस के द्वारा प्रसाद को सर्वथा अन्तर्भूत करके उसका स्थायित्व सूचित करके भा० १०।४७।६१ में

"आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्याम् वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथञ्च हित्वा भेजु र्मुकुन्द पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

गोपीगण की भाग्यवार्त्ता तो अनिर्वचनीय ही है, किन्तु मेरी प्रार्थना यह ही है, गोपियों के चरणरेणु सेवनकारिगुल्मादि के मध्य में मैं कुछ एक बनूँ। जिन गोपियों ने स्वजन आर्य्यपथ का महत्त्व को छोड़ कर ही श्रीगोविन्द का भजन किया है। इत्यादि के द्वारा उद्धवने स्वीय परम पुरुषार्थ चरण रेणुत्व का प्रदर्शन किया है। यहाँ पर भा० १०।४१।६१ में भेजु र्मुकुन्द पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥ के द्वारा परम पुरुषार्थ प्रदर्शित हुआ है। यत्र 'वृन्दावने' इत्यादि पद के द्वारा वृन्दावन का नित्यत्व प्रतिपादित हुआ है।

व्यतिरेक रीति के द्वारा गोपाङ्गना गण का नित्यसिद्धपरिकरत्व सच्चिदानन्दमयत्व स्थापन निबन्धन अपर आगन्तुक असिद्ध देहयुक्त गोपियों का विग्रह त्याग के पश्चात् ही श्रीकृष्ण प्राप्ति हुई है। अर्थात् गोप गोपी गण यदि श्रीकृष्ण के नित्य सिद्ध परिकर होते हैं, तब रास प्रसङ्ग भा० १०.२६।६।१०।११ में श्रीशुक उवाच।

"अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दधुर्मीलितलोचनाः।

गुरुभयादिकम्, मङ्गलं श्रीकृष्णप्राप्तौ साधनं सख्यादिसाहाय्यचिन्तनम्, "न कर्म्मबन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते" इत्युक्तमेव। दृश्यते चान्यत्रापि तदसम्भवस्थले तच्छब्द-प्रयोगः (भा० १०।८६।११) "वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत् पादपतांहसः" इत्यादौ। तत्र यथा श्रीभगवद्वाक्य-याथार्थ्यायार्थान्तरमनुसन्धेयम् तद्वदिहापीति। परमात्मानमिति ब्रह्मस्तवान्त-निर्दिष्ट सिद्धान्तरीत्या श्रीकृष्णस्य स्वभावत एव परमप्रेमास्पदत्वं दर्शितम्। जार इति या बुद्धिस्तयापि तन्मात्रेणापि सङ्गताः; न तु साक्षादेव जाररूपेण प्राप्त्येति तद्भावपुरस्कारेण भजनस्य प्राबल्यं व्यञ्जितम्। 'जार'–शब्देन निर्द्देशात् लोकधर्म्ममर्य्यादातिक्रमं दर्शयित्वा

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधूताशुभाः।
ध्यान प्राप्ताच्युताश्लेष निर्वृ त्या क्षीणमङ्गलाः।
तमेव परमात्मानं जारबुद्धयापि सङ्गताः
जहुर्गु णमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

कृष्णं विदुः परं कान्तं नतु ब्रह्मतया मुने ! गुण प्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम्।

श्रीशुक उवाच—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धि यथागतः। द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः।
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ! अव्ययस्या प्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेवच। नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते।
न चैवं विस्मयः कार्य्यो भवता भगवत्यजे योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते॥

श्रीशुक बोले—जो सब गोपी गृह से निर्गत होने में अक्षम रहीं, वे सब श्रीकृष्णचिन्ता में निमग्ना हो गई थीं, उस समय निमीलितनयनों से ध्यानमग्न हो गयी थीं।

दुःसह प्रिय विरह जनित तीव्र ताप से उन सब के समस्त अशुभ विदूरित होने पर ध्यान योग से अच्युत का आलिङ्गन प्राप्त सुख द्वारा उनसब का मङ्गल बन्धन भी क्षीण हुआ।

जार बुद्धि से भी उन परमात्मा में सङ्गता गोपीगण प्रक्षीण बन्धना होकर सद्य गुण मय देह त्याग किये थे।

महाराज परीक्षित् ने कहा—हे मुने ? गोपीगण, श्रीकृष्ण को श्रेष्ठ कान्त रूप से जानती थीं, ब्रह्म रूपसे नहीं, जानती थीं। अतएव गुणयुक्त बुद्धि विशिष्टा गोपीगण का गुण प्रवाह की विरति कैसे हुई ?

उत्तर में श्रीशुकदेव कहे थे—हृषीकेश को द्वेषकर शिशुपालने जिस प्रकार सिद्धि प्राप्त की है, उस का विवरण मैंने पहले कह चूका हूँ। श्रीकृष्ण के प्रति विद्वेष कर भी जब सिद्धि लाभ होता है, तब अधोक्षज प्रियावर्ग का गुणमय देह त्याग—आश्चर्य्यकर नहीं है।

हे नृप ! अव्यय, अप्रमेय, निर्गु ण, गुणात्मा भगवान् का आविर्भाव मानवमङ्गल के निमित्त ही होता है। श्रीहरि के प्रति सतत काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य अथवा सौहार्द्य विधान करने पर तन्मयता लाभ होता है।

अज, भगवान्, योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण हैं, उनके सम्बन्ध में आप विस्मय प्रकाश न करें, कारण उनसे ही स्थावरादि सब की मुक्ति होती है।"

प्रेयसी गोपीगण का गुणमयदेह त्याग का प्रसङ्ग क्यों वर्णित हुआ है ? उत्तर में कहते हैं—श्रीव्रज

तथाविधभावस्यातिनिरर्गलत्वं दर्शितम् । बन्धनं श्रीकृष्णप्राप्तिविरोधिगुरुजनमध्यवासादिरूपम्, तत्र गुणमयं देहं जहुरित्यत्र राज्ञः सन्देहः—कृष्णं विदुरिति । हे मुने ! ताः श्रीकृष्णं परं केवलं कान्तं निगूढ़वल्लभं विदुः, न तु ब्रह्मेति । तर्हि कथं तासां गुणप्रवाहस्योपरमः सम्भवति ? यस्य ब्रह्मभावना स्यात्तत्र तस्य निर्गुणस्यैवोदयाद्भवेत्, प्राचीनमायिकगुण-प्रवाहोपरमः । तासु तु कान्ततयैव भावयन्तीषु प्राकृतगुणातीतगुणस्यैव तस्योदयात् प्राकृत-गुणाभावोऽपि तद्गुणानुबन्धगुणत्वात् परमपुरुषार्थानुगतानां तेषां गुणानां कथमुपरम इत्यर्थः ।

सुन्दरीगण, नित्यसिद्धा एवं साधकचरी रूप से द्विविध हैं, साधकचरीगण अनिरुद्धा हैं । उनमें से किसी ने गुण मय देहत्याग किया ।

श्रीराधा चन्द्रावली प्रभृति—नित्य सिद्धा गोपी हैं, जिस प्रकार श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् गोपरूपी हैं, उस प्रकार गोपी रूप में उनकी नित्य प्रेयसी श्रीराधादि हैं । साधन के द्वारा जो सब गोपी गर्भ से समुत्पन्ना हैं, वे सब साधकचरी हैं । दण्डकारण्य निवासी मुनिगण, श्रुतिगण—साधकचरी गोपी में अन्तर्भुक्त हैं । इस प्रकार प्रसिद्धि है ।

"अन्तर्गृह गताः" से आरम्भ कर "न चैवं विस्मयः कार्य्य" पर्य्यन्त श्लोक समूह का अर्थ इस प्रकार है ।

गोपीगण के मध्य में कतिपय गोपी पतिशुश्रूषा हेतु गृह में प्रविष्ट होने से ही श्रीकृष्ण मुरलीध्वनि श्रवण गोचर हुई । मुरलीध्वनि श्रवण मात्र से ही गृह से निर्गत होने के निमित्त वे सब अत्युत्कण्ठिता हुई, किन्तु निर्गत हो न सकीं, बाधा प्रदान करने के निमित्त द्वार रोधकर पति अवस्थित था उस समय अनन्योपाय होकर पूर्व चिन्तित प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण का ध्यान में नयन मुद्रित कर मग्न हो गयीं । ध्यान प्रभाव से अशुभ—श्रीकृष्ण प्राप्ति का अन्तराय स्वरूप गुरुभय प्रभृति विदूरित हो गये । ध्यान से श्रीकृष्ण आलिङ्गन प्राप्त होने से मङ्गल—श्रीकृष्ण प्राप्ति का उपाय स्वरूप रुख्यादिका साहाय्य चिन्तन भी तिरोहित हुआ ।

यहाँ अशुभ एवं मङ्गल का अर्थ उक्त प्रकार करने का कारण यह है कि— निन्दित कर्म वेद विगर्हित कर्म से अशुभ होता है, वेद विहित कर्म से मङ्गल उत्पन्न होता है, भगवत् परिकर वृन्द का कर्म बन्धन निबन्धन जन्म असम्भव है, अतएव उन सबका अशुभ एवं मङ्गल नहीं है । भगवत् परिकर वृन्द का कर्म बन्धन निमित्त जन्म नहीं होता है, इसका प्रमाण विष्णु पुराण में है—

"न कर्म बन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते" वैष्णव वृन्द का कर्म बन्धन हेतु जन्म नहीं होता है, केवल श्रीभगवदिच्छा से ही उन सब का जन्म ग्रहण होता है । सुतरां गोपीगण के सम्बन्ध में 'अशुभ' एवं 'मङ्गल' शब्द उक्त रूप अर्थ व्यतीत अपरार्थ नहीं होगा ।

आनन्द चिन्मय रस प्रतिभाविता गोपीगण हैं, एवं प्रकट प्रेममय विग्रह हैं, उन सबके प्रति 'अशुभ' शब्द का जो प्रयोग हुआ है, उसका अर्थान्तर अनुसन्धेय है ।

यहाँपर ही केवल असम्भव विषय की (गोपीगण का अशुभ की) अवतारणा हुई है ऐसा नहीं, अपितु अन्यत्र भी इस प्रकार प्रयोग है, यथा—भृगुने श्रीहरि के वक्षः स्थल में पदाघात करने पर श्रीहरि कहे थे "अद्याहं भगवल्लक्ष्म्या आसमेकान्त भाजनम् । वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत् पादहंताहंसः। भा० १०।८९।११)

"हे भगवन् ! अद्य में लक्ष्मी का एकान्त आश्रय बना, आप के पदाघात से मेरा पापक्षय होने से लक्ष्मी देवी सर्वदा वक्षः स्थल में निवास करने में सक्षम होगी ।"

यद्वा, तासां गुणप्रवाहः कथमुपरमः पारमार्थिको न भवति; येन ततो मुक्तिं कथयसीति भावः। ब्रह्मतया वेदनावैलक्षण्यं प्रतिपादयति–गुणधियां ब्रह्मनिष्ठाया अपि त्याजके तस्य परमसौन्दर्य्यादि-गुणे धीश्चेतो यासाम्। तत्रोत्तरम्—पुरञ्जनेतिहासादिवद्दुरूहत्वात् स्वयमुक्तस्य व्याख्यानमिदम्। एवं हि दृष्टान्तबलेन लभ्यते। यथा 'चैद्य'–शब्देनात्र कारुषोऽपि गृहीतः। तौ च जय-विजयौ, तयोश्च (भा० ७।१३।३४) —

जिन के नाम श्रवण से अशेष पातक विनष्ट होते हैं, उन श्रीभगवद् विग्रह में पाप स्पर्श लेश की सम्भावना कहाँ है? तथापि उक्त पाप रूप अशुभ शब्द का प्रयोग हुआ है, अर्थात् श्रीहरि के वक्षः स्थल में पदाघात जन्य भृगुमुनिका जो अनुताप हुआ था, उस अनुताप को अपसारित करने के निमित्त श्रीभगवान् उस प्रकार कहे थे। यहाँपर जिस प्रकार भगवद्वाक्य की याथार्थ्य रक्षा हेतु अर्थान्तर करना आवश्यक हुआ तद्वत् रास प्रसङ्ग में गोपीगण के सम्बन्धमें कथित अशुभ एवं मङ्गल शब्दका भी अर्थान्तर अनुसन्धान करना कर्त्तव्य होगा।

"त्वमेव परमात्मानं" श्लोक में उक्त "परमात्मा" शब्द के द्वारा श्रीकृष्ण का स्वभावतः ही निरतिशय प्रेमास्पदत्व स्थापित हुआ। ब्रह्मस्तव में उक्त है—"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनां जगद्धिताय सोऽप्यत्र देही वाभाति मायया।"

श्रीकृष्ण में व्रज वासिवृन्द की निरतिशय प्रीति की विद्यमानता का कारण क्या है? उत्तर में श्रीशुक देव ने कहा—हे राजन्! "श्रीकृष्ण अखिल प्राणीयों का आत्मा हैं, श्रीकृष्ण, जगत् को मङ्गल पूर्ण करने के निमित्त कृपया देही के समान प्रकाशित हैं।" इस श्लोक में जिस प्रकार सर्वान्तर्य्यामिता के द्वारा श्रीकृष्ण का परम प्रेमास्पदत्व स्थापित हुआ है, उस प्रकार "तमेव परमात्मानं" श्लोक में भी 'परमात्मा' शब्द का प्रयोग श्रीकृष्ण का स्वाभाविक प्रेमास्पदत्व स्थापन के निमित्त ही हुआ है।

अनन्तर "जार बुद्ध्या" पद की व्याख्या करते हैं। जार जो बुद्धि, उस बुद्धि मात्रके द्वारा भी सङ्गता है—अर्थात् श्रीकृष्ण के सहित हुई हैं। किन्तु साक्षात् जार रूप प्राप्ति द्वारा श्रीकृष्ण सङ्ग लाभ हुआ है, ऐसा नहीं है। अर्थात् गोपीगण की बुद्धि में श्रीकृष्ण, हम सब का जार हैं, इस प्रकार भावना तो है, किन्तु वास्तविक पक्ष में श्रीकृष्ण उन सब का 'जार' नहीं हैं।

जिस प्रकार रज्जु में सर्प भ्रम बुद्धि में होता है, किन्तु रज्जुसर्प कभी नहीं होता है, उस प्रकार गोपीगण की बुद्धि में 'जार' भावना रही, अर्थात् श्रीकृष्ण हमारा जार हैं, इस प्रकार भावना वास्तविक रूपसे होने पर भी श्रीकृष्ण आप सब का जार नहीं हैं, कारण, श्रीकृष्ण, किसी का भी 'जार' नहीं हो सकते हैं। श्रीकृष्ण, गोपरमणी वृन्दका हृदयरमण हैं, 'जार' नहीं हैं, योगमाया प्रभाव से ही उन सब की श्रीकृष्ण के प्रति 'जार' बुद्धि हुई थी। उक्त जार बुद्धि से ही गोपियों की कृष्ण प्राप्ति हुई थी। यहाँपर जारभाव अर्थात् उपपति बुद्धि से ही श्रीकृष्ण भजन का प्राबल्य प्रदर्शित हुआ है।

'जार' शब्द निर्देश के द्वारा—लोक धर्म, लोक मर्य्यादा का अतिक्रम को दर्शाकर गोपीभाव का निर्बाधत्व स्थापित हुआ है। अर्थात् त्याग ही प्रेम का परिचायक है। व्रजसुन्दरी गण— श्रीकृष्ण प्राप्ति के निमित्त दुस्त्यज लोक धर्म, लोक मर्य्यादा त्याग करने में कुण्ठिता नहीं हुई। श्रीकृष्ण प्राप्ति के निमित्त उन सब की तीव्र उत्कण्ठा थी, उक्त उत्कण्ठा का प्रबल प्रवाह द्वारा उन्होंने श्रीकृष्ण प्राप्ति का अन्तराय स्वरूप वस्तुओं को तृण के समान प्रवाहित कर दिया था।

यदि यह जारभाव नहीं होता तो, तब गोपी भाव का उत्कण्ठातिशय्य एवं गोपी प्रेम की महिमा

":देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम् ।
देहसम्बन्धसम्बद्धमेतदाख्यातुमर्हसि ।।" ४१२।।

इति श्रीयुधिष्ठिरप्रश्नदिशा त्वप्राकृतविग्रहत्वेनानश्वरविग्रहयोरेव सतोः (भा० ३।१६।२९)

भगवाननुगावाह यातं मा भैष्टमस्तु शम् ।
ब्रह्मतेजः समर्थोऽपि हन्तुं नेच्छे मतन्तु मे ।।" ४१३।।

इति श्रीभगवदुक्त्यनुसारेण, "इत्थं जयविजयौ सनकादिशापव्याजेन केवलं भगवतो लीलार्थं संसृताववतीर्य्य" इति पाद्मोत्तरखण्डगद्यानुसारेण च स्वभक्तचित्ताकर्षविनोदाय युद्धादिक्रीड़ा-

दर्शाने का कोई उपाय नहीं था। श्रीकृष्ण भजन में इस प्रकार उत्कण्ठा की ही एकमात्र आवश्यकता है, एतज्जन्य जार भाव—उपपति भाव अवलम्बन के द्वारा श्रीकृष्ण भजन का प्राबल्य प्रदर्शित, हुआ है ।

व्रजसीमन्तिनी गण—श्रीकृष्ण की भावना जार भावसे किये थे, उक्त जार भाव—परम काष्ठा रागौत्सुक्य निबन्धन श्रीकृष्ण प्राप्ति का सोपान रूपमें बुद्धि वृत्ति में आश्रित था, किन्तु उक्त जार भाव श्रीकृष्ण की स्पर्श नही किया था, कारण, श्रीकृष्ण कभी जार नहीं होते हैं, वस्तुतः रमण--अर्थात् प्रिय होते हैं, अतएव प्रियत्वेन ही श्रीकृष्ण प्राप्ति गोपियों की हुई । केवल जार भाव ही श्रीकृष्ण प्रापक नहीं है, किन्तु, श्रीकृष्ण प्राप्ति के निमित्त व्रज सीमन्तिनी गण की परम प्रेमवती जो दुर्दम्य पिपासा थी, उस पिपासा से ही श्रीकृष्ण प्राप्ति हुई थी ।

अतएव श्रीकृष्ण सङ्ग विषय में केवल जार भाव ही प्रशंसनीय नहीं है, किन्तु लोक धर्म मर्य्यादा अतिक्रम कारी प्रगाढ़ अनुराग ही,—गोपाङ्गनागण की बुद्धि को आवृत कर लोक धर्म मर्य्यादा के प्रति जलाञ्जलि प्रदान पूर्वक अति गर्हित जार भाव को भी श्रीकृष्ण प्राप्ति का सोपान रूप में ग्रहण कराया था । श्रीकृष्ण विषयक उक्त प्रगाढ़ अनुराग अथवा परम प्रेममयी बलवती पिपासा ही परम प्रशंसनीय है ।

उपरोक्त "सद्यः प्रक्षीण बन्धनाः" शब्दस्य श्रीकृष्ण प्राप्ति विरोधी गुरु जन के मध्य में वासादि रूप अन्तराय को जानना होगा ।

व्रज सीमन्तिनी गणके गुणमय देह त्याग की वार्त्ता की सुनकर महाराज परीक्षित् सन्दिग्ध होकर कहे थे,—हे मुने ! गोपीगण—श्रीकृष्ण को परम कान्त—निगूढ़ वल्लभ जानती थीं, ब्रह्म रूप में परिज्ञान उन सब का नहीं था, उस से उन सब की गुण प्रवाह के विरति कैसे हुई ? जो व्यक्ति ब्रह्म चिन्तन करता है, उसकी बुद्धि में निर्गुण ब्रह्म उदित होते हैं, निर्गुण ब्रह्म का आविर्भाव बुद्धि में होने से सु प्राचीन मायिक गुण प्रवाह अर्थात्—अनादि काल से प्राप्त देहात्म बोध विदूरित होता है, किन्तु व्रज सीमन्तिनी गण श्रीकृष्ण को कान्त जानती थीं ब्रह्म नहीं, श्रीकृष्ण चिन्तन कान्त भाव से होने से उनसब के समीप में श्रीकृष्ण का आविर्भाव प्राकृत गुणातीत—अथच स्वरूपानुबन्धी अनन्त गुण समन्वित रूप में हुआ था । व्रजसुन्दरीगण में भी प्राकृत गुणाभाव सर्वथा था, श्रीकृष्ण गुणानुबन्ध उन सब में था,—श्रीकृष्ण के स्वरूपानुबन्धी अनन्त गुणों से व्रज सुन्दरीगण जिस प्रकार कृष्णप्रेम विह्वला हैं, व्रज सीमन्तिनी गण के तज्जातीय गुण से ही श्रीकृष्ण गोपसुन्दरीयों में मुग्ध हैं, व्रजाङ्गना गण के यह गुण ही श्रीकृष्ण स्वरूपानुबन्ध गुण है ।

मायिक गुण समूह, परम पुरुषार्थ श्रीभगवदनुभव का अन्तराय हेतु उसका क्षय होना वाञ्छनीय है । किन्तु श्रीकृष्ण प्राप्ति हेतु भूत श्रीकृष्ण स्वरूपानुबन्धी गुण समूह, जिस की स्थिति व्रजाङ्गना में उस की विरति,—कैसे हो सकती है ?

निमित्तया तस्य दुर्घटघटनाकारिण्येच्छयैव वारद्वयं स्वीयस्य अणिमादिसिद्धिमयपरम-ज्योतिर्द्देहस्य गुणमयपार्थिवदेहान्तरप्रवेशः । अतएव सप्तमे (भा० ७।१।४५) "कृष्णचक्रहतांहसौ' इत्यत्र टीका च—"कृष्णचक्रेण हतमंहो ययोस्तौ, तयोः पापमेव हतम्, न तु तावित्यर्थः" इत्येषा तथा तदर्थमेव श्रीकृष्णेच्छयैवात्रापि तासामप्राकृतविग्रहाणामेव तदभिसारप्रतिरोध-समये (भा० १०।३३।३७)—

"नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥"४१४॥

अथवा, व्रज सुन्दरीओं का स्वरूपानुबन्धी गुण प्रवाह का पारमार्थिक बिलोप होना सर्वथा असम्भव है । किन्तु कहा गया है कि—गुण प्रवाह निवृत्ति से ही गोपियों की मुक्ति हुई है ?

जीव—मायिक गुण लिप्त होने के कारण, उक्त गुणक्षय से उसकी मुक्ति होती है । किन्तु व्रजसुन्दरी का गुण—स्वरूपानुबन्धी है । यावत् काल पर्य्यन्त स्वरूप की स्थिति है, तावत् काल पर्य्यन्त ही गुण की स्थिति है । स्वरूप का ध्वंस होना असम्भव है, स्वरूप सच्चिदानन्दमय है, मायिक नहीं है, अतएव उनका गुणक्षय भी असम्भव है । सुतरां गुणक्षय जनित जो मुक्ति है, व्रजसुन्दरी के पक्ष में वह मुक्ति कैसे होगी ?

सायुज्य मुक्ति प्रापक 'ब्रह्मास्मि' रूप ब्रह्म स्वरूपानु भवसे व्रजसुन्दरीयों का अनुभव विलक्षण था, उसका प्रतिपादन करते हैं। गोपीगण—'गुणधी' थीं अर्थात् श्रीकृष्ण के जिस परम सौन्दर्य्यादि गुण में चित्त आविष्ट होने से ब्रह्म निष्ठा के प्रति अतितुच्छ बुद्धि होती है, व्रज सीमन्तिनीगण के चित्त उक्त श्रीकृष्ण गुण में सतत आविष्ट थे । सुतरां ब्रजसुन्दरी गण की मुक्ति सर्वथा असम्भव ही है, और आपने कहा कि—गोपियों की मुक्ति हुई है ?

इस प्रकार आक्षेप के उत्तर में श्रीशुकदेव ने कहा—

"उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः" १०।२९।१३

उत्तर करते हैं, पहले कहा गया है, आवेश के कारण चैद्य की मुक्ति हुई है, द्वेष करने से भी जब मुक्ति होती है, तब जोसब श्रीकृष्ण भगवान् के सहित प्रियता सम्बन्ध युक्त हैं, वे सब की श्रीकृष्ण प्राप्ति होगी इस में सन्देह क्या है । अर्थात जीव में आवृत ब्रह्म हैं, उनका चिन्तन से भी मुक्ति होती है । श्रीकृष्ण हृषीकेश होने से अनावृत परम ब्रह्म हैं, अतएव उनमें ब्रह्म बुद्धि की अपेक्षा नहीं है ।

व्रजसुन्दरीगण की श्रीकृष्ण प्राप्ति का उपाय विश्लेषण अत्यन्त दुरूह है । अर्थात् पुरञ्जन उपाख्यानवत् रहस्य पूर्ण है, पुरञ्जन स्त्री चिन्ता द्वारा स्त्रीत्व प्राप्त किया था । स्वयं श्रीशुक देवने उक्त सिद्धान्त की व्याख्या में 'उक्त' 'कह चुका हूँ' इस प्रकार वाक्य प्रयोग किया है । उसका तात्पर्य्य यह है कि—व्रजसुन्दरी गण की श्रीकृष्ण प्राप्ति का कारण—दृष्टान्त के द्वारा उपलब्ध होता है, जिस प्रकार चैद्य-कारुष देशाधिपति शिशु पाल दन्तवक्र है, वे दोनों पूर्व में श्रीवैकुण्ठ नाथ के द्वार पाल थे । नाम—जय विजय था भा० ७।१।३४ के अनुसार प्रश्न होता है कि—देह इन्द्रिय प्राण हीन वैकुण्ठ वासीगण का प्राकृत देह सम्बन्ध कैसे सम्भव होगा ? युधिष्ठिर के प्रश्न के अनुसार ज्ञात होता है कि—वे सब अप्राकृत देह विशिष्ट होने से उन सब के देह विनष्ट नहीं हुये ।

निजानुगत व्यक्ति द्वय को भगवान् कहे थे,—तुम दोनों मर्त्यलोक को जाओ, डरो मत, मङ्गल

इतिवत् तात्कालिक-कल्पितो यो गुणमयो देहस्तत्र प्रवेशः। इदमेवापेक्ष्य दार्ष्टान्तिके ऽप्युक्तम्। (भा० १०।२९।११) "जहुर्गुणमयं देहम्" इति विशेषणवैयर्थ्यान्न तु स्वमित्यर्थः। तत्र च यथा तयोः सद्वेषस्याप्यनुस्मरणस्य प्रभावेण तादृशोपाधिपरित्यागात्ततोऽन्तर्द्धाय भगवतः प्राप्तिस्तथा सुतरामेव सप्रीतेस्तस्य प्रभावेण तत्प्राप्तिः। अत्र च भक्तचित्ताकर्षणमेवं सम्भवति,—अहो तादृशोऽसौ श्रीकृष्णे मधुरिमा येन ताः स्वसाक्षात्काराय प्राणानपि त्याज्यन्ते स्मेति नृणामिति सामान्यतो जीवानामेव निःश्रेयसाय व्यक्तौ सत्यां भक्तानान्तु

होगा, मैंने ब्रह्म शाप निवारण में समर्थ होने से भी मुनि शाप का खण्डन नहीं किया, कारण— उक्त प्रसङ्ग मेरा अनुमोदित है। वृत्तान्त यह है कि—श्रीचतुः सन, श्रीवैकुण्ठेश्वर दर्शन हेतु वैकुण्ठ गमन किये थे। नग्न व्यक्ति गण श्रीहरिके निकट उपस्थित न हों, तज्जन्य द्वार पाल जयविजय प्रतिरोध किये थे, उससे चतुः सन कुपित होकर असुर योनि में जन्म प्राप्त करने के निमित्त अभिशाप दिये थे, उस से— हिरण्याक्ष--हिरण्य कशिपु, रावण कुम्भकर्ण, शिशु पाल—दन्तवक्र का आविर्भाव हुआ।

श्रीहरि वीर रस स्वादन के निमित्त कौतूहलाक्रान्त होने से जय विजय का अवतरण पृथिवी में हुआ, तुल्यप्रतिद्वन्द्वी न होने से युद्ध नहीं होता है, पार्षद भिन्न अपर में तुल्यता नहीं है। तज्जन्य पार्षदों का अवतरण है। आसुरिक भाव व्यतीत श्रीभगवत् प्रतिद्वन्द्विता असम्भव है, अतः शापच्छल से आसुरिक जन्म विधान किये थे।

पाद्मोत्तर खण्ड के गद्य के अनुसार बोध होता है कि—श्रीहरि, निज भक्त चित्त विनोदन हेतु आविष्कृत युद्धादि क्रीड़ा निर्वाहार्थ श्रीहरि की अघटनघटनकारिणी इच्छा से स्वभावसिद्ध अनिमादि ऐश्वर्य्यमय परमतेजः पूर्ण देह—पार्थिव गुणमय देह में तीन बार प्रविष्ट हुआ था। तज्जन्य भा० ७।१।४५ में उक्त हैं—

"तावत्र क्षत्रियौ जातौ मातृष्वस्रात्मजौ तव।
अधुना शापनिर्मुक्तौ कृष्णचक्रहतांहसौ।"

श्रीनारद श्रीयुधिष्ठिर को कहे थे—जय विजय तुम्हारी मातृष्वसाके गर्भ से क्षत्रिय रूपमें अवतीर्ण हुये थे। श्रीकृष्ण चक्र से पाप हत होने से वे दोनों सम्प्रति शाप निर्मुक्त हैं।

उक्त श्लोक की टीका में स्वामिपादने लिखा था—"कृष्णचक्रेण हतमंहो ययो स्तौ, तयोः पापमेव हतम्, नतु ताविरयर्थः" चक्र के द्वारा उनदोनों का पाप हत हुआ था, वे दोनों हत नहीं हुये थे। इस प्रकार सिद्धान्त ही व्रजसुन्दरीगण के गुणमय देहत्याग के सम्बन्ध में करना होगा।

व्रजसुन्दरीगण के कल्पित देह की कथा रास प्रसङ्ग में भा० १०।३३।३७ में है—

"ना सूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान दारान् व्रजौकसः।"

श्रीशुकदेव कहे थे—"गोपगण श्रीकृष्ण के प्रति असूया प्रदर्शन नहीं किये थे, कारण वे सब गोपगण निज निज पत्नी को निज पार्श्व में अवस्थिता देखे थे।" यहाँ श्रीकृष्ण पार्श्व स्थिता गोपिका का श्रीकृष्ण की इच्छा से योग माया कल्पित देह के द्वारा निज निज पति के पार्श्व में अवस्थान हुआ था उस समय उन सब का गुणमय देह संस्पर्श हुआ था, उन्होंने उक्त मायिक देह त्याग पूर्वक श्रीकृष्ण के सन्निधान में उपस्थित हुआ। तज्जन्यदार्ष्टान्तिक—गुणमय देह का प्रसङ्ग गोपीगण के सम्बन्ध में हुआ। कतिपय व्यक्ति गुणमय देह शब्द से 'निज देह' अर्थ करते हैं, ऐसा होने पर "जहुर्गुणमयं देहं" यहाँ गुण मय देह की कथा

सुनरामेवेत्यायातम् । अन्यथा तस्य व्यक्तिरेव न सम्भवेदित्याह—अव्ययस्येति । निर्गुणस्य प्राकृतगुणरहितस्य गुणात्मनः, तत्र ये चैश्वर्य्यादयो गुणास्ते आत्मनः स्वरूपाण्येव यस्य तस्य तर्ह्यं ताद्दशलीलया कथं नृणां निश्रेयसं भवति? उच्यते—एतद्बोधनेन भवतीत्याह—काममिति । अत्र 'तन्मयता'--शब्देन तत्प्रचुरतोच्यते । तत्र कामस्नेहादिषु तदुपरक्तात्मतेति पर्य्यवसानम् । स्त्रीमयो जाल्म इतिवत् क्रोधभययंक्येषु तु प्रायस्तत् प्रलीनतेति दुग्धमयं जलमितिवत् । एकस्यैव शब्दस्य विशेषणवशादर्थभेदश्च युज्यते, (ब्र० सू० २।३।४)

विशेषण के द्वारा उपलब्ध है, किन्तु "गुणमय" विशेषण की कोई सार्थकता नहीं रहेगी।

जय विजय के प्रसङ्ग में वर्णित है कि—यदि द्वेषाभास के द्वारा निरन्तर स्मरण प्रभाव से ताद्दश उपाधि त्याग पूर्वक श्रीभगवत् प्राप्ति सम्भव हो, अर्थात् असुर देह त्याग के पश्चात् पृथिवी से अन्तर्हित होकर भगवत् प्राप्ति सम्भव होती है तो, व्रजसुन्दरी गण की, प्रीति के सहित निरन्तर स्मरण प्रभाव से श्रीकृष्ण प्राप्ति की सम्भावना अवश्य ही की जायेगी। पक्षान्तरमें वह लीला विशेष रूपसे भक्तचित्ताकर्षक है, अहो ! श्रीकृष्ण की ऐसी मधुरिमा है कि—श्रीकृष्ण दर्शन के निमित्त व्रजसुन्दरीगण प्राण विसर्जन भी किये हैं।

अनन्तर "नृणां निःश्रेयसार्थाय" श्लोक की व्याख्या करते हैं। यहाँ 'नरगण' शब्द से साधारण जीव मात्र को जानना होगा, साधारण जीव को मङ्गल प्रदान करने के निमित्त अर्थात् प्रेम भक्ति का साधन पार्षद देह प्राप्ति कराने के निमित्त जब श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुये हैं, तब निजजन गण का कल्याण साधन भी उनका अभिप्रेत है, इस का बोध सुगम तथा होता है। भक्तवृन्द की कल्याण साधनेच्छा व्यतीत स्वयं भगवान् का धराधाम में आविर्भाव ही नहीं होता है। कारण श्रीभगवान् निर्गुण हैं, अर्थात् प्राकृत गुण रहित हैं, गुणात्मा हैं,—स्वरूपभूत ऐश्वर्य्यादि गुण सम्बलित हैं।

प्रश्न हो सकता है कि—भक्त वृन्द के निःशेष कल्याण साधन से अर्थात् तत् सम्पादिका लीला से साधारण जीवगण का कल्याण साधन कैसे होगा? उत्तर में कहा—अक्लेश आचरण को लीला कहते हैं, उक्त जनशिक्षार्थ आचरण से आचरण कारी श्रीकृष्ण के गुण गण का परिज्ञान होता है, उस से जीव समूह का कल्याण साधित होता है। तज्जन्य ही आपने कहा है "कामं क्रोधं" इस श्लोक में 'तन्मयता' शब्द का प्रयोग हुआ है, उससे तत् प्रचुरता को जानना होगा। जिस प्रकार कहा जाता है, स्त्रीमय कामुक है'। यहाँ जिस प्रकार कामुक के चित्त में निरन्तर केवल स्त्री की स्फूर्त्ति होती है, उस प्रकार श्रीकृष्ण विषयक कामस्नेहादि होने से श्रीकृष्ण में गाढ़ आसक्ति होती है।

क्रोध एवं भय प्रायशः एक प्रभावाक्रान्त हैं, उस से श्रीकृष्ण में मन की प्रलीनता होती है, जिस प्रकार दुग्धमय जल कहा जाता है। एक शब्द का विशेषण भेद से अर्थ भेद होता है।

ब्रह्मसूत्र २।३।४ "स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्" यहाँपर उसका दृष्टान्त उपस्थापित हुआ है। उक्त सूत्रस्थ गोविन्दभाष्य—

"यदि कश्चिद् ब्रूयादेक एव सम्भूतशब्दोऽग्निप्रभृतावनुवर्त्तमानो मुख्य आकाशे पुन र्गौणः कथमिति, तं प्रत्याह—"स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्" यथा भृगुवल्ल्यां 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मे'त्येकस्मिन्नेव वाक्ये एकस्यैव ब्रह्म शब्दस्य ब्रह्मविज्ञान साधने तपसि गौणत्वं विज्ञेये ब्रह्मणि तु मुख्यत्वमेवं सम्भूत शब्दस्यापि स्यात् । तस्माच्छान्दोग्याश्रवणादितः काचित्की वियदुत्पत्ति र्बाध्यते ।।"

यदि कहे कि—इस तैत्तिरीयक श्रुति में एक ही सम्भूत शब्द अग्नि आदि में मुख्य रूप से अनुवर्त्तमान

"स्याच्चैकस्य ब्रह्म-शब्दवत्" इति न्यायेन क्रोधभययोरत्र पटनमन्येषु कैमुत्योपपादनायैव, न तु तदुपदेशविवक्षया। न च श्रीगोपिकादीनां ये कामादयो भावास्तदनुसरणेनान्ये कृतार्था भवन्तीति चित्रमित्याह—न चेति। किं वक्तव्यमेकेषां विमुक्तिर्जगतोऽपि सम्भवतीत्याह—यत इति। एके तु प्रकटलीलायामाराधनपाकादागन्तुवय एवंता न तु नित्यसिद्धवत् सच्चिदानन्ददेहं प्राप्ताः, ततो न दोष इति वर्णयन्ति ॥शुकः॥

१४६। अथ पूर्व्ववदिहापि श्रीव्रजेश्वरादीनां प्राचीनजन्मादिकं व्याख्येयम्। तथाहि (भा० १०।८।४५)

होकर पुनः आकाश में किस प्रकार गौण रूप से प्रवर्त्तमान होगा? उत्तर में कहते हैं—

ब्रह्म शब्द के समान एक का मुख्यभाव गौणभाव होना सम्भव है, जैसे भृगुवल्ली में तपस्या के द्वारा 'ब्रह्म जिज्ञासा करो' "तपस्या ही ब्रह्म" इन दोनों स्थल में एकमात्र ब्रह्म विज्ञान की साधन रूपा तपस्या में गौण तथा विशेषरूप ब्रह्म में मुख्य भाव से अनुवर्त्तमान है, ठीक उसी प्रकार सम्भूत शब्द को जानना होगा अतएव छान्दोग्यमें जब आकाश की उत्पत्ति नहीं हैं तब अन्य किसी स्थल पर आकाशोत्पत्ति का वर्णन है, वह गौण है।

अर्थात् भृगुवल्ली में उक्त है—तपस्या के द्वारा ब्रह्म जिज्ञासा करो, तपो ब्रह्म यहाँ द्वारद्वय ब्रह्म शब्द का उल्लेख है। तपः शब्द में गौण एवं विज्ञेय ब्रह्म शब्द में मुख्यरूप में ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है।

अतएव तन्मयता शब्द का द्विविध अर्थ अनुरक्तात्मता एवं प्रलीनता, उक्तन्याय से होता है।

गोपीगण के सम्बन्ध में क्रोध भय का उल्लेख निष्प्रयोजन है। गोपिका गण मधुरभाव के परिकर हैं, उक्त भाव में क्रोधभय नामक वृत्ति द्वय का उदय नहीं होता है। तथापि कामस्नेहादि के अनुराग द्वारा सुनिश्चित रूप से श्रीकृष्ण प्राप्ति होती है, इस को व्यक्त करने के निमित्त कैमुत्यन्याय से क्रोध भय का उल्लेख हुआ है। किन्तु उक्त क्रोध भय भावद्वय विहित नहीं है। श्रीगोपिकागण के कामादि भावानुसरण से अपर व्यक्ति भी कृतार्थ होगा—यह आश्चर्य्य का विषय नहीं है। इस अभिप्राय को व्यक्त करने के निमित्त कहा है—"न चैवं विस्मयकार्य्यः" श्रीकृष्ण से ही जब जगत् की मुक्ति होती है, तब अधिक कहना निष्प्रयोजन है—कि—जो लोक श्रीकृष्ण में कामादि भाव विधान करते हैं, वे सब विमुक्ति अर्थात् प्रेम भक्ति प्राप्त करेंगे? उसको कहा गया है—'यत एतद्विमुच्यते' श्लोक के द्वारा।

कतिपय व्यक्ति कहते हैं—यह सब अवरुद्धागोपी प्रकट लीला में आराधना परिपाक के द्वारा समागता रहीं, यह सब आगन्तुकी हैं, किन्तु वे सब नित्यसिद्ध गोपिका के समान सच्चिदानन्द देह के नहीं रहीं, अतएव "जहुर्गुणमयं देहं' कथन से दोष नहीं हुआ है।

प्रकरण प्रवक्ता श्रीशुक हैं।(१४५)

प्रस्तुत प्रसङ्ग में श्रीवसुदेवादि के प्राचीन जन्मादि वर्णन के समान ही श्रीव्रजेश्वर प्रभृति के प्राचीन जन्मादि की व्याख्या करना विधेय है। कारण—श्रीगोपादि का सुनिश्चित नित्य परिकरत्व हेतु—साधक जीव विशेषका श्रीनन्दादि रूपमें आविर्भूत होना सर्वथा असम्भव है। कहीं पर उस प्रकारवर्णन है—उस का समाधान इस प्रकार करना होगा। श्रीवसुदेव देवकी जिस प्रकार अंश से जीव विशेष में आविष्ट होकर सुतपा एवं पृश्नि रूप में तपस्या द्वारा ख्यात हुये थे। तद्वत् श्रीकृष्ण के नित्य माता पिता व्रजेश्वरी व्रजराज भी अंश से जीव विशेष में आविष्ट द्रोण धरा नामसे अभिहित हुये थे। यहाँपर प्रसङ्गोल्लेख पूर्वक प्रतिपादन करते हैं। त्रय्या चोपनिषद्‌भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः, उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्॥"

'त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्च सात्वतैः ।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं साऽमन्यतात्मजम् ॥" ४१५॥

इत्येतत् (भा० १०।९।२०) "नेम विरिञ्चो न भवः" इति वक्ष्यमाणानुसारि–महामाहात्म्यं श्रुत्वा विस्मितमना श्रीराजोवाच, (भा० १०।८।४६-४७)—

(१४६) "नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम् ।
यशोदा वा महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ॥४१६॥
पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितम् ।
गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकशमलापहम् ॥" ४१७॥

ययोः प्रसन्नोऽवतीर्णस्तौ पितरावपि ॥

१४७। तदेवं प्रश्नमवधार्य्य श्रीशुक उवाच, (भा० १०।८।४८)

(१४७) "द्रोणो वसूनां प्रवरो धरया सह भार्य्यया ।
करिष्यमाण आदेशान् ब्रह्मणस्तमुवाच ह ॥" ४१८॥

आदेशात् गोपालनादिलक्षणात् ॥

वेद, उपनिषद्, साङ्ख्ययोग, पञ्चरात्रादि शास्त्र समूह जिनका महिमा कीर्त्तन अत्यधिक रूप से करते हैं, यशोदा, उन श्रीहरि को निज गर्भजात सन्तान मानती थीं ।

भा० १०.९।२० में वर्णित है—'नेमं विरिञ्चो नभवः" गोपी यशोदाने प्रेमभक्ति दाता श्रीकृष्ण से जो अनिर्वचनीय प्रसाद प्राप्त किया है, वह प्रसाद ब्रह्मा, शङ्कर, वक्षो विलासिनी लक्ष्मी ने भी प्राप्त नहीं किया है। इस श्लोक में गोपिका माहात्म्य श्रवण से विस्मित होकर महाराज परीक्षित् ने भा० १०।८।४६-४७) में पूछा था—'हे ब्रह्मन् नन्दनेपरमशुभकर कार्य्य क्या किया था, महाभाग्यवती यशोदाने भी शुभानुष्ठान क्या किया था ? श्रीकृष्णने जिनका स्तनपान किया है । श्रीकृष्ण के माता पिता— देवकी वसुदेव' श्रीकृष्ण की बाल लीला का आस्वादन नहीं कर पाये थे, जगत् पवित्र कारक जिस बाल्य चरित्र का कार्त्तन ब्रह्मादि प्रभृति महाविज्ञगण करते रहते हैं' व्रजेश्वर—व्रजेश्वरी उक्त लीला का सम्यक् आस्वादन किये थे । भा० १०।८।४७ श्लोकस्थ—'पितरौ नान्वविन्देतां' इस वाक्य में 'पितरौ' पद प्रयोग का श्रीपरीक्षित् का अभिप्राय यह है कि-जिनके प्रति प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण धरा धाममें अवतीर्ण हुये थे, देवकी वसुदेव रूप माता पिता दोनों ने जिसका आस्वादन कर नहीं पाया है, व्रजेश्वर व्रजेश्वरी का सौभाग्य ऐसा क्या है, जिस से वे दोनों उसका आस्वादन करने में सक्षम हुये ।' (१४६)

महाराज परीक्षित् के प्रश्न का उस प्रकार अभिप्राय को अवगत होकर श्रीशुकदेव कहे थे—

भा० १०।८।४८ "द्रोणो वसूनां प्रवरो धरयासह भार्य्यया
करिष्यमाण आदेशान् ब्रह्मणस्तमुवाच ह ।।"

वसु प्रवर द्रोण, स्वीय भार्य्या धरा के सहित आदेश पालन में सम्मत होकर श्रीब्रह्मा को कहे थे ।"

यहाँपर – ब्रह्मा का आदेश शब्द से गोपालनादि— गोप जाति के उपयुक्त कार्य्य समूह को जानना होगा । ब्रह्मा के आदेश से उक्त कार्य्य समूह करने में सम्मत होने पर—ब्रह्मा उन दोनों को वरदान करने में उद्यत हुये थे । (१४७)

१४८। किमुवाच ? तदाह (भा० १०।८।४९) —

(१४८) "जातयो र्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ ।
भक्तिः स्यात् परमा लोके ययाञ्जो दुर्गतिं तरेत् ॥" ४१९॥

स्पष्टम् ॥

१४९। ततश्च (भा० १०।८।५०-५१)—

(१४९) "अस्त्वित्युक्तः स एवेह व्रजे द्रोणो महायशाः ।
जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा स धराभवत् ॥४२०॥
ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने ।
दम्पत्योर्नितरामासीद्‌गोपगोपीषु भारत ॥"४२१॥

तब उन दोनों ने जो कहा था भा० १०।८।४९ के द्वारा उसका प्रकाश कर रहे हैं ।

"जातयो र्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वर हरौ ।
भक्तिः स्यात् परमा लोके ययाञ्जो दुर्गतिं तरेत् ॥"

हम जब पृथिवी में अवतीर्ण होंगे, तब जिस भक्ति द्वारा जागतिक दुर्गति से अनायास परित्राण होता है, विशेश्वर महादेव श्रीहरि में जैसे हमारी उस प्रकार भक्ति हो," उक्त महायशा द्रोण—व्रज में नन्दनाम से ख्यात हुये थे, एवं धरा—यशोदा नाम से अभिहिता हुई थीं। हे भारत ! जनार्दन भगवान् पुत्रीभूत होने से व्रज गोप गोपी के मध्य में इस दम्पती की निरतिशय भक्ति हुई थी ।" स्पष्टम् (१४८)

अनन्तर भा० १०।८।५०-५१ में उसका वर्णित विवरण को दर्शाते हैं—

भा० १०।८।५१ में "भगवति पुत्री भूते जनार्दने" प्रयोग है, यह शब्द पुत्र शब्द के उत्तर च्वि प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है, अर्थात् जो कभी भी किसी का पुत्र नहीं हुये हैं, उन श्रीकृष्ण में व्रजेश्वरी व्रजेश्वर का पुत्र भाव सञ्जात हुआ । कारण, भक्ति विशेष मात्र से ही श्रीकृष्ण का आविर्भाव होता है । यह नियम है, अर्थात् भक्ति के तारतम्यानुसार श्रीकृष्ण का आविर्भाव तारतम्य होता है । वात्सल्य नामक प्रेम विशेष के द्वारा ही श्रीकृष्ण पुत्र रूप में आविर्भूत होते हैं, किन्तु किसी के शरीर से निर्गत होने से ही पुत्रत्व नहीं होता है । यदि ऐसा ही हो तो हिरण्यकशिपु के सभास्तम्भ से आविर्भूत श्रीनृसिंह देव का उक्त स्तम्भ में एवं श्रीब्रह्मा की नासिका से आविर्भूत श्रीवराह देवका उक्त ब्रह्मा में पितृत्व पद का प्रयोग होगा, किन्तु वैसा प्रयोग नहीं होता है ।

कहा जा सकता है कि वे सब गर्भ से उत्पन्न नहीं हुए हैं, तज्जन्य पुत्र पद का प्रयोग नहीं हुआ है ? किन्त गर्भ में प्रविष्ट है, वह पुत्र है, ऐसा भी नहीं है । कारण श्रीकृष्ण—परीक्षित् रक्षा हेतु उत्तरा के गर्भ में प्रविष्ट हुये थे, तथापि—श्रीकृष्ण का नाम "उत्तरामातः" नहीं हुआ । सुतरां वात्सल्य प्रेमही पुत्र रूप में आविर्भूत होने का एक मात्र हेतु है । उक्त वात्सल्य प्रेम शुद्ध है, अर्थात् ऐश्वर्य्य ज्ञान विहीन रूप से व्रज राज व्रजेश्वरी में परिपूर्ण भाव से उक्तभाव उदित हुआ था । अतएव गर्भ प्रवेश व्यतीत'भी श्रीकृष्ण व्रजेश्वर व्रजेश्वरी के पुत्र हैं, उसकी प्रसिद्धि भा० १०।५।१ में है—"नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लाद महामनाः" आत्मज उत्पन्न होने से महामनाः नन्द अतिशय आनन्दित हुये थे। नन्द नन्दन रूप में उपासना की वार्त्ता भी है—'सकल लोक मङ्गलो नन्दगोपतनयः" इत्यादि । अष्टादश मन्त्र के ऋष्यादि कथन प्रसङ्ग में उक्त है, उक्त मन्त्र देवता "सकल लोक मङ्गल नन्द गोप तनय हैं ।" किन्तु स्तम्भादि के पुत्र रूप में श्रीनृसिंह

अन्येषां यः पुत्रो नासीत्, तस्मिंस्तु तयोः पुत्रतां प्राप्त इति च्विप्रत्ययार्थः,—भक्तिविशेषमात्रेणैवोदयविशेषनियमात् । वात्सल्याभिधप्रेमविशेषेणैव श्रीकृष्णः पुत्रतयोदेति, न तु स्वदेहादाविर्भावेन हिरण्यकशिपुसभास्तम्भे श्रीनृसिंहस्य, ब्रह्मणि श्रीवराहस्य च पितृत्वाप्रयोगात्, न च गर्भप्रवेशेन परीक्षिद्रक्षणार्थं तत्प्रविष्टस्यापि तस्योत्तरामातृत्वाश्रवणात् । तादृशप्रेमा तु शुद्धः समुद्रिक्तश्च श्रीव्रजेश्वरयोरेव । अतएव गर्भप्रवेशादिकं विनापि तयोः पुत्रतया तस्य प्रसिद्धिः, यथा (भा० १०।५।१) "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" इत्यादौ, तथा चोपासना च यथा "सकललोकमङ्गलो नन्दगोपतनयः" इत्यादौ । न त्वेवं स्तम्भादेः, किञ्च श्रीमदानकदुन्दुभिप्रभृतिष्वाविर्भावोऽपि न प्राकृततत्तदीयचरमधात्वादौ प्रवेशः, किन्तु सच्चिदानन्दविग्रहस्य तस्य तन्मनस्यावेश एव । तदुक्तम् (भा० १०।२।१८)—

"ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं, समाहितं शूरसुतेन देवी ।
दधार सर्व्वात्मकमात्मभूतं, काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः ॥"४२२॥ इति ।

देवादि की उपासना की वार्त्ता किसी शास्त्र में वर्णित नहीं है । और भी श्रीमद् आनक दुन्दुभि प्रभृति से पुत्र रूप में आविर्भूत होने पर भी प्राकृत जीव के समान चरमधातु में प्रविष्ट होकर आविर्भूत नहीं हुये, किन्तु सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण,—श्रीवसुदेव देवकी के अप्राकृत मन में आविष्ट होकर ही जन्म ग्रहण किये थे । तज्जन्य भा० १०।२।१८ में उक्त है—

"ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं, समाहितं शूरसुतेन देवी ।
दधार सर्व्वात्मकमात्मभूतं, काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः ।।" ४२२ ।। इति ।

"अनन्तर वसुदेव कर्त्तृक समाहित जगन्मङ्गल अच्युतांश का धारण श्रीदेवकी देवीने किया । पूर्व दिक्ने जिस प्रकार चन्द्र को धारण किया है, देवकी देवीने भी उस प्रकार मन के द्वारा सर्वात्मक आत्मभूत श्रीहरि को धारण किया ।" केवल वहिः प्राकट्य के पूर्व में वसुदेव देवकी में श्रीकृष्ण आविष्ट हुये थे । ऐसा नहीं, अपितु—सर्वत्र ही उस प्रकार दृष्ट होता है, श्रीनारद, ध्रुव, प्रह्लाद प्रभृति में उक्तरीति सुप्रसिद्ध है । प्रथम मन में आविर्भूत होने के पश्चात् वहिः प्रकट होते हैं । आविर्भाव की यह रीति सर्व सम्मत है । श्रीहरि जिस प्रकार श्रीनारद प्रभृति के प्रेम का विषय हैं, उस प्रकार ही व्रजराज दम्पतीके भी प्रेम का विषय हैं । सुतरां साक्षात सम्बन्ध में श्रीभगवदाविर्भाव के अव्यवहित पूर्ववर्त्ती अनेक काल यावत् सर्वदा उनके मन में श्रीकृष्णावेश की स्थिति है, यह मानना होगा ।

ब्रह्मा के समीप में वर प्रार्थना के अवसर में भी उक्त वृत्तान्त सुस्पष्ट है । अर्थात् द्रोण धरा की वर प्रार्थना के समय उन दोनों के हृदय में श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति समधिक रही, एतज्जन्य ब्रह्मा के निकट अपर वर प्रार्थना न करके श्रीकृष्ण में परमा भक्ति रूप वर की प्रार्थना उन्होंने की । अतएव श्रीकृष्णाविर्भाव विषय में सर्वत्र ही एक रीति है, अर्थात् प्रेम विशेष ही का एकमात्र आविर्भाव हेतु है । प्रेम के प्रभाव से सर्व प्रथम मन में स्फूर्ति रूप आविर्भाव होता है, पश्चात् वहिः साक्षात् कार होता है ।

उक्त वात्सल्य प्रेम को निमित्त कर श्रीवसुदेव देवकी एवं व्रजराज व्रजेश्वरी में श्रीकृष्ण का आविर्भाव हुआ था । किन्तु जिस वात्सल्य प्रीति के विना श्रीकृष्ण में पुत्रभाव होना असम्भव ही है, उस वात्सल्य प्रेम व्रजराज व्रजेश्वरी में प्रचुर मात्रा से था । तज्जन्य, हम सब मानते हैं कि—व्रजराज दम्पत्ति में ही पुत्र

ततः श्रीनारद-प्रह्लाद-ध्रुवादिषु दर्शनात् सर्व्वसम्मतत्वात् तादृशप्रेमविषयत्वेन साक्षाच्च श्रीभगवदाविर्भावाव्यवहितपूर्व्वप्रचुरकालं व्याप्य सन्ततरतदावेशः श्रीव्रजेश्वरयोरप्यवश्यमेव कल्प्यते। ब्रह्मवरप्रार्थनयापि तदेव लभ्यत इति समान एव पन्थाः। वात्सल्यन्त्वत्राधिकम्, येन विना तस्य पुत्रभावो न सम्भवतीत्यत्रैव पुत्रतां मन्यामह इति पुत्रीभूत इत्यस्य भावः। इदं प्रकटलीलायामेव समाहितम्, अन्यस्यान्तु तयोर्नित्यसिद्धत्व एव पुरतोऽवधारयिष्यमाणे लक्ष्मीविष्ण्वोरनादितया आदिरससिद्ध-दाम्पत्यवत् श्रीव्रजेश्वरयोस्तस्य चानादितो वत्सलरससिद्धपितृपुत्रभावो विद्यत एव। अतः पुत्रभूत इति च क्वचित् पाठः, (भा० १०।८।१४) "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः" इत्यत्र सत्यवचसः श्रीगर्गस्याप्ययमभिप्रायः। श्रीदेवक्याम् (भा० १०।३।३०) "उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्" इति प्रार्थितवत्यां

भाव है। यह ही श्लोकस्थ 'पुत्रीभूत' पदका तात्पर्य्य है, यह समाधान प्रकट लीला सम्बन्ध में ही है, अप्रकट लीला में वृजराज दम्पति का नित्य सिद्ध मातृ पितृत्व का अवधारण अग्रिम ग्रन्थ में होगा।

सुतरां—श्रीलक्ष्मी विष्णु में अनादि सिद्ध आदि रस दाम्पत्य के समान श्रीवृजेश्वरी वृजराज में श्रीकृष्ण का वात्सल्यरस सिद्ध मातृ पितृ भाव, अर्थात् पुत्रभाव है ही। तज्जन्य 'पुत्रीभूत' स्थल में क्वचित् पाठ "पुत्र भूतः" उपलब्ध है। अर्थात् श्रीकृष्ण नित्य अनादि से ही वृजराज दम्पति का पुत्ररूप में विद्यमान हैं। भा० १०।८।१४ में वर्णित श्रीगर्ग वाक्य "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः" का भी अभिप्राय वह ही है, आपका आत्मज—पूर्व काल में वसुदेव के यहाँ जन्म ग्रहण किया था।

वैष्णव तोषणी—प्रागिति प्रकटार्थे,—तवात्मजोऽयं क्वचिदन्यत्र वसुदेवादपि जातस्तत् कथम्? तत्राह प्राक् अस्य, तस्य च पूर्वजन्मनीत्यर्थः। एवं श्रीवसुदेवस्य पूर्वं जन्मन्यपि तन्नामासीदिति श्रीनन्देनावगतम्। अप्रकटार्थे—इहैव जन्मनि पूर्वं कंसकारागारे वसुदेवाज्जातोऽपि तवात्मज एवेति पूर्वसिद्धान्तानुसारेण, अन्यथा तवात्मज इत्यस्याधिक्यं स्यात्। अर्थद्वयेऽपि—श्रीमन् हे परमभाग्य सम्पद् युक्त एवेति तादृश पुत्र प्राप्तेः। पाठान्तरे श्रीमान् परम शोभाग्याभ्यां युक्तोऽयं तवात्मजः, अभिज्ञा इत्यनेन अनिरुक्तचन्तरात् तन्निरुक्तेरेवान्तरङ्गत्वं बोध्यते।

"प्रकटार्थ में 'प्राग' प्रभृति का प्रयोग हुआ है, आप के यह पुत्र कभी अन्यत्र वसुदेव से भी उत्पन्न हुआ था, वह कैसे? उत्तर—इस कृष्ण का पहले—उस वसुदेवका, भी पूर्व जन्म में, इस प्रकार वसुदेव के सहित कृष्ण का सम्बन्ध था, इस प्रकार कथन श्रीनन्द समझ गये थे—कि पूर्व जन्म में वसुदेव का नाम वसुदेव ही था। उक्त श्लोक का अप्रकटार्थ किन्तु इस प्रकार है—इस जन्म में ही इस के पहले कंस कारागार में वसुदेव से उत्पन्न होने पर भी आत्मज तुम्हारा ही है। पूर्व सिद्धान्तानुसार ही उक्त अर्थ हुआ है। अन्यथा 'तवात्मज' पद का आधिक्य होगा। उभयार्थ से ही उस प्रकार पुत्र प्राप्त होने से परम सौभाग्य सूचित हुआ हैं। पाठान्तर में तुम्हारा यह पुत्र—श्रीमान् एवं परम सौभाग्य युक्त है, अभिज्ञगण कहते हैं,-इस से प्रतीत हुआ कि-अन्यत्र कथित विवरणों से सम्प्रति कथित श्रीगर्ग विवरण ही अन्तरङ्ग है।

भा० १०।३।३० श्रीदेवकी देवी की प्रार्थना यह है—

"उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।"

वैष्णवतोषणी—तत्रानुमतिमाशङ्क्य पुनस्तदप्यसहमानाह—उपेति,—शङ्खादि श्रिया सेवितं चत्वारो भुजायत्र, तादृशं यद्रूपं आकार विशेषस्तदेवोपसंहर गोपय, रूपान्तरन्तु प्रकटय इत्यर्थः। तथासति

श्रीभगवान् श्रीदेवकीमनसि स्फुरितचरं सम्प्रति वहिश्चाविर्भूतं चतुर्भूजत्वमन्तर्भाव्य श्रीव्रजेश्वरी-मनसि स्फुरितं द्विभुजत्वं तत्राविर्भावितवान् । तस्यास्तस्या मनसि स्फुर्त्तिभेदश्च तथा तथाविर्भावभेदाद्गम्यते,—"फलेन हि फलकारणमनुमीयते" इति । अतएव (भा१०।४६।३७) "न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चित्" इत्यादि--प्रकरणे (भा० १०।४६।४२)—

"युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान् हरिः ।
सर्व्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥"४२३॥

इत्येतत् श्रीव्रजेश्वरौ प्रति श्रीमदुद्धव-वाक्यम् । तदौदासीन्यप्रकटनेनापात-सान्त्वनमात्र-तात्पर्य्यकवाह्यार्थमपि वास्तवमर्थं त्वेवं वहति,—पूर्व्वोक्तप्रकारेणायं प्रियाप्रियादिमाता-पितादिरहितोऽपि भगवान् हरिर्यः सोऽयं कृष्णरूपत्वेन विशेषाकारः सन् युवयोरेवात्मजो भवति, नैव सर्व्वेषाम् । स एवेश्वररूपत्वेन सामान्याकारतस्तु सर्व्वेषामात्मजादिसर्व्वरूपः

लोके कुत्रापि गोपयितुमशक्यः स इति भावः । हे विश्वात्मन्निति युगपदनन्तरूपावकाशत्वान्नात्र तवाशक्ति-रिति भावः । अतोऽधिक भुजद्वयं कौस्तुभादिकञ्च गोपयन् निगूढ़ं लोकानुरूपमेव रूपं प्रकाशयेत्यर्थः । तथा सति लोके कुत्रापि गोपयितुं शक्यसे इतिभावः ।

मा ! भीति किस से है ? इस प्रकार वचन से शङ्कित होकर मा बोलीं, शङ्खादि शोभित भुज चतुष्टय युक्त रूप की उपसंहार करो, गोपन करो, रूपान्तर का प्रकटन करो, ऐसा होने से जन लोक में कहीं पर छिपाकर रखना सम्भव होगा । अन्यथा गोपन कर रखना असम्भव होगा । हे विश्वात्मन । आप का यह कार्य्य असम्भव नहीं है, युगपत् अनेक रूप प्रकाश करते रहते हैं, अतएव अधिक भुजद्वय एवं कौस्तुभादि अलङ्कार को गोपन कर लोकानुरूप रूप का प्रकट करो, ऐसा होने से इस लोक में कहीं पर छिपा कर रख सकूँगी ।"

उक्त प्रार्थना से प्रतीत होता है कि--श्रीभगवान् प्रथमतः श्रीदेवकी के मन में चतुर्भुज रूपमें स्फुरित हुये थे, अनन्तर बाहर भी चतुर्भुज रूप में आविर्भूत हुये थे । श्रीव्रजेश्वरी के मन में सर्व प्रथम द्विभुज रूप में स्फूर्त्ति प्राप्त होकर पश्चात् द्विभुज रूप में आविर्भूत हुये थे । द्विभुज एवं चतुर्भूज आविर्भाव भेद से ही देवकी एवं यशोदा के मन में चतुर्भुज एवं द्विभुज स्फूर्त्ति का अनुमान होता है । कारण नियम यह है—फलेन फलकारणमनुमीयते" फल को देख कर ही फल का कारण अनुमित होता है ।

अतएव भा० १०।३।३७ में व्रजराज दम्पति के नित्य पुत्र हेतु उद्धव महाशय ने कहा था—

"न ह्यस्यातिप्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः ।
नोत्तमो नाधमो वापि समानोऽस्यासमोऽपि वा ॥
न माता न पिता तस्य न भार्य्या न सुतादयः ।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥

श्रीकृष्ण— सर्वत्र समान हैं, उनका अतिप्रिय कोई नहीं है, अप्रिय भी कोई नहीं है, उत्तम, अधम, असमान कोई नहीं हैं । श्रीकृष्ण निरभिमान हैं, उनके माता पिता, भार्य्या, पुत्र इत्यादि आत्मीय, अनात्मीय देह, जन्म कुछ भी नहीं हैं ।

इत्यादि प्रकरण के भा० १०।४६।४१ में उक्त है—भगवान् श्रीहरि, केवल आपका पुत्र नहीं हैं, वह ईश्वर हैं, सबके आत्मज, आत्मा, पितामाता हैं । भा० १०।४६।३२ में श्रीकृष्ण विरहातुर श्रीव्रजराज

स्यात् । किन्तु परत्र मायामयत्वाह्नास्माकमादरः । पूर्वत्र तु मुमुक्षु-मुक्त-भक्त-श्लाघ्यप्रेम-मयत्वादत्यादर इति भावः । तथोक्तं प्रागेव (भा० १०।४६।२९-३०)—

"तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्द-यशोदयोः ।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा ।।४२४।।
युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद ।
नारायणेऽखिलगुरौ यत् कृता मतिरीदृशी ।।"४२५।। इति ।

तथा (१०।४५।२२)—

"स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत् ।
शिशून् बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोष रक्षणे ।।" ४२६।।

इति श्रीव्रजेश्वरं प्रति श्रीराम-कृष्णाभ्यां सान्त्वनञ्च श्रीरामस्यैव परपुत्रत्वमपेक्ष्यचेति

श्रीव्रजेश्वरी का श्रीकृष्ण विषय में औदासीन्य प्रकटन करके सम्प्रति सान्त्वना मात्र तात्पर्य्य प्रकट करने पर भी वास्तवार्थ उसका इस प्रकार ही है । 'नह्यस्यातिप्रियः' प्रकरण के अनुसार प्रिय प्रियादि मातापिता प्रभृति रहित भगवान् हरि, श्रीकृष्ण रूप आकार विशेष में आप का ही पुत्र हैं, अपर किसी का पुत्र नहीं हैं, श्रीकृष्ण, ईश्वर रूप में—'अन्तर्यामी रूप में सबके पुत्रादि रूप में प्रकटित होते हैं, अन्तर्यामी भगवान् की सत्ता से ही पुत्रादि की सत्ता प्रकटित होने के कारण—श्रीकृष्ण सबके पुत्रादि रूप प्राप्त होते हैं । किन्तु अन्यत्र मायामय होने के कारण—पुत्रादि रूप में हमसब का आदर नहीं है, आपका पुत्र श्रीकृष्ण हैं, यह मुमुक्षु एवं भक्त जन प्रशंसनीय प्रेममय होने के कारण– उन श्रीकृष्ण में हम सब का अत्यधिक आदर है ।

इसके पहले भी श्रीउद्धव महाशय ने भा० १०।४६।२९।३० में श्रीकृष्ण में नन्द यशोदा का परमानुराग को देखकर कहा है - आप, इस जगत् में देह धारियों के मध्य में आविर्भूत होकर समस्त देह धारियों को गौरवान्वित कर रहे हैं, आप ही सर्वापेक्षा प्रशंसनीय हैं । कारण,—अखिल गुरु श्रीनारायण में आपकी इस प्रकार मति है । उस प्रकार भा० १०।४५।२२ में कहा है—वे ही पिता माता शब्द से अभिहित होते हैं, जो दम्पति–असहाय, बन्धुजन कर्त्तृक परित्यक्त शिशु का पुत्रवत् पालन पोषण करती हैं । भा० ४०।४५।२३ में भी श्रीकृष्ण बलराम कर्त्तृक श्रीव्रजेश्वर के प्रति सान्त्वना प्रदान हेतु उक्त है– हे तात् ! आप सब व्रज गमन करें, सुहृद वर्ग को सुखी करके हम स्नेह दुःखित ज्ञाति गण को देखने के निमित्त आयेंगे । भा० १०।४५।२३ श्लोक में उक्त—"द्रष्टुमेष्यामः" दर्शन करने के निमित्त आयेंगे" इसका अर्थ है—'आपका दर्शन ही एकमात्र पुरुषार्थ है, आप सबका दर्शन कर अवस्थान करेंगे" अथवा भा० १०।१४।६ में श्रीब्रह्मा ने कहा-"तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः । अविक्रियात् स्वानुभवात् स्वरूपतो ह्यनन्य बोध्यात्मतया न चा यथा ।

टीका—एवं तावत् सगुण निर्गुणयोरुभयोरपि ज्ञानं दुर्घटमिति तत् कथा श्रवणादिनैव त्वत् प्राप्ति र्नान्यथेत्युक्तम्, इदानीं यद्यप्युभयो रविशेषेण दुर्ज्ञेयत्वमुक्तं तथापि गुणातीतस्य ज्ञानं कथञ्चिद् नतु सगुणस्य तव अचिन्त्यानन्तगुणत्वादिति श्लोकद्वयेन स्तौति । तथापीति । हे भूमन् ! अपरिच्छिन्न गुणस्य ते महिमा अमलैरन्तरात्मभिः प्रत्याहृतैरिन्द्रियैः, विबोद्धं बोधगोचरीभवितु अर्हति योग्यो भवति । अथवा विबोद्धं अर्हति अर्ह्यते शक्यत इत्यर्थः ।

यद्वा महिमेति महिमानं कश्चिद्बोद्धुमर्हतीत्यर्थः । कथम् ? स्वानुभवात् आत्माकारान्त करण साक्षात्

ज्ञेयम् । यथोक्तं तत्रैव तेन (भा० १०।४५।२३)—

"यात यूयं व्रजं तात वयञ्च स्नेहदुःखितान् ।
ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ॥" ४२७॥ इति ।

'द्रष्टुमेष्यामः' इति मम तत्रागमनस्य भवद्दर्शनमेव पुरुषार्थ इत्यनेन युष्मान्पश्यन्त एव स्थास्याम इत्यर्थः यद्वा,(भा० १०।१४।६) "तथापि भूमन् महिमागुणस्य ते विबोद्धुमर्हति" इत्यत्र विबोद्धुं बोधगोचरीभवितुमितिवद्द्रष्टुं दर्शनगोचरीभवितुमित्यर्थः । तत्र हेतुः— ज्ञातीनिति । तस्मादनयोरेव मुख्यं पुत्रत्वं श्रीकृष्णे विराजत इति सिद्धम् । प्रकृतमनुसरामः ।

१५० । गोपगोपीनामपि तस्मिन् प्रेमासीदेव; दम्पत्योरेतयोस्तु तास्वपि नितरामासीदित्युप-संहरति (भा० १०।८।५२)—

(१५०) "कृष्णो ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्त्तुं व्रजे विभुः ।
सहरामो वसंश्चक्रे तेषां प्रीतिं स्वलीलया ॥" ४२८॥

स्वेषु भक्तजनविशेषेषु या लीला तद्भक्तिविशेषवशलीलाविशेषस्तयैव तेषां सर्व्वेषामपि प्रीतिं चक्रे । द्वावेव तौ प्रति तेन वरदानादिति भावः । यद्यप्येवम्, तथापि ब्रह्मण आदेशं

कारात् । ननु अन्तः करणमपि सविकारमेव विषयीकरोतीति कथमात्माकारता तस्येत्यत आह— अविक्रियादिति । विक्रिया विशेषाकारस्तद्रहितात् विशेषपरित्याग एवात्माकारतेत्यर्थः ।

नन्वन्तः करण साक्षात्कार विषयत्वे अनात्मत्व प्रसङ्गः स्यादत आह— अरूपत इति । रूपं विषयः-- अविषयात् वृत्तिविषयत्वमेवात्मनो न फलविषयत्वम् । अतोनायं दोष इति भावः ।

कथं तर्हि स्फूर्त्तिः ? अनन्य बोध्यात्मतथा— स्व प्रकाशत्वेनैव न त्वन्यथा इदं तदिति विषयत्वेनेत्यर्थः ।

अथवा मा सर्वतोऽन्तरङ्गा लक्ष्मीरपि अगुणस्य ते महि महिमानम्— अमलैरन्त वृत्तिभिरिन्द्रियैरपि तथा यादृग्वस्तुतस्तेन रूपेण विबोद्धुं किमर्हति नार्हत्येवेत्यर्थः ।

कथं तर्हि अर्हति— तदाह— स्वानुभवादित्यादिना ।
उक्तार्थ मेवैतत् ॥"

यहाँ जिस प्रकार "विबोद्धुं" शब्द का अर्थ बोधगोचरी भवितु अर्थ है, उस प्रकार— 'ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामः" वाक्यस्थ "द्रष्टुमेष्यामः" काअर्थ "दर्शन गोचरीभवितुं" है । उसके प्रति हेतु है— "ज्ञातीन्' ज्ञातिवर्ग को देखकर, उनसब के सहित अवस्थान हेतु आयेंगे ।

सुतरां व्रजराज व्रजेश्वरी का मुख्य पुत्रत्व श्रीकृष्ण में विराजित है । यह सिद्ध हुआ है । (१४९)

सम्प्रति प्रकरण प्राप्त विषय का अनुसरण कर रहा हूँ । "दम्पत्यो नितरामासीद् गोप गोपिषु भारत !" इसका अर्थ यह है— व्रजस्थ गोपगोपीप्रभृति का प्रेम श्रीकृष्ण में विद्यमान था । किन्तु व्रजराज दम्पती का सब से अधिक प्रेम श्रीकृष्ण में था ।

अनन्तर व्रजराज दम्पति की श्रीकृष्ण प्राप्ति का कारण कथन प्रकरण का उपसंहार करते हुये श्रीशुक कहते हैं— भा० १०।८।५२

"कृष्णो ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्त्तुं व्रजे विभुः ।
सहरामो वसंश्चक्रे तेषां प्रीतिं स्वलीलया ॥"

सत्यं कर्त्तुं महदाशीरन्यथा न स्यादिति दर्शयितुमपीत्यर्थः, यद्वा, स्वलीलया तेषां प्रीतिं कर्त्तुं व्रजे वसन् ब्रह्मण आदेशं सत्यं चक्रे, तदनुषङ्गतः स्वयमादृत्य सर्व्वत्राव्यभिचारिणं चकारेति ॥ श्रीशुकः ॥

१५१। तदेतदपि कारणं तदाभासमेव मन्यमानस्तयोर्ब्रह्मादिभ्योऽपि सौभाग्यातिशयस्य ख्यापनार्थमनन्तरमेव (भा० १०।९।१) "एकदा गृहदासीषु" इत्याद्यध्यायमारब्धवान्। तत्रैव च साक्षाच्छ्रीभगवद्बन्धनरूप-महावशीकरण कारण-वात्सल्यमपि विदितम्, तेन ब्रह्मणा शिव लक्ष्मीभ्यामपि दुर्ल्लभं भगवत् प्रसादभरमाह (भा० १०।९।२०) —

(१५१) "नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥"४२९॥

(भा० २।९।५) 'स आदिदेवो भजतां परो गुरुः" इत्युक्तेर्विरिञ्चिस्तावद्भक्तादिगुरुः स च,

विभु श्रीकृष्ण, ब्रह्मा के आदेश को सत्य करने के निमित्त बलराम के सहित वृजमें निवास किये थे, एवं निज लीला के द्वारा उन सब की प्रीति सम्पादन किये थे।

ब्रह्मा, वृजराज दम्पति को वर प्रदान किये थे, किन्तु श्रीकृष्ण, स्वलीला—स्व भक्तजन विशेष के सहित जो लीला, अर्थात् भक्तगण के भक्ति विशेष से वशीभूत होकर जो लीला विशेष प्रकटित होता है, उस लीला के द्वारा ही समस्त वृज वृजवासिओं का प्रीति सम्पादन किये थे।

यद्यपि श्रीकृष्ण—भक्त गण का प्रीति सम्पादन करते हैं। तथापि ब्रह्मा के आदेश को सत्य करने के निमित्त, अर्थात् महद्व्यक्ति का आशीर्वाद अव्यर्थ है, इस को दर्शाने के निमित्त भी वृज में निवास किये थे।

अथवा, लीलाद्वारा वृज जनका प्रीति सम्पादन हेतु वृजवास करते करते ब्रह्मा के आदेश को सत्य मण्डित किये थे। अर्थात् वृजवासियों का प्रीति सम्पादन हेतु आनुषङ्गिक रूप में स्वयं ब्रह्मा के वाक्य के प्रति आदर प्रकट कर, ब्रह्मा का आदेश व्यर्थ नहीं होता है, इस का प्रतिपादन भी किये थे ॥

प्रकरण प्रवक्ता श्रीशुक हैं। (१५०)

श्रीकृष्ण, व्रज वासियों के सहित वृज में उन सब के प्रेमसे विभोर होकर ही निवास किये थे। किन्तु वृजराज दम्पति के प्रति श्रीकृष्ण को पुत्र रूप में प्राप्त होने का ब्रह्मा का वरदान यहाँपर कारणाभास ही है। अर्थात् यथार्थ कारण नहीं है, यह मानकर श्रीशुकदेव, ब्रह्मादि से भी वृजराज दम्पति सौभाग्य सर्वातिशय है, इस को दर्शाने के निमित्त, ब्रह्माका वरदान प्रसङ्गके अव्यवहित उत्तर कालमें ही भा० १०।९।१

एकदा गृहदासीषु यशोदानन्दगेहिनी। कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि।
यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत ॥
क्षौमं वासः पृथुकटि तटे बिभ्रती सूत्रनद्धं पुत्रस्नेह स्नुत कुच युगं जात कम्पञ्च सुभ्रूः।
रज्ज्वाकर्ष श्रमभुजचलत् कङ्कणौ कुण्डले च स्विन्नं वक्त्रं कवर विगलन्मालती निर्ममन्थ ॥'

'एकदा गृह दासीषु"— इत्यादि दामबन्धन लीलात्मक नवमाध्याय का प्रारम्भ किये थे।

इस अध्याय में साक्षात् श्रीभगवान् का बन्धनकारी महावशी करण कारण रूप वात्सल्य प्रेम ही है, इसकी महिमा वर्णित है। इस से विदित होता है कि—भगवत् प्रसाद— जो वरदाता ब्रह्मा के पक्ष में, शिव एवं श्रीलक्ष्मी के पक्षमें भी अति दुर्ल्लभ है-उक्त भगवत् प्रसाद का लाभ श्रीयशोदाने ही किया है। इस को

भवस्तु (भा० १२।१३।१६) "वैष्णवानां यथा शम्भुः" इत्यादि-दर्शनात् ततोऽप्युत्कर्षवान्, स च, श्रीस्तु तयोरपि भगवद्भक्तिशिक्षा–निदर्शनप्रथमरूपत्वात् परमोत्कर्षवती। तदेवमुत्तरोत्तर-विन्यासेन यथोत्तरमहिमानं सूचयित्वा श्रीरतु न केवलं भक्तिमात्रेण तादृश्येव, किं तर्हि परमसख्येन ततोऽप्यनिर्व्वचनीयमाहात्म्येत्याह— अङ्गसंश्रयेति। एवम्भूतापि सा च प्रसादं लेभिरे एव। कस्मात्? विमुक्तिदात्, (भा० ५।६।१८)— 'अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो, मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्" इत्युक्तरीत्या प्रायो मुक्तिमेव ददाति,

ही भा० १०।९।२० में कहते हैं—

"नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्ग संश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥

गोपी यशोदाने विमुक्ति दाता श्रीकृष्ण से जो प्रसाद प्राप्त किया, —उस का लाभ—ब्रह्मा-शिव, अङ्ग संश्रिता लक्ष्मी ने भी नहीं किया है। असामर्थ्य के कारण—श्रीकृष्णने व्रजेश्वरी का बन्धन अङ्गीकार किया है, ऐसा नहीं, किन्तु श्रीयशोदा का वात्सल्य प्रेम से वशीभूत होकर ही उन्होंने अङ्गीकार किया है। सुतरां बन्धन का एकमात्र कारण प्रेम ही है। प्रेमका अचिन्त्य प्रभाव है, जिस से वशीभूत होने पर भी भगवत्ता की हानि नहीं होती है। कारण, प्रेम—स्वरूप शक्ति की वृत्ति—ह्लादिनी सार समवेत सम्वित् स्वरूप है। स्वरूप शक्ति के द्वारा वशीभूत होकर विविध लीलाविनोद करने के कारण वह गुण होता दोष नहीं। भा० २।९।५ के अनुसार—

"स आदि देवो जगतां परोगुरुः स्वधिष्ण्यमास्थाय सिसृक्षयैक्षत।
तां नाध्यगच्छद् दृशमत्र सम्मतां प्रपञ्च निर्माण विधिर्यया भवेत्॥"

जगत् के परमगुरु आदि देव ब्रह्मा, नारायण नाभि कमल में अधिष्ठित होकर जगत् सृष्टि का उपाय सोच रहे थे। उन्होंने अनेक काल पर्य्यन्त चिन्ता करके भी किस रीति से जगत् सृजन हो सकता है, उस विषय में अव्यभिचारिणी प्रज्ञा प्राप्त कर नहीं पाया।

उक्त प्रमाण से प्रतिपन्न होता है कि—समस्त भक्त वृन्द का आदि गुरु ब्रह्मा हैं, एवं महादेव— भा० १२।१३।१६ के अनुसार,

"निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा।
वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा।"

नदीगण के मध्य में गङ्गा जिस प्रकार, देवगण के मध्य में श्रीहरि, जिस प्रकार, एवं वैष्णव गणों के मध्य में शम्भु जिसप्रकार श्रेष्ठ हैं, उस प्रकार समस्त पुराणों के मध्य में श्रीमद् भागवत श्रेष्ठ हैं।

वैष्णव गण के मध्य में आदर्श स्थानीय होने से श्रीशम्भु श्रीब्रह्मा से भी उत्कर्ष मण्डित हैं। किन्तु ब्रह्मा।शिव की भक्ति शिक्षा की अग्रणी श्रीलक्ष्मी हैं, अतः उनकी श्रेष्ठता सर्वाधिक है।

एतज्जन्य ही श्लोक में क्रम विन्यास भी हुआ है। अर्थात् ब्रह्मा से शिव—शिव से लक्ष्मी सर्वाधिक उत्कर्ष मण्डित हैं। केवल भक्ति प्रभाव से लक्ष्मी उत्कर्ष मण्डिता हैं, ऐसा नहीं, किन्तु— परम सख्य के कारण अनिर्वचनीय माहात्म्य विशिष्टा लक्ष्मी है। तज्जन्य अङ्ग संश्रया विशेषण प्रयुक्त हुआ है। वक्षो-विलासिनी लक्ष्मी को भगवत् प्रसन्नता प्राप्ति हुई है। किन्तु व्रजेश्वरी के समान अनिर्वचनीय प्रसन्नता की प्राप्ति नहीं हुई है। गोपिकाने किस से प्रसाद प्राप्त किया है?—कहते हैं—विमुक्ति दाता से। कारण— भा० ५।६।१८ में वर्णित है—अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्

न तु तथाभूतं प्रसादम्, तस्माच्च श्रीभगवत एव किन्तु गोपी श्रीगोपेश्वरी यत्तदनिर्व्वचनीयं प्रसादशब्देनापि वक्तुं शङ्कनीयम्, तस्मात् प्राप तद्रूपं प्रसादं विरिञ्चश्च भवश्च श्रीश्च न लेभिरे-न लेभिरे न लेभिरे इत्यर्थः। 'लेभिरे' इत्यस्य प्रत्येकं नञ्त्रयेणान्वयः। नञस्त्रिरावृत्तिश्च निषेधस्यातिशयार्था। पूर्व्वोत्तराध्यायद्वये श्रीबादरायणेर्विवक्षितमिदम्। द्रोणधरयोस्तावत् साधारणदेवतात्वञ्चेत्तर्हि तयोः श्रीशिवादिदुर्लभचरणारविन्दस्फूर्त्तिलेशस्य श्रीकृष्णस्य तथा प्राप्तौ स्वतः सम्भावना नास्ति, न च तयोस्तादृशगाढ़भजनादिकं कुत्रापिचद्वर्ण्यते। अन्यथा तदेवाहमाख्यास्यम्। न च ताभ्यां यदीदृशं फलं लब्धम्, तद्ब्रह्माणि पूर्व्वं प्रार्थितम्, किन्तु दुर्गतितरणहेतुत्वेनोत्तमभक्तिमात्रं प्रार्थितम्, न च ब्रह्मापि श्रीकृष्णस्य महाभक्तैरपि दुर्लभं पुत्रत्वादिकं विशिष्य ताभ्याञ्च वरं दत्तवान्, न च 'नेमं विरिञ्चः' इत्यादिनोच्यमान-तादृश-प्रसादाप्तिराहित्यस्य ब्रह्मणो वरस्तादृशफलदाने भवति समर्थः। वक्ष्यते च तस्य तत्-प्रसादाप्तिराहित्यातिशयः (भा० १०।१४।३४) "तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां,

भगवान् मुकुन्द मुक्ति प्रदान करते है, किन्तु भक्ति प्रदान नहीं करते हैं, लक्ष्मीने जिस प्रकार श्रीभगवान् से प्रसाद प्राप्त किया है, उस प्रकार प्रसाद, उन भगवान् से अपर व्यक्ति लाभ करने में सक्षम नहीं हैं किन्तु गोपी यशोदाने जो अनिर्वचनीय प्रसाद प्राप्त किया है, उसको प्रसाद शब्द से प्रकाश करना भी शङ्कास्पद है, उक्त प्रसाद लाभ, ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी ने नहीं किया है, नहीं किया है, नहीं किया है। उक्त कथन का तात् पर्य्यार्थ वह ही है, तीन बार न कार का प्रयोग हुआ है, 'लेभिरे' क्रिया के सहित 'न' कार का अन्वय तीन बार करना होगा। अतिशय रूप में निषेध करने के निमित्त तीनवार 'नञ्' की आवृति हुई है।"

इस विषय में पूर्वोत्तर अध्याय द्वय में श्री शुकदेव का वक्तव्य यह है—द्रोण धरा यदि साधारण देवता में अन्तर्भूत हो तो,—जिस के चरण कमल का स्फूर्त्तिलेश भी श्रीब्रह्मा शिवादि के पक्ष में दुर्ल्लभ है, उन श्रीकृष्ण को उक्त रूप से प्राप्त करना—उन दोनों के पक्ष में असम्भव होगा द्रोण धरा की प्रगाढ़ तपस्या की वार्त्ता का वर्णन भी कुत्रापि नहीं है। यदि वर्णित होती तो उसका उल्लेख मैं अवश्य करता।

जिस प्रकार फल लाभ उन्होंने किया है, पहले उन्होंने उस प्रकार प्रार्थना ब्रह्मा के निकट नहीं की है। संसार दुर्गति से त्राण करने के निमित्त उक्त भक्ति लाभ की प्रार्थना उन्होंने की है।

श्रीकृष्ण के महाभक्त गण के पक्ष में जो पुत्र भाव अतिदुर्लभ है। विशेष रूप से श्रीब्रह्माने उक्त वर प्रदान उन दोनों को नहीं किया है। विशेषतः—"ब्रह्माने प्राप्त नहीं किया" श्लोकोक्त इस वाक्य से प्रति पादित होता है कि जिस की प्राप्ति ब्रह्मा की नहीं हुई है। उस विषयक वर प्रदान करना ब्रह्मा के पक्ष में असामर्थ्य कर है। अतः श्रीब्रह्मा के वर से श्रीकृष्ण पुत्रप्राप्ति विवरण भी असमीचीन है।

ब्रह्माने उस प्रकार प्रसाद लाभ नहीं किया था, उसका कथन श्रीब्रह्मा ने भा० १०।१४।३४ तद्भूरि भाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां, यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रि रजोऽभिषेकम्" श्लोक द्वारा किया है।

अतएव श्रीनन्द यशोदा का तादृश भाग्योदय में अर्थात् श्रीकृष्ण रूप पुत्र प्राप्ति रूप सौभाग्योदय में कुछ भी कारण नहीं है। किन्तु विना कारण से ही व्रजराज व्रजेश्वर की तादृशीस्थिति हुई है। अर्थात् श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता के प्रति जिस प्रकार कोई कारण नहीं है, तद्रूप श्रीनन्द यशोदा का श्रीकृष्णरूप पुत्र लाभ हेतु कुछ भी कारण नहीं है।

यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्" इत्यादिना। तस्मात्तयोस्तादृशमहोदये कारणं नास्ति, किन्तु निष्कारणत्वेन तयोर्नित्यामेव तादृशीं स्थितिं विज्ञाय मया स्वभक्तिविशेष-प्रचार-कारणक-श्रीभगवदिच्छयैव द्रोणधरारूपेणांशेनैवावतीर्णयोरैक्यविवक्षया यथाकथञ्चित् कारणाभास एवोपन्यस्त इति। किञ्च, श्रीमद्भागवतेऽस्मिन् श्रीभगवत्प्रेमैव सर्वपुरुषार्थ-शिरोमणित्वेनोद्घुष्यते। तस्य च परमाश्रयरूपं श्रीगोकुलमेव, तत्रापि श्रीव्रजेश्वरौ, ततस्तत्-परमाश्रयनित्यत्वे सिद्ध एव तादृशग्रन्थप्रयत्नः सफलः स्यात्। यत एव श्रीब्रह्मादिभिस्तत्र यत्किञ्चिज्जन्म प्रार्थ्यत इति॥

१५२। तस्मात् स्वाभाविक्येव तयोस्तादृशी स्थितिरिति प्रतिपादयंस्तत्सम्बन्धेनैव भजतां सुखापो नान्येषामित्याह (भा० १०।९।२१)—

(१५२) "नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनाञ्चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥" ४३०॥

सुखेनाप्यत इति सुखापः, अयं श्रीगोपिकासुतो भगवान् देहिनां देहाभिमानिनां तपआदिना न सुखापः, न सुलभः, किन्तु तैरतिचिरेणैव तेन शुद्धेऽन्तःकरणे कथञ्चित्तद्भक्तावलोकनलेशेन

यशोदा नन्दन रूप में ही श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। इस को मैंने (शुकने) अच्छी तरह से जाना है। निज भक्ति विशेष प्रचार निबन्धन श्रीभगवदिच्छा से लीलासम्पादन हेतु द्रोण धरा रूप अंश से जो अवतीर्ण हैं, उक्त श्रीव्रजराज दम्पति के सहित उक्तांश की ऐक्य वर्णनेच्छा से यथा कथञ्चित् कारणाभास स्वरूप ब्रह्मा कर्त्तृक वरदान का प्रसङ्ग मेरे द्वारा (शुक के द्वारा) उपन्यस्त हुआ है।

और भी,—श्रीमद् भागवत में श्रीभगवत प्रेम ही सर्व पुरुषार्थ शिरोमणि रूप में उद्घोषित है। उक्त प्रेम का सर्व श्रेष्ठ आश्रय श्रीगोकुल ही है। गोकुल के मध्य में भी व्रजराज दम्पति श्रीकृष्ण प्रेम का परमाश्रय स्वरूप हैं। श्रीव्रजराज दम्पति प्रेम का परमाश्रय हैं, यह सिद्ध होने पर श्रीमद् भागवत रूप ग्रन्थ प्रकाशन प्रयत्न सफल होगा। अर्थात् श्रीनन्द यशोदा यदि प्रेम का परमाश्रय होते हैं, तब ही जो श्रीमद्भगवत श्रीकृष्ण प्रेम को पुरुषार्थ शिरोमणि रूप में प्रकाश करते हैं, उन श्रीमद् भागवत में श्रीनन्द यशोदा का महत्त्व वर्णन सार्थक होगा। उस से ग्रन्थ प्रतिपाद्य प्रेम की महिमा ही प्रकाशित हुई है। गोकुल वासियों की प्रेम महिमासे मुग्ध होकर श्रीब्रह्मादिने गोकुल वासियों की पदरज से अभिषिक्त होने की इच्छा से गोकुल में किसी भी प्रकार जन्म लाभ की प्रार्थना की है॥१५१॥

सुतरां श्रीनन्द यशोदा की व्रज में पिता माता रूप में नित्य स्थिति है" इसका प्रति पादन कर के श्रीशुकदेव कहते हैं—जो लोक उनके आनुगत्य से भजन करते हैं, श्रीकृष्ण उन सब के पक्ष में सुख लभ्य हैं, अपर का नहीं, "नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिका सुतः।
ज्ञानिनाञ्चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥"

"गोपिका सुत भगवान् श्रीकृष्ण श्रीनन्द यशोदा में भक्तिमान् जन गण के पक्ष में जिस प्रकार सुख लभ्य हैं—देही अथवा आत्मभूत ज्ञानिगण के पक्ष में उस प्रकार सुखाप नहीं हैं।" भा० १०।९।२१ के सुख से प्राप्त होता है—इस अर्थ में सुखाप' शब्द का प्रयोग हुआ है, गोपिका सुत भगवान् श्रीकृष्ण, देही--देहाभिमानी व्यक्ति गण के द्वारा अनुष्ठित तपस्या से सुखाप सुखलभ्य नहीं हैं। किन्तु दीर्घकाल तपश्चर्य्या

जातसद्बुद्धिभिस्तदेव तप-आदिकं तस्मिन्नर्पयद्भिः कथञ्चिदेवासौ लभ्यते। तथा चात्मभूतानामाविर्भूताद्वैतात्मवृत्तीनां निवृत्तदेहाभिमानानां ज्ञानिनामपि तादृशेन ज्ञानेन न सुखापः, किन्तु पूर्व्वेणैव कारणेन जाततदासक्तिभिस्तेन ज्ञानेन यद्ब्रह्मस्फुरति, तदेवायमिति चिन्तयद्भिस्तैः कथञ्चिदेवासौ लभ्यते। ततश्च द्वयोरपि तयोः साधनयोर्हीनत्वात् तल्लाभश्च न साक्षात्, किन्तु केनचिदंशेनैवेति व्यञ्जितम्, (गी० १२।४) "ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्व्वभूतहिते रताः", (गी० १२।५) "क्लेशोऽधिकशरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्" इति श्रीभगवदुक्तेः, (भा० १।५।७) "शाब्दे परे ब्रह्मणि धर्म्मतो व्रतैः, स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व" इति श्रीव्यासप्रश्नानन्तरात् (भा० १।५।८)—

"भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम्॥" ४३१॥

के द्वारा चित्त शुद्धि होने से यदि भक्त जनकी कृपादृष्टि उस व्यक्ति के प्रति निपतित होती है, तव उस में सद् बुद्धि का उदय होता है। तव वे सब तपस्यादि रूप कर्म का अर्पण श्रीकृष्ण में करते हैं, इस अवस्था में किञ्चित् कृष्णानुभव लाभ होता है।

उस प्रकार आत्मभूत– अर्थात् जिन सब की अद्वैत आत्मवृत्ति हुई है, तज्जन्य देहाभिमान निवृत्त हुआ है। इस प्रकार ज्ञानिगणके पक्षमें भी गोपिका सुत भगवान् श्रीकृष्ण सुखाप नहीं हैं। किन्तु पूर्व कारण से ही सुखाप हैं, अर्थात् यदृच्छाक्रम से यदि भक्त जन की कृपादृष्टि लेश निपतित होता है, तब उस से पुनः पुनः भक्त सङ्ग होता है। उस से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उस से जो ब्रह्म स्फुरित होते हैं, उसे से यह श्रीकृष्ण हैं, इस प्रकार चिन्ता होती है। उससे उन सब का यत् किञ्चित् कृष्णानुभव लाभ होता है।

सुतरां तपस्या एवं ज्ञान उभयसाधन ही उपकृष्ट है, उक्त साधनद्वयके द्वारा साक्षात् सम्बन्ध से श्रीकृष्ण प्राप्ति नहीं होती है। अंश विशेष की ही प्राप्ति होती है, यह व्यञ्जित हुआ।

गी० १२।४ में उक्त है—'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः"

गी० १२।५ में उक्त है—"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्"

जो लोक,—कूटस्थ अव्यक्त ब्रह्म की उपासना करते हैं, सर्वभूत के हिताचरण में रत होने से वे सब मुझ को प्राप्त करते हैं। किन्तु अव्यक्त ब्रह्म में आसक्त व्यक्ति गण अधिकतर क्लेश प्राप्त करते हैं। यह श्रीभगवान् की स्वमुखोक्ति है। भा० १।५।७ में उक्त है—

"शाब्दे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः, स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व"

श्रीव्यास देव कहे थे—मैं योगबल से परब्रह्म निष्ठ हूँ। एवं अध्ययनादि के द्वारा अव्यय ब्रह्म रूप वेद में निष्णात होने पर भी मुझ में न्यूनता क्यो दिखाई दे रही है? अर्थात् आत्म प्रसाद की स्वल्पता क्यों दिखाई दे रही है? प्रश्नोत्तर में श्रीनारद कहे थे—तुमने श्रीभगवान् श्रीकृष्ण का विमल यशः वर्णन प्रायशः नहीं किया है, श्रीभगवान् के यशः वर्णन व्यतीत धर्मादि ज्ञानाचरण द्वारा श्रीभगवान् का सन्तोष नहीं होता है। जिस से भगवान् सन्तुष्ट नहीं होते हैं, उस प्रकार धर्म ज्ञानादि को मैं न्यून मानता हूँ।

भवतानुदितं प्रायं यशो भगवतोऽमलम्।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद् दर्शनं खिलम्" भा० १।५।८

स्थित श्रीनारद का प्रत्युत्तर ही उक्त विषय में प्रमाण है। श्रीकृष्ण जिसके निकट सुखाप--सुखलभ्य

इति श्रीनादर-प्रतिवचनाच्च । सुखापस्तु केषामित्यपेक्षायां निदर्शनमाह— इह श्रीगोपिकासुते भक्तिमतां यथा सुखाप इति। तथा च श्रीब्रह्मोक्तिः (भा१०।१४।३)–"ज्ञाने प्रयासमुदपास्य" इत्यादि, श्रीनारदोक्तिश्च (भा० १।५।३८)–"यजते यज्ञपुरुषं स सम्यग् दर्शनः पुमान्" इति। श्रीगोपिकायास्तु सुखाप इत्येवं किं वक्तव्यम्। तस्याः सुत एवायं भगवानित्यतो गोपिकासुत इति विशेषणं दत्तम्। सुखमापयतीति वा सुखापः। ततश्चायं न देहाभिमानिनां सुखापः, यतो गोपिकासुतस्तत्सुतत्वलीलायाः एव साधारणदृष्ट्यानादरात्। तथा ज्ञानिनामपि न सुखापः, यत एव गोपिकासुतः,—सर्वात्मैक्यवृत्त्युदयेन भगवत्-स्वरूपानन्दवैचित्रीसारोपरिचर तल्लीलातत्त्वाननुभवात्। यथेह श्रीगोपिकासुते भक्तिमता

हैं? इस प्रकार जिज्ञासा के उत्तर में दृष्टान्त द्वारा स्पष्टी करण कर रहे हैं। गोपिकासुत में,—अर्थात् यशोदानन्दन स्वरूप में जो लोक भक्तिमान् हैं, श्रीकृष्ण—उन सब का सुखलभ्य हैं, यदि ऐसा ही होता है, तब—गोपिका का श्रीकृष्ण— सुखलभ्य ही हैं, वह अनायास गम्य है। यह श्रीकृष्ण रूप श्रीभगवान् उक्त गोपिका का ही सुत हैं, तज्जन्य- 'गोपिका' सुत विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

अथवा,—सुख प्राप्ति कराते हैं— अतः श्रीकृष्ण, सुखाप हैं। कारण, गोपिका सुत लीला में श्रीकृष्ण-, साधारण जनगण उनको भगवान् न कह कर गोपिकासुत मानेंगे, उपेक्षा भी करेंगे, इस प्रकार व्यवहार को भी उपेक्षा किये हैं। श्रीकृष्ण का अभिप्राय यह है—परिकर वृन्द को विचित्र लीलारसास्वादन के द्वारा सुखी करना है, तज्जन्य मुग्ध मानव के समान व्यवहार करने में मुझे कुण्ठित होना नहीं है। लोक—मुझ को भगवान् न मानकर यदि सामान्य गोप बालक मानते हैं, उससे क्षति नहीं है, भक्त वृन्द का सुख सम्पादन करना ही एक मात्र काम्य है।

भक्तिमान् जण गण के निकट जिस प्रकार गोपिका सुत सुखलभ्य हैं, ज्ञानि गणके निकट उस प्रकार सुखलभ्य नहीं हैं, कारण— आप गोपिका सुत हैं, ज्ञानलभ्य ब्रह्म नहीं हैं। सर्वत्र आत्मा अवस्थित है, इस प्रकार परिपक्व बुद्धि का उदय होने पर ब्रह्म दर्शन होता है। किन्तु भगवत् स्वरूपानन्द वैचित्री सार के ऊपर भगवल्लीला तत्त्व प्रतिष्ठित है, ज्ञानिगण भगवल्लीलातत्त्वानुभव में असमर्थ हैं, कारण— सर्वात्मैक्य-वृत्ति का उदय होने से ब्रह्मानुभव होता है, उस से भगवल्लीलानुभव विदूरित हो जाता है,अतएव ज्ञानिगण लीला तत्त्वानुभव में वञ्चित हैं। तज्जन्य वे सब गोपिका सुत रूप में लीलापरायण श्रीकृष्ण को प्राप्त नहीं करते हैं, गोपिकासुत में भक्तिमान् जन गण के निकट गोपिकासुत जिस प्रकार सुखलभ्य हैं, यह वाक्य निदर्शन स्वरूप है।

अथवा सुख पूर्वक प्राप्त होने के कारण—ही श्रीकृष्ण सुखाप हैं। इस से यह बोध होता है कि— गोवर्द्धन धारण प्रभृति लोकोत्तर कर्म समूह को अवलोकन कर देहाभिमानी जनगण श्रीकृष्ण को असाधारण पुरुष भगवान् मानते हैं, किन्तु ज्ञानिगण अनावृत ब्रह्म होने के कारण जानने में अक्षम हैं। यह सत्य है, तथापि गोपिकासुत में भक्तिमान् जनगण जिस सहज रूप से उनको समझ पाते हैं, वे सब उस प्रकार सहज रूप से नहीं जान पाते हैं, लौकिक तर्क के द्वारा देहाभिमानी के श्रीकृष्णतत्त्व, अति दुर्बोध्य है, उस प्रकार ज्ञानिगण के निकट ब्रह्मास्मिज्ञान के द्वारा भी श्रीकृष्ण तत्त्व दुर्बोध्य है।' श्रीकृष्ण भक्तगण श्रीकृष्ण लीलानुभव को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं, भा० १२।१२।६९ में उक्त है—

"स्वसुख निभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥

मिति निदर्शनम् । सुखेनाप्यते ज्ञायते इति वा सुखापः सुबोधः । ततश्चायं देहाभिमानिभि-स्तर्कादिना न सुबोधः, तथा ज्ञानिभिरपि ज्ञानेन न सुबोधः । तत्र पूर्व्ववद्धेतुर्गोपिकासुत इति । ननु देहाभिमानिभिरपि तत्तदलौकिक-कर्म्मलिङ्गकात्तर्कात् ज्ञानिभिरप्यनावृत ब्रह्मत्वावगमात् सुबोध एव । सत्यम्, तथापि यथेह श्रीगोपिकासुते भक्तिमद्भिः सुबोधस्तथा न । ते हि श्रीकृष्णभक्ताः (भा० १२।१२।६९) "स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽ-प्यजितरुचिर--लीलाकृष्टसारः" इत्यादि-दर्शनात् तादृशलीलानुभवस्यैव परमपुरुषार्थत्वमव-गच्छन्तीति भावः । अत्रार्थत्रयेऽपीह-पदेन श्रीपरव्योमनाथादिभक्तिमन्तोऽपि व्यावृत्ताः गोपिकासुत इति विशेषणेन च त्रैकालिक तद्भक्तानां तत्सम्बन्धिसुखापत्वं प्रति तत्सुतत्वायोग-

टीका श्रीगुरुं नमस्करोति । स्व सुखेनैव निभृतं पूर्णं चेतोयस्य । तेनैव व्युदस्तोऽन्यस्मिन् भावो यस्य तथाभूतोऽपि अजितस्य रुचिराभि र्लीलाभिराकृष्टः सार स्वसुखगतं स्थैर्य्यं यस्य सः, तत्त्वदीपं परमार्थ प्रकाशकं श्रीभागवतं यो व्यतनुत तं नतोऽस्मीति ॥

श्रीशुकदेव—स्वरूपानुभवानन्द में परिपूर्ण एवं तद् द्वारा अन्यत्र आसक्ति रहित होकर भी श्रीकृष्ण की मनोहर लीलाके द्वारा आकृष्ट चित्त हुये थे ।" इत्यादि विवरण दर्शन हेतु, गोपिकासुत रूप मे क्रीड़ा परायण श्रीकृष्ण की लीला—आत्मारामगण का भी चित्ताकर्षक है, अतएव भक्तवृन्द गोपिकासुत श्रीकृष्ण के लीलानुभव को परमपुरुषार्थ मानते हैं, यहाँ पर 'सुखाप' शब्द का भावार्थ यह ही है ।

यहाँपर अथत्रय का प्रदर्शन हुआ है,— सर्वत्र 'इह' 'गोपिका सुत में' पद विन्यास के द्वारा परव्योम नाथादि में भक्तिमान् जन गण के पक्ष में भी गोपिकासुत श्रीकृष्ण सुखलभ्य अथवा सुखबोध्य नहीं हैं, यह निश्चित हुआ ।

गोपिकासुत विशेषण के द्वारा त्रैकालिक भक्तगण के सम्बन्ध में गोपिकासुत का सुखापत्व का विरोधी, गोपिका सुत का अयोग—एवं अन्य सुतत्व योग, व्यवच्छिन्न हुआ ।

अर्थात् मूल श्लोक में 'गोपिकासुत' विशेषण प्रयुक्त है, तज्जन्य श्रीकृष्ण कभी भी गोपिका सुत नहीं थे, अथवा अन्य किसी का 'सुत' थे, इस द्विविध संशय का निरसन हुआ । कारण, विशेषण, कार्य्यान्वयी विशेष्य के सहित सतत विद्यमान रहता है, उसका व्यभिचार कभी भी नहीं होता है, अतएव गोपिकासुत विशेषण प्रयुक्त श्रीकृष्ण, निरन्तर गोपिका सुत रूप में विराजित हैं । इसका व्यभिचार कभी भी नहीं होता है, यहाँ का तात्पर्य्य यह ही है, अतएव त्रिकालदर्शी भक्तगण के पक्ष में गोपिका सुत रूप में ही श्रीकृष्ण सुखाप हैं ।

प्रमाण समूह के मध्य में विद्वदनुभव प्रमाण ही श्रेष्ठ है, इसका प्रतिपादन पुनः पुनः हुआ है । यहाँ पर भी उक्त प्रमाण के द्वारा ही श्रीकृष्ण के सहित गोपिका यशोदा का नित्य सम्बन्ध व्यक्त हुआ है । कारण, विज्ञवर्य्य श्रीशुकदेव ने लीला वर्णन समकाल में श्रीकृष्ण को गोपिका सुत रूप में अनुभव किया था, अतः उन्होंने 'गोपिकासुत' विशेषण का प्रयोग किया है । यहाँ 'गोपिकासुत' विशेषण का प्रयोग साक्षात् अङ्गुलिनिर्देश के समान ही हुआ है । तज्जन्य श्रीव्रजराज दम्पति के सहित श्रीकृष्ण का नित्य सम्बन्ध ही है, यह कथन सर्वथा समीचीन है ।

भा० १०।९।१ 'एकदा गृहदासीषु' से आरम्भ कर भा० १०।९।२० नेमं विरिञ्चः' इत्यादि श्लोकद्वय पर्य्यन्त दशम के नवमाध्याय में जिस दामबन्धन लीला का वर्णन हुआ है, वह भा० १०।८।४८ द्रोणो

तदन्यत्वयोगौ व्यवच्छिद्य ेते इत्यतो विद्वदनुभव-याथार्थ्येन नित्य एव तत्सम्बन्धो विवक्षितः। अतएवायं गोपिकासुत इति स्वयमपि साक्षादङ्गुल्या निर्द्दिश्यते। तस्मादपि साधूक्त नित्य एव श्रीव्रजेश्वरयोरतत्सम्बन्ध इति। अत्र (भा० १०।६।१) "एकदा गृहदासीषु" इत्यादिकम्, (भा०१०।६।२०) "नेमं विरिञ्चः" इत्यादि-पद्यद्वयान्तमिदमुत्तरवाक्यम्, (भा० १०।८।४८) "द्रोणो वसूनां प्रवरः" इत्यादिकस्य पूर्व्ववाक्यस्य बाधकत्वेनैवोक्तम्, पूर्व्वविरोधिधर्म्मान्तरप्रतिपादनादयुक्तत्वाच्च पूर्व्वस्य, (ब्र० सू० २।१।१७) "असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्म्मान्तरेण वाक्यशेषात्" इतिवत्। तत्र च यथैवासच्छब्दस्य गत्यन्तरं चिन्त्यते, तथात्रापि। तच्च पूर्व्वमेव दर्शितं पूर्व्वोत्तराध्यायद्वये बादरायणेर्विवक्षितमिदमारभ्य प्रकरणेन ॥ श्रीशुकः ॥

१५३। तदेवं श्रुति-पुराणादि-निगमोक्त्यनुसारेण श्रीकृष्णस्य नित्याभिव्यक्तित्वं द्वारकादिषु नित्यविहारित्वं नित्ययादवादिपरिकरत्वञ्च दर्शितम्। इत्थमेव च (भा० १।३।२८) "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति सुसिद्धम्। अथाशङ्कते—यदि नित्यमेव तथाविधः

वसूनां प्रवरः" इत्यादि पूर्व वाक्य का विरोधी रूप से ही हुआ है,

अर्थात् जिन्होंने तपस्या के द्वारा ब्रह्मा के वर से श्रीकृष्ण को प्राप्त किया है, उनके पक्ष में ब्रह्मा का दुर्ल्लभ, महावशीकरण का निदर्शन स्वरूप दामबन्धन लीला सम्पादन असम्भव है। कारण, पूर्व विरोधी धर्मान्तर का प्रतिपादन असङ्गत है। अर्थात् जो ब्रह्मा का परमदुर्लभ है, ब्रह्मा के वर से उसकी प्राप्ति कभी भी नहीं हो सकती है। सुतरां यहाँ पर ब्रह्म सूत्र २।१।१७ "असद्व्यपदेशान्नेतिचेन्न, धर्मान्तरेण वाक्य शेषात्" इस सूत्र के नियमानुसार पूर्ववाक्य का समाधान करना होगा।

इस सूत्र में जिस प्रकार श्रुति में पूर्वोक्त असत् शब्द के सहित शेषोक्त सत् शब्द का विरोध उपस्थित होने से असत् शब्द का अर्थान्तर स्वीकृत हुआ है, प्रस्तुत स्थल में भी उस प्रकार "द्रोणो वसूनां प्रवरः" इत्यादि वाक्य का अर्थान्तर अनुसन्धान करना कर्त्तव्य है। उक्तार्थ का प्रदर्शन इस के पहले हुआ है। अर्थात् श्रीव्रजराज दम्पति अंश में द्रोण धरा में आविष्ट हुये थे। पश्चात् अंश, अंशी में प्रविष्ट हुआ। अंश अंशी का ऐक्य प्रतिपादनेच्छासे ही उस प्रकार कथन हुआ है। उक्त सूत्रस्थ गोविन्द भाष्य—

स्यादेतत् "असद्वा इदमग्र आसीत्" इति पूर्वमसत्त्वश्रवणादुपादाने उपादेयस्य सत्त्वं नास्थेयमिति चेन्न यदयमसद्व्यपदेशोन भदवभिमतेन तुच्छत्वेन, किन्तु धर्मान्तरेणैव सङ्गच्छते। एकस्यैव द्रव्यस्योपादेयोपादानोभयावस्थस्य स्थौल्यं सौक्ष्म्यं चेत्यद्वयात्मकं धर्मद्वयं सदसच्छब्द बोध्यम्। तत्र स्थौल्याद् धर्मादन्यत् सौक्ष्म्यं धर्मान्तरं तेनेति। एवं कुतः? वाक्य शेषात्। "तदात्मानं स्वयमकुरुतेतिच विरुध्येत। असतः कालेन सहासम्बन्धात् आत्माभावेन कर्त्तृत्वस्यवक्तुमशक्यत्वाच्च।

प्रकरण प्रवक्ता श्रीशुक हैं- (१५२)

श्रुति पुराणादि की सुस्पष्टोक्ति के अनुसार श्रीकृष्ण का नित्याभि व्यक्तित्व, एवं द्वारकादि में नित्य विहारित्व नित्य यादव परिकरत्व प्रदर्शित हुआ।

एतज्जन्य ही "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" वाक्य सुसिद्ध हुआ। किन्तु उक्त वाक्य में महती आशङ्का है,—यदि श्रीकृष्णाख्य स्वयं भगवान् द्वारका मथुरा गोकुल में यादवादि परिकरों के सहित निरन्तर विहार

श्रीकृष्णाख्यः स्वयं भगवान् तत्र तत्र तैर्निजपरिकरैः सार्द्धं विहरति, तर्हि कथं ब्रह्मादि-प्रार्थनया श्रीनारायण एवावततारेति श्रूयते ? तस्य यदि श्रीकृष्णे प्रवेशस्तर्हि च कथं नित्य द्वारकादिषु विराजमानं स्वयं भगवन्तं परित्यज्य ते तस्मै निवेदयितुं गताः ? कथं वा जन्मादिलीलया क्रमेण मथुरां गोकुलं पुनर्मथुरां द्वारकाञ्च त्यक्त्वा वैकुण्ठमारुढ़वानिति । अत्रेदमुच्यते—यो द्वारकादौ नित्यं विहरति, स श्रीकृष्णाख्यः स्वयंभगवान् परात्परो ब्रह्मादिष्वप्रकट एव प्रायशः । यस्तु क्षीरोदादिलीलाधामा नारायणादिनामा पुरुषः, स एव विष्णुरूपः साक्षाद्वा निजांशेन वा तेषु प्रकटः सन् ब्रह्माण्डपालनादि कर्त्तेत्युक्तमेव । तत्र ब्रह्माण्डाधिकारिणो ब्रह्मादयोऽपि ब्रह्माण्डकार्य्यं तस्मा एव निवेदयितुमर्हन्ति । ततस्तदापि तस्मा एव पृथिवीभारावताराय निवेदितवन्तः । अनन्तरं सोऽपि पुरुषस्तान् प्रति केशदर्शनेन (भा० १०।१।२२) "स यावदुर्व्वर्या भरमीश्वरेश्वरः" इत्यादि--वाक्येन च स्वयंभगवत एवावतार-समयोऽयमिति सूचयित्वा स्वयमप्यवतितीर्षां चकार । सा चावतितीर्षा पूर्व्वयुक्त्या प्रकटी-भवति स्वयंभगवति प्रवेशायैव । तदेवं वैकुण्ठाद्यारोहणमपि तत्तदंशेनैव । स्वयन्तु तत्र तत्रैव पुनर्निगूढ़ं लीलायते । अत्रोदाहृतं तन्त्रभागवतादिवाक्यं वाराहादिवाक्यञ्चानुसन्धेयम् । उदाहरिष्यते च (भा० ११।३१।२४) "नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः" इत्यादिकम् ।

करते हैं, तब क्यों वर्णन हुआ है, कि—ब्रह्मा प्रभृति की प्रार्थना से श्रीनारायण ही स्वयं अवतीर्ण हुये हैं ? श्रीनारायण का अवतरण यदि श्रीकृष्ण में प्रवेश रूप ही होता है, तव नित्य द्वारका में अवस्थित श्रीकृष्ण के निकट न जाकर ब्रह्मादि देवगण श्रीनारायण को निवेदन करने के निमित्त क्यों गये थे ? जन्मादि लीलाक्रम से मथुरा, को छोड़कर गोकुल लीला, एवं गोकुल को छोड़कर द्वारका लीला, एवं द्वारका को छोड़कर वैकुण्ठारोहण लीला का वर्णन क्यों हुआ ? अर्थात् जन्माष्टमी की रजनी में मथुरा त्याग कर गोकुल गमन, एवं कंस बध के च्छल से गोकुल परित्याग पूर्वक मथुरा गमन, अनन्तर जरासन्धभयच्छल से मथुरा त्यागकर द्वारका गमन, पश्चात् द्वारकात्यागकर मौषल लीलान्त में वैकुण्ठ गमन वर्णन क्यों हुआ है ?

उत्तर में कहते हैं—परात्पर तत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण द्वारका में नित्य निवास करते हैं, किन्तु आप प्रायशः ब्रह्मादि के निकट प्रकट रहते हैं । क्षीरोदादि लीलाधामा श्रीनारायणादि नामा जो पुरुष हैं, आप ही श्रीविष्णुरूप हैं । आप साक्षात् एवं निजांश के द्वारा ब्रह्मादि के निकट प्रकट होकर उनसब का पालन कर्त्ता हैं, इसका वर्णन पूर्व ग्रन्थ में हुआ है । ब्रह्माण्डाधिकारी ब्रह्मादि— ब्रह्माण्ड कार्य्य का निवेदन उन श्रीविष्णु के समक्ष में करते हैं । तज्जन्य श्रीकृष्णाविर्भाव के पहले ब्रह्मादि देवगण पृथिवी का भारापनोदन के निमित्त क्षीरोदपति श्रीविष्णु को निवेदन किये थे । अनन्तर भा० १०।१ २२ के 'स यावदुर्व्याभर मीश्वरेश्वरः" के द्वारा स्वीय केश प्रदर्शन पूर्वक ब्रह्मादि को आपने सूचित किया कि—इस समय स्वयं भगवान् का आविर्भाव काल है । आप भी अवतीर्ण होंगे—इसको भी सूचित किये थे । किन्तु स्वतन्त्र रूप से अवतीर्ण होने का अभिप्राय आपने प्रकट नहीं किया । अतएव पूर्व युक्ति के अनुसार श्रीकृष्ण के प्राकट्य काल में श्रीकृष्ण में प्रविष्ट होकर अवतीर्ण होने की इच्छा प्रकट आपने की । अतएव प्रकट लीला का अवसान होने पर उक्त विष्णु रूप अंश का ही वैकुण्ठारोहण हुआ । स्वयं श्रीकृष्ण, पुनर्वार द्वारका, मथुरा, गोकुल में निगूढ़ रूप से परिकरों के सहितस्थित थे । यहाँ प्रमाण रूप में तन्त्र भागवतादि

एष चाभिसन्धिर्न सर्व्वैरेवाबुध्यतेति । यथा स्वस्वदृष्टमेव मुनिभिरतादृग्वर्ण्यते । यथा समुद्र-तीरस्थ-दृष्टैचव "अद्भ्यो वा एष प्रातरुदेत्यपः सायं प्रविशति" इति श्रुतिः प्रवर्त्तते, न तु वस्तुत इति प्राञ्चः । यदि तत्र सुमेरुपरिभ्रमणादिवाक्येनान्यथा गतिःक्रियते, तदात्रापि स्वयंभगवत्तानित्यविहारितादि प्रतिपादकवाक्येन कथं नाम क्रियताम्, यथा मथुरादि-परित्यागादुक्तिरवतारे प्रापञ्चिकजनप्रकटलीलापेक्षयैव । तदप्रकटा तु लीला नित्यमेव विद्यत एव । तस्मान्नित्यत्वेन जन्मादिमयत्वेन च लीलाप्रतिपादकानां वाक्यानां समन्वय-स्वारस्यादिदं लभ्यते । यथा, य एव श्रीकृष्णस्तत्र तत्र नित्यमप्रकटो विहरति, स एव स्वयं जन्मादिलीलया प्रकटो भवति । तत्र च नारायणादयोऽपि प्रविशन्तीति सर्व्वं शान्तम् । तदेवं श्रीकृष्णलीला हि द्विविधा, अप्रकटरूपा प्रकटरूपा च । प्रापञ्चिकलोकाप्रकटत्वात् तत्-प्रकटत्वाच्च । तत्राप्रकटा (गो० ता० उ० ४०) —

"यत्रासौ संस्थितः कृष्णस्त्रिभिः शक्त्या समाहितः ।
रामानिरुद्ध—प्रद्युम्नै रुक्मिण्या सहितो विभुः ॥४३२॥

का वचन एवं वराह पुराणादिका वचन अनुसन्धेय है । उत्तर ग्रन्थमें भा० ११।३१।२४ "नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः" वाक्य का उट्टङ्कन करेंगे ।

श्रीकृष्ण की इस प्रकार अभिसन्धि को सब व्यक्ति नहीं जानते हैं । सर्व साधारण जनगणने जिस प्रकार प्रत्यक्ष किया है, तदनुसार मुनिवृन्द ने वर्णना भी की है । जिस प्रकार प्राचीनगण कहते हैं,—"सूर्य्य प्रातः काल में जलराशि से उदित होते हैं, एवं सायं काल में उक्त जलराशि में प्रविष्ट होते हैं," यह श्रुति-समुद्र तीरस्थ व्यक्ति गण की दृष्टि के अनुसार हुई है । किंतु उक्त घटना वास्तव नहीं है । कारण—सूर्य्य के सुमेरुपरिक्रमणादि वाक्य प्रमाण के द्वारा यदि उक्त वाक्य का अर्थ अन्य रूप करना समीचीन होता है, तब श्रीकृष्ण का वैकुण्ठारोहण प्रसङ्ग भी स्वयं भगवत्ता एवं नित्य विहारादि प्रतिपादक वाक्य प्रमाण के द्वारा अन्य प्रकार से व्याख्यात क्यों नहीं होगा ?

अर्थात् अनेक वाक्य जब श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता एवं सपरिकर द्वारका मथुरा गोकुल में विहारादि का वर्णन करते हैं, तब श्रीकृष्ण के प्रकट लीला अवसान में वैकुण्ठ गमन विषयक वाक्य का अर्थ अन्यरूप क्यों नहीं होगा ? अर्थात् श्रीविष्णुरूप अंश से वैकुण्ठ गमन किये थे, इस प्रकार अर्थ करना समीचीन होगा । इस प्रकार सिद्धान्त से सब व्यक्ति शान्त होंगे । किसी प्रकार विरोध उपस्थित होने की सम्भावना नहीं होगी ।

अतएव श्रीकृष्ण लीला द्विविधा हैं, अप्रकट रूपा, एवं प्रकट रूपा । प्रापञ्चिक लोक के समक्ष में जो लीला दृष्ट नहीं होती है, वह लीला अप्रकटलीला है, और जो लीला, प्रापञ्चिक जनगण के निकट प्रकाशित है, वह प्रकट लीला है । तन्मध्य में गोपाल तापनी (उ० ता) में वर्णित "तत्रासौ संस्थितः कृष्णस्त्रिभिः शक्त्या समाहितः, रामानिरुद्ध प्रद्युम्नै रुक्मिण्या सहितो विभुः ।" मथुरा तत्व वचन में, एवं ब्रह्मसंहिता के—"चिन्तामणि प्रकट सद्मसु" इत्यादि वृन्दावन प्रतिपादक वचनों में प्रकट लीलासे किञ्चित् विलक्षण बोध होता है, इस लीला में प्रापञ्चिक लोक,—एवं प्रापञ्चिक वस्तु का मिश्रण नहीं है । इसका प्रवाह—काल जनित आदि मध्य अवसान रूप परिच्छेद रहित है, अर्थात् उक्त अप्रकट लीला का आदि मध्य अवसान नहीं है, अनन्तकाल अनवरत एकरूप लीला प्रवाह है । इस लीला में भी श्रीकृष्ण यादवेन्द्र

इति मथुरातत्त्वप्रतिपादक–श्रीगोपालतापन्यादौ, (ब्र० सं० ५।४०) ''चिन्तामणिप्रकर–सद्मसु'' इत्यादि-वृन्दावनतत्त्वप्रतिपादक–ब्रह्मसंहितादौ च प्रकटलीलातः किञ्चिद्विलक्षणत्वेन दृष्टा, प्रापञ्चिकलोकैस्तद्वस्तुभिश्चामिश्रा, कालवदादिमध्यावसानपरिच्छेदरहितस्वप्रवाहा, यादवेन्द्रत्व-व्रजयुवराजत्वाद्युचिताहरहर्महासभोपवेश-गोचारणविनोदादिलक्षणा। प्रकटरूपा तु श्रीविग्रहवत् कालादिभिरपरिच्छेद्यैव सती भगवदिच्छात्मकस्वरूपशक्त्यैव लब्धारम्भ–समापना प्रापञ्चिकाप्रापञ्चिक–लोकवस्तुसम्बलिता तदीयजन्मादिलक्षणा। तत्राप्रकटा द्विविधा,—मन्त्रोपासनामयी स्वारसिकी च। प्रथमा यथा—तत्तदेकतरस्थानादिनियत-स्थितिका तत्तन्मन्त्रध्यानमयी। यथा वृहद्ध्यानरत्नाभिषेकादि-प्रस्तावः क्रमदीपिकायाम्; यथा वा—''अथ वृन्दावनं ध्यायेत् सर्व्वदेवनमस्कृतम्'' इत्यादि च श्रीगौतमीयतन्त्रे। यथा च (ब्र० सं ५।३०।३१) —

''वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षं, वर्हावतंसमसिताम्वुदसुन्दराङ्गम्।
कन्दर्पकोटिकमनीयकिशोरवेशं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।।४३३।।
आलोलचन्द्रक-लसद्वनमाल्यवंशी,--रत्नाङ्गदं प्रणयकेलिकलादिसासम्।
श्यामं त्रिभङ्गललितं नियतप्रकाशं, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।।४३४।।

इति ब्रह्मसंहितायाम्, ''होमस्तु पूर्व्ववत् कार्य्यो गोविन्दप्रीतये ततः'' इत्याद्यनन्तरम्–

''गोविन्दं मनसा ध्यायेद्गवां मध्ये स्थितं शुभम्। वर्हापीड़कसंयुक्तं वेणुवादनतत्परम्।
गोपीजनैः परिवृतं वन्यपुष्पावतंसकम् ।।४३५।।

रूपमें एवं व्रजयुवराज रूप में अहरहः महासभा में उपवेशन, गोचारण प्रभृति लीलाविनोद प्रकाश करते रहते हैं। यह सब अप्रकट लीला का स्वरूप हैं।

किन्तु प्रकट लीला—श्रीविग्रहवत् कालादि के द्वारा परिच्छेद प्राप्त न होकर भगवदिच्छात्मक स्वरूप शक्ति के द्वारा ही समारम्भ एवं समापन होती है, वह लीला, प्रापञ्चिक एवं अप्रापञ्चिक वस्तु संवलित श्रीकृष्ण जन्मादि लीला लक्षणान्विता है।

अर्थात् श्रीकृष्ण विग्रह में जिस प्रकार बाल्य पौगण्ड कैशोर का क्रमविकाश स्वरूप शक्ति के द्वारा होता है, प्राकृत कालशक्ति के द्वारा नहीं, तद्वत् लीलादि अन्तरङ्गा शक्ति के द्वारा परिचालित होते हैं, प्राकृत काल शक्ति के द्वारा नहीं। अतएव परिच्छेद आरम्भ परि समाप्ति दृष्ट होने पर भी वह काल कृत नहीं है, ईश्वर की इच्छा कृत है।

तन्मध्य में, अप्रकट लीला द्विविधा है। मन्त्रोपासनामयी, एवं स्वारसिकी। प्रथमोक्ता लीला इस प्रकार है—जिसकी उपासना—लीला योग्य नियत एकस्थान में होती है, एवं उक्त लीला सम्बन्धीय मन्त्र ध्यान में परिकर प्रभृति का जिस प्रकार संस्थान वर्णित है, तद्रूप संस्थान विशिष्टा है। इसका वर्णन—श्रीकेशवाचार्य्य रचित क्रमदीपिका का रत्नाभिषेक प्रस्ताव में, एवं श्रीगौतमीयतन्त्र के ''अथ वृन्दावनं ध्यायेत् सर्वदेव नमस्कृतम्'' 'अनन्तर सर्वपाप प्रणाशन ध्यान यह है, श्रीकृष्ण पीताम्वरधर कमल तुल्य नयन के हैं।'' इत्यादि में है। अथवा- ब्रह्मसंहिता के ५।३०।३१ में वर्णित है-''वेणु वादन परायण, कमल-दललोचन,शिखिपुच्छचूड़,नवीन नीरदवत् कमनीय कान्ति विशिष्ट कन्दर्पसे भी अतिशय मनोहर शोभाशाली

इति बौधायनकर्म्मविपाकप्रायश्चित्त-स्मृतौ (गो० ता० पू० ११-१५) "तदु होवाच हैरण्यो गोपवेशमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम् । तदिह श्लोका भवन्ति—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् । द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥४३६॥
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमतलाश्रयम् । दिव्यालङ्करणोपेतं रत्नमण्डपमध्यगम् ॥४३७॥
कालिन्दीजलकल्लोल--सङ्गिमारुतसेवितम् । चिन्तयंश्चेतसा विष्णुं मुक्तो भवति संसृतेः ॥'४३८॥

इति श्रीगोपालतापन्याम्, (गो० ता० पू० ३७) "गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्" इत्यादि च । या तु तत्तत्कामनात्मक प्रयोगमयी पूतनाबधादिरूपा, (भा० ३।९।११) "यद्यद्धिया त

आदि पुरुष गोविन्द का भजन मैं करता हूँ। चञ्चल चन्द्रक विभूषित वदन, वनमाला वंशी रत्नाङ्गद शोभित, प्रणय केलि कला विलासी त्रिभङ्ग ललित श्यामसुन्दर नियत प्रकाश आदि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।"

बौधायन कर्मविपाक प्रायश्चित स्मृति में भी वर्णित है—'अनन्तर श्रीगोविन्द प्रीत्यर्थ, पूर्वके समान होम कार्य्य सम्पन्न करे।" इत्यादि वाक्य के पश्चात् श्रीगोविन्द का मानसिक ध्यान करे' श्रीगोविन्द-गौगण के मध्य में अवस्थित हैं, शुभ मयुरपुच्छ चूड़ा संयुक्त हैं, वेणु वाहन तत् पर, गोपीजन परिवृत, वन्यकुसुम रचित अवतंस मण्डित हैं।"

गोपाल तापनी (पू० ११-१५) में वर्णित है—अनन्तर ब्रह्माने कहा,—"श्रीकृष्ण—गोपवेश, मेघश्यामल, किशोर, कल्पद्रुमाश्रित हैं।" कतिपय श्लोक भी उक्त प्रसङ्ग में लिखित हैं।

"सत् पुण्डरीक नयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ।

द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥ गोपगोपीगवावीतमित्यादि।" सत् पुण्डरीक नयन, मेघाभ, वैद्युताम्बर, द्विभुज, मौनमुद्रायुक्त, वेणुवादनरत, वनमाली,ईश्वर, गोप गोपी गो परिवृत, कल्पतरु तलस्थित, दिव्यालङ्कार भूषित, रत्न मण्डप मध्यस्थित, यमुना तरङ्गसङ्ग वायु सेवित, श्रीविष्णु का स्मरण करने से संसृति से मानव मुक्त होता है।" गोपाल तापनी पूर्व—३७ में उक्त है—"गोविन्दं सच्चिदानन्द विग्रहम्" गोविन्द, गोकुलानन्द, सच्चिदानन्द विग्रह " इत्यादि।

यह सब वाक्य,—मन्त्रमयी उपासना का प्रकाशक हैं। अभिचारादि कर्म में कामनात्मक प्रयोगमयी पूतना बधादि जो सब लीला वर्णित हैं, उसके प्रति भा० ३।९।११ में नियम लिखित है—

"त्वं भक्तियोग परिभावित हृत् सरोजे आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम् ।
यद्यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत् तद् वपु प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥

टीका—तदेवमभक्तानां संसारानिवृत्तिमुक्त्वा भक्तानां तन्निवृत्तिमाह त्वमिति । भक्तियोगेन शोधिते हृत् सरोजे, आस्से तिष्ठसि। श्रुतेन—श्रवणेन ईक्षितः पन्थायस्य सः । किञ्च श्रवणं विनापि त्वद् भक्ता मनसा यद् यद् वपुः रूपं स्वेच्छया ध्यायन्ति, तत्तत् प्रणयसे—प्रकटयसि। सतां त्वद् भक्तानां अनुग्रहाय।

"हे उरुगाय! आपके भक्तगण श्रुतसम्मत बुद्धियोग के द्वारा जित रूप विशेष का ध्यान करते हैं, सदनुग्रह के निमित्त आप उन उन वपु को प्रकट करते रहते हैं।" इसके अनुसार अद्यापि साधक हृदय में कदाचित् सम्प्रति लीला हुई है, इस प्रकार स्फुरित होती है, वह मन्त्रोपासनामयी होनेपर भी स्वारसिकी में पर्य्यवसित है। कारण, वह लीला,—सर्वत्र अतीत रूप में निर्दिष्ट है। अर्थात् गोप—गोपी प्रभृति के सहित कल्पतरु तलादि में अवस्थित श्रीकृष्ण का प्रकाशक, वर्त्तमान में भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। किन्तु

उरुगाय विभावयन्ति, तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय" इत्युक्तानुसारेणाद्यापि साधकहृदि कदाचित् साम्प्रतीव स्फुरति, सा खलु मन्त्रोपासनामयीत्वेऽपि स्वारसिक्यामेव पर्य्यवस्यति, सर्व्वत्रातीतत्वेन निर्दिष्टत्वात् । अथ स्वारसिकी च (११७ अनु०) यथोदाहृतमेव । (स्कान्दे-)

"वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सदा क्रीड़ति माधवः । वृन्दावनान्तरगतः सरामो बालकैर्वृतः ।।"४३९ इत्यादि ।

अत्र चकारात् श्रीगोपेन्द्रादयोऽपि गृह्यन्ते । 'राम'–शब्देन रोहिण्यपि । तथा 'तेनैव क्रीड़ति' इत्यादिना व्रजागमनशयनादिलीलापि । 'क्रीड़ा'-शब्दस्य विहारार्थत्वाद्विहारस्य नानास्थानानुसरणरूपत्वादेकस्थाननिष्ठाया मन्त्रोपासनामय्या भिद्यतेऽसौ । यथावसरविविध-स्वेच्छामयी स्वारसिकी । एवं ब्रह्मसंहितायाम् (ब्र० सं० ५।२९।)

"चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्ष,--लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम् ।
लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।।"४४०।।

पूतनारि रूप में उसके वक्षः स्थल में अद्यापि विद्यमान श्रीकृष्ण हैं इस प्रकार प्रमाण अनुपलब्ध है । जहाँ जहाँपर पूतना बधादि लीला का प्रसङ्ग है, वहाँ वहाँ पर उक्त लीला अतीत काल में हुई थीं,—इस प्रकार उल्लेख दृष्ट होता है । साधक हृदय में उक्त लीला की जो स्फूर्त्ति होती है, वह मिथ्या नहीं है, कारण, भक्तानुग्रह कातर श्रीकृष्ण की इच्छा से उक्त लीला उस समय प्रकटित होती है । ऐसा होने पर भी उक्त मन्त्रोपासनामयी नहीं होगी, कारण,—मन्त्रोपासनामयी लीला की अवस्थिति एकत्र होनी चाहिये ।

स्वारसिकी लीला—बहु स्थान व्यापिनी होती है, वह नाना प्रकाशमयी एवं आदि मध्य अवसान हीना है । किसी प्रकाश में स्थान विशेष में उक्त लीला सम्पन्न होने पर पूतनाबधादि लीला भी स्वारसिकी में पर्य्यवसित होती है ।

मन्त्रमयी उपासनाका निर्णय करने के पश्चात् सोदाहरण स्वारसिकी उपासना का निर्णय करते हैं । स्कन्दपुराण में उक्त है—

"वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सदा क्रीड़ति माधवः ।
वृन्दावनान्तरगतः सरामो बालकैर्वृतः ।।"

वृन्दावन में माधव, एवं बलराम के सहित बालकगण परिवेष्टित होकर वत्स वत्सतरी के सहित सतत क्रीड़ा करते रहते हैं । उक्त श्लोकस्थ 'वत्सवत्सतरीभिश्च' 'च' कार के द्वारा श्रीकृष्ण के सहित श्रीव्रजराज प्रभृति की अवस्थिति सूचित होती है । राम शब्द के द्वारा बलराम जननी रोहिणी देवी की अवस्थिति उपलब्ध है । उस प्रकार 'क्रीड़ति क्रिया के द्वारा श्रीकृष्ण की शयन व्रजगमन भोजनादि लीला का बोध होता है, कारण,—क्रीड़ा शब्दका अर्थ—विहार है, विहार—नानास्थान में गमन रूप होने से एकत्रस्थित मन्त्रोपासनामयी लीला से उसका पार्थक्य सुस्पष्ट है ।

स्वारसिकी लीला—यथा अवसर विविध स्वेच्छामयी है । इसका दृष्टान्त—ब्रह्मसंहिता ५।२९ में है--

"चिन्तामणि प्रकट सद्मसुकल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभिरभिपालयन्तम् ।
लक्ष्मी सहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम् गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ।।

टीका—स्तुतिमाह,—चिन्तामणीत्यादिभिः । तत्र गोलोकेऽस्मिन्मन्त्र भेदेन तदेक देहेषु वृहद्धचान मयादिष्वेकस्यापि मन्त्रस्य रासमयादिषु च पीठेषु सत्स्वपि मध्यस्थत्वेन मुख्यतया प्रथमं गोलोकाख्य पीठनिवासियोग्य लीलया स्तौति--चिन्तामणीत्येकेन । अभि सर्वतोभावेन वननयन, चारण, गोस्थानानयन,

इत्यादि (ब्र० सं० ५।५२) "कथा गानं नाट्यं गमनमपि" इत्यत्राप्यनुसन्धेयम्। तत्र नानालीलाप्रवाहरूपतया स्वारसिकी गङ्गेव एकैकलीलात्मकतया मन्त्रोपासनामयी तु लब्धतत् सम्भवह्रदश्रेणीव ज्ञेया। किञ्च, मन्त्रोपासनामय्यामपि व्रजराजादिसम्बन्धः श्रूयते; किमुत स्वारसिक्यामिति न कुत्रापि तद्रहितता कल्पनीया। तदेतत् सर्व्वं मूलप्रमाणेऽपि दृश्यते। तत्र प्रकटरूपा विस्पष्टैव। अथाप्रकटायां मन्त्रोपासनामयीमाह (भा० ६।८।२०)—

(१५३) "मां केशवो गदया प्रातरव्याद्,—गोविन्द आसङ्गवमात्तवेणुः"

'आत्तवेणुः' इति विशेषणेन गोविन्दः श्रीवृन्दावनदेव एव, तत्सहपाठात् केशवोऽपि श्रीमथुरानाथ एव, तौ हि वृन्दावन-मथुराप्रसिद्ध—महायोगपीठयोरतत्तद्धाम्नैव सहितौ प्रसिद्धौ। तौ च तत्र तत्र प्रापञ्चिकलोकदृष्ट्यां श्रीमत्प्रतिमाकारेणाभातः, स्वजनदृष्ट्यां साक्षाद्रूपेण च। तत्रोत्तररूपं ब्रह्मसंहितायां गोविन्दस्तवादौ प्रसिद्धम्। अतएवात्रापि

सम्भालन प्रकारेण पालयन्त सस्नेहं रक्षन्तं। कदाचिद्रहसि तु वैलक्षण्यमित्याह लक्ष्मीति, लक्ष्म्योऽत्र गोपसुन्दर्य्य एवेति व्याख्यातमेव॥

"चिन्तामणि के द्वारा निर्मित भवन समूह, असंख्य कल्पवृक्षावृत वृन्दावन में जिन सुरभी पालनरत की सेवा लक्ष्मी सहस्रशत सम्भ्रम एवं आदर के सहित करती रहती हैं, उन आदि पुरुष गोविन्द का भजन मैं करता हूँ॥"

ब्रह्मसंहिता का अपर श्लोक उक्त विषयक यह है।

"श्रियः कान्ताः कान्तः परम पुरुषः कल्प तरवो द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशीप्रियसखी चिदानन्दज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च॥

जिस स्थान में परमलक्ष्मी स्वरूपा श्रीकृष्ण प्रेयसी श्रीव्रजसुन्दरीगण ही कान्ता वर्ग हैं, परम पुरुष स्वयं भगवान् श्रीपुरुषोत्तम श्रीगोविन्द ही कान्त हैं, समस्त पदार्थप्रद वहाँ के वृक्षसमूह हैं, भूमि चिन्तामणिमयी है, तोजोमयी वाञ्छितार्थ दायिनी है, जल—अमृत तुल्य सुस्वादु है, कथा ही गान है, गमन-अर्थात् साधारण गति ही नृत्य तुल्य है, वंशी,—प्रियसखी के समान प्रिय कार्य्य साधिका है।

चिदानन्द ज्योतिष्क पदार्थ है,—वह ही उनसब का आस्वाद्य भोग्य है, कारण वे सब ही चिच्छक्तिमय है।

मन्त्रमयी एवं स्वारसिकी—उभयविध लीलाके मध्य में प्रवाह रूपनानालीलात्मक होने से स्वारसिकी गङ्गाके समान है, एवं एक एक लीलाविशिष्टा होने के कारण—

मन्त्रोपासनामयी गङ्गा प्रवाह सम्भूता ह्रद श्रेणी के समान ही है। अर्थात् श्रीवृन्दावन के अनेक स्थानों में विभिन्न प्रकाश में विविध मन्त्रोपासनामयी लीला विद्यमान है। स्वारसिकी—उनसब को निजान्तर्भुक्त कर विविध वैचित्र्य के सहित अनन्त काल से प्रकाशित है। जिस प्रकार—मन्त्रमयी उपासना में,—श्रीराधाकृष्ण—यमुनातीरस्थ कुञ्ज में उपविष्ट हैं, स्वारसिकी लीला प्रवाह में—अभिसार के अनन्तर उभय का प्रथम मिलनोपलक्ष्य में कुञ्ज में प्रवेश, कियत् काल अवस्थान के अनन्तर वन भ्रमण के छल से वहिर्गमन, पुलिन भ्रमण करते करते मन्त्रोपासनामयी का एक केन्द्र—रास लीला में प्रवेश, वहाँपर नृत्य, अन्तर्द्धान, पुर्नमिलन इत्यादि विविध विचित्रता के सहित अनन्त प्रवाह है।

यहाँ पर विशेष वक्तव्य है कि—मन्त्रोपासनामयी में ही जब व्रजराज प्रभृति का सम्बन्ध श्रुत है,

साक्षाद्रूपवृन्दप्रकरण एव तौ पठितौ। ततश्च नारायणवर्म्माख्य—मन्त्रोपास्यदेवतात्वेन श्रीगोपालतापन्यादिप्रसिद्धस्वतन्त्रमन्त्रान्तरोपास्यदेवतात्वेन च मन्त्रोपासनामय्यामिदमुदाहृतम् ॥ विश्वरूप इन्द्रम् ॥

१५४। वक्ष्यमाणभगवदभिप्रायानुसारेण स्पष्टार्थत्वेन च वस्तुतः स्वारसिकीमाह (भा० १०।४६।३६)—

(१५४) "मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ॥"४४१॥

तब स्वारसिकी लीलामें उनसबका सम्बन्ध तो होगा ही। किसी किसी स्थल में उन सबकी सम्बन्ध रहिता स्वारसिकी लीला की कल्पना नहीं हो सकती है। इस सम्बन्ध में विचार की आवश्यकता ही क्या है? मौलिक प्रमाण रूप श्रीमद् भागवत में ही उक्त समस्त विषय दृष्ट हैं, उस में प्रकट लीला—सुस्पष्ट रूप से वर्णित हैं। अप्रकट लीला में मन्त्रोपासना का वर्णन करते हैं। (भा० ६।८।२०) मां केशवो गदया प्रात--रव्याद्, प्रातः काल में एवं वंशीधारी गोविन्द, आसङ्गवसमय में रक्षा करें।"

उक्त मन्त्र में आत्तवेणु 'वंशीधारी' का प्रयोग विशेष रूपसे हुआ है, यह शब्द गोविन्द का विशेषण है। गोविन्द ही श्रीवृन्दावन देवता है, उनके साहचर्य्य से पाठ हेतु—श्रीकेशव भी श्रीमथुरा नाथ हैं। श्रीगोविन्द एवं श्रीकेशव, उभय ही श्रीवृन्दावन एवं मथुरा के प्रसिद्ध महायोग पीठ में गोविन्द एवं केशव नामके सहित विराजित हैं।

यह प्रसङ्ग प्रसिद्ध है। उभय स्थान में प्रापञ्चिक लोक दृष्टि से प्रतिमाकार में एवं स्वजन गण की दृष्टि में साक्षात् रूप में प्रकाशित हैं। अर्थात् श्रीगोविन्द एवं श्रीकेशवदेव को लोक प्रतिमा रूप में देखते हैं, श्रीकृष्णके निज जनगण उनको सच्चिदानन्द विग्रह रूपमें देखते हैं। तन्मध्य में श्रीगोविन्द देवकी कथा श्रीब्रह्मसंहिता के ब्रह्मस्तव में वर्णित है। श्रीब्रह्माने तो श्रीगोविन्द देव का ही स्तव किया था। अतएव श्रीमद्भागवत के नारायण वर्म कथन के समयमें तदुभय का नामपठित हुआ है। तज्जन्य नारायण वर्माख्य मन्त्रोपास्य देवता रूप में एवं श्रीगोपाल तापनी प्रभृति में प्रसिद्ध स्वतन्त्र अन्य मन्त्रोपास्यरूप मन्त्रोपासना मयी में श्रीगोविन्द रूप का वर्णन हुआ है।

विश्वरूप इन्द्र की कहे थे। (१५३)

वक्ष्यमाण भगवदभिप्राय के अनुसार स्पष्टार्थ रूप में भा० १०।४६।३६ "माखिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके। अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ॥" के द्वारा स्वारसिकी लीला का वर्णन करते हैं,—श्रीउद्धव व्रजराज दम्पत्ति को कहे थे ' हे महभागद्वय! खेद न करें, अन्तिक में श्रीकृष्ण का दर्शन होगा। श्रीकृष्ण, काष्ठ के मध्य में अग्नि के समान भूत समूह के अन्तर्हृदय में विद्यमान है।

वैष्णव तोषणी—आगमिष्यतीत्यप्यसहमानौ प्रत्याह—'माखिद्यतम्" इति। महाभागाविरयधुना द्वयोः सम्बोधनं, पुत्रागमनवार्त्तया तस्या अपि स्वं प्रतिदृष्टि निक्षेपं दृष्टवा। अथाल्पविलम्बमसहमाना वाशङ्कय शोकशमक लोकरीत्या तत्त्वोपदेशमारभमाण आह—अन्तरिति। स कृष्णः भूतानां सर्वेषामेव प्राणिनाम् अन्तर्हृदि, हृदयाभ्यन्तरं यदन्तकरणाख्यं हृदयं तत्राप्यास्ते, किमुत बहिरिति। अप्रकटता मात्रांशे दृष्टान्तः। ज्योतिरिवेति—दामबन्धन मृद् भक्षण लीलादौ श्रीमात्रा मात्रैव तद्वद्यापकत्वानुभवात्, तत्रान्देषां स्वतोऽप्यनुभावो नास्तीत्यसन् निवर्त्तते, भवतोऽस्तु सदा स्फूर्त्ते हृदयाभ्यन्तरेऽपि सन्नेव विराजते, इत्यलं

हे महाभागौ श्रीव्रजेश्वरौ, मा खिद्यतम्, यतः श्रीकृष्णं द्रक्ष्यथः। कथम्? यतः सोऽन्तिक एवास्ते, तस्यान्तिकस्थितेरव्यभिचारे दृष्टान्तः— भूतानामन्तर्हृदि परमात्मलक्षणं ज्योतिरिव एधसि चाग्निलक्षण ज्योरितिवेति। अत्र निरन्तर-तत्स्फूर्त्तिरेव भवतां प्रमाणमिति भावः। अर्थान्तरे तूत्तरार्द्धस्य हेतुत्वास्पष्टत्वम्। परमात्मरूपेणान्तर्हृदि स्थितस्यापि दर्शनानियमात्॥ उद्धवः श्रीव्रजेश्वरौ॥

१५५। एवं श्रीभगवानुवाच (भा० १०।४७।२९)—

(१५५) "भवतीनां वियोगो मे न हि सर्व्वात्मना क्वचित्"

बहिस्तदपेक्षया, तदपि तदपेक्षया चेत्, तदा शीघ्रमेव तदपि भविष्यतीत्यर्थः।

अथवा, भूतानामन्तर्हृदि परमात्मलक्षण ज्योतिरेव, एधसिचाग्निलक्षणं ज्योतिरिवाप्रकटः सन् अन्तिके युवयोर्निकटे, तत्रैव स्वयं भवद्भ्यां दर्शिते गोलोकाख्ये प्रकाशे आस्ते, सतु युवांनिकटात् पश्यत्येव युवाञ्च मनसा तं पश्यथ एव, चक्षुषापि शीघ्रं पश्यतमेवेति तात्पर्य्यम्॥

हे महाभाग! व्रजराज दम्पति! खेद न करें, कारण—श्रीकृष्ण का दर्शन होगा। कैसे? कारण— श्रीकृष्ण, समीप में ही हैं, निकट में स्थिति का अव्यभिचारीदृष्टान्त— प्राणिगण के हृदय में परमात्म स्वरूप ज्योतिः सदृश, एवं काष्ठ में अग्निलक्षण ज्योतिः सदृश श्रीकृष्ण सर्वदा अन्तिक में विद्यमान हैं। निरन्तर स्फूर्त्ति ही इस में दृष्टान्त है।

यहाँपर अप्रकट लीला में निकट में स्थित हैं, इस प्रकार अर्थ न करने से सामञ्जस्यरक्षा नहीं होती है। कारण--उत्तरार्द्धका हेतुत्व अस्पष्ट है, अर्थात् अन्तर्हृदय में हैं, तज्जन्य ही उनका दर्शन होगा, ऐसी बात नहीं है, कारण उसका निश्चिय नहीं है। परमात्मा रूपमें हृदय में अवस्थित होने पर भी उनका दर्शन दान का कोई नियम नहीं है।

उद्धव—श्रीव्रजेश्वर दम्पत्ति को कहे थे॥ (१५४)

भा० १०।४७।२९ में श्रीभगवान् ने भी उस प्रकार कहा है,—

"भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित्"

श्रीकृष्ण ने उद्धव के द्वारा व्रजसुन्दरीगण के निकट जो संवाद प्रेरण किये थे—उसमें अप्रकट प्रकाश में नित्य स्थिति की कथा है। आप सब के सहित मेरा समस्त स्वरूपों से विच्छेद नहीं है।" आप सब के सहित मेरा जो विच्छेद है, वह समस्त प्रकाशों में नहीं है, वह किस प्रकार है? प्रकट लीलामें विराजमान एक प्रकाश के सहित वियोग, अप्रकट लीला में विराजमान—अपर प्रकाश के सहित निश्चय ही संयोग है" यह कथनाभिप्राय है।

बृहत् क्रमसन्दर्भ—"तदेव भगवद् वचनेनापि दृढ़ोकरोति—भवतीनां वियोगो मे इत्यादि। भवतीनां वियोगो मम क्वचित् कदाचिदपि नहीति जानीथ। भवतीनां समीप एवाहं तिष्ठामीत्यर्थः। सर्वात्मना— सर्वतो भावेन, यतश्चाक्षुष एव नाहम्। किन्तु समीप वर्त्त्येव, अन्यथा मद् विरहेण भवत्यः किं जीवन्तीति निरन्तरं वृन्दावनस्थितत्वमात्मनः प्रकटितम्। नन्विदमघटमानं देशान्तरवर्त्तित्वान्नैवमित्याह— यथेत्यादि। यथा भूतेषु पञ्चीकरणावस्थासु भूतानि पृथिव्याकाशादिनी आकाशे पृथिव्यादीनीत्यादि तथापि पृथिवी पृथिव्येवेति दृश्यत, आकाश आकाशएव दृश्यते, तथाहञ्च भवतीषु मनः प्राण— बुद्धीन्द्रियगुणाश्रयः सन् निकट एव वर्त्त इति भावः। भवत्यस्तु आत्मानमेव पश्यन्ति, न मामिति भावः।

मे मया सह भवतीनां योऽयं वियोगः, स सर्व्वात्मना सर्व्वेणापि प्रकाशेन न विद्यते। किन्तह्येकेन प्रकटलीलायां विराजमानेन प्रकाशेन वियोगः, अप्रकटलीलायां त्वन्येन प्रकाशेन संयोग एवेत्यर्थः। अत्रैतदुक्तं भवति (भा० १०।९।१३) –"न चान्तर्न वहिर्यस्य" इत्यादि-दामोदरलीला–प्रघट्टकदृष्ट्या मृद्भक्षणलीलादौ श्रीव्रजेश्वर्यादीनां तथानुभूत्या च श्रीविग्रहस्य मध्यमत्व एव विभुत्वं दृश्यते। तच्च परस्परविरोधि–धर्म्म-द्वयमेकत्राचिन्त्यशक्तिमति तस्मिन्नासम्भवम्, "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" इत्येतन्न्यायेन। तदेतच्च (३०--३९ अनु०) भगवत् सन्दर्भे विभुत्वप्रघट्टकेन विवृतमस्ति। तदेवं विभुत्वे सति युगपदनेकस्थानाद्यधिष्ठानार्थं रूपान्तरसृष्टिः पिष्टपेषिता। किन्तु युगपन्मध्यमत्व-विभुत्व प्रकाशिकया तयैवाचिन्त्यशक्त्या तदिच्छानुसारेणैक एक श्रीविग्रहोऽनेकधा प्रकाशते, विम्ब इव स्वच्छोपाधिभिः। किन्तु

तत्र निकटस्थ एव भवतीनामन्तरे वाहं प्रविष्टः। मनः प्राणेत्यादि, भवतीनां मनो मन्मनः, भवतीनां प्राणाइत्यादि प्रकारकः सन्निरित्यर्थः। एतेन भवतीनां मम चाभेद इति प्रेम्नपरिपाक प्राकट्यम्, नतु ज्ञान योग वार्त्ता। अतः सर्वात्मना नहि विरह इत्युक्तम्॥"

एक श्रीकृष्ण विग्रह की विविध प्रकार में स्थिति होती है। उसका वर्णन भा० १०।९।१३ "न चान्त र्न वहिर्यस्य" दामबन्धन लीला की सङ्गतिके अनुसार एवं मृद्भक्षण लीलाप्रभृति में श्रीव्रजेश्वरी प्रभृति का श्रीकृष्ण विग्रहमें ही नराकार मध्यमपरिमाणमें ही विभुत्व-सर्व व्यापकत्व का बोध है। अचिन्त्य शक्तिमति श्रीभगवान् में परस्पर विरुद्ध धर्मद्वयका एकत्र अवस्थान असम्भव नहीं है। ब्रह्मसूत्र २।१।२७ 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" में उक्त नियम का वर्णन है। भगवत्तत्त्व विषय में श्रुत्यात्मक शब्द ही एकमात्र प्रमाण हैं। अर्थात् श्रुति एवं तदनुगत शास्त्र समूह श्रीभगवान् की अचिन्त्य शक्ति मत्ता का वर्णन करते हैं, उसके विरुद्ध में तर्क उपस्थित करना अनुचित है, श्रुत्युक्त शब्द समूह अभ्रान्त सिद्धान्त प्रतिपादक हैं। इसका प्रतिपादन भगवत् सन्दर्भ के --३९ अनुच्छेद में हैं।

उक्त श्रुतिस्थ गोविन्द भाष्य यह है—

अथैतौ दोषौ ब्रह्म कर्त्तृत्वपक्ष स्यातां न वेति वीक्षायां सर्वेषु कार्य्येषु कृत्स्नेन स्वरूपेण चेत् प्रवर्त्तते, तर्हि तृणोदञ्चनादौकृतत्स्नस्य प्रसक्ति र्न च सा सम्भवेदंशेन तत् सिद्धेः। क्वचिदंशेन चेत् प्रवर्त्तते, तर्हि निष्कलं निष्क्रियमित्यादि श्रुति व्याकोपापत्ति रतः स्यातामिति प्राप्ते—

"श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" शङ्काच्छेदाय तु शब्दः। उपसंहार सूत्रान्नेत्यनुवर्त्तते। ब्रह्म कर्त्तृत्व पक्षे लोकदृष्ट्या दोषा न स्युः। कुतः? श्रुतेः। अलौकिकमचिन्त्यं ज्ञानात्मकमपि मूर्त्तं ज्ञानवच्चैकमेव बहुधावभातं च, निरंशमपि सांशं च, मितमप्यमितञ्च, सर्व कर्त्तृ निर्विकारं च ब्रह्म इति श्रवणादेवेत्यर्थः। तत्रहि "वृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्य रूपमिति" मुण्डके अलौकिकत्वादि श्रुतम्।" तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्द विग्रहम्' "वर्हापीड़ाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे" "एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति" इति गोपालोपनिषदि— ज्ञानात्मकत्वादि। "अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः" इति माण्डुक्योपनिषदि निरंशत्वेऽपि सांशत्वम्। "आसीनोदूरं व्रजति शयानो याति सर्वत इति" काठके, मितत्वेऽप्यमितत्वं च। द्यावाभूमि जनयन् देव एकः,एष देवो विश्वकर्मा महात्मा स विश्वकृत् विश्वविदात्मयोनिरित्येतत् सर्वं श्रुत्यनुसारेणैव स्वीकार्य्यम्, केवलया युक्त्या प्रतिविधेयमिति।

ननु श्रुत्यापि बाधितार्थकं कथं बोधनीयं तत्राह— शब्देति-अचिन्त्यार्थस्य शब्दैक प्रमाणत्वादित्यर्थः,

अत्रोपाधिमात्रजीवनत्वेन साक्षात् स्पर्शाद्यभावेन वैपरीत्योदयनियमेन विम्वस्य परिच्छिन्नत्वेन च प्रतिविम्वत्वम् । अत्र तु स्वाभाविक-शक्ति-स्फुरितत्वेन साक्षात्स्पर्शादिभावेन यथेच्छमुदयेन श्रीविग्रहस्य विभुत्वेन च विम्वत्वमेवेति विशेषः । एवमेव सर्व्वेषामपि प्रकाशानां पूर्णत्वमाह श्रुतिः (वृ० ६।५।४) —

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥" ४४२॥ इति ।

तादृशे मणिमन्त्रादौ दृष्टं ह्येतत् प्रकृते कैमुत्यमापादयति ।

इदमत्र निष्कृष्टम् । प्रत्यक्षानुमान शब्दाः प्रमाणानि भवन्ति । प्रत्यक्षं तावत् व्यभिचारि दृष्टं माया मुण्डावलोके चैत्रस्येदं मुण्ड मित्यादौ । वृष्टचा तत् काल निर्वापित वह्नौ चिरमधिकोदित्वर धूमे पर्वते वह्निमान् धूमादित्युमानं च । आप्त वाक्य लक्षणं शब्दस्तु न क्वापि व्यभिचरति हिमालये हिमं, रत्नालये रत्नमित्यादिः । सहि तदनुग्राही तन्निरपेक्षस्तदवगम्ये साधकतमश्च । दृष्टचरमायामुण्डस्य पुंसो भ्रान्त्या सत्येऽप्यविश्वस्ते तदेवेदमित्याकाशवाण्यादौ । "अरे शीतार्त्ताः पान्था मास्मिन् वह्नि सम्भावयतदृष्ट मस्माभिः स इदानीं वृष्टचैव निर्वाणः । किन्त्वमुष्मिन् धूमोद्गारिणि गिरौ स दृश्यत" इत्यादौ च तदुभयानुग्राहिता । मणि कण्ठस्त्वमसीत्यादौ तन्निरपेक्षता, तदवगम्ये ग्रहचेष्टादौ साधक तमता चेतिशब्दस्य सर्वतः श्रैष्ठचे स्थिते ब्रह्मबोधकस्तु श्रुतिशब्द एव । "नावेदविन्मनुते तं वृहन्त" मित्यादि श्रवणात्, स्वतः सिद्धत्वेन निर्दोषत्वाच्चेति ॥'

अतएव कतिपय व्यक्ति के मत में स्वीकृत है—कि 'मध्यमाकार श्रीकृष्ण विग्रह विभु होने पर भी युगपत् अनेक स्थान में अधिष्ठान के निमित्त रूपान्तर की सृष्टि होती है, यह कल्पनापिष्टपेषण मात्र ही है, विभु वस्तु का अर्थ सर्वव्यापक वस्तु है । जब सब थान में ही सतत स्थिति है, तब विभिन्न स्थानों में स्तिति के निमित्त विभिन्न रूप सृष्टि की आवश्यकता क्या है ? किन्तु दर्पणादि स्वच्छोपाधि समूह के द्वारा विम्ब जिस प्रकार बहुधा प्रकाशित होता है, उस प्रकार युगपत् मध्यमत्व विभुत्व प्रकाशिका स्वीय अचिन्त्य शक्ति के द्वारा श्रीकृष्णेच्छाक्रम से एक श्रीविग्रह ही अनेक प्रकार से प्रकाश प्राप्त होता है । दर्पणादि के द्वारा विम्ब का बहुधा प्रकाश में उपाधि ही उपजीव्य है, अर्थात् विम्व के समक्ष में यावत् काल पर्य्यन्त दर्पणादि की स्थिति होती है । तावत् काल पर्य्यन्त ही विभिन्न प्रकाश रूप प्रतिविम्व समूह विद्यमान होते हैं । जो रूप उपाधि से प्रकाशित होता है, उस रूप की अनुभूति स्पर्शादि के द्वारा नहीं होता है । वह विम्ब का विपरीत भाव से उदित होता है, एवं विम्व, परिच्छिन्न होने के कारण दर्पणादि में प्रकाशित रूप उक्त विम्व से भिन्न होता है । एतादृश कारण समूह से ही उसे प्रतिविम्व कहते हैं । दार्ष्टान्तिक स्थल में उक्त बिम्व प्रतिबिम्व से अत्यन्त वैशिष्ट्य है, श्रीकृष्ण विग्रह बहुधा प्रकाशित होने पर उस में वैशिष्ट्य है, दर्पणपूर्ण भवन के मध्य में व्यक्ति स्थित होने से समस्त दर्पण में उसका प्रतिबिम्व पड़ता है, मूल रूप बिम्व है, अन्य रूप प्रतिविम्ब है । किन्तु श्रीकृष्ण का समस्त प्रकाश ही विम्व है, प्रतिविम्व नहीं है । कारण--वह रूप स्वाभाविक शक्ति द्वारा सम्पादित होता है, प्रकाशित रूप समूह का अनुभवअनुरूप स्पर्शादि द्वारा होता है । यथेच्छ उदित होता है ।

श्रीकृष्ण विग्रह विभु होने के कारण,—मूल रूप के सहित प्रकाशित रूपका कुछ भी पार्थक्य नहीं होता है । अतएव समस्त ही विम्व हैं ।

प्रकाशित रूप समूह का पूर्णत्व, श्रुति में वर्णित है,—

अत्र च तेषां प्रकाशानां तयैवाचिन्त्यशक्त्या पृथक्पृथगेव क्रियादीनि भवन्ति । अतएव युगपदाविर्भूतानां प्रकाशभेदावलम्बिनीनां निमेषोन्मेषादिक्रियाणामविरोधः । अतएव विभोरपि परस्परविरुद्धक्रियागणाश्रयस्यापि तत्तत्क्रियाकर्त्तृत्वं यथार्थमेव । तदयथार्थत्वे बहुशः श्रीभागवतादि वर्णितम्, विदुषान्तु तदुद्भवं सुखं नोपपद्यत इति तदन्यथानुपपत्तिश्चात्र प्रमाणम् । इत्थमेवाभिप्रेत्य श्रीनारदेन (भा० १०।६९।२) —"चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक्" इत्यादौ वपुष एकत्वेऽपि पृथक् पृथक् प्रकाशत्वं तेषु प्रकाशेषु पृथक् पृथक् क्रियाधिष्ठानादित्वं तादृशशक्तिस्त्वन्यत्र मुनिजनादौ न सम्भवतीति स्वयं चित्रत्वश्चोक्तम् । एष एव प्रकाशः क्वचिदात्म--शब्देनोच्यते, क्वचिद्रूपादि-शब्देन च । यथा तत्रैव "न हि सर्व्वात्मना क्वचित्" इति, अन्यत्र (भा० १०।३३।१९) —"कृत्वा तावन्तमात्मानम्" इति

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥"

मूल रूप पूर्ण है, प्रकाश रूप भी पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण का उदय होता है, पूर्ण से पूर्ण गृहीत होने से भी पूर्ण अवशिष्ट रहता है । इस प्रकार संघटन अचिन्त्य शक्ति के द्वारा ही सम्भव है । अचिन्त्य शक्ति के द्वारा प्रकाश समूह में पृथक् पृथक् क्रियादि सर्वत्र विद्यमान रहते हैं । अतएव युगपत् आविर्भूत प्रकाश मूर्त्ति के निमेषोन्मेषादि क्रिया समूह में कोई विरोध उपस्थित नहीं होता है, सुतरां विभु होने पर भी परस्पर क्रिया समूह का आश्रय होने से भी उन सब क्रिया का कर्त्तृत्व श्रीकृष्ण में यथार्थतः ही है ।

अर्थात् जो विभु हैं, सर्वत्र उनका प्रकाश एक रूप होना ही सम्भव है, उक्त प्रकाश समूह में पार्थक्य की सम्भावना नहीं रहती है ।

किन्तु श्रीकृष्ण विग्रह जब परस्पर विरुद्ध शक्ति का आश्रय है, तब तदीय विभिन्न प्रकाश में युगपत् विभिन्न क्रिया प्रकाश, भ्रान्ति मूलक नहीं है । वह यदि अयथार्थ ही होता तो, तब श्रीमद्भागवतादि में विविध प्रकार से वर्णित विद्वद्गण का तदनुभव- प्रकाश गत रूपानुभवसुख नहीं होता । विद्वद्गण उक्त प्रकाश रूप की अनुभूति से परमानन्दानुभव करते हैं । यह ही प्रस्तुतस्थल में यथार्थ प्रमाण है ।

इस अभिप्राय से भा० १०।६९।१ में श्रीनारदने कहा—

"चित्रं बतैतदेकेन वपुषा युगपत् पृथक् ।
गृहेषु द्व्यष्ट साहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥"

टीका—दिदृक्षामभिनयेनाह चित्रमिति । द्व्यष्ट सहस्रस्त्रीरुदावहत् परिणीतवान् ।

वैष्णव तोषणी—तत्र तस्य विस्मयमेव प्राधान्येन दर्शयंस्तद्धेतुकताद्दशश्रीकृष्णवैभवदर्शनार्थ-- द्वारकागमनं कथयंस्तत् पोषणाय द्वारकामपि वर्णयंश्चित्रमित्यादि पञ्चकमाह । अत्र च विस्मय दर्शकेनैकेन द्वारकागमनकथनमर्द्धं प्रथमतोयोज्यम् । एतद्वत अहो चित्रमस्मदाद्यचिन्त्यं शक्तिमयं किं तदेको द्व्यष्ट साहस्रं स्त्रियमुदावहदिति ।

नन्वन्येषामितोऽप्यधिका विवाहा दृश्यन्ते, तत्राह— युगपदिति । ननु सौभर्य्यादिवत् श्रीनारदादेरपि कायव्यूह कर्त्तृत्वादि शक्तयः सन्ति तर्हि यौगपद्येऽपि सिद्धे कथं तस्यापि विस्मयः ? तत्राह एकेन वपुषेति । नन्वेकस्मिन्नेव वपुषि विस्तीर्णानेककरादित्वं विधाय तत्तेषामपि न चित्रं स्यात्, सौभर्य्यादितोऽपि महाप्रभावत्वात् तत्राह गृहेषु पृथगिति । तत्र तत्र गृहे पृथक् पृथगाविर्भावादिकं विधायेत्यर्थः । अतएवो--

(भा० १०।५९।४२) "तावद्रूपधरोऽव्ययः" इति च, (भा० १०।३०।४०) "कृष्णेनेच्छाशरीरिणा" इति च। तत्र नानाक्रियाद्यधिष्ठानत्वादेव लीलारसपोषाय तेषु प्रकाशेष्वभिमानभेदं परस्परमननुसन्धानञ्च प्रायः स्वेच्छयोरीकरोतीत्यपि गम्यते। एवं तच्छक्तिमयत्वात्तत्परिकरेष्वपि ज्ञेयम्। तत्र तेष्वपि प्रकाशभेदो यथा, कन्याषोड़शसहस्रविवाहे श्रीदेवक्यादिषु। उक्तं हि टीकाकृद्भिः—अनेन देवक्यादिबन्धुजनसमागमोऽपि प्रतिगृहं यौगपद्येन सूचितः" इति। तेषु श्रीकृष्णे च प्रकाशभेदादभिमानक्रियाभेदो यथा श्रीनारददृष्टयोगमायावैभवे तत्र ह्येकत्र (भा० १०।६९।२०)—

"दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च।
पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः॥" ४४३॥ इति।

दावहदित्यत्रायं प्रयोगः। स च छन्दसि व्यवहितश्चेति न्यायेन आ सम्यगुदावहत् योज्यम्,।"

सर्वापेक्षा आश्चर्य्य विषय यह है कि—युगपत् पृथक् पृथक् वपु के द्वारा एक ही समय में ष्ष्ट सहस्र स्त्रियों का पाणिग्रहण कृष्णने किया। प्रेमानुरूप प्रत्येक गृह में पृथक् पृथक् आविर्भूत होकर विवाह कार्य्य सम्पन्न आपने किया था। कायव्यूह की शक्ति नारदादि में है, अतः काय व्यूह होने से विस्मय की बात नहीं होगी, पृथक् प्रकाश होने से ही विस्मय हुआ। पृथक् पृथक् प्रकाश में पृथक् पृथक् क्रिया का अधिष्ठान होना मुनियों के पक्ष में असम्भव है तज्जन्य ही विस्मयव चो 'चित्रम्' शब्द का प्रयोग हुआ है।

'प्रकाश' को स्थल विशेष में आत्म शब्द से एवं रूपादि शब्द से कहते हैं। जिस प्रकार भा० १०।४७।२९ में प्रयोग है, भवतीनां वियोगो में नहि सर्वात्मना क्वचित्" यहाँ आत्म शब्द का प्रयोग हुआ है। अन्यत्र—भा० १०।३३।१९ में कृत्वा तावन्तमात्मानम्' श्लोक में 'आत्म' शब्द का प्रयोग प्रकाशार्थ में हुआ है। भा० १०।५९।४२ 'तावद्रूपधरोऽव्ययः" यहाँ प्रकाशार्थ में रूप शब्द का प्रयोग हुआ है।

भा० ११।३०।४० "कृष्णेनेच्छा शरीरिणा' यहाँ शरीर शब्द से उल्लेख हुआ है।

प्रकाश रूप विभिन्न क्रिया का अधिष्ठान होता है, लीलारस पोषण निबन्धन उक्त प्रकाश समूह में अभिमानभेद एवं पारस्परिक अनुसन्धानाभाव भी रहता है, यह व्यवस्था स्वेच्छा से स्वीकृत है।

श्रीकृष्ण के परिकर वर्ग भी स्वरूप शक्तिमय हैं, अतः वे सब भी निज निज प्रकाश रूप प्रकटन में समर्थ हैं। उन सब का प्रकाश भेद का उदाहरण उक्त विवाहावसर में है, जिस समय षोड़शसहस्र राज कन्या का विवाह श्रीकृष्णने किया, उस समय देवकी प्रभृति में भी प्रकाश मूर्त्ति का आविर्भाव हुआ था। "चित्रम्" इत्यादि श्लोक की टीका में स्वामिपादने लिखा है कि—अनेन देवक्यादि बन्धुजनसमागमोऽपि प्रति गृहं यौगपद्येन सूचिता" इस से युगपत् प्रतिगृह में देवक्यादि बन्धुजन का समागम सूचित होता है।

कृष्ण में परिकर वर्ग में प्रकाश भेद से अभिमानभेद एवं क्रिया भेद भी होता है, उस का दृष्टान्त श्रीनारद दृष्ट योगमाया वैभव में है। भा० १०।६९।२० में उक्त है—

"दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च।
पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः॥" ४४३॥ इति।

श्रीनारद ने देखा,—श्रीकृष्ण—प्रिया एवं उद्धव के सहित पाशा क्रीड़ा में रत हैं, वहाँ आप प्रत्युत्थान आसनादि द्वारा पूजित हुये थे। भा० १०।६९।२७ में वर्णित है,—"मन्त्रयन्तञ्च कस्मिंश्चिन्मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः" उद्धवादि मन्त्रिगण के सहित कहींपर मन्त्रणारत थे। उक्त श्लोक द्वय में प्रकाश भेद से

तत्रान्यत्र (भा० १०।६९।२७)—मन्त्रयन्तञ्च कस्मिंश्चिन्मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः'' इति। अत्र भावभेदादभिमानभेदो लक्ष्यते। अयमेव तदवस्थोऽहमत्रास्मीति। एवं षोड़शसहस्र विवाहे कुत्रचित् श्रीकृष्णसमक्षं माङ्गलिकं कर्म्म कुर्व्वत्या देवक्यास्तद्दर्शनसुख भवति। तत्परोक्षन्तु तद्दर्शनोत्कण्ठेति। तथा योगमायावैभवदर्शन एव क्वचिदुद्धवेन संयोगः क्वचिद्वियोग इति विचित्रता। तदेवं तत्र प्रकाशभेदे सति तद्भेदेनाभिमानक्रियाभेदे च स्थिते तदानीं वृन्दावनप्रकाशविशेषे स्थितेन श्रीकृष्णस्याप्रकटप्रकाशेन तासामप्रकट-प्रकाशात्मिकानां संयोगः, तत्प्रकाशविशेषे प्राक्स्थितेन सम्प्रति मथुरां गतेन तत्प्रकटप्रकाशेन प्रकटप्रकाशात्मिकानां तासां वियोग इति व्यवतिष्ठते। एतेन तदानीं प्रकाशद्वयेनैव स्वीकृतेन स्थानत्रयेऽपि सपरिकर-श्रीकृष्णनित्यावस्थायितावाक्यमनुपहत स्यात्। प्रकटलीलायामन्यत्र सपरिकरस्य तस्य कदाचिद्गमनेऽपि प्रकाशान्तरेणावस्थानादिति। तस्मात् साधूक्तम् (भा० १०।४७।२९)—"भवतीनां वियोगो मे'' इत्यादि। सेयञ्च नित्यसंयोगिता परमरहस्येति ब्रह्मज्ञानसादृश्यभङ्ग्या समाच्छाद्यैवोपदिष्टा। दृश्यते चान्यत्रापि रहस्योपदेशोऽर्थान्तर-समाच्छन्नोक्तिः। यथा महाभारते जतुगृहं गच्छतः पाण्डवान् प्रति विदुरस्य, यथा वा षष्ठे हर्य्यश्वादीन् प्रति श्रीनारदस्य॥

अभिमान भेद है, पाशाक्रीड़ाके समय एवं मन्त्रणा के समय विभिन्नअभिमान क्रियानुरूप दृष्ट होता है।

इस प्रकार षोड़शसहस्र कन्या का पाणिग्रहण उत्सव में कहीं पर कृष्ण के समक्ष में उपस्थिता देवकी देवी माङ्गलिककर्मानुष्ठान के सहित श्रीकृष्णदर्शन कररहीं थीं। किसी स्थान में अदर्शन निबन्धन उत्कण्ठिता थीं। योगमाया वैभवदर्शन में भी कहींपर उद्धव के सहित संयोग एवं कहीं पर वियोग है, इस प्रकार विचित्रता है।

अतएव प्रकाशभेद से अभिमान एवं क्रिया भेद सुसिद्ध है, इस प्रकार नियम सुनिश्चित होने पर वृन्दावनीय प्रकाश विशेष में स्थित श्रीकृष्ण का अप्रकट प्रकाश के सहित अप्रकट प्रकाशात्मिका व्रज सुन्दरी गण के सहित संयोग सुसिद्ध है। एवं श्रीवृन्दावनीय प्रकट प्रकाश में पहले स्थित, वर्त्तमान में मथुरागत श्रीकृष्ण का प्रकट प्रकाश के सहित प्रकट प्रकाशात्मिका व्रजसुन्दरी गण का विच्छेद सुस्पट है। प्रकट लीला के समय प्रकट एवं अप्रकट प्रकाश द्वय का अङ्गीकार करने पर उस से द्वारका मथुरा गोकुल-स्थान त्रय में भी सपरिकर श्रीकृष्ण का नित्यावस्थितिवाक्य अनुपहत 'अव्यर्थ' होता है। कारण, प्रकट लीला में सपरिकर अन्यत्र गमन कारण, प्रकट लीला में सपरिकर अन्यत्र गमन करने पर भी प्रकाशान्तर में अर्थात् अप्रकट प्रकाश में सपरिकर अवस्थित होते हैं। अतएव सर्वोत्तम कथन भा० १०।४७।२९ "भवतीनां वियोग में नहि सर्वात्मना क्वचित्'' सकल स्वरूप में मेरे साथ आप सब का विच्छेद नहीं है।'' समीचीन है।

नित्य संयोगिता परम निगूढ़ है, तज्जन्य ब्रह्मज्ञ न सादृश्यभङ्गी से अर्थान्तर प्रकाशक वाक्य द्वारा आच्छादित करके श्रीकृष्णने उद्धव के द्वारा उपदेश दिया है। इस प्रकार अर्थान्तर समाच्छन्न करके रहस्योक्ति प्रकाश करने का दृष्टान्त अन्यत्र भी दृष्ट होता है। जिस प्रकार महाभारत में जतुगृह गमनकारि पाण्डव गण के प्रति विदुर का उपदेश है, अथवा भागवत के षष्ठ स्कन्ध में हर्य्यश्वादि के प्रति श्रीनारद का उपदेश है। (१५५)

१५६। तदेवं पुनरपि तथैवोपदिशति (भा० १०।४७।२९)—

(१५६) "यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्ज्जलं मही।
तथाहञ्च मनः प्राणबुद्धीन्द्रियगुणाश्रयः ॥" ॥४४४॥

यथा खादीनि कारणरूपाणि भूतानि वाय्वादिषु स्वस्वकार्य्यरूपेषु भूतेष्ववस्थितानि। तत्राकाशस्य स्थितिर्वायौ वायोरग्नावित्यादि, तथा भवतीष्वहं वहिरनुपलभ्यमानोऽपि नित्यं तिष्ठाम्येवेत्यर्थः। कथम्भूतोऽहम्? भवतीनां मदेकजीवातूनां मनआद्याश्रयः, अन्यथा निमेषमपि मद्वियोगेन तान्यपि न तिष्ठेयुरिति भावः। यद्वा, किंरूपस्तिष्ठसीत्याकाङ्क्षायामाह—भवतीनां मनआद्याश्रयभूतो यो द्विभुजो श्यामसुन्दरवेणुविनोदिरूपस्तद्रूप एवेति ॥

१५७। नन्वित्थं प्रकाशवैचित्री कथं स्यात्, यया विरहसंयोगयोर्युगपदेवावस्थिति-रित्याशङ्क्याह (भा० १०।४७।३०) —

(१५७) "आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना ॥" ४४५॥

आत्मनि अनन्तप्रकाशमये श्रीविग्रहलक्षणे स्वस्मिन् आत्मना स्वयमात्मानं प्रकाशविशेषं

स्वारसिकी अप्रकट लीला का वर्णन करने के निमित्त अर्थान्तर द्वारा आच्छादित करके उद्धव के द्वारा श्रीकृष्ण गोपीगण को उपदेश प्रदान करते हैं। 'यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलंमही। तथाहञ्च मनः प्राणबुद्धीन्द्रियगुणाश्रयः ॥ (भा० १०।४७।२९) आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथिवी भूत समूह--भूत समूह में जिस प्रकार अवस्थित हैं, मैं भी उस प्रकार प्राण बुद्धि इन्द्रिय एवं गुण का आश्रय हूँ।

आकाश प्रभृति कारण रूप भूतसमूह निज निज कार्य्य रूप वायु प्रभृति भूत में अवस्थित हैं। उस में आकाश की स्थिति वायु में वायु की स्थिति अग्नि में, अग्नि की स्थिति जल में, जलकी स्थिति पृथिवी में है, उस प्रकार मैं बाहर अनुपलभ्य होने से भी आपसव के निकट नित्य विद्यमान हूँ। दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि—जिस प्रकार आकाश में समीर लुक्कायित है, अनुसन्धित्सा के अभाव से उपलब्ध नहीं होता है, स्थूल दृष्टि से वायु से आकाश की सत्ता पृथक् उपलब्धि होती है, उस प्रकार बाह्य दृष्टि से मैं व्रज से पृथक् रूप में मथुरा में हूँ, किन्तु अन्तर्मना होने से उपलब्ध होगा कि मैं व्रज में अपरजनों के अगोचर में आप सब के निकट ही अवस्थित हूँ। कारण, किस प्रकार मैं हूँ, मदीय जीवातु स्वरूप आस सब में मन प्रभृति आश्रय रूप जो मैं हूँ—मैं ही आप सब में विद्यमान हूँ। अन्यथा मदीय वियोग से आप सब के मनः प्राणादि की रक्षा नहीं होती। अथवा किस प्रकार तुम रहते हो? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं,—आप सब के मनः प्राण प्रभृति का आश्रयभूत जो द्विभुज श्यामसुन्दरवेणुविनोदी रूप है, तद्रूप में ही मैं विद्यमान हूँ ॥ (१५६]

'यथा महान्ति भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही।
तथाहञ्च मनः प्राणबुद्धीन्द्रियगुणाश्रयः ॥"

श्लोक में विरह संयोग की युगपत् स्थिति का वर्णन कर यद् द्वारा वह स्थिति सम्भव होती है, इस प्रकार प्रकाश वैचित्री कैसे हो सकती है? इस आकाङ्क्षा से कहते हैं—भा० १०।४७।३० "आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये। आत्म मायानुभावेन भूतेन्द्रिय गुणात्मना।

सृजे अभिव्यञ्जयामि । केन ? निमित्तभूतेन आत्ममायानुभावेन, अचिन्त्यायाः स्वरूपशक्तेः प्रभावेण, "स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः" इति मध्वभाष्यधृत-चतुर्वेद-शिखातः । कीदृशेन ? भूतेन्द्रियगुणात्मना भूतानि परमार्थसत्यानि यानि ममेन्द्रियाणि, ये च गुणा रूपरसादयस्तेषामात्मना प्रकाशकेनेत्यर्थः । बुद्धीन्द्रियेति पाठे आत्मनेत्यस्य विशेषणम् । बुद्धयोऽन्तःकरणानि, इन्द्रियाणि वहिःकरणानि, गुणा रूपादयस्तानि सर्व्वाण्यपि आत्मा स्वरूपं यत्र तेनेति । तदेवमाविर्भूय अनु पश्चात् कदापि हन्मि, ततोऽन्यत्र गच्छामि, हन — हिंसा-गत्योः । कदाप्यनु तत्पश्चात् पुनः पालये, स्वयमागत्य पालयामि, निजविरह दूनानिति शेषः । एतत् कारणन्तु (भा० १०।४७।३४) "यत्वहं भवतीनां वै" इत्यादौ वक्ष्यते । हन्तेरर्थान्तरे त्रयाणामेककर्म्मकर्त्तृत्वेऽपि तमात्मानं प्रकाशं कदाचित्तिरोधापयामि । तस्मात्तं प्रकाशमाकृष्य प्रकाशवैविध्यमेकीकरोमीत्यर्थः । एवमेव दशमसप्ततितमाध्याये स्वामिभिरपि व्याख्यातम्, (भा० दी० १०।७०।१७)—"एवं सर्व्वगृहेभ्यः पृथक् पृथङ्निर्गत्यानन्तरमेक एव सुधर्म्मां प्राविशत्" इति । तथा च मध्वभाष्यधृतं पाद्मवचनम्—

"आत्ममायानुभाव के द्वारा भूतेन्द्रिय गुणात्मा मैं आत्मा में आत्मा की सृष्टि करता हूँ नाश एवं पालन भी करता हूँ । आत्मनि—अनन्त प्रकाशमय श्रीविग्रह लक्षण में,—निज में, स्वयं आत्माकी निज प्रकाश विशेष की, सृष्टि करता हूँ,—अभिव्यक्त करता हूँ । किस प्रकार से ? उसको कहते हैं—

निमित्तभूतेन—आत्ममायानुभाव— अचिन्त्य स्वरूप शक्ति का प्रभाव से ही निज को अभिव्यञ्जित करता हूँ । श्रीभगवान्—"स्वरूप भूतया नित्यशक्त्यामायाख्ययायुतः" स्वरूप भूत मायाख्या नित्यशक्ति युक्त हैं, मध्व भाष्यधृत चतुर्वेद शिखा में उस प्रकार वर्णित है ।,

कीदृश स्वरूप शक्ति के द्वारा सृष्टि की जाती है ? उसको कहते हैं,—भूतेन्द्रियगुणात्मना,— भूतेन्द्रिय गुणात्माभूत—परमार्थ सत्य स्वरूप जो मेरा इन्द्रिय, रूप, रसादि गुण समूह, एवं उसका प्रकाशक स्वरूप, तद् द्वारा सृष्ट्यादि करता रहता हूँ । भूतेन्द्रिय के स्थान में 'बुद्धीन्द्रिय' पाठ ग्रन्थान्तर में दृष्ट है, उसको आत्मना पद का विशेषण जानना होगा । बुद्धि— मनः, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त नामक अन्तः करण, इन्द्रिय चक्षुरादि वहिरिन्द्रिय, गुण—रूप प्रभृति, तत् समुदय— आत्मा,— स्वरूप जिस में हैं । अर्थात् जिस के अन्तरिन्द्रिय वहिरिन्द्रिय प्रभृति—साधारण जीवके समान स्वरूपातिरिक्त नहीं है— किन्तु स्वरूप भूत ही है । इस प्रकार स्वयं के द्वारा प्रकाश रूप सृजन करता हूँ ।

प्रकाशमूर्त्ति में आविर्भूत होकर—समय विशेष में उसका हनन करता हूँ । अर्थात् अन्यत्र गमन करता हूँ । हन् धातु का प्रसिद्ध अर्थ— हिंसा गति है । सुतरां यहाँ गमन अर्थ सङ्गत है, तत् पश्चात् कभी पालन करता हूँ, अर्थात् स्वयं आकर निज विरह व्यथित जनगण की रक्षा करता हूँ । स्थानान्तर गमन, एवं पालन क्यों करते हैं ? कारण का कथन भा० १०।४७।३४ में "यत्वहं भवतीनां वै" में करेंगे ।

हन् धातु का गति अर्थ न करने पर हिंसानाश अर्थ होगा, उससे सृष्टि, हनन, पालन रूप क्रियात्रय का एक 'स्वयं' कर्म होने से भी स्वयं को— अर्थात् प्रकाश रूपको समय विशेष में तिरोहित करता हूँ । अर्थात् प्रकाशरूप का आकर्षण लीलास्थान से करके विविध प्रकाश को एकीभूत करता हूँ । इस प्रकार अर्थ जानना होगा । दशमस्कन्ध ७०।१७ में स्वामि पाद ने भी उस प्रकार व्याख्या की है, "एवंसर्वगृहेभ्यः

"स देवो बहुधा भूत्वा निर्गुणः पुरुषोत्तमः । एकीभूय पुनः शेते निर्दोषो हरिरादिकृत्" ४४६।। इति श्रुतिश्च शङ्करभाष्यधृता—"स एकधा भवति द्विधा भवति" इत्याद्या । तदनन्तरं पुनरपि तमात्मानं पालये पुनरभिव्यज्य निजप्रेष्ठजनैः सह क्रीड़या सम्भूतानन्दं करोमीत्यर्थः । एवं हन्तिरश्लीलोऽपि स्ववियोगिजनविषयक-कारुण्यकृतभावान्तरेण स्वयमेव प्रयुक्त इति न दोष आशङ्क्यः, (भा० ३।१६।६) "छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्" इतिवत् ।।

१५८। ननु प्रकटमेव मथुरायां विक्रीड़सि, तर्ह्यत्राप्यधुना विक्रीड़सीत्यत्रास्माकं सम्भावना कथं जायतामित्याशङ्क्य तासामेवानुभवं प्रमाणयति, (भा० १०।४७।३१)२

(१५८) "आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः ।
सुषुप्ति-स्वप्न-जाग्रद्भिर्मनोवृत्तिभिरीयते ।।" ४४७।।

पृथक् पृथङ्निर्गत्यानन्तरमेक एव सुधर्मां प्राविशत्" इस प्रकार सकल गृह से पृथक् पृथक् रूप से निर्गत होकर श्रीकृष्ण, एक रूप में ही सुधर्मा सभा में प्रविष्ट हुये थे ।" उस प्रकार ही मध्वभाष्यधृत पाद्मवचन भी है । 'वह निर्गुण, निर्दोष, लीलामय देव आदि कर्त्ता पुरुषोत्तम श्रीहरि, अनेक होकर क्रीड़ा करते हैं, पुनर्वार एकीभूत होकर शयन करते हैं, इस विषय में शङ्कर भाष्य धृत श्रुति प्रमाण भी इस प्रकार है—

"स एकधाभवति द्विधा भवति त्रिधा भवति"

"श्रीहरि—एकधा होते हैं, द्विधा होते हैं, त्रिधा होते हैं ।" तदनन्तर पुनर्वार निज का पालन करता हूँ । अर्थात् पुनर्वार प्रकाश रूप में अभिव्यक्त होकर निज प्रिय जनके सहित क्रीड़ा के द्वारा सम्भूत आनन्द का उपभोग करता हूँ । इस प्रकार व्याख्या करने पर हन् धातु का अर्थ 'हनन' अश्लील होने पर भी निज वियोग कातर जनगण के प्रति कारुण्य हेतु भावान्तर का वशवर्त्ती होकर श्रीकृष्णने स्वयं के प्रति उस प्रकार प्रयोग किया है, सुतरां उससे दोषापत्ति नहीं है । निजजन प्रिय रूप का अन्तर्द्धान कर प्रियजन को दुःखी करता हूँ । उससे मैं क्या सुखी रहता हूँ । वे सब जिस प्रकार दुःखी होते हैं मैं भी उस प्रकार दुःखी होता हूँ । निज जन दुःखद रूप का नाश करने से दोष नहीं होता है । भा० ३।१६।६ में लौकिक रीति का वर्णन किया है, छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रति कूलवृत्तिम्" निज बाहु भी यदि प्रति कूल आचरण करता है, तो उस को भी छेदन करूँगा" जिस प्रकार प्रयोग होता है, उस प्रकार ही प्रस्तुत स्थल में जानना होगा । (१५७)

उद्धव को वृन्दावन प्रेरण समय में श्रीकृष्ण, मथुरा में प्रकट थे, उस समय श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण की विहार वार्त्ता को सुनने से स्वतः जिज्ञासा होगी कि,—मथुरा में प्रकट विहार के समय वृन्दावन में प्रकट विहार की सम्भावना कहाँ है ? इस प्रकार आशङ्का कर व्रजसुन्दरी गण के अनुभव के द्वारा उनसब के सहित उस समय व्रज विहार को प्रमाणित करते हैं—(भा० १०।४७।३१) "आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तो गुणान्वयः । सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भि र्मनोवृत्तिभिरीयते ।।"

ज्ञानमय, शुद्ध, व्यतिरिक्त, गुणान्वय आत्मा, सषुप्तिस्वप्न जाग्रत अवस्था में मनोवृत्ति के द्वारा अनुभूत होता है । पूर्वश्लोक में अप्रकट प्रकाश में व्रजसुन्दरीगण के सहितस्थिति वर्णित है, प्रस्तुत श्लोक में पक्षान्तर अवलम्बनपूर्वक कहते हैं, अप्रकट लीला में विच्छेदाभाव तो है ही किन्तु प्रकट लीला में भी आप सब के सहित मेरा विच्छेद नहीं है, उसका अनुसन्धान आपसब करें । 'आत्माज्ञानमय,' श्लोक के द्वारा उस विवरण को कहते हैं, श्लोकार्थ इस प्रकार है । यहाँ आत्मा शब्द से अस्मदर्थ को जानना होगा,

यद्वा, आस्तां तावदप्रकटलीलायां मद्वियोगाभाववार्त्ता, प्रकटलीलायामपि तथानुसन्धीयता-मित्याहआत्मा ज्ञानमय इत्यादि। अर्थश्चायम्--आत्मशब्दोऽस्मिन्नस्मच्छब्दार्थपरस्ततश्च आत्माहं श्रीकृष्णलक्षणो भवतीनां सुषुप्त्याद्विलक्षणाभिर्मनोवृत्तिभिरीयतेऽनुभूयत एव। कीदृशः? ज्ञानमयो नानाविद्याविदग्धः, शुद्धो दोषरहितः। विगतोऽतिरिक्तो यस्मादिति वा विशेषेणातिरिक्त इति वा व्यतिरिक्तः सर्व्वोत्तमः। गुणान्वयः सर्व्वगुणशाली, स च स्फूर्त्तिरूपो ऽयमनुभवः कदाचित् साक्षात्कारद्वारापि कल्पत इति चिरकालविरहेऽपि तासां सन्धुक्षण-कारणं ज्ञेयम्। अत्र सुषुप्तेऽपि तत्स्फूर्त्तिनिर्द्देशः सर्व्वदैव स्फुरामीतिमात्रतात्पर्य्यकः। यद्वा, तत्र तासां स्वप्नजाग्रतोरनन्यवृत्तित्वं सिद्धमेव। वृत्त्यन्तरासम्भवात्तु श्रीकृष्णसमाधिलक्षणे सुषुप्तेऽपि तस्मिन्नेव--स्वप्नजाग्रद्‌गतानां वृत्तिवैचित्रीणां तदनुभावितामात्रावशेषतया प्रवेशो भवति। तदुत्तरकाले प्राकृतैः "सुखमहमस्वाप्सम्" इतिवत्ताभिः स एवानुसन्धीयत इति तथोक्तम्। तथाहि गारुड़े--

"जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तेषु योगस्थस्य च योगिनः। या काचिन्मनसो वृत्तिः सा भवत्यच्युताश्रया॥"४४८॥ इति

उससे मैं श्रीकृष्ण लक्षण प्रियतम हूँ, आप के सुषुप्त्यादि लक्षण विशिष्ट मनोवृत्ति समूह के द्वारा अनुभूत हूँ। कैसे? ज्ञानमय—नाना विद्याविदग्ध हूँ। शुद्ध दोष रहित हूँ, व्यतिरिक्त—विगत अतिरिक्त—सर्वोत्तम हूँ। अथवा,—विशेष रूपसे जो अतिरिक्त है, वह व्यतिरिक्त—सर्वोत्तम है, गुणान्वय—सर्वगुण शाली हूँ।

अतएव स्फूर्त्ति रूप अनुभव ही समय विशेष में साक्षात् कर रूप में प्रतिभात होगा। इस प्रकार आश्वास वाणी व्रज सुन्दरीगण के चिरकाल विरह में भी सन्धुक्षण का कारण है, अर्थात् उत्साह वर्द्धक है।

यद्यपि सुषुप्ति अवस्था में आत्माव्यतीत अपर किसी की स्फूर्त्ति नहीं होती है, तथापि यहाँ व्रजसुन्दरी गण की सुषुप्ति अवस्था में भी श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति का निर्देश होने पर विदित हुआ कि—श्रीकृष्ण सर्वदा स्फूर्त्ति प्राप्त होते हैं।

अथवा,—व्रजसुन्दरीगण का श्रीकृष्ण विषयक अनन्य वृत्तित्व जाग्रत् स्वप्न अवस्था में तो है ही, किन्तु जिस अवस्था में अन्तरिन्द्रिय वहिरिन्द्रिय की वृत्ति सम्भावना ही नहीं है, श्रीकृष्ण समाधि लक्षण उक्त सुषुप्ति में भी जाग्रत गतवृत्ति समूह की वृत्ति वैचित्री श्रीकृष्णानुभावितामात्र ही रहती है। वह अवशेष रूप में श्रीकृष्ण में प्रविष्ट होती है।

अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में किसी वृत्ति की सम्भावना नहीं है। किन्तु व्रजसुन्दरी गण की जाग्रत अवस्था में जो श्रीकृष्ण स्फूर्त्ति है, उसका अनुभव—सुषुप्ति अवस्था में भी विद्यमान रहता है। प्राकृत जन की सुषुप्ति का अनुसन्धान तदुत्तर काल में "सुखमहमस्वाप्सम्" होता है, मैं सुख पूर्वक निद्रित था' इस वाक्य के द्वारा प्रकाश होता है। किन्तु व्रजसुन्दरीगण—श्रीकृष्ण समाधि लक्षण सुषुप्ति में जिस श्रीकृष्णानुभवको प्राप्त करती है, इस प्रकार ही उनसब का अनुसन्धान होता है। इसका कथन ही उत्तर वाक्य में अर्थान्तराच्छादित के द्वारा हुआ है। गरुड़ पुराण में उक्त है—भक्त गण के जाग्रदादि अवस्थाश्रये में वृत्ति समूह श्रीभगवान् को आश्रय कर रहती हैं। 'जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तेषु योगस्थस्य च योगिनः। या काचिन्मनसोवृत्तिः सा भवत्यच्युताश्रया॥"

जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति अवस्था में योगस्थ योगिगण की मनोवृत्ति—अच्युताश्रित होकर रहती है। (४४८)

१५९। ननु तथाप्यस्माकं विरह एव सर्व्वोपमर्द्दकः स्फुरतिः, किं कुर्म्म इत्याशङ्क्य, हन्त यदि मद्वियोगिताभिमानिमनोवृत्तिं कथमपि रोद्धुं शक्नुथ, तदास्वत एव नित्य-सयोगित्वमुदेष्यतीत्येवमुपदेशेन वक्तुं योगशास्त्रप्रक्रियामाह द्वाभ्याम् (भा० १०।४०।३२)—

(१५९) "येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत ॥" ४४९ ॥

उत्थितः पुमान् यथा मिथ्याभूतमेव स्वप्नं ध्यायति, एवं बाधितानपीन्द्रियार्थान् शब्दादीन् येन मनसा ध्यायेत चिन्तयेत्, ध्यायंश्च येनेन्द्रियाणि प्रत्यपद्यत प्राप, तन्मनो विनिद्रोऽनलसः सन् निरुन्ध्यात् नियच्छेदिति। यद्यपि स्वप्नादिवत्तद्विरहस्तासु नाज्ञानाध्यस्तः, प्रकटलीलायां तस्याप्राप्तेस्तासामेवानुभवसिद्धत्वात्, तथाप्यप्रकटलीलायां नित्यसंयोगमनुसन्धापयितुं तस्य तादृशत्वेनैवोपदेशो भगवता योग्य इति तथोक्तम्। एकांशेऽपि संयोगे वियोगो नास्त्येवेति वा ॥

१६०। तं मनोनिरोधमेव स्तौति (भा० १०।४७।३३) —

तुम तो कह रहे हो, 'सर्वावस्था में मेरा अनुभव तुम सब को होता है" तथापि सर्वोपमर्दक विरह की ही स्फुर्त्ति हमारी होती है, क्या करें? इस प्रकार कथन, शङ्काकर करते हैं,हन्त! यदि वियोगाभिमान मनोवृत्ति को अवरुद्ध करने में अक्षम हो, तब स्वतः ही नित्य संयोगित्व का उदय होगा। उपदेश द्वारा इस प्रकार कहने के निमित्त श्लोक द्वयसे योग शास्त्र की प्रक्रिया को कहते हैं, (भा १०।४७।३०) येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेतमृषा स्वप्नवदुत्थितः। तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत।"

"सुप्तोत्थित पुरुष जिस प्रकार मिथ्या भूत स्वप्न की चिन्ता करता है, इन्द्रियार्थ शब्द प्रभृति के द्वारा उस प्रकार चिन्ता करता है, एवं ध्यान करता है उस को प्राप्त करता है, अनलस होकर उस मनको निरोध करे।"

सुप्तोत्थित पुरुष जिस प्रकार मिथ्या भूतस्वप्न का ध्यान करता है, इस प्रकार बाधित अप्राप्त इन्द्रियार्थ शब्दादि की चिन्ता भी करता है, चिन्ता करते करते इन्द्रिय समूह उसे प्राप्त भी कर लेते हैं, मन की द्वारा जिस की चिन्ता होती है, उस की प्राप्ति भी होती है, जिस मनके द्वारा चिन्ता एवं प्राप्ति होती है, विनिद्र-- अनलस होकर उस मन को निरुद्ध अर्थात् संयत करे।

यद्यपि स्वप्नवत् व्रजसुन्दरीगण का श्रीकृष्ण विरह अज्ञानाध्यस्त नहीं है, तथापि प्रकट लीला में श्रीकृष्ण की अप्राप्ति हेतु, अप्रकट लीला में उनका अनुभवसिद्ध जो नित्य संयोग है, उसका अनुसन्धान कराने के निमित्त अज्ञानाध्यस्त के समान उपदेश प्रदान करना श्रीभगवान् के पक्ष में योग्य है। "परोक्षञ्च ममप्रियम्" गुप्त विषय को आच्छादित करके कहने से सुधीगण सुखी होते हैं, भगवान् तो परोक्षप्रिय हैं ही, विशेषतः प्रियजनके निकट अभीप्सित विषय को इङ्गित से व्यक्त करने से रसावह होता है। रसिक शेखर श्रीकृष्ण उसरीति में सुविदग्ध हैं, अतः प्रेयसीवर्ग के निकट अर्थान्तर समाच्छादित वाक्य से संवाद अतीव रसावह है, तज्जन्य श्रीग्रन्थकार ने कहा "तस्य तादृशत्वेनैवोपदेशो भगवतो योग्य" तादृश रूप में उपदेश दान—भगवान् के पक्ष में योग्य है। तज्जन्य ही श्रीकृष्णानुभव को स्वप्नवत् उल्लेख किया गया है।

अथवा,—एकांश में संयोग होने पर भी विच्छेद नहीं हो सकता है, तज्जन्य ही उस प्रकार वर्णना की गई है। (१५९)

भा० १०।४७।३३ में मनोनिरोध का वर्णन करते हैं—"एतदन्तः समाम्नायो योगः साङ्ख्यं

(१६०) "एतदन्तः समाम्नायो योगः साङ्ख्यं मनीषिणाम् ।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ।।" ४५०।।

एष मनोनिरोधोऽन्तः समाप्तिः फलं यस्य सः। समाम्नायो वेदः, स तत्र पर्य्यवस्यतीत्यर्थः। मार्गभेदेऽप्येकत्र पर्य्यवसाने दृष्टान्तः—समुद्रान्ता आपगा नद्य इवेति। यस्मात् सर्व्वैरेव वेदादिविद्भिः प्रशस्यते मनोनिरोधस्तस्माद्यूयमपि मद्वियोगाभिमानि-मनोवृत्ति निरुन्धथेति पद्यद्वयेन ध्वनितम् ।।

१६१। ननु, अहो यदि त्वद्विरहेण वयमतिदुःखिता इत्यतः कृपालुचित्त एव त्वमस्मभ्यं निज-प्राप्तिसाधनमुपदिशसि, तर्हि स्वयं किमु प्रकटमेव नायासि,तस्मात् कैतवमेवेदं तव कृपालुत्व-

मनीषिणाम्' त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ।।"

मनो निरोध व्यतीत विक्षिप्त चित्त से सन्निकृष्ट वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है, तज्जन्य श्रीकृष्ण अप्रकट प्रकाश में व्रजसुन्दरीगण के सान्निध्य में विराजित होने से भी प्रकट लीलागत विरह विक्षेप हेतु वे सब उपलब्धि करने में अक्षम हैं, यहाँपर मनोनिरोध ही नित्यसंयोगिता उपलब्धि का एक मात्र उपाय है, इस को व्यक्त करने के निमित्त मनो निरोध की प्रशंसा करते हैं,—जिस प्रकार नदी समूह सागर में मिलित हैं, उस प्रकार मनोनिरोध ही मनोषिगण के पक्ष में समाम्नाय है, अर्थात् वेद, अष्टाङ्ग साङ्ख्य आत्मानात्मविवेक, सन्न्यास, स्वधर्म, इन्द्रिय दमन एवं सत्य, सब के अन्तस्वरूप—अर्थात् वेदादि का तात्पर्य्य इस में ही पर्य्यवसित है, ।

टीका—तावताच कृतार्थो भवतीत्याह एतदन्त इति। एष मनोनिरोधः अन्तः समाप्ति फलं यस्य सः। समाम्नायो वेदः स तत्र पर्य्यवस्यतीत्यर्थः, योगोऽष्टाङ्गः। साङ्ख्यमात्मानात्मविवेकः। त्यागः—सन्न्यासः, । तपः—स्वधर्मः, दमः—इन्द्रियदमनम् । मार्ग भेदेऽप्येकत्र पर्य्यवसाने दृष्टान्तः, समुद्रान्ता आपगा नद्य इवेति ।।

"एतदन्तः" पदका अर्थ—"एष मनोनिरोधः अन्तः समाप्तिफलं यस्य सः" – यह मनोनिरोध अन्तः समाप्ति फल है, जिसका, वह समाम्नाय वेद है, वह वेद मनोनिरोध में पर्य्यवसित है, वेद , साङ्ख्य प्रभृति विभिन्न साधन पन्थका एकत्र पर्य्यवसान का दृष्टान्त—जिस प्रकार विभिन्न स्थान से समागत नदी समह का सागर सम्मिलन है । अर्थात् विविधदिक् वाहिनी नदी समूह जिस प्रकार सागर में मिलित होती हैं—उस प्रकार विविध साधन मनोनिरोध में पर्य्यवसित है । समस्त साधनों का एकमात्र फल है उपास्य में मनोनिरोध ।

पर्य्यवसान—फल रूपता निबन्धन अर्थात् निखिल साधन का फल मनोनिरोध में पर्य्यवसित होने के कारण—वेद विद् गण मनोनिरोध की प्रशंसा करते हैं । अतः तुम सब विच्छेदाभिमानिनी मनोवृत्ति का निरोध करो, पद्य द्वय के द्वारा यह ध्वनित हुआ । मनोनिरोध से अभीष्ट नित्यसंयोग की उपलब्धि होगी । यह ही तात्पर्य्य है । (१६०)

अहो ! विरह से हम सब अति दुःखिता हैं, अतः तुम कृपालुचित्त हो, प्राप्ति साधन का उपदेश देते रहते हो, तब क्यों स्वयं प्रकट रूप में नहीं आते हो ? इस से प्रतीत होता है कि—तुम्हारी कृपालुता कपट मात्र ही है, व्रजदेवीयों के मनोभाव को जानकर भा० १०।४७।३४ में कहते हैं—"यत्त्वहं भवतीनां दूरेवर्त्ते प्रियोदृशाम् । मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यान काम्यया" ।

मित्याशङ्क्याह (भा० १०।४७।३४)--

(१६१) " यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्त्ते प्रियो दृशाम् ।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ।।" ४५१ ।।

साम्प्रतं भवतीनां दृशां प्रियोऽप्यहं यद्दूरे वर्त्ते, तद्भवतीनां मदनुध्यानेच्छया यो मनसः सन्निकर्षस्तदर्थं मम भवन्निकटस्थितौ मदर्थं भवतीनां दृश्येवावेशः स्यात्, भवद्दूरे तु मनस्येवेति तत्र मम सन्निकर्षः स्यादित्येतदर्थः ।।

१६२। तदेतन्निदर्शयति (भा० १०।४७।३५)—

(१६२) "यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्त्तते ।
स्त्रीणाञ्च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे ।।"४५२।।

'च'–कारात् स्त्रीषु प्रेष्ठस्य च ।।

१६३। मनःसन्निकर्षे किं स्यात्, शीघ्रमेव लब्धो भविष्यामीति ज्ञायतामित्याह (भा०१०।४७।३६)

(१६३) "मय्यावेश्य मनः कृष्णे विमुक्ताशेषवृत्ति यत् ।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ।।" ४५३।।

टीका- ननु किमन्यानिवास्मान् आत्म विद्यया प्रलोभयसि ? वयन्तु सर्व सुन्दर सकल गुणालङ्कृतेन त्वया विरहं नैव सहाम इति चेदत आह यत्त्वहमिति । दृशां दूरे यद् वर्त्ते, तन्मदनुध्यानार्थम् " तच्चध्यानं मनसः सन्निकर्षार्थमिति । मैं तुम्हारे लोचन लोभनीय हूँ प्रिय हूँ, दूर में रह रहा हूँ । वह केवल नियत मेरा ध्यान हो तज्जन्य, अर्थात् मनका सन्निकर्ष सम्पादन करने के निमित्त ही दूर में रहता हूँ ।(१६१)

उदाहरण के द्वारा उसको पुष्ट करते हैं—(भा० १०।४७।३५)

"यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आवेश्य वर्त्तते ।
स्त्रीणाञ्च न तथा चेत सन्निकृष्टे ऽक्षिगोचरे ।।"

टीका—एतदुपपादयति त्रयेण । यथा दूरचरे इति ।। ३५।३६। मैं तुम सब का लोचन लोभनीय हूँ, मेरा दर्शन भिन्न अपर किसो से सुखी नहीं होती हों। प्रिय दूर में रहने से मन का सन्निकर्ष जिस प्रकार होता है, उस प्रकार सन्निकट में रहने से नहीं होता है । प्रिय के निकट में शरीर से रहने की अपेक्षा मन से आविष्ट होकर रहना सर्वाधिक आनन्द कर है । तज्जन्य मैं प्रिय होकर दूर में रहता हूँ ।

दूरवर्त्ती प्रियतम के प्रति स्त्रीगण का चित्त जिस प्रकार आविष्ट होता है । निकटवर्त्ती नयन गोचर प्रियतम के प्रति उस प्रकार मन निविष्ट नहीं होता है ।

श्लोकस्थित 'स्त्रीणाञ्च' "स्त्रीगण का भी" पदस्थ 'च' कार के द्वारा बोध होता है कि—स्त्रीगण का मन जिस प्रकार पुरुष में आविष्ट होता है, पुरुषगण का मन भी उस प्रकार स्त्रीगण में आविष्ट होता है। इससे सूचित हुआ कि—व्रजसुन्दरीगण के समान श्रीकृष्ण का चित्त भी व्रजसुन्दरीगण में आविष्ट है । (१६२)

मनः सन्निकर्ष से क्या होगा ? उत्तर में कहते हैं, मेरी प्राप्ति सत्वर होगी, इसको जानना होगा। भा० १०।४७।३६ में कहते हैं—"मय्यावेश्य मनः कृष्णे विमुक्ताशेष वृत्तियत् । अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ।।"

विमुक्ता अशेषा विरह—तत्कारणभावनारूपा वृत्तयो येन तन्मनो मयि कृष्णरूपे आवेश्य मां कृष्णरूपमेवानुस्मरन्त्यो मां कृष्णरूपमेवाचिरादेव समीप एवैष्यथ, अनन्यवेद्यतया प्राप्स्यथ ॥

१६४। तर्हि कथं प्रकटमेव नागच्छसि ? तत्राह—तस्य झटिति प्राप्तेर्वृन्दावन एव लीलान्तरनित्यास्तितायाश्च प्रतीत्यर्थं निदर्शनमप्याह (भा० १०।४७।३७)—

((१६४) "या मया क्रीड़ता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः ।
अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्य्यचिन्तया ॥" ४५४॥

तद्वहि विघ्नवञ्चनार्थमित्यर्थः । ता हि तद्रात्रिप्रकटरासमात्रमलब्धवत्योऽप्यस्मिन् वृन्दावन एव सर्व्वविघ्नास्पृष्टाः प्रकटविचित्रक्रीड़ानिधानं मामापुरेवेति । तथा च वासनाभाष्यधृतं मार्कण्डेयवचनम्—

"तदानीमेव ताः प्राप्ताः श्रीमन्तं भक्तवत्सलम् । ध्यानतः परमानन्दं कृष्णं गोकुलनायिकाः ॥" ४५५ ।इति

अशेष वृत्ति रहित मन को मुझ कृष्ण में आविष्ट कर नियत बारम्बार स्मरण करते करते मुझ को प्राप्त करोगी ।

विमुक्त अशेष वृत्ति—जिस मनसे विरह एवं विरह के कारण रूप चिन्तन, तदात्मिका आवेश वृद्धि, विमुक्त—अर्थात् विदूरित हुई है, उस मन को मुझ कृष्ण में आविष्ट करके कृष्णरूप मुझ को अचिर कालमें ही प्राप्त करोगी, अनन्य वेद्य रूप में प्राप्त करोगी, अर्थात् प्रिय प्रिया का निगूढ़ सम्मिलन् अपर का अगोचर है, उस प्रकार ही मुझ को प्राप्त करोगी, वह मैं एतादृश सन्निकट में रहूँगा, जिस को कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्ररूप से जान न सकेगा। सर्वथा तुम सब का होकर ही रहूँगा। (१६३)

यदि अचिर काल में ही प्राप्ति सम्भावना है, तो क्यों नहीं प्रकट रूप से सामने आते हो ? उत्तर में कहते हैं, झठिति प्राप्ति तो है ही, श्रीवृन्दावन में ही जो अप्रकट रूप लीलान्तर है वह नित्य है, उसको सूचित करने के निमित्त कहते हैं । (भा० १०।४७।३७)

"या मया क्रीड़ता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः ।
अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्य्यचिन्तया ॥

"उपैष्यथेति माधुर्य्य मात्रमिति चेदत आह या इति । हे कल्याण्य स्व भर्त्तृभिः प्रतिबद्धा या वने क्रीड़ता मया सह अलब्ध क्रीड़ास्तास्तदैव मा माम् आपुः प्रापुः । (१६३)

हे कल्याणी वृन्द ! इस वृन्दावन में रास लीला के समय, जो सब अबला निज निज भर्त्ता के द्वारा अवरुद्धा हुई थीं, वे सब मेरे सहित रास क्रीड़ा में सम्मिलित होने में अक्षम रहीं । वे सब मेरा प्रभाव चिन्तन के द्वारा मुझ को प्राप्त कर चुकी थीं, रास लीलावसर में पत्यादि विरोधिजनों को वञ्चना करने के निमित्त जिस प्रकार व्रजसुन्दरी गण की रास प्राप्ति में विघ्न उपस्थित किया गया था, उस प्रकार ही यहाँपर वहिर्विघ्न वञ्चना के निमित्त, मैं प्रकट रूप में व्रजागमन नहीं करता हूँ ।

अर्थात् प्रकट रूप में यदि मैं व्रज में आता हूँ, तो जरासन्ध का आक्रमण व्रज वासियों के प्रति होगा, कारण व्रजवासिगण को मेरा स्वजन मान कर क्लेश प्रदान वह करेगा। वर्त्तमान में वाह्यिक औदासीन्य को देखकर उस की धारणा होगी कि—व्रजवासी के प्रति श्रीकृष्ण की समवेदना नहीं है, अतएव व्रजवासी को क्लेश देकर कृष्ण को उद्विग्न नहीं किया जा सकता है । जरासन्ध प्रभृति दुष्ट राजन्य वृन्द उस प्रकार धारणा से ही अत्याचार से विरत हैं । मैं विरोधिजनगण को प्रतारित करने के निमित्त ही व्रज में नहीं आ रहा हूँ ।

तत्रापि हे कल्याण्यः, सशरीरा इति तद्वद्देह-त्यागेन भवतीनां मत्प्राप्तिर्नस्यात्, किन्त्वनेनैव देहेन मत्प्राप्तिः स्यादिति भावः। तस्मात्तासां व्रजे प्राकट्येनानुपलम्भात्तथा (भा० १०।८२।४४ "मयि भक्तिर्हि भूतानाम्" इत्यादि-वक्ष्यमाणानुसारेण मार्कण्डेयवचनानुसारेण च तदीयाभीप्सितरूपविलासस्यैव मम प्राप्तेः सिद्धत्वाच्च विद्यत एव प्रकटाया अस्या लीलायाः पृथक् तस्मिन्नन्या लीला, तस्याञ्च ममेव युष्माकमपि स्थितिरध्यवसीयताम्। यामेव लीलां मदीयव्रजागमनासकृत्प्रतिज्ञानुसारेण शीघ्रमेव यदुपुर्य्याः सकाशात् भवत्—प्रेमयन्त्रिततया समागत्याहं सर्व्वसमञ्जसतया भवतीनां तत्तद्विघ्ननिवारणपूर्व्वकं सर्व्वेभ्य एव व्रजवासिभ्यः सततं दर्शयिष्यामीति भावः। अस्मिन्निति निर्द्देशात्तदानीमपि स्वस्य वृन्दावनस्थत्वं सूचयति। प्रकरणेऽस्मिन्निदमुक्तं भवति। न ह्यत्र तासामध्यात्मविद्या श्रेयस्करी भवति, (भा० ११।२०।३१)

पत्यादि के द्वारा अवरुद्धा व्रजललनागण, श्रीमद् भागवतमें वर्णित रास रजनी में अनुष्ठित रासलीला में सम्मिलित हो न सकीं। किन्तु इस वृन्दावन में ही सर्व विघ्नास्पृष्टा प्रकट विचित्र क्रीड़ा निधान रूप मुझ को उन्होंने प्राप्त किया है। वासनाभाष्यधृत मार्कण्डेय वचन इस विषय में उत्कृष्ट प्रमाण है,—

"तदानीमेव ताः प्राप्ताः श्रीमन्तं भक्त वत्सलम्।
ध्यानतः परमानन्दं कृष्णं गोकुलनायिकाः॥

जो सब गोपाल नायिकाने रास रजनी में श्रीकृष्ण को प्राप्त कर न सका, उन सबने उस रास रजनी में ही भक्त वत्सल श्रीमान् परमानन्द कृष्ण को प्राप्त किया।" उस में भी कल्याणी, सर्व विघ्न रहिता थीं वे सब निर्विघ्न से मुझ कृष्ण को प्राप्त कर चुकी थीं।

अलब्ध रासा गोपीवृन्द के गुणमय देह त्याग के सम्बन्ध में दो प्रकार अर्थ ही सकते हैं, प्रथम--साधक सहचरी गोपीगण का गुणमय देह त्याग के द्वारा सच्चिदानन्द मय देह से अप्रकट रास में प्रवेश, द्वितीय—पत्यादि वञ्चना जन्य तत्काल में योगमाया कल्पित गुण मयदेह में प्रविष्ट होकर उसका त्याग। प्रथमार्थ में देहान्तर के द्वारा, एवं द्वितीयार्थ में सशरीर से ही रासलीला प्राप्ति की वार्त्ता है। उन सब के शरीर त्यागादि मायिक है, इस प्रकार कथन का तात्पर्य्य को जानना होगा। सशरीरा इति—उक्त प्रसङ्ग में वर्णित गोपीगण की देहत्याग के द्वारा रास लीला प्राप्तिके समान आप सब की मेरी प्राप्ति देहत्याग के द्वारा नहीं होगी। किन्तु वर्त्तमान देहसे ही मत्प्राप्ति होगी। उक्त कथन का भावार्थ यह ही है।

अनन्तर नित्य संयोगमयी लीलाका वर्णन करते हैं—अतएव अलब्धरासा व्रजसुन्दरी गण की प्रकट लीला में श्रीकृष्ण प्राप्ति नहीं हुई। अथच भा० १०।८२।४४ में वर्णित है—

" मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः॥

टीका—"अपि च अतिभद्रमिदं यदुत भवतीनां मद्वियोगेन मत्प्रेमातिशयो जातः। इत्याह मयीति। मयि भक्तिमात्रमेव तावदमृतत्वाय कल्पत इति। यदुत भवतीनां मत् स्नेह आसीत् तद् दृष्ट्या अति भद्रम्। कुतः? मदापनो मत्प्रापण इति॥" मेरे प्रति जो भक्ति है, उससे निखिल प्राणी, अमृतत्व 'नित्य पार्षदत्व प्राप्त कर सकते हैं, मेरे प्रति आप सब का स्नेह है, यह अतीव मङ्गलकर है, कारण यह स्नेह—मत् प्राप्ति साधक है, अर्थात् इस स्नेह से आप सब मुझ को प्राप्त करोगी।

"मयि भक्तिर्हि" प्रमाण से श्रीकृष्ण प्राप्ति की अनिवार्य्यतासिद्ध होती है। एवं मार्कण्डेय वचन से

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥" ४५६॥

इति श्रीभगवता, (भा० १०।१४।३) "ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव, जीवन्ति" इति ब्रह्मणा च साधारणभक्तानामप्यनुपादेयत्वेनोक्तत्वात्। न च तच्छ्रवणेन तासां विरहज्वाला शाम्यति। तं श्यामं मनोहरं विना साधारणभक्तानामपि (भा० ६।१७।२८) "स्वर्गापवर्ग–

'तदानीमेव ताः प्राप्ताः श्रीमन्तं भक्तवत्सलम्, ध्यान्तः परमानन्दं कृष्णं गोकुलनायिकाः'। प्राप्ति सवाद सुस्पष्ट है। उससे भी उन सब के अभीप्सित रूप विलास विशिष्ट श्रीकृष्ण प्राप्ति सिद्ध होती है। सुतरां प्रकट लीला व्यतीत अन्यलीला अर्थात् अप्रकट लीला की विद्यमानता यथावस्थित वृन्दावन में ही सुसिद्ध है। उक्त अप्रकट लीला में जिस प्रकार मैं रहता हूँ,, उस प्रकार आप सब भी रहती हैं। यह वृत्तान्त सुनिश्चित है। जिस लीला की बात मैं ने की है, उसको लक्ष्य करके मैंने व्रज में पुनरागमन की प्रतिज्ञा बारम्बार की है, तदनुसार तुम सब के प्रेम यन्त्रित रूप में यदुपुरी से सत्वर सम्यक् रूप से व्रजागमन कर समस्त व्रजवासी को दर्शन भी कराऊँगा। 'प्रेमयन्त्रित रूप से कहने का अभिप्राय यह है कि—यन्त्रचालित पदार्थ जिस प्रकार यन्त्र शक्ति से परिचालित होता है, उस प्रकार व्रजसुन्दरी गण के प्रेम से वशीभूत होकर ही श्रीकृष्ण का व्रजगमन होगा। समागत्य—अर्थात् सम्यक् रूप से आकर कहने का तात्पर्य्य यह है—श्रीकृष्ण—इस वार प्रत्यागमन कर पुनर्वार यहाँ से नहीं जायेंगे। अर्थात् निरन्तर व्रजमें ही रहेंगे।

उक्त श्लोकस्थ "मदापनः" कहने का अभिप्राय यह है—मैं प्रेमवश हूँ, प्रेम के ऊपर मेरा स्वातन्त्र्य नहीं चलता है, मैं जहाँ भी रहूँ, प्रेम मुझ को बल पूर्वक तुम सब का सान्निध्य प्राप्त करा देता है, मैं प्रति दिन आगमन कर समक्ष में रहता हूँ, विचित्र लीलाविनोद भी करता हूँ, किन्तु तुम सब उसे स्फूर्त्ति मानती हीं। अस्मिन्—वनेऽस्मिन्—इस प्रकार निर्देश के कारण मथुरा में अवस्थान के समय भी एवं यहाँ से उद्धव के द्वारा संवाद प्रेरण के समय भी श्रीकृष्ण की वृन्दावन में स्थिति सूचित हो रही है। उद्धव प्रेरण प्रकरण में ही अप्रकट लीला में श्रीकृष्ण की नित्यस्थिति श्रीवृन्दावन में उक्त है। व्रजसुन्दरी वृन्द को अध्यात्म शिक्षा दान नहीं किया गया है, । व्रजाङ्गनागणों के निकट अध्यात्म विद्या श्रेयस्करी नहीं है, कारण, वृन्दावन में शुष्क अध्यात्म विद्या का समादर नहीं है, केवल प्रेम का ही परम आदर है।

अथवा परिहास प्रसङ्ग में रसिकेन्द्रशिरोमणि श्रीकृष्ण का परम विदग्ध गोपललना गण के समक्ष में अध्यात्म प्रसङ्ग अर्थान्तर युक्त होकर उपयोगी सिद्ध होने से भी विरहार्त्ता गोपी गण के सान्त्वना प्रसङ्ग में उक्त अध्यात्म विद्या श्रेयस्करी नहीं है, कारण—भगवान ने भा० ११।२०।३१ में स्वयं ही कहा है—

"तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह।।"

भक्तिमें अपर किसी प्रकार साधन की अपेक्षा नहीं रहती है। मदीय भक्ति युक्त मद्गत चित्त योगिगण के पक्ष में इस जगत् में कर्म योग की बात ही क्या है, ज्ञान—वैराग्य भी श्रेयकर नहीं है।

ब्रह्माने भी भा० १०।१४।४ में कहा है—

ज्ञाने प्रयास मुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीय वार्त्ताम्।
स्थानेस्थिताः श्रुतिगतां तनु वाङ्मनोभि
र्ये प्रायशोऽजितो जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्।।

नरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः" इत्युक्त-दिशा (भा० ३।१५।४८) "नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादम्" इत्याद्युक्त-दिशा च हेयरूपत्वेनैवानुभवात्। तासान्तु स्वरसस्य परमविरोध्येव तज्ज्ञानम्। पूर्वञ्च (भा० १०।४७।२८) "श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः" इत्येवोक्तम्। अतएवोक्तं तासामेवाभिप्रायकथने श्रीस्वामिभिरपि (भा० दी० १०।४७।३४) —"ननु किमन्यानिवास्मानात्मविद्यया प्रलोभयसि ? वयन्तु सर्व्वसुन्दर--सर्व्वगुणालङ्करणेन त्वया

जो लोक—स्वरूपानुसन्धानात्मक ज्ञान लाभ हेतु किञ्चिन्मात्र भी प्रयास न करके साधु सन्निधान में अव्यग्रचित्त से अवस्थित होकर उन सब के द्वारा प्रवर्तित भवतीय वार्त्ता— स्वभावतः ही कर्ण कुहर में प्रविष्ट होती है, काय वाक्य मन के द्वारा सत्कार पूर्वक कथा को अवलम्बन भी करते हैं, त्रिलोक में आप अजित होने पर भी उन सब के द्वारा आप जित होते हैं। अर्थात् अन्य के समक्ष में दुष्प्राप्य होने पर भी वे लोक आप को अनायास प्राप्त कर लेते हैं। श्रीकृष्ण वाक्य एवं ब्रह्मा के वाक्य से सुस्पष्ट हुआ है, साधारण भक्तगण के पक्ष में भी अध्यात्मविद्या अनुपादेय है। सुतरां व्रजसुन्दरी गण के पक्ष में अध्यात्म विद्या सर्वथा अनुपादेय ही होगी इस के विषय में अधिक कहना निष्प्रयोजन है। विशेषतः वे सब श्रीकृष्ण विरहानल से दग्ध हो रही थीं, उस समय अध्यात्म ज्ञान के द्वारा उक्त ज्वाला प्रशमित नहीं हो सकती है।

मनोहरश्याम सुन्दर के विना—अध्यात्म विद्यासाधारण भक्त गण के निकट अतिशय तुच्छ पदार्थ है, उस का प्रकाश वक्ष्यमाण श्लोक द्वय में हुआ है। भा० ६।१७।१८ उक्त है—

नारायण पराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्ग नरकेष्वपि तुल्यार्थ दर्शिनः॥

नारायण परायण व्यक्तिगण—किसी से भीत नहीं होते हैं, स्वर्ग, अपवर्ग, एवं नरक को आप सब तुल्य कार्य्यकारि रूप में देखते हैं, अर्थात् उनसब का विश्वास यह है कि—स्वर्ग, अपवर्ग, अथवा नरक, के मध्य में किसी एक में आवेश होनेपर विशुद्ध भक्ति— आस्वादन में वञ्चित होना पड़ता है।

भा० ३।१५।४८ में उक्त है—

"नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं किम्वन्यदर्पित भयं भ्रुव उन्नयैस्ते
ये ऽङ्ग त्वदङ्घ्रि शरणा भवतः कथायाः कीर्त्तन्यतीर्थ यशसः कुशला रसज्ञाः॥"

चतुःसन श्रीवैकुण्ठ देवको कहे थे,—"प्रभो! आप का यशः, परम रमणीय हेतु कीर्त्तनीय है, अतिशय पवित्र हेतु—तीर्थ स्वरूप है। जो लोक आप के चरणों में शरणापन्न हैं, भवत् कथा रसज्ञ हैं, वे सब आप का आत्यन्तिक प्रसाद रूप मुक्ति का समादर नहीं करते हैं,।
इन्द्रादि पद की वार्त्ता तो दूर है, कारण उक्त पद समूह में सर्वदा भय विद्यमान है।

अध्यात्म विद्या परम प्रेमवती व्रजसुन्दरी गण के समक्ष में केवल अति तुच्छ ही नहीं है, अपितु—निजरस विरोधी भी है, आध्यात्मिक चर्च्चा शान्त भक्तगण के निकट कथञ्चित् उपयोगी होने से भी मधुर रसाश्रित भक्त गणके पक्ष में रस विघातक है।

इस के पहले उद्धवने भा० १०।४७।२८ में कहा भी है,—

"श्रुयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः।
यमादायागतो भद्रा अहं भर्त्तु रहस्करः॥"

"हे भद्रागण! आप का प्रिय सन्देश श्रवण करें। वह अतिशय सुखावह है। मैं आप के भर्त्ता श्रीकृष्ण का समस्त कार्य्य ही सम्पन्न करता हूँ।" गोपाङ्गनागण का प्रिय अध्यात्म विद्या नहीं है, केवल

विरहं नैव सहामहे" इति। तस्माद्विदुरादेरिव कूटोक्तिरियमित्युक्त एवार्थो भवत्यन्तरङ्गः। स च श्रीयुधिष्ठिरादेरिव तासामेव गम्य इति ॥ श्रीभगवान् व्रजदेवीः ॥

१६५। पूर्वव्याख्यानुसारेणैवाह (भा० १०।४७।३८)—

(१६५) "एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः।
ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः ॥" ४५७॥

तत्सन्देशेन आगता स्मृतिर्नित्यसंयोगानुसन्धानरूपा यासां तादृश्यः; अतएव प्रीताः। इतः परं कदाचिदप्रकटलीलानुभवे सति तासां सन्तोषः प्रकटलीला-दर्शनन्तरतु विरह एवेति भावद्वैतं लक्ष्यते ॥

१६६ तत्र सन्तोषमाह (भा० १०।४७।५३)—

(१६६) "ततस्ताः कृष्णसन्देशैर्व्यपेत-विरहज्वराः।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम् ॥" ४५८॥

कृष्णसङ्ग प्राप्ति संवाद ही प्रियसन्देश है, उसका कथन उक्त श्लोक द्वारा हुआ है। व्रजसुन्दरी गण के अभिप्राय को प्रकट करते हुये श्रीस्वामि पादने कहा है।

भा० १०।४७।३४—"यत्त्वहं भवतीनां वै दूरेवर्त्ते प्रियोदृशाम्। मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया।

टीका ननु किमन्यानिवास्मान् आत्मविद्यया प्रलोभयसि? वयन्तु सर्वसुन्दर सर्वगुणालङ्कृतेन त्वया विरहं नैव सहाम इति चेदत आह यत्त्वहमिति। दृशां दूरे यद् वर्त्ते तद् मदनुध्यानार्थम्। तच्च ध्यानं मनसः सन्निकर्षार्थम् ॥"

"तुम क्या दूसरे को जिस प्रकार आत्मविद्या के द्वारा प्रलुब्ध करते हो, वैसे हम सब को आत्म-विद्या के द्वारा प्रलुब्ध करना चाहते हो? किन्तु हम सब सर्वसुन्दर सर्वगुणालङ्कृत तुम्हारे विरह सहन करने में अक्षम हैं। सुतरां श्रीकृष्णने उद्धव के द्वारा जो संवाद प्रेरण किया था, वह आत्म विद्योपदेशच्छल से कूटोक्ति के द्वारा अप्रकट लीला में नित्य स्थिति का ज्ञापक है। यह प्रसङ्ग—विदूर कर्त्तृक जतुगृह वार्त्ता प्रेरण के समान है। उक्त वाक्यार्थ को केवल युधिष्ठिर ही जानने में समर्थ थे, उस प्रकार व्रजसुन्दरीगण भी उक्त समागत सन्देश का अर्थ अवगत हुई थीं। सुतरां श्लोक समूह का जो अर्थ किया गया है, वह अर्थ अन्तरङ्ग है। व्रजदेवीगण को श्रीभगवान् कहे थे। (१६४)

अप्रकट प्रकाश में नित्यस्थिति रूप व्याख्या के अनुसार श्रीशुक कहे थे—(भा० १०।४७।३८)

"एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः।
ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत् सन्देश गतस्मृतीः ॥"

उक्त संवाद से ही व्रजाङ्गनागण प्रीत हो गई थीं। प्रियतम के संवाद से उनसब की स्मृति जग गई। इस के बाद-कदाचित् 'उद्धव गमनके पश्चात्, कभी अप्रकट लीलानुभव होने से आप सब सन्तुष्ट होती, थीं, एवं प्रकट लीला दर्शन से विरह उपस्थित होता था। इस प्रकार भावद्वैत परिलक्षित होता है।१६५।

भा० १०।४७।५३ में श्रीशुक देव उन सब का सन्तोष को सुव्यक्त कर रहे हैं।

"ततस्ताः कृष्ण सन्देशै र्व्यपेतविरहज्वराः।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रु र्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम् ॥"

यथा तेन सन्दिष्टं तथैवात्मानमनुभूयाधोक्षजञ्चानुभूयेत्यर्थः ।। श्रीशुकः ।।

१६७। स्वविरहं व्यञ्जयन्ति (भा १०।४७।४४) —

(१६७) "अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा ।
सञ्जीवयन् नु गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदैः ।।" ४५९।।

स्वनिमित्तेन शोकेन तप्ताः, नोऽस्मान् गात्रैः करस्पर्शादिभिः सञ्जीवयन् किं नु इहैष्यतीति ।। श्रीव्रजदेव्य उद्धवम् ।।

१६८। एवं यथा श्रीमदुद्धवद्वारोपदिष्टं तथा कुरुक्षेत्रयात्रायामपि ताः प्रति स्वयमुपदिष्टम् (भा० १०।८२।४१)

"अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया ।
गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्ष-क्षपणचेतसः ।।" ४६०।।

श्रीकृष्ण कर्त्तृक प्रेरित संवाद के द्वारा जिनसब का विरह ज्वर अपगत हुआ था, वे सब व्रजसुन्दरी गणने निज को एवं अच्युत को अवगत होकर उद्धव की पूजा की थी।

अप्रकट लीला में नित्य संयोग रूप स्थिति का संवाद जिस प्रकार श्रीकृष्णने भेजा था, गोपिकाओंने उस प्रकार स्वयं को एवं श्रीकृष्ण को अनुभव भी किया। अर्थात् अप्रकट लीला में श्रीकृष्ण के सहित वे सब नित्यावस्थित हैं,इस प्रकार अनुभव होने पर उन सबका सन्तोष हुआ था। प्रवक्ता श्रीशुक हैं।(१६६)

निज विरह को व्यक्त करते हुये गोपिकाओंने उद्धव को कही, भा० १०।४७।४४

"अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा।
सञ्जीवयन् नु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदैः।।"

श्रीकृष्ण के निमित्त हम सब शोक सन्तप्त हैं। इन्द्र जिस प्रकार वारि वर्षण के द्वारा निदाघतप्त को सञ्जीवित करते हैं, उस प्रकार निज कर स्पर्श के द्वारा हम सब को सञ्जीवित करने के निमित्त क्या कृष्ण यहाँपर आयेंगे ?

निदाघ तप्त वन जिस प्रकार वारि वर्षण से ही सञ्जीवित होता हैं केवल गर्जन से नहीं, उस प्रकार केवल संवाद प्रेरण से ही हम सब का सन्ताप विदूरित नहीं होगा, वन के पक्ष में वारि वर्षण के समान, कृष्णसङ्ग हमसब के पक्ष में एकान्त वाञ्छनीय है, गोपीवाक्य का यह तात्पर्य्य है।

श्रीव्रजदेवी गण उद्धव को बोली थीं। (१६७)

उद्धव के द्वारा जिस प्रकार उपदेश प्रदान आपने किया था, उस प्रकार उपदेश प्रदान कुरुक्षेत्र यात्रा में स्वयं ही किया। भा० १०।८२।४१ "अपि स्मरण नः सख्यः स्वानामर्थ चिकीर्षया गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्ष क्षपण चेतसः।"

टीका—चिरायितान् विलम्बितान्। अत्र हेतुः। शरणां पक्षस्य क्षपणे चेतो येषां तान्।

वृहत् क्रमसन्दर्भ—अपीत्यादि। हे सख्यः ! यद्यपि कठिनत्वात् स्मृति योग्योऽहं न भवामि, तथापि निज सौजन्यात् किं स्मरथ ? स्मरणायोग्यत्वे हेतुमाह—स्वानामित्यादि। स्वानां ज्ञातीनां प्रयोजन चिकीर्षया गतान्, तत्रापि चिरायितान्। तत्र हेतुः, शत्रु पक्षेत्यादि। अतो ज्ञाति प्रयोजन शत्रु बधादि वहिरङ्गकार्य्य होतोर्भवतीनामासङ्ग स्त्यक्त इति प्रेम निरपेक्षोऽहं स्मर्त्तुमयोग्य एवेति वाक्यार्थः'।

यद्यपि मैं अति कठिन हृदय का हूँ। अतः स्मृति योग्य भी नहीं हूँ। तथापि क्या निज सौजन्य से

इत्यनेन स्वागमन--विलम्बे कारणं विज्ञाप्य पुनश्च (भा० १०।८२।४४)—

"मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्टचा यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ।।" ४६१।।

इत्यनेन तासां स्वप्राप्तिमवश्य भाविनी प्रोच्य तत्रापि तासां कालविलम्बाक्षमत्वं विलोक्य झटिति सान्त्वनार्थमुद्धवद्वारा प्रहितचरसन्देशवदेव स्वेन नित्यसंयोगमुपदिशति (भा० १०।८२।४५-४६) —

(१६८) "अहं हि सर्व्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं वहिः।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ।।४६२।।
एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्मात्मना ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ।।" ४६३।।

स्मरण करती रहती हीं। कारण ज्ञाति गणों का प्रयोजन के कारण ही विलम्ब हुआ। क्योंकि शत्रुपक्ष को विनष्ट करना पड़ा। अतः ज्ञाति प्रयोजन शत्रुबधादि तो वहिरङ्ग कार्य्य है, तज्जन्य मैंने आप सब की आसक्ति को छोड़ा, प्रेम निरपेक्ष होने के कारण मैं सर्वथा स्मरणायोग्य हूँ। इस प्रकार सत्वर व्रजागमन न होने में कारण को विज्ञापित करके पुनर्वार भा० १०।८२।४४ में कहा—"मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते दिष्टचा यदासीत् मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः" वृहत् क्रमसन्दर्भ—

ननु भूतानामेव खल्वियं व्यवस्था, नतु भवदुपरि दैवाधिकारः, नहि वयं भूतात्मानः "इत्याशङ्क्याह- "मयि भक्तिर्हि" इत्यादि। मयि श्रीकृष्णे भगवति भूतानां प्राणिनां भक्तिरमृतत्वाय मोक्षाय कल्पते, मोक्षाकाङ्क्षिणां भक्ते र्मोक्षदत्वाङ्गीकृतेः। भवतीनां भूतमित्राणां पुनर्मयियत् स्नेह आसीत् तद् दिष्टचा भाग्येनैव। कीदृशः? मदापनः, मां प्रियत्वेन प्रापयतीति तथा। भक्तिस्नेहयोर्ग्यं विशेषः, भक्तिः कदाचिन्मोक्ष मपि प्रापयतीति, स्नेहस्तु मामेव, अतो मत् प्राप्ति र्वः शाश्वती।

साधारण प्राणियों के पक्ष में दैव दुर्विपाक हो सकता है, किन्तु आप के ऊपर दैवाधिकार तो नहीं है, आप कर्माधीन नहीं, आप का अधीन कर्मादि हैं। हम सब भी भूतात्मा नहीं हैं, इस प्रकार संशय कर कहते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण रूप मुझ में प्राणियों की भक्ति,—मोक्ष प्रदान करती है, कारण— मोक्ष की आकाङ्क्षा से भक्ति कहने पर भक्ति मोक्षदेती है, मेरे प्रति—जो स्नेह हुआ है, वह तो भाग्य से ही हुआ, है, क्योंकि वह स्नेह मुझ को प्रियरूप से प्राप्त करायेगा। भक्ति एवं स्नेह में विशेष अन्तर है, भक्ति--कदाचित् मोक्ष भी प्रदान करती है, किन्तु स्नेह, मुझ को प्राप्त कराता है, अतएव मेरी प्राप्ति नित्य सुनिश्चित ही है।

उक्त वचनों के द्वारा निज प्राप्ति हेतु सुनिश्चित तत्थ्य कहने पर भी व्रजाङ्गना गण विलम्ब सहन में असमर्थ थीं, यह देखकर झटिति सान्त्वनानिबन्धन उद्धव के द्वारा सन्देश प्रेरण के छल से निज नित्य संयोग का उपदेश प्रदान करते हैं। भा० १०।८२।४५--४६

"अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं वहिः।
भौतिकानां यथा एवं वा र्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः।
एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्मात्मना ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ।।"

यथाहमहङ्कारो भूतादिः सर्वेषां भूतानां खादीनामाद्यन्तादिरूपः। अहङ्कारान्तर्गतान्येव खादीनीत्यर्थः। यथा च खादीनि भूतानि भौतिकानां शरावसैन्धवादीनामाद्यन्तरूपाणि खादीनामन्तर्गतान्येव तानीत्यर्थः, एवमेतानि प्रकटलीलायामनुभूयमानानि युष्माकं ममतास्पदानि भूतानि परमार्थसत्यवस्तूनि श्रीवृन्दावनादीनि भूतेष्वप्रकटलीलागतेषु परमार्थ-सत्यवस्तुषु वर्त्तन्ते। युष्माकं प्रकटलीलाभिमान्यहन्तास्पदमात्मा चाप्रकटलीलाभिमान्य-हन्तास्पदेनात्मना ततो व्याप्तः। एवमिदन्ताहन्तास्पदं यदुभयं तच्च पुनः परे प्रकटमत्र दृश्यमानेऽपि तस्यां वृन्दाटव्यां विहरमाणेऽक्षरे नित्यमेव युष्मत्सङ्गिनि मयि आश्रयरूपे आभातं विराजमानं पश्यतेति। तस्मात् प्रकाशभेदादेव तत्तद्वस्त्वादिभेद--व्यपदेशो विरह-संयोग-व्यवस्था चेतीदमत्रापि व्यक्तम्॥

बृहत् क्रमसन्दर्भ—ननु तथापि नैतादृशं काठिन्यमुचितमित्याशङ्क्याह अहं हीत्यादि। अहं सर्व--भूतानामादिरन्तश्च, यथा तथान्तरं हृदये च बहिश्च। भौतिकानां यथा खमादीनि अन्तर्बहिश्च, अतो भौतिक विग्रहाणां भवतीनां यदन्तर्बहिरपि भवेयम्, तत् किं चित्रम्? तेन भवतीभिः सह मेविरह एव नास्ति॥४५

एतदेव पुनर्द्रढ़यति—एव मित्यादि। एवम्भूतेषु—भौतिकेषु यथा भूतानि महाभूतानि, तथात्मा जीव आत्मना परमात्मना सह भूतेषु तत आतत उभयमात्मपरमात्मरूपं द्वयं परे परात् परे मय्यक्षरे दृश्यमान रूपत्वेनाव्यये आभान्तं पश्यत॥४६॥

हे अङ्गनावृन्द! अहङ्कार जिस प्रकार समस्त भूतों के आदि अन्त एवं अन्तर बाहर में है, क्षिति--अप--तेज मरुत् व्योमरूप पञ्च भूत जिस प्रकार भौतिक पदार्थ में विद्यमान हैं, उभय ही आत्मा द्वारा व्याप्त हैं, तदुभय पर, अक्षर रूप मुझ में विराजित हैं, उस का दर्शन करो।

सन्दर्भस्थ श्लोक व्याख्या। जिस प्रकार अहं--अहङ्कार, भूतादि—आकाशादि भूत समूह के आद्यन्त, अन्तर्बहिस्वरूप है, अर्थात् आकाशादि भूतसमूह अहङ्कार में अन्तर्भुक्त हैं। जिस प्रकार आकाशादि भूत भौतिक पदार्थ—शराव सैन्धवादि के आद्यन्त, अन्तर बाहर स्वरूप हैं, अर्थात् वे सब आकाशादि में अन्तर्भूत हैं। उस प्रकार प्रकट लीला में अनुभूय मान तुम्हारे ममतास्पद भूत समूह—परमार्थ सत्य वस्तु श्रीवृन्दावन प्रभृति भूत समूह में—अप्रकट लीलागत परमार्थ सत्य वस्तु श्रीवृन्दावनादि में विद्यमान हैं। तुम्हारे प्रकट लीलाभिमानी अहन्तास्पद आत्मा, अप्रकट लीलाभिमानी अहन्तास्पद आत्माद्वारा व्याप्त है। इस प्रकार इदन्तास्पद—अहन्तास्पद वस्तु द्वय, दृश्यमान प्रकट प्रकाशमय वृन्दावन में विहरमाण हैं। अक्षर--नित्य ही तुम सब के सङ्गी है। आश्रय स्वरूप मुझ में उसका दर्शन करो।

'यह वृन्दावन मेरा है' इस प्रकार ज्ञान होने के कारण—श्रीवृन्दावन को ममतास्पद कहा गया है। तत्रत्य यावतीय वस्तु नित्य हैं, तज्जन्य परमार्थ सत्यवस्तु रूप में निर्दिष्ट हुये हैं। श्रीवृन्दावन के प्रकट प्रकाश में जो सब वस्तु दृष्ट हैं, वे सब अप्रकट प्रकाशगत वस्तु समूह से पृथक् नहीं हैं। ममत्वास्पद श्रीवृन्दावन को ही इदन्तास्पदरूप में कहा गया है, अस्मद् शब्द वाच्य अहन्तास्पद है। इदम् शब्द का वाच्य—इदन्तास्पद है।

व्रजसुन्दरीगण भी प्रकट अप्रकट उभय प्रकाश में विराजित होने पर भी उन सब के आत्मा दो नहीं हैं। श्रीवृन्दावन के उभय प्रकाश, एवं व्रजसुन्दरी गण के उभय स्थान गत प्रकाश, श्रीकृष्ण को आश्रय कर अवस्थित हैं' यहाँ श्रीकृष्ण--आश्रय तत्त्व हैं, एवं श्रीवृन्दावन श्रीवृन्दावनस्थ व्रजसुन्दरी प्रभृति आश्रित तत्त्व

१६६। श्रीभगवच्छिक्षानुरूपमेव श्रीऋषिरुवाच (भा० १०।८२।४७)

(१६६) "अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः।
तदनुस्मरणध्वस्त--जीवकोषास्तमध्यगन् ॥" ४६४॥

अध्यात्मशिक्षया तदुपदेशेनात्मानं श्रीकृष्णमधिकृत्य या शिक्षा तया वा, तथाविधं यदुपदिष्टं तदनुस्मरणेन नित्यसिद्धाप्रकटलीलायाः पुनरनुसन्धानेन ध्वस्तस्त्यक्तप्रायो जीवकोषः प्रपञ्चस्तत्र प्राकट्याभिनिवेशो याभिस्ताः। तं स्वयमुपदिष्टनित्यसंयुक्तरूपं श्रीकृष्णमध्यगन् प्रणिहितवत्यः। अत्रापि पूर्ववर्दशित–श्रुतिपुराणादिगत–नित्यतावाक्यम् (भा० १०।८२।४४)

हैं। आश्रित तत्त्व आश्रय को छोड़कर अवस्थित नहीं होता है। सुतरां वृन्दावन एवं व्रजसुन्दरी प्रभृति के सहित श्रीकृष्ण का विच्छेद होना असम्भव है। यह ही उपरोक्त श्लोकद्वय का सारार्थ है। (१६८)

श्रीवृन्दावन एक है, परिकर एक हैं, श्रीकृष्ण एक हैं, अतएव प्रकट अप्रकट उभय लीला में ही व्रजसुन्दरीगण समान रूप में विद्यमान हैं, सुतरां प्रकाश भेद हेतु ही उभय लीलागत श्रीवृन्दावन एवं श्रीवृन्दावनस्थ वस्तु समूह के मध्य में भेद व्यवहार एवं परिकर वर्ग की विरह संयोग व्यवस्था है, अर्थात् जिस समय प्रकट प्रकाश में विरह, उस समय अप्रकट प्रकाश में संयोग विद्यमान है, यह विवरण यहाँपर सुस्पष्ट है। श्रीभगवान् की इच्छा के अनुरूप कथन श्रीशुक देवने भी किया है— (भा० १०।८२।४७—

'अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः।
तदनुस्मरणध्वस्त--जीवकोषास्तमध्यगन् ॥"४६४॥

श्रीकृष्ण के द्वारा उपदिष्ट अध्यात्म शिक्षाके द्वारा गोपीगण शिक्षिता होकर उक्त शिक्षानुसरण से जीव कोष को त्यागकर श्रीकृष्ण को ज्ञात हो गई थीं।

बृहत् क्रमसन्दर्भ—अध्यात्मशिक्षयेत्यादि। आत्मानमधि—अध्यात्मम् समृद्ध्यर्थेऽव्ययीभावः, अध्यात्मं या शिक्षा तया कृष्णेन शिक्षिता गोप्यस्तं कृष्णमध्यगन् प्राप्तवत्यः पुनस्तद् विश्लेषो यथा न भवति, तथा स्थिता इत्यर्थः। भा० १०।४७।३६ "अचिरान्मामवाप्स्यथ" इत्युद्धव द्वारा यदादिष्टम्, तस्यैवायं प्रपञ्चः। कीदृश्यः? तदनुस्मरणेन ध्वस्त जीव भावो यासाम्। एतास्तु मुनिरूपा इति बोद्धव्यम्।

अध्यात्म शिक्षा—भा० १०।८२।४५--४६ में उक्त "अहं हि सर्व भूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः" श्लोकोक्त उपदेश, किं वा, आत्मा श्रीकृष्ण, स्वयं को लक्ष्यकर जो शिक्षा प्रदान किये हैं, तद् द्वारा जो उपदेश, प्राप्त है, उसका अनुस्मरण—नित्य सिद्ध अप्रकट लीला का बारम्बार अनुसन्धान, उसके द्वारा ध्वस्त—त्यक्त प्राय जीव कोष—प्रापञ्चिक जगत्, उक्त प्रपञ्च में व्यक्त प्रकट लीला का अभिनिवेश को जिन्होंने परित्याग किया है। उन सब गोपीगण,— तं— उन श्रीकृष्ण को जिन्होंने नित्य संयोग का उपदेश दिया है, जान गई थीं, अर्थात् उन नित्य प्रिय श्रीकृष्ण में मनोनिवेश कर चुकी थीं। श्रीकृष्ण की चिच्छक्ति रूपिणी अघटन घटन पटीयसी योग माया लीला सम्पादन करती है, विस्मृति एवं स्मृति सम्पादन भी करती है, विस्मृति से भगवत्तत्त्व में लीलास्वादन अतीव होता है, अतएव व्रजसुन्दरीगण की प्रकट लीलागत तीव्र विरहोत्कण्ठा से अप्रकट लीलागत नित्य संयोग स्थिति की विस्मृति हो गई थी। श्रीकृष्ण से उपदेश प्राप्त होने के पश्चात् स्थिति का पुनः पुनः अनुसन्धान कर उपलब्धि भी हुई, विस्मृति की गाढ़ता हेतु अनुस्मरण—बारम्बार स्मरण की प्रयोजनीयता हुई।

भा० १०।८२।४७ अध्यात्म शिक्षया एवं कृष्णेन शिक्षिता तदनुस्मरण ध्वस्त जीव कोषास्तमध्यगन् ॥' श्लोक का अर्थान्तर अर्थात् यथाश्रुत अर्थ "श्रीकृष्ण के द्वारा आत्मतत्त्वोपदेश प्राप्त कर गोपीगण, बारम्बार

"मयि भक्तिर्हि" इति फलभेदवाक्यञ्च (भा० ११।२०।३१) "न ज्ञानं न च वैराग्यम्" इत्याद्य-युक्तताव्यञ्जि--वाक्यञ्चानुसन्धाय परोक्षवादार्थप्रयुक्तमर्थान्तरं न प्रमेयम् ॥

१७०। अथ ज्ञानरूपं प्रकटार्थमस्वीकुर्वाणा नित्यलीलारूपं रहस्यार्थं स्वीकुर्वाणा अपि पूर्ववत् पुनश्च प्रकटलीलाभिनिवेशेन विरहभीताः परमदैन्योत्तरमेवं प्रार्थयामासुरित्याह (भा० १०।८२।४८)—

(१७०) "आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
गेहं जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः ॥" ४६५॥

उपदेश का स्मरण कर जीव कोष—जीवोपाधि को परित्याग पूर्वक श्रीकृष्ण को अवगत हो गई थीं," करना उचित नहीं है। कारण—पूर्व प्रदर्शित श्रुति पुराणादिगत वचन समूह के द्वारा गोपीवृन्द की नित्यता प्रतिपादित हुई है। भा० १०।८२।४४ "मयि भक्तिर्हि भूतानाम्" श्लोक में फलभेद का कथन हुआ है, अर्थात् व्रजसुन्दरीगण के प्रेमका फल श्रीकृष्ण प्राप्ति ही है, स्वरूप ज्ञान प्राप्ति नहीं है। प्रदर्शित हुआ है। भा० ११। २०।३१ "न ज्ञानं न च वैराग्यम् प्रायः श्रेयो भवेदिह" श्लोक प्रदर्शित हुआ है कि—गोपी गण के प्रति स्वरूप तत्त्वावबोधक ज्ञानोपदेश निष्प्रयोजन है। असङ्गत भी है। व्यर्थ भी है।

उक्त वाक्य समूह का अनुसन्धान करने पर प्रतीत होता है कि—परोक्षवाद प्रयुक्त अर्थान्तर प्रामाणिक नहीं है। कारण—उक्त अर्थान्तर नित्यलीलारूप रहस्यार्थ का गोपन करने के निमित्त ही विन्यस्त हुआ है। (१६९)

अनन्तर मुक्तिप्रद स्वरूपावबोधक ज्ञान रूप प्रकटार्थ को अस्वीकार कर नित्य लीलारूप रहस्यार्थ को स्वीकार करने पर भी गोपीगण, पूर्व के समान—पुनर्वार प्रकटलीलाभिनिवेश हेतु विच्छेद से भीत होकर परमदैन्य प्रकाश के सहित कर रही हैं। (भा० १०।८२।४८)

"आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्द योगेश्वरै हृदि विचिन्त्य मगाधबोधैः।
संसार कूप पतितोत्तरणावलम्बं गेहं जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः ॥"

हे पद्मनाभ! अगाध ज्ञान सम्पन्न योगेश्वर कर्त्तृक हृदय में चिन्तनीय, संसार कूप में निपतित जनों के उद्धार निबन्धन एक मात्र अवलम्बनीय तुम्हारे चरण कमल युगल हमारे मन में सदा उदित हों॥

वृहत् क्रमसन्दर्भ आहुश्चेत्यादि। हे नलिननाभ! ते तव चरणार विन्दं सदा जुषां नोस्माकं मनसि उदियात्, अर्थात् तव मनसि तव मन एव नो गृहं स्यादित्यर्थः। तत्रैव यथा सदा वसाम इति प्रसाद क्रियतामितिविनयोक्तिः, कीदृशं पदारविन्दम्? योगेश्वरै हृदि विचिन्त्यम्, नतु साक्षाल्लब्धम्, संसार कूप पतितानां जनानां उत्तरणाय अवलम्बम्। तव मनसि चेदस्माकं गृहं जातम्, तदा नः किं नाभूदिति वाक्यार्थः॥

कहती हैं—हे नलिननाभ! तुम्हारे चरणारविन्द—जिस की प्रीति पूर्वक सेवा हम सब करती रहती हैं, हमारे मनमें उदित हो, अर्थात् तुम्हारा मन ही हम सब का घर बन गया। तुम्हारे मन रूपी घर में सदा हम सब का निवास हो ऐसा प्रसाद प्रदान करो, यह विनयोक्ति है। पदारविन्द कीदृश है? हृदय में योगेश्वर के चिन्तनीय है, साक्षात् प्राप्य नहीं है, एवं ससार कूप में पतित जन गण को उद्धारक्षम है।

आस्तां तावद्दुर्विधिहतानामस्माकं तद्दर्शनगन्धवार्त्तापि, हे नलिननाभ ! ते तव पदारविन्दं त्वदुपदेशानुसारेणास्माकं मनस्यप्युदियात् । ननु किमिवात्रासम्भाव्यम् ? तत्राहुः-योगेश्वरैरेव हृदि विचिन्त्यम्, न त्वस्माभिरतत्स्मरणारम्भ एव मूर्च्छागामिनीभिः । तदुक्तमुद्धवं प्रति स्वयं भगवता (भा० १०।४६।५) —

"मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ।।" ४६६।।

इति भावः । तदेवोपपादयन्ति— अगाधबोधैः साक्षाद्दर्शनेऽप्यक्षुभितबुद्धिभिः, न त्वस्माभिरिव तद्दर्शनेच्छया मूर्च्छादिना क्षुभितबुद्धिभिः । चरणस्यारविन्दतारूपकञ्च, तत्स्पर्शेनैव दाहशान्तिर्भवति, न तु स्मरणेनेति ज्ञापयन्ति । ननु तथा निदिध्यासनमेव योगेश्वराणां संसार दुःखमिव भवतीनां विरहदुःखं दूरीकृत्य तदुदयं करिष्यतीत्याशङ्क्याहुः— संसारकूप-पतितानामेवोत्तरणावलम्बम्, न त्वस्माकं विरह-सिन्धुनिमग्नानाम् । तच्चिन्तनारम्भे दुःख

तुम्हारा मन यदि हमारे घर हो जाता है, तब हम सब के पक्ष में अलभ्य क्या रहेगा यह वाक्यार्थ है ।

निष्ठुर विधाता के कोप से सर्वनाश हो गया है, दर्शन गन्ध वार्त्ता तो दूर है, हत भागिनी हम सब की उसकी आशा भी नहीं है ।

हे नलिननाभ ! तुम्हारे चरण कमल तुम्हारे उपदेश के अनुसार हमारे मन में उदित हो, यह क्या असम्भव मानने की बात है ? इस प्रकार मानसिक संशय के उत्तर में कहती हैं, सत्य ही है । योगेश्वर गण के हृदय में ही तुम्हारे चरण कमल चिन्तनीय है, हमारे पक्ष में वह असम्भव है, स्मरण के आरम्भ में ही मूर्च्छा आ जाती है, यह अतिरञ्जित क्या नहीं है, उद्धव के प्रति श्रीकृष्ण ने उन सब की अवस्था का वर्णन किया है,।" भा० १०।४६।५

"मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्य विह्वलाः ।।

"हे उद्धव ! यावतीय प्रियवस्तुओं में मैं अतिशय प्रिय हूँ । मैं दूर में अवस्थित होने के कारण,— विरहोत्कण्ठाविह्वला गोकुल ललना गण मेरा स्मरणारम्भ में ही मूर्च्छिता हो जाती हैं ।" श्रीकृष्ण विषय में स्वीय अक्षमता को प्रतिपन्न करने के उद्देश्य से कहती हैं, "अगाधबोधः" अगाध ज्ञान सम्पन्न योगिगण, साक्षात् दर्शन से भी अक्षुभित चित्त होते हैं, वे सब तुम्हारे चरण चिन्तन के अधिकारी हैं, हम सब की बुद्धि तो दर्शन की इच्छा मात्र से ही क्षुब्धा हो जाती है, अतः वे सब योगिगण स्मरण कर सकते हैं । चरण को कमल रूप में रूपक करने का अभिप्राय यह है—चरण स्पर्श से ही विरह ताप प्रशमित होता है, स्मरण से ताप प्रशमित नहीं होता है—इस को ज्ञापन करने के निमित्त चरण को अरविन्द रूपक से रूपायित किया गया है । शङ्का यदि ऐसी हो, कि—चरण चिन्तन के द्वारा योगिगण की संसार दुःख निवृत्ति के समान, तुम्हारे विरह दुःख उपशम पूर्वक मनोमध्य में चरण उदित होगा ? इस के उत्तर में कहती हैं— "संसार कूपपतितोत्तरणावलम्बं" जो लोक—संसार कूप में निपतित हैं, उसके निमित्त चरण— उद्धार का उपाय है, किन्तु हम सब तुम्हारे विच्छेद समुद्र में निमग्न हैं, वह चरण—विरह समुद्र से उत्तोरणोपाय नहीं हो सकता है, अर्थात् कूप में निमज्जित व्यक्ति रज्जु अवलम्बन से उठ सकता है, समुद्र में निमज्जित व्यक्ति के निमित्त अर्णवपोत की आवश्यकता होती है । तुम प्रिय हो, प्रिय विच्छेद दुःख से संसार दुःख

वृद्धेरेवानुभूयमानत्वादिति भावः। नन्वधुनैवात्रागत्य मुहुर्मां साक्षादेवानुभवत, तत्राहुः—गेहं जुषां परगृहिणीनामस्वाधीनानामित्यर्थः। यद्वा, 'गेहं जुषां' इति तव सङ्गतिश्च त्वत्पूर्व-सङ्गमविलासधाम्नि तत्तदस्मत्कामदुघे स्वाभाविकास्मत्प्रीतिनिलये निजगृहे श्रीगोकुल एव भवतु, न तु द्वारकादाविति स्वमनोरथविशेषेण तस्मिन्नेव प्रीतिमतीनामित्यर्थः; "यः कौमारहरः स एव हि वरः" इत्यादिवत्। तस्मादस्माकं मनसि भवच्चरणचिन्तनसामर्थ्या-भावात् स्वयमागमनस्यासामर्थ्यादनभिरुचेर्वा साक्षादेव श्रीवृन्दावन एव यद्यागच्छसि, तदैव निस्तार इति भावः। तमेतमेव भाव श्रीभगवानङ्गीचकार। यथोक्तमेतदनन्तरम् (भा० १०।८३।१

"तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः।
युधिष्ठिरमथापृच्छत् सर्व्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥" ४६७॥ इति। श्रीशुकः।

अति तुच्छ है, चरण चिन्तन के द्वारा वह विदूरित नहीं हो सकती है। किन्तु साक्षात् दर्शन स्पर्शनभिन्न विच्छेद दुःख प्रशमित नहीं हो सकता है। कारण, चरण चिन्तन के प्रारम्भ में ही दुःख वृद्धि का अनुभव होता है। उक्त कथन का अभिप्राय यह ही है। तुम सब सम्प्रति यहाँपर आकर पुनः पुनः साक्षात् सम्बन्ध का अनुभव करो, इस कथन के उत्तर में कहती हैं—"गेहं जुषां" हम सब पर गृहिणी हैं, अस्वाधीना हैं, उस रीती से आकर निर्बाध दर्शन स्पर्शन का सु अवसर हम सब का नहीं है। गृह सेविनी "गृहं जुषां" पद का अर्थ से सन्तुष्ट न होकर अन्य अर्थ करते है—तुम्हारा सङ्ग, पूर्व सङ्गम विलासधाम, सर्वाभीष्ट प्रपूरक, स्वभावतः हमारे प्रीति निकेतन निजगृह—गोकुल मे ही हो, किन्तु द्वारकादि में नहीं।

श्रीकृष्ण सङ्ग विषयमें व्रजललनावृन्द की विशेष कुछ मनोवाञ्छा है, उसकी पूर्त्ति, गोकुल में सङ्ग लाभ से ही हो सकती है, तज्जन्य गोकुल में प्रीतिमती वे सब हैं।

इस प्रकार कथन दृष्टान्त अन्यत्र भी उपलब्ध है,—काव्य प्रकाश में उक्त है—

"यः कौमार हरः स एव हि वरस्ताएवचैत्रक्षपा
स्ते चोन्मीलित मालतीसुरभयः प्रौढ़ा कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ,
रेवारोधसि वेतसीतरु तले चेतः समुत्कण्ठते ॥"

नायिका सखी को कहती है—"जो कौमार हर—अर्थात पति है, वह मेरा अभिमत है।

कुमारीमूढ़वान् कुमारः कौमारस्तत् कुमारेणोढ़ास च कौमारी। अत्रद्वयं साधु' 'हरिनामामृत व्याकरणे तद्धित प्रकरणम्, वह चैव रजनी—मधुयामिनी, वह मालती कुसुमगन्ध वह कदम्बसमीरण,मैं भी वही हूँ, तथापि मेरा चित्त, सुरतव्यापार विषय में रेवातीरवर्त्ती वेतसी तरु तलदेश के निमित्त समुत्कण्ठित हो रहा है, अर्थात् उक्त स्थानाभिलाषी है।

अतएव हमारे मन में चरण चिन्तनाभाव हेतु, स्वयं समीपागमन की असामर्थ्य अथवा अनभिरुचि के कारण, साक्षात् सम्बन्धसे ही यदि तुम्हारा आगमन श्रीवृन्दावन में ही होता है, तब हम सब का निस्तार होगा। यह तात्पर्य्य है उस भाव का अङ्गीकार ही श्रीभगवान् ने किया था।

उसके अनन्तर भा० १०।८३।१ में कहा है—

"तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः
युधिष्ठिरमथापृच्छत् सर्व्वांश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥

१७१। तदेवं स्वारसिक्यप्रकटलीला दर्शिता । तथा प्रकटाप्रकटलीले द्वेऽप्यर्थविशेषेणाह (भा० १०।३३।३५)

(१७१) "गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्व्वेषामपि देहिनाम् ॥
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्ष एष क्रीड़नदेहभाक् ॥"४६८॥

अन्तरन्तःस्थितमप्रकटं यथा स्यात्तथा गोपीनां तत्पतीनाञ्च मायया प्रकटलीलायां तत्

वैष्णवतोषणी—एवं श्रीगोपीनां प्रथमदिन गतं सम्भाषणमुपसंहरन् तेनान्यदिन गतमपि प्रकारान्तरं लक्षयन् तासां यथाऽसौ स्वयमेव गुरुस्तथा स्वयमेवफलमिति बोधयित्वा पूर्वोपदेश तात्पर्य्यं व्यञ्जयंस्ततो गौणत्वेनैव श्रीयुधिष्ठिरादि सम्भाषणमपिप्रस्तौति--तथेति । तथा तेन तासां गुरुरुपदेश्यो गतिश्च गम्यो नित्य प्राप्यः । अथ तदनन्तर मेवेति तावत् कालं तद्विधानामप्यस्फूर्त्तेः, अपृच्छत्—एतत्पूर्वं तेषां प्रश्नमपि न कृतवान्, किमुतान्यदित्यर्थः एवं तासां प्रेष्ठत्व बोधनार्थमेव तदनुवादः क्रियत इतिभावः । अव्ययं व्ययाभावं हानिराहित्यं कुशलमिति यावत् ॥

इस प्रकार गोपियों के सहित प्रथम दिवस का सम्भाषण का उपसंहार कर अपरदिन गत विवरण का वर्णन करते हैं, कारण व्रजललना गण के स्वयं उपदेष्टा एवं गति भी हैं, पूर्वोपदेश का तात्पर्य्य को कह कर गौण रूप में श्रीयुधिष्ठिरादि के सहित सम्भाषण का वर्णन करते हैं। गोपियों की प्रार्थना के अनुसार गोपी को अनुगृहीत कर अपर प्रसङ्ग का उत्थापन किये थे। गोपिओं का उपदेष्टा गति गम्य नित्य प्राप्य आप हैं। उस समय अपर व्यक्तिओं की स्फूर्त्ति नहीं हुई थी। अतः गोपी प्रसङ्ग के पहले उन सब को पूच्छा भी नहीं, अतएव गोपो का प्रेष्ठत्वस्थापन हेतु उसका अनुवाद किया गया है। अव्यय शब्द का अर्थ है, व्ययाभाव हानि राहित्य—कुशल। प्रकरण प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥१७०॥

उक्त रीति से सारसिकी अप्रकट लीला का प्रदर्शन हुआ। अनन्तर प्रकट अप्रकट लीलाद्वयका वर्णन भी श्रीशुकदेव अर्थ विशेष के द्वारा करते हैं। भा० १०।३३।३५

"गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामपि देहिनाम् ।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्ष एष क्रीड़नदेहभाक् ॥"

"जो गोपीगण के एवं उनके पति समूह के तथा निखिल देही वृन्द के अन्तश्चारी एवं अध्यक्ष हैं, आप ही लीलामय विग्रह श्रीकृष्ण हैं। स्वामिपाद ने कहा— क्रीड़नदेहभाक्— क्रीड़नेनदेहभाक्। लीला के निमित्त देह धारी हैं। श्रीकृष्णस्तादृश क्रीड़ा साधनं देहं भजते नित्यमेवाश्रयति ॥ श्रीजीवचरण। श्रीकृष्ण तादृश क्रीड़ा साधन देह को नित्य ही आश्रय कर रहते हैं।

बृहत्क्रमसन्दर्भ - अन्यच्च गोपाङ्गनास्तस्य क्रीड़ा पाञ्चालिका इव क्रीड़ा देह निर्विशेषास्तस्य भजनमस्य नहि वहिरङ्गलीलेव अन्तर्यामिता त्वस्य वहिरङ्गलीलेवेत्याह—गोपीनामित्यादि। स एष श्रीकृष्णः--क्रीड़न देहभाक्—क्रीड़नदेहा व्रजदेव्य स्ता भजतीति स्वरूप निर्द्देशः। ताच्छील्ये क्विप्। अध्यक्षः साक्षात् प्रत्यक्ष इति यावत्। यो नारायणरूपेणैव गोपीनां तत् पतीनाञ्च सर्वदेहिनाञ्चान्तश्चरतीति अन्तर्य्यामी। गोपीनां पतयः पत्याभासास्तेषां सर्वेषामपि देहिनाञ्च। नतु गोपीनां सर्वसाधारण्येनान्तर्य्यामि वत्त्वम्, आनन्द विग्रहत्वात्। एतेनास्य व्रजाङ्गनाभिः सह क्रीड़नं स्वरूप विहार एव, न धर्मं व्यतिक्रम इति भावः।"

गोपाङ्गनागण श्रीकृष्ण की क्रीड़ा पाञ्चालिका के समान क्रीड़ा देह निर्विशेष है, प्रत्येक देहा तदवर्त्ती होकर रहता तो वहिरङ्ग लीला के द्वारा सम्पन्न होता है, अन्तर्यामीलीला, किन्तु वहिरङ्गलीला ही है।

पतित्वेन प्रतीतानां क्रीड़नदेहभाक् सन् तेषामेव गोकुलयुवराजतया अध्यक्षश्च सन् यश्चरति क्रीड़ति, स एष प्रकटलीलागतोऽपि भूत्वा सर्व्वेषां विश्ववर्त्तिनां देहिनामपि क्रीड़नदेहभाक् सन्, तेषां पालकत्वेनाध्यक्षोऽपि सन् चरति। तस्मादनादित एव ताभिः क्रीड़ाशालित्वेन सिद्धत्वात्तच्छक्ति रूपाणां तासां सङ्गमे वस्तुत एव परदारतादोषोऽपि नास्ति। ततस्तेषां तत्पतित्वञ्च (भा० १०।३३।३७) "नासूयन् खलु कृष्णाय" इत्यादि--वक्ष्यमाणदिशा तेषां

उसको कहते हैं, गोपीनां तत् पतीनाञ्च श्लोक के द्वारा, वह श्रीकृष्ण—क्रीड़नदेहभाक् हैं, व्रजदेवीगण क्रीड़नदेहा हैं, उन सब का भजन करते हैं, इस से स्वरूप का निर्देश हुआ। स्वभाव को द्योतित करने के निमित्त क्विप् प्रत्यय हुआ है। अध्यक्ष—अर्थात् साक्षात् प्रत्यक्ष हैं। जो नारायण रूप में ही गोपी एवं उन के पतिओं के तथा समस्त देहिओं के अन्तर्य्यामी हैं, गोपीगण के पति—पत्याभास हैं, उन सब देहिओं के अन्तर में निवास करते हैं। किन्तु गोपीओं के सर्व साधारण्य से अन्तर्य्यामी आप नहीं हैं, कारण— वे सब आनन्द विग्रह के हैं। इस से प्रतिपन्न होता है कि—व्रजाङ्गनागण के सहित श्रीकृष्ण की क्रीड़ा—स्वरूप विहार ही है, अतएव धर्म व्यतिक्रम नहीं हुआ है।

अन्तः—अन्तस्थित अप्रकट रूप में गोपीगण एवं उनके पतिगणके अर्थात् पतिम्मन्यगोपगणके सहित क्रीड़ा के निमित्त देह धारी हैं—नित्य सच्चिदानन्द विग्रह श्रीकृष्ण रूप में प्रकाशमान हैं। एवं गोकुल युवराज रूप में पतिम्मन्य गोपगण के अध्यक्ष होकर विचरण करते हैं, अर्थात् क्रीड़ा करते हैं।

श्रीकृष्ण प्रकट लीलागत होकर भी विश्ववर्त्ती निखिल देह धारीगण के सहित क्रीड़ा के निमित्त देहधारी हैं, एवं सब का पालक रूप में अध्यक्ष होकर विचरण करते हैं। सुतरां अनादि काल से ही श्रीकृष्ण गोपीगण के सहित क्रीड़ाशील हैं, अतएव श्रीकृष्ण की अन्तरङ्गा शक्ति रूप गोपीगण के सहित सङ्गम से पर दारतादोष नहीं होता है।

पतिम्मन्य—अनित्य आनुष्ठानिक सम्पर्क के द्वारा गोपगण मानते हैं, हम सब गोपी गण के पति हैं। वास्तविक वे सब पति नहीं हैं, आनुष्ठानिक सम्बन्ध अतिनगण्य है, सामयिक रूप से भोग्य सामग्री रक्षार्थ भङ्गुर उपाय मात्र है। गोपी जनवल्लभ श्रीकृष्ण ही गोपीगण के प्राणबन्धु एवं प्राण पति हैं, ममत्व का सम्पर्क ही नित्य सम्पर्क है, अतएव—आनुष्ठानिक पतिभावापन्नगोपगण को पतिम्मन्य कहा गया है। गौतमीयतन्त्र में उक्त है—अनेक जन्म सिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा। श्रीकृष्ण ही गोपी गण के पतिरूप निर्दिष्ट हैं। अद्वय ज्ञानतत्त्व विभु सर्वस्वीयशक्तिसमन्वित श्रीकृष्ण हैं, गोपीगण-उनकी अन्तरङ्गा ज्ञानानन्द रूपा भक्ति शक्ति हैं, द्वितीय वस्तु की स्थिति है नहीं, अग्नि एवं उनकी दाहिका शक्ति के समान निरन्तर एकी भावापन्न अथच लीलार्थ पृथक् प्रतिभात होते हैं, अतएव गोपीगण श्रीकृष्ण की प्रेयसी हैं, पत्नी नहीं हैं, नित्य दाम्पत्य है, अर्थात् मधुर भावाक्रान्त हैं, चिच्छक्ति लीला सम्पादनार्थ अर्थात् लोक शिक्षार्थ परदार भ्रमोत्पादन करती है, परतत्त्व में स्वरूप विस्मृत होने से लीला एवं सुखास्वादन होता है, जीव में स्वरूपविस्मृत होने से दुःख होता है। उक्त भ्रान्ति को यथार्थ मानलेने पर भी दोष नहीं होता है। कारण, श्रीकृष्ण, निखिल प्राणियों का अन्तर्य्यामी हैं, सुतरां गोपीगण का भी अन्तर्य्यामी हैं, श्रीकृष्ण सतत हृदय विहारी हैं, अतएव श्रीकृष्ण के सहित सङ्गम में किसी प्रकार दोषापत्ति नहीं है।

अनादि काल से ही श्रीकृष्ण—अन्तरङ्गा शक्तिभूता गोपीगण के सहित निरन्तर क्रीड़ा शील हैं, तज्जन्य आनुष्ठानिक सम्बन्धाक्रान्त गोपगण का पतित्व—प्रातीतिक मात्र ही है, किन्तु दैहिक सम्पर्कान्वित नहीं है, इसका प्रतिपादन भा० १०।३६।३७ नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्यमायया मन्यमानाः

तासाञ्च प्रातीतिकमात्रम्, न तु दैहिकम्। तादृशप्रतीतिसम्पादनञ्च तासामुत्कण्ठावर्द्धन-पूर्व्वकतया सर्व्वोत्तरनिर्व्विघ्ननित्यसङ्गपोषार्थमिति तत्प्रकरणसिद्धान्तस्य पराकाष्ठा दर्शिता। श्रीशुकः।

१७२। एवं तत्तल्लीलाभेदेनैवैकस्यापि तत्तत्स्थानस्य प्रकाशभेदः श्रीविग्रहवत्, तदुक्तं श्रुत्या—"वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि" इति। तत्र त्वितरलीलान्तःपातिभिः प्रायश इतरलीलावकाशविशेषो नोपलभ्यते, दृश्यते च प्रकटलीलायामप्यसङ्करीभावेनैव विचित्रावकाशत्वम्। यथा द्वादशयोजनमात्रप्रमितायामेव द्वारकान्तःपूर्यां क्रोशद्वयप्रमित-गृहकोटिप्रभृतिवस्तूनि, यथा स्वल्पे गोवर्द्धनगर्त्ते सदसंख्यगोकुलप्रवेशः, यथा ब्रह्मणा दृष्ट्या वृन्दावनस्य स्ववृक्षतृणपक्षाद्यवकाशता ब्रह्माण्डाद्यनन्तवस्त्ववकाशता च, यथा च श्रीनारद-

स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः" में है, व्रजवासिगण कृष्णके प्रति दोषारोपण नहीं किये थे, कारण वे सब श्रीकृष्ण की माया से मुग्ध होकर निजनिज पार्श्व में श्रीकृष्ण माया सम्पादित निज निज धर्म पत्नी को अवस्थित देखे थे। प्रश्न हो सकता है—कि—इस प्रकार द्राविड़ प्राणायाम से प्रयोजन ही क्या रहा, जन साधारण की बुद्धि चकराजाती है, विवाह ऋजु उपाय है, उस को सब लोक सरलता से जानते हैं? उत्तर में कहते हैं—

तादृश प्रतीति सम्पादनञ्च तासामुत्कण्ठा पोषार्थमिति तत् प्रकरणस्य पराकाष्ठा दर्शिता" इति पाठः" व्रजसुन्दरी गण का उत्कण्ठा पोषण के निमिण उक्त प्रतीति का सम्पादन हुआ है। यह ही पर बधूत्व प्रकरण घटित सिद्धान्त की पराकाष्ठा है। परबधू प्रकरण में उसका प्रदर्शन होगा।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं।(१७१)

श्रीकृष्ण के श्रीविग्रह के समान एक लीला स्थान का भी प्रकाश भेद है। परिदृश्यमान श्रीवृन्दावनादि में प्रकट एवं अप्रकट उभय लीला ही विद्यमान है, एक ही श्रीकृष्ण, जिस प्रकार लीलार्थ विविध प्रकाश का आविष्कार करते हैं। उस प्रकार एक ही धाम का भी लीलाधिष्ठान के निमित्त प्रकाश भेद होता है। श्रुति में लिखित है—"वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि" 'सर्वाभीष्ट प्रदाता श्रीहरिका परमस्थान बहुधा प्रकाशित होते है।' प्रकाश भेद होने पर भी पृथक् पृथक् लीलास्थान के द्वारा अपर लीलास्थान आक्रान्त नहीं होता हैं। अतएव एक लीला में अभिनिविष्ट जनगण का अनुसन्धान अपर लीलास्थल का नहीं रहता है। प्रकट लीला में भी असङ्करीभाव से अमिश्रित भावसे लीलासमूह का संघटन हो सकता है, धाम समूह में इस प्रकार विचित्र अवकाश विद्यमान है। जिस प्रकार द्वादश योजन परिमित द्वारकान्तः पुर में क्रोशद्वय परिमित गृह कोटी प्रभृति का समावेश है। जिस प्रकार स्वल्प परिमित गोवर्द्धन गर्त्त में असंख्य गोकुल का प्रवेश हुआ था। जिस प्रकार ब्रह्म मोहन लीला में ब्रह्मा ने देखा,– श्रीवृन्दावन के वृक्ष—तृण पक्ष्यादि का अवस्थान यथायथ रूप से होने पर भी उस में ब्रह्माण्ड प्रभृति अनन्त वस्तु का समावेश हुआ है। अपर दृष्टान्त यह है—श्रीनारद दृष्ट योग माया वैभव में समकाल में ही प्रातः कालीय, माध्याह्निक, एवं सायन्तनीय लीलाका समावेश है।

धाम समूह का प्रकाश भेद, विचित्र लीलासमूह सम्पादनार्थ होता है, अधुना यहाँ पर श्रीवृन्दावन के प्रकाश भेद समूह का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। तन्मध्य में अप्रकट लीलानुगत प्रकाश भेद का वर्णन रुद्रयामल के रुद्रगौरी संवाद में इस प्रकार है। "हे अधरमधु सुवचः! हे गौरि! श्रीवृन्दावन के प्रत्येक

दृष्टयोगमायावैभवे समकालमेव द्वारकायां प्रातस्त्य--माध्याह्निक--सायन्तन--लीला इत्यादि तदेवं वृन्दावनस्य तावत् प्रकाशभेद उदाह्रियते। तत्राप्रकटलीलानुगतो यथा यामले रुद्रगौरी-संवादे—

"वीथ्यां वीथ्यां निवासोऽधरमधुसुवचस्तत्र सन्तानकाना,--मेके राकेन्दुकोटद्यातपविशदकर रतेषु चके कमन्ते रामे रात्रेर्विरामे समुदित-तपनद्योतिसिन्धूपमेया, रत्नाङ्गानां सुवर्णाचितमुकुररुचस्तेभ्य एके द्रुमेन्द्राः ।४६९

यत् कुसुमं यदा मृग्यं यत् फलञ्च वरानने। तत्तदैव प्रसूयन्ते वृन्दावनसुरद्रुमाः ।।" ४७०।।

अर्थश्च,—हे अधरमधुसुवचः, अधरमधुतुल्यानि सुवचांसि यस्यास्तथाभूते, हे गौरि! तत्र श्रीवृन्दावने रत्नाङ्गानां सन्तानकानां मध्ये एके द्रुमेन्द्रा राकेन्दुकोटद्यातपविशदकराः, हे रामे! तेषु च सन्तानकेषु एके रात्रेर्विरामे समुदिततपनद्योतिसिन्धूपमेयाः, कमन्ते विराजन्ते, तेभ्यस्तानप्यतिक्रम्य एके कमन्ते। कथम्भूताः? सुवर्णाचित-मुकुररुच इति। अत्र च यदा यत् कुसुमं मृग्यं भवति, यदा च यत् फलं मृग्यं भवति, तदैव तद्वृन्दावनसुरद्रुमाः प्रसूयन्त इति। एवं ब्रह्मसंहितायामप्यादिपुरुषगोविन्दस्तोत्र एव (ब्र० सं० ५।५६)—

वीथि में अर्थात् प्रत्येकमार्ग में रत्नमय कल्प वृक्षसमूह अवस्थित हैं, उसके मध्य में कतिपय वृक्ष श्रेष्ठ पूर्ण चन्द्र कोटि किरण के समान समुज्ज्वल हैं, हे रामे! कतिपय वृक्ष निशावसान में समुदित सूर्य्य द्युतिराशि तुल्य द्युति विशिष्ट हैं, अपर कतिपय वृक्ष,—उक्त वृक्षसमूह से भी दीप्तिशाली हैं, उक्त वृक्ष समूह की द्युति सुवर्ण रचित मुकुल के समान है। हे वरानने! जो कुसुम, जो फल को प्राप्त करने की इच्छा जब होती है, उस समय ही श्रीवृन्दावन के कल्पवृक्ष समूह प्रदान करते हैं। वे सब सन्तान, सन्तानक हरिचन्दनादि नाम से प्रख्यात हैं।

ब्रह्मसंहिता के श्रीगोविन्द स्त्रोत्र में वर्णित है—श्रीवृन्दावन में लक्ष्मीगण—कान्ता, परम पुरुष--कान्त, वृक्षसमूह—कल्पतरु, भूमि चिन्तामणि गणमयी, जल—अमृत, कथा—गान गमन—नृत्य, वंशी—प्रियसखी, ज्योति—आस्वाद्य--अप्राकृत चिदानन्द, सुरभीसमूह से सुमहान् क्षीर समुद्र प्रवाहित है, निमेषार्द्ध समय भी अतीत नहीं होता है, उसका अपर नाम श्वेत द्वीप है, मैं उसका भजन करता हूँ। इस जगत् के कतिपय व्यक्ति—उसको गोलोक नाम से जानते हैं।

ब्रह्मसंहितोक्त श्लोकों का अर्थ यह है। धाम, सच्चिदानन्द मय है, निज दीप्ति से समुद्भासित है, तथापि, लौकिक लीलामाधुर्य निर्वाह के निमित्त वहाँपर अविनश्वर सूर्य्यादि ज्योति विराजित हैं, महाप्रलय में ब्रह्माण्ड विध्वस्त होने पर भी वहाँ पर अविनश्वर सूर्य्य देदीप्यमान रहते हैं। गोलोक वासिगण के आस्वाद्य समुदयवस्तु—चिदानन्द रूप—परम तत्त्ववस्तु है। प्राकृत वस्तु नहीं है।

चन्द्र सूर्य्य की विलक्षण स्थिति का वर्णन,—गौतमीय तन्त्र में है। "समानोदित चन्द्रार्कम्" यह श्रीवृन्दावन का विशेष है। प्रति रजनी में श्रीवृन्दावन में पूर्णचन्द्र उदित होता है, तज्जन्य--'समानोदित चन्द्र' कहा गया है, 'यत्रापि' पद स्थित अपि शब्द का अन्वय 'भजे श्वेतद्वीपं" श्लोक के सहित होगा। अर्थात् श्रीब्रह्माने पहले कहा है—"आदि पुरुषं गोविन्दं अहम् भजामि" आदि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ। अनन्तर आपने कहा—'भजे श्वेतद्वीपम्" श्वेत द्वीप का भजन करता हूँ। उस से बोध होता है कि—श्रीगोविन्द एवं श्रीगोविन्द धाम उभय ही समरूप में भजनीय हैं।

गोलोक के अधिवासिवर्ग—श्रीकृष्ण लीलाआविष्ट होने के कारण किसी का समयानुसन्धान नहीं

"श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो, द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम् ।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी, चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च ।४७१
स यत्र क्षीराब्धिः सरति सुरभीभ्यश्च सुमहान्, निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति न हि यत्रापि समयः ।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं, विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये ।।"४७२

ज्योतिर्लौकिकलीलामाधुर्य्याय महाप्रलयेऽप्यनश्वरसूर्य्यादिरूपं यत्तत्र वर्त्तते, तथा तेषामास्वाद्यमपि यत्किञ्चित्तत् सर्व्वं चिदानन्दरूपं परमपि परमतरवमेव, न तु प्राकृतम् । चन्द्रार्कयोः स्थितिश्च तत्र विलक्षणत्वेनैव गौतमीये तन्त्रे कथिता "समानोदितचन्द्रार्कम्" इति हि तत्र वृन्दावनविशेषणम् । समानत्वञ्च रात्रौ रात्रौ राकाचन्द्रमयत्वादिति । अपि चेति परेणान्वयः । रसावेशेन तदज्ञानादेव समयो न व्रजतीत्युक्तम् । अन्यथा पौर्व्वापर्य्याभावे

रहता है, तज्जन्य कहा गया है— 'समयो न व्रजति" समय नहीं जाता है । अन्यथा यदि वहाँपर काल का परिवर्त्तन न हो तो, पौर्वापर्य्य भाग से चेष्टात्मिका लीला को स्वरूप हानि होगी । जिस प्रकार— प्रभात कालीन लीला, जागरण, मुख प्रक्षालन प्रभृति हैं, आसङ्गव में गोष्ठ गमन प्रभृति हैं । समय का आवर्त्तन न होने से विभिन्न कालोचित लीलाका निर्वाह होना असम्भव है । किन्तु आवर्त्तन कालानुसार न होकर लीलानुसार होता है । इसका वर्णन इसके पहले हुआ है ।

श्वेतद्वीप—श्वेत—शुभ्र, दोष रहित, द्वीप—द्वीप जिस प्रकार समुद्र मध्य में अवस्थित होकर अन्यत्र आसक्तिशून्य होता है, उस प्रकार है, अर्थात्—निखिलस्थानों से श्रेष्ठ है । श्रुति में वर्णित है—सरोवर में जिस प्रकार पद्म अवस्थित होता है, तद्रूप पार्थिव सम्पर्क शून्य होकर गोलोक—पृथिवी में अवस्थित है । यथा श्रुति गोपाल तापनी की है । ब्रह्म संहितोक्त ब्रह्मस्तव की आदि में कथित है—"चिन्तामणि प्रकट सद्मसु कल्पवृक्ष लक्षावृतेषु" चिन्तामणि समूह के द्वारा निर्मित गृह समूह हैं । यह वर्णना—अप्रकट प्रकाश की है ।

नारद पञ्चरात्रस्थ श्रुति विद्या संवाद में वर्णित है—"अनन्तर श्वेतद्वीप की शोभा वर्णित हो रही है, उसके चतुर्दिक् विदिक्, ऊर्द्ध्व, एवं अधः—दशदिक् में दशदिक्पाल—अवस्थित हैं, क्षीरामृत समुद्र वहाँ पर है । महा वृन्दावन एवं केलिवृन्दावन समूह विराजित हैं ।

वहाँ के वृक्षसमूह—कल्पसमूह हैं, भूमि—चिन्तामणिमयी है, लक्ष संख्यक—क्रीड़ा विहङ्ग, विविध सुरभीयूथ, विभिन्ना चित्र विचित्र—रासमण्डल भूमि, केलि निकुञ्ज समूह, एवं बहुविध सौख्यस्थल वहाँ पर शोभित हैं । अहो ! प्राचीरछत्रस्थित रत्न समूह फण के समान शोभित हैं, प्राचीर समूह के शिरोरत्न समूह की अतुलद्युति—ब्रह्म के समान सुदीप्त हैं, उस शोभाका वर्णन करने में कौन व्यक्ति सक्षम हैं ? ।"

इस प्रकार श्रीवृन्दावन का अप्रकट लीलानुगत प्रकाश ही गोलोक है, इस की व्याख्या की गई है । वहाँपर अप्रकट लीलागत,— स्वारसिकी—मन्त्रमयी द्विविध उपासना के मध्य में मन्त्रोपासना मयी में किञ्चिद्विलक्षणता है । वह तत्तत् मन्त्र ध्यान में प्रति नियत लीलास्थल सन्निवेश रूप है ! जिस प्रकार श्रीगोपालतापनी में उक्त है—

"गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्" अपर स्कन्द पुराणोक्त श्रीनारद वाक्य है । "जिस वृन्दावन में पवित्र श्रीगोविन्द मन्दिर है । उनके सेवकवृन्द समाकीर्ण स्थान में मैं अवस्थित हूँ । हे नृप ! वह वृन्दावन पृथिवी में गोविन्द वैकुण्ठ है । जहाँपर श्रीगोविन्द सेवाभिलाषिणी वृन्दा प्रभृति भृत्यवृन्द अवस्थित हैं ।

अनन्तर प्रकट लीलानुगत प्रकाश का वर्णन करता हूँ, उस की प्रसिद्धि—विष्णु पुराण--हरिवंश

सति चेष्टात्मिकाया लीलायाः स्वरूपहानिः स्यात्। श्वेतं शुभ्रं दोषरहितमित्यर्थः, द्वीपं तदिवान्यासङ्गशून्यं सर्व्वतः परमित्यर्थः, तदुक्तं श्रुत्या (गो० ता० उ० ३०)—"यथा हि सरसि पद्मं तिष्ठति तथा भूम्यां तिष्ठति" इति। किञ्च, ब्रह्मसंहितायामेव तत्स्तवादौ (ब्र० सं० ५।२९)—"चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु" इति। एवं पञ्चरात्रादौ श्रुतिविद्यासंवादे—

"ततः श्वेतमहाद्वीपश्चतुर्दिक्षु विदिक्षु च। अधश्चोद्र्ध्वे च दिङ्नाथास्तेयं क्षीरामृतार्णवः।४७३।
महावृन्दावनं तत्र केलिवृन्दावनानि च। वृक्षाः सुर द्रुमाश्चैव चिन्तामणिमयी स्थली।४७४।
क्रीड़ाविहङ्गलक्षञ्च सुरभीनामनेकशः। नानाचित्रविचित्रश्रीरासमण्डलभूमयः।४७५।
केलिकुञ्जनिकुञ्जानि नानासौख्यस्थलानि च। प्राचीन छत्ररत्नानि फणा शेषस्य भान्यहो ॥४७६॥
यच्छिरोरत्नवृन्दानामतुलद्युतिवैभवम्। ब्रह्मैव राजते तत्र रूपं को वक्तुमर्हति ॥"४७७॥ इति।

प्रभृति में है, वह इस प्रकार है—वह प्रसिद्ध यह प्रकाश—अस्मद् दृश्यमान वर्त्तमान प्रकाश में प्रकट प्रकाश आविर्भूत होता है, तज्जन्य 'एषः' पद के द्वारा साक्षान्निर्दिष्ट है। प्रकट लीला के समय, जिनका भाग्योदय हुआ था ऐसे प्राकृत जनने भी उसको देखा था, सम्प्रति उक्त प्रकाश का अंश विशेष का दर्शन हम सब भी करते रहते हैं। अस्मद् दृश्यमान प्रकाश में, प्राकृत प्रदेशके समान जो कुछ दृष्ट होता है, वह भी श्रीभगवान् के समान स्वेच्छा क्रमसे लौकिक लीला विशेष निबन्धन है। इस प्रकार ही जानना होगा। अर्थात् श्रीभगवान् जिस प्रकार स्वैच्छाक्रम से लौकिक लीला को अङ्गीकार कर लौकिक चेष्टा को प्रकट करते हैं, श्रीधामसमूह भी उस प्रकार नर लोक में प्राकट्य के कारण लौकिक लीलाविशेष को अङ्गीकार कर जागतिक प्रदेश विशेष की रीति को प्रकट करते हैं। श्रीभगवद्धामसमूह प्रपञ्चातीत गुणादि सम्पन्न हैं। श्रुति स्मृति में इसका यथेष्ट वर्णन समुपलब्ध हैं। तज्जन्य आदि वाराह में उक्त है—

"जो लोक मथुरा में निवास करते हैं वे सब निश्चय ही विष्णु रूप हैं,अज्ञगण उन सब को देख नहीं पाते हैं, ज्ञान चक्षु विशिष्ट व्यक्तिगण उन सब का दर्शन करते हैं।"

लीलाभेद से धाम का प्रकाश भेद होता है, उसका वर्णन मौलिक प्रमाण स्वरूप श्रीमद् भागवत भा० १०।२८।१२ के।

"ते चौत्सुक्यधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम्"

में श्रीवृन्दावन के अप्रकट प्रकाशानुगत प्रकाश विषय का वर्णन है।

इन्द्रमदविभञ्जन गोवर्द्धनोद्धरण लीला दर्शन से विस्मित गोपगण को परम विस्मय कर वरुण स्तुत्यात्मक लीला का प्रदर्शन करते हैं—"ते तादृश—तन्नित्यपरिकरा अपि प्रेम विशेषेण गोपाः केवल तद्बान्धव गोपत्वाभिमानिनः, अत औत्सुक्यधियः, लोकपाल मात्रस्य तादृशं लोकादि वैभवमस्य वास्मदीय रूपस्याप्यधीश्वरस्य कीदृशं स्यात्? इत्युत्कण्ठित धियः, अतः स्वगति शब्देनात्र स्व स्थानमित्येव लभ्यते, नतु ब्रह्माख्या। सूक्ष्मामित्यनेन च न सा प्रोच्यते। स्वगतिमित्यस्यैव विशेषणत्वेन प्रतीतेः शब्द बुद्धि कर्मणां विरम्य व्यापाराभाव इति न्यायाविरोधादस्यैव पुनरावृत्तिश्च नस्यादिति, सूक्ष्मां दुर्ज्ञेयां, तदेवमेषां तादृश स्वगतिदिदृक्षा च तत् प्रेम्णैव अधीश्वरता ज्ञानेऽपि स्वाभाविक पुत्रतादिविज्ञानानुपमर्दात् ॥ (वैष्णव तोषणी)

गोपगण नित्य परिकर हैं, किन्तु प्रेम विशेष के द्वारा बान्धव अभिमान के कारण उत्सुकतातिशय्याक्रान्त हो गई थे। लोक पालादि वैभव का अधीश्वर एवं हम सब का अधीश्वर का वैभव कैसा होगा?

इत्थं श्रीवृन्दावनस्याप्रकटलीलानुगतप्रकाश एव गोलोक इति व्याख्यातम् । तत्राप्रकटलीलाया द्वैविध्ये मन्त्रोपासनामय्यां किञ्चिद्विलक्षणः, स च तत्तन्मन्त्रेषु यथादर्शित–प्रतिनियत-- लीलास्थल सन्निवेशः, यथा पूर्व्वतापन्यां दर्शितम्, यथा च स्कान्दे श्रीनारदवाक्यम्–

"यस्मिन् वृन्दावने पुण्यं गोविन्दस्य निकेतनम् । तत्सेवक-समकीर्णं तत्रैव स्थीयते मया ।४७८।
भुवि गोविन्दवैकुण्ठं यस्मिन् वृन्दावने नृप । यत्र वृन्दादयो भृत्याः सन्ति गोविन्दलालसाः ।"४७९।

अथ प्रकटलीलानुगतः प्रकाशः श्रीविष्णुपुराण-हरिवंशादौ प्रसिद्धः । स एष एव प्रकाशस्तदानीं प्राकृतैरपि कैश्चिद्भाग्यविशेषोदयवद्भिर्ददृशे, सम्प्रत्यस्माभिरपि तदंशो दृश्यते । अत्र तु यत् प्राकृतप्रदेश इव रीतयोऽवलोक्यन्ते, तत्तु भगवतीव स्वेच्छया लौकिकलीलाविशेषाङ्गीकार– निबन्धनमिति ज्ञेयम् । श्रीभगवद्धाम्नां तेषां सर्व्वथा प्रपञ्चातीतत्वादिगुणैः श्रुति–स्मृतिभ्यां कृतप्रमाणत्वात् । अतएवोक्तमादिवाराहे—

देखने के इच्छुक थे । अतएव स्वगति शब्द के द्वारा यहाँ स्वस्थान का लाभ ही होता है । किन्तु ब्रह्म का नहीं । "सूक्ष्मां" पद के द्वारा ब्रह्माख्याशक्ति का बोध नहीं होता है, वह स्वगति का विशेषण है, 'शब्द बुद्धि कर्मणां विरम्य व्यापाराभावः "नियम से पुनरावृत्ति नहीं होगी, अतः "सूक्ष्मां" का अर्थ—"दुर्ज्ञेयां" है । उस प्रकार निज गति दर्शनेच्छा उन सब की हुई—प्रेम के द्वारा अधीश्वरता ज्ञान होने पर भी स्वाभाविक पुत्रतादि विज्ञान उपमर्दित नहीं होता ।

प्रकट लीलानुगत प्रकाश विशेष के सम्बन्ध में भा० १०।१५।५ में उल्लेख है—

"अहो अमी देव वरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनः फलार्हणम् ।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन स्तमोऽपहत्यै तरु जन्म यत् कृतम् ।।"

श्रीकृष्ण—श्रीबलराम को कहे थे—हे देववर ! तमोनाश के निमित्त जिसने तरु जन्म प्रकटन किया है । वे सब वृन्दावनस्थ वृक्षसमूह— फल फूल उपहार प्रदानपूर्वक शिखा समूह के द्वारा अमरार्चित आपके चरणारविन्द में प्रणाम कर रहे हैं ।

श्लोकार्थ—वृक्षगण,—निज फल फूल रूप पूजोपहार ग्रहण कर निज शिखा समूह के द्वारा भवदीय चरण कमलों में प्रणति अर्पण कर रहे हैं । श्रोता एवं द्रष्टाका तमोनाश हेतु जिन्होंने तरु जन्मको अङ्गीकार किया है ।

अर्थात् वृन्दावनस्थ वृक्ष समूह की वार्त्ता श्रवण करने से अथवा वृक्ष समूह को देखने से संसारिजनगण का तमोनाश होगा, एतज्जन्य ही जिन्होंने वृक्ष जन्म ग्रहण किया है । वे सब उक्त रूप से श्रीबलराम के चरण कमलों में प्रणति अर्पण कर रहे हैं । अथवा—यत् कृतम्—यहाँपर तृतीयः तत् पुरुष समास है, उससे अर्थ होता है कि—"येन सुमनाः फलार्हणे नतरुजन्मकृतम् । तत् सुमनः फलार्हणं उपादाय ते पदाम्बुजं नमन्ति" यद् द्वारा कृत् यत् कृत्—तरुजन्म, अर्थात् श्रीभगवच्चरणों में फूल फल अर्पण करके ही तरुजन्मलाभ किये हैं । सम्प्रति पुनर्वार भवदीय चरणों में वे सब स्वीय कुसुमादि अर्पण पूर्वक प्रणति कर रहे हैं ।

वृहत् क्रमसन्दर्भ ।। अथ वृन्दावनस्य सर्वादिरलौकिकतां स्व सेवा परायणताञ्च दर्शयितुं स्वमहिमकथने स्वस्यानौचित्यमिति बलदेव व्यपदेशेनैव तस्य वृन्दावन सर्वादिरात्मदिष्यां रतिं भगवान् प्रपञ्चयति-अहो

"वसन्ति मथुरायां ये विष्णुरूपा हि ते खलु । अज्ञानास्तान्न पश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।"४८०।।
तदेतन्मूलप्रमाणेऽप्यप्रकटलीलानुगतः प्रकाशः श्रीवृन्दावनस्य (भा० १०।२८।१२) "ते चौत्सुक्यधियौ राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम्" इत्यादौ दर्शित एव । प्रकटलीलानुगतो यथा (भा० १०।१५।५)—

(१७२) "अहो अमी देववरामरार्च्चितं, पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम् ।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन,-स्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ।।"४८१।। इत्यादि

आत्मनः सुमनः फलरूपमर्हणमुपादायात्मन एव शिखाभिर्नमन्ति, यद् यैः; शृण्वतां पश्यताञ्च संसारिणां तमोऽपहत्यै तरुजन्मैतत्कृतमित्यादि, यत्कृतमिति तृतीयातत्पुरुषो वा ।।
श्रीभगवान् श्रीबलदेवम् ।।

१७३। यथा च (भा० १०।१३।५९--६०)—

(१७३) "सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोऽपश्यत् पुरःस्थितम् ।
वृन्दावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समाप्रियम् ।।४८२।।
यत्र नैसर्गदुर्व्वैराः सहासन् नृमृगादयः ।
मित्राणीवाजितावास–द्रुतरुट् तर्षकादिकम् ।।" ४८३।। इत्यादि ।

अमी इत्यादि ।

(४र्थ श्लोक)"स्मयन्निवाहाग्रजमादिपुरुषः" इति पूर्व श्लोक पठितेन आदि पुरुष शब्देन स्वस्याग्रजवत्त्वा भावात् अग्रजवत्त्वं स्वयमेव स्वीकृतमित्यायातम् । अतः स्मयन्निव प्रहास पूर्वमिवेति स्वाश्रयस्याराध्यत्वस्य तत्रारोपोऽवगन्तव्यः । एवमेव धीरोदात्त नायक लक्षणं यदात्मश्लाघापराङ्मुखता, तेनात्रस्मच्छब्द प्रयोगे कर्त्तव्ये युष्मच्छब्द प्रयोगः । तथाहि अहो आश्चर्य्ये, स्मयन्निवाहाग्रजमादि पुरुषइति यदाह, तस्य विवृतिम् । अहो आश्चर्य्यम्, हे देववर ! ते तव पादाम्बुजमयी तरवः सुमनः फलार्हणमादाय शिखाभि र्नमन्ति । न फल भरेणाभी नम्राः, अपि तु प्रणाम चिकीर्षैव नम्रशिरस इत्यर्थः ! अमी इति के ते इत्याशङ्क्याह—यत् यैस्तरु जन्मभि स्तमोऽपहत्यै द्रष्टॄणां तमो नाशायात्मनस्तरु जन्म कृतं गृहीतम् । कीदृशं तरुजन्म ? अमरार्च्चितम्, अमरै र्ब्रह्मादिभि रर्च्चितं स्पृहणीयम्—(भा० १०।१४।३४)"किमप्यटव्याम्" इत्युक्तेः । एतेन वृन्दावनतरूणां परम भाग्यवत्त्वमायातम् ।।

श्रीभगवान् श्रीबलदेवको कहे थे ।।१७२।।

प्रकट लीलानुगत प्रकाश के सम्बन्ध में अन्य प्रमाण,--भा० १०।१३।५९-६० में हैं—
"सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोऽपश्यत् पुरः स्थितम् ।
वृन्दावनं जनाजीव्य द्रुमाकीर्णं समाप्रियम् ।।
यत्र निसर्ग दुर्वैराः सहासन् नृ मृगादयः ।
मित्राणीवाजितावास द्रुतरुट् तर्षकादिकम् ।।"

ब्रह्माने समस्त दिक् निरीक्षण कर सहसा सम्मुख में देखा— जनगण के जीविका निर्वाहोपयोगी बहु वृक्ष समाकीर्ण समाप्रिय वृन्दावन विराजित है, जिस में स्वभावतः परस्पर दुर्निवार शत्रुता विशिष्ट मनुष्य पशु प्रभृति प्राणि गण—मित्र के समान निवास कर रहे हैं । एवं उक्त भगवन्निवास भूमि से क्रोध लोभादि

समानामात्मारामाणामपि, समस्य 'मा'—सहचरस्य श्रीभगवतोऽपि वा, आ सर्व्वतोभावेन सर्व्वांशेनैव प्रियमिति तत्रासदंशत्वं निषिध्य सर्व्वतोऽप्यानन्दातिशयप्रदत्वं दर्शितम् । श्रीशुकः १७४। तदेवं श्रीकृष्णस्य नित्यलीलास्पदत्वेन तान्येव स्थानानि दर्शितानि । तच्चावधारणं श्रीकृष्णस्य विभुत्वे सति व्यभिचारि स्यात् । तत्र समाधीयते—तेषां स्थानानां नित्यतल्लीला-स्पदत्वेन श्रूयमाणत्वात्तदाधारशक्तिलक्षणस्वरूपविभूतित्वमवगम्यते, (छा० ८।२४।१)

विदूरित हुये हैं। समाप्रिय—शब्द का अर्थ है—आत्मारामगणों का प्रिय, अथवा सम—सहचर वृन्द का तथा श्रीभगवान् का आ—सर्वतो भावेन—सर्वांश में प्रिय, समाप्रिय है।

इस श्लोक से श्रीवृन्दावन में मायिक अंशत्वका निषेध कर सर्वापेक्षा प्रचुर आनन्द प्रदत्व प्रतिपादन किया है, कारण,—मायिक अंश, आत्मारामगण का तथा श्रीभगवान् का प्रिय नहीं हो सकता है। श्रीवृन्दावन, सर्वांश में उन सब का प्रिय होने से सर्वांश से ही श्रीवृन्दावन अप्राकृत परमानन्दमय है।

बृहत् क्रमसन्दर्भ—न केवलं तदेवाचष्ट, स्वरूपस्थं वृन्दावनञ्च ददर्शेत्याह—सपदीत्यादि । अभितः सर्वादिशः पश्यन् पुनः स्थितं वृन्दावनमपश्यत्, पुरःस्थितमपि या या दिशः पश्यति, तासु तास्वेव पश्यतीत्यर्थः । वृन्दावनमपिव्यापकेन ददर्श ।

अथवा, पुरो वृन्दावन दर्शनयोग्यता नासीत्, पश्चादेवाहङ्काररहतो ददर्श। कीदृशम् ? जनाजीव्य-द्रुमीकीर्णम्, जनाजीव्यद्रुमाः कल्पद्रुमाः । स ब्रह्मा माशोभा तस्याः प्रियं दयितम्,—तस्यास्तत्रैवानुगतत्वात् । मा लक्ष्मी र्वा तस्या आप्रियं—सम्यक् प्रीतिस्थानम्, वैकुण्ठादपि मनोहरत्वात् । आत्मना सहेत्यनेनैव वान्वेतव्यम् । या यां दिशः पश्यति, तासु तास्वात्मना सह वृन्दावनं ददर्शेति वृन्दावनस्य व्यापकत्वम् । अतः तृतीये भगवता ब्रह्माणं यत् प्रत्युक्तम् भा० ३।९।३१ 'तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः । द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन् मयि लोकांस्त्वमात्मनः ।" इति तस्येदमुदाहरणं व्याख्यातञ्च तत्रैव तथा । (५९।६०)

केवल वैभव को ही ब्रह्माने नहीं देखा, अपितु स्वरूपस्थ श्रीवृन्दावन को भी देखा था। उसको कहते हैं—सपदीत्यादि श्लोक के द्वारा। अभितः—समस्त दिकों को देखते देखते सम्मुख में स्थित श्रीवृन्दावन को देखा था पुरःस्थित होने पर भी जिस जिस दिक् को देखा उस उस दिक् में भी श्रीवृन्दावन को देखा, व्यापक रूपसे श्रीवृन्दावन को देखा था।

अथवा, पहले वृन्दावन दर्शन योग्यता नहीं थी, पश्चात् अहङ्कार विनष्ट होने से श्रीवृन्दावन को देखा। वह वृन्दावन किस प्रकार है ? जनाजीव्य द्रुमाकीर्णम्, जनाजीव्यद्रुमसमूह—कल्पद्रुम समूह उससे व्याप्त, ब्रह्माने शोभा समूह का एक मात्र दयितस्वरूप लक्ष्मी को देखा, लक्ष्मी वहाँ अनुगत रूप से स्थित रहीं, मा—लक्ष्मी—उनका आ—सम्यक् प्रिय—प्रीतिस्थान रूप वृन्दावन को देखा, वह वृन्दावन—वैकुण्ठ से भी मनोहर है, आत्मा के सहित ही देखा, वाक्य को इस प्रकार सम्बन्धान्वित करना विधेय है। जिस जिस दिक् को देखा, उस में आत्मा के सहित ही श्रीवृन्दावन को देखा, कारण—वृन्दावन व्यापक है। अतएव तृतीय स्कन्ध में वर्णित है—"भक्ति युक्तः समाहितः सन् आत्मनि स्वस्मिन् लोके च मां ततं व्याप्य स्थितं द्रष्टासि द्रक्ष्यसि। आत्मनो जीवांश्च।" भक्ति युक्त समाहित होकर ब्रह्मा तुम, निजलोक में व्यापक रूप में मैं अवस्थित हूँ देखोगे, एवं आत्मा-जीव समूह को भी देखोगे।

प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥१७३॥

सम्प्रति प्रकट अप्रकट लीला का समन्वय करते हैं। श्रीकृष्ण के नित्य लीला स्थान श्रीद्वारका, मथुरा, श्रीवृन्दावन का वर्णन हुआ है। किन्तु उस अवधारण अर्थात् निश्चयता का व्यभिचार सुस्पष्ट है,

"स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि" इति श्रुतेः, (गो० ता० उ० २६) "साक्षाद्-ब्रह्मगोपालपुरी" इत्यादेश्च । ततस्तत्रैवाव्यवधानेन तस्य लीला; अन्येषां प्राकृतत्वान्न साक्षात्तस्य स्पर्शोऽपि सम्भवति, धारणशक्तिस्तु नतराम् । यत्र क्वचिद्वा प्रकटलीलायां तद्गमनादिकं श्रूयते, तदपि तेषामाधारशक्तिरूपाणां स्थानानामावेशादेव मन्तव्यम् । वैकुण्ठान्तरस्य त्वप्राकृतत्वेऽपि श्रीकृष्णविलासास्पदताकर--निजयोग्यताविशेषाभावान्न तादृशत्वमिति ज्ञेयम् । अथाप्रकट-प्रकटलीलयोः समन्वयस्त्वेवं विवेचनीयः—तत्र यद्यपि तस्य मन्त्रोपासनामय्यप्रकटलीलायां बाल्यादिकमपि वर्त्तते, तथापि स्वारसिकलीलामय--किशोराकारस्यैव मुख्यत्वात्तमाश्रित्यैव सर्व्वं प्रवर्त्तत इति प्रकटलीलापि तमाश्रित्यैव

श्रीकृष्ण का विभुत्व निबन्धन व्यभिचार होता है, अर्थात् जब श्रीकृष्ण धामत्रय में लीला करते हैं, श्रीकृष्ण का विभुत्व स्थापन करने पर उक्त निश्चलता का व्यभिचार होता है। कारण, विभुवस्तु कुत्रापि सीमाबद्ध होकर नहीं रहती है, वह सर्वव्यापी है। अधुना विभु होने पर भी निर्दिष्ट स्थान में नित्य शील हैं, उसका विरोध भञ्जन पूर्वक समाधान करते हैं।

उक्त स्थान समूह नित्य लीलास्पद है, अतएव—उक्त धाम समूह श्रीकृष्ण की आधार शक्ति लक्षण स्वरूप विभूति हैं। कारण श्रुति में वर्णित है—(छा० ७।२४।१) 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वेमहिम्नि" हे भगवन् ! भूमाख्य श्रीहरि कहाँपर अवस्थित हैं ? आप निज विभूति में अवस्थित हैं।

गोपाल तापनी में वर्णित हैं—"साक्षाद् ब्रह्म गोपाल पुरी" गोपालपुरी साक्षात् ब्रह्म हैं। अतएव उक्त धाम समूह में श्रीकृष्ण अव्यवधान से अविच्छेद से लीला करते हैं, प्राकृत हेतु पृथिव्यादि स्थान में उनकी साक्षात् स्पर्श सम्भवना भी नहीं है। धारण करने की शक्ति तो सुतरां ही नहीं है, प्रकट लीला में अन्यत्र गमन की वार्ता जो प्रसिद्ध है, उस समय भी आधार शक्ति रूप स्थान समूह का आवेश हेतु उनका वहाँ गमन सम्भव होता है। अर्थात् जिस समय श्रीकृष्ण का गमन द्वारका मिथिला में हुआ था उस समय द्वारका धाम मिथिला में आविष्ट हुआ था। इस प्रकार रीति का अनुसरण सर्वत्र करना विधेय है।

वन वैकुण्ठ श्रीवृन्दावन को छोड़कर अपर वैकुण्ठादि अप्राकृत होने से भी श्रीकृष्ण की लीलास्पदता की योग्यता उन में नहीं है, उक्त वैकुण्ठ समूह द्वारकादि के समान श्रीकृष्ण लीलास्पद नहीं हो सकते हैं। अर्थात् श्री वैकुण्ठ भी श्रीकृष्ण लीला का योग्य स्थान नहीं है। अनन्तर अप्रकट -प्रकट लीला का समन्वय करते हैं,—

यद्यपि अप्रकट लीला में श्रीभगवान् के बाल्यादि भाव भी है, तथापि किशोर कृति का ही मुख्यत्व हेतु उस आकृति को अवलम्बन कर निखिल लीला प्रवर्त्तित होती है, एवं प्रकट लीला भी अप्रकट स्थित किशोराकृति को अवलम्बनकर प्रकाशित होती है। लीला समन्वय में यह ही वक्तव्य है।

अथवा, द्वारका, मथुरा, वृन्दावन, युगपत् एक ही किशोराकृति श्रीकृष्णाख्य भगवान्, श्रीवसुदेव नन्दन, एवं व्रजराज नन्दन रूप में प्रापञ्चिक लोक के अगोचर में नित्य लीलायमान हैं। सन्दर्भस्थ पाठ इस प्रकार है—'द्वारकायामपि मथुरायामपि वृन्दावनेऽपि" सर्वत्र 'अपि' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसका तात्पर्य्य यह है--किशोराकृति श्रीकृष्ण, द्वारकामें भी हैं, मथुरा में भी हैं, एवं वृन्दावनमें भी हैं। समुच्चयार्थ में अपि शब्द का प्रयोग हुआ है।

अनन्तर प्रकट लीला में अवतरण का वर्णन करते हैं—(भा० १।८।२०)

वक्तव्या। यद्वा, द्वारकायामपि मथुरायामपि वृन्दावनेऽपि युगपदेक एव किशोराकृतिः श्रीकृष्णाख्यो भगवान् श्रीमदानकदुन्दुभि–श्रीव्रजराज–नन्दनरूपेण प्रापञ्चिकलोकाप्रकटं नित्यमेव लीलायमान आस्ते। अथ कदाचित् (भा० १।८।२०) "भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः" इत्याद्युक्तदिशा सत्यप्यानुषङ्गिके भारहरणादिके कार्य्ये स्वेषामानन्दचमत्कार पोषायैव लोकेऽस्मिंस्तद्रीतिसहयोगचमत्कारिणीर्निजजन्मबाल्य–पौगण्ड–कैशोरात्मिका लौकिकलीलाः प्रकटयंस्तदर्थं प्रथमत एवावतारित–श्रीमदानकदुन्दुभिगृहे तद्विध–यदुवृन्द–सम्बलिते स्वयमेव बालरूपेण प्रकटीभवति। अथ च तत्र तत्र स्थाने वचनजातसिद्धनिज–नित्यावस्थित-कैशोरादिविलास-सम्पादनाय तैरेव प्रकाशान्तरेणाप्रकटमपि स्थितैः परिकरैः साकं निजप्रकाशान्तरेणाप्रकटमपि विहरत्येव। अथ श्रीमदानकदुन्दुभिगृहेऽवतीर्य्य च तद्वदेव

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्ति योगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

टीका—परमहंसानां—आत्मानात्मविवेकिनां, ततोमुनीनां—मननशीलानां अपि, ततश्चमलात्मनां–निवृत्तरागादीनां अपि, तथा तेन निजमहिम्ना न लक्ष्यसे। ततो भक्तियोगं विधातुं त्वां वयं स्त्रियः कथं हि पश्येम। यद्वा परमहंसानामपि भक्तियोग विधानार्थं त्वाम् आत्मारामान् मुनीनपि अचिन्त्य निज गुणैराकृष्य भक्तियोगं विधातुं कारयितुं अवतीर्णमित्यर्थः॥

क्रमसन्दर्भ—"तथेति तथा च सतीत्यर्थः। अमलात्मनां मुनीनां मध्ये ये परमहंसा आत्मारामास्तेषां स प्रेम सम्पादन प्रयोजनकं त्वाम्॥" अमलात्मा मुनिगण के मध्य में जो सब परमहंस—आत्माराम हैं, उन सब को भक्ति योग प्रदान हेतु तुम (श्रीकृष्ण) अवतीर्ण हो॥ हम सब स्त्री जाती तुम्हारा दर्शन कैसे कर सकूँगी ?

कुन्तिदेवीके वाक्यानुसार भूभार हरणादि कार्य्य अनुषङ्गिक होने पर भी कदाचित् परिकर वर्ग का आनन्दचमत्कार पोषणार्थ इस जगत् में लौकिकरीति संयोग से अपूर्वनिजजन्म, बाल्य, पौगण्ड एवं कैशोरात्मक लौकिक लीला प्रकटन करते हैं, लौकिक लीला सम्पादन हेतु प्रथम अवतारित श्रीवसुदेवगृह में जो तत्तुल्य यदुवृन्द सम्बलित हैं, उस गृह में स्वयं बालक रूप में प्रकटित होते हैं। एवं बाल्य, पौगण्ड, कैशोरात्मिका लीला का प्रकटन क्रमशः करते हैं। पूर्वोद्धृत वचनानुसार द्वारकादि धाम में निज नित्यावस्थित कैशोरादि विलास सम्पादन हेतु अप्रकट प्रकाश में अवस्थित यादवादि के सहित निज प्रकाशान्तर के द्वारा नित्य विहार करते हैं।

अनन्तर श्रीवसुदेवगृह में अवतीर्ण होकर श्रीवसुदेव के समान अप्रकट प्रकाश में अवस्थित होकर व्रज के सहित जो प्रकाशित हैं, उन व्रजराज के गृह में भी आगमन किये हैं।

व्रजराज के हृदय में अनादिसिद्धा जो कृष्ण विषयिणी वात्सल्य माधुरी विद्यमान हैं, कृष्ण जन्म ग्रहण कर आनन्द प्रदान कर रहे हैं, बालक 'घुटरून चलरहा है। कृष्ण रिङ्गण लीला कर रहे हैं, पौगण्ड कृष्ण विशेषरूप से क्रीड़ा कर रहे हैं। इत्यादि विलास विशेष समूह के द्वारा उक्त वात्सल्य माधुरी को बारम्बार नवीभूत करने के निमित्त ही व्रज राज गृह में समागत होते हैं।

वहाँपर अवस्थित होकर निखिल माधुरी शिरोमणि मञ्जरी कैशोर पर्य्यन्त बाल्य केलि लक्ष्मी को उल्लसित एवं गोकुल जन गण की अन्तरिन्द्रिय वहिरिन्द्रिय को निज निरतिशय वशीभूत कर पुनर्वार

प्रकाशान्तरेणाप्रकटमपि स्थित्यैव स्वयं प्रकटीभूतस्य सव्रज—श्रीव्रजराजस्य गृहेऽपि तदीयामनादित एव सिद्धां स्ववात्सल्यमाधुरीं जातोऽयं नन्दयति, बालोऽयं रिङ्गति, पौगण्डोऽयं विक्रीड़तीत्यादिस्वविलासविशेषैः पुनः पुनर्नवीकर्त्तुं समायाति। तत्र च सकलमाधुरी-शिरोमणिमञ्जरीमाकैशोरबाल्यकेलि-लक्ष्मीमुल्लास्य गोकुलजनान्तिरामात्मवशीकृतान्त-र्बहिरिन्द्रियानापाद्य पुनरपि तेषां समधिकामपि प्रेमर्द्धिं सम्वर्द्धयन् श्रीमदानकदुन्दुभिप्रभृतीनपि नन्दयन् भूभारराजन्यसङ्घमपि संहरन् मथुरां याति। ततश्च द्वारकाख्यं स्वधामविशेषं प्रकाशयितुं समुद्रं गत्वा तत्तल्लीलामाधुरीं परिवेषयति। अथ सिद्धासु निजापेक्षितासु तत्तल्लीलासु च तत्र तत्र नित्यसिद्धमप्रकटत्वमेवोरीकृत्य तावप्रकटौ लीलाप्रकाशौ प्रकटाभ्यां लीलाप्रकाशाभ्यामेकोकृत्य तथाविध-तत्तन्निजवृन्दमप्रत्यूहमेवानन्दयतीति। अत्र च पूर्णकैशोर-व्यापिन्येव व्रजे प्रकटलीला ज्ञेया, (भा० १०।४४।८) "क्व चातिसुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाप्तयौवनौ" इति।

(भा० १०।४५।३) —"नास्मत्तो युवयोस्तात नित्योत्कण्ठितयोरपि।
बाल्यपौगण्डकैशोराः पुत्राभ्यामभवन् क्वचित् ॥"४८४ ॥ इति,

व्रजजन की परमकाष्ठाप्राप्त प्रेम सम्पत्ति को सम्बर्द्धित करके अर्थात् संयोग वियोगात्मक रीति से-वियोगान्त में आस्वादन परमाकाष्ठा को स्थापित कर, श्रीवसुदेवादि को आनन्दित करने के निमित्त एवं भूभार हरणार्थ राजन्य वर्ग को विनष्ट करने के निमित्त मथुरा प्रस्थान करते हैं। तत् पश्चात् द्वारका नामक निजधाम विशेष को प्रकट करने के निमित्त समुद्र गमन कर द्वारका की प्रसिद्ध लीला माधुरी का परिवेशन करते हैं।

अनन्तर निजापेक्षित प्रसिद्ध लीला समूह सिद्ध होने पर द्वारकादि में नित्यसिद्ध अप्रकट लीला अङ्गीकार पूर्वक उक्त अप्रकटलीला एवं अप्रकट प्रकाशगत प्रकट लीलाको प्रकट प्रकाशगत लीला के सहित एकीभूत करते हैं। एवं अप्रकट एवं प्रकट लीलागत यादव गोपादि परिकर वृन्द को निर्विघ्न से आनन्दित करते हैं।

अनन्तर व्रजस्थ प्रकट लीला का वर्णन करते हैं— उक्त लीलाक्रम से व्रज में प्रकट लीला श्रीकृष्ण की पूर्ण कैशोर व्यापिणी है। उसका वर्णन भा० १०।४४।८ में हैं—

क्व वज्रसार सर्वाङ्गौ मल्लौ शैलेन्द्र सन्निभौ।
क्वचाति सुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाप्तयौवनौ॥

टीका—बलाबलवद् युद्धतां प्रपञ्चयति पञ्चभिः क्वेति। वज्रसाराणि—वज्रवत् कठिनानि सर्वाण्यङ्गानि ययोस्तौ।

कंसरङ्गस्थलगत श्रीकृष्ण बलराम को मल्ल क्रीड़ारत देखकर रमणीगण की उक्ति इस प्रकार है।

"मल्लद्वय के सर्वावयव वज्रसार के समान कठिन है, देह पर्वत तुल्य प्रकाण्ड है, और राम कृष्ण-- अतिसुकुमाराङ्ग अप्राप्त यौवन— किशोरद्वय कहाँ हैं ? उस मल्लों के सहित इन दोनों का मल्लयुद्ध क्या योग्य है ?"

(भा० १०।४१।२७)—"मनांसि तासामरविन्दलोचनः, प्रगल्भलीलाहसितावलोकनैः ।
जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमो, दृशां ददच्छ्रीरमणात्मनोत्सवम् ।।" ४८५।।

इत्यपि हि श्रूयते । अतएव भा० ३।२।२६) "एकादश समास्तत्र गूढ़ार्च्चिः सबलोऽवसत्" इत्यनेनैकादशभिरेव समाभिस्तस्य पूर्ण कैशोरत्वं ज्ञेयम्, (भा० १०।८।२६) —

"कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोकुले ।
अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरोजसा ।।" ४८६।।

इत्यादेः । 'गूढ़ार्च्चिः' इति यथा गूढ़ार्च्चिः कुत्राप्यग्निं प्राप्तं प्राप्तमिन्धनं दहति, तथा गोपलीलाया गूढ़प्रभाव एव सन् प्राप्तं प्राप्तमसुरं दहन्नित्यर्थः । एकादशपर्य्यन्तं गूढ़ार्च्चिः, ततः परं पञ्चदशपर्य्यन्तं प्रकटार्च्चिरिति साध्याहारं व्याख्यानन्त्वघटमानञ्च । एकादशाभ्यन्तरे तत्तत्प्रभावस्य मध्ये मध्ये प्रसृतत्वात् । तदेवं स्थिते लीलाद्वयसमन्वये त्वप्रकटलीलैकान्त-भावसमन्वय श्चैवमनुसन्धेयः । प्रथमं श्रीवृन्दावने ततो द्वारका-मथुरयोरिति । सर्व्वप्रकट-लीलापर्य्यवसाने युगपदेव हि द्वारका-मथुरयोर्लीलाद्वयैक्यम् । मथुराप्रकटलीलाया एव

(भा० १०।४५।३) "नास्मत्तो युवयो स्तात नित्योत्कण्ठितयोरपि,
बाल्य पौगण्ड कैशोराः पुत्राभ्यामभवन् क्वचित् ।।"

बलदेव के सहित श्रीकृष्ण,—वसुदेवदेवकी के निकट उपस्थित होकर कहे थे,—"हम दोनों के निमित्त आप नित्य उत्कण्ठित थे, हम दोनों आपके पुत्र हैं, हमारी बाल्य पौगण्ड कैशोर अवस्था हेतु सुख प्राप्त आप नहीं हुये हैं ।

(भा० १०।४१।२७) "मनांसि तासामरविन्दलोचनः प्रगल्भ लीलाहसितावलोकनैः ।
जहारमत्तद्विरदेन्द्रविक्रमो दृशां ददच्छ्रीरमणात्मनोत्सवम् ।।"

मत्त गजेन्द्रतुल्यविक्रमशाली कमल लोचन श्रीकृष्ण, रमारमणवपु के द्वारा मथुरा नागरी वृन्द के मनोहरण पूर्वक नयनोत्सव सम्पन्न किये थे ।

अतएव भा० ३।२।२६ में उक्त है—

"एकादश समास्तत्र गूढ़ार्चिः सबलो ऽवसत् ।।

एकादश वत्सरपर्य्यन्त निगूढ़ प्रभाव श्रीकृष्ण, बलराम के सहित व्रजमें निवास किये थे । उक्त श्लोक का क्रम सन्दर्भ एकादशेति,—तावतैव पूर्ण कैशोरत्वात्तथोक्तम्, (भा० १०।८।२६) "कालेनाल्पेन राजर्षे" इत्यादि । (भा० १०।४४।८) "क्वचाति सुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाप्तयौवनौ" इत्यादि । (भा० १०।४५।३) "बाल्य पौगण्ड कैशोराः पुत्राभ्यामभवन् क्वचित् । इत्यादिभ्यः गूढ़ार्च्चिरिति । यथा गूढ़ार्च्चिः कुत्राप्यग्निः प्राप्तमिन्धनं दहति, तथा गोपलीलया गूढ़प्रभावएवसन् प्राप्तं प्राप्तं असुर वृन्दं दहन्नित्यर्थः । एकादश पर्य्यन्तं गूढ़ार्च्चिः, ततः परं पञ्चदश पर्य्यन्तं प्रकटार्च्चिरिति साध्याहारं व्याख्यानं त्वघटमानञ्च, एकादशाभ्यन्तरे तत्तत् प्रभावस्य मध्ये मध्ये प्रसृतत्वात्, तावतैव पूर्ण कैशौरत्वात्तथोक्तम् ।।

एकादशवर्ष आयु में ही श्रीकृष्ण का पूर्ण कैशोर हुआ था, अतएव "एकादशसमास्तत्र गूढ़ार्च्चिः सबलोऽवसत्" इस प्रकार कहा है । हे राजर्षे ! अल्पकाल में ही रिङ्गण लीला किये थे ।

द्वारकामनुगमनात्। अतएव रुक्मिणीप्रभृतीनां मथुरायामप्यप्रकटप्रकाशः श्रूयते। वृन्दावने त्वियं प्रक्रिया विशिष्य लिख्यते। तत्र प्रथमं श्रीवृन्दावनवासिनां तस्य प्राणकोटिनिर्म्मञ्छनीय दर्शनलेशस्य विरहः ततः श्रीमदुद्धवद्वारा सान्त्वनम्। पुनश्च पूर्व्ववदेव तेषां महाव्याकुलतायामुदित्वर्य्यां श्रीबलदेवद्वारापि तथैव समाधानम्। अथ पुनरपि परमोत्कण्ठाकोटिविस्फुटहृदयानां सूर्य्योपरागव्रज्याव्याजया तदवलोकनकाम्यया कुरुक्षेत्रगतानां तेषां घर्म्मान्ते बालचातकानामिव निजाङ्ग-नवघनसंघावलोकदानेन तादृशसंलापमन्द्रगर्जितेन च पुनर्जीवनसञ्चारणम्। अथ दिनकतिपयसहवासादिना च तान्तितक्षीणतरानन्नेन दुर्भिक्षदुःखितानिव सन्तर्प्य तैः सह निजविहारविशेषाणामेकमेव रम्यमास्पदं श्रीवृन्दावनं प्रत्येव पूर्ववत् सम्भावितया निजागमनाश्वासवचनरचनया प्रस्थानम्। सूर्य्योपरागयात्रा त्वियं दूरतः प्रस्तुतापि कंसबधान्नातिबहुसंवत्सरान्तरा शिशुपाल-शाल्व-दन्तवक्रबधात् प्रागेव ज्ञेया। श्रीबलदेवतीर्थयात्रा हि दुर्य्योधनबधैककालीना। तस्मिन् तस्यां कुरुक्षेत्रमागते खलु दुर्य्योधनवधः।

"कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्चगोकुले।
अघृष्ट जानुभिः पद्भिर्विचक्रमतु रञ्जसा॥ (भा० १०।४४।८)

में कथित है—अति सुकुमाराङ्ग किशोरद्वय अप्राप्त यौवन अवस्था के हैं, एवं मल्लगण अति दुर्द्धर्ष हैं।

भा० १०।४५।३ में लिखित है, बाल्य पौगण्ड एवं कैशोर काल पुत्रद्वय का अति वाहित हुये हैं।

मूल में 'गूढ़ार्च्चि' शब्द का प्रयोग है,—उसका अर्थ यह है—जिस प्रकार निगूढ़ अग्नि, इन्धन प्राप्त होने पर दहन करते हैं, उस प्रकार प्राप्त असुर वृन्द को विनष्ट कर श्रीकृष्ण अवस्थित हैं।

कतिपय व्यक्ति के मत में एकादश पर्य्यन्त गूढ़ार्चिच, उसके बाद—पञ्चदश पर्य्यन्त प्रकटार्च्चि हैं, इस प्रकार अध्याहार पूर्वक व्याख्या असंलग्न है, कारण—एकादश के मध्य में ही उक्त प्रभाव का विस्तार हुआ था। उस समय ही पूर्ण कैशोर था, अतएव "एकादश समास्तत्र गूढ़ार्चिच सबलोऽवसत्" कहा गया है।

भा० १०।४५।३ में बलदेव के सहित श्रीकृष्ण—वसुदेव देवकी के निकट उपस्थित होकर कहे थे। हम दोनों के निमित्त आप नित्योत्कण्ठित थे, हमारी बाल्य पौगण्ड कैशोर अवस्था हेतु आप का सुख लाभ नहीं हुआ।

भा० १०।४१।२७ में उक्त है—मत्तगजेन्द्रतुल्य विक्रमशाली कमल लोचन श्रीकृष्ण, रमा रमण वपुके द्वारा मथुरा नागरीयों के नयनोत्सव सम्पन्न कर मनोहर किये थे।

अतएव भा० ३।२।२६ के एकादश समास्तत्र गूढ़ार्चिः सबलोऽवसत्" वचनानुसार एकादश वर्ष में ही पूर्ण कैशोर हुआ था। उक्त वाक्य का अर्थ इस प्रकार हो सकता है—

"एकादश वर्ष में ही गूढ़ प्रभाव प्रकट हुआ। अथवा एकादश वर्ष में ही श्रीकृष्ण की पूर्ण कैशोरत्व प्राप्ति हुई थी। अक्रूर के वाक्य में सुस्पष्ट उल्लेख है—श्रीकृष्ण एकादश वर्ष पर्य्यन्त ही व्रज में थे।

"किशोरौ श्यामल श्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ।
सुमुखौ सुन्दरवरौ बालद्विरदविक्रमौ।"

वास्तवि की स्थिति वैसी होने से प्रकट अप्रकट लीलाद्वय समन्वय निबन्धन इस प्रकार अनुसन्धान करना विधेय है। अर्थात् अप्रकटलीलैकीभाव समय का अनुसन्धान करना कर्त्तव्य होगा।

सा च सूर्य्योपरागयात्रायाः पूर्व्वं पठिता । सूर्य्योपरागयात्रा च श्रीभीष्म-द्रोण-दुर्य्योधनाद्यागमनमयीति । तत्रायं क्रमः—प्रथमं सूर्य्योपरागयात्रा, ततः श्रीयुधिष्ठिरसभा, ततः शिशुपालबधः, ततः कुरुपाण्डव-द्यूतम्, तदैव शाल्वबधो वनपर्व्वणि प्रसिद्धः । दन्तवक्र-बधश्च ततः, ततः पाण्डवानां वनगमनम्, ततः श्रीबलदेवस्य तीर्थयात्रा, ततो दुर्य्योधनबधः इति तस्मादुपरागयात्रा कंसबधान्नातिकालविलम्बेनाभवदिति लक्ष्यते । यत्तु तस्यामेव (भा० १०।८२।१६) "आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायां कृतवर्म्मा च यूथपः" इति, तदपि श्रीप्रद्युम्नानि-रुद्धयोरल्पकालादेव यौवनप्राप्त्या सम्भवति । यथोक्तम् (भा० १०।५५।१९) "नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णी रूढ़यौवनः" इति । अथवानिरुद्धनामा कश्चित् श्रीकृष्णनन्दन एव, यो दशमान्ते-ऽष्टादशमहारथमध्ये गणितः । तथैव च व्याख्यातं तत्र तैरिति । अतः कुरुक्षेत्रयात्रायामेव श्रीमदानकदुन्दुभिना श्रीकुन्तीदेवीं प्रत्युक्तम् (भा० १०।८२।२१) –

"कंसप्रतापिताः सर्व्वे वयं याता दिशो दश ।
एतर्ह्येव पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः ॥"४८७॥ इति ।

प्रथम,—श्रीवृन्दावन में, तत् पश्चात् द्वारका मथुरा की प्रकट लीला का पर्य्यवसान होने से एकसाथ ही द्वारका मथुरा लीलाद्वय की ऐक्य प्राप्ति होती है । मथुरा की प्रकट लीला द्वारका का अनुगमन करती है । एतज्जन्य रुक्मिणी प्रभृति द्वारका परिकरों की मथुरास्थ अप्रकट प्रकाश में स्थिति वर्णित हैं ।

किन्तु वृन्दावन में उक्त लीलाद्वय की ऐक्यप्रक्रिया का वर्णन विशेष रूप से हो रहा है । प्रथम श्रीवृन्दावन वासिगण, जिनका दर्शन लेश का निर्म्मञ्छन प्राण कोटि के द्वारा करते हैं,उन सब व्रज वासियों का श्रीकृष्ण विरह, तत् पश्चात् श्रीउद्धव सान्त्वना दुर्वार पूर्व के समान महा व्याकुलता उपस्थित होने पर बलदेव के द्वारा सान्त्वना प्रदान पूर्वक समाधान हुआ है ।

अनन्तर श्रीकृष्ण प्राप्ति उत्कण्ठा द्वारा जिन सब के हृदय विस्फुटित हो रहे थे उन व्रज वासिगण सूर्य्योपराग छल से श्रीकृष्ण दर्शनाभिलाषी होकर कुरुक्षेत्र गमन करने पर– ग्रीष्मावसान में मेघ जिस प्रकार चातक को सञ्जीवित करता है, उस प्रकार व्रज वासिगण को निजाङ्ग नवमेघराशि का दर्शन दान एवं तादृश संलाप मन्द्र गर्जन द्वारा पुन र्जीवित किये थे ।

अनन्तर कियद्दिन सहवासादि के द्वारा अतिशय क्षीणतर दुर्भिक्ष प्रपीड़ित जनको तृप्त करने के समान व्रजवासिगण को तृप्त किये थे ।

तत् पश्चात् उनसब के सहित निज विविध विहार विशेष का एक मात्र रम्यस्थ न श्रीवृन्दावन के प्रति पूर्व के समान सम्भावित निज आगमन आश्वासवचन रचना पूर्वक उन सब को प्रेरण किये थे ।

यह सूर्य्योपराग यात्रा व्यवधान में वर्णित होने पर भी कंस बध के बाद कतिपय वत्सर के मध्य में ही हुई थी । अर्थात् कंस बध के पश्चात् एवं शिशुपाल दन्तवक्र बध के पूर्व में कुरुक्षेत्र यात्रा संघटित हुई थी ।

श्रीबलदेव की तीर्थयात्रा एवं दुर्योधन बध सम काल में संघटित हुआ था । श्रीबलदेव तीर्थ पर्य्यटन करते करते कुरुक्षेत्र में उपस्थित होने पर दुर्य्योधन बध हुआ ।

श्रीमद् भागवत में श्रीबलदेव की तीर्थ यात्रा का वणन सूर्य्योपराग यात्रा के पूर्व में हुआ है, अथच

अतः प्रथमदर्शनादेव द्रौपदी—श्रीकृष्णमहिषीणां परस्परविवाहप्रश्नोऽपि सङ्गच्छते। अत्र (भा० १०।४६।३४) "आगमिष्यत्यदीर्घेण" इत्यादिकमपि पद्यं सहायं भवेत्। प्रकृतमनुसरामः।

सूर्य्योपराग यात्रा में श्रीभीष्म द्रोण दुर्य्योधनादि की उपस्थिति है। यहाँपर असामञ्जस्य विद्यमान है। सुतरां क्रम इस प्रकार है- प्रथम,—सूर्य्योपराग यात्रा तत् पश्चात्—श्रीयुधिष्ठिर की सभा, उस में शिशु पाल बध, अनन्तर कुरु पाण्डव पाशा क्रीड़ा, उस में शाल्व बध, उसका वर्णन, महाभारत के वन पर्व में सुप्रसिद्ध है। अनन्तर दन्त वक्र बध, अनन्तर पाण्डवों का वन गमन, अतः पर श्री बलदेव की तीर्थ यात्रा, तत् पश्चात् दुर्य्योधन बध।

सुतरां सूर्य्योपराग यात्रा,—कंस बध के अधिक काल के पश्चात् नहीं हुई है।

भा० १०।८२।६ में वर्णित है—" गद प्रद्युम्न साम्बाद्यः सुचन्द्रशुकसारणैः।
आस्तेऽनिरुद्ध रक्षायां कृतवर्माच यूथपः॥

"गद प्रद्युम्न साम्ब एवं सुचन्द्र शुक सारण के सहित अनिरुद्ध, द्वारका पुरी की रक्षा कर रहे थे। एवं कृतवर्मा सैन्यरक्षा में नियुक्त थे। कंस बध के पश्चात् कुरुक्षेत्र यात्रा होने से श्रीकृष्ण पौत्र श्रीअनिरुद्ध की पुररक्षा के निमित्त नियुक्ति कैसे सम्भव होगी? समाधान में कहते हैं—भा० १०.५५।६ में वर्णित हैं—"नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णी रूढ़ यौवनः" अनतिदीर्घ काल में कृष्णनन्दन प्रद्युम्न यौवनारूढ़ हुये थे। अतएव पुररक्षा कर्त्तृत्व—श्रीप्रद्युम्न अनिरुद्ध का अल्पकाल में यौवन प्राप्त होने से सम्भव है,

अथवा- अनिरुद्ध नामक एक श्रीकृष्णनन्दन था, जिस का वर्णन दशमस्कन्ध के अन्तिम में अष्टादश महारथ के मध्य में है।

" तेषामुद्दाम वीर्य्याणामष्टादश महारथः।" भा० १०।९०।३२
आसन्नुदार यशसस्तेषां नामानि मे शृणु।
प्रद्युम्नानिरुद्धश्च दीप्तिमान् भानुरेवच।
साम्बो मधुर्बृहद् भानुश्चित्र भानुर्वृकोऽरुणः।
पुष्करो वेद बाहुश्च श्रुतदेवः सुन दनः।
चित्रबाहु विरूपश्च कविर्न्यग्रोध एवच।
एतेषामपि राजेन्द्र तनूजानां मधुद्विषः।
प्रद्युम्न आसीत् प्रथमः पितृवद् रुक्मिणीसुतः॥

टीका—एवमष्टोत्तरशताधिक षोड़श सहस्र महिषीणां पुत्रा लक्ष मेकमशीत्युत्तरंकषष्टि सहस्राणि च भवन्ति। अनिरुद्ध श्चेति। अतः पुत्राणां मध्ये सप्त दशैव महारथा ज्ञेयाः। अथवा, अनिरुद्ध नामापि कश्चित् पुत्र एवेति श्रीधर स्वामिपाद ने भी अनिरुद्ध को पुत्र रूप से ही कहा है।

कुरुक्षेत्र यात्रा कंस बध के अनति काल में हुई थी, तज्जन्य ही कुरुक्षेत्र यात्रा में श्रीवसुदेव कुन्ती को कहे थे, "हे भगिनि! हम सब कंस कर्त्तृक प्रतापित होकर विभिन्न दिक् में चले गये थे, दैव क्रम से सम्प्रति यहाँपर मिलित हुये हैं" अतएव प्रथम दर्शन हेतु द्रौपदी एवं श्रीकृष्ण महिषी वृन्द के सहित पारस्परिक विवाह प्रश्न भी सङ्गत होता है।

कारण—राजसूय यज्ञोपलक्ष्य में श्रीकृष्ण महिषीगण के सहित इन्द्रप्रस्थ गये थे। उस समय द्रौपदी के सहित महिषीवृन्द की मिलन वर्णना भा० १०।७१ अध्याय में है—

"श्वश्र्वा सञ्चोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीश्च सर्वशः।
आनर्च्च रुक्मिणी सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा।

अथ वृन्दावनं प्रस्थापितानामपि तेषां पुनरपि निजादर्शनेन महासन्तापवृद्धिमतीवोत्कण्ठाभिः श्रीगोविन्दः सस्मार। यामेव साक्षाद्दृष्टवान् परमोत्कण्ठः श्रीमदुद्धवः। तामवसरं लब्ध्वा प्रस्तावान्तरे गायन्ति (भा० १०।७१।९) —

'गायन्ति ते विशदकर्म्म गृहेषु देव्यो, राज्ञां स्वशत्रुबधमात्मविमोक्षणञ्च।
गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायां, पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयञ्च॥" १८८

इति व्यञ्जयामास। ततश्च राजसूयसमाप्तचनन्तरं शाल्व-दन्तवक्रबधान्ते झटिति स्वयं गोकुलमेवाजगाम। तथा च पाद्मोत्तरखण्डे गद्य-पद्यानि—"अथ शिशुपालं निहतं श्रुत्वा

कालिन्दी मित्रवृन्दाञ्च शैव्यां नाग्नजितीं तथा॥

स्वश्रू कुन्ती कर्त्तृक प्रेरित होकर द्रौपदीने श्रीकृष्ण की पत्नी वर्ग—रुक्मिणी, सत्य भामा, भद्रा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रवृन्दा, शैव्या, नाग्नजिती" की अर्च्चना की" यह वृत्तान्त कुरुक्षेत्र यात्रा प्रस्ताव रूप अध्याय के पूर्व अध्याय में वर्णित है। यदि कुरुक्षेत्र यात्रा कंस बध के बाद नहीं होती तो, एवं राजसूय यज्ञ को पूर्ववर्त्ती नहीं होती तो—यज्ञोपलक्ष्य में अनेक दिन एक अवस्थान के पश्चात् कुरुक्षेत्र में पुनर्मिलन होने पर—विवाह प्रश्न सङ्गत नहीं होता।

यहाँपर (भा० १०।४६।३४) "आगमिष्यत्यदीर्घकालेन व्रजमच्युतः।
प्रियं विधास्यते पित्रो र्भगवान् सात्वतां पतिः॥"

श्रीउद्धव व्रजराज को कहे थे—"भगवान् श्रीकृष्ण अदीर्घ काल के पश्चात् व्रजागमन करेंगे। सात्वतां पति भगवान्—माता पिता प्रभृति आप सब का प्रिय विधान करेंगे" यह श्लोक भी सहायक होगा। प्रसङ्ग क्रम से आगत प्रकरण की आलोचना करने के पश्चात् लीलाद्वय का समन्वयात्मक प्रस्तुत विषय का अनुसरण करते हैं,—

अनन्तर—कुरुक्षेत्र से सान्त्वना प्रदान पूर्वक वृन्दावन में प्रेरण करने के पश्चात् भी श्रीकृष्ण का अदर्शनहेतु व्रजवासिगण की महासन्तापवृद्धि हुई थी। श्रीकृष्ण,—अत्यन्तोत्कण्ठा के सहित ही उसका स्मरण किये थे।

श्रीउद्धव—व्रजदेवी गण की विरह सन्ताप वृद्धि का दर्शन किये थे। किन्तु श्रीराधा के निषेध से दृष्ट अवस्था का वर्णन करने में साहसी नहीं हुये। कारण—उक्त वृत्तान्त श्रवण से श्रीकृष्ण—अत्यन्त सन्तप्त हो जायेंगे, अथच निवेदन न करके रहना भी श्रीउद्धव के पक्ष असम्भव था, अतएव अवसर में निवेदन करने के निमित्त श्रीमान् उद्धव परमोत् कण्ठितथे। परमोत्कण्ठ श्रीमदुद्धव—व्रजवासिगण की सन्तापवृद्धि को देखकर श्रीकृष्ण के समीप में उसका वर्णन भी किये थे, श्रीकृष्ण, उसका स्मरण किये थे।

राजसूय यज्ञ में गमन प्रस्ताव रूप अवसर प्राप्त कर प्रस्तावान्तर में अर्थात् जरासन्ध'बध मन्त्रणा के समय—श्रीउद्धव—वक्ष्यमाण श्लोक के द्वारा सन्ताप वृद्धि को व्यञ्जित किये थे। भा० १०।७१।९

में वर्णित है—"गायन्ती ते विशद कर्म गृहेषु देव्यो,
राज्ञां स्वशत्रुबधमात्मविमोक्षणञ्च।
गोप्यश्च कुञ्जरपते र्जनकात्मजायाः
पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयञ्च॥"

"जरासन्ध कर्त्तृक,—अवरुद्ध राजन्यवृन्द की महिषीवृन्द निज गृह में निज शत्रु जरासन्ध का

दन्तवक्रः कृष्णेन योद्धुं मथुरामाजगाम । कृष्णस्तु तच्छ्रुत्वा रथमारुह्य तेन योद्धुं मथुरामाययौ । तयोर्दन्तवक्रवासुदेवयोरहोरात्रं मथुराद्वारे संग्रामः समवर्त्तत । कृष्णस्तु गदया तं जघान । स तु चूर्णितसर्व्वाङ्गो वज्रनिर्भिन्नो महीधर इव गतासुरवनीतले पपात । सोऽपि हरेः सारूप्येण योगिगम्यं नित्यानन्दसुखदं शाश्वतं परमं पदमवाप । इत्थं जय-विजयौ सनकादिशापव्याजेन केवलं भगवतो लीलार्थं संसृताववतीर्य्य जन्मत्रयेऽपि तेनैव निहतौ जन्मत्रयावसाने मुक्तिमवाप्तौ । कृष्णोऽपि तं हत्वा यमुनामुत्तीर्य्य नन्दव्रजं गत्वा सोत्कण्ठौ पितरावभिवाद्याश्वास्य ताभ्यां साश्रुकण्ठमालिङ्गितः सकलगोपवृद्धान् प्रणम्याश्वास्य बहु-वस्त्राभरणादिभिस्तत्रस्थान् सर्व्वान् सन्तर्पयामास ।

कालिन्द्याः पुलिने रम्ये पुण्यवृक्षसमाचिते । गोपनारीभिरनिशं क्रीड़यामास केशवः ॥४८९॥
रम्यकेलिसुखेनैव गोपवेशधरः प्रभुः । बहुप्रेमरसेनात्र मासद्वयमुवास ह ॥' ४९०॥ इति ।

अत्रेदं ज्ञेयम्,—दन्तवक्रस्य मथुरायामागमनं राजसूयानन्तरमिन्द्रप्रस्थे श्रीकृष्णावस्थानं ज्ञात्वा जरासन्ध--बधार्थं श्रीमदुद्धवयुक्तिच्छायामवलम्ब्य गदाकुशलम्मन्यत्वेनैकाकिनं द्वन्द्व-युद्धाय तमाह्वयितुं तदर्थमेव तद्राष्ट्रं तदुपद्रावयितुञ्च । पुनश्च द्वारकागतं तं श्रुत्वा

निधन एवं निज पति को मुक्ति प्रदान रूप तुम्हारे विशद कर्म का गान करती रहती हैं । गोपीगण भी गान करती हैं । शरणापन्न मुनिगण, हम सब भक्त वृन्द गजराज का, सीता का, एवं वसुदेव देवकी का शत्रु बध एवं मुक्ति प्रदान रूप तुम्हारा विशद कर्म का गान करते हैं ।

राजमहिषीवृन्द, सन्ताप लालन पालन समय में "वत्स ! रोदन न करो, श्रीकृष्ण सत्वर जरासन्ध के द्वारा तुम्हारे पिता को उद्धार करेंगे' इस प्रकार विशद कर्म का गान करती हैं ।

अर्थात् गोपीगण—महा सन्तप्तचित्त से तुम्हारे द्वारा सम्पादित शङ्खचूड़ बध एवं निज मुक्ति रूप विशद कर्म का गान जिस प्रकार करती हैं, राज महिषी वृन्द भी उस प्रकार व्याकुल चित्त से तुम्हारे विशद कर्म का गान करती हैं । तुम निष्ठुर हो, गोपीगण अति सन्तप्त हृदय से तुम्हारे कर्म समूह का गान करती रहती हैं, तुम उसका स्मरण क्यों नहीं करते हो ! इस प्रकार तिरस्कारार्थ वाक्य प्रयोग हुआ है ।

श्रीव्रज से प्रत्यावर्त्तन करने के पश्चात् ही अवसर प्राप्त होने से ही श्रीउद्धव, व्रजवासियों का दुःख स्मरण कराते थे । उक्त श्लोक में प्रसङ्ग क्रम से गजेन्द्र मुक्ति, एवं उसका शत्रु—ग्राह का निधन, सीता की मुक्ति, शत्रु रावण का निधन, माता पिता की मुक्ति, शत्रु कंस का निधन,—वर्णित है ।

श्रीकृष्ण का पुनर्वार व्रजागमन ।

श्रीउद्धव के परामर्श क्रम से राजसूय यज्ञ में गमन करने के पश्चात् राजसूय यज्ञ समापन के अनन्तर शाल्व दन्तवक्र के पश्चात् सत्वर स्वयं गोकुल गमन किये थे । पाद्मोत्तरखण्ड में उक्त तात्पर्य्य प्रकाशक गद्य पद्य का उल्लेख है ।

"अनन्तर शिशु पाल निहत हुआ है, सुनकर दन्त वक्र श्रीकृष्ण के सहित युक्त करने के निमित्त मथुरा चले आये थे । संवाद प्राप्तकर श्रीकृष्ण भी रथारोहण पूर्वक मथुरा आगये । मथुरा द्वार में दन्तवक्र के सहित अहोरात्रगदायुद्ध वासुदेव का हुआ । श्रीकृष्णने उसे गदाप्रहार से बध किया । गदाप्रहार से दन्तवक्र शरीर चूर्ण विचूर्ण हो गया था, वज्राहत पर्वत के समान वह भूतल में निपतित हुआ था । दन्तवकने भी

प्रस्थितस्य मथुराद्वारगतेन तेन सङ्गमः। यत् स्थानमद्यापि द्वारकादिग्गतं दतिहेति नाम प्रसिद्धं वर्त्तते। सर्व्वमेतच्च श्रीनारदस्य श्रीभगवद्रथस्य च मनोजवत्वात् सम्भवति। अतः श्रीभागवतेनापि विरोधो नास्तीत्यलं कल्पभेद-कल्पनया। अतएव झटिति तस्य शाल्वबध-श्रवणमपि तत्रोक्तं सम्पद्यते। तथा श्रीकृष्णस्य गोकुलागमनश्च श्रीभागवतसम्मतमेव (भा १०।३९।३५)

"तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः।
सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः॥" ४९१॥ इति,

(भा० १०।४५।२३)—"यात यूयं व्रजं तात वयञ्च स्नेहदुःखितान्।
ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्॥" ४९२॥ इति।

हरिका सारूप्य लाभकर योगि जनागम्य नित्यानन्द सुखद शाश्वत परम पद को प्राप्त किया।

इस प्रकार जय विजय, सनकादि का शापच्छल से केवल भगवान् की लीला निमित्त भूतल में अवतीर्ण होकर तीन जन्म में ही तत् कर्त्तृक निहत हुये थे। जन्मत्रय अतीत होने से जय विजय मुक्ति प्राप्त किये थे।

कृष्ण दन्त वक्र निहत होने के पश्चात् यमुना पार होकर नन्द व्रज में प्रविष्ट हुये थे। वहाँ उत्कण्ठित चित्त माता पिता को प्रणाम एवं आश्वास प्रदान किये थे। माता पिताने, अश्रुप्लावित कण्ठ से श्रीकृष्ण को आलिङ्गन किया, श्रीकृष्ण, गोप समूह को यथायोग्य प्रणाम कर आश्वास प्रदान पूर्वक बहुवस्त्राभरणादि के दारा व्रजवासिवर्ग को सुतृप्त किये थे।

पुण्यवृक्ष समन्वित रमणीय कालिन्दी पुलिन में गोपनारीगण के सहित श्रीकृष्ण दिवानिशि क्रीड़ा किये थे। गोप वेशधर प्रभु,—रम्य केलि सुख से प्रेमरस से वृन्दावन में मासद्वय अवस्थान किये थे।

मासद्वय अवस्थान प्रसङ्ग से यह अर्थ नहीं होता है कि—पुनर्वार व्रजवासियों के सहित श्रीकृष्ण का विरह हुआ था। कारण मास द्वय के वाद व्रजलीला का अप्रकट हुआ। सुतरां पुनर्वार विच्छेद की सम्भावना ही नहीं रही।

"गोपवेश धरः प्रभुः" वर्णन है, इस से इस प्रकार अर्थ नहीं होगा, कि—राजवेश ही कृष्ण का नित्य वेश है, एवं गोप वेश आगन्तुक है, राजवेश में युद्ध एवं राजसूय यज्ञ में अंश ग्रहण, द्वारका लीलादि होते हैं। गोप वेश—वृन्दावनीय वेश है, श्रीवृन्दावन का अचिन्त्य प्रभाव से श्रीकृष्ण गोप वेश विभूषित हुये थे। कारण—श्रीकृष्ण के वसन भूषण प्रभृति स्वरूपातिरिक्त नहीं हैं। वृन्दावन में श्रीकृष्ण का गोपाभिमान है, एवं पुरीद्वय में क्षत्रियाभिमान है। स्वरूप में जिस समय जो अभिमान होता है, उस समय आप अभिमानानुरूप वेश से सुसज्जित होते हैं।

यहाँपर ज्ञातव्य यह है कि—श्रीकृष्ण को द्वन्द्व युद्ध में आह्वान करने के निमित्त ही दन्तवक्र का मथुरा गमन है। जिस समय श्रीकृष्ण राजसूययज्ञ सम्पादन पूर्वक इन्द्रप्रस्थ में अवस्थान कर रहे थे। उस समय दन्तवक्रने समझा था, श्रीकृष्ण, गदायुद्ध में अपटु हैं, कारण—जरासन्ध वध के समय श्रीउद्धवने कहा था भीमसेन के द्वारा गदायुद्ध से जरासन्ध बध करना समुचित होगा। इस से प्रतीत होता है कि—श्रीकृष्ण, गदायुद्ध में अनिपुण हैं।

इस समय उपद्रव सुरु करने पर श्रीकृष्ण युद्ध करने के निमित्त निश्चय ही आयेंगे, मैं गदायुद्ध में

(भा० १०।४६।३५,३४)—"हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्व्वसात्वताम् ।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ।।" ४६३।।
आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः ।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः ।।" ४६४।।

इति च तस्य श्रीमुखेन भक्तजनमुखेन च बहुशः सङ्कल्पानामन्यथानुपपत्तेः, (मैत्रा० १।१) "सत्यसङ्कल्पः" इति श्रुतिः, (भा० १०।३३।३१) "ईश्वराणां वचः सत्यम्" इति स्वयं श्रीभागवतञ्च । न केवलमेतावदेव कारणम्, तस्य व्रजागमनमपि स्फुटमेवाहुः (भा० १।११।९)

(१७४) "यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्, कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया" इति । अत्र मधून् मथुरां वेति व्याख्याय तदानीं तन्मण्डले सुहृदो व्रजस्था एव प्रकटा इति

निपुण हूँ, अनायास उसे जीत लूँगा। सम्प्रति अवसर है, श्रीकृष्ण एकाकी है, यदुवीर गण कुशस्थली चले गये हैं। यह मानकर मथुरा में उपद्रव करना प्रारम्भ किया था।

श्रीकृष्ण—अनिष्ट दर्शन कर द्वारका प्रस्थान कर शाल्व एवं सौभ को संहार किये थे। देवर्षिके मुख से दन्त वक्रने सुना कि—श्रीकृष्ण द्वारका गये हैं। दन्त वक्र भी युद्ध करने के निमित्त मथुरा से द्वारका चला गया। देवर्षि नारद ने श्रीकृष्ण को कहा कि—दन्त वक्र मथुरा में उपद्रव कर रहा है। श्रीकृष्ण, रथारोहण पूर्वक मथुरा गमन करने पर मथुरा द्वार में दन्तवक्र के सहित मिलन हुआ। वह स्थान अद्यापि 'दतिहा' नाम से प्रसिद्ध है। वह द्वारका दिक् में अवस्थित है।

यहाँ संशय हो सकता है कि—श्रीनारद का द्वारका से मथुरा, एवं मथुरा से द्वारका जाना कैसे सम्भव है, जिस से श्रीकृष्ण का मथुरा आगमन एवं दन्तवक्रका मथुरा से द्वारका गमनारम्भ सम्भव हुआ? श्रीनारद एवं भगवद्रथका मनोमयत्व हेतु सब सम्भव हैं, अर्थात् सङ्कल्प मात्रसे ही यह सब सम्पन्न होते हैं। इस प्रकार दन्तवक्र बध के सम्बन्ध में श्रीमद् भागवत के सहित पाद्मोत्तर खण्डका विरोध नहीं है। सुतरां कल्पभेदीय वर्णना मानकर समाधान करना निरर्थक है, एक कल्प लीला में ही सु समाधान होता है। कारण,—श्रीमद् भागवत वर्णित शाल्ववध वृत्तान्त मनोमय गतिशाली श्रीनारद के मुख से तत् क्षणात् दन्त वक्र सुना था, यह प्रतिपन्न होता है, दन्तवक्र बध सम्बन्ध में पाद्मोत्तर खण्ड के सहित श्रीमद् भागवत का जिस प्रकार मतद्वैध नहीं है, उस प्रकार श्रीकृष्ण का व्रजगमन प्रसङ्ग भी श्रीमद् भागवत सम्मत है। उस का प्रमाण—भा० १०।३९।३५ में है—

"तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्रस्थाने यदूत्तमः ।
सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः ।।"

यदूत्तम श्रीकृष्ण—निज मथुरा प्रस्थान से व्रजसुन्दरीगण को सन्तापित देखकर 'मैं आऊँगा" सप्रेम दौत्य के द्वारा बारम्बार इस प्रकार संवाद प्रेरण पूर्वक सान्त्वना प्रदान किये थे।

भा० १०।४५।२३ में उक्त है—

"यात यूयं व्रजं तात वयञ्च स्नेहदुःखितान् ।
ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ।।"

श्रीकृष्ण, व्रजराज को कहे थे,—"हे तात्! आप सब सम्प्रति व्रज गमन करें। हम सुहृद गण को सुखी करके स्नेह दुःखित ज्ञाति स्वरूप आप सब को देखने के निमित्त आयेगे। भा० १०।४६।३५-३४—

तैरप्यभिमतम् । (भा० १०।५०।५१) "तत्र योगप्रभावेन नीत्वा सर्व्वजनं हरिः" इत्यत्र सर्व्व-शब्दात् (भा० १०।६५।१)—

"बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः ।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ।।"४६५।।

इत्यत्र प्रसिद्धत्वात् ।। द्वारकावासिनः श्रीभगवन्तम् ।।

१७५। तदेतदागमनं दन्तवक्रबधानन्तरमेव श्रीभागवत-सम्मतम्, यतः (भा० १०।४५।२३) "ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्" इति कंसबधान्ते(भा० १०।८२।४१)—

में श्रीउद्धव ने श्रीव्रजराज को कहा, "श्रीकृष्ण, रङ्गस्थल में समस्त सात्वतगण का शत्रु कंस को मारकर आप के निकट उपस्थित होकर जो कहे थे, उस को सत्य करेंगे ।" "भगवान् श्रीकृष्ण,—अ दीर्घ काल के पश्चात् व्रजागमन करेंगे। एवं सात्वत पति श्रीकृष्ण आप सब को सुखी करेंगे ।"

इस प्रकार श्रीकृष्ण के निज मुख से एवं भक्त मुख से बहुशः पुनर्वार व्रजागमन सङ्कल्प को व्यक्त किये थे,उसका अन्यथा नहीं हो सकता । कारण,—श्रुति-कहती है-ईश्वर सत्य सङ्कल्प हैं । भा० १०।३३।३१ में भी उक्त है—"ईश्वराणां वचः सत्यम्" ईश्वर गण के वाक्य सत्य होते हैं ।

केवल युक्ति प्रतिभा के द्वारा श्रीकृष्ण का व्रजागमन स्थापन नहीं हो रहा है, अपितु—व्रजागमन वृत्तान्त सुस्पष्ट रूप से भा० १।११।९ में उक्त है—

"यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्, कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया" ।।

द्वारकावासिगण श्रीकृष्ण को कहे थे,—"हे कमल नयन ! जब आप सुहृद् दर्शन करने के निमित्त 'कुरु—एवं मधु' गमन करते हैं ।" उक्त श्लोकस्थ मधून् शब्द से मथुरा अर्थ करने पर तदानीं मथुरा मण्डल में सुहृद् व्रजवासिगण ही प्रकट रूप में विद्यमान थे । श्रीधर स्वामिपाद का यह अभिमत है । कारण,—भा० १०।५०।५७ में वर्णित है—

"तत्र योग प्रभावेण नीत्वा सर्वजनं हरिः" यहाँ सर्व सब्द का प्रयोग है, मथुरा निवासी सब को श्रीहरि योग प्रभाव से द्वारका ले गये थे" इस से बोध होता है,—उस समय मथुरा वासी कोई नहीं थे । व्रजवासिगण—मथुरा मण्डल में निवास कर रहे थे ।

भा० १०।६५।१ में द्वारकावासिगण की उक्ति से प्रमाणित है कि श्रीकृष्ण पुनर्वार व्रज में आये थे ।

"बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः ।
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ।।"

'हे कुरुश्रेष्ठ ! भगवान् बलभद्र—उत्कण्ठित होकर सुहृत् गण को देखने के निमित्त नन्द गोकुल को रथ से गये थे ।" यहाँ पर पुनर्व्रजागमन वृत्तान्त सु प्रसिद्ध है ।

द्वारका वासिगण श्रीभगवान् को कहे थे । (१७४)

द्वारका वासिगण के वचनानुसार दन्तवक्र बध के अनन्तर श्रीकृष्ण का पुनर्वार व्रजागमन हुआ था, यह श्रीमद् भागवत सम्मत है । भा० १०।४५।२३ में उक्त है—"ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्" कारण,—कंस बध के बाद श्रीकृष्ण ने कहा "सुहृद् गण को सुखी करने के निमित्त आप सब ज्ञाति वर्ग को देखने के निमित्त आऊँगा ।"

कुरुक्षेत्र यात्रा में कहे थे—(भा० १०।८२।४१)

"अपि स्मरथ नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया ।
गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्ष-क्षपणचेतसः ॥"४९६॥

इति कुरुक्षेत्रयात्रायाञ्च श्रीभगवद्वाक्येन तदनागमने दन्तवक्रबधान्तं तच्छत्रुपक्षक्षपण-लक्षणं सुखदानमेवापेक्षितमासीत् । तदेवं मासद्वयं प्रकटं क्रीड़ित्वा श्रीकृष्णोऽपि तानात्म-विरहार्त्तिभयपीड़ितानवधाय पुनरेवं माभूदिति भूभारहरणादिप्रयोजनरूपेण निज प्रयजन-सङ्गमान्तरायेण सम्बलितप्रायां प्रकटलीलां तल्लीलावहिरङ्गणापरेण जनेन दुर्व्वेद्यतया तदन्तराय सम्भावनालेशरहितया तया निजसन्तताप्रकटलीलयैकीकृत्य पूर्व्वोक्ताप्रकटलीलावकाशरूपं श्रीवृन्दावनस्यैव प्रकाशविशेषं तेभ्यः (भा० १०।२८।१८) "कृष्णञ्च तत्र छन्दोभिः स्तूयमानम्" इत्याद्युक्तदिशा स्वेन नाथेन सनाथं श्रीगोलोकाख्यं पदमाविर्भावयामास, एकेन प्रकाशेन द्वारवतीञ्च जगामेति । तथा पाद्मोत्तरखण्ड एव तदनन्तरं गद्यम्— "अथ तत्रस्था नन्दादयः

"हे सखी गण ! यादवों को सुखी करने के निमित्त शत्रु विनाश कार्य्य में आसक्त होना पड़ा, उस से आज कल कर व्रजागमन में विलम्ब हो गया । उस से अप्रसन्नता कर कार्य्य हुआ है, अपराधी जनका क्या स्मरण योग्य न होने पर भी निज गुण से स्मरण करते रहते हो ?" भा० १०।८२।४१ में श्रीभगवद् वाक्यानुसार बोध होता है कि— कुरुक्षेत्र यात्रा के समय पर्य्यन्त पुनर्व्रजागमन नहीं हुआ था । उस समय भी दन्तवक्र बध पर्य्यन्त शत्रु पक्ष विनाश रूप बन्धु वर्ग को सुख प्रदान करना अपेक्षित था । दन्तवक्र बध के पश्चात् वह अवसर आया, अन्तराय समूह विदूरित होने पर व्रजागमन हुआ था । कारण श्रीकृष्ण अक्रूर एवं कुब्जा के घर में जायेंगे" कहे थे । कंस को बध करने के पश्चात् उक्त प्रतिज्ञा पालन करना सम्भव होने पर क्या व्रजागमन प्रतिज्ञा पालन में आप असमर्थ होंगे ? ।

अप्रकट प्रकाश में प्रवेश—व्रजागमन पूर्वक मासद्वय प्रकट विहार करने पर भी व्रजवासिगण को विरहार्त्ति भय से प्रपीड़ित देखकर पुनर्वार विच्छेद की सम्भावना नहीं, तज्जन्य उन सब के निकट श्रीगोकुलाख्य निजपद श्रीवृन्दावन का अप्रकट प्रकाश का आविर्भाव किये थे । कारण प्रकट लीला प्रायशः निजप्रियजन के सहित मिलन का अन्तरायस्वरूप है, प्रकट लीला में भूभार हरणादि प्रयोजन रहता है, अप्रकट लीला, किन्तु वहिरङ्ग जनगण के पक्ष में अज्ञेय है, अतः अप्रकट लीला में उक्त अन्तराय की सम्भावना है ही नहीं । एतज्जन्य ही निज प्रकट लीला को निज नित्य अप्रकट लीला के सहित एकीभूत किये थे । एवं पूर्वोक्त अप्रकट लीला का अवकाश (स्थितिस्थान) रूप श्रीवृन्दावन का प्रकाश विशेष का आविष्कार किये थे । अर्थात् भा० १०।२८।१८के वर्णनानुसार स्वरूप वैभव विमण्डित गोकुल नामक स्थान जो श्रीकृष्ण का निजस्थान है, श्रीगोकुल वासि गण के निकट प्रकाश किये थे ।

अनन्तर श्रीकृष्ण, स्वयं व्रजवासि वृन्द के सहित श्रीवृन्दावन में निवास करने लगे थे, अपर एक प्रकाश से द्वारका गमन किये थे ।

पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में पूर्वोक्त व्रजागमन प्रसङ्ग के पश्चात् तद्रूप वर्णन है । वह गद्य यह है,-

अनन्तर उक्त स्थानस्थित नन्दादि सर्वजन पुत्र दार सहित, एवं पशु पक्षी मृग प्रभृति, वासुदेव प्रसाद से दिव्य रूप धारण कर विमानारोहण पूर्वक परम वैकुण्ठ लोक प्राप्त किये थे । नन्दादि व्रजवासि समूह को विरह व्याधि रहित निज स्थान प्रदान पूर्वक स्वर्ग में देवगण कर्त्तृक स्तूयमान श्रीकृष्ण द्वारका में प्रविष्ट हुये थे ।

सर्व्वे जनाः पुत्रदारसहिताः पशुपक्षिमृगादयश्च वासुदेव-प्रसादेन दिव्यरूपधरा विमानारूढ़ाः परमं वैकुण्ठलोकमवापुरिति । कृष्णस्तु नन्दगोपव्रजौकसां सर्व्वेषां परमं निरामयं स्वपदं दत्त्वा दिवि देवगणैः संस्तूयमानो द्वारवतीं विवेश" इति च । इत्थं माथुरहरिवंशेऽपि प्रसिद्धिरस्तीति श्रूयते । अत्र 'नन्दादयः पुत्रदारसहिताः' इत्यनेन पुत्राः श्रीकृष्णादयः, दाराः श्रीयशोदादय इति लब्धे पुत्रादिरूपैरेव श्रीकृष्णादिभिः सह तत्प्राप्तेः कथनात् प्रकाशान्तरेण तत्र तेषां स्थितिश्च तैरपि नावगतेति लभ्यते । 'वासुदेवप्रसादेन' इति वसुदेवादागतस्य तस्याकस्मादागमनरूपेण परमप्रसादेन दिव्यरूपधरा तदानन्दोत्फुल्लतया पूर्व्वतोऽप्याश्चर्य्य-रूपाविर्भावं गता इत्यर्थः । 'विमानमारूढ़ाः' इति गोलोकस्य सर्व्वोपरिस्थितिदृष्ट्यपेक्षया, वस्तुतस्त्वयमभिसन्धिः । 'कृष्णोऽपि तं हत्वा यमुनामुत्तीर्य्य' इति गद्यानुसारेण यमुनाया

इस प्रकार माथुर हरिवंश में भी प्रसिद्ध है, यहाँपर 'नन्दादि पुत्रदार सहित:" पद का प्रयोग है । यहाँ पुत्र शब्द से श्रीकृष्ण प्रभृति को जानना होगा । अर्थात् नन्दादि शब्द से तत् भ्रातृ वर्ग एवं तत्तुल्य गोपवर्ग हैं, श्रीकृष्ण प्रभृति शब्द से श्रीकृष्ण, एवं तदीय पितृव्य पुत्र, तथा अन्यान्य गोप कुमार को जानना होगा । दारा—श्रीयशोदा प्रभृति । ऐसा होने पर पुत्रादि रूप श्रीकृष्ण के सहित परम वैकुण्ठ लोक—श्रीवृन्दावन का अप्रकट प्रकाश—प्राप्ति कथन हेतु, उसके पहले भी प्रकाशान्तर में उन सब की वहाँपर स्थिति, श्रीनन्दादि अवगत नहीं थे । इस प्रकार बोध होता है । वासुदेव प्रसादेन—श्रीकृष्ण का अकस्मात् आगमनरूप परम प्रसाद से, दिव्य रूप धारण—श्रीकृष्ण सङ्गलाभ से आनन्दोत्फुल्लता हेतु—पूर्व से भी आश्चर्य्य रूप से आविर्भाव की प्राप्ति हुई । "विमानारूढ़ाः" रथ में आरोहणकर गोलोक की सर्वोपरि स्थिति की अपेक्षा से ही कहा गया है । अर्थात् गोलोक सर्वोपरि विराजमान है, वहाँ गमन हेतु रथारोहण की आवश्यकता है, तज्जन्य रथारोहण की कथा वर्णित है ।

वस्तुतः पाद्मोत्तर खण्ड के स्थल विशेष की अभिसन्धि इस प्रकार है,—"कृष्ण भी दन्तवक्र को बध कर यमुना पार होकर' इत्यादि गद्य के अनुसार यमुना के उत्तरतीर में ही व्रज—गोष्ठ गोपावास रूप व्रज की स्थिति सुस्पष्ट है ।

व्रजवासिगण—कृष्ण शून्य वृन्दावन दर्शन में अक्षम होकर वृन्दावन परित्याग पूर्वक यमुना के उत्तर तीर में निवास किये थे । तज्जन्य व्रज की स्थिति वहाँपर कही गई है । यह विवरण कुरुक्षेत्र यात्रा के पश्चात्वर्त्ती है । विमान शिरोमणि--निज रथके द्वारा दक्षिण तीर में गमन पूर्वक—श्रीवृन्दावन मे ही इतः प्राक् प्रदर्शित गोलोक रूप श्रीवृन्दावन के प्रकाश विशेष में ले जाने को ही वैकुण्ठ प्राप्ति कहते हैं । "अवकेचेन्मधुविन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्" इस नियम से उस प्रकार अर्थ समीचीन है, समीपार्थ वाची अव्यय अवक शब्द है । अर्थात् वृन्दावन स्थित वृन्दावन का अप्रकट प्रकाश में जाना ही यदि परम वैकुण्ठ-गोलोक प्राप्ति सिद्ध है, तब सर्वोर्द्ध स्थान में जाकर गोलोक प्राप्ति के निमित्त अभ्यास करने की आवश्यकता क्या है । भा० १०।२८।१४ में "नवेद स्वांगतिं भ्रमन् " इस प्रकार कहने के समय यह लोक ही व्रजवासि गण की एकमात्र गति है" इसकी चिन्ता श्रीकृष्ण ने की । अर्थात् प्रकट लीला का अवसान होने पर श्रीवृन्दावन का अप्रकट प्रकाश में व्रजपरिकरके सहित विहार करेंगे, इसको सुव्यक्त किये थे श्रीमद्भागवत के १०।२८।१४ में । गोलोक प्रदर्शन लीलाके समय ही श्रीकृष्ण का सङ्कल्प था । सुतरां वृन्दावन में निगूढ़ प्रवेश ही समीचीन है । यहाँपर वृन्दावन में नित्य लीला विषयक वाक्य समूह प्रमाण हैं । इस प्रकार

उत्तरपार एव व्रजावासस्तदानीमित्यवगम्यते, स च तेषां वृन्दावनदर्शनाक्षमतयैव, तत्-परित्यागेन तत्र गतत्वात् । ततश्च विमानशिरोमणिना स्वेनैव रथेन पुनस्तस्या दक्षिणपार-प्रापणपूर्व्वकं श्रीमद्‌गोपेभ्यः श्रीवृन्दावन एव पूर्व्वं गोलोकतया दर्शिते तत्प्रकाशविशेष एव निगूढ़ निवेशनं वैकुण्ठावाप्तिरिति, "अवके चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्व्वतं" व्रजेत्" इति न्यायात्, समीपार्थेऽव्ययमवके-शब्दः । (भा० १०।२८।१४) "न वेद स्वां गतिं भ्रमन्" इति वदता श्रीभगवता तेषां गतित्वेनापि विभावितोऽसौ । तस्माद्‌वृन्दावने निगूढ़प्रवेश एव समञ्जसः । अत्र वृन्दावननित्यलीलावाक्यवृन्दञ्चादिवमप्यस्ति प्रमाणम् । एवमेव श्रीगर्गवाक्यं कृतार्थं स्यात्, (भा० १०।८।१६)—

"एष वः श्रेय आधास्यद्‌गोपगोकुलनन्दनः ।
अनेन सर्व्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ।।" ४६७।। इति ।

अथ गद्यान्ते 'द्वारवतीं विवेश' इति च शाल्ववधार्थं निर्गतैः श्रीभगवत्प्रत्यागमनं प्रतीक्ष्यमाणै र्यादवैः सहैवेति श्रीभागवतवदेव लभ्यते, तं विना स्वयं गृहप्रवेशानौचित्यात्, (भा० १०।१४।४३) 'क्षणार्द्धं मेनिरेऽर्भकाः' इत्यादिवदल्पकालभावनाच्च । तदेवं पुनः श्रीगोकुलागमनाभिप्रायेणैव श्रीवृन्दावननाथोपासनामन्त्रे निहत-कंसत्वेन तद्विशेषणं दत्तम् ।

(भा० १०।८।१६) एष वः श्रेय आधास्यद् गोप गोकुलनन्दनः ।
अनेन सर्व दुर्गाणि यूय मञ्जतरिष्यथ ।।"

वैष्णव तोषणी—गोपान् गोकुल शब्देन तत्रत्यांश्च सर्वानेव नन्दयति हर्षयतीति तथा स इति तस्य स्वभाव उक्तः । शीलार्थे प्रत्ययात् । कर्मणापि वो युष्माकं व्रज जनानां सर्वेषामेव श्रेय ऐहिकामुष्मिक मङ्गल माधास्यति । तथा अनेन कृष्णेन हेतुना सर्वाणि दुर्गाणि कंसाद्युपद्रवान् अञ्जोऽनायासेन तरिष्यथ ।

बालक श्रीकृष्ण—गोप एवं गोकुलस्थ जन समूह को आनन्दित करेगा, कारण—श्रीकृष्ण का स्वभाव ही उस प्रकार है, कर्माचरण के द्वारा भी व्रजवासियों का ऐहिकामुष्मिक मङ्गल विधान करेगा । आप सब इस बालक का प्रभाव से ही कंसादि के उपद्रवों से सुख पूर्वक मुक्त हो जायेंगे ।

पद्मपुराण के गद्यान्त में वर्णित है—"द्वारवतीं विवेशः" देवगण कर्त्तृक स्तूयमान श्रीकृष्ण द्वारका में प्रविष्ट हुये थे । इस से प्रतीत होता है कि—शाल्व बधार्थ निर्गत श्रीभगवत् प्रत्यागमन प्रतीक्ष्यमाण यादवगण के सहित ही श्रीकृष्ण, द्वारका में प्रविष्ट हुये थे । यह वर्णन श्रीमद् भागवतीय दन्तवक्र बधान्त में द्वारका प्रवेश वर्णन का अनुरूप है । श्रीकृष्ण को छोड़कर परिकर वर्ग का गृह प्रवेश अनुचित है, तज्जन्य श्रीकृष्ण की अपेक्षा यादवगण कर रहे थे । अथवा भा० १०।१४।४३ में वर्णित "क्षणार्द्धं मेनिरे अर्भकाः" ब्रह्माकी माया शयन में शायित गोपबालकगण, एक वत्सर काल को क्षणार्द्धकालवत् माने थे, उस प्रकार शाल्व बधार्थ निष्क्रान्त श्रीकृष्ण मासद्वय के पश्चात् प्रत्यागमन करने पर भी उक्त समय को अत्यल्प काल यादवगण माने थे । सुतरां यादव गण के सहित पुर प्रवेश श्रीकृष्ण का असङ्गत नहीं है ।

श्रीकृष्ण का पुनरागमन गोकुल में हुआ था, इस अभिप्राय से ही श्रीवृन्दावन नाथोपासनामन्त्र में कंसान्तकारी' विशेषण श्रीकृष्ण शब्दमें प्रदत्त हुआ है । बौधायनकी उक्ति में है—"गोविन्दं मनसा ध्यायेद् गवांमध्ये स्थितं शुभम्" "धेनुवृन्द के मध्य में अवस्थित शुभ स्वरूप श्रीगोविन्द का ध्यान मनसा करें" ।

यथा बौधायनोक्ते—"गोविन्दं मनसा ध्यायेद्गवां मध्ये स्थितं शुभम्" इति ध्यानानन्तरम्, "गोविन्द गोपीजनवल्लभेश, कंसासुरघ्न त्रिदशेन्द्रवन्द्य" इत्यादि। अन्यत्र च तत्र—"गोविन्द गोपीजनवल्लभेश, विध्वस्तकंस" इत्यादि। एवमेव गौतमीये श्रीमद्दशाक्षरोपासनायां वैश्य-विशेषगोपाललीलाय तस्मै यज्ञसूत्रसमर्पणं विहितम्,—"यज्ञसूत्रं ततो दद्यादथवा स्वर्ण--निर्म्मितम्" इति। इत्थमेव पुनः प्राप्त्यभिप्रायेणोक्तम् (भा० १०।४७।३६)—"अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ" इति (भा० १०।८२।४४) "दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः" इति; (भा० १०।८३।१) "अथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः" इति च। तथैव, (भा० ११।१२।८) "केवलेन हि भावेन" इत्यादिपद्यद्वय-कृतेन साधकचरीणां श्रीगोपीनां

अनन्तर होमानुष्ठान गोविन्द प्रीत्यर्थ करे। इत्यादि वाक्य के पश्चात् उक्त है—हे गोविन्द ! हे गोपीजन वल्लभेश। कंसासुरघ्न! त्रिदशेन्द्रवन्द्य! इत्यादि। अन्यत्र भी वर्णित है,—'हे गोविन्द ! हे गोपीजन वल्लभ ! हे ईश ! हे विध्वंस कंस ! इत्यादि।

इस प्रकार ही गौतमीयतन्त्र में श्रीमद् दशाक्षरोपासना में वैश्य विशेष गोलोक लीला कृष्ण के प्रति यज्ञ सूत्र समर्पण भी विहित है।। "यज्ञसूत्रं ततोदद्यादथवा स्वर्ण निर्मितम् इति,।

इस प्रकार पुनः प्राप्ति के अभिप्रायानुसार ही श्रीकृष्ण ने भा० १०।४३।३६ में कहा है—"अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान् मामुपैष्यथ" "निरन्तर स्मरण कारिणी तुम सब हो, अतः मुझ को सत्वर प्राप्त करोगी" भा० १०।८२।४४ "दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः" सौभाग्य की बात यह है कि मेरे प्रति तुम सब का जो स्नेह है, वह स्नेह ही मेरी प्राप्ति का साधक है।"

भा० १०।८३।१ में श्रीशुकदेवने भी कहा—

"अथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः।
युधिष्ठिरमथापृच्छत् सर्वांश्च सुहृदोऽव्ययः।।"

अनन्तर गोपीगण के गति एवं गुरु भगवान् अव्यय श्रीकृष्ण,—उन सब के प्रति अनुग्रह करके युधिष्ठिर एवं सकल सुहृद् गण को कुशल वार्त्ता पूछे थे।" श्लोकस्थ 'गति' पदका अर्थ—नित्य—प्राप्य है। उस प्रकार ही—भा० ११।१२।८-९ में उक्त है—

"केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढ़धियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा।
यं न योगेन साङ्ख्येन दान व्रत तपोऽध्वरैः।
व्याख्या स्वाध्याय सन्न्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि।"

टीका—'तत्र वृत्रादीनां भवतु नाम कथञ्चित् साधनान्तरं गोपी प्रभृतिनान्तु नान्यदस्तीत्याह केवलेनेति। सत्सङ्ग लब्धेन केवलेनैव भावेन प्रीत्या। अगाः यमलार्ज्जुनादयः, नागाः—कालियादयः। यद्वा—तदानीन्तनानां सर्वतरु गुल्मलतादीनामपि भगवति भावोऽस्तीति गम्यते। तदुक्तं भगवतैव। अहो अमी देववरामरार्च्चितं पादाम्बुजं ते सुमनः फलार्हणम्। नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन स्तमोपहत्यै तरुजन्म यत् कृतमित्यादि। सिद्धाः कृतार्थाः सन्त ईयुः प्रापुः।"८।

"स्व प्राप्तेर्दुर्लभतामाह—यमिति। योगादिभिः कृत प्रयत्नोऽपि यं न प्राप्नुयात् तं मामीयुरिति पूर्व्वेणान्वयः। अत्र च प्रथम या गोप्यः पश्वादयो वा श्रीकृष्णेन सह सङ्गतास्ते सन्तस्तत् सङ्गोऽन्येषां

प्रथम-तत्प्राप्ति प्रस्तावेन नित्यप्रेयसीनामपि तन्महावियोगानन्तरप्राप्तिं तस्य वियोगस्यातीतत्वनिर्द्देशाद्द्रढ़यति द्वाभ्याम् (भा० ११।१२।१०--११)—

(१७५) "रामेण सार्द्धं मथुरां प्रणीते, श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः।
विगाढ़भावेन न मे वियोग,--तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय ॥४६८॥

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता, मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्द्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां, हीना मया कल्पसमा बभुवुः ॥" ४६६॥

अत्र विगाढ़भावेन वियोगतीव्राधयः सत्यो मत्तोऽन्यं निजसख्यादिकमपि न सुखाय ददृशुः। ततश्चाधुना तु सुखाय पश्यन्तीति वियोगो नास्तीत्यर्थः। एवं तास्ताः क्षपा मया

सत्सङ्गस्तेन च तेषां भक्तिरिति ज्ञातव्यम्।"६

श्रीकृष्ण उद्धव को कहे थे,—योग, सांख्य, दान, व्रत, तपः यज्ञ, शास्त्र व्याख्या, वेदपाठ एवं सन्यास द्वारा अति यत्नवान् व्यक्ति भी मुझ को प्राप्त कर नहीं सकते हैं। केवल भक्ति के द्वारा गोपीगण गोगण, यमलार्ज्जुनादि वृक्षगण, मृगगण, कालीय प्रभृति नागगण एवं अन्यान्य मूढ़ बुद्धि व्यक्तिगण मुझ को अनायास प्राप्त किये हैं।

उक्त श्लोक द्वय में साधकचरी गोपीगण की श्रीकृष्ण प्राप्ति का प्रस्ताव होने से नित्य प्रेयसीगण की भी श्रीकृष्ण प्राप्ति तदीय विच्छेद के पश्चात हुई है, यह प्रतीति होता है। उक्त तीव्र विच्छेद को अतीत कालीनत्व निर्देश करके दृढ़ता के सहित श्लोक द्वय कहे थे—(भा० ११।१२।१०--११)

"रामेण सार्द्ध मथुरां प्रणीते, श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः।
विगाढ़ भावेन न मे वियोग, तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय।"
तास्ताः क्षपा, प्रेष्ठतमेन नीता, मयैव वृन्दावन गोचरेण।
क्षणार्द्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां, हीना मया कल्पसमा बभूवुः।"

"जिस समय अक्रुर बलदेव के सहित मुझ को लेकर मथुरा आये थे, उस समय, अनुरक्तचित्त गोपीगण, प्रगाढ़ प्रेमवशतः तीव्र विच्छेद दुःख से कातर होकर अपर किसी वस्तु को भी सुख हेतु रूप में अनुभव नहीं किये। वृन्दावन में अवस्थान के समय प्रियतम मेरे सहित जो सब रजनी रासादि विचित्र विलास के सहित अति वाहित हुई थीं, वे सब रजनी क्षणार्द्ध तुल्य हुई थीं, किन्तु विच्छेद रजनी समूह कल्पसम हुई थीं।

यहाँपर प्रगाढ़ प्रेम वशतः तीव्र विच्छेद पीड़ासे कातर होकर व्रज देवी वृन्दने मुझ कृष्ण को छोड़कर सखीगण को भी सुख हेतु रूप में अनुभव नहीं किया। अनन्तर सम्प्रति सुख हेतु रूप से देखा है। इस प्रकार अर्थ करना होगा। कारण,—सम्प्रति वियोग नहीं है।

श्रीउद्धव के निकट कथन समय में यदि वियोग रहता तो "ददृशुः" नहीं देखा है, अतीत कालीन अधोक्षज लकार का प्रयोग नहीं होता, वर्त्तमान—'अच्युत' लकार का प्रयोग होता। इस रीति से ही जानना होगा कि मदीय विच्छेद युक्त रजनी समूह कल्पसम हुई थीं, सम्प्रति उस प्रकार नहीं है, सुतरां विच्छेद नहीं है। अन्यन्या—यहाँपर भी (बभूवुः) अतीत निर्देश न करके वर्त्तमान क्रिया का ही प्रयोग करते।

उसके पहले भा० १०।४६।५-६ में उद्धव के प्रति आपने कहा भी है—

हीनाः सत्यः कल्पसमा बभुवुः । अधुना तु तादृश्यो न भवन्तीति नास्त्येव वियोग इत्यर्थः ।
पूर्व्वं त्वेतमेवोद्धवं प्रति–(भा० १०।४६।५-६)

"मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥५००॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन ।
प्रत्यागमनसन्देशैर्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥"५०१॥

इत्यत्र वर्त्तमानप्रयोग एव कृत इति सोऽयमर्थः स्पष्ट एव प्रतिपत्तव्यः ॥

१७६। ततश्च प्रकटाप्रकटलीलयोः पृथक्त्वा-प्रतिपत्त्यैवाप्रकटभावमापद्य स्वनाम-रूपयोरेव ताः स्थिता इत्याह भा० ११।१२।१२) —

(१७६) "ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध,-धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये, नद्यः प्रविष्टा इव नाम-रूपे ।'५०२।

तास्तथाभूता विरहौत्कण्ठ्यातिशयेनाभिव्यक्त-दुर्धरमहाभावाः सत्यः, तथा (भा० १०।४६।३४)

"मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्य विह्वलाः ॥
धारयन्त्यति कृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन ।
प्रत्यागमन सन्देशै वल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥

टीका—तासां वियोगाधिं दर्शयति द्वयेन, मयिता इति । वियोगेन यदौत्कण्ठ्यं तेन विह्वलाः परवशाः ।५। गोकुलान्निर्गमनसमये शीघ्रमागमिष्यामीति ये प्रत्यागमनसन्देशास्तैः, मे मदीया वल्लव्यो गोप्यः मदात्मिका इति । तासामात्मा यदि स्वदेहे स्यात् तर्हि विरह तापेन दह्येतैव तस्य मयि वर्त्तमानत्वात् कथञ्चिज्जीवतीति भावः ॥

परम प्रियतम मैं दूर में अवस्थित होने से हे अङ्ग ! गोकुल स्त्रीगण विरहोत्कण्ठा से विह्वल होकर मुग्ध हो रही हैं, गोपीगण मदात्मिका हैं, अतः अति कष्ट से प्राणधारण कर रही हैं, कारण—गोकुल से निर्गत होने के समय मैंने कहा था,—'मैं सत्वर आऊँगा" इस प्रत्यागमन सन्देश से ही प्राण धारण कर रही हैं। उक्त वाक्य में "स्मरन्ति" विमुह्यन्ति "धारयन्ति" वर्त्तमान प्रयोग ही किया है। अतएव पुनरागमन अर्थ सुस्पष्ट ही है। (१७५)

अतएव प्रकट एवं अप्रकट लीलाद्वय की पृथकत्व अप्रतिपत्ति हेतु,—अर्थात् प्रकट अप्रकट लीलाद्वय को पृथक् प्रमाणित करना असम्भव होने के कारण, अप्रकट भाव प्राप्ति पूर्वक निज निज नाम रूप में ही वे सब स्थित हैं। भा० ११।१२।१३ में उसका वर्णन करते हैं—

"नाविदन् मय्यनुषङ्ग बद्ध, धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये, नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥"

समाधि के समय मुनिगण—जिस प्रकार नाम रूप को नहीं जानते हैं, उस प्रकार मुझ में आसक्त बुद्धि सम्पन्न गोपीगण, स्व, आत्मा, वह, नहीं जानती हैं। यद्रूप, समुद्र सलिल में नदी समूह प्रविष्ट होती हैं, तद्रूप, वे सब, नाम रूप में प्रायः प्रविष्टा हैं।

"आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः" इति भगवदुक्तानुसारेण (भा० १।११।९) "यर्ह्यम्बुजाक्षाप ससार भो भवान्, कुरून्मधून् वा" इति द्वारकावासि-प्रजावचनानुसारेण च कदाचित्तासां दर्शनार्थं गते मयि लब्धो योऽनुषङ्गो महामोदन भावाभिव्यक्तिकारी पुनः संयोगस्तेन बद्धा धीर्यासां तथाभूताः सत्यः स्वं ममतास्पदमात्मानमहङ्कारास्पदञ्च अदोऽप्रकटलीलानुगतत्वेनाभिमतं वा तथेदं प्रकटलीलानुगतत्वेनाभिमतं वा यथा स्यात्तथा तदानीं नाविदन् किन्तु द्वयोरैक्येनैवाविदुरित्यर्थः। प्रकटाप्रकटतया भिन्नं प्रकाशद्वयमभिमानद्वयं लीलाद्वयञ्चा-भेदेनैवाजानन्निति विवक्षितम्। ततश्च नाम च रूपञ्च तस्मिन् तत्तन्नामरूपात्मन्यप्रकटप्रकाश

श्लोक की व्याख्या इस प्रकार है—तादृश महाभाव जनित विरहोत्कण्ठा का आतिशय्य वशतः अभिव्यक्त महाभाव का वेग सम्वरण करना गोपीगण के पक्ष में अतीव कठिन था। कारण उसका स्वरूप यह है—"अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः। यावदाश्रयवृत्तिश्चेद्भाव इत्यभिधीयते" (उज्ज्वल-नीलमणि) यदि अनुराग, यावदाश्रय वृत्ति होकर निजद्वारा सम्वेदन योग्य दशा प्राप्त होकर प्रकाशित होता है, तब उसको भाव कहा जाता है। स्थल विशेष में इस भाव ही महाभावशब्द से अभिहित होता है।

"मोहनः स द्वयोर्यत्र सात्त्विकोद्दीप्तसौष्ठवम्" (उज्ज्वल) जिस अधिरूढ़ महाभाव में नायक नायिका के सात्त्विक भाव समूह उदित होते हैं, उस को मोहन कहते हैं। मिलन दशा में मोदन का आविर्भाव होता है।

अनन्तर समय विशेष में अर्थात् (भा० १०।४६।३४) "आगमिष्यत्यदीर्घ कालेन व्रजमच्युतः" अति सत्वर व्रज में अच्युत का आगमन होगा।" इस प्रकार भगवदुक्ति के अनुसार, (भा० १।११।९) 'यर्ह्यम्बुजाक्षापससार भो भवान्, कुरून् मधून् वा" "हे अरविन्दलोचन! जब आप सुहृद् वर्ग को देखने के निमित्त कुरुक्षेत्र एवं मथुरा जाते थे।" द्वारकावासि प्रजावृन्द के वचनानुसार कदाचित् उन सब को देखने के निमित्त जाते थे, उस समय जो अनुषङ्ग—महामोदन भाव का अभिव्यक्तिकारी पुनः संयोग हुआ था, उस से बद्ध बुद्धि जिनकी है, उस प्रकार होकर, स्व—ममतास्पद, आत्मा—अहङ्कारास्पद, 'वह' अप्रकट लीलानुगत रूप में सम्मत, तद्रूप 'यह' प्रकट लीलानुगत रूप में सम्मत जिस से होता है, उस प्रकार से बोध उन सब का नहीं था। किन्तु उभय का बोध अभिन्न रूप से हुआ था। प्रकट अप्रकट रूप पृथक् प्रकाशद्वय, पृथक् अभिमान द्वय, एवं पृथक् लीलाद्वय को वे सब अपृथक् रूपसे जान गई थी यह ही कहने का तात्पर्य्य है।

अनन्तर, नाम एवं रूप—उस में (नामरूप में) उस उस नामरूप विशिष्ट स्वरूप में—अप्रकट प्रकाश विशेष में प्रविष्ट प्राप्त हैं, किन्तु प्रविष्ट नहीं हैं। कारण,—उभय वस्तु—प्रकट लीला गत, एवं अप्रकट लीलागत—नामरूप—अभिन्न हैं, भिन्न वस्तु द्वय का ही एक में अपर का प्रवेश होता है। अप्रकट लीला में जो नित्य प्रेयसी हैं, प्रकट लीला में भी वे सब ही नित्य प्रेयसी हैं, सुतरां प्रकट लीलागत प्रेयसी गण का प्रवेश अप्रकट लीलागत प्रेयसी गण में होना सम्भव नहीं है। उभय ही एक हैं। लीला द्वय के ऐक्य के समय प्रतीत होता है मानों प्रकट लीलागत प्रेयसी वर्ग अप्रकट गत प्रेयसी वर्ग में अर्थात् उनके नाम रूप में प्रविष्ट हो गई हैं।

नामरूपे—(नाम च रूपञ्च, तस्मिन् इति नाम रूपे) नाम एवं रूप—उस में, समाहार द्वन्द्वसमास निष्पन्न पद नाम रूपे है।

विशेषे प्रविष्टा इव न तु प्रविष्टाः, वस्तुभेदादित्यर्थः। नामरूप इति समाहारः। तत्र प्रकटाप्रकटलीलागतयोर्नामरूपयोरभेदे दृष्टान्तः—'यथा समाधौ मुनयः इति। समाधिरत्र शुद्धजीवस्येति गम्यम्। तयोर्लीलयोर्भेदावेदने दृष्टान्तः—यथाब्धितोये नद्य इति। यथा नद्यः पृथिवीगतामब्धितोयगताञ्च स्वस्थितिं भेदेन न विन्दन्ति, किन्तूभयस्यामपि स्थितौ समुद्रतोयानुगतावेवाविशन्ति, तथा मदनुषङ्गे सति प्रकटामप्रकटाञ्च लीलास्थितिं ताश्च भेदेन न

दृष्टान्त वाक्य में मुनिगण की समाधि की कथा कही गई है। वह समाधि शुद्ध जीवकी है, अर्थात् निर्विकल्प समाधि है। अशुद्ध जीव की समाधि सविकल्प होती है, उक्त समाधि भङ्ग होने से वासना-विक्षेप उपस्थित होता है, एवं ध्यान, ध्येय, ध्याता की उपलब्धि होती है। तज्जन्य लीलाद्वयैक्य का दृष्टान्त वह नहीं हो सकती है। प्रकट अप्रकट रूप लीलाद्वय का अभेद ज्ञापन का दृष्टान्त,— समुद्र सलिल में जिस प्रकार नदी प्रविष्ट होती है।" नदी, जिस प्रकार पृथिवी गता एवं सागर सलिल गता निज स्थिति को पृथक् भाव से प्राप्त नहीं करती है, किन्तु उभय स्थान में स्थित होने पर भी समुद्र सलिल की अनुगति में प्रविष्ट होती है, उस प्रकार मेरा (श्रीकृष्ण का) अनुषङ्ग लाभ से व्रज सुन्दरी गण,— प्रकट अप्रकट लीलास्थिति को भिन्न रूप से नहीं जानती हैं, किन्तु मुझ में आविष्ट होती हैं।

दृष्टान्त एकदेश का बोधक होता है, सर्वांश का नहीं, अतः यह लीलाद्वय का अभेद वेदनांश में है, अर्थात् लीलाद्वय का भेद ज्ञान नहीं रहता है, उस अंश में दृष्टान्त है। सब विषय ही अज्ञात हैं, इस अंश में उक्त दृष्टान्त प्रयुक्त नहीं हुआ है। जिस प्रकार सुखोन्मत्त लोक की बहु नृत्यादि स्वच्छन्द चेष्टापरिलक्षित होती हैं, उस प्रकार पूर्णकाम श्रीभगवान् की विचित्र सृष्टि कार्य्य में किसी प्रकार फलाभिसन्धि नहीं है। केवललीलार्थ ही उनकी प्रवृत्ति होती है। वेदान्त सूत्र (१।१।३३)

'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" इसका दृष्टान्त है। जिस प्रकार लीलासुखमग्न श्रीभगवान् का अन्यानुसन्धान निषिद्ध होकर लीलावेश से ही सृष्टयादि विचित्र कार्य्य सम्पादन वर्णित है, उस प्रकार श्रीकृष्णाविष्टा व्रज सुन्दरी गण का भी अन्य लीला भेदादि अनुसन्धान राहित्य को जानना होगा। व्रज सुन्दरीगण,—श्रीकृष्णसङ्ग सुख में ही निमग्ना हैं। यह सिद्ध होने पर प्रकटा प्रकट उभय लीला में ही गोपी गण की श्रीकृष्ण प्राप्ति के निमित्त कारण एकमात्र भाव ही है। उस को दर्शाया गया है।

(ब्र० सू० २।१।३३) लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" का गोविन्द भाष्य,-स्वार्था परार्था प्रवृत्ति लोक में विख्यात है, स्वार्था प्रवृत्ति पूर्णकाम भगवान् के पक्ष में सम्भव नहीं है, श्रुति विरुद्ध है। परार्था प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती है, समर्थ व्यक्ति—परानुग्रह हेतु प्रवृत्त होते हैं, किन्तु जन्ममरणादि विविध यातना प्रदान हेतु प्रवृत्ति नहीं होती है। प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति भी नहीं होती है, सर्वज्ञ श्रुति व्याघात दोष होगा। इस प्रकार कथन का समाधान हेतु कहते हैं, 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" "शङ्काच्छेदाय 'तु' शब्दः, परि पूर्णस्यापि विचित्र सृष्टौ प्रवृत्ति र्लीलैव केवला, नतु फलानुसन्धि पूर्विका। अत्र दृष्टान्तः—लोकेति। षष्ठयन्ताद्वतिः। लोकस्य सुखोन्मत्तस्य यथा सुखोद्रेकात् फलनिरपेक्षा नृत्यादि लीला दृश्यते तथेश्वरस्य। तस्मात् स्वरूपानन्द स्वाभाविक्येव लीला। "देवस्यैष स्वभावोऽयं आप्तकामस्य कास्पृहेति" माण्डूक श्रुतेः। "सृष्टयादिकं हरि र्नैव प्रयोजनमपेक्ष्य तु। कुरुते केवलानन्दात् यथा मत्तस्य नर्त्तनम्। पूर्णानन्दस्य तस्येह प्रयोजनमतिः कुतः मुक्ता अप्याप्तकामाः स्युः किमु तस्याखिलात्मनः।" इति स्मरणाच्च। न चात्र दृष्टान्तेनासार्वत्रं प्रसक्तम्। बिना फलानुसन्धिमानन्दोद्रेकेण लीलायत इत्येतावत् स्वीकारात्। उच्छ्वास प्रश्वास दृष्टान्तेऽपि सुषुप्त्यादौ तदापत्तेः। राज दृष्टान्तस्तु तत्तत् क्रीड़ा सम्भूतस्य सुखस्य

विदुः, किन्तु मय्येवाविविशुरित्यर्थः। दृष्टान्तस्त्वयं लीलाभेदावेदनांश एव, न तु सर्व्वा-वेदनांशे, (ब्र० सं० २।१।३३) "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" इतिवत्। तदेवं प्रकटाप्रकट-लीलयोर्द्वयोरपि तासां स्वप्राप्तौ भाव एव कारणं दर्शितम्॥

१७७। ततश्चाप्रकटलीलायां प्रविष्टा अपि यद्विशेषणाधिक्येन तं प्रापुस्तद्दर्शयन्नन्यदप्यनु-वदति। (भा० ११।१२।१३)—

(१७७) "मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः॥" ५०३॥

अयमर्थः-यथा "भीष्ममुदारं दर्शनीयं कटं करोति" इत्यत्र क्रिया खलु विशेष्यस्य कृतिं प्रत्याययन्ती विशेषणानामपि प्रत्याययति। कटं करोति तञ्च भीष्ममित्यादि-रीत्या,तथात्रापि

फलत्वान्नोपात्तः॥ ३३॥

लौकिक व्यक्ति के समान सृष्टयर्थ ब्रह्म की प्रवृत्ति लीलार्थ कहनी होगी। शङ्कानिरासार्थ सूत्रस्थ 'तु' शब्द है। परिपूर्ण ब्रह्म की सृष्टयर्थ प्रवृत्ति केवल लीलार्थ है, वह प्रवृत्ति फलानुसन्धान पूर्विका नहीं है, इस में दृष्टान्त—सुखोन्मत्तव्यक्ति सुखोद्रेक के कारण—फलानुसन्धान विरत होकर नृत्यादि करता है, उस प्रकार परमेश्वर भी लीलार्थ सृष्टयादि करते हैं, अतएव उनकी यह लीला स्वरूपानन्दमयी स्वाभाविकी है। माण्डूक्य श्रुति में उक्त है--"परमेश्वर की लीला समूह स्वाभाविकी हैं। आप्त काम की स्पृहा नहीं होती है। स्मृति में वर्णित है—

"जिस प्रकार मनुष्य आनन्दाधिक्य से नृत्य करता है, परमेश्वर भी उस प्रकार लीला करते हैं। जब ईश्वर,—पूर्णानन्द हैं, तब उनका प्रयोजन ही क्या है? मुक्त व्यक्तिगण ही आप्तकाम होते हैं, अखिलात्मा परमेश्वर सुतरां निस्पृह हैं। मत्तता दृष्टान्त से ईश्वर में असार्वज्ञ्य दोष नहीं होगा। फलानु सन्धान के बिना केवल आनन्दोद्रेक से कार्य्य करने पर उक्त दोष नहीं होगा। उच्छ्वास प्रश्वास दृष्टान्त प्रयुक्त नहीं होगा, कारण—उस में ज्ञानाभाव है, राज दृष्टान्त भी त्याज्य है, कारण—उस में सुख का फलत्व है। ३३। (१७६)

धाम, परिकर, स्वरूप, नाम, एवं भाव की एकता के कारण—प्रकट लीला के अवसान में लीलाद्वय का ऐक्य सुप्रसिद्ध है। उक्त अप्रकट लीला में प्रविष्ट गोपी गण ने जिस प्रकार विशेषण आधिक्य से श्रीकृष्ण को प्राप्त किया था, उस को दर्शाने के निमित्त श्रीकृष्ण प्राप्ति प्रसङ्ग का उत्थापन करते हैं। भा० ११।११।१३ में वर्णित है—

"मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः॥

मत् स्वरूपाज्ञानवती मत् कामा अबलागण ने जाररूप में प्रतीत रमण परम ब्रह्म मुझ श्रीकृष्ण को प्राप्त किया। उनके सङ्ग से अपर शत सहस्र जन भी मुझ को प्राप्त किये हैं।

प्रस्तुत प्रकरण की व्याख्या—श्रीजीव गोस्वामी चरण ने तत्वांश को प्राधान्य देकर की है, कारण—लीलांश प्राधान्य से व्याख्या करने पर समाजिक जनगण की सहसा प्रतीति नहीं होगी। पूर्व अनुच्छेद में लीला, स्वरूप, धाम, परिकर प्रकटा प्रकट प्रकाशगत भाव प्रभृति की अभिन्नता का प्रति पादन आपने किया है, श्लोक की व्याख्या करते हैं—श्लोक का अर्थ इस प्रकार है। अर्थात् श्लोकोक्त 'रमणं जारं' इत्यादि बाक्य का अर्थ इस प्रकार होगा। जिस प्रकार 'भीष्ममुदारं दर्शनीयं कटं करोति"

प्रतीयते, विशेष्यञ्चात्र ब्रह्मैव, सर्व्वविशेषणाश्रयणीय-परमवस्तुतया तेषु विशेषणेषु तस्या-भेदेनानुगमात्, (छा० ६।२।१) "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इति श्रुतेः । परममित्यादीनि तु विशेषणानि तदभिन्नत्वेऽपि प्रतिस्वं भेदकत्वात्, (छा० ७।२६।२) "स एकधा भवति द्विधा भवति" इत्यादि श्रुतेः। तदेवं स्थिते क्रमोऽप्यत्रार्थिक एव गृह्यते, (भा० १०।२४।२६) "पच्यन्तां विविधाः पाकाः" इत्यादौ "सर्व्वदोहश्च गृह्यताम्" इतिवत् "अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचति" इत्यादिवच्च । ततश्च एवं पूर्व्वोक्तरीत्या ता अबला ब्रह्म प्रापुः' तच्च परमं भगवद्रूपं प्रापुः, "परमं यो महद्ब्रह्म" इति सहस्रनामस्तोत्रात्, (वि० पु० ६।७।७५) "शुभाश्रयः

भयङ्कर प्रशस्त दर्शन योग्य कट प्रस्तुत कर रहा है, इस वाक्य में करोति क्रिया, विशेष्य रूप कट की प्रस्तुति प्रतीति सम्पन्न कर युगपत् विशेषण—'भीष्मं उदारं दर्शनीयं' भयङ्कर, प्रशस्त, दर्शनीय, पदत्रय की प्रस्तुति का प्रत्यय भी कराती है, अर्थात् जो कट प्रस्तुत किया जा रहा है, वह कीदृश है ? वह भयङ्कर इत्यादि रूप है । उस प्रकार यहाँपर श्रीकृष्ण ने कहा—

गोपीगण ब्रह्म को प्राप्त किये हैं, उक्त वाक्य में ब्रह्म ही विशेष्य हैं, सर्व विशेषण का आश्रय भूत होने के कारण, एवं परमवस्तु होने से उक्त विशेषणों के मध्य में उक्त शब्द का प्रत्यय अभेद रूप से ही होता है । जिस प्रकार छान्दोग्य उपनिषत् में उक्त है—"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" ही अद्वितीय ब्रह्म हैं। 'परमम्" इत्यादि विशेषण—विशेष्याभिन्न होने पर भी अर्थाधिक्य वशतः भेदक हुआ है, जिस प्रकार छान्दोग्य श्रुति है—'स एकधा भवति द्विधा भवति' वह एक प्रकार होता है, दो प्रकार होता है । उस प्रकार स्थिति होनेपर पाठ क्रम से अर्थ क्रम बलवान् है, इस नियम से आर्थिक पाठ ही ग्रहणीय है। जिस प्रकार भा० १०।२४।२६ में उक्त है—"पच्यन्तां विविधाः पाकाः ।।

"सर्व दोहश्च गृह्यताम्" उस प्रकार प्रकृतस्थ में भी जानना होगा । उक्त श्लोक की वैष्णव तोषणी-"महेन्द्रयागादप्ययं रूपोविशेषतः सम्पाद्य इत्याशयेन तद्विधिविशेषमुपदिशति—पच्यन्तामिति चतुर्भिः। पाकाः पचनीया, अन्नव्यञ्जनादयः । सूपा व्यञ्जनानि, आदि शब्देन गृहीतानामपि संयावादीनां पृथगुक्तिः प्राचुर्य्यापेक्षया । सर्वदोहस्य विवरणं, यथा हरिवंशे—"त्रिरात्रञ्चैव सन्दोहः सर्वघोषस्य गृह्यताम् ।। अन्यत्तैः । तत्र श्रुत्या आद्यन्त शब्दश्रवणानुरूपमित्यर्थः । दोहस्य— दुग्धस्य अर्थतः प्रयोजनं अर्थवशात् प्रथमत इत्यर्थः । स्वामिटीका—सूपं—मौद्गम् । पायसं केवले पयसि पक्वम् । संयावादयो गोधूमादि विक्रियाः । क्रमश्चसूपपायसयोः श्रुत्या दोहस्यार्थतो, अन्येषां पाठतः ।। अग्निहोत्रं जुहोति—यवागूं पचति' इस प्रयोग के समान ही पाठ क्रम से अर्थ क्रम ग्रहणीय है ।

अतएव पूर्वोक्त रीति से श्रीकृष्ण ने कहा—अबला गोपीगण ने ब्रह्म को प्राप्त किया है, इस वाक्य में प्राप्ति का वैशिष्ट्य व्यञ्जित हुआ है, प्राप्त वस्तु की प्राप्ति क्या है ? वस्तु प्राप्ति द्विविध है, अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति, ह्यतवस्तु की प्राप्ति ।

यहाँ नित्य प्रेयसी व्रजसुन्दरी गण की कृष्ण प्राप्ति की कथा वर्णित है, गोपीगण की कृष्ण प्राप्ति इस के पहले नहीं हुई है, अथवा प्राप्त वस्तु का अपहरण हुआ है, ऐसा नहीं । अप्रकट लीला में श्रीकृष्ण के सहित नित्य संयोग का वर्णन इस के पहले हुआ है, 'स्नेहोरुद पनः" शब्द से प्रकाश है कि "भक्ति वशः पुरुषः" श्रीकृष्ण, भक्ति पूर्ण हृदय सतत रहते हैं । कभी कृष्ण वियोग नहीं होता है । स्थिति वैसी होने पर सम्प्रति प्राप्ति की कथा अलग्न होती है ?

स्वचित्तस्य सर्व्वगस्य तथात्मनः" इति विष्णुपुराणाच्च। तादृशं तच्च मां कृष्णाख्यमेव प्रापुः, "नराकृति परं ब्रह्म" इति पुराणवर्गात्, (गी० १४।२७) "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" इति श्रीगीतोपनिषद्भ्यः। तद्रूपस्यैव स्वस्य प्राप्तिस्तासु स्वयमेव श्रीभगवता प्रोक्ता (भा० १०।४७।३६)

"मय्यावेश्य मनः कृष्णे विमुक्ताशेषवृत्ति यत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ॥" ५०४ ॥ इति,

प्रेम की पराकाष्ठा जो महाभाव है, उस में श्रीव्रजसुन्दरीगण सतत विराजित हैं, अतएव उनके पक्ष में श्रीकृष्ण वियोग नहीं हो सकता है एवं श्रीकृष्ण के सहित भी उन सब का वियोग होना सर्वथा असम्भव है, श्रीकृष्ण प्रेमवश हैं, पूर्व ग्रन्थ में इस का प्रतिपादन हुआ है। ऐसा होने पर श्रीकृष्ण प्राप्ति की सुप्रसिद्ध कथा क्यों हुई ? सुप्रसिद्ध कृष्ण विच्छेद वर्णना का अपलाप भी कैसे हो सकता है ?

उत्तर में वक्तव्य यह है कि—प्रियके हृदय में प्रिय का विच्छेद कभी नहीं होता है। प्रेम का कार्य्य प्रियतम का अनवरत अनुभव होना, प्रेम इस अनुभव से प्रेमी को वञ्चित नहीं करता है, अतएव अवस्था ऐसी होती है—"बाहिरे विष ज्वालाहय, भीतरे आनन्दमय" उक्त अनुभव—बाह्य आभ्यन्तर भेद से द्विविध हैं। संयोग वियोग में प्रेम की स्थिति होती है, संयोगावस्थामें बहिरिन्द्रिय द्वारा प्रियानुभव होता है, वियोगावस्था में अन्तरिन्द्रिय में प्रियानुभव विद्यमान होता है।

"चित्त काड़ि तोमा हैते विषये चाहि लागाइते
यत्न करि नारि काड़िबारे।
चाहि यारे छाड़िते सेइ शुञा आछे चित्ते
कोन रीति ना पारि छाड़िते। (चै० च० मध्य--१७)

उक्त प्रमाण से अप्राप्त अथवा हृतवस्तु श्रीकृष्ण नहीं है। किन्तु रसास्वादनाभिलाष से प्रातीतिक वियोग हुआ था। वहिः प्रकट रूप में पुनः प्राप्ति हुई थी। अथवा—अन्तरानुभव वस्तु—ब्रह्म हैं, वियोगावस्था में ब्रह्मवत् मानसानुभवगोचरीभूत जो श्रीकृष्ण थे, वह श्रीकृष्ण वहिः प्रकट रूप में प्राप्त हुये थे, इस प्रकार उक्त कथन का तात् पर्य्य भी हो सकता है।

वह किस प्रकार है ? "परमं भगवद्रूपं प्रापुः" परम भगवद्रूप है, वह किस प्रकार है ? श्रीकृष्ण नाम से विख्यात स्वयं भगवान् स्वरूप में हूँ, उन्होंने उक्त स्वरूप मुझ को ही प्राप्त किया है। सहस्र नाम स्त्रोत्र में उक्त है—"परमं यो महद्ब्रह्म" विष्णु पुराण में लिखित है--"शुभाश्रयः स्वचित्तस्य सर्वगस्य तथात्मनः" उस प्रकार श्रीकृष्ण को ही उन्होंने प्राप्त किया, कारण--मैं नराकृति परम ब्रह्म हूँ। पुराण समूह में लिखित है—"नराकृति परं ब्रह्म"। गीता में (१४.१७) उक्त है—ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" उक्त नराकृति पर ब्रह्म रूप निज स्वरूप श्रीकृष्ण की प्राप्ति उनसब की हुई थी, उसका कथन स्वयं भगवान् ने ही भा० १०।४७।३६ में किया है,—

"मय्यावेश्य मनः कृष्णे विमुक्ताशेषवृत्तियत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ।"

वृहत् क्रमसन्दर्भ। "नन्वेतावन्तं कालं किमस्माकं मनः सन्निकर्षो नासीत्, त्वयि दूरस्थ एव स जात स्तदा ज्ञातम्, पुनरस्माकं साक्षान्न भविष्यतीति कृत्वा प्रतारणा एव भवता क्रियते, इत्याशङ्क्याह— मय्यावेश्येत्यादि मयि कृष्णे मन आवेश्य विधूताशेष वृत्ति यथा स्यात्तथा, यन्मामनुस्मरन्त्यो नित्यमवाप्स्यत-- अवाप्नुवन्, विभक्ति विपरिणामः, तदचिरात् चिरमततीति चिरात्, तच्चिरकालं न भविष्यति, साक्षात्

(भा० १०।८२।४४)—"मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥" ५०५॥

इति च । अथ तादृशञ्च मां भावविशेषसम्बलितमेव प्रापुरित्याह (भा० ११।१२।१३) "मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदः" इति 'रमण'-शब्देनात्र पतिरेवोच्यते, 'नन्दन'-शब्देन पुत्र इव रूढ्या यौगिकत्वबाधात् । यथा 'मित्रानन्दन'—शब्देन मित्रापुत्र एवोच्यते, न तु मित्रापतिः, मित्रारमण'--शब्देन च मित्रापतिः, न तु मित्रापुत्रः, तद्वदत्रापि । कोषमते च 'रमण'—शब्दः पत्यावेव रूढ़ः, "पटोलमूले रमणं स्यात्तथा रमणः प्रिये" इति विश्वप्रकाशात् । स्त्रीजाति-सम्बन्धे सति 'रमण'--शब्दवत् 'प्रिय'—शब्देन पतिरेवोच्यते, तथैव प्रसिद्धेः, "धवः प्रियः

संयोगएव सम्प्रति भविष्यतीत्यर्थः । आन्तरेण संयोगेन नित्यमधुना मालम्भन्त एव भवत्यः, किन्तु त्वरितं साक्षात् संयोगश्च भविष्यती वाक्यार्थः ॥"

क्या अभीतक हम सब का मनः संयोग नहीं था ? तुम दूर में रहने से ही मनः संयोग हुआ ? पुनर्वार साक्षात् कार नहीं होगा, इस प्रकार प्रतारणा कर रहे हो, इस प्रकार अभिप्राय को जानकर कहते हैं, मुझ कृष्ण में मनः आविष्ट होने पर अशेष वृत्ति विधूत हो गई हैं, अनुस्मरण जब होता है, तब नित्य प्राप्ति सुनिश्चित है, विभक्ति विपरिणाम के द्वारा अर्थ हुआ है । वह प्राप्ति अचिरात् है, चिरमतीति—चिरात् उक्त प्राप्ति हेतु विलम्ब नहीं होगा, सम्प्रति ही साक्षात् संयोग होगा, यह अभिप्राय है । आन्तर का संयोग तो नित्य ही है, किन्तु सत्वर साक्षात् सयोग भी होगा । यह वाक्यार्थ है । भा० १०।८२।४४ में उक्त है —

"मयि भक्ति र्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।
दिष्ट्या यदासीन्मत् स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥"

बृहत् क्रमसन्दर्भ—ननु भूतानामेव खल्वियं व्यवस्था न तु भवदुपरि दैवाधिकारः, नापि वयं भूतात्मान इत्याशङ्क्याह—मयि भक्तिर्हीत्यादि । मयि श्रीकृष्णे भगवति भूतानां प्राणिनां भक्तिः अमृतत्वाय मोक्षाय कल्पते, मोक्षाकाङ्क्षिणां भक्तेर्मोक्षदत्वाङ्गीकृतेः । भवतीनां भूतानुकम्पाणां पुनर्मयि यत् स्नेह आसीत्, तद् दृष्ट्या भाग्येनैव । कीदृशः ? मदापनः, मां प्रियत्वेन प्रापयतीति तथा । भक्ति स्नेहयोरयं विशेषः—भक्तिः कदाचिन्मोक्षमपि प्रापयतीति, स्नेहस्तु मामेव, अतो मत् प्राप्तिर्वः शाश्वती ।

दैवाधीन प्राप्ति तप्राप्ति होती है, यह व्यवस्था तो साधारण कर्माधीन जीवों के पक्ष में है, किन्तु आप के ऊपर दैवाधिकार तो है ही नहीं, हम सब भी भूतात्मा नहीं हैं । इस प्रकार आशङ्का कर कहते हैं,- मयि भक्ति र्हि । मैं श्रीकृष्ण रूप भगवान् हूँ । मुझ में भक्ति—मोक्ष प्रद है, मोक्षाभिलाषी को मुक्ति होती है, किन्तु भूतानुकम्पापरि पूरित स्वरूप आप सब की मेरे प्रति जो स्नेह हुआ है, वह स्नेह भाग्य से ही हुआ है । वह कैसा है ? मदापन है, स्नेह मुझ को प्रियरूप में प्राप्त करावेगा । भक्ति एवं स्नेह में यह विशेष है—भक्ति कदाचित् मोक्षद होती है, स्नेह किन्तु मुझ को प्राप्त कराता है । अतः मेरी प्राप्ति तुम सब के पक्ष में शाश्वती है ।

अनन्तर उक्त प्रकार भाव सम्बलित मुझ को ही उन्होंने प्राप्त किया है । उस को भा० ११।१२।१३ में कहा है—

पतिर्भर्त्ता" इत्यमरकोषाच्च । पतित्वं तूद्वाहेन कन्यायाः स्वीकारित्वमिति लोक एव, भगवति तु स्वभावेनापि दृश्यते, परमव्योमाधिपस्य महालक्ष्मीपतित्वं ह्यनादिसिद्धमिति । 'जार'-शब्देन सर्व्वत्रोपपतिरेवोच्यते,—"जारस्तूपपतिः समौ" इत्यमरकोषात् । उपपतित्वञ्चा-धर्म्मेण प्रतीयमानत्वम्, यथोपधर्म्मत्वमधर्म्मे धर्म्मायमानत्वमिति, उभयत्रापि वेदविरुद्धत्वात् । तदेव "जारः पाप-पतिः समौ" इति त्रिकाण्डशेषः । ततश्च जारत्वं रमणे नास्ति, रमणत्वञ्च जारे नास्ति, धर्म्मोपधर्म्मयोरिव द्रव्यस्य स्वामिचौरयोरिव च विरुद्ध-वस्तुत्वादिति स्थिते "ब्रह्म मां परमम्" इतिवन्नैकाधिकरणत्वं जारत्व-रमणत्वयोः सम्भवति ।

"मत् कामा रमणं जारमस्वरूप विदोऽबलाः ।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छत सहस्रशः ॥"

यहाँ 'रमण' शब्द से पति का बोध ही होता है, "नन्दन" शब्द से जिस रूढ़ि वृत्ति से पुत्र का ही बोध होता है, किन्तु आनन्द रूप यौगिक अर्थ लब्ध पति का बोध नहीं होता है, रूढ़ि वृत्ति यौगिक वृत्ति का बाधक है । जिस प्रकार "मित्रानन्दन" शब्द से मित्रापुत्र का बोध होता है, किन्तु मित्रापति का बोध नहीं होता है उस प्रकार 'मित्रारमण' शब्द से मित्रा पुत्र का बोध नहीं होता है, उस प्रकार ही यहाँपर अर्थ बोध करना होगा । विश्वप्रकाश कोष कार के मत में 'रमण शब्द पति में ही रूढ़ है, "पटोलमूले रमणं स्यात् तथा रमणः प्रिये" स्त्री जाति के सम्बन्ध में 'रमण' शब्द जिस प्रकार पति का बोधक हैं, उस प्रकार उसके सम्बन्ध में 'प्रिय' शब्द भी पति का ही बोधक है, प्रसिद्धि उस प्रकार ही है । "धवः प्रियः पति भर्त्ता" अमर कोष कार की उक्ति है ।

किन्तु लोक में ही पतित्व का व्यवहार—उद्वाह विधि से कन्या का स्वीकार करने पर होता है, भगवान् में स्वभाव सिद्ध रूप से भी ही होता है । परम व्योमाधिपति का महालक्ष्मी पतित्व अनादि सिद्ध ही है । आनुष्ठानिक नहीं है ।

'जार' शब्द से सर्वत्र उपपति का बोध होता है । अमरकोष कार के मत में जार एवं उपपति समानार्थक है, उपपतित्व अधर्म में धर्म भान होने से ही होता है, जिस प्रकार अधर्म में धर्म भान होने से उपधर्म शब्द का प्रयोग होता है । उप धर्म—एवं उपपति— वेद विरुद्ध होने के कारण धर्म नहीं है, मनो विलसित धर्म है । त्रिकाण्ड शेष में भी लिखित है—'जारः पाप पतिः समौ जार एवं पाप पति समानार्थ वाचक है । अतएव जारत्व रमण में नहीं है, रमणत्व भी जार में नहीं है, धर्म एवं उपधर्म—'धर्मरूप से प्रतीय माने का जिस प्रकार एकत्र समावेश नहीं होता है, द्रव्य का स्वामी, एवं चौर का एकत्र समावेश नहीं होता है, कारण—वे सब विरुद्ध धर्म हैं । उस प्रकार परम ब्रह्म—'मुझ को' प्राप्त किये हैं, 'ब्रह्म मां परमम्' जिस प्रकार अविरुद्ध धर्म होने के कारण एकाधिकरणत्व है, उस प्रकार—'जारत्व एवं रमणत्व' का विरुद्ध धर्म होने के कारण एकत्र अवस्थान असम्भव है ।

तज्जन्य प्राणाधिकारिणी गोपाङ्गना के कृष्ण सम्बन्ध का समाधान करते हुये जार एवं रमण विशेषण वाचक शब्दद्वय प्रयोग के द्वारा अर्थाधिक्य को दर्शाते हैं, अक्षराधिक्य से अर्थाधिक्य होता हैं, जार कहने से ही रमण का बोध होता है, तथापि रमण शब्द का प्रयोग किया गया, वह अधिक पद होगा । किन्तु उभय पद को सार्थक करना आवश्यक है, अतएव प्रयत्न के द्वारा उपपादन होने से वह प्रातीतिक होता है । निज स्वरूप शक्ति योग माया के द्वारा आत्मविस्मृति सम्पादन करवाकर नित्य पति होकर भी उपपति हुये हैं,

तस्मादधिकारिणीनां तासां विशेषणभेदेन तद्द्वयं समादधत् तदर्थञ्चैकस्य वास्तवत्वमन्यस्य त्ववास्तवत्वं दर्शयति—'मत्कामा रमणम्' इति 'जारमस्वरूपविदः' इत्याभ्यां तत्र जारत्वस्यैव प्रातीतिकमात्रत्वादवास्तवत्वं स्वामिभिरङ्गीकृतं नान्यस्य, "जारबुद्धिवेद्यमपि" इत्युक्तत्वात्। स्थापयिष्यते च तदिदमस्माभिरुत्तरत्र। ततश्चायमर्थः— स्वरूपं मन्नित्यप्रेयसी-रूपत्वमजानन्त्यो जन्मादिलीलाशक्त्या विस्मरन्त्यो मां जारं प्रापुः धर्म्मविरुद्धतया प्रतीतावपि रागातिशयेन जारतयापि स्वीकृतं प्रापुरित्यर्थः। तथा तत्प्राप्तावपि 'मत्कामाः' इति, (भा० १०।२९।३२) "यत् पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग" इत्यादिरीत्या मयि कामोऽभिलाष-विशेषः-कथमन्यत्र पतित्वं स्वप्नवद्विलीयेत, श्रीकृष्ण एव पतित्वं जाग्रद्वदाविर्भवेदित्येवंरूपो

एवं रसिकशेखर श्रीकृष्ण, रसास्वादन परिपाटी विशेष का विस्तार किये हैं,। प्रयत्न निष्पन्न हेतु जारत्व अवास्तव है, रमणत्व वास्तव है, इसका प्रदर्शन 'मत् कामा रमणं जारं' श्लोक में हुआ है। अर्थात् रमणत्व वास्तव है, जारत्व—अवास्तव है। 'मत् कामारमणम्' 'जारमस्वरूपविदः' वाक्य द्वय के द्वारा ही वास्तव अवास्तव अर्थ प्रतीत हुआ है। जारत्व ही प्रातीतिक होने के कारण अवास्तव है, अर्थात् 'योगमाया मुपाश्रितः" रीति से अघटन घटन पटीयसी निज चिच्छक्ति के द्वारा इस प्रकार जारभावीय परिवेश का सृजन किया गया था, वह असमोर्द्ध्व आस्वादन कौतुक के निमित्त ही हुआ था,अतएव आवास्तव है, स्वामिपादने भी 'जार बुद्ध्यापि सङ्गता' की टीका में 'जार बुद्धि वेद्यमपि' कह कर जार भाव को अवास्तव कहा हैं। इस के बाद अग्रिम ग्रन्थ में निपुणता पूर्वक उसका प्रदर्शन भी करेंगे। अतएव 'रमणं जारं मां प्रापुः" वाक्य का यह ही अर्थ है।

'अस्वरूप विदः" व्रजाङ्गनागण—मदीय चिच्छक्ति के प्रभाव से मदीय नित्य प्रेयसी स्वरूप को विस्मृत होकर—अर्थात् लीला सम्पादन कारिणी मदीय चिच्छक्ति के द्वारा नित्य प्रेयसी वर्गका जन्मादि लीला संघटित होने पर मुझ को नित्य परमप्रिय को जार रूप से प्राप्त किये।

'नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढ़ा तद् गोकुलाम्बुज दृशां कुलमन्तरेण।
आशंसया रस विधेरवतारितानां कंसारिणा रसिकमण्डल शेखरेण" (उज्ज्वल)

लौकिक रसशास्त्र में 'परदाराननाभिगच्छेत्' परदारगमन न करे, निषिद्ध होने के कारण औपपत्य पापावह है, अतः औपपत्य का समर्थन नहीं हुआ है, किन्तु वह औपपत्य अर्थात् जार भाव—व्रजीय गोपाङ्गनागण व्यतीत है, निन्दनीय है, व्रजसीमन्तिनी गण का जार भाव ही है, और श्लाघनीय एवं सर्वत्र सर्वदा अभिवन्दनीय जार भाव के विना व्रजीय उत्तमा भक्ति 'अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा" नहीं हो सकती है, विषय वैराग्य श्रीकृष्ण में असमोर्द्ध्व तृष्णा एवं मदीयत्वेन तन्मयता से सेवा इस से ही सम्भव है। 'न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां" यह श्रीकृष्णोक्ति है। अतएव अलौकिक पारकीयत्व में ही परम रसोत्कर्षत्व है। अतएव उद्दाम तृष्णा, प्रबल आसक्ति से ही जार बुद्धि से भी स्वीकृत परम ब्रह्म रूप कान्त श्रीकृष्ण को नित्य श्रीरूपिणी नित्य प्रेयसी व्रजाङ्गना गणों ने प्राप्त किया। यह है —

"मत् कामा रमणं जारमस्वरूप विदोऽबलाः ब्रह्म मां परमं प्रापुः" पद्य का अर्थ।

उस प्रकार जार भाव से प्राप्ति में दुर्द्दम्य लालसा ही एकमात्र कारण है, उसका कथन उक्त श्लोकस्थ 'मत्कामाः शब्द से हुआ है, भा० १०।२९।३२ में उक्त है—

यासां तादृश्यः सत्यो रमणरूपमेव मां प्रापुरिति। एतदर्थमेव पृथक्--कृत्य तासां विशेषणाभ्यां सह स्वविशेषण--द्वयं मत्कामा रमणम्' इति, 'जारमस्वरूपविदः इति यथायोगं न पठितम्, न तु 'ब्रह्म मां परमम्' इत्येभिः सह कृतम्। तदिदं स्वेषु तदीयस्वीयात्वं प्रकटयितुमपि तासां प्रार्थनापि दृश्यते। यस्मात् (भा० १०।४७।२१) "अपि बत मधुपुर्य्यामार्य्यपुत्रोऽधुनास्ते" इत्यत्र

> 'यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग ! स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
> अस्त्वेवमेतदुपदेश पदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा।।"

टीका—अपि च यदुक्तं पत्यपत्येत्यादि त्वया धर्मविदेति सोपहासम्। एवमेतदुपदेशानां पदे विषये त्वय्येवास्तु। उपदेश पदत्वे हेतुः ईश इति। विविदिषा वाक्येन सर्वोपदेशानामीशपरत्वावगमादिति भावः। ईश्वरत्वे हेतुः आत्मा किल भवानिति। भोग्यस्य हि सर्वस्य भोक्ता आत्मैवेश इत्यतः प्रेष्ठो बन्धुश्च भवानेवेति सर्वं बन्धुषु करणीयं त्वय्येवास्त्वित्यर्थः। अथवा यदुक्तमेतदुपदेशपदे तद् गोचरे पुरुषेऽस्तु नाम त्वयि तु ईशे स्वामिने सत्येवम्। कावचा नैव मित्यर्थः। यतस्तनुभृतां त्वमात्मा। फल रूप इति। यद्वा यदुक्तं पत्यादि शुश्रूषणं धर्म इति एवमेतत् त्वय्येवास्तु। कुत उपदेशपदे शुश्रूषणीय त्वेन उपदिश्यमानानां पत्यादीनां पदे अधिष्ठाने। कुतः ईशे। न हीश्वराधिष्ठानं विना कोऽपि पतिपुत्रादिर्नामेति। अन्यत् समानम्। अलमति विस्तरेण।

तुमने जो कुछ कहा है, वे सब ठीक ही हैं, कारण तुम तो धर्म वेत्ताओं में वरिष्ठ हो, तब ही तो तुमने पति पुत्र प्रभृति की सेवा में आत्म नियोग करने के निमित्त उपदेश दिया। किन्तु यह उपदेश तुम्हारे चरण में ही सफल होकर रहे, उपदेश स्थान तो तुम ही हो, कारण तुम ईश्वर ही अध्यक्ष हो स्वामी हो, कारण—समस्त उपदेश वाक्यों का पर्य्यवसान ईश्वर में ही होता है, अर्थात् ईश्वर की परिचर्य्या से सब की परिचर्य्या सुष्ठु रूपेण सफल होती है। क्यों तुम ईश्वर हो, सुनो, शुननेमें आया है,आप तो आत्मा हो, प्रेष्ठ हो, बन्धु भी हो। समस्त भोग्य वस्तु का भोक्ता आत्मा ही है, अतः निखिलात्मारूप ईश ही भोक्ता हैं, आप तो प्रेष्ठ हो, बन्धु भी हो, अतः समस्त बन्धुओं की जो परिचर्य्या करणी है, वह तुम्हारे परिचर्य्या में मिलित हो जाय,।

अथवा धर्मोपदेश समूह—धर्मोपदेष्टा तुम रहते हुये अन्यत्र कहाँ सफल होंगे। हम सब सती हैं, और धर्मज्ञ के पास हम सब धर्म जिज्ञासु भी हैं, अतएव तुमने धर्मज्ञ होकर जो कुछ कहा है, वह ठीक है, किन्तु तुम तो हमारे धर्मोपदेष्टा नहीं हो, किन्तु आप तो आत्मा हो न, प्रिय को छोड़कर किस की सेवा करें। अथवा तुमने जो कुछ उपदेश दिया है, वह तुम्हारे सम्पर्कित पुरुष में विनियोग होना ठीक है, किन्तु तुम तो ईश हो स्वामी हो तुम रहते हुये पति पुत्रादि की परिचर्य्या की कथा हो ही नहीं सकती है, कारण, तुम शरीर धारियों का आत्मा हो फल रूप प्रीति स्वरूप हो। अथवा, तुमने तो कह ही दिया है, 'पति की सेवा करना ही स्त्री धर्म है' वह उपदेश तुम्हारे में ही अन्वित होता है, कारण—सेव्य रूप से उपदिष्ट जितने भी पति प्रभृति हैं, उन सब में तुम ही तो हो, कारण, तुम ईश्वर हो, ईश्वर अधिष्ठान के बिना पति पुत्रादि नाम से किस का बोध होगा ? इत्यादि रीति से मेरे प्रति तुम सब का काम—अभिलाष विशेष है, अन्यत्र पतित्व कैसे सम्भव होगा, वह तो स्वप्नवत् विलीन हो जायेगा ? अर्थात् जागतिक पतित्व—स्वप्न दृष्ट पदार्थ के समान ही है, किन्तु श्रीकृष्ण में ही जो पतित्व है, वह जाग्रत अवस्थास्थित पदार्थ के समान नित्याविर्भूत है।

सती वृन्दाराधित चरण व्रजसीमन्तिनीगणने नित्य पति रूप मुझ को रमण रूप में प्राप्त किया।

तदीयात्व एव स्वाभिमतिं व्यज्य तत्र च 'किङ्करीणाम्' इत्यनेन दैन्यात् पुनस्तदपलाप्य पुनरुत्कण्ठया (भा० १०।४७।२१) "भुजमगुरुसुगन्धम्" इत्यादिना स्पष्टतयैव स्वीयात्वेन स्वेषु तदीयस्वीकारस्याभिकाङ्क्षा-व्यञ्जना श्रीराधादेव्या कृतेति हि गम्यते। दैन्यञ्चात्र पतित्व-कामनायामपि (भा० १०।२२।१५) "श्यामसुन्दर ते दास्यः" इतिवद्गम्यम्। स्पष्टञ्च तद्-

इस प्रकार समीचीन अर्थ है। इस अभिप्राय को व्यक्त करने के निमित्त ही उक्त वाक्य में अपने को 'मत् कामा रमणम्' 'जारमस्वरूपविदः' विशेषण द्वय से विशेषित कर प्रकाश किया है, किन्तु 'ब्रह्म मा परमम्' पद का पाठ उसके साथ नहीं किया है, व्रजाङ्गना गण श्रीकृष्ण की निजी प्रेयसी हैं, श्रीकृष्ण भी उनके निज नित्य प्रिय हैं। 'श्रियः कान्ताः कान्तः परमः पुरुषः' ब्रह्मा जीने कहा है। उक्त तदीयस्वीयात्व प्रकट करने के निमित्त व्रजाङ्गनागण की प्रार्थना भी देखने में आती है, कारण—भा० १०।४७।२१ में उक्त है—

'अपि वत मधुपुर्य्यामार्य्यपुत्रोऽधुनास्ते
स्मरति स पितृ गृहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते।
भुजमगुरु सुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥'

वृहत् क्रमसन्दर्भ—निराकाङ्क्षतां प्रतिपादयन्ती निराकाङ्क्षमिव गच्छन्तं तं मत्वा पुनराह—अपि वतेत्यादि। अपि सम्बोधने, प्रश्ने वा, वत खेदे। हे सौम्य! आर्य्यपुत्रो व्रजराज पुत्रोऽधुना मधुपुर्य्यामास्ते, किं ततोऽपि दूरं गत इत्यधुना शब्द द्योत्यम्। मधुपुरीस्थितत्वे सुखलभ्य भवति तद्वार्त्ता। तत्रैवास्ते। इति चेत्, सकिं पितृगेहान् स्मरति? पुंस्त्वमार्षम्। स्मरत्येवेति चेत् गोपान् स्वरति स्मरत्येव। किं बन्धून् वयस्यान् स्मरति? स्मरत्येव। भद्रं भद्रम्। किङ्करीणां नोऽस्माकं क्वचिदपि प्रस्ताव विशेषे कथां वृणीते कथयति? कथयत्येव। सततमेवेति चेत् कदा नु। भो नोऽस्माकं मूर्द्धनि अगुरु सुगन्धं भुजमधारयत् धास्यति। विभक्ति व्यत्ययः। इतः परं वाष्प रुद्ध कण्ठत्वात्तूष्णीमेव तस्थौ। तत्राप्युन्मादोऽङ्गी, वितर्कौत्कण्ठ्यादयोऽङ्गानि। संलाप उक्ति वैचित्र्यम्॥

निस्पृहता का प्रतिपादन करते हुये निस्पृह के समान चले जाने वाले को देखकर पुनर्वार कही, अपिवतेत्यादि के द्वारा। 'अपि' शब्द सम्बोधन में अथवा प्रश्न में प्रयुक्त है, 'वत' शब्द 'खेद' में प्रयोग होता है। हे सौम्य। अधुना, आर्य्य पुत्र—व्रजराज पुत्र, मधुपुरी में हैं। अथवा उस से भी दूर देश में हैं, अधुना शब्द से व्यञ्जित हुआ है, मधुपुरी में रहने पर वार्त्ता सुख लभ्या होती। वहाँपर ही यदि अवस्थित हैं, तो क्या पितृ गृह का स्मरण करते हैं? पुरुषोत्तमलिङ्ग का प्रयोग गृह शब्द में आर्ष प्रयोग के कारण हुआ है। स्मरण यदि करते ही होगा, तो गोपगण का स्मरण अवश्य ही करते हैं। बन्धुगण का वयस्यवृन्द का स्मरण करते हैं? अवश्य ही स्मरण करते हैं। सतत ही करते हैं, तो किस समय स्मरण करते हैं, हमारे मस्तक में अगुरु सुगन्ध भुज का स्थापन क्या करेंगे? विभक्ति व्यत्यय हुआ है। यह कहकर वाष्परुद्ध कण्ठ होने से चूप हो गई, कुछ भी कह न पाई। यहाँ उन्माद—अङ्गी है, वितर्कौत्कण्ठ्यादि अङ्ग हैं, उक्ति वैचित्र्य को संलाप कहते हैं।

'अपिवतमधु पुर्य्यामार्य्य पुत्रोऽधुनास्ते' वाक्य से तदीयात्व में निज सम्मति प्रकट हुई है। 'किङ्करीणाम्' वाक्य से दैन्यपूर्वक उसका अपलाप कर पुनर्वार उत्कण्ठा से 'भुजमगुरु सुगन्धम्' इत्यादि के द्वारा स्पष्ट रूप से ही स्वीयात्वेन तदीय स्वीकार की अभिव्यञ्जना श्रीराधा देवीने की है। पतित्व कामना में ही यहाँ दैन्य प्रकाश हुआ है। भा० १०।२२।१५ में उस प्रकार ही कथित है।

स्वीकरण-प्रार्थना च। यद्यपि (भा० १०।४६।४) "मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः' इत्यनेन "वल्लव्यो मे मदात्मिकाः" इत्यनेन चास्मासु स्वीयात्वभावस्तस्यापि मनसि वर्त्तत एव, तथापि "धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण" इत्यादि-स्वाभिप्रायेण यद्यागत्य स्पष्टमेव स्वीक्रियामहे, तदैवास्माकं निस्तारः स्यादिति तस्याभिप्रायः। तस्मात् साध्वेव तथा व्याख्यातम् "मत्कामा रमणम्" इति।

अथ प्रस्तुतमेवानुसरामः। जारतया प्रतीतत्वेन रमणत्वेन च प्राप्तौ हेतुः—अबला

'श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम्।
देहि वासांसि धर्मज्ञ नोचेद्राज्ञे ब्रुवामहे।"

वृहत्क्रमसन्दर्भ—किं करिष्यामि, तदुच्यतामित्याशङ्क्याह—देहि वासांसि। क्षणं तिष्ठत, विलम्बेन दास्यामीत्याशङ्क्याह वेपिताः, कम्पिताः स्म इत्यर्थः। तत्रैवान्याः सदैन्यमूचुः श्यामेत्यादि। हे सुन्दर ! ते दास्यः स्याम भवामः,वचसैव किं वा चरितेनेत्याशङ्क्याहुः—करवाम तवोदितम्। करिष्याम इत्येवास्माक मभिप्राय इत्यर्द्धोक्ते काश्चिदन्याः साममुद्रां परित्यज्य भय प्रदर्शन मुद्रान्तर मुद्भाव्य आह—नो चेत्। एवं साम्ना विनयेनापि यदि वासांसि न ददासि, तदा राज्ञे व्रजराजाय ब्रुवामहे ज्ञापयिष्यामः। इत्यासां त्रैविध्यमुक्तं भवति—मध्या, मृद्वी मुखरा चेत् तत्र मामयं भो इति मध्याः, श्याम सुन्दरे त्यत्र मृद्व्यः, नो चेदित्यादौ मुखराः। धर्मज्ञेति विपरीत लक्षणया परिहासश्च व्यङ्ग्यः, नहि धर्मज्ञो दासीनां वस्त्रमपहरति परन्तु ददात्येव, तेन त्वधर्मज्ञ एवेति चतुरा वा न तु मृद्व्यः॥"

क्या करेंगे ? कहो, इस प्रकार विमर्श के उत्तर में कन्यकाओं ने बोली, वासांसि देहि, वसन समूह प्रदान करो, थोड़ी देर रूक जाओं, विलम्ब में प्रदान करेंगे, इस आशङ्का से कही, वेपिताः, हमसब शीत कम्पिता हैं, उस समय अपरोंने सदैन्य बोली,—हे सुन्दर ! तुम्हारी दासी बनूँगी। वाणी से ही अथवा आचरण से ? उत्तर में कही, तुम्हारा आदेश पालन करूँगी, यह अभिप्राय हम सब का है, इस के बीच में अपरों ने सन्तोष नीति को परित्याग कर भय नीति को अपनाया, तथा मुद्रान्तर उद्भावन के साथ बोली-- विनयं से यदि वस्त्र प्रदान नहीं करोगे तो व्रजराज नन्द महाराज को कह दूंगी। उक्त प्रसङ्ग में तीन श्रेणी की कन्यका थीं, मध्या, मृद्वी, मुखरा। अनीति न करो, मध्या की उक्ति है, श्यामसुन्दर—मृद्वी की उक्ति है, एवं यदि 'नहीं दोगे' मुखरा की उक्ति है। धर्मज्ञ शब्द—विपरीतलक्षणासे परिहास का सूचक है। धर्मज्ञ कभी दासीओं का वस्त्रापहरण नहीं करता है। किन्तु देता है, अतः तुम अधर्मज्ञ ही हो, यह चतुर गोपी की उक्ति है, इस प्रसङ्ग के समान ही (भा० १०।४७।२१) भुजमगुरु सुगन्धम् में स्वीयात्व भावना परिव्यक्त है। उक्ति भी स्पष्ट है, एवं स्वीकरण प्रार्थना भी सुस्पष्ट है यद्यपि भा० १०।४६४ में उक्त है—

'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठ मात्मानं मनसागताः।
ये त्यक्त लोक धर्माश्च मदर्थे तान् विभर्म्म्यहम्॥"

टीका—गोपीनां विशेषतः सन्देशे कारण माह ता इति। मय्येव सङ्कल्पात्मकं मनो यासां ताः, अहमेव प्राणो यासां ताः। मदर्थे त्यक्ता दैहिकाः पति पुत्रादयो याभिस्ताः। ततः किमत आह,—ये त्यक्त लोक धर्मा इति। मन्निमित्तं त्यक्तौ लोकधर्मौ इहामूत्र सुखे तत् साधनानि च यैस्तान् विभर्मि--पोषयामि- संवर्द्धयामि-सुखयामीत्यर्थः।

इति। एतत्पदेन हि तासु निज-कारुण्यं व्यञ्जितम्। तेन च तस्य कारणम् (भा० ११।१२।१०) "रामेण सार्द्धम्" इत्याद्युक्तं तासां महाप्रेम स्मारितम्। तस्मात्तथा मत्प्राप्तौ तादृशमहा-प्रेमैव हेतुरित्यर्थः। तदेवमुभयथाप्राप्तावपि मत्कामा इत्यनेन रमणतया प्राप्तावेव पर्य्याप्ति र्दर्शिता। तन्यथा तु (भा० ९।४।६३) "अहं भक्तपराधीनः" इति, (भा० १०।१४।२) 'स्वेच्छामयस्य' इति, (गी० ४।११) "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इति च प्रतिज्ञाहानिः स्यात्। तत्र 'ये यथा' इति येन कामनाप्रकारेणेत्यर्थः, तत्क्रतुन्यायात्। तदेवं तासामभीष्टपूर्णं कैमुत्येनैवायातम्। ततश्चास्तां तासां तदीयपरमलक्ष्मीरूपाणां वार्त्ता, तत्सङ्गादन्या अपि शतसहस्रशस्तथा मां

विशेष रूपसे गोपीयों के प्रति सन्देश प्रेरण का कारण यह है— गोपीओं का सङ्कल्पात्मकमन-मेरे में ही निबद्ध है, उन सब का एकमात्र प्राप्य मैं ही हूँ। उन्होंने मन्निमित्त पति पुत्रादि दैहिक सम्बन्ध त्याग किया है। एवं लोक धर्म का भी परित्याग किया है, जिन्होंने लोक धर्म—इस जगत् एवं परजगत् की सुख लिप्सा एवं तदनु रूप साधन समूह का त्याग किया है, उसका पोषण, संवर्द्धन करता हूँ, एवं उसे सुखी करता हूँ। भा० १०।४६।४ में कहा भी है।

"धारयन्त्यति कृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
प्रत्यागमन सन्देशै र्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥

टीका—गोकुलान्निर्गमन समये शीघ्रमागमिष्यामीति ये प्रत्यागमन सन्देशास्तैः। मे मदीया बल्लव्यो गोप्यः मदात्मिका इति तासामात्मा यदि स्वदेहे स्यात् तर्हि विरह तापेन दह्येतैव तस्य मयि वर्त्तमानत्वात् कथञ्चिजीवन्तीति भावः।

गोकुल से आते समय मैंने कहा था 'सत्वर आयेंगे' उस सन्देश को अवलम्बन कर वे सब जीवित हैं, कारण वे सब मदात्मिका हैं, उन सब के आत्मा का अवस्थान यदि उन सब के देह में होता, तब वह विरहानल से दग्ध हो जाता, किन्तु आत्मा मुझ में विद्यमान होने से दग्ध नहीं हुआ, वे सब कथञ्चित जीवित हैं। इस प्रस्ताव से प्रकट होता है कि स्वीयत्व भावना श्रीकृष्ण के मन में भी है। तथापि कहा गया है—'धारयन्त्यति कृच्छ्रेण' अतिक्लेश से प्राण धारण करती है, इसका अभिप्राय यह है कि— यदि यहाँ सुस्पष्ट रूप से आकर स्वीकार करें, तब ही हम सब का निस्तार होगा। यह ही श्रीकृष्ण का कथनाभिप्राय है। अतएव उस रीति से 'मत् कामारमणं जारमस्वरूपविदेऽबलाः, ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छत सहस्रशः' की उत्तम व्याख्या हुई।

अनन्तर प्रकरण प्राप्त विषय का वर्णन करते हैं। 'मत् कामा' श्लोक में प्राप्ति स्वरूप का वर्णन हुआ है, उस में 'जारं' प्रयोग है, किन्तु जार रूप में प्रतीत होने पर भी रमण रूप में ही प्राप्ति हुई। उसके प्रति कारण यह है—'अस्वरूपविदः अबलाः' अन्तरङ्गा चिच्छक्ति के द्वारा स्वरूप सङ्गोपन होने के कारण नित्य कान्ता कान्त का अनुसन्धान नहीं था, रसविधि प्रदर्शन के निमित्त रसिक शेखर कृष्णने नित्य पति होते हुये भी उपपति प्रतीत कर वाया था, 'अतैव परमोत्कर्षः श्रृङ्गाररस का परमोत्कर्ष स्थापित हुआ है। अबला पद प्रदान से व्रजाङ्गना गणों के प्रति श्रीकृष्ण का कारुण्य प्रदर्शित हुआ है। उसका सहेतुक वर्णन भा० ११।१२।१० में इस प्रकार है—

'रामेण सार्द्धं मथुरां प्रणीते श्वाफल्किनामय्यनुरक्त चित्ताः।
विगाढ़ भावेन न मे वियोग तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय॥

प्रापुरित्याह—सङ्गादिति । अत्रैवं विवेचनीयम्—तासां नित्यप्रेयसीनां तस्मिन् जारत्वं न सम्भवत्येव । श्रीमद्दशार्णादौ हि तन्नाम्ना तासां पतित्वेनैवासावभिधीयते—"वल्लभो दयितेऽध्यक्षे" इति विश्वप्रकाशादि-गत'वल्लभ'-शब्दस्य द्व्यर्थत्वेऽपि दयितत्वस्य तास्वर्हत्वात् । गौतमीयतन्त्रे च तन्मन्त्रव्याख्यायां पतित्वेनैव तद्व्याख्या दृश्यते । तन्नाम्नः खलु ब्रह्मत्वेश्वरत्व-योगेन व्याख्याद्वयं विधायोत्तरपक्षत्वेनाभीष्टं व्याख्यानमाह गौतमीयतन्त्रे द्वितीयाध्याये दशार्ण-व्याख्यायाम्,—

टीका—गोपीनां भावं प्रपञ्चयति रामेणेति चतुर्भिः । इदाफल्किना अक्रूरेण, मयि प्रणीते सति मे मत्तोऽन्यं सुखाय न ददृशुः । कुतः—वियोगेन तीव्रो दुःसह आधिर्यासां ताः । अत्र हेतुः । मयि विगाढ़ेन अति दृढ़ेन भावेन प्रेम्णा अनुरक्तानि संसक्तानि चित्तानि यासां ताः ।

गोपीओं का भावका वर्णन करते हैं, अक्रूर ने जब मथुरामें मुझको ले आया था, उस समय मुझ को छोड़ अपर किसी वस्तु को गोपीओंने सुखद नहीं माना । कारण वियोग व्यथा से मन तीव्रभाव से ग्रस्थ था । कारण यह है कि,—मेरे प्रति अति विगाढ़ भाव रूप प्रेम के द्वारा उन सब के चित्त समूह संसक्त थे । इस से गोपीओं की महाभावावस्था का स्मरण हुआ है । तज्जन्य मदीय प्राप्ति में उस प्रकार महाभाव रूप महाप्रेम ही हेतु है । अतएव जार भाव एवं रमणभाव से प्राप्ति में भी 'मत् कामारमणं जारं' वर्णन रमण रूप प्राप्ति में ही पर्य्यवसित होता है । ऐसा स्वीकार न करने पर भा० ९।४।६३ में उक्त—

अहं भक्त पराधीनोह्यस्वतन्त्र इवद्विज ।
साधुभि र्ग्रस्तहृदयो भक्तै र्भक्त जन प्रियः ।।

हे द्विज ! में अस्वतन्त्र जनके समान ही भक्त पराधीन हूँ ।
भक्त साधुगण के द्वारा हृदय अधिकृत हो गया है, मैं भी भक्त जन प्रिय हूँ (भा० १०।१४।२)

अस्यापिदेव वपुषो मदनुग्रहस्यस्वेच्छामयस्य नतु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशे महित्ववसितुं मनसान्तरेण साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ।।"

टीका—ननु नौमीति प्रतिज्ञाय किं स्वरूपानुवाद मात्रं क्रियते ? अत आह,—अस्यापीति । भो देव अस्यापि सुलभत्वेन प्रकाशित स्यापि तव वपुषोऽवतारस्य महि—महिमानम् अवसितुं—ज्ञातुं न शक्यते,—अत आह, नतु भूतमयस्य, अचिन्त्य शुद्ध सत्त्वात्मकस्य यदा अस्यैव तदा कथं पुनः साक्षात् तव केवलस्य आत्म सुखानुभूतेरेव स्वसुखानुभव मात्रस्यावतारिणो गुणातीतस्य महिमानम् अन्तरेण निरुद्धेनापि मनसा को वा ज्ञातुं समर्थो भवेत् ।

अथवा, भूतमयस्य—अपितु विराड् रूपस्य तव, तन्नियम्यस्य वपुषो महिमानमवसितुं कोऽपि नेशो तदा साक्षात् तवैवासाधारणस्य नियम्य नियन्तृ भेद रहितस्योक्त लक्षणस्यास्य महिमानमवसितुं कोऽपि नेशो—इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ।

प्रभो ! अति सुलभ रूप से नराकृति में अवतीर्ण आप के वपु की महिमा का वर्णन कोई नहीं कर सकता है, अर्थात् ब्रह्मा भी जानने में अक्षम हैं । कोई भी समर्थ हैं ही नहीं । सुलभ अवतार के प्रति मदनु ग्रहस्य—स्वेच्छामयस्य' हेतुद्वय हैं । मेरे प्रति अनुग्रह तथा भक्त वृन्दों के प्रति अनुग्रह करने के निमित्त अवतीर्ण होते हैं, अर्थात् भक्त गण की इच्छा से ही आप अवतीर्ण होते हैं । क्यों नहीं जान सकते हैं ? कहते हैं, आपका देह भूतमय नहीं है, अचिन्त्य शुद्ध सत्त्वात्मक ही है, जब स्थिति ऐसी ही है, तब केवल

"अनेकजन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रैलोक्यानन्दवर्द्धनः ॥"५०६। इति

अत्रानेकजन्मसिद्धत्वमनादिकल्पपरम्पराप्रादुर्भूतत्वमेवोच्यते, (गी० ४।५) "बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन" इतिवत्। वैवस्वतमन्वन्तरान्तर्गतावश्यम्भावं तत्प्रादुर्भावं विना कल्पाभावात्, अनादिसिद्धवेदप्राप्त-तत्तदुपासनासिद्धानादित्वात्, तदेकपतित्वञ्च तत्तन्मन्त्रोपासनाशास्त्रे तासां कालानवच्छेदेन तदाराधन-तत्परतया स्थितानां ध्यातुं विधीयमानत्वात्, पत्यन्तरसम्बन्धगन्धस्याप्यश्रवणात्। तथा च ब्रह्मसंहितायाम् (५।३७)

आत्म सुखानुस्वरूप आप हैं, स्वसुखानुभावमात्र अवतारी गुणातीत की महिमा को निरुद्ध मनके द्वारा भी कौन जान सकता है।

अथवा विराड़् रूपकी ही वर्णन महिमा को कोई नहीं जान सकता है, आप तो साक्षात् नियम्य नियन्तृभेद रहित हैं, आपकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है। एवं गीता ४।११ में वर्णित "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" जो जिस प्रकार प्रपन्न होकर भजन करता है, मैं उसके अनुरूप भजन ही करता हूँ, इस प्रकार प्रतिज्ञा हानि भी होगी। अतएव तत् क्रतु न्याय से जो जिस प्रकार कामना करता है, उस प्रकार कामना के अनुसार ही फल प्राप्ति होती है। अतएव गोपीओं की कामना के अनुसार ही प्राप्ति भी हुई, अर्थात् 'देवि पतिं कुरु' क्रीड़ा परायण कृष्ण पति हो, श्याम सुन्दर! तुम जो कुछ कहोगे, हम सब को स्वीकार है। इस रीति से गोपीओं की अभीष्ट पूर्त्ति यथावत् हुई थी। यह कैमुत्य न्याय लब्ध अर्थ है। परम लक्ष्मी रूप स्वरूप शक्ति लक्षण गोपीओं की वार्त्ता ही क्या है, उनसब के सान्निध्य से ही शत सहस्र व्यक्ति की भी श्रीकृष्ण प्राप्ति उस भाव से हुई। उसका वर्णन— "सङ्गात् शतसहस्रशः" शब्द से हुआ है। यहाँ पर विवेचनीय यह है कि—परम पुरुष श्रीकृष्ण में जारत्वं की सम्भावना नहीं है, साधारण स्त्रीगण का पतित्व जब श्रीकृष्ण में सुसिद्ध है, तब नित्य प्रेयसी रूप अन्तरङ्ग स्वरूप शक्तिभूतागोपी गण का पतित्व श्रीकृष्ण में है ही। पिङ्गला की उक्ति यह है—

सुहृत् प्रेष्ठ तमोनाथ आत्मा चायं शरीरिणाम्।
तं विक्रियात्मनैवाहं रेमेऽनेन यथा रमा। भा० ११।८।३४

शरीरिवृन्द के सुहृत्, प्रियतम, पति, आत्मा श्रीहरि को आत्म निवेदन पूर्वक— आत्म दान रूप मूल्य के द्वारा क्रय करके लक्ष्मी के समान उनके सहित मैं रमण करूँगी।

"सन्तुष्टा श्रद्धधत्येतद् यथा लाभेन जीवती।
विहर म्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ॥ (१०।८।३९)

मैं यथालाभ से जीवन धारण पूर्वक श्रद्धा के सहित सन्तुष्ट चित्त से श्रीहरि के सहित विहार करूँगी।

लक्ष्मी देवी की उक्ति में भी प्रदर्शित हुआ है—

"स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं समन्ततः पाति भयातुरं जनम्।

जो स्वयं अकुतोभय है, एवं भयातुर की रक्षा सर्वतोभावेन करते हैं। वह ही पति शब्द वाच्य हो सकता है, वह आप हैं, एक हैं, अनेक होने से भीति की सम्भावना होती, आपतो आत्मलाभ व्यतीत अपर वस्तु को बहु मान प्रदान नहीं करते हैं।"अतएव पति शब्द से श्रीकृष्णका ही बोध होता है।

दशाक्षर मन्त्र प्रभृति में भी नामतः गोपीगणों के पति रूप में ही श्रीकृष्ण का उल्लेख है। उक्त मन्त्र में 'वल्लभ' शब्द का प्रयोग है, विश्व प्रकाशकार के मत में वल्लभ शब्द का अर्थ दयित एवं अध्यक्ष है,

"आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि,--स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥"५०७॥ इति।

अत्र निजरूपतया स्वीयतया, न तु परकीयतया लक्षिताभिरताभिः कलाभिः शक्तिभिः, (ब्र० सं० ५।२९) "लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्" इत्युक्तरीत्या मन्त्रतरतद्वृन्दप्राप्तया च गोपीरूपाभिः सह 'गोलोक एव निवसति' इति प्रकटलीलायामिव परकीयात्वप्रपञ्चनं निषिद्धम्, कलात्वेनैव निजरूपत्वे प्राप्ते निजरूपतयेत्यस्य तथैव सार्थकत्वात्। तथैवोक्तम् (ब्र० सं० ५।५६) "श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः" इति। अत्र श्रीपरमपुरुषयोरौपपत्यं न

वल्लभ शब्द का अर्थ द्वय सुस्पष्ट होने पर भी गोपी जन गण के सम्बन्ध में 'दयित' अर्थ समीचीन है। गौतमीय तन्त्रस्थ उक्त मन्त्र व्याख्या में पति रूप में ही उक्त वल्लभ शब्द का अर्थ हुआ है। श्रीकृष्ण नाम का अर्थ ब्रह्म एवं ईश्वर करके उत्तरपक्ष का ही अभीष्टत्वस्थिर हुआ है। अतएब गौतमीयतन्त्र के द्वितीय ध्याय में दशार्ण व्याख्या इस प्रकार है—

"अनेक जन्मसिद्धानां गोपीनां पतिरेव वा नन्दनन्दन इत्युक्तस्त्रैलोक्यानन्दवर्द्धनः" अनेक जन्मसिद्ध गोपीओं का पति हैं, वह त्रैलोक्यानन्द वर्द्धन नन्दनन्दन हैं। गोपीओं का अनेक जन्म सिद्धत्व शब्द से जानना होगा—

अनादि कल्प परम्पराप्राप्त प्रादुर्भूतत्व है। गीता में उक्त है—"बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन" मेरा एवं तुम्हारा अनेक जन्म व्यतीत हो चूके हैं, उसका विवरण मैं जानता हूँ। तुम नहीं जानते हो। यहाँ जिस प्रकार आविर्भाव को जन्म शब्द से उल्लेख किया गया है, उस प्रकार अनेक जन्म सिद्धानां गोपीनाम्" शब्द से भी आविर्भाव को ही जानना होगा। वैवस्वत मन्वन्तरान्तर्गत अष्टाविंशतिचतुर्युगीय आविर्भाव व्यतीत अपर कल्प में श्रीराधा कृष्ण का आविर्भाव उत्तमाभक्ति प्रचारार्थ नहीं होता है। अनादि सिद्ध वैदिक परम्परा प्राप्त श्रीश्रीराधाकृष्ण की उपासना भी अनादि सिद्ध है।

श्रीकृष्णका ही एकमात्र पतित्व है,श्रीकृष्णोपासनामन्त्रके द्वारा निरन्तर गोपी जन सम्बलित श्रीकृष्ण की उपासना विहित है, ध्यान भी "गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं" रूप से ध्यान का विधान भी है।

अद्वय ज्ञान तत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं, द्वितीय राहित्य ही उनका स्वरूप है, स्वरूप शक्तिभूत प्रियावर्ग हैं, श्रीकृष्णाभिन्न अपर व्यक्ति का अभाव होने के कारण स्वरूपशक्ति भूत गोपरामाजनों का पत्यन्तर सम्बन्ध गन्ध नहीं है," पति एवं उपपति स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं। ब्रह्म संहिता ५।३७ में उसका सुस्पष्ट वर्णन है,

"आनन्द चिन्मय रस प्रतिभ विताभिस्ताभिर्य एव निजरूप तया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"अखितात्मभूतो यः—आनन्द चिन्मय रस प्रतिभावितांभिः निज रूपतया कलाभिः
ताभिः एव गोलोक एव निवसति तं आदि पुरुषं गोविन्दमहं भजामि।

तत् प्रेयसीनां तु किं वक्तव्यं, यतः परमश्रेणीनां तासां साहित्येनैव तस्य तल्लोके वास इत्याह—आनन्देति। अखिलानां गोलोक वासिनां अन्येषामपि प्रियवर्गानां आत्मभूतः परम प्रेष्ठतयात्मवदव्यभिचार्य्यपि ताभिरेव सह निवसतीति तासामतिशायित्वं दर्शितम्। अत्र हेतुः—कलाभिः---ह्लादिनी शक्ति वृत्ति रूपाभिः। अत्रापि वैशिष्ट्यमाह—आनन्द चिन्मयो यो रसः परमप्रेममय उज्ज्वलनामा तेन प्रतिभाविताभिः,—पूर्वं तावत्

सम्भवतीति युक्तिञ्च दर्शितवान् । तापन्यां ताः प्रति दुर्व्वाससो वचनम् गो० ता० उ० २३) "स वो हि स्वामी भवति" इति । पति-रमण-वल्लभ शब्दवत् 'स्वामि'-शब्दश्च तथा प्रसिद्धः, "स्वामिनौ देवृदेवरौ" इत्यमरकोषात् । ते च शब्दा एकनिष्ठत्वेन प्रयोगादन्योऽन्यमन्यार्थतां निरस्यन्ति, (भा० १।८।२१) "कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च" इत्यादिवत् । आस्ताम-

तासां तन्नाम्ना रसेन सोऽयं भावितो वासितो जातः, ततश्च, तेन याः प्रतिभाविता जाताः, ताभिः सहेत्यर्थः, प्रतिशब्दाल्लभ्यते । यथा प्रत्युपकृतः स'इत्युक्तेः तस्य प्रागुपकारित्वमायाति तद्वत् । तत्रापि निज रूपतया स्वदारत्वेनैव नतु प्रकट लीलावत् परदारत्वव्यवहारेणेत्यर्थः, परम लक्ष्मीणां तासां तत् पर दारत्वा-सम्भवात्, अस्य स्वदारत्वमयरसस्य कौतुकादवगुण्ठततया समुत्कण्ठा पोषणार्थं प्रकट लीलायां माययैव तादृशत्वं व्यञ्जितमिति भावः । य एव इत्येव कारेण यत् प्रापञ्चिक प्रकट लीलायां तासु परदारता व्यवहारेण निवसति सोऽयं य एव तदप्रकटालीलास्पदे गोलोके निज रूपता व्यवहारेण निवसतीति व्यज्यते । तथा च व्याख्यातं गौतमीय तन्त्रे तदप्रकटनित्यलीलाशीलन दशार्णव्याख्याने—'अनेक जन्म सिद्धानां इत्यादौ दर्शितमेव । गोलोक एवेत्येव कारेण सेयं लीला तु क्वापि नान्यत्र विद्यते इति प्रकाश्यते ॥

उनकी प्रेयसी वर्ग की अभिनव तन्मयता से जो एकात्मभाव है, वह अतीव आश्चर्य्य कर है । उन परम श्र वर्ग के साहित्य के कारण ही श्रीगोविन्द का गोलोक में अवस्थान सम्भव हुआ है । उसको आनन्द शब्द से कहते हैं । अखिल गोलोक वासियों का एवं प्रेयसी वर्ग का आत्मवत् परम प्रेष्ठ होने के कारण ही उन सब प्रेयसीयों के सहित श्रीगोविन्द गोलोक में निवास करते हैं । इस से सूचित होता है कि प्रेयसी वर्ग प्रीति में सर्वाधिक हैं ।

कारण यह है—वे सब प्रेयसी वर्ग – ह्लादिनी नाम्नी निज प्रेष्ठ स्वरूप शक्ति की वृत्ति स्वरूपा हैं । इस में भी वैशिष्ट्य यह है कि – आनन्द चिन्मय नामक जो रस– परम प्रेममय उज्वल नामक रस, उस से प्रतिभावित है, अर्थात् प्रथम श्रीकृष्णने प्रेमरस के द्वारा जिनसब के अन्तः करण को विभोर किया था । भावित किया था,उन प्रीति सिक्त हृदयों से ही उन सब ने श्रीगोविन्द को प्रीति किया, अतएव गोविन्द उन सब के सहित निवास करते हैं । जिस प्रकार "प्रत्युपकृतः सः" कहने से बोध होता है कि पहले उपकार उसने किया, पश्चात् उपकृत व्यक्ति के द्वारा उपकृत हुआ अर्थात् प्रत्युपकृत हुआ, इस प्रकार ही गोविन्द के सहित प्रिया वर्ग का व्यवहार को जानना होगा । वहाँपर स्वदाररूप में ही व्यवहार होता है, किन्तु गोकुल में पर दार रूपमें उन प्रियावर्ग के सहित व्यवहार होता है । प्रिया वर्ग परम लक्ष्मी स्वरूपा हैं, उनकी परदारता असम्भव है । किन्तु गोकुल में श्रीगोविन्द—अवगुण्ठित प्रीति रसास्वादन करते हैं, यह रस असमोद्धर्व चमत्कारिता पूर्ण है, अन्यत्र इसका अवस्थान नहीं है । अवगुण्ठित नीति इस प्रकार है—किसी की धम पत्नी निज पति को रसिक जानकर रसास्वादन कराने के निमित्त अव गुण्ठित होकर जल भरने को जाती है, और हाव भाव कटाक्ष के द्वारा स्वीय नागर को लुभाती हैं, नागर भी परम कौतुक से पीछा करता रहता है, परम आकर्षण उद्दाम तृष्णा, निविड़ तन्मयता से वह प्रीतिरस का आस्वादन परम मधुर रूपसे होता है, किन्तु घँघँट खोल देने से चिर परिचित कान्ता को देखकर वितृष्णा एवं निर्वेद होता है । यह है व्रजीय पारकीय रसका अवगुण्ठन रीति से आस्वादन । वृन्दावन का अप्रकट प्रकाश विशेष वैभव रूप गोलोक में पर दारमयी लीला नहीं होती है, वहाँ विवाह वर्जित स्वदारमयी लीला है । विवाह न होने पर भी नित्य उज्ज्वल रसास्वादन होता है, वह नित्य दाम्पत्य है, लक्ष्मी नारायण—राधा गोविन्द प्रभृति का दाम्पत्य उसका निदर्शन है । उक्त श्लोकस्थ 'एव' कार के द्वारा कथित हुआ है कि स्वदारत्वलीला

प्रकटलीलाया वार्त्ता, गुप्त-तादृशतायां प्रकटलीलायामपि रासप्रसङ्गे श्रीशुकेनापि सुखावेशाद्-गुप्तमेव (भा० १०।३३।७) "कृष्णबध्वः" इत्युक्तम्, (भा० १०।३३।२१) "ऋषभस्य जगुः कृतानि" इत्यत्र स्वामिनापि "ऋषभस्य पत्युः" इति व्याख्यातम्, "गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशीध्वनिवशं गतः" इति सङ्गीतशास्त्रे, श्रीयमुनास्तवे श्रीशङ्कराचार्य्यवचनैरप्युक्तम्—"विधेहि तस्य

गोकुल का वैभव प्रकाश विशेष गोलोक में ही होती है, गोकुल वृन्दावन में नहीं होती है। गोलोक गोकुल का ऐश्वर्य्य प्रधान स्थान है। उस प्रकार प्रेयसी वर्ग के सहित गोलोक में निवास शील गोविन्दका मैं भजन करता हूँ।

वृन्दावन वैभव (ऐश्वर्य) प्रकाश विशेष स्थान रूप गोलोक में प्रियावर्ग के सहित निजरूपतया--अर्थात् स्वीयत्वभाव से ही विलास करते हैं, प्रेमका सम्बन्ध सर्वत्र हृदय का होने से स्वीया व ही होता है, बहिरावेश से परबुद्धि होती है, किन्तु परकीय रूप से नहीं, यहाँ लोक शिक्षा प्रदान लीला नहीं होती है, केवल निजप्रियावर्ग के सहित प्रेम रसास्वादन लीला होती है। उन निज शक्ति रूप प्रेयसी वर्ग के सहित गोलोक में क्रीड़ा करते हैं, जिनके सहित श्रीवृन्दावन में परकीय भाव से क्रीड़ा करते हैं। ब्रह्म संहिता में उक्त है (५।२९)

"चिन्तामणि प्रकट सद्मसु कल्पवृक्ष लक्षावृतेषु सुरभिरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मी सहस्र शतसम्भ्रम सेव्यमानम् गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि।"

लक्ष लक्ष कल्प वृक्ष के द्वारा समावृत चिन्ता मणिमय मन्दिर में अनन्त लक्ष्मी रूपा व्रजसुन्दरीगण के द्वारा ससम्भ्रम से सेवित उन आदि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ। यहाँपर 'लक्ष्मी सहस्रशत सम्भ्रम सेव्य मानम्" वाक्यस्थ लक्ष्मी शब्द से गोप सुन्दरीगण को जानना होगा, 'लक्ष्म्योऽत्र गोपसुन्दर्य्य एवेति व्याख्यातमेव" (श्रीजीवचरण)॥ उक्तरीति से दशाक्षरादि मन्त्र में विन्यस्त गोपीजन शब्द से उपलब्ध गोपी रूपा निज स्वरूप शक्ति वर्ग के सहित 'गोलोक एव निवसति' गोलोक में ही निवास करते हैं, निभृत कक्ष में स्वकीयात्व ही होता है। बाहर ही कान्ता कान्त भेद से शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार वृन्दावनीय प्रकट लीला में जिस प्रकार परकीय भावसे "भजते तादृशीः क्रीड़ा यः श्रुत्वा तत् परो भवेत्" वृन्दावनीय प्रकट प्रकाश में सम्यक् आस्वादित अति मधुर परकीय रस का आस्वादन करते हैं।

न लोक वेद व्यवहार मात्रं न देह गेह द्रविणात्मजादि।
यत्राविदं स्ता न पथोऽपथो वा स कोऽपि जीयादिह कृष्णभावः॥

जिस कृष्ण भाव में लोक व्यवहार वैदिक अनुशासन, का महत्त्व, देह, गेह, द्रविण, आत्मज प्रभृति का ममत्व सुपथ एवं कुपथ का परिज्ञान नहीं रहता है, नदी जिस प्रकार उद्दाम गति से निखिल बाधा को अपसारित कर सरित पति से मिलित होती है, इस प्रकार व्रजाङ्गना गण का कृष्ण भाव सर्वदा जययुक्त हो। "व्रजेर निर्मल राग शुनि भक्तगण, रागमार्गे भजे यैछे छाड़ि धर्म कर्म" उस प्रकार परकीयात्व का आविष्कार गोलोक में नहीं होता है, गोलोक में परकीयाभाव निषिद्ध है, यह असमोर्द्ध्व माधुर्य्यमय स्थान गोकुल का भाव है, गोलोक में निस्तरङ्ग रसास्वादन है। शक्ति शक्तिमत्तत्त्व का ज्ञानतः अनुभव होने से निज रूपत्व सम्बन्ध ही होता है, वृन्दावनमें योगमायाचिच्छक्ति के द्वारा अवगुण्ठनवती लीलाका आस्वादन चमत्कारिता के कारण स्वरूप विस्मृत होकर शुद्ध माधुर्य्य रसास्वादन होता है। अतएव 'निजरूपतया' शब्द सार्थक होता है, तत्त्व ज्ञानाधिक्य से स्वकीयात्व, कृष्ण शक्तिमत्तत्व हैं, गोपाङ्गनागण निज शक्ति हैं, लीलाक्षेत्र में परकीयात्व है, परतत्त्व में सम्बन्ध विस्मृत होने से मधुर आस्वादन होता है। अन्यथा आनन्द

राधिकाधवाङ्घ्रि पङ्कजे रतिम्" इति, श्रीगीतगोविन्दे श्रीजयदेवचरणैश्च—"पत्युर्म्मनः किलितम्" इति। तस्मात् स्वयंभगवता साध्वेव दर्शितम्—'जारमस्वरूपविदः' इति, मद्-कामा रमणम्' इति च। पूर्व्वं यथैव लीलाशक्त्या तासामुत्कण्ठातिशयप्रकटनार्थं तन्नित्य-प्रेयसीत्वस्वरूपानुसन्धानावरणपूर्व्वकं श्रीकृष्णे जारत्वं प्रतायितम्, आयत्यामपि तथैव

नहीं होता है। अतएव निजेच्छा रूप योगमाया के द्वारा स्वरूप विस्मृत कर लीलास्वादन करते हैं, गोलोक में उस प्रकार नहीं करते हैं। "निजरूप तया" शब्द गोलोक में सार्थक होता है।

अतएव ब्रह्मसंहिता ५।५६ में उक्त है—

"श्रियः कान्ता कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी
चिदानन्दज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च॥"

गोलोकीय स्वरूप वर्णन ब्रह्माने उस प्रकार से ही किया है। जिस गोलोक में परमलक्ष्मी स्वरूपा श्रीकृष्ण प्रेयसी श्रीव्रजसुन्दरीगण ही कान्तावर्ग हैं, परमपुरुष स्वयं भगवान् श्रीपुरुषोत्तम श्रीगोविन्द ही कान्त हैं। समस्त पदार्थ प्रदान समर्थ यथार्थ कल्पतरुवर्ग ही वहाँ के वृक्ष समूह हैं। भूमि चिन्तामणि गणमयी है, अर्थात् तेजोमयी एवं वाञ्छितार्थ प्रदायिनी है। अमृत तुल्य जल है, कथा ही गान है, साधारण गति ही—नृत्य तुल्य है, प्रियसखी का कार्य्य निर्वाह वंशी करती है। तत्तत् आस्वाद्य समस्त वस्तु ही सच्चिदानन्दमय हैं। इस प्रकार गोलोक में स्वरूपतः परिज्ञान जब श्रीलक्ष्मी एवं परमपुरुष का है, तब औपपत्य की सम्भावना ही नहीं रहती हैं, युक्ति का प्रदर्शन पूर्व में हुआ है, व्रज भाव का अधिकारी अति विरल होने के कारण ऐश्वर्य्य प्रधान गोलोक लीलाका प्रदर्शन किया है। इससे दाम्पत्यभावानुभवी जीवगण आश्वस्त होंगे, किन्तु आनुष्ठानिक दाम्पत्य का स्वीकार राध कृष्ण में कुत्रापि नहीं है।

गोपाल तापनी में गोपाङ्गना के प्रति दुर्वासा की उक्ति इस प्रकार है—

'स वोहि स्वामी भवति। पति, रमण, वल्लभ शब्द के समान 'स्वामि' शब्द भी प्रसिद्ध है। अमर-कोषकार के मत में "स्वामिनौ देवृदेवरौ" है। पति—रमण—वल्लभ—स्वामी शब्द एकनिष्ठता का बोधक है, अतः उस अन्यार्थ का निरास होता है। जिस प्रकार भा० १।८।२१ में उक्त "कृष्णाय—वासुदेवाय—देवकीनन्दनाय च" शब्द समूह एक व्यक्ति का वाचक हैं। उस प्रकार उक्त पति प्रभृति शब्द भी श्रीकृष्ण का ही बोधक हैं।

अप्रकट लीला में तो स्वीयत्वेन व्यवहार तो हाता ही है, प्रकट लीला में उक्त शब्द समूह का प्रयोग गुप्त रूप से होता है, प्रकाश्य रूप से नहीं, तथापि सुप्रसिद्ध परबधू समन्वित 'परदाराभिमर्षण रासलीला में भी श्रीशुक देवने परम सुखावेश से अगुप्त से ही कहा—"कृष्णबध्वः" भा० १०।३३।२१ में उक्त है ऋषभस्य-पत्युः" कहा है। सङ्गीत शास्त्र में लिखित है-"गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशीध्वनिवशं गतः।" श्रीशङ्कराचार्य्य ने भी यमुनास्त्रोत्र में कहा है—"विधेहि तस्य राधिका धवाङ्घ्रिपङ्कजेरतिम्" श्रीगीत गोविन्द में भी श्रीजयदेव चरण ने कहा है—

"पत्युर्मनः किलितम्" अतएव स्वयं भगवान् ने स्वयं ही कहा है "जारमस्वरूपविदः" "मत्कामा रमणम्" प्रथम श्रीकृष्ण की इच्छा रूपा लीलासम्पादिका शक्ति ने श्रीकृष्ण प्राप्ति विषयक उत्कण्ठातिशय प्रकटनार्थ, नित्य प्रेयसीत्व स्वरूपावरण कर श्रीकृष्ण में जार बुद्धि उत्पन्न किया, अवसर प्राप्त होने से उस

पुनस्तस्मिन् स्वाभाविकपतित्वप्रकाशमयसुखचमत्कारकर ताद्दृशस्वरूपानुसन्धानं क्रियत इति भावः। आस्तां नित्यप्रेयसीनां तासां वार्त्ता, तत्सङ्गात् प्राप्तवतीनामन्यासामपि तस्मिन् रमणत्वमेव सिध्यति, न तु जारत्वम्! तदेव व्यञ्जितम्—'मत्कामाः' इत्यनेन, 'ब्रह्म मां परमं प्रापुः' इत्यनेन च परमब्रह्मणः सर्व्वांशित्वात् सर्व्वपातृत्वाच्च सर्व्वाधिपत्यमेव सिध्यति;

शक्ति ने पुनर्वार गोपीजन में एवं श्रीकृष्ण में स्वाभाविक पतित्व प्रकाशमय सुख चमत्कार कारक तादृश स्वरूपानुसन्धान करवाया है। जिस प्रकार भ्रान्त राज पुत्र अपने को कैवर्त्त मान लेता है, जिस प्रकार भ्रान्त ब्रह्म जीव होता है, स्वरूपानुसन्धान जाग्रत होने से ब्रह्म ही होता है, राज पुत्र राज पुत्र ही होता है, उस प्रकार भ्रान्ति अपनोदन होने पर नित्य कान्त एवं नित्य कान्ता बोध कृष्ण एवं गोपीजन में हुआ, और निखिल तृष्णा विदूरित हो गई। विस्मृत नित्य सम्बन्ध उद्दीप्त होने से अवैध प्रणय के पश्चात् आनुष्ठानिक वैवाहिक बन्धन की आवश्यकता नहीं रही, कारण— सामाजिकभय एवं धार्मिक भय कृष्ण में नहीं है, स्वयं ही पति एवं पत्नी हैं। अग्नि एवं तद्गत दाहिका शक्तिवत्। श्रीकृष्ण एवं गोपीगण हैं। यह भावार्थ है। नित्य प्रेयसीगणकी कथा तो वैसी है ही, किन्तु नित्य प्रेयसीवृन्दके सान्निध्य से साधन सिद्ध गोपाङ्गनागण की भी श्रीकृष्ण में रमणत्व ही सिद्ध हुआ है, किन्तु जारत्व नहीं हुआ। उसका प्रकाश ही "मत् कामाः" शब्द से हुआ है। अग्रिम शब्द भी 'ब्रह्म मां परमं प्रापुः" पतित्व का बोधक है, परम ब्रह्म— सब का अंशी हैं, सब का रक्षक हैं, अतः उन परम ब्रह्म में स्वाभाविक रूप से सर्वाधिपत्व सिद्ध होता है। "परदाराभिर्षण" आक्षेप के उत्तर में श्रीशुक देवने सीधा नहीं कहा ये सब व्रजवधू श्रीकृष्ण की धर्मपत्नी हैं, किन्तु कहा गोपी और उनके पतिवृन्द के हृदय में एवं समस्त देहीओं के हृदय जो विराजित हैं, वह अध्यक्ष हैं, वह क्रीड़ार्थ कृष्णरूपमें प्रकट हैं। अर्थात् सबके नैसर्गिक पति श्रीकृष्ण हैं, अतः 'पर' न होने से परदारत्व भी नहीं होता है। अतएव श्रीकृष्ण में पतित्व ही वास्तविक रूप में है, किन्तु उपपतित्व नहीं है। कृष्णभिन्न अपर वस्तु है ही नहीं। स्थिति इस प्रकार होने पर गोपीओं की कामना देविपति की रही, भर्त्ता की नहीं अतएव उक्त कामना के अनुसार तत्क्रतु न्याय से पतित्व रमणत्व की प्राप्ति हुई किन्तु जारत्व की नहीं।

अतः दत्तात्रेय ने भी सद् विवेक प्रद उत्तम गुरुरूप पिङ्गला का दृष्टान्त प्रदान किया है— पिङ्गला की उक्ति यह है—

"सुहृत् प्रेष्ठतमोनाथ आत्माचायं शरीरीणां।
तं विक्रियात्मनैवाहं रेमेऽनेन यथा रमा।" ११।८।३५

शरीरिगण के एकमात्र सुहृत्, प्रियतम, पति एवं आत्मा श्रीहरि को आत्म निवेदन पूर्वक तद् द्वारा (आत्मदान रूप मूल्य द्वारा) क्रय करके लक्ष्मी के समान मैं श्रीहरि के सहित रमण करूँगी।

"सन्तुष्टा श्रद्धत्येतद् यथा लाभेन जीवती।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ।।११।८।४०

मैं यथा लाभ से जीवन धारण पूर्वक श्रद्धा के सहित, सन्तुष्टचित्त से रमण श्रीहरि के सहित विहार करूँगी।

पिङ्गलाने नित्य पति श्रीहरि की कामना की है। प्राकृत पति की नहीं। श्रीरमादेवी ने भी भ० ५।१८।२० में कहा है।

"स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं समन्ततः पाति भयातुरं जनम्।
स एक एवेतरथा मिथोभयं नैवात्मलाभादधिमन्यते परम्।।"

न तु परत्वम् । तत्र च सति तासु तादृशमत्कामासु पतित्वमेव स्यान्न जारत्वमित्याभिप्रायात् । तदुक्तं दत्तात्रेयेणापि पारमार्थिक तद्विवेकश्लाघागर्भगुरुत्वेन मतया पिङ्गलया (भा० ११।८।४०) "आत्मना रेमणेन वै" इति, (भा० ११।८।३५) "रमेऽनेन यथा रमा" इति। रमादेव्या च (भा० ५।१८।२०) —"स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं, समन्ततः पाति भयातुरं

जो स्वयं अकुतोभय हैं, एवं भयातुर को सर्वतोभावेन निर्भय करते हैं । वह ही पति हैं, वह ही आप हैं, आप अद्वितीय हैं, अनेक होने से परस्पर भय की सम्भावना होती, आप आत्मलाभ भिन्न अपर वस्तु को महत्त्व प्रदान नहीं करते हैं ।"

अतएव श्रीकृष्ण ही वास्तव पदार्थ हैं, सब का अध्यक्ष एवं शाश्वत पति हैं, परम प्राप्य श्रीकृष्ण वास्तव वस्तु ही है जार बुद्धि से भी श्रीकृष्ण की प्राप्ति होने से श्रीकृष्ण की प्राप्ति रमण रूप से ही हुई, "देविपति" प्राप्त करने की गोपीओं की लालसा भी रही, अतएव नित्य पतित्वमें ही पर्य्यवसान होता है । भा० १०।२९।११ में उक्त विवरण ही कथित हैं—

"तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गता ।
जहुर्गुण मयं देहं सद्यः प्रक्षीण बन्धनाः ॥"

बृहत्क्रमसन्दर्भ—तथा तदा शुभाशुभ कर्मक्षये तदारब्ध देहपात उपसन्ने यदभूत्तदाह—तमेवेति । जार बुद्ध्या गुणमयं देहं जहुः । अस्मिन् देहेसति असौ जारो भवति । तदयं देहस्त्याज्य इति । जार बुद्धि स्तत्तागे कारणम् । गुणमयं जहुः । निर्गुणं देहमेवापुरित्याक्षेपः । तास्वन्ते तदङ्गसङ्ग योग्यं वपुरासेदुरिति दर्शयति । सद्य स्तत् क्षणेनैव तमेव श्रीकृष्णमेव परमात्मानं सङ्गता अपि बभूवुरित्यर्थः । शुभाशुभ कर्मारब्धं लौकिकमेव शरीरमलौकिकं तु भक्त शरीरं श्रीकृष्ण लीलारब्धमित्यायातमत एतास्तत् कालसिद्धाः प्रागुक्त यज्ञ पत्नीवत्, अतः प्रक्षीण बन्धना नित्यमुक्ताः ।"

श्रीकृष्ण ध्यान से शुभाशुभ कर्मक्षय होता है, उस समय आरब्ध देह पात उपसन्न होने पर जो कुछ हुआ, उसका वर्णन करते हैं । जारबुद्धि से परमात्मा श्रीकृष्ण के सहित सम्बन्ध होने पर भी जार बुद्धि से गुणमय देह त्याग उन्होंने किया । इस देह रहने से ही श्रीकृष्ण, जार होंगे । अतएव देह को छोड़ देना ही ठीक है । उसके प्रति जारबुद्धि ही कारण हैं, गुणमय का त्याग किया, एवं निर्गुण देह को प्राप्त किया । यह आक्षेप लब्ध है, कारण—देह पात रूप मृत्यु रूप अशुभोत्पन्न नहीं हुआ । श्रीकृष्ण के सङ्ग योग्य देह प्राप्ति हुई । सद्य—तत् क्षणात् परमात्मा रूप श्रीकृष्ण के सहित मिलित वे सब गोपी हुई । इस से बोध होता है कि—शुभाशुभ कर्मारब्ध लौकिक शरीर है, भक्त शरीर अलौकिक है । उस से श्रीकृष्ण लीलारब्ध होता है, अतः यज्ञ पत्नी गण के समान ही गोपीगण तत् काल सिद्ध हो गई । अतएव प्रक्षीण बन्धना हुई, अर्थात् नित्य मुक्त हो गई । भा० १०।६।३५ में उक्त है—

"पूतना लोकबालघ्नी राक्षसीरुधिराशना ।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वापसद्गतिम् ॥

बृहत्क्रमसन्दर्भ—"जिघांसयापि स्तनप्रदानेन सा जननीगतिमेव प्रापेति भगवत् कारुण्यं प्रदर्शयन्नाह—पूतना लोक बालघ्नीत्यादि । सद्गतिं सती माता तस्या गतिम्"

लोक बालघ्नी राक्षसी रुधिराशना पूतनाने हिंसा करने की अभिसन्धि से स्तन्य प्रदान कर नित्य सिद्ध जननी लोक को प्राप्त किया । भगवत् अवतारों में जो जो जनक जननी हैं, उन माता पिता का पृथक् पृथक् लोक भी है, उक्त नीति से ही पूतना की जननी लोक प्राप्ति हुई है । उक्त श्लोक में विगीतार्थ

जनम्" इति । तस्माद्वास्तववस्तुन एव फलत्वपर्य्यवसानाज्जारबुद्ध्यापि प्राप्ते तस्मिन् रमणतया प्राप्तेरेव लालसाविषयत्वाच्च पतित्वमेव पर्य्यवस्यति । तदेवमेवोक्तम् (भा० १०।२९।११)-

"तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ।।" ५०८।।

अत्र (भा० १०।६।३५) "जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाप सद्‌गतिम्" इति यथा विगीतार्थेन 'जिघांसया'-पदेन संसजन्नपि-शब्दो जिघांसायास्तत्राप्रवर्त्तनीयत्वं व्यनक्ति, तथापि पुरुषार्थ सिद्ध इति विषयस्य शक्तिमेव स्थापयति, तथा विगीतार्थेन जार—पदेन संसजन-जारत्वस्य तथात्वं विषयस्य च तां गमयति, रमणत्वन्तु न तथा विगीतम्, प्रत्युत (भा० १०।९०।२१)-

"याः संपर्य्यचरन् प्रेम्णा पादसम्वाहनादिभिः ।
जगद्‌गुरुं भर्त्तृबुद्ध्या तासां किं वर्ण्यते तपः ।।" ५०९।।

जिघांसा पदके सहित "अपि" शब्द सन्निवेश से जिघांसाविहित नहीं हुई है, किन्तु उस से भी पुरुषार्थ सिद्ध हुआ है, अतएव जिस किसी प्रकार से अलौकिक अचिन्त्य शक्ति समन्वित परम करुण श्रीकृष्ण के सहित मानसिक सम्बन्धस्थापन से परमागति होती है, वस्तु शक्ति, बुद्धि की अपेक्षा नहीं करती है, उस प्रकार ही तथापि विगीतार्थ जार पद के द्वारा लब्ध जारत्व के द्वारा एवं जारभाव का विषय—असमोर्द्ध्व शक्ति सम्पन्न कृष्ण होने के कारण—रमण रूपमें श्रीकृष्ण प्राप्ति हुई है । जारत्व के समान रमणत्व निन्दनीय नहीं है किन्तु भा० १०।९०।२७

" याः संपर्य्यचरन् प्रेम्णा पादसम्वाहनादिभिः ।
जगद्‌गुरुं भर्त्तृबुद्ध्या तासां किं वर्ण्यते तपः ।।"

बृहत्क्रमसन्दर्भ—तदेवाह—याः सम्पर्य्यचरन्नित्यादि । या माधव्यो जगद्‌गुरुं श्रीकृष्णं भर्त्तृबुद्ध्या सम्यक परिचरन्त्यः, तत्रापि—प्रेम्णा । ननु कामेन पाद सम्वाहनादिभिः क्रियाभि स्तासां तप, किं वर्ण्यते ? तद्वर्णनीयम् न भवति । अन्यस्य अन्यद् वर्णयितुं शक्यते,न तदिति भावः । अतः (भा० १०।६०।५२)'ये मां भजन्ति दाम्पत्येतपसा व्रतचर्य्यया" इति पूर्वं यद् व्याख्यातम् तत् साधु ।

बृहत्क्रमसन्दर्भ,प्रेमदाम्पत्य एव भवति । तत्र भवत्येनैव प्रमाणम् । अतः प्रेमा काङ्‌क्षिणो दाम्पत्येनैव मां सेवितुमर्हन्तीति व्यतिरेकेण तदेव स्तुवन्नाह— ये मामित्यादि । दाम्पत्ये सति ये मां तपसा व्रतचर्य्यया भजन्ति, ते मम मायया मोहिताः । कीदृशं माम् ? अपवर्गेशम्, अपगतो वर्गो वर्जनं यस्मात्, तथा मूलमीशं ये मां भजन्ति, तान् कदापि नाहं त्यजामीत्यर्थः । यद्वा, दाम्पत्ये सति तप आदिना ये अपवर्गे अपवर्ग निमित्तं मां भजन्तीत्यर्थः । कीदृशं ? माम् ? शं सुखरूपम् । ते कीदृशाः ? कामात्मानः, ममेदं भूयादिति यः कामः सङ्कल्प स्तत्रात्मा पत्नी यासाम्, त्वंत्वकामा, पूर्वोक्तेः ।।

प्रेम तो दाम्पत्य में ही होता है, उसमें जो जगद्‌गुरु की परिचर्य्या भर्त्तृबुद्धि से करती है, उस की महिमा अत्यधिक है । इस प्रकरण के द्वारा दाम्पत्य भाव की स्तुति उत्तम रूप से की गई है, यह तो रही दाम्पत्यभावती रुक्मिणी स्तुति । तदपेक्षा जारभावापन्न व्रजसीमन्तिनी गणकी स्तुति असमोर्द्ध्व रूपमें है । भा० १०।४७।६१ में वर्णित है—

"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम् वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।

या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यं पथञ्च हित्वा भेजुर्मुकुन्द पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥"

भा० १।४७।६३ "वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥"

स्वामिटीका—"किञ्च आसां तावद् गोपीनां भाग्यं मम तावेतावत् प्रार्थ्यमित्याह— आसामिति गोपीनां चरणरेणु भाजां गुल्मादीनां मध्ये यत् किमपि अहं स्यामित्याशंसा । कथम्भूतानां ? या इत्यादि आर्य्याणां मार्गं धर्मञ्च हित्वा ।" ६१ । "एवं महत्त्वं प्रतिपाद्य नमस्करोति वन्दे इति ।" ६३॥

श्रीसनातनगोस्वामिचरणकृत वृहद् वैष्णवतोषणी—

"एवं गोपीनां सर्वतः श्रैष्ठ्यं गीत्वा तासां दास्यमन्तरिच्छन्नपि सुदुर्लभं मत्वा तत्पादाम्बुजैक रजः सम्पर्क मप्याशास्ते— आसामिति अहो ! अत्यन्त दुर्लभ—लालस खेदे । 'वृन्दावने' इति सदातत्रैव तासां भ्रमणादिना सान्निध्यात् । गुल्मः स्तम्बः—"अप्रकाण्डे स्तम्ब गुल्मौ" इत्यमरः, वृक्षादीनामनुक्तिः, अत्युच्चत्वेन तेषां तच्चरणरेणु जोषणासिद्धेः, गुल्मादीनां यथोत्तर न्यूनत्वं मुद्दिष्टम् । परमदीनतया आत्मनोऽतिनीचत्वमननेन तृणत्वमात्र प्रार्थने पर्य्यवसानात् । गीतमपि तासां माहात्म्यं पुनरप्यत्यौत्सुक्येन गायति—या इति

दुस्त्यजमत्याज्यम्, स्वजन पति पुत्रादिकम् "मु" मुक्तिः कुत्सिता यस्मात् प्रेम्ण तं भजमानेभ्यो ददातीति मुकुन्दो भगवान् श्रीकृष्णस्तस्य पदवीमनुवृत्ति भेजुर्भक्त्याचाकुर्वन् । यद्वा, तद् दर्शनार्थं सन्ध्ययोरनु गमनाभिगमनाभ्यां तद् गमनागमनमार्गं भेजु रसेवन्त इति मुकुन्दे परमासक्तिरुक्ता ।

ननु स्वजनस्य आर्य्य पथस्य च त्यागो वेद विरुद्धः, साधुवर्ग पूज्यपादाभिस्तत्तस्ताभिस्यक्तुं न युज्यते, तत्राह— श्रुतिभिर्विमृग्यामेव केवलम्, नतु प्राप्तां प्राप्यां वेत्यर्थः । अतो धर्म ज्ञानाद्युपदेष्ट्रीणां श्रुतीनां दुर्लभतरस्य वस्तुनो लब्धये, तदधीनतानर्हत्वेन तत्त्यागो युक्त एवेति । भावश्चायम् श्रुतीनां धर्माद्युपेक्षास्ति एताश्च सर्वं परित्यज्य भाव विशेषेण तमेकमेवाभजन्, अतः श्रुतीनामद्यापि विमृग्यामेव, तथा श्रीब्रह्मस्तुतौ भा० १०।१४।३४ 'अद्यापि यत् पद रजः श्रुतिमृग्यमेव' इति, एतास्तु सम्यक् प्रापुरेवेति ताभ्योऽप्यासामुत्कर्ष एवेति, अथवा (भा० ११।१६।२९) 'तन्तु भागवतेष्वहम्' इत्यादि भगवद्वचनादिना त्वं भक्तवर्ग श्रेष्ठतमोऽतएव त्वमेव साक्षाच्छ्री भगवद् विचित्र सेवा प्रसाद विशेष योग्योऽसि, कथमेवं प्रार्थयसे ? तत्राह या इति । स्वजनाद्यत्यागान्मम तादृशी भक्ति र्नास्त्येवेत्यर्थः ।

ननु गृहस्थस्य तत्त्यागो वेदविरुद्धः, तत्राह, श्रुतिभिरिति । भक्तवर्गादि गुरु श्रीब्रह्मणोऽपि ज्ञान प्रदत्वादिनादिगुरूणां श्रुतीनां अप्राप्ततया तदनु वर्त्तितात्यागेन श्रीमुकुन्द प्राप्त्यर्थं श्रीगोपीनामेवासा मनुगतत्वाय तत् पदाब्जरजः स्पर्शि जन्मैव युक्तमित्यर्थः ।

एवमुक्त माहात्म्यभरस्योद्धवस्येदृश प्रार्थनया श्रीगोपीनां महानुत्कर्षः सिद्ध एव । पश्चात् (भा० १०।१४।३४) तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां, यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्" इति ब्रह्म प्रार्थयतोऽस्यायं प्रार्थनाविशेषः सोऽस्यैव सेवकत्वाद्भावेन, तथा चतुर्मुखत्वादिना महावैलक्षण्येन व्रजे चिरं स्थातुमप्ययोग्यत्वेन यस्य कस्यापि गोकुलीयस्य पादरजोऽभिषेकार्थं तत्र तृणादिकिञ्चिज्जन्मप्राप्त्यैव कृतार्थतया तादृश प्रार्थनाया योग्यत्वात् अस्य तु सदा निकटतर सेवकतया तथा व्रजे चिर वासादिना तत्रत्यानामनुग्रहभर सम्पत्या च भाव विशेषोदयादतृप्त्या ततोऽप्युत्कृष्टाय मधुराय श्रीमुकुन्द भावविशेषाय श्रीगोपिका दास्यार्थं तादृश प्रार्थनस्यौचित्यादुद्यत एवेतिदिक् ॥

श्रीउद्धव महाशयने गोपीवृन्द का परमोत्कर्ष कहने के बाद उन सब की दास्य वाञ्छा अन्तर में होने पर भी अतिसुदुर्लभ मानकर गोपीवृन्दके पादाम्बुज के एक रजः सम्पर्क की भी आशा की, आसामिति

इत्यादिना सुष्ठु स्तुतमेव, न च (भा० १०।४७।६१) "आसामहो चरणरेणुजुषाम्" इत्यादिना जारत्वमपि स्तुतम्, किन्तु तासां राग एव स्तुतः, येन जारत्वेनाप्यसौ स्वीकृत इति। जार-

श्लोक के द्वारा। अत्यन्तदुर्लभ वस्तु के प्रतिलालसा होने के कारण खिन्नता को प्रकट करने के निमित्त 'अहो' शब्द का प्रयोग किया है। 'वृन्दावन में कथन का अभिप्राय है, श्रीवृन्दावन में गोपाङ्गनागण का सर्वदा भ्रमणादि द्वारा सान्निध्य होता है। गुल्म स्तम्ब को कहते हैं। अप्रकाण्ड अर्थ में स्तम्ब गुल्म शब्द का प्रयोग होता है। वृक्ष प्रभृति शब्द का प्रयोग नहीं किया है, कारण—वृक्षादि अत्युच्च होते हैं, तज्जन्य श्रीगोपीचरण रेणु का प्रीति पूर्वक सेवन की सम्भावना उस में नहीं है। गुल्मादि के मध्य में उत्तरोत्तर न्यूनत्व का अनुसन्धान करना विधेय है, परम दीनता के कारण, अपने को अतिनीच मानना स्वाभाविक है, अतः तृणत्व मात्र प्रार्थना में पर्य्यवसान हुआ है।

पूर्व पूर्व श्लोकों में गोपिका का महत्त्व गान अतिशयरूप से करने पर भी पुनर्वार अत्यन्त उत्सुकता से गान करते हैं। या—इति। दुस्त्यज अर्थात् सर्वथा दुःखद स्थिति में भी जीवित अवस्था में मानव जिस का त्याग नहीं कर सकता है, वे सब है—पति—पुत्र प्रभृति। 'मु' जिसके सामने मुक्ति अति कुत्सिता है, इस प्रकार प्रेम प्रदान भजन परायण भक्त जनगण करते हैं, उनको मुकुन्द—भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं। उन श्रीकृष्ण की पदवी की अनुवृत्ति भक्ति पूर्वक जिन्होंने किया है।

अथवा, श्रीकृष्ण को देखने के निमित्त उभय सन्ध्या में श्रीकृष्ण के गमन गमन मार्ग का सेवन गमनागमन के द्वारा गोपीगण करती रहती है,इस से मुकुन्द में अतीव प्रेमासक्ति व्यक्त हुई है।

स्वजन आर्य्य पथका त्याग तो वेद विरुद्ध है? साधु वर्ग के पूजनीय चरण गोपाङ्गना गण के द्वारा स्वजन आर्य्य पथ का त्याग अति अशोभनीय है? उत्तर में कहते हैं—

श्रुति भिर्विमृग्यामेव केवलम्, नतु प्राप्तां प्राप्यां वेत्यर्थः॥

श्रुतिगण मोक्षपर्य्यन्त पुरुषार्थ विधायिका हैं, अतः परम प्रेमप्राप्य श्रीकृष्ण सेवालाभ उन सब के पक्ष में सुदुल्लभ है, धर्म ज्ञान उपदेश कारिणी श्रुतिगण के पक्ष में जो वस्तु सुदुर्लभ है, उन सब की अधीनता सुतरां अहित कर है, अतएव अधीनता त्याग ही युक्त है।

अभिप्राय यह है—श्रुतियों की धर्मादि अपेक्षा है, अतएव गोपीगण—समस्त धर्मादि अपेक्षा वर्जन पूर्वक भाव विशेष के द्वारा श्रीकृष्ण भजन किये हैं। अतएव श्रुतिगणों के पक्षमें आज तक श्रीकृष्ण चरण—अन्वेषणीय ही है, ब्रह्मस्तुति में उक्त ही है,—(भा० ११।१४।३४) 'अद्यापि यत् पदरजः श्रुतिमृग्यमेव।' आजतक भी जिनकी चरणरेणु श्रुति गण अन्वेषण ही करती रहती हैं। गोपीगणों ने तो साक्षात् प्राप्त ही किया है, अतएव श्रुतियों से गोपियों का चरमोत्कर्ष ही है। अथवा भा० ११।११।८९ 'त्वं मे भृत्य सुहृत् सखा' तुम मेरा भृत्य, सुहृत, सखा हो, भा० ११।१६।२९ 'त्वन्तु भागवतेष्वहम्' तुम तो समस्त भगवद्—भक्तगणों के मध्य में श्रेष्ठ हो, अर्थात् मैं हूँ। साक्षात् भगवद् वचन से विदित है, तुम भक्त श्रेष्ठ हो, साक्षात् श्रीभगवान् की विविध सेवा में रत हो, तुम कैसे इस प्रकार गोप रमणी की चरण रेणु प्रार्थना करते रहते हो? उत्तर में कहा—मुझ से स्वजनादि का त्याग न होने से गोपाङ्गना गण में स्थित भक्ति मुझ में नहीं है, कहा जा सकता है कि—गृहस्थ का स्वजनादि वेद विरुद्ध है। "श्रुतिभिः" भक्तवर्ग के आदि गुरु ब्रह्मा हैं, उनको ज्ञान प्रदान कारिणी आदि गुरु श्रुतिगण हैं। उन श्रुतिगण का अलभ्य होने के कारण—श्रीमुकुन्द चरणारविन्द लाभ हेतु श्रुति आनुगत्य परित्याग पूर्वक श्रीगोपीगण का आनुगत्य ही एकान्त वाञ्छनीय हैं तज्जन्य उन सब के पदरजः स्पर्शि जन्मलाभ ही युक्त है।

परिपूर्ण माहात्म्योत्कर्ष विमण्डित उद्धव की इस प्रकार प्रार्थना से श्रीगोपीओं का महान् उत्कर्ष

बुद्धया सहेति या जारवादिनः कल्पना, सा त्वसत्यैव, अनर्हत्वाज्जारपद-संसक्तस्यापि-

सिद्ध हुआ है ।

पश्चात् भा० १०।१४।३४ 'तद्भूरि भाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां, यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्" ब्रह्माजीने कहा था—"मैं भूरि भाग्य समझूंगा, यदि इस गोकुल में व्रजवासियों की चरणरेणु से अभिषिक्त होने के योग्य जन्म अरण्य में हो' ब्रह्मा की प्रार्थना से भी उद्धव की प्रार्थना में विशेषत्व है। ब्रह्मा, साक्षात् श्रीकृष्णका सेवक नहीं है, चतुर्मुख भी है, अतः सर्वथा विसदृश हैं, व्रजमें अधिक समय रहना उनके पक्ष में अयोग्यता के कारण असम्भव है। अतः उनके पक्ष में यह प्रार्थना ठीक ही है, 'इस गोकुल में जिस किसी व्रज वासी की चरणरेणु से अभिषिक्त होने के योग्य तृण जन्म हो' । उद्धव, किन्तु सदा निकटतम श्रीकृष्ण सेवक हैं, व्रज में सुदीर्घ समय अवस्थान किये थे । तत्रत्य भक्त वृन्द की अनुकम्पा से भक्ति का आतिशय्य भी इन में संक्रमित हुआ था उस से भावविशेषोदय होने के कारण,—अपनी योग्यता में अतृप्त थे, उस से भी उत्कृष्ट मधुर श्रीमुकुन्द भावविशेष प्राप्त करने के निमित्त गोपिका दास्य ही काम्य है, तदर्थ उद्धव की गोपी चरण की रेणु सेवन प्रार्थना समीचीन है ।

"वन्दे नन्द व्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः" की टीका—(६३) अतः साक्षात् श्रीभगवत्ताहश सेवापि मे दूरे तावदास्ताम्, ईदृश भावसिद्ध ये श्रीगोपीरेवैताः प्रणमामीति । यद्वा, आसामीदृश माहात्म्य गानेमम का शक्ति र्योग्यता वा, केवलं यत्र तत्र निपतित मासां पादाब्जरज एवैकं नमामि, इत्येवमेव सदा वन्द इति । नन्द व्रजस्य स्त्रीणामिति किं पुनरासां श्रीभगवत् प्रिय तमानाम् । आसां सम्बन्धेन सर्वासामपि नन्द व्रजवर्त्ति स्त्री जातीनामित्यर्थः यासां हरेः सर्वथा सर्वमनोहरस्य श्रीभगवतः कथा या उद्गीतमुच्चैर्गानं भुवनत्रय मूर्द्धर्वाधोमध्यलोकान् जगदेव पुनाति मुमुक्षादि सर्वमलतः शोधयति, तथा च प्रागुक्तम् । भा० १०।४६।४६) "उद्गायतीनामरविन्दलोचनं" इत्यादि ।

यद्वा, हरिकथावदुद्गीतं यासामुच्चै र्माहात्म्यगानमेव मम कृत्यम् । अत्रचिरवासादिना श्रीयदुकुलाद्यपराधतोऽपि न में किञ्चिद्भयमितिगूढ़ो भावः । इदं गानं वन्दनञ्च तासां साक्षादेव ज्ञेयम् । ततश्च नन्द व्रजस्त्रीणामिति प्रत्यक्षत्वेऽपि परोक्षवदुक्तिः—,तेनैव शब्देन तासां माहात्म्य भर बोधनात्, किं वा गौरव विशेषेण तथैव वाच्यत्वात् । अतएव यूयमित्याद्यनिर्देशः । यद्वा, परम लज्जादि गुणवतीनां तासां माहात्म्य स्तुत्यसहिष्णु तया परोक्षमिति । ततश्च एता इति, आसामिति च नैकट्येन प्रस्तुतत्वेन वा, किं वा सदा हृदि वर्त्तमानत्वेन प्रत्यक्षत्वादिवेति ।

"तं श्रीमदुद्धवं वन्दे कृष्णभक्तवरोऽपि यः ।
गोपी पादाब्जधूलीस्पृक् तृण जन्मापि याचते ॥"

श्रीभगवान् श्रीकृष्ण की साक्षात् सेवा तो दूर है, भाव प्राप्ति के निमित्त श्रीगोपीगण ही प्रणम्या हैं । अथवा, गोपीवर्ग का माहात्म्य गान करने की सामर्थ्य मुझ में कहाँ है ? योग्यता भी कहाँ है ? केवल जहाँ तहाँ निपतित इनसब की पादाब्जरजः की एक कण की वन्दना मैं करता हूँ । इस प्रकार ही मैं सदा वन्दना करू । उस को शब्दतः कहते हैं, 'वन्दे नन्द व्रजस्त्रीणां पादरेणु' साधारण व्रजस्त्रीयों की पादरेणु की वन्दना करता हूँ, श्रीभगवत् प्रियतमा की चरणरेणु सर्वथा दुर्ल्लभ है ही अतिशय वन्दनीय है । इनके सम्बन्ध से ही समस्त नन्द व्रजवर्त्ति स्त्रीजातिमात्र की चरणरेणु वन्दनीय है । जिनके परम मनोहर भगवान् श्रीकृष्ण की चरित कथा का उच्च गान भुवनत्रय उद्धर्व अधः मध्य लोकयुक्त भुवन त्रय को पवित्र करता है । अर्थात् भुक्ति मुक्ति मलसे अपवित्रजगत् को पवित्र करताहै । भा० १०।४६।४६कहा भी"उद् गायतीनामरविन्द लोचनम्"

शब्दस्यान्यथा-प्रत्यायकत्वेन दर्शितत्वात्, सहपदसापेक्षत्वेन कष्टत्वात्, "उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी" इति न्यायात्, साधकतमस्यान्यस्य कल्पनीयत्वाच्च ।

"ते सर्व्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले । हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात् ॥"५१०॥ इति पाद्मोत्तरखण्डश्रवणादेताः खलु तदापि न सिद्धदेहा इति पर्य्यवसीयते । ततश्च तस्य देहस्य पत्युश्च त्यागेन श्रीकृष्णप्राप्तौ परकीयत्वानुपपत्तिः, किमुत मायामात्रेण परकीयात्वेन प्रतीयमानानां नित्यप्रेयसीनाम् । एवमेव च स्वयं भगवतापि दर्शितम् (भा० १०।४७।३०)—

अथवा—हरिकथा के समान ही जिनका उद्गीत है, जिन सब का माहात्म्य गान है, माहात्म्य निबद्ध उच्च गीत है, अथवा, जिनका उद्गीत ही हरिकथा है, अतएव उन सब का माहात्म्य गान करना ही मेरा एक मात्र कृत्य है । व्रज में चिरकाल वास करने के कारण, कर्त्तव्य लङ्घनजनित श्रीवृकुलादि से अपराध होने पर भी मेरा कुछ भी भय नहीं है, यह है निगूढ़ाभिप्राय है । यह गान एवं वन्दन उनसब का साक्षात् ही है, किन्तु नन्द व्रजस्त्रीगण प्रत्यक्षस्थित होने पर भी परोक्ष उक्ति का कारण है, उक्त उक्ति से ही उनसब का माहात्म्याधिक्य सूचित हुआ है । किं वा गौरव विशेष से ही उस प्रकार कहा गया है । अतएव मध्यम पुरुष का प्रयोग नहीं हुआ है । अथवा परमलज्जादि गुणवती के पक्ष में निज माहात्म्य श्रवण असहिष्णुकर होने के कारण—परोक्ष रूप से वर्णित हुआ है । अतएव 'एता' 'आसां' शब्द निकटस्थ वस्तु का परिचायक है, अथवा सर्वदा हृदय में वर्त्तमान होने के कारण ही प्रत्यक्ष के समान वर्णित हुआ है । श्रीमदुद्धव की वन्दना मैं करता हूँ कृष्ण भक्त पर होकर भी जिन्होंने गोपीपादाब्जधूली प्राप्ति की स्पृहा से तृण जन्म की प्रार्थना की है ।

यहाँपर व्रजस्त्रीगणों का केवल जारत्व की प्रशंसा नहीं की गई है, किन्तु उनसब का श्रीकृष्ण विषयक राग ही प्रशंसित हुआ है । जिस प्रकार दुर्दम्य अत्युत्कट तृष्णा के द्वारा उन्होंने जार रूपसे भी श्रीकृष्ण को अङ्गीकार किया । विशुद्ध जारवादि गण जारबुद्धचा शब्दमें प्रयुक्त तृतीया विभक्ति को सहार्थे तृतीया मान कर व्याख्या करते हैं । उस प्रकार कल्पना असत्य मूलक है, श्रीकृष्ण ही सर्व साधारण के सुनिश्चित पति हैं, विशुद्ध पति हैं, अतएव उनमें जार बुद्धि नहीं हो सकती, निज प्रिया वर्ग के सहित ही परद र विनोद क्रीड़ा सदा करते रहते हैं, उसमें उनका दोष नहीं होता है, स्वयं पति भी हैं, पत्नी भी हैं । लोक शिक्षार्थ लीला करते हैं । 'रमणं जारं' यहाँ पर जारपद के सहित रमण पद का पाठ होने से भी जार संसक्त रमण पद का जार अर्थ न होकर नित्य प्रिय पति होता है, इसका प्रति पादन पूर्व ग्रन्थ में हुआ है ।

"जारबुद्धचा" सहार्थ में तृतीया विभक्ति मानने पर सह' पदका अनुसन्धान करना होगा, इस से गौरव प्रयुक्त कष्ट कल्पना होगी । कारण, उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलीयसी होती है । व्यापारवत् असाधारण कारण ही करण है, उस से ही कार्य्य होता है, 'जारबुद्धचा' सहार्थ में तृतीया मानने पर अन्य करण की कल्पना करनी पड़ेगी ।

पाद्मोत्तरखण्ड में वर्णित विवरण से ज्ञात होता है कि भर्त्तृ गृह रद्धा गोपीगण सिद्धदेहा नहीं थीं ।

"ते सर्वे स्त्रीत्व मापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले ।
हरिं सम्प्राप्य कामेन ततोमुक्त भवार्णवात् ॥"

मुनिगण गोकुल में गोपी से उत्पन्न होकर स्त्रीत्व प्राप्त किये थे । अनन्तर नित्यसिद्ध गोपीगणके सङ्ग से श्रीकृष्ण विषयिणी प्रबल तृष्णा हुई, प्रबल अनुराग से श्रीकृष्ण भजन करने के पश्चात् भवार्णव से मुनिचरी गोपीगण मुक्त हो गई थीं । अतएव आनुष्ठानिक पति सम्पर्कान्वित देह त्याग से एवं पति त्यागके द्वारा

"या मया क्रीड़ता रात्र्याम्"इत्यादिना। किन्तु जारपदमेतादृगश्लीलम्, यत् खलु जारतया भजन्तीभिरपि न जारं प्रतिवचनविषयीक्रियते, किन्तु रमणादिपदमेवेति तदभिधेयं कथमिव फलाय कल्पते ? तदेवं जारमिति ब्रह्मेत्याद्यप्यनूद्यवर्गान्तः पात्येव; किन्तु भ्रममयत्वा-न्निन्दितत्वाच्च जारत्वस्य हेयत्वम्। रमणमिति तु विधेयमिति यदुक्तम्, तत् खलु प्रकटलीलायां पूर्व्वस्य स्पष्टतया वर्णितत्वेन श्रोतरि प्रसिद्धत्वादुत्तरस्य तद्वदवर्णितत्वेनापि प्रसिद्धत्वादपि

श्रीकृष्ण प्राप्ति होने से श्रीकृष्ण उपपति नहीं होते हैं, नतो वे सबमें परकीयात्व ही होता है, पर तो अवशेष रहा ही नहीं, नित्य पति श्रीकृष्ण में पतित्व का पर्य्य वसान हुआ। जब साधक चरी गोपीगण के सम्बन्ध में ही विश्वपति श्रीकृष्ण की प्राप्ति उपपति भाव से नहीं हुई--किन्तु नित्य पति रूप में प्राप्ति हुई, तब निज चिच्छक्ति रूप योग माया के द्वारा अध्यस्त परकीयात्व बुद्धि सम्पन्न स्वरूप शक्ति स्वरूप नित्य प्रेयसी वर्ग की श्रीकृष्ण प्राप्ति प्रियत्वेन ही होगी न तु उपपतित्वेन इसका कहना व्यर्थ है। अर्थात् स्वाभाविकीस्थिति ही है, शक्ति शक्तिमत्तत्व का मिलन, नित्य कान्ता कान्त का मिलन।

भा० १०।४७।३७ में श्रीभगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

"या मया क्रीड़ता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः।
अलब्धरासाः कल्याण्यो चिन्तामापुर्मद्वीर्य्य चिन्तया॥"

टीका—उपपत्यथेति माधुर्य्यमात्रमिति चेदत आह या इति। हे कल्याण्यः स्व भर्त्तृभि प्रतिबद्धा या वने क्रीड़ता मया सह अलब्ध क्रीड़ा स्तास्तदैव मा माम् आपुः प्रापुः।"

वृहत्क्रमसन्दर्भ—अत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्य सोदाहरणमाह— या मया क्रीड़तेत्यादि। या व्रज बध्वोऽलब्धरासास्तेनेश्वरेण न लब्धो रासो याभिस्ताः, अस्मिन् व्रजे रात्र्यां क्रीड़ता मया आस्थिताः कृतास्थाः कल्याण्य आनन्द विग्रहा भूत्वा मा मामापुः। (भा० १०।१६।११) "जहुर्गुणमयं देहम्" इत्यादिना कथिता स्ताएव तत्क्षणं कल्याण्यो भूत्वा पश्चान्मयैव रात्रौ क्रीड़ता रासे नृत्यता सह आस्थिता इत्यर्थः। कुतः ? इत्याह—मद् वीर्य्यचिन्तया, वीर्य्यं गुणाः। अतस्ता एव प्रमाणम्। तास्तु पूर्वमयोग्या एवासन्, तथापि मत् प्रेम्णा तद् देह त्यागेन योग्यदेहं लब्ध्वा तदैव मां प्रापुः। भवत्यस्तु—अनेनैव देहेन प्रापुश्च, प्राप्स्यथ चेत्यर्थः॥

अति सत्वर साक्षात् संयोग होगा, इस में निश्चयता क्या है ? उत्तर में कहते हैं—क्रीड़तेत्यादि। जो सब व्रजबधू—रास में सम्मिलित होने में असमर्थ थीं, वे सब ही उस रात्रि में उक्त रासावसर में ही आनन्दमय विग्रह प्राप्तकर रास लीला में सम्मिलित हुई थीं। "जहुर्गुणमयं देहं" कथन के अनुसार सद्य कल्याणी होकर रास क्रीड़ा के समय ही वे सब सम्मिलित हो गईं। कैसे हुई ? मेरी गुणावली की चिन्ता करने से ही उस प्रकार प्राप्ति हुई, यह ही प्रमाण है। वे सब पूर्व में अयोग्या थीं, मदीय प्रेम के द्वारा पूर्व अशिव देह त्यागानन्तर योग्य देह प्राप्त कर उस समय ही मुझ को प्राप्त कर चूकी थीं। आप सब किन्तु यथावस्थित देह में ही मुझ को प्राप्त करोगी। इस से नित्य पति श्रीकृष्णकी प्राप्ति गुण ध्यान से सिद्ध हुई।

किन्तु जार शब्द इस प्रकार अश्लीलता का उद्दीपक है कि—जार भाव से भजन कारिणीगण के पक्ष में जार शब्द हृदय ग्राही नहीं है, उन्होंने कही भी है। (भा० १०।४७।८) "जारा भुक्त्वा रतांस्त्रियम्॥ किन्तु रमणादि पद ही गोपीगणों का अनुमत है, अतएव जार पद फल प्रदान में समर्थ कैसे होगा ? अतएव जार एव ब्रह्मादि पद—अनुवाद वर्गान्तः पाती हैं। किन्तु आध्यासिक रीति से भ्रममय एवं निन्दित होने के कारण जारत्व हेय है, श्रीकृष्ण स्वरूपतः ही नित्य कान्त परमपति सब के हैं। इस प्रकार उक्त जार पद

सिध्यति। प्रसिद्धत्वाप्रसिद्धत्वे एव हि तयोः प्रवृत्तिहेतु, 'ब्राह्मणोऽयं पण्डितः' इतिवत्। न च 'अनुवादमनुक्त्वा तु न विधेयमुदीरयेत्'' इति सर्व्वत्रोपलभ्यते, ''यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति'' इत्यत्र वैपरीत्य-दर्शनात्, 'अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्' इति न्यायेन च, ''दध्ना जुहोति'' इत्यादिवदप्राप्ते रमणत्व एव तात्पर्य्यम्, न च पूर्व्वं पूर्व्वप्रसिद्धे ब्रह्मत्वादिजारत्वपर्य्यन्ते 'अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणम्' इति च वृद्धाः किञ्च, जारत्वस्य वास्तवत्वेऽश्लीलता दुर्निवारा;

अनुवाद होने से विधेय पद— रमण ही है। किन्तु अनुवाद एवं विधेय का समन्वय कैसे होगा ? कहते हैं— अनुवाद सर्वत्र प्रसिद्ध है, प्रकट लीला में जारत्व सुप्रसिद्ध है, सुस्पष्ट रूप से वर्णित होने के कारण वक्ता एवं श्रोता में उक्त जार विषयक प्रतीति सुप्रसिद्ध ही है। किन्तु विधेय अज्ञात होता है। इसका अवर्णन है, अवर्णित विषय ही विधेय होता है, ''गोपाल कामिनी जार श्चौरो जार शिखामणिः'' नामतः श्रीकृष्ण— प्रकटलीला में गोपाङ्गना गण का नित्य जार हैं। 'जार भावेन सुस्नेहोऽधको भवेत्'' यह श्रीकृष्ण की उक्ति है। अतएव प्रसिद्ध जारत्व का विधेय रमणत्व स्वाभाविक है, सम्बन्धतः प्रवृत्तितः जारत्व है, किन्तु फल में रमणत्व ही है। जारत्व एक उपाधि है, किन्तु फलास्वादन रमण में ही है। अनुवाद एवं विधेय स्थल में प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध दृष्टि से उभय का प्रयोग होता है, ज्ञात को अनुवाद कहते हैं, अज्ञात को विधेय कहते हैं, जिस प्रकार 'ब्राह्मणोऽयं पण्डितः'' यह ब्राह्मण पण्डित है, ब्राह्मण ज्ञात होने से अनुवाद है, पूर्व कथन भी है, पण्डित रूप विधेय अज्ञात है, उसका कथन भी पश्चात् हुआ है। इस प्रकार सुप्रसिद्ध जारत्व कृष्ण में तो प्रसिद्ध है ही, किन्तु वह जो गोपी गणों का जार भाव का फल स्वरूप रमण है, यह अज्ञात है। उस श्लोक में उसका वर्णन हुआ है। इस प्रकार ही जार पद को उद्देश्य कर रमण पद को विधेय करना आवश्यक है, कारण—मिलन के समय तो जार बुद्धि से मिलन नहीं होता है, किन्तु प्रियत्वेन होता है, सम्बन्ध भेद में होता है, ममत्व—अभेद में होता है। ''अनुवाद को न कहकर विधेय का कीर्त्तन असमीचीन है, यह नियम का निर्वाह सर्वत्र नहीं होता है, ''यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न सः पापं श्लोकं शृणोति'' यहाँ उक्त नियम का वैपरीत्य है। अज्ञात ज्ञापको हि विधिः' अप्राप्त विषय को सूचित करने के निमित्त ही शास्त्र सफल होते हैं, ज्ञात वस्तु का विधान शास्त्र नहीं करते हैं। अग्नि होत्रं कुर्य्यात्। विधिस्थल में किस के द्वारा याग विधेय है, अज्ञात वस्तु ज्ञापन हेतु 'दध्नाजुहोति'' दधि द्रव्य करणक हवन का विधान विधेय रूप से हुआ है। इस प्रकार जारत्व के समय रमणत्व अश्रुत होने के कारण रमणत्व में जारत्व का तात्पर्य्य है। रमणत्व सम्पादन निबन्धन ही तो जार भाव है। किन्तु पूर्व पूर्व प्रसिद्ध ब्रह्मत्व जारत्व में विधेयत्व नहीं हो सकता है। वृद्धगण कहते हैं– अनधिगतार्थ गन्तृ प्रमाणम्'' प्रमाण अज्ञात वस्तु का परिज्ञान कराकर सफल होता है। अतएव ''जारत्व'' पद श्रवण के समय रमणत्व अश्रुत है, तदर्थ ही रमण पद विधेय हुआ।

और भी कहना है कि—जारत्व को यदि वास्तव कहा जाय– तो सर्वत्र चरित्र हीनता का प्रसङ्ग होगा, श्रीकृष्ण जन शिक्षार्थ स्वयं कान्ता कान्त होकर अभिनय करते हैं, उनमें दोष नहीं है, स्वयं पति होकर पत्नी का उपपति होनेपर दोष नहीं होता है। किन्तु अपर को पति करने में अथवा अपर की पत्नी को पत्नी करने से पापात्मक अश्लीलता का आदर्श निवारित नहीं होगा, जारत्व आवरत्व होने से व्यभिचारित्व ही होगा, कारण—पतित्व में रमणत्व में प्रियत्व में एकान्त मिलन में जारत्व की स्थिति नहीं होती है। अतएव जारत्व—सर्वथाविधेय नहीं हो सकता है। अतएव अतिविस्तार करना निष्प्रयोजन है। कारण, श्रीकृष्ण ही सर्वनामा हैं, एवं वेद समूह के द्वारा स्तुत हैं।

अवारतवत्वे तु व्यभिचारित्वमेवेति। सर्व्वथा तद्विदेयं न भवत्येव वेत्यलमतिविस्तरेण। अत्र ब्रह्मेत्येवोक्ते भगवन्तम्, श्रुतनिर्व्विशेषब्रह्मवादस्य कस्यचित् सन्देहविषयो भवतीति परममित्युक्तम्; परममित्यप्युक्ते श्रीकृष्णरूपत्वं न प्रतीयत इति मामित्युक्तम्; मामित्येवोक्ते ब्रह्मत्वं परमत्वञ्च प्रमाणान्तरसापेक्षं भवतीति तत्तदुच्यते। तथा जारमित्येवोक्ते पर्य्यवसितं न सिध्यतीति रमणमित्युक्तम्; रमणमित्येवोक्ते पूर्व्वप्रतीतत्वाद्रमणपदेनापि कथञ्चिज्जारत्व-

अनन्तर "जारं, रमणं परमं, ब्रह्म, मां पदसमूह की सार्थकता दर्शाते हैं, ब्रह्म को प्राप्त किया है, कहने से ही वाक्य की पूर्णता होती, किन्तु भगवन्तम् प्रापुः—कहा गया है, ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती है, अतएव प्राप्य वस्तु का परिचायक शब्द का प्रयोग भगवान् किया गया है, निखिलैश्वर्य्य माधुर्य्य पूर्ण नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण को प्राप्त किया है। श्रुति प्रसिद्ध निर्विशेष ब्रह्मका बोध ब्रह्मशब्द श्रवणसे झटति होगा, उससे गोपीगण की मुक्ति प्राप्ति हुई, इस प्रकार सन्देह हो सकता है, उसका निरसन हेतु कहते हैं, 'परमम्' यह शब्द—ब्रह्मका विशेषण है, शक्ति समन्वित ब्रह्म की प्राप्ति हुई, निर्विशेष ब्रह्म की नहीं, "परम" विशेषण से भी स्वयं भगवान् नराकृति परम ब्रह्म का बोध नहीं होगा, तज्जन्य कहते हैं। कथन कर्त्ता अपने को निर्देश करते हैं, श्रीकृष्ण स्वरूप मुझ को प्राप्त किया है। 'माम्'—मुझ श्रीकृष्ण को प्राप्त किया है, कहने पर भी मां पद सम्बलित—ब्रह्मत्व, परमत्व प्रमाणान्तर सापेक्ष है, कारण नराकृति पर ब्रह्म में ब्रह्मत्व परमत्व का प्रतिपादन करना आवश्यक होगा। अतएव उक्त विशेषण को कहा गया है, अतः स्वतः सिद्ध नराकृति परम ब्रह्म श्रीकृष्ण का ही बोध उक्त पदों से होता है। उस प्रकार—(जार) शब्द कथन से ही शेषफल निर्बाध परमानन्द प्राप्ति नहीं होगी, तज्जन्य 'रमण' पद का कथन हुआ है, केवल 'रमण' शब्द कथन से ही अभीष्ट सिद्धि होती, तथापि 'जार' शब्द का प्रयोग किया गया है, कारण,—'रमण' शब्द से भी पूर्व सम्बन्धान्वित जारत्व का ही बोध होगा, अतः तन्निरासार्थ "जार" पदका उपन्यास अनुवाद्य रूप से हुआ है, अनुवाद कथन के पश्चात् ही विधेय का कथन विहित है, अतएव परमाभीष्ट होने के कारण ही रमणत्व का ही विधेयत्व हुआ है। किन्तु जारत्व विधेय नहीं है,। कारण—"जारत्व" बहुबाधा सम्बलित है, जिस प्रकार अवैध प्रणय के पश्चात् लोक भीति निवारण पूर्वक जन समर्थन के द्वारा आनुष्ठानिक उद्वाहविधि उपद्रव शून्य है, उस प्रकार—निरुपद्रव—अभीष्ट प्राप्ति ही सिद्धान्त एवं रस शास्त्र सम्मत है। प्राचीन लौकिक अलौकिक कविगण—उस प्रकार सिद्धान्त ही करते हैं। अस्मदुपजीव्य चरण—अर्थात् श्रीरूप गोस्वामिचरण निज कृत ललित माधव नाटक में श्रीराधागोविन्द का प्रकट लीला वर्णन उक्त रूप से ही किये है। ललित माधव में पूर्ण मनोरथाङ्क नामक दशम अङ्क है, यह नाटक—पुरलीला वर्णनात्मक है, अर्थात् शैशव में गोप कन्या गण ही कैशोर में राज कन्या हुई थीं, इस पौराणिक आख्यान अवलम्बन से उक्त अङ्क—समाधान हुआ है। उक्त अङ्क में वर्णित है श्रीद्वारकास्थित नव वृन्दावन में श्रीराधाकृष्ण का विवाह सम्पन्न हुआ है। उक्त विवाह सभा में सती शिरोमणि—अरुन्धती, लोपामुद्रा, स पत्नीक इन्द्र प्रभृति देवगण, व्रजराज दम्पति, श्रीदामादि सखागण, पौर्णमासी देवी प्रभृति व्रजपरिकर गण, एवं श्रीवसुदेव देवकी बलराम प्रभृति द्वारका परिकर वृन्द उपस्थित थे। व्रजलीला वर्णनात्मक नाटक विदग्ध माधव है, उस में राधाकृष्ण का विवाह वर्णन नहीं हुआ है। उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में सर्वरस पूरक समृद्धि मदाख्य सम्भोग का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। श्रीभगवान् ने भी भा० १०।४७।३४ में "यत्त्वहं भवतीनां वै" भा० १०।४७।३७ "या मया क्रीड़ता रात्र्याम्" में उस प्रकार अभिप्राय को व्यक्त किया है। जारभावमय सङ्गम लौकिक में सर्वदा उपद्रव पूर्ण है, अतएव निरुपद्रव पूर्ण सम्भोग सुख सम्पादन हेतु लौकिक समर्थन

मेव लक्ष्येतेति तन्निरासार्थं जारमिति चानूद्यते । परमाभीष्टत्वादपि रमणत्वस्यैव विधेयत्वम्, न तु जारत्वस्य । तथापि सर्व्वत्र पर्य्यवसाने निरुपद्रवाभीष्ट-दर्शयितृरेव खलु सिद्धान्तरस-शास्त्रयोः सम्मताः । प्राचीनैर्लौकिकैरलौकिकैरपि कविभिस्तथैवोपाख्यायते । श्रीमदस्मदुपजीव्यचरणैरपि ललितमाधवे पूर्णमनोरथनाम्न्यङ्के तथैव समापितम् । तदेवोज्ज्वलनीलमणौ प्रमाणीकृत्य सर्व्वरसपूरक-समृद्धिमदाख्यः सम्भोग उदाहृतः । श्रीभगवता

रूप विवाह अनुष्ठान श्रेयस्कर है । वामन प्रभृति लौकिक रस वेत्तागण जार भाव को ही रस हेतु मानते हैं, किन्तु पर्य्यवसान में उपद्रव पूर्ण स्थिति सुखद नहीं होती है । भरत मुनिने गोकुलललना गण में जार भाव को रसोत्कर्षका हेतु माना है, अन्यत्र निषेध किया है । पारमहंस्यसंहितारूप श्रीमद् भागवत में सुस्पष्टतया जारभाव का वर्णन श्रीशुकने किया है, यह लीला शक्ति शक्तिमत्तत्व की लोक शिक्षार्थ है । "अत्रैव परमोत्कर्षः शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः" (उज्ज्वल नीलमणि)

टीका—श्रीजीवगोस्वामिचरण—अत्रैव—परकीयायामेव ।

उस प्रकार असंख्य व्रजवनितागण के द्वारा श्रीकृष्ण के व्रजस्थिति समय में भी स्वीय भाव गोपन करना दुष्कर था, उसका वर्णन भा० १०।३५।१६ में है—

"निज पदाब्जदलै र्ध्वजवज्रनीरजाङ्कुशविचित्रललामैः ।
व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं वर्ष्मधुर्य्यो गतिरिडीतवेणुः ॥"

टीका—अस्माकन्तु मोहं किं ब्रूम इत्याहुः निज पदाब्ज दलैरिति । ध्वजादीनि विचित्राणि ललामानि चिह्नानि येषां तैः निजानि पदान्येव अब्जदलानि तै र्व्रजभुवः खुरतोदं खुराक्रमण व्यथां शमयन् वर्ष्मणा देहेन धुर्य्योगजस्तद्वद्गतिर्यस्य स कृष्णो वादित वेणुः सन् यद् व्रजति"

वृहत् क्रमसन्दर्भ—हे सख्यः ! यद्येवं तस्य वेणु वाद्य कौशलं न स्यात्, तदा कथमस्माकमीदृगवस्था स्यादित्यपरा आहुः—निजपदाब्जेत्यादि द्वाभ्याम् । दलैरिति बहुमाने बहुत्वम् । ध्वज वज्रादीनि विचित्राणि ललामानि येषां तैः । वर्ष्मधुर्य्यो हस्ती, तद्वद् गतिर्यस्य, यदेड़ीत वेणु र्वादित वेणुस्तदा वयं कुजगतिं वृक्ष वज्जाड्यं गमिताः सत्यः कश्मलेन कवरं वसनं वा स्खलितमस्खलितं वा न विदाम इत्यर्थः ॥"

"व्रजति तेन वयं सविलासविक्षणार्पितमनोभव वेगाः ।
कुजगतिं गमिता न विदामः कश्मलेन कवरं वसनं वा ॥" भा० १०।३५।१७

तेन निमित्तेन सवीक्षणार्पितो मनोभववेगो यासु ता वयम् कुजा वृक्षास्तेषां गतिं गमिताः सत्यो मोहेन न विदामः कवरं वा वसनेवेति ।

"गजगामी श्रीकृष्ण,—ध्वज वज्र कमल अङ्कुशादि विचित्र शोभा से शोभित निज चरण कमल द्वारा व्रजभूमि की गोष्ठ गमन काल में खुराक्रमण जनित व्यथा को विदूरित कर व्रजागमन करते हैं, तज्जन्य उनका सविलास अवलोकन से हमारे मन में कन्दर्प वेग अर्पित होता है । उस से हम सब में जड़ता आ जाती है । सुतरां हमारे वसन एवं वेश बन्धन स्खलित हो जाते हैं, मोह के कारण हम सब का कुछ अनुसन्धान नहीं रहता ।" इस प्रकार उद्भट भावरीति सम्पन्न व्रज सीमन्तिनी गण का भाव सङ्गोपन व्रज में श्रीकृष्णावस्थिति समय में भी दुष्कर था । अर्थात् श्रीव्रजेश्वरी की सभा में उपस्थित होकर श्रीकृष्ण प्रेयसी वर्ग जव उस प्रकार परस्पर कहती थीं, तब उन सब का भाव सुव्यक्त हुआ था । उसके वाद महाविरह उपस्थित होने पर—अर्थात् अक्रूर श्रीकृष्ण को मथुरा में ले आने के निमित्त आने पर—वे सब

च (भा० १०।४७।३४) 'यत्त्वहं भवतीनां वै' इत्यादिना, (भा० १०।४७।३७) "या मया क्रीड़ता रात्र्याम्" इत्यन्तेन तथैवाभिप्रेतम् । जारभावमयः सङ्गमश्च सदैव सोपद्रवः । सोपद्रवत्वमेव हि जारवादिनां रसहेतुरिति गत्यन्तरञ्च न शक्यमिति पर्य्यवसानपुरुषार्थत्वे तत्तच्छास्त्र-सम्मतो न स्यात् । तथा परकोटिसंख्यानां (भा० १०।३५।१६) 'निजपदाब्जदलैः" इत्यादि-युगले (भा० १०।३५।१७) 'कुजगतिं गमिता न विदामः,कश्मलेन कवरं वसनं वा'इत्यादि—रीतीनामुद्भट-

एक साथ खेद प्रकट कर कही थीं—भा० १०।३९।२८

निवारयामः समुपेत्य माधवं किन्नोऽकरिष्यन् कुल वृद्ध बान्धवाः ।'

चल, हम सब मिलकर माधव को रोकें, कुलवृद्धबान्धवगण, हमारे क्या करेंगे ? उस के बाद-प्रिय विच्छेद शङ्का से आकुल होकर (भा० १०।३९।२८)

विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं गोविन्द दामोदर माधवेति । चेति ।।

गोपीगण लज्जा विसर्जन पूर्वक "हे गोविन्द ! हे दामोदर ! हे माधव कहकर उच्चैःस्वर से रोदन करने लगीं । भा० १०।४७।९।१० में वर्णन है—

"कृष्णदूते समायाते उद्धवे त्यक्त लौकिकाः ।

गायन्त्यः प्रिय कर्म्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः ।

तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोर बाल्ययोः ।।"

टीका—प्रियस्य कर्माणि गायन्त्य स्तथा बाल्य कैशरयो र्यानि कर्माणि तानि संस्मृत्य गतह्रियः सत्यो रुदत्यश्च तमपृच्छन्निति पूर्व क्रिययैव सम्बन्धः ।

गोपीवृन्द के काय, वाक्य, मन श्रीगोविन्द में आविष्ट थे । श्रीकृष्ण दूत उद्धव का व्रजागमन होने पर वे सब लोकिक व्यवहार विसर्जन पूर्वक प्रियतम श्रीकृष्ण के कर्म समूह का कीर्त्तन एवं उनके बाल्य कैशोर के कर्म समूह का वारम्बार स्मरण कर निर्लज्ज भाव से रोदन करी थीं ।" (भा० १०।४७।११ में उक्त है—

"काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती प्रियसङ्गमम् ।

प्रिय प्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ।।

प्रियतम श्रीकृष्ण का सङ्गमकाध्यान परायणा गोपी श्रीराधा, एक मधुकर को देखकर प्रिय श्रीकृष्ण प्रेरित दूत मानकर बोली थीं ।

उनकी प्रेमचेष्टा को देखकर उद्धवने कहा था—(भा० १०।४७।६१)

"आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनां ।

या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्य पथञ्च हित्वा भेजुर्मुकुन्द पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ।

वृहत् क्रमसन्दर्भ—तस्मादेतासां चरण रजः सम्बन्धोऽप्यति दुर्लभ इत्याह—आसामित्यादि । अहो चित्रम्, आसां चरणरेजु जुषां गुल्मलतौषधीनां मध्ये वृन्दावने किमप्यहं स्याम्, यत्र जन्मलब्धवासां चरण-रजो लभ्यते । तत्रैव गुल्मादिषु मध्ये कतमत् स्यामित्यर्थः । कुतः ? इत्य ह— या दुस्त्यजमित्यादि । श्रुतिभि र्विमृग्यामेव, नतु लभ्याम्, मुकुन्दपदवीं मुकुन्द प्रेम । ननु (भा० १०।३२।१३)

"मनोरथान्तं श्रुतयो ययुः" इति पूर्व मुक्त्वा कथमिदानीं श्रुतिभि मृग्यामित्युच्यते ? सत्यम् श्रुतयो हि ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्डोपासना काण्डात्मिकाः । तत्रोपासना काण्डात्मिकास्तु तत् पदवीं गच्छन्त्येव, अन्यास्तु मृगयन्त्येवेति ।।

जिन्होंने दुस्त्यजं स्वजन एवं धर्म पथ को परित्याग कर श्रुति समूह के द्वारा अन्वेषणीय मुकुन्दपदवी

भावानां तासां व्रजे च भावसङ्गोपनं पूर्व्वमपि दुष्करमासीत्। महाविरहे तु जाते (भा० १०।३१।२८) 'निवारयामः समुपेत्य माधवं, किं नोऽकरिष्यन् कुलवृद्धबान्धवाः" इति, (भा० १०।३९।३१) 'विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं, गोविन्द दामोदर माधवेति' चेति, (भा० १०।४६।४) 'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः' इति, (भा० १०।४७।९) 'कृष्णदूते व्रजायाते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः' इति, (भा० १०।४७।१०) 'गतह्रियः' इति, (भा० १०।४७।११)

(मुकुन्द विषयक प्रेम) का भजन किया है, उन सब गोपीगण की चरणरेणु सेवी वृन्दावनस्थ गुल्मलता औषधि के मध्य में एक हो सकूँ, तब धन्य हो जाऊँगा" ।। भा० १०।६५।९ में श्रीबलदेव का व्रजागमन होने पर उक्त है, ।

"गोप्यो हसन्तः पप्रच्छू राम सन्दर्शनादृताः ।
क्वचिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजन वल्लभः ।।"

श्रीबलरामसन्दर्शन से आदृता गोपीगण हँस हँस कर उनको पूछी थीं, "पुरस्त्री जनवल्लभ श्रीकृष्ण सुखी हैं न ?

(भा० १०।६५।११) "मातरं पितरं भ्रातॄन् पतीन् पुत्रान् स्वसॄरपि ।
यदर्थे जहिमदाशार्ह दुस्त्यजान् स्वजनान् प्रभो ।
ता नः सद्यः परित्यज्य गतः सञ्छिन्नसौहृदः ।।"

"हे प्रभो ! हे दाशार्ह ! जिस के कारण, माता, पिता, पुत्र, भगिनी प्रभृति दुस्त्यज स्वजन गण को परित्याग कर चुकी हूँ, वह कृष्ण सब को छोड़कर सौहार्द्यबन्धन छिन्न किये हैं।

इस श्लोक में महाविरह उपस्थित होने पर व्रज सुन्दरी गण का भाव (श्रीकृष्ण में प्रगाढ़ प्रेम) सुव्यक्त हुआ है

"निवारयामः" "चल, हम सब जाकर माधव को मना करें।" इत्यादि रूप में जो सङ्कल्प हुआ था, गोपीगण के द्वारा वे सव अनुष्ठित हुए थे। उसका विवरण "विसृज्यलज्जां" लज्जावर्जन पूर्वक उच्चैःस्वर से हे गोविन्द ! इत्यादि कहकर रोदन किये थे । लज्जात्याग के द्वारा ही श्रीकृष्ण विषयक भाव परिस्फुट हुआ था। रोदनादि के द्वारा नहीं। कारण, समस्त गोकुल वासी जनगण—श्रीकृष्ण विच्छेद से कातर होकर रोदन किये थे। उस से कोई वैशिष्ट्य नहीं हुआ। कुल बधूवर्ग के निकट प्राणापेक्षा लज्जा ही आदरणीय है, वे सब प्राण कोटि निर्मञ्छनीय चरण प्रियतम के विच्छेद भय इस प्रकार अधीर हो चुकी थीं, जिस से लज्जाविसर्जन पूर्वक हा गोविन्द कहकर रोदन करने से गुप्त कृष्णानुराग व्यक्त होगा, तज्जन्य गुरु गञ्जनादि सहन करना पड़ेगा—इस प्रकार भीति वार्त्ता मन में उदित नहीं हुई। अनन्तर भाव व्यक्ति पूर्वक रोदन द्वारा उन सब के द्वारा निवारण भी उपयुक्त ही हुआ था। ललित माधव नाटक में इसका चित्रण इस प्रकार है— क्षणं विक्रोशन्ती लुठति शताङ्गस्य पुरतः ।
क्षणं वाष्पग्रस्तां किरति किलदृष्टिं हरिमुखे ।
क्षणं रामस्याग्रे पतति दशनोत्तम्भित तृणा
न राधेयं कं का क्षिपति करुणाम्भोधि कुहरे ।

अहो ! श्रीराधा क्षण काल चीत्कार करते करते रथाग्रे लुठित हो रही हैं, क्षणकाल वाष्पाकुल नयन से हरिमुख निरीक्षण कर रही हैं। क्षणकाल राम के सम्मुख में दन्त द्वारा तृणोत्तोलन कर रही हैं, हाय !

'काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा' इति, (भा० १०।४७।६१) 'या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथञ्च हित्वा' इति, (भा० १०।६५।९) 'गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छू रामसन्दर्शनादृताः' इति, (भा० १०।६५।११)—

'मातरं पितरं भ्रातॄन् पतीन् पुत्रान् स्वसॄरपि ।
यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान् स्वजनान् प्रभो ॥" ५११॥

इति च श्रूयते । अत्र 'निवारयामः' इत्यादिकं यथा सङ्कल्पितं तथैव' विसृज्य लज्जाम्'

राधा इस प्रकार दशाग्रस्त होकर किस को शोक सागर में निक्षेप नहीं करती हैं । अर्थात् श्रीराधा को अवस्था को देखकर समस्त जन निकर शोक सागर में निमग्न हो रहे हैं । इस प्रकार "कृष्ण दूते व्रजायाते उद्धवेत्यक्त लौकिकाः" इत्यादि श्लोक त्रय में उन सब की भावव्यक्ति वार्त्ता सुस्पष्ट रूप में अभिव्यक्त है । अधिक विचार का प्रयोजन ही क्या है ? भा० १०।३१।१३ में पूर्वराग प्रकरण है, उस में कथित है—

"पतिसुतान्वय भ्रातृबान्धवानति विलङ्घ्य तेऽन्तच्युतागताः ।"

इस में पति सुतादि परित्याग की कथा है, किन्तु भा० १०।६५।११ में

"मातरं पितरं भ्रातॄन् पतीन् पुत्रान् स्वसॄरपि"
यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान् स्वजनान् विभो ॥" माता प्रभृति का परित्याग का वर्णन है, उस समय उन सब की अपेक्षा थी किन्तु विरहोत्कण्ठामें उक्त अपेक्षा भी तिरोहित हो चुकी थी ।

सुतरां तदानीं महाविरह वैकल्य उपस्थित होने पर दुर्द्धरमहाभाव हेतु उन सब की उन्मत्त चेष्टा (दिव्योन्माद) व्यक्त हुई थी । दिव्योन्माद का लक्षण यह है,—

"एतस्य मोहनाख्यस्य गतिं काम्प्युपेयुषः ।
भ्रमाभा कापि वैचित्री दिव्योन्माद इतीर्य्यते ॥"

किसी प्रकार अनिर्वचनीया वृत्ति विशेष प्राप्त मोहनाख्य महाभाव की भ्रम सदृश किसी अद्भुत विचित्रता को दिव्योन्माद कहते हैं । जिन्होंने निर्लज्ज भाव से श्रीकृष्ण में कान्त भाव को व्यक्त किया है, श्रीकृष्णने उद्धव को कहे थे— "ता मन्मनस्का मत्प्राणामदर्थेत्यक्तदैहिकाः ।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ॥

दयितं, प्रेष्ठं, आत्मानं—पदत्रय के योग से ही गोपीगण का पतित्व श्रीकृष्ण में निश्चित हुआ है । अतः जिन्होंने अत्यन्त प्रबल विरहोत्कण्ठा से माता प्रभृति का त्याग किया है । उन सब असंख्य गोपीजन का भाव संगोपन कदापि सम्भवपर नहीं है । सबने जाना था । किन्तु कान्ता भाव व्यक्त होने पर भी महाविरह पीड़ा से विवश व्रजवासिगण के निकट वह अज्ञात के समान था । किन्तु विरहावसान होने पर उन्होंने पूर्व प्रकाशित कृष्ण प्रेम विषय का अनुसन्धान अवश्य ही किया था ।

जार भावमय सङ्गम, भाव संगोपन के द्वारा कुछ समय पर्य्यन्त रसता को पुष्ट करता है जार भाव व्यक्त होने पर श्रीकृष्ण के सहित व्रजलक्ष्मी गण का जार भावमय सङ्गम, धर्ममय रूपसे ही प्रतीत हुआ । उस से वह जार भाव—महामुनीन्द्र श्रीशुकदेवादि के द्वारा पारमहंस्य संहित में परमादर से कीर्त्तित हुआ है, तज्जन्य ही मुनिने कहा है ।

"बहु वार्य्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्न कामुकत्वञ्च ।
याच मिथो दुर्लभता, सा मन्मथनस्य परमा रतिः ।

इत्यादिनाचरितम् । तासां लज्जात्यागः खलु भावव्यक्त्यैव स्यात्,— सर्व्वेषां गोकुलवासिनां रोदनादिसाम्यात् । ततस्तद्वयक्तिपूर्व्वकरोदनद्वारेण ताभिर्निवारणमपि योग्यमिति । एवं त्यक्तलौकिका इत्यादिषु च सुष्ठ्वेव भावव्यक्तिर्गम्यते । किं बहुना ? मातर्गमित्यादौ मात्रादीन् जहिम इत्युक्तम्, न तु पूर्व्वरागवत् (भा० १०।३१।१६) 'पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य' इतिमात्रमुक्तम् । तदेवं तदानीन्तु दुर्द्धरमहाभावेनोन्मत्तचेष्टानां निरपत्रपाणां

लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृत नायके ।
न कृष्णे रस निर्य्यास स्वादार्थमवतारिणि ।।

प्राञ्च— शृङ्गार रस सर्वस्वं शिखिपिञ्छ विभूषणम् ।
अङ्गीकृत नराकार माश्रये भुवन त्रयम् ।।

किञ्च,— नासौ नाट्ये रसे मुख्ये यत् परोढ़ा निगद्यते ।
तत्तु स्यात् प्राकृत क्षुद्रनायिकाद्यनुसारतः ।।

तथाचोक्तम्— 'नेष्टा यदङ्गि निरसे कविभिः परोढ़ा, तद् गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण ।
आशंसया रस विधेरवतारितानां, कंसारिणा रसिक शेखरमण्डलेन ।

तज्जन्य ही अलौकिक जारभाव में ही शृङ्गार रसकी चरमोकर्षता है, तत्व विद्गण का इस में ऐकमत्य है, रस ध्वनि के द्वारा व्यक्त होता है, उत्तम ध्वनि प्रधान काव्य ही राधाकृष्ण है, अन्यथा निर्दोष साहित्य ही विलुप्त होगा । अन्यत्र परिपूर्ण रसपोषक सामग्री नहीं है । अतएव श्रीरूप गोस्वामीपाद पाद ने उज्ज्वल नीलमणि में कहा है—

"अत्रैव परमोत्कर्ष शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः" उत्रैव--परकीयायामेव,श्रीजीव गोस्वामि चरण की व्याख्या।

पति—उपपति भेद से द्विविध—"उक्तः पतिः स कन्याया यः पाणि ग्राहको भवेत्" यथा रुक्मिणी पतिः ।

"रागेणोल्लङ्घयन्धर्मं परकीयावलार्थिना ।
तदीय प्रेम वसति बुधैरुपपतिः स्मृतः ।।

लोक शिक्षा के निमित्त स्वयं ही श्रीकृष्ण निज शक्ति रूपा प्रेयसी वर्ग के सहित व्रज में अवतीर्ण हैं, अतएव उन में अधर्ममयत्व नहीं है, अतएव अश्लीलता भी नहीं है, सुतरां रस हानि भी नहीं है, प्रत्युत परम रसमयत्व है, कारण—श्रीकृष्ण ही "रसो वैसः" शब्द से कीर्त्तित है । कर्माधीन मानव में दोषावह है,सुतरां लौकिकपरकीया में रस अस्वीकार्य्य है । जार भावमय रसके उपकरण समूह इसप्रकार हैं"विभाव, अनुभाव, सात्त्विक व्यभिचारी" सम्मिलन से स्थायी भाव रस होता है आलम्बन— उद्दीपन भेद से विभाव द्विविध हैं । वंशी स्वरादि—उद्दीपन, कृष्णादि आलम्बन हैं ।

अनुभाव—स्मित, नृत्य, गीतादि उद्भास्वर एवं स्तम्भादि सात्त्विक हैं,

व्यभिचारी—निर्वेद हर्षादि तेत्रीश हैं ।

उक्त सामग्री सम्वलन से चमत्कार कारी रस होता है । अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी, सामग्री चतुष्टय सम्वलन से श्रीकृष्ण विषयक स्थायिभाव—कृष्णरति—रसनाम से अभिहित होती है ।

विभाव—आलम्बन--उद्दीपन भेद से द्विविध हैं ।

आलम्बन—विषय, आश्रय भेद से द्विविध हैं ।

विषयालम्बन—श्रीकृष्ण, आश्रयालम्बन—कृष्ण भक्त प्रस्तुत स्थल में व्रजसीमन्तिनीवृन्द हैं ।

व्यञ्जितभावानां त्यक्तमात्रादीनां तासामसंख्यानां भावसङ्गोपनं नोपपद्यत एव, किन्तु ज्ञातोऽप्यसौ महाविरहपीड़या सर्व्वैरज्ञात इवासीत् । अनन्तरं त्वनुसन्दध एव, स तु भाव-सङ्गोपनायैव कालकतिपयं स्वस्य रसतामावहति । व्यक्तत्वे तु स्वस्य परेषामपि सर्व्वत्र वस्तुतो धर्म्ममयत्व-प्रतीतौ जातायामेवेति रसविदां मतम् । अधर्म्ममयत्वप्रतीतौ त्वश्लीलतया व्याहन्यत एव रसः । अधर्म्ममयत्वञ्च द्विधा—परकीयत्वेन परस्पृष्टत्वेन च । तस्माद्-यथैश्वर्य्यज्ञानमय्यां श्रीपरीक्षित्सभायामैश्वर्य्यज्ञानमय्या रीत्यैव तत् परिहृत्य रसावहत्वं समाहितम्

स्थायिभाव—कृष्णरति—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर । प्रस्तुत स्थल में मधुर है ।

रसोपकरण समूह विद्यमान होने पर नायक नायिका का सङ्गम प्राकृत जारमय होता है तो वह रसाभास होता है रस नहीं, यह ही लौकिक रसशास्त्रविद्गणों का मत है, श्रीकृष्ण में ही अलौकिक जारत्व होने से परमोपादेय रस स्वीकृत है ।

रस का लक्षण—"वहिरन्तः करणयो र्व्यापारान्तर रोधकम् ।
स्व कारणादि संश्लेषिचमत्कारि सुखं रसः ॥"

वहिरिन्द्रिय एवं अन्तरिन्द्रिय के सम्बन्ध में व्यापारान्तर का प्रतिबन्धक, (निज) रस का कारण स्वरूप विभावादि के सहित सम्मिलित जो चमत्कार सुख, उस को सुख कहते हैं ।

प्राकृतस्थल में परकीयात्व एवं परस्पर्शत्व हेतु अधर्ममयत्व द्विविध हैं । अर्थात् कर्माधीन जन्म होने से आनुष्ठानिक समाजिक रीति अन्य कर्त्तृक विवाहिता अथवा कन्यका नायिका होने से परकीयात्व होता है, एवं अपर के द्वारा उपभुक्ता रमणी नायिका होने से पर स्पर्शत्व दोष होता है, सुतरां वेदनिषिद्ध अधर्ममयत्व प्रतीत होने से रसहानि होती है । श्रीमद् भागवतीय सर्वोत्तम लीलात्मक रास प्रसङ्ग के उपसंहार में राजा का प्रश्न "परदारा' अभिमर्षण पर रहा, आप्तकाम यदुपति ने परदारा गमन रूप अधर्म कर निन्दनीय कार्य्य क्यों किया ? (भा० १०।३३।२६-३६) उक्त परीक्षित् सभा ऐश्वर्य्य ज्ञानमयी थी, अतएव श्रीशुकने प्रश्न का उत्तर सीधा नहीं दिया— 'श्रीकृष्ण की धर्म पत्नी गोपाङ्गनागण हैं" किन्तु चक्कर से उत्तर दिया, अर्थात् प्रश्न हुआ लौकिक रीति से उत्तर हुआ अलौकिक ऐश्वर्य्य रीति से, आत्मा परमात्मा की क्रीड़ा है, लोक शिक्षा हेतु है, सब का अध्यक्ष एवं पति श्रीकृष्ण हैं, पर है ही कहाँ, जिस से परस्त्री गमन दोष होगा, किन्तु अवगुण्ठन कौतुक मयी लीला होने से सब सभासद् गण परम रसाविष्ट हुये थे ।

लौकिक जार भाव पापमय वेदनिषिद्ध हेतु श्रवण मात्र से ही सामाजिक के मन में घृणा का उद्रेक होता है । चित्त सङ्कुचित होने से रसोदय नहीं होता है । तज्जन्य लौकिक पारकीय भाव से रस सिद्ध नहीं होता है, परकीया भाव के स्थायिभाव विभावादि यावतीय उपकरण घृणास्पद होने के कारण रसता सम्पादन में अक्षम हैं । व्रजस्थ परकीया भाव अतिविशुद्ध लोकोत्तर भाव है । इस से निरवद्य साहित्य निर्दोष दर्शन,कामतन्त्र,गन्धर्व कला प्रभृति का विस्तार असमोर्द्धवरूपसे हुआ है । लोकोत्तर ममत्व आस्वादन ही व्रजीय परकीया भाव का मूल उत्स है । अतएव इस में ही स्वयं भगवान् स्वरूप शक्त्यानन्द रूप भक्ति रस का आस्वादन कर जगत् में आदर्श शिक्षा स्थापन करते हैं । कारण—व्रजीय परकीयाभाव विशुद्ध स्वकीयाभाव के ऊपर प्रतिष्ठित है, एक अद्वय ज्ञान तत्त्व श्रीकृष्ण ही सर्व पति एवं आश्रय तत्त्व हैं । अतएव जो श्रीकृष्ण, नित्य कान्त हैं, वह ही नित्य उपपति हैं । और जो नित्य स्वरूप शक्ति रूपिणी नित्य प्रेयसी, कान्ता हैं, वे सब ही उनकी परकीया नायिका हैं । नायक—परम ब्रह्म हैं, नायिका गण—उनकी स्वरूप

तथा लोकवल्लीलाकैवल्यावलम्बन-प्रेममय्यां श्रीगोकुल-सभायां लोकरीत्यैव समाधेयम्। तथाहि (भा० १०।३३।३७)—

'नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया,
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥'५१२॥

इति च यच्छ्रूयते, तच्चात्राप्यवश्यमेव सङ्गमनीयम्। तस्य चायमर्थः— तस्य मायया कर्त्र्या मोहिताः सन्तो नासूयन्। तस्य स्वनित्यप्रेयसीस्वीकारलक्षणे गुणे कथमसावस्मद्धामार्थसुहृत्-प्रियात्मतनयप्राणाशयजीवातुतमः परदारस्वीकारामङ्गलमङ्गीकरोतीति दोषारोपं नाकुर्व्वन्नित्यर्थः। मायामोहितत्वमेवाह-मन्येति। स्वरूपासिद्धानां भगवद्दाराणामपरकर्त्तृक-बलात्-

शक्ति रूपा हैं। उस में अपर रूपी श्रीकृष्ण कर्त्तृक विवाहादि—निज चिच्छक्ति योगमाया द्वारा सम्पादित है, परिणाम में अर्थात् वृन्दावनीय अप्रकट वैभव रूप गोलोक लीला में योगमायावरण विदूरित होने पर नित्य कान्त, के सहित नित्य कान्ता रूप में मिलन होता है।

यह सब कारण से व्रजीय परकीयाभाव के विभावादि चमत्कार सुख स्वरूप होकर रसता वहन करते हैं। यहाँ रस निष्पन्न होता है, उस को व्यक्त करने का माध्यम शब्द है, किन्तु वह परमार्थ वस्तु भूत ही है, अतएव व्रजीय परकीया भाव का विशेष स्तव श्रीशुकादि महानुभावों ने मुक्त कण्ठ से किया है। ऐश्वर्य्य ज्ञानमयी परीक्षित् सभा में ऐश्वर्य्य ज्ञानरीति परकीयात्व का समाधान पूर्वक परम रसावहत्व स्थापित हुआ है, उस प्रकार ही 'लोकवल्लीला कैवल्य रीति से''- अर्थात् केवल लीला वशतः मनुष्य के समान चेष्टान्विता प्रेममयी गोकुल राजसभा में भी उक्त परकीया भाव का समाधान हुआ है।

भा० १०।३३।३७में उक्त है—''नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥

श्रीकृष्ण माया मोहित व्रज वासिगण, निज निज पत्नी को निज निज पार्श्व में अवस्थिता मानकर श्रीकृष्ण के प्रति असूया (गुण में दोषारोपण) प्रकाश नहीं किये थे। इसका तात् पर्य्य यह है—श्रीकृष्ण की चिच्छक्ति रूपा योग माया के द्वारा मोहित होकर व्रजवासि वृन्द श्रीकृष्ण के प्रति असूया नहीं किये थे। गुण में दोषारोपण असूया है। श्रीकृष्ण का निज निज प्रेयसी ग्रहण लक्षण गुण में, गृह, अर्थ, प्रिया, आत्मा तनय, प्राण, आशय एवं एक मात्र जीवन सर्वस्व से भी श्रीकृष्ण हमारे प्रियतम हैं, श्रीकृष्ण क्यों परदार ग्रहण करेंगे? इस प्रकार मानकर दोषारोपण नहीं किये थे।

वृजराज की सभा में विविध प्रमाणों से श्रीराधा चन्द्रावली का श्रीकृष्ण नित्य प्रेयसीत्व प्रतिपादित होने पर, जब श्रीकृष्ण प्रकाश्य रूप से निज प्रेयसी ग्रहण में तत् पर हुये थे उस समय गोपीगण के पतिम्मन्य गोपगण मन में धारणा किये थे, हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण, कभी भी परदार ग्रहण रूप अधर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं, इस के पहले वृजसीमन्तिनीगण का जो कृष्णानुराग सुव्यक्त हुआ था, वह अनुराग भी दोषावह नहीं है, कारण, श्रीकृष्ण की नित्य निज प्रेयसी गण ही श्रीकृष्ण में अनुरक्त हुई थीं, गोपगण की पत्नी वर्ग नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो अनुरागिणी होने पर भी श्रीकृष्ण परपत्नी को अङ्गीकार नहीं करते। श्रीकृष्णने हमारी क्षति कुछ भी नहीं की है। सुतरां श्रीकृष्ण के द्वारा अनुष्ठित कार्य्य में हम सब दोषारोप क्यों करेंगे? किन्तु, श्रीकृष्ण यदि साक्षात् रूप से गोप गण की धर्म पत्नी को प्रेयसी रूप में अङ्गीकार

कारपरिहारार्थमधुना चान्यदा च तत्तदाकारतया तस्य माया कल्पिता, ये ये स्वे स्वे दारास्तान् स्वस्वपार्श्वस्थान् मन्यमाना भगवद्दाराभेदेन स्वमत्या निश्चिन्वाना इत्यर्थः। तदेवम् (भा० १०।२९।९) "अन्तर्गृहगताः काश्चित्" इत्यत्रोक्तानामपि समाधानं ज्ञेयम्। परमसमर्थायास्तस्या मायाया निजप्रभुप्रेयसीनां तदेकानुरागस्वभावानां मर्य्यादारक्षणार्थं

करते, तथापि निज निज धर्म पत्नी को श्रीकृष्ण हस्त गत देखकर दुःखित नहीं होते। दुःखित होते—श्रीकृष्ण का अधर्मानुष्ठान को देखकर, कारण, अधर्मानुष्ठान से श्रीकृष्ण का अमङ्गल होगा।

गोपगण,--योगमाया रूप चिच्छक्ति के द्वारा (प्राकृत गुण माया के द्वारा नहीं,) मोहित थे, उसका प्रकाश करते हैं, 'मन्यमानाः' शब्द के द्वारा गोपगण निज पार्श्वस्थित पत्नीगण को मानते थे, किन्त निज शय्यास्थिता नहीं मानते, योगमाया कल्पित श्रीकृष्ण प्रेयसी वर्ग की रक्षा योगमाया अपर पुरष सङ्गम से करती थी। निज पत्नी वर्ग को निजशय्या सङ्गिनी करने का आग्रह गोपगण नहीं करते थे, इस में कारण द्वय हैं,—एक कारण चिच्छक्ति रूपा योगमायाका प्रभाव है,अपर कारण—व्रज प्रदेश की रीति है, पुष्पिता न होने से रमणीगण पतिशय्या सङ्गिनी नहीं होती हैं। व्रजदेवी गण पुष्पिता नहीं थीं, उनमें नारी धर्म का प्रकाश नहीं है, वे सब नित्य किशोरी एवं श्रीकृष्ण प्रेमवती हैं।

स्वरूप सिद्धा भगवत् प्रेयसीवृन्द अपर के द्वारा बलात्कार प्राप्त नहीं तज्जन्य उस उस आकृति से योगमाया कल्पिता निज पत्नी गण को गोपींने निज पार्श्व में अवस्थिता माना था, अर्थात् निज निज बुद्धि के द्वारा उन्होंने निश्चय ही कर लिया था।

कहा जा सकता कि—उक्त वृत्तान्त तो रास रजनी का ही, है, किन्तु सर्वदा ही क्या योगमाया वैसी रक्षा करती थीं ? उत्तर, हाँ, परम सामर्थ्य वती अघटनघटन पटीयसी चिच्छक्ति योगमाया, निज प्रभु प्रेयसी—जो सब श्रीकृष्ण में स्वभावतः ही अनुरागिणी हैं,उन सब की मर्य्यादा रक्षण हेतु तादृशीमाया कल्पित स्वरूप के सहित शुभ परिणय दिन से आरम्भ कर सर्वदा सावधान रही, रास लीला के दिन तो उपलक्षण है। परिणय दिवस में चिरन्तर रीति से पति शय्यास्थ कन्यागण नहीं हुई, कारण, गोप क्लीव थे—पुरुषत्व हीन थे, अतएव उक्त कार्य्य में वे सब अरुचिशील थे।

सुतरां स्वरूप सिद्धा गोपीगण की रक्षा पतिम्मन्य गोपगण के समीप में आवरण के द्वारा, एवं कल्पिता वणितागण की रक्षा भी योगमाया आवरण के द्वारा सर्वदा करती रहती थीं। इस प्रकार रीति को अपनाने का प्रयोजन--उत्तम भक्ति मार्ग प्रदर्शन करना था,इस से उत्कण्ठावर्द्धन उसमोद्ध्वं रूपसे होता है ही, विषय वितृष्णा भी ऐकान्तिक रूप से होती है।

तज्जन्य ही योगमाया द्वारा अनुष्ठित परकीया भाव सर्वथा श्लाघनीय है, दाम्पत्य में उस प्रकार उत्कर्ष नहीं है। अतएव श्रीकृष्णेच्छारूप योगमाया द्वारा अनुष्ठित कार्य्य सर्वथा सफल हुआ था, उसका निर्दशन श्रीमद्भागवत ३५।१४ के युगलगीत में है, इस में अत्यधिक उत्कण्ठा विवृत हुई है।

"विविध गोपचरणेषु विदग्धो वेणु वाद्य उरुधा निजशिक्षाः
तव सुत यदाधर विम्वे दत्तवेणुरनयत्स्वर जातीः"।

टीका—अपि च महदेतदाश्चर्य्यमित्याहुः विविधेति। हे सति यशोदे। तव सुतो नाना गोप क्रीड़ासु विदग्धो निपुणो वेणुवाद्ये विषये निजैव या शिक्षा, यासु ताः स्वोत्प्रेक्षिता नत्वन्यतः श्रुता इत्यर्थः। निषाद स्वरजाती निषाद ऋषभादि स्वरालाप भेदान् अनयत् उन्नीतवान्॥

परिणयमारभ्य सदैव सावधानतया योग्यत्वात्तद्दिनमुपलक्षणमेवेति । श्रूयते च कूर्म्मपुराणे द्वात्रिंशाध्यायस्यान्ते पतिव्रतामात्रस्य परात् परिभवो न सम्भवतीति कैमुत्येन श्रीसीता-देव्युदाहृता,—

गोपिका कही थीं, यह महदाश्चर्य्य है, हे सति यशोदे ! तुम्हारा पुत्र, विविध गोप क्रीड़ाओं में निपुण है, वेणुवाद्य विषय में स्वोद्भावित शिक्षा के द्वारा ही महीयान् है, अन्य से शिखने की आवश्यकता नहीं है, कारण—स्वर जाति समूह में जितने भेद हो सकते हैं, सब का ही तुम्हारा पुत्र आलाप करने में सक्षम है । रास प्रसङ्ग में उक्त है,—

"शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्यो ऽपास्य भोजनम् ।
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः ।
ता वार्य्यमानाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृ बन्धुभिः ।
गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्त्तन्त मोहिताः ।।
अन्तर्गृह गताः काश्चिद् गोप्योऽलब्ध विनिर्गमाः ।
कृष्णं तद् भावना युक्ता दध्यु र्मीलित लोचनाः ।"

कतिपय गोपी स्नानादि के निमित्त उष्णोदक अर्पणादि द्वारा पति शुश्रूषा में रत रहीं, कोई कोई अङ्गराग लेपन कर रही थीं, अपर कतिपय गोपी अङ्गोद्वर्त्तन प्रवृत्ता हुई थीं, कोई तो लोचन में अञ्जन प्रदान कर रही थीं, वेणु ध्वनि श्रवण से ही उक्त कर्म्म समूह का त्याग कर ही वे सब श्रीकृष्ण के निकट उपस्थित हो गईं, व्यस्तता के कारण, उन सब के वसन भूषण विपर्य्यस्त हो गये थे । अर्थात् शरीर के ऊर्द्ध्व भाग में धारण योग्य वसन का धारण अधोभाग में हुआ था ।

पति, पिता, माता, भ्राता, एवं बन्धुवर्ग के द्वारा निवारिता होने पर भी गोविन्द कर्त्तृक उनसब के चित्त अपहृत होने से वे सब गमनरत रहीं, किसी भी प्रकार से निवृत्ता नहीं हुई । कतिपय गोपिका, अन्तर्गृह में अवरुद्धा हो गई थीं, किन्तु निर्गमन उपाय प्राप्त न होकर ध्यान से ही श्रीकृष्ण सङ्ग प्राप्त कर चूकी थीं ।

स्वरूप सिद्धागण की उत्कण्ठा वृद्धि का विवरण—युगलगीत एवं रास प्रकरणस्थ १०।२९।४-११ में परिस्फुट है । अन्यत्र भी उक्त विवरण सुव्यक्त है, अर्थात् उक्त स्थल में स्वरूप सिद्धागण,—माया कल्पिता नहीं रही, किन्तु प्रबलोत्कण्ठा ही अभिव्यक्त हुई है, यदि परकीया का आवरण नहीं होता तो उक्त उत्कण्ठा का परिचय दुष्प्राप्य ही होता ।।

संशय हो सकता है कि—व्रजदेविगण की प्रबलोत्कण्ठा दर्शन कर गुरुगण निर्य्यातन कर सकते, किन्तु उसका प्रतीकार का उपाय क्या रहा ? उत्तर—श्रीकृष्ण विषयक भाव ही अन्य कर्त्तृक पराभव का निवारक है, कारण—गर्गाचार्य ने कहा ही है, "य एतस्मिन् महाभागे प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः । नारयोऽभि-भवन्त्येतान् विष्णु पक्षानिवासुराः" जो सब मानव महाभाग श्रीकृष्ण में प्रीति करते हैं, विष्णु पक्षीय गण को जिस प्रकार असुरगण पराभूत करने में असमर्थ हैं, उस प्रकार ही उन सब का पर भव अपर कर्त्तृक नहीं हुआ । भा० १०।८।१८ श्लोकोक्त विवरण ही जब उस प्रकार है, तब निरतिशय प्रेमवती व्रजदेवी गण का अनिष्ट साधन अपर के द्वारा नहीं हो सकता है ।

परम समर्था श्रीकृष्णेच्छारूप योगमाया निज प्रभु प्रेयसी श्रीकृष्णैकानुरागवती वृन्द की सर्वदा मर्य्यादा रक्षणार्थ परिणय दिवस से आरम्भ कर निरन्तर अति सावधान तथा जागरुक रही, रास प्रसङ्ग के

''पतिव्रताधर्म्मपरा रुद्राण्येव न संशयः। नास्याः पराभवं कर्त्तुं शक्नोतीह जनः क्वचित् ।५१३।
यथा रामस्य सुभगा सीता त्रैलोक्य विश्रुता। पत्नी दाशरथेर्देवी विजिग्ये राक्षसेश्वरम् ।५१४।
रामस्य भार्य्यां विमलां रावणो राक्षसेश्वरः। सीतां विशालनयनां चकमे कालचोदितः ।५१५।
गृहीत्वा मायया वेशं चरन्तीं विजने वने। समाहर्त्तुं मतिं चक्रे तापसः किल भाविनीम् ।५१६।
विज्ञाय सा च तद्भावं स्मृत्वा दाशरथिं पतिम्। जगाम शरणं वह्निमावसथ्यं शुचिस्मिता ।५१७।
उपतस्थे महायोगं सर्व्वपापविनाशनम्। कृताञ्जली रामपत्नी साक्षात् पतिमिवाच्युतम् ।५१८।
नमस्यामि महायोगं कृतान्तं गहनं परम्। दाहकं सर्व्वभूतानामीशानं कालरूपिणम्।'५१९। इत्यादि।
''इति वह्निं पूज्य जप्त्वा रामपत्नी यशस्विनी। ध्यायन्ती मनसा तस्थौ रामसुन्मीलितेक्षणा ।५२०।
अथावसथ्याद्भगवान् हव्यवाहो महेश्वरः। आविरासीत् सुदीप्तात्मा तेजसेव दहन्निव ।५२१।
सृष्ट्वा मायामयीं सीतां स रावणबधेच्छया। सीतामादाय धर्म्मिष्ठां पावकोऽन्तरधीयत ।५२२।
तां दृष्ट्वा तादृशीं सीतां रावणो राक्षसेश्वरः। समादाय ययौ लङ्कां सागरान्तरसंस्थिताम् ।५२३।
कृत्वा च रावणबधं रामो लक्ष्मणसंयुतः। समादायाभवत् सीतां शङ्काकुलितमानसः ।५२४।
सा प्रत्ययाय भूतानां सीता मायामयी पुनः। विवेश पावकं दीप्तं ददाह ज्वलनोऽपि ताम् ।५२५।

दिन घटना तो एक उपलक्षण दृष्टान्त है। कूर्म्म पुराण के विवरण से ज्ञात है कि(कूर्म पुराणके द्वात्रिंशदध्याय से) पतिव्रता मात्र का ही पराभव अपर के द्वारा नहीं होता है, अतएव श्रीसीता देवी का प्रकरण उट्टङ्कित हुआ है।

पतिव्रता धर्म परायण रुद्राणी हैं, इस में कोई संशय नहीं है, कोई भी व्यक्ति इनको पराभूत करने में समर्थ नही हैं ।५१३।

जिस प्रकार त्रैलोक्य विश्रुता राम पत्नी सुभगासीता के द्वारा राक्षसेश्वर पराभूत हुआ ।५१४।

राक्षसेश्वर रावण ने विमला राम भार्य्या विशाल नयना सीता की अभीप्सा, काल प्रेरित होकर की ।५१५। मायिक वेश धारण कर तापस वेशी राक्षसेश्वरने निर्जन वने में भाविनी सीता को अपहरण करने की इच्छा की ।५१६। शुचिस्मिता सीता ने राक्षसेश्वर का भाव को जानकर वह्नि की शरण ली ।५१७। राम पत्नी सीताने कृताञ्जलि होकर सर्वपाप प्रणाशन साक्षात् पति अच्युत के समान महायोग का अनुष्ठान किया ।५१८। और कही—सर्वभूतों का दाहक एवं स्वामी कालरूपी परम गहन कृतान्त महायोग को मैं प्रणाम करती हूँ ।५१९।

उन्मीलित नयना राम पत्नी यशस्विनी सीताने उस प्रकार से जप एवं वह्नि पूजन कर मनसा राम चन्द्र की भावना की ।५२०।

अनन्तर आवसथ अग्नि से महेश्वर भगवान् हव्यवाह तेजके द्वारा मानों दग्ध कर रहे हैं, इस प्रकार सुदीप्तात्मा आविर्भूत हुये थे ।५२१।

वह्नि, रावण बधेच्छासे मायामयी सीता का सृजनकर धर्मिष्ठा सीता को लेकर अन्तर्धान हो गये ।५२२। उस प्रकार सीता को देखकर राक्षसेश्वर रावण सागरान्तर संस्थित लङ्का में सीता को ले गये ।५२३। लक्ष्मण के सहित राम, रावण को बध कर सीता का उद्धार किये थे, किन्तु शङ्का से व्याकुलचित्त हो गये थे ।५२४।

सीता राम की आशङ्का को जानकर मानवों को विश्वस्त करने के निमित्त सुदीप्त अनल में प्रविष्ट हो गई, अग्नि ने भी उनको जला दी ।५२५।

दग्ध्वा मायामयीं सीतां भगवानुग्रदीधितिः। रामायादर्शयत् सीतां पावकोऽभूत् सूरप्रियः ।५२६।
प्रगृह्य भर्त्तुश्चरणौ कराभ्यां सा सुमध्यमा। चकार प्रणतिं भूमौ रामाय जनकात्मजा ।५२७।
दृष्ट्वा हृष्टमना रामो विस्मयाकुललोचनः। ननाम वह्निं शिरसा तोषयामास राघवः ।५२८।
उवाच वह्ने भगवन् किमेषा वरवर्णिनी। दग्धा भगवता पूर्व्वं दिष्ट्या मत्पार्श्वमागता ।५२९।
तमाह देवो लोकानां दाहको हव्यवाहनः। यथावृत्तं दाशरथिं भूतानामेव सन्निधौ ॥"५३०॥ इत्यादि

एवमग्निपुराणमपि दृश्यम्। तदेवमपि यत्तु वाल्मीकिना नेदं स्पष्टीकृतम्, तत् खलु करुण-रसपोषार्थमेवेति गम्यते। सेयञ्च तस्य परिपाटी क्वचिदन्येनाप्युपजीव्यत इति ज्ञेयम्। तदेवं पतिव्रतामात्राणां विशेषतः श्रीभगवत्प्रेयस्याः प्रभावे सति (भा० १०।८।१८)

"य एतस्मिन् महाभागे प्रीतिं कुर्व्वन्ति मानवाः।
नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥"५३१॥

इति सामान्यविषये गर्गवचने च सति तादृशीनां भ्रमेऽपि तं नित्यकान्तमपरित्यजन्तीनां नित्यं तत्कान्तं परिचरन्ती माया श्रीरामावसथ्याग्निवदपि किं रक्षां न कुर्व्वीत, किन्तु तदीयलीलानाट्यरक्षार्थं तत्पतिम्मन्यादिष्वेव विवाहादि–शयनादिष्वेव च स्वरूपसिद्धा

भगवान् उग्रदीधिति माय सीता को दग्ध करने के पश्चात् सुरप्रिय पावक राम को सत्यसीता का दर्शन कराये थे ।५२६। जनकात्मजा सीताने भर्त्ता श्रीराम के चरण स्पर्श कर भूमि में प्रणति की ।५२७।

विस्मयाकुल लोचन राघव राम सीता को देखकर आनन्दित हुये, एवं शिरसा वह्नि को प्रणति के द्वारा सन्तुष्ट किये थे ।।५२८। एवं वह्नि को कहे थे,—हे भगवन् वह्ने ! मत् समीपस्था पूर्वदृष्टा वरवर्णिनी सीता को आपने दग्ध किया ? (५२९)

लोक दाहक हव्यवाहन देवने प्रत्युत्तर में दाशरथिको समस्त मानवों के सन्निकट में यथायथ रूप में समस्त वास्तविक वृत्तान्त कहे थे ।५३०। इत्यादि। यह वृत्तान्त कूर्मपुराण का है, अग्नि पुराण में भी उस प्रकार विवरण है।

किन्तु आदि कवि वाल्मिकि ने उस प्रसङ्ग को नहीं उठाया है, उसका कारण है, रामायण करुण रस पोषक काव्य है, उक्त करुण रस को पुष्ट करने के निमित्त ही आपने उसका उद्‌घाटन नहीं किया है। उस प्रकार परिपाटी को कहीं पर अपर कविने भी अपनाया है। इसका विशेष अनुसन्धान करना विधेय है।

पतिव्रता मात्र का ही प्रभाव उक्त रूप जब है, तब भगवान् की नित्य प्रेयसी वर्ग का विशेष प्रभाव होगा, अर्थात् अपर कर्त्तृक स्पृष्ट वे सब नहीं होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है, वस्तुत अद्वय तत्व रूप भगवान् द्वितीय है ही नहीं, जीव शक्ति अथवा वहिरङ्गा शक्ति के सहित उनका साक्षात् व्यवहार नहीं है, भगवान् निज स्वरूप शक्ति में प्रतिष्ठित रहते हैं। प्रेयसीवर्ग– भगवान् की अभिन्न स्वरूप शक्ति हैं। इसका विवरण भा० १०।८।१८ में है—

"य एतस्मिन् महाभागे प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः।
नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥"

वृहद् वैष्णव तोषणी—महाभागेति—परम पुण्यवतीत्यसम्भावनानिरस्ता। वस्तुतस्तु भागो भगमेव निजाशेष भगवत्ता प्रकटन पर इत्यर्थः। यद्वा, "हे महाभागे ! इत्यन्ते श्रीयशोदा सम्बोधनम्,

आवव्रिरे । अन्येषु चान्यदा च कल्पिता एवेति गम्यते । तावदेव च युक्तम्, तासु मर्य्यादा-रक्षणोत्कण्ठावर्द्धनैकप्रयोजनत्वात्तस्याः । अथ तासामपत्यश्रवणञ्च यातृमानिनीप्रभृतीना-मपत्येषु तद्व्यवहारात् । साम्व—लक्ष्मणा-प्रत्यानयने श्रीबलदेवमुद्दिश्य (भा० १०।६८।५२) "ससुतः सस्नुषः प्रायात् सुहृद्भिरभिनन्दितः" इतिवत् । स्वापत्यत्वे सति विभाववैगुण्येन

"सपत्नीको धर्ममाचरेत्" इति न्यायात्, तथा भर्त्तु र्भार्य्यया सह अभेदात्, तथा स्नेह भरेण पुत्रस्य शुश्रूषया तत्रैवोपविष्टाया स्तस्याः प्रहर्षार्थं सर्वत्र अन्यत्र च श्रीनन्द प्राधान्यात् सम्बोधनमुक्तमेव । मानवा इति जात्याद्यपेक्षा निरस्ता, वस्तुतस्तु सङ्गोपनार्थमेव विशेषतश्च मर्त्य लोकेऽवतीर्णत्वेन मनुष्याणामेव प्रीति सम्भवात् । अरयो बाह्याः श्रीकंसादयः, प्रीतिकर्त्तृ प्रतिपक्षा आन्तराश्च कामादयः । विष्णु पक्षान् देवान् दैत्या इव,यद्वा,वैष्णवान् असुरा, असुर प्रकृतय इव नाभिभवितुं शक्नुवन्त्यतः, कदाचित् कथञ्चिदपि कंसादिभ्यो युष्माभिर्न भेतव्यमिति भावः ।।

श्रीगर्गाचार्य्य कहे थे—जो सब मानव महाभाग श्रीकृष्ण में प्रीति करेंगे, विष्णु पक्षीयजनगण जिस प्रकार असुरगण कर्त्तृक पराभूत नहीं होते हैं, उस प्रकार उन सब को भी शत्रुगण पराभूत नहीं कर सकते हैं । सुतरां निरतिशय प्रेमवती व्रजाङ्गना गण का अनिष्ट साधन करने में कोई भी समर्थ नहीं हैं, यह सहज अनुमेय है ।

बृ० वै० तोषणी । परम पुण्यवतीत्व में असम्भावना निरसन हेतु 'महाभाग' शब्द प्रयुक्त हुआ है । वस्तुतस्तु भागो ही भग है, अर्थात् जिन्होंने अशेष निज भगवत्ता को प्रकट किया है, उनमें प्रीति करने से मानव बाधाप्राप्त नहीं होते हैं, अथवा, 'महाभागे' यह यशोदा का सम्बोधन है, 'सपत्नीक धर्माचरण विधेय है, इस नियम से भर्त्ता के सहित पत्नी की अभिन्नता है, स्नेह परिपूरित हृदय से पुत्र परिचर्य्या हेतु एकत्र उपविष्ट यशोदा को आनन्दित करने के निमित्त सम्बोधन हुआ है, अन्यत्र प्राधान्य से श्रीनन्द का सम्बोधन होता है । 'मानवा' पद से सूचित है, कि—श्रीकृष्ण में प्रीति मानव मात्र ही कर सकते हैं, इस में वर्ग अथवा जाति भेद का विधान नहीं है, वस्तुतः ईश्वरत्व सगोपन पूर्वक मनुष्य में आविर्भूत होने के कारण श्रीकृष्ण प्रीति में मनुष्यमात्र ही अधिकारी हैं । अरि—कंसादि, जो शरीर से बाहर हैं, अन्तर में कामादि हैं, दैत्य गण विष्णुपक्षभूत देवगण को पराभूत नहीं कर सकते हैं, उस प्रकार ।

अथवा, आसुरिक प्रभृति भावसम्पन्न व्यक्तिगण वैष्णव को पराभूत करनेमें समर्थ नहीं होते हैं । अतएव आप सब का कंस से किसी प्रकार भय नहीं है ।

गोपाङ्गना गण तो भ्रम में भी नित्य कान्त श्रीकृष्ण को परित्याग नहीं करती हैं, चिच्छक्ति रूपिणी श्रीकृष्णेच्छा रूपा योगमाया भी नित्य कान्त श्रीकृष्ण की परिचर्य्या करती है, तब क्या श्रीराम की आवसथ्याग्नि के समान योग माया क्या श्रीकृष्ण प्रेयसी वर्ग की रक्षा नहीं करेगी ? किन्तु तदीय लीला नाट्य रक्षार्थ पतिम्मन्य गोपगण के सहित विवाह विषयक शयनादि यावतीय व्यवहारों में अति सतर्कता के सहित प्रेयसी वर्ग की रक्षा योगमाया करती रहती थीं, रस परिपोषण के निमित्त श्रीकृष्णेच्छारूपा चिच्छक्ति ही समस्त कल्पना करती थी । प्रकरण पाठ से इस प्रकार अर्थ बोध ही होता है । वैसा करना समीचीन ही था । कारण—उत्तमाभक्ति का प्रदर्शन अभिनय के द्वारा करने के निमित्त भक्ति स्वरूपभूत मर्य्यादा रक्षण, एवं श्रीकृष्ण विषयिणी दुर्दम्य लालसा को वर्द्धित करना ही उक्त परिपाटी का एकमात्र प्रयोजन था ।

रसाभासत्वमापद्येत । ततश्च(भा० १०।३३।३६)"भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्"

भा० १०।२९।२० में वर्णित है—"मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः ।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृध्वं बन्धु साध्वसम् ।।

भा० १०।३०।१६ में उक्त है—

"पतिसुतान्वय भ्रातृबान्धवान् अतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिता कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ।।

इत्यादि वर्णना से प्रतीत होता है कि व्रज सीमंन्तिनीगण पुत्रवती रहीं, इसका समाधान करते हैं। वे सब यातृ (माता) प्रभृति पुत्र में पुत्र शब्द का प्रयोग करती थीं, अतएव उस प्रकार उक्ति हुई है।

भा० १०।६८।५२ में श्रीबलदेव को लक्ष्य कर कथन है—पुत्र पुत्रबधू के सहित श्रीबलराम का आगमन हुआ। अन्यथा, आश्रयालम्बन रूप विभाव वैरूप्य दोष से "रसानां समूहोरासः" रास लीला स्वादन में रसाभास उपस्थित होता। पुत्रवती रमणी गण के पुत्रगण माता का अन्वेषण के निमित्त निर्गत होने पर नायिकागण के पक्ष में अनादर्श अश्लील काम क्रीड़ा ही होती, इस में रस गन्ध भी न होने से भक्ति रस शब्द का प्रयोग श्रीभागवत में नहीं होता, वर्त्तमान काल में अभिनय परायण व्यक्ति गण विशुद्ध अश्लील काम क्रीड़ा का परिवेशन ही श्रीकृष्ण चरित्र के माध्यम से करते हैं, एवं स्वयं कामाभ्यास भी करते हैं।

किन्तु सज्जन वृन्द कभी भी उस प्रकार जघन्य आदर्श का स्थान मनमें नहीं देते हैं। प्राचीन आचार्य्य गण, एवं शास्त्र कर्त्तागण के चरित्रानुशीलन से प्रतीत होता है कि वर्त्तमान में प्रचलित जघन्य सांसारिक विषय भोगाकाङ्क्षा से उक्त सज्जन वृन्द का अवलम्बनीय विषय पूर्णतः भिन्न है। कारण, मुनीन्द्र श्रीशुकदेव, सज्जन पूर्ण महानुभव श्रीपरीक्षित् महाराज के सभा में श्रीकृष्ण की औपपत्यमयी रासादि लीला का वर्णन प्रेम विह्वल चित्त से ही किये हैं। जो लोक प्राकृत सांसारिक रस में ही एकमात्र रस शब्द का प्रयोग करते हैं, उन सब को अनुसन्धान करना कर्त्तव्य होगा कि—अप्राकृत रस का उत्स होने के कारण--श्रीशुकदेव ब्रह्म समाधि को धिक्कार प्रदान कर रास लीलास्वादन में आत्म नियोग किये थे।

रास क्रीड़ा का उपसंहार में श्रीशुक ने कहा है भा० १०।३३।३६।

"भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत् परो भवेत् ।।

श्रीकृष्ण—तादृशी क्रीड़ासमूह का अनुष्ठान करते हैं। जिस को सुनकर भक्तभिन्न अन्यजन भी श्रीकृष्ण में आसक्त हो जाय।" इस से बोध होता है कि—श्रीकृष्ण लीला सर्व चित्ताकर्षिणी है।

यदि श्रीकृष्ण, निज विवाहित पत्नी अथवा पुत्रवती रमणी वृन्द के सहित रास लीला का अनुष्ठान करते तो वह विशुद्ध वीभत्सकामातुर की क्रीड़ा होती, एवं विभाव वैरूप्य होने से रसाभास दोष होता, रसाभास दोष दुष्ट आचरण में श्रवण वर्णन कारिगण आसक्त न होकर विरक्त ही होते। भा० १०।३३।३६ स्थ 'भजते तादृशीः क्रीड़ाः' का वृहत् क्रम सन्दर्भ—

व्रजाङ्गनाभिः सह क्रीड़नं स्वरूप विहार एव न धर्म व्यतिक्रम इति भावः। ननु तर्हि रहस्य भूतामीदृशीं क्रीड़ां कथं भुवि प्रकटितवान् ? इत्याह—अनुग्रहायेत्यादि। भक्तानामनुग्रहायेत्यादि। भक्ताना मनुग्रहाय तादृशीः क्रीड़ा भजते, या श्रुत्वा मानुषं देहमाश्रितो यः कश्चिदेव तत् परः भवेत्। भक्तास्तावद् विविधाः—रसस्य वैविध्यात्। तेन नाना रसा एव लीलाः करोति। तेषां स्व स्ववासनोपासनाभेदादिति भक्तानुग्रहार्थ मेव लीलाः ।। तासां श्रवणात् कश्चिदेव मानुष देहभाक् मुच्यते" इत्यर्थः ।।

इति, (भा० १०।३३।२५) "सिषेव" इत्यादौ "सर्व्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रयाः" इति च विरुध्येत। परपुत्रत्वप्रतिपादनायैव (भा० १०।२९।६) "पाययन्त्यः" इत्यन्ते "सुतान् पयः" इत्येवोक्तम्, न तु सुतान् स्तनमिति। अतएव (भा० १०।२९।२०) "मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः

गोपीनां तत् पतीनाञ्च सर्वेषामपि देहिनाम् योऽन्तश्चरति योऽध्यक्षः क्रीड़नेनेह देहभाक्। श्लोक में कहा गया है, गोपाङ्गनागण, श्रीकृष्ण के क्रीड़ापाञ्चालिका के समान निज क्रीड़ा देह हैं। उन सब के सहित श्रीकृष्ण साक्षात् क्रीड़ा देह आविष्कार कर क्रीड़ा करते हैं।

प्रश्न हो सकता है, इस प्रकार अज्ञात पूर्व अति गूढ़ लीला का प्रकटन भूतल में क्यों करते हैं? कहते हैं मानव मात्र के प्रति अनुग्रह करने के निमित्त, भक्तगण के प्रति अनुग्रह करने के निमित्त अपूर्व लीला करते हैं, मानव को सत् शिक्षा से शिक्षित करने से ही भक्त गण के प्रति अनुकम्पा होती है, अतएव इस प्रकार लोभनीय क्रीड़ा करते हैं, जिसको सुनकर मानव देह धारी कोई मनुष्य, जिस को अच्छा लगेगा, वह श्रीकृष्ण में आत्म समर्पण करेगा। भक्तगण—अनेक विध होते हैं, कारण—रस बहुविध हैं, तज्जन्य श्रीकृष्ण—नाना विध लीला करते रहते हैं। निज निज वासना भेद से उपासना में भेद होता है, अतः बहुविध लीला करते हैं, उन सब लीला श्रवण से आकृष्ट चित्त कोई व्यक्ति दैहिक आसक्ति से अपने को मुक्त करेगा।

भा० १०।३३।२५। में उक्त है—

"एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः ससत्यकामोऽनुरताबलागणः।
सिषेव आत्मन्यवरुद्ध सौरतः सर्वाः शरत् काव्यकथारसाश्रयाः॥

टीका—रास क्रीड़ा निगमयति एवमिति। स कृष्णः, सत्यसङ्कल्पः अनुरागि स्त्री कदम्बस्थ एवं सर्वा निशाः सेवितवान्। शरत् काव्य कथारसाश्रयाः शरदि भवाः काव्येषु याः कथास्ताः सिषेवे इति। एवमपि आत्मन्येव अवरुद्धः सौरतश्चरमधातुर्नतु स्खलितो यस्येति काम जयोक्तिः॥

बृहत् क्रम सन्दर्भः—उपसंहरति—एवमित्यादि। सत्य कामः सत्य सङ्कल्पः स श्रीकृष्णः, शशाङ्कांशु विराजिता निशा व्याप्य, उक्त प्रकारे बहु वचनम्। शरत् काव्य कथाः सिषेवे, शरदि—संवत्सरे याः काव्य कथा ऋतु षटक भवा या वनविहार—जलविहार-मधुपान रतोत्सवादयः काव्याङ्गभूताः कथास्ता इत्यर्थः। तादृश लीलानामतिगोप्यत्वात् श्रोतॄणामनधिकाराच्च सङ्केतेनैवोपसंहृतं भगवता श्रीशुकाचार्य्येण। "तत्र मदच्युद्द्विरद" दृष्टान्तेन मधुपानम्। "आत्मन्यवरुद्ध सौरतः" इत्यनेन रतोत्सवः। अवरुद्धमवरोधः सुरतमेव सौरतम्, आत्मन्यवरोधः सौरतं यस्येति रतमर्य्यादा चोक्ता, सङ्केतेनैवेति दिक्। तच्च विपरीततरमित्यर्थः। रसाश्रयाः श्रृङ्गारसाश्रयाः॥"

सत्य सङ्कल्प प्रभु ने व्रजसुन्दरी वृन्द के सुरतसम्बन्धी हावभावादि को एवं चरम धातु स्खलन को निरोध कर शरत् काव्य कथा रसाश्रया रजनी समूह में उनसव के सहित विहार किया था।

भा० १२।३३।२५ के विवरण के अनुसार सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि—अलौकिक भक्ति रस ही जिस रजनी समूह का आश्रय है, उक्त समूह रजनी में विहार श्रीकृष्ण किये थे। इस से स्वरूप शक्तिभूता व्रज देवी गण के सहित प्रकाशित लीला में रस निष्पत्ति हुई थी। व्रजाङ्गना गण श्रीकृष्ण की धर्मपत्नी होने से अथवा पुत्रवती होने से इस निष्पत्ति का अङ्गीकार श्रीशुकदेव नहीं करते।

भा० १०।२९।६ श्लोक में पुत्र की वार्त्ता उक्त है, किन्तु अपर के पुत्र प्रतिपन्न करने के निमित्त ही श्रीशुक देव कहे थे—"पाययन्त्यः शिशून् पयः" कतिपय गोपी शिशु को दुग्ध पान करा रही थीं, "सुतान्

पतयश्च वः" इति श्रीभगवद्वाक्यं परिहासत्वेनैव रसाय सङ्गच्छते, वास्तवत्वेन तु वैरस्यायैव स्यात्, तासामङ्गीकरिष्यमाणत्वात्। क्वचित्ताभिरेव तेषु यत् पति-शब्द प्रयुक्तस्तद्बहिर्लोक-व्यवहारत एव, नान्तर्दृष्टितः, (भा० १०।२९।३२)-"यत् पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग" इत्यादिना तदनङ्गीकारात् (भा० १०।४६।४) "मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः" इति श्रीभगवता तासामन्तःकरणप्रकाशनात् (भा० १०।४७।४७) "परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला' इत्यादिना ताभिः स्वेषां तदेकनिष्ठताव्यञ्जनात्, (भा० १०।२१।९) "गोप्यः किमाचरदयम्"

पयः" "पुत्रगण को स्तनपान करा रही थीं" ऐसा नहीं कहे थे। अतएव भा० १०।२९।६ में उक्त "मातरः पितरः पुत्राः" भ्रातरः पतयश्च वः" भातृगण, पितृगण पुत्रगण, भ्रातृगण, पतिगण, तुम सब का अनुसंधान कर रहे हैं, " यह वाक्य श्रीकृष्ण का परिहास पूर्वक है, उससे ही रस सम्पादित होता है, यदि वास्तविक पुत्रादि होते तो यह उक्ति रस व्याघातक होती। कारण, इसके पश्चात् ही रास लीला में उन सब को अङ्गीकार करना था, समय समय पर व्रजाङ्गना गण, पतिम्मन्य गोपगण में अर्थात् व्यवहारिक पतिवर्ग में पति शब्द का प्रयोग किये हैं। वह व्यवहारिक लोक व्यवहार का अनुकरण से ही है। पारमार्थिक दृष्टि से अर्थात् अन्तर्दृष्टि से नहीं हुआ है। उस का प्रतिपादन उन्होंने भा० १०।२९।३२ में किया है—

"यत् पत्यपत्य सुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्म विदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेश पदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥"

हे प्रभो! आप सर्वश्रेष्ठ धर्मवेत्ता हैं, आपने जो कुछ कहा है—"पति पुत्र सुहृद् गण की अनुवृत्ति करना ही नारीगण का स्वधर्म है," वह उपदेश, निखिल उपदेश का विषयीभूत ईश्वर स्वरूप आप हैं, आप में विनियोग हो, कारण, आप तो निखिल देहधारीओं का आत्मा हैं, प्रियतम हैं, एवं बन्धु भी हैं। उक्त श्लोक में गोपीगणोंने पारमार्थिक पति का प्रकाश सुस्पष्ट रूप से किया है। अर्थात् व्यवहारिक लौकिक आनुष्ठानिक पतिसंज्ञित व्यक्तियों में पतित्वादि का व्यवहार आत्मास्वरूप आपका अधिष्ठान से ही होता है, आत्मा अन्तर्हित होने से वह व्यवहारिक कान्त वीभत्सरसाश्रय शव नाम से अभिहित होता है, सुतरां अपर में पतित्वादि धर्म वहिरङ्ग दृष्टि से गौण प्रयोग से सिद्ध है, आप में पतित्वादि धर्म अन्तर्दृष्टि से स्वतः सिद्ध है। जिन्होंने स्वतः सिद्ध पतिरूप में आप को प्राप्त नहीं किया है, उसने ही अपर का भजन किया है। हम सबने स्वतः सिद्ध प्रियरूप आप को प्राप्त किया है। हम सब आपकी अनुवृत्ति करने में कृत सङ्कल्प हैं। आप को छोड़कर अपर की अनुवृत्ति करने से आप का उपदेश व्यर्थ होगा, उक्त उपदेश सफल करने के निमित्त ही हम सब आप की सेवाभिलाषिणी हैं।

उसके पश्चात् श्रीकृष्णने उद्धव को कहा—(भा० १०।४६।४)

"मामेवं दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः"

गोपी गणने मुझ को प्रिय, प्रियतम, एवं आत्मा रूप में मान लिया है। भगवान् गोपीगण के अंतःस्थल में प्रविष्ट होकर उन सब का मानसिक भाव का प्रकाश उक्त श्लोक से किये हैं। भा० १० ४७ ४७ में "परं सौख्यं हि नैरास्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला" गोपिका ने कही—पिङ्गला की बात ही ठीक है, आशा ह परमं दुःखं, नैरास्यं परमं सुखम्" कृष्ण की आशा ही दुःखित करती है, तब वैसा ही करो, आशा छोड़ो,

इत्यादौ "दामोदराधरसुधामपि गोपिकानां, भुङ्क्ते स्वयम्" इत्यनेन, (भा० १०।४७।२१) "अपि वत मधुपुर्य्यामार्य्यपुत्रोऽधुनास्ते" इत्यनेन च ताभिः स्वयमुक्तेश्च । तत एतदुक्तं भवति रास पञ्चाध्याय्याम् (भा० १०।३३।७) "नासूयन् खलु कृष्णाय" इत्युक्तदिशा (गो० ता० उ० २३) "स वो हि स्वामी भवति" इति ताः प्रति तापनीस्थित--दुर्व्वाससो वाक्यवत्, (भा० १०।३३।३७) "कृष्णबध्वः" इत्युक्तरीत्या च, याः खलु (भा० १०।२९।१) "योगमायामुपाश्रितः" इति

आशा छोड़ी नहीं जाती, जानती हूँ। तथापि छोड़ना असम्भव है, आशा दुर्वारा है, दुरत्यया है। इस से उन्होंने कृष्णके निष्ठुरता को सुव्यक्त किया है। भा० १०।२१।९ वेणुगीत में उक्त है—"हे गोपीगण! वेणु ने कैसा अनिर्वचनीय पुण्य किया है। कारण, यह वेणु केवल गोपी भोग्य श्रीकृष्ण अधरामृत का यथेष्ट पानकर रही है।" "दामोदराधरसुधामपि गोपिकानां, भुङ्क्ते स्वयम्" श्लोक में श्रीकृष्ण अधरामृत में अपना ही एकमात्र अधिकार सूचित कर श्रीकृष्ण में पतिभावना सुव्यक्त हुई है। भा० १०।४७।२१ में तो उन्होने स्वयं ही कहा है—'अपिवत मधुपुर्य्यामार्य्यपुत्रोऽधुनास्ते ।।

उक्त विचारसमूह का प्रदर्शन के अनन्तर गोपीकृष्ण का सम्बन्ध रहस्य का वर्णन करते हैं। गोपीगण श्रीकृष्ण की नित्य प्रेयसी हैं, आनुष्ठानिक भार्य्या नहीं हैं। उन सबका परकीयात्व—श्रीकृष्णेच्छारूपिणी चिच्छक्ति योगमाया द्वारा संघटित है। योगमाया सम्पादित सम्बन्ध सम्पन्न गोपीगण के सहित ही श्रीकृष्ण की रासलीला सम्पन्ना हुई थी। उक्त विषय का परिज्ञान केवल योगमाया का था, श्रीकृष्ण, गोपिकाप्रभृति अपर किसी का नहीं था। योगमाया कल्पित गोपीगण की वार्त्ता भा० १०।३३।३७ स्थ रासलीला में है। "नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्यमायया" गोपगण—योगमाया कल्पित छाया रूपा गोपी को गृह में अवस्थित देखकर कृष्ण में दोषारोपण नहीं करते थे।

नित्य प्रेयसी गोपीगण की वार्त्ता गोपाल तापनी उ० २३ में इस प्रकार है—'वह श्रीकृष्ण तुम सबके स्वामी हैं" इस उक्ति के समान रासपञ्चाध्यायी में 'कृष्णबध्वः" श्रीकृष्ण बधूवर्ग" सुव्यक्त है।

पतिम्मन्य गोपगण को प्रतारित करके श्रीकृष्ण के समीप में प्रेयसीगण को आनयन करतः रासादि लीला निर्वाह हेतु श्रीभगवान् कर्त्तृक नियुक्त होकर योगमाया ने ही उस प्रकार कल्पितागोपियों का प्रकाश किया है। सुतरां प्रकट काल में स्वतः परतः प्रच्छन्ना द्विविधा गोपिका थीं। योगमाया कल्पिता गोपिकागण स्वतः प्रच्छन्ना थीं। वे सब प्रयोजनानुसार व्यक्त होती थीं, यथार्थ श्रीकृष्ण प्रेयसीवर्ग—परतः प्रच्छन्ना थीं। इन सबकी वास्तविकी सत्ता थी। अपर गोपवृन्द के सहित विवाहादि व्यवहार समय में योगमाया इन सबको आवृतकर रखती थी। योगमाया देवी का प्रभाव से हो प्रापित मर्य्यादा (पातिव्रत्य रक्षण) एवं उत्कण्ठा के द्वारा गोपीगण के द्वारा पालित रसतरु परिपुष्ट होने के पश्चात् पर्य्यावसान में निरुपद्रव पूर्ण महासुख रूप फलास्वादन के निमित्त (अर्थात् प्रकट लीला में लोकशिक्षा के निमित्त रूपकाभिनय करना आवश्यक होता है, अप्रकट लीला में उसकी आवश्यकता नहीं है, केवल प्रिया के सहित निरवधि अवस्थान है। जिस प्रकार रङ्गमञ्चस्थ नट, एवं गृहाभ्यन्तरस्थ नट की रीति है, उस प्रकार)।

मुनि का कथन एवं आकाशवाणी प्रभृति को अवलम्बन कर अथवा स्वयं ही आविर्भूत होकर गोकुल-वासिगण को सुविश्वस्त किये थे। अनन्तर नित्य प्रेयसीगण योगमाया के द्वारा अनावृत होकर मुझको ही रमण रूप में प्राप्त किये थे। भा० १०।३३।३७ में उक्त "नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्यमायया" श्रीकृष्ण के प्रति असूया परिहार के निमित्त माया का कल्पित गोपीगण निज-निज पतिसान्निध्य को प्राप्त

श्रवणात्तदर्थभगवन्नियुक्तयोगमायाकल्पिताकल्पिततया योगमायैकविदितं स्वतः परतश्च प्रच्छन्नं द्विविधायमाना आसन्, तास्तु पश्चाद्योगमाययैव देव्या प्रापिताभ्यां मर्य्यादोत्-कलिकाभ्यां स्वपालितस्य रसपोषतरोः पर्य्यवसान-निरुपद्रवमहासुखप्राप्तिरूपाय फलाय मुन्याकाशवाण्यादिकं द्वारीकृत्य वा स्वयमेव प्रकटीभूय वा श्रीगोकुलवासिनः प्रति तथैव व्यक्तीकृताः स्वरूपेण मामेव रमणं प्रापुः (भा० १०।३३।३७) "नासूयन् खलु" इत्याद्युक्ता-

किये थे। यह ही, भगवदुक्त—"मत् कामारमणं जारमस्वरूपोविदोऽबलाः। ब्रह्ममां परमं प्रापुः सङ्गाच्छत सहस्रशः।। श्लोक का भगवदभिमत है।

यहाँ पर संशय हो सकता है कि—माया कल्पिता गोपीगण का परिणाम क्या है? कहते हैं, संज्ञा एवं छाया नामक सूर्य्यपत्नी के समान ही सुव्यक्त परिणाम है, इस प्रकार कल्पना का समाधान रीति सर्वत्र हो एक रूप है।

अर्थात् समय विशेष में परिचायक छाया अथवा संज्ञा उद्भूत होकर व्यक्ति विशेष का परिचायक होती है, किन्तु उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती है, मौलिक संज्ञा एवं मूल शरीर का प्रकाश होने पर उससे भी समधिक व्यवहार निष्पन्न एवं आनन्द होता है। तद्रूप योगमाया रूप कृष्णेच्छा कल्पित गोपीगण—श्रीकृष्ण प्रेयसीवर्ग का प्रतिनिधि रूप में आविर्भूत होकर कार्य्यनिर्वाहक थीं, स्वतन्त्र सत्ता उन सबकी नहीं है। व्रजवासिगण उन सबको देखते थे, किन्तु व्यवहारोपयोगिता उन सबमें नहीं रही। जिस प्रकार यादुकर के द्वारा उद्भावित रसगोल्ला, एवं वास्तविक रसगोल्ला है, तद्रूप जानना होगा।

इस प्रकार कल्पना करने से ही मातापिता प्रभृति का अभीष्ट सिद्ध होता है, इस जगत् में विवाह को ही एक मात्र अभीष्ट, पिता माता प्रभृति मानते हैं। कारण, पुत्र कन्या उत्पन्न होने से विवाह के द्वारा ही वात्सल्य पूर्ण होता है।

ब्रह्मा की उक्ति में व्रजवासी का लक्षण है—धाम, अर्थ, प्रिय, आत्म, तनय, प्राण, आश्रय - कृष्ण के निमित्त ही होते हैं। अतएव व्रजदेवीगण के माता-पिता श्रीकृष्ण को ही निज-निज कन्या दान करने में स्वाभाविक समुत्सुक थे। दैववश से अन्यत्र गोपगण के सहित निज-निज कन्याओं का विवाह होने से उन सबके मन में अस्वस्ति थी, विवाहित कन्याओं का सम्प्रदान श्रीकृष्ण को करने का सुयोग प्राप्त कर वे सब श्रीराधादि कन्यागण का सम्प्रदान श्रीकृष्ण को करके सफल मनोरथ हुये थे। गोपाल चम्पू ग्रन्थ में काव्य रीति से इस विवाह रीति का आस्वादन आपने किया है। श्रीराधा प्रभृति का विवाह अपर गोप के सहित सर्वविदित रूप से हुआ था, किन्तु वह विवाह योगमाया कृत रहा, उसको प्रमाणित करने के निमित्त आकाशवाणी, दुर्वासा की वाणी एवं योगमाया का आविर्भाव, अग्निपरीक्षा की कल्पना की गई है।

विवाह संस्कारापन्नजनगण की रुचि श्रीकृष्ण-लीला में स्थापन हेतु अनादि शृङ्गाररस-मूर्त्ति श्रीराधा-कृष्ण में विविध कल्पना की गई है। नभोवाणी, योगमाया का कथन, संज्ञा छाया रीति, अग्नि-परीक्षा एवं वात्सल्य की विश्रान्ति विवाह में इत्यादि का निर्वाह प्रधान रूप से हुआ है। सम्प्रति उज्ज्वल नीलमणि नायकभेद २० श्लोक में धृत भरतमुनि का वचन उट्टङ्कन पूर्वक समाधान करते हैं। भरतमुनि राधाकृष्ण में परकीयात्व मानते हैं, उनका कथन है, 'रस परिपाटी प्रदर्शन हेतु निज प्रेयसी वर्ग को अवतारित कर क्रीड़ाभिनय करने के कारण, श्रीराधाकृष्ण में परोढ़ात्व दूषण नहीं है, अपितु भूषण है।" कारण, रसा-स्वादन की पराकाष्ठा दाम्पत्य में नहीं है, किन्तु परकीयात्व में ही है, इसमें बहु बाधा है, प्रच्छन्न कामुकता है, एवं पारस्परिक मिलन की दुर्लभता है, अतएव निरन्तर उत्कण्ठा तन्मयता स्वेतरविषय वितृष्णा एवं

सूयापरिहारस्य सम्यक्त्वाय तत्कल्पितास्तु स्वस्वपतिमित्येव श्रीभगवन्मतम्। दृश्यते च, संज्ञाच्छायादिवत् कल्पनाया व्यक्तत्वमेव परिणामः सर्व्वत्र। तदित्थमेव मातरपितरादीनाम-भीष्टं सिध्यति, तस्मिन्नेव तेषां वात्सल्यस्य विश्रान्तेः। न च दाम्पत्ये प्रकटे (उ० नी० नायकभेद० २०श-श्लोक-धृत-भरतमुनिवचनम्)

> बहु वार्य्यते यतः खलु, यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वञ्च।
> या च मिथो दुर्लभता, सा परमा मन्मथस्य रतिः॥" ५३२॥

इति भरतानुसृत-निवारणाद्यभावाद्रसनिष्पत्तिर्न स्यादिति वाच्यम्। तस्य निवारणं खलु न भयदानेन भवेत् सर्व्वातिशायि-सामर्थ्यात्, किन्तु लज्जादानेनैव। लज्जा च कुलीनकुमाराणां स्वस्त्रीगतरहस्यविहारविशेषस्य परेणानुमितावपि जायते, किमुत—

> 'यत्र ह्रीः श्रीः स्थिता तत्र यत्र श्रीस्तत्र सन्नतिः।
> सन्नतिर्ह्रीस्तथा श्रीश्च नित्यं कृष्णे महात्मनि॥" ५३३॥

इति हरिवंशाद्युक्तानुसारेण परमलज्जादिगुणनिधानस्य व्रजे नववयः श्रीलतामेवाभि-व्यञ्जतस्तस्य सिद्धे च लज्जालुत्वे स्वयमेव निवारणादित्रयं सिध्यति। किन्तु लज्जा द्विविधा-

आनुकूल्य सेवन माहात्म्य के कारण परकीया में ही रसोत्कर्ष है, यह श्रीराधाकृष्ण विषयक परकीया में ही है, अन्यत्र रसाभास है, नरकपात है, यहाँ एक शक्तिमत्तत्त्व ही लोकशिक्षार्थ विभिन्न सपरिकर अभिनय-भूमिका प्रवर्त्तन करते हैं।

किन्तु पूर्वोक्त रीति विवाहामोदीगण को सुखी करने के निमित्त गन्धर्व विवाह, अनुष्ठानिक विवाह, प्रेम विवाह प्रभृति का अनुष्ठान होने से भी पुनर्वार प्रकट दाम्पत्य को दर्शाया गया है।

उक्त जायापती रूप में राधाकृष्ण रुक्मिणी वासुदेववत् स्थित होने से "बहु वार्य्यते यतः खलु, यत्र प्रच्छन्न कामुकत्वञ्च। याच मिथो दुर्लभता, स परमा मन्मथस्य रतिः॥"

इस प्रकार रीत्यनुसृत भरतमुनि सम्मत रसनिष्पत्ति नहीं होगी। दाम्पत्य में पुत्रोत्पादन हेतु क्रीत दासी का ग्रहण होता है, उसमें व्यञ्जना वृत्ति की आवश्यकता नहीं होती है, समाज काम भोग के निमित्त निर्दिष्ट कर देता है। अतः उक्त लक्षण प्रावावसर दाम्पत्य में नहीं है। दाम्पत्य में भी उक्त लक्षण घट सकता है, उसका उपपादन करते हैं। दाम्पत्य में निर्भय स्वीयत्व सम्बन्ध होता है, अतएव भयदान के द्वारा अभिगमन का निवारण नहीं होता है, किन्तु लज्जादान के द्वारा होता है। कुलीन कुमारों की लज्जा होती है, यदि निज स्त्रीगत रहस्य विलास का परिज्ञान अन्य का होता है तो। श्रीकृष्ण के विषय में तो कहा नहीं जा सकता है, श्रीकृष्ण ही एकमात्र सुचरित्र गुण में अनुपम हैं, श्रीहरि बंश में श्रीकृष्ण को लक्ष्य कर वर्णित है, 'यत्र ह्रीः श्रीः स्थिता तत्र यत्र श्रीस्तत्र सन्नतिः।
सन्नति ह्रीस्तथा श्रीश्च नित्यं कृष्णे महात्मनि॥"

जहाँ पर लज्जा है, वहाँ पर ही लक्ष्मी है, जहाँ लक्ष्मी है, वहाँ नम्रता है, किन्तु कृष्ण में नित्य रूप में सन्नति ह्री एवं श्री विराजित हैं, कारण श्रीकृष्ण ही महात्मा हैं। अतएव परमलज्जादि गुण निधान श्रीकृष्ण का व्रज में कैशोर अवस्था प्रकटित होने पर स्वयं ही श्रीकृष्ण लज्जालु थे, अतएव स्वाभाविक रूप में निवारणादि त्रय की सिद्धि होती है।

सङ्कोऽप्य न्याय्यकर्म्मणि सङ्कोचमात्रकरी, अन्याय्यकर्म्मणि न्यक्कारकरी च । तत्र पूर्व्वा—व्याजान्तराच्छन्ना नातिविरोधिनी, उत्तरा यशः प्रियेण तेन कृतेऽपि व्याजे तस्यानुमितिश्चेद् द्विगुणीभूय विरोधिनो । तदेवं सति (पद्म-पु० उ० ८४ अ०) "गोपनारीभिरनिशं क्रीड़यामास केशवः" इति श्रुतानिशक्रीड़ा पारदार्य्ये सर्व्वथा न सम्भवति, स्वदारत्वे तु तासामसंख्यानां स्वस्वरूपपत्यप्राप्तया जातपरमदुःखानां गुरुभिरपि सम्मतः सान्त्वनादिरूपो य आवश्यकधर्म्मस्तद्विधव्याजेन सम्भवति । यच्च (पद्म-पु० उ० ८४ अ०)—

किन्तु लज्जा द्विविधा होती है—प्रथमा, न्याय्यकर्म में गोपनात्मिका सङ्कोच मात्र करी है, द्वितीया, अन्याय्यकर्म में धिक्कार रूपा है । प्रथमा लज्जा—छल के द्वारा आच्छन्ना होने से अति विरोधिनी नहीं है, किन्तु उत्तरा लज्जा—द्विगुणी रूप में विरोधिनी है, कारण, यशःप्रिय व्यक्ति के पक्ष में छल पूर्बक सेवन करने पर भी अनुमित होने से अधिक लज्जा होती है, श्रीकृष्ण तो प्रसिद्ध सुशील हैं । स्थिति वैसी होने पर भी पद्मपुराण की उक्ति है—"गोपनारीभिरनिशं क्रीड़याभास केशवः" गोपपत्नीवृन्द के सहित केशव ने दिनों रात क्रीड़ा की" । यहाँ वर्णित अनवरत क्रीड़ा का सम्पादन परदार होने से सम्भव नहीं होगा, किन्तु निज धर्मपत्नी होने से ही सम्भव होगा, कारण वह उक्त कर्म में समाज बन्धन के द्वारा निर्भयता के साथ विनियुक्त है । तथापि यशोदानन्दन कृष्ण एक हैं, और पत्नी रूपिणी गोपाङ्गनागण भी असंख्य रहीं, सबके पति श्रीकृष्ण ही हैं । समान वयोरूपाभाव के कारण—अन्यत्र गोपियों का परिणय हुआ ही नहीं, अतः श्रीकृष्ण को सबने कन्या सम्प्रदान कर दिया था, किन्तु समस्या होती है, पत्नी अभिगमन की । 'भोग में रोग भय' की रीति से श्रीकृष्ण को सब निवारण करते थे । हिताकाङ्क्षी व्यक्तिगण, अतिशय स्त्री प्रसङ्ग से श्रीकृष्ण का स्वास्थ्य भङ्ग होकर कुछ न हो जाय । गुरुवर्ग के निषेध के कारण असंख्य पत्नीगण दुःखित तो रहती थीं, कृष्ण के पक्ष में भी स्वदार गमन धर्म एवं आवश्यक कर्म होने पर भी सम्पन्न करना थोड़ा कठिन पड़ता था, इस प्रकार से भरतमुनि कृत बहु निवारणा की सार्थकता होती है ।

पद्मपुराण में वर्णित भी है—गोपवेशधर प्रभु, मनोरम केलि-सुख से एवं विविध प्रेम-रस-प्रद रूप से मास द्वय व्रज में निवास किये थे । यह पद्य सुस्पष्ट अभिप्राय परिवेषक है, समस्त गोपाङ्गनाओं मनोरमत्व एवं बहु प्रेम-रस-प्रद स्वरूप का स्वस्वरूप पति कृष्ण में ही सम्भव है ।

कहा जा सकता कि—पद्मपुराण के वचन में "गोपनारिभिः" "गोपनारियों के सहित" शब्द का उल्लेख है, और वह गोपनारी शब्द से स्वरसतः परदारत्व का ही बोध होता है ? इस प्रकार कथन समीचीन नहीं है, भा० ३।२१।२८ में देवहूति को लक्ष्यकर कहा गया है— "सा त्वा ब्रह्मन्नृपबधूः" कर्दम के प्रति भगवदुक्ति जाति को लक्ष्य कर है, अतएव 'गोपनारीभिः" यहाँ जाति पर गोप शब्द है । "औपपत्य में ही निवारण दि का सद्भाव से रस होता है," यह भरतमुनि का कथन, उसका निर्वाह दाम्पत्य में भी होता है । रत्नावली नाटिका में उसका प्रदर्शन हुआ है । कारण—कविगण, श्रृङ्गार नामक मुख्य रस में परोढ़ा नायिका को वर्जन करते हैं, किन्तु 'न कृष्णे रसनिर्य्यास स्वादार्थमवतारिणि' रस निर्य्यास आस्वादन निबन्धन स्वप्रेयसीवर्ग के सहित अवतीर्ण कृष्ण में 'औपपत्य' दोषावह नहीं है ।" अतएव स्वरूपशक्तिरूपिणी अघटनघटनपटीयसी योगमाया के द्वारा सुष्ठु सम्पादित नित्य पतित्व में उपपतित्व भावपरायण व्रजाङ्गना गण की श्रीकृष्ण प्राप्ति रमण रूप में हुई । कारण जारत्व वहिरङ्ग धर्म है, अन्तरङ्ग धर्म—केवल रमणत्व ही है । स्थिति वैसी होने के कारण ही—"मत्कामा रमणं जारं, मस्वरूपोऽविदोऽबलाः । ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः ।।" (भा० ११।१२।१२) टीका—'एवं ताः अबलाः केवलं मत्कामा अस्वरूपविदः स्वरूपन्तु न जानन्ति, तथापि सत्सङ्गाज्जारं ब्रह्म, जारबुद्धि वेद्यमपि ब्रह्मस्वरूपमेव मां परमं प्रापुरित्यर्थः ।'

"रम्यकेलिसुखेनैव गोपवेशधरः प्रभुः। बहुप्रेमरसेनात्र मासद्वयमुवास ह ॥" ५३४॥

इत्येतत् पद्यं तदनन्तरं तत्र च सर्व्वेषां मनोरमत्वं बहुप्रेमरसप्रदत्वञ्च इत्थमेव सङ्गच्छत इति। न च गोपनारीभिरिति परदारत्वं शब्दलब्धम्। देवहूत्यां (भा० ३।२१।२८) "सा त्वा ब्रह्मन्नृपबधूः" इति कर्द्दमं प्रति भगवद्वाक्यवज्जात्यपेक्षयापि सम्भवात्, न च निवारणादिभिरौपपत्यमेव भरतमतं रत्नावलीनाटिकायां जातिचरितादिवद्दाम्पत्येऽपि सम्भवात्, (उ० नी० नायिकाभेद-प्र० ३) "नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढ़ा" इति विरोधात्। तदेवं गूढ़तया मायया प्रतीतानां रमणतया तस्य प्राप्तौ "मत्कामा रमणम्" इति पद्यं योजितम्। (भा०१०।२२।४ "नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः" इति कृतजपानां कुमारीत्वेनैव प्रसिद्धानां परासामपि

मेरा स्वरूप को वे सब नहीं जानती थीं, मुझको जार-उपपति जानती थीं, तथापि मत्कामा अबलागण जारबुद्धि वेद्य होने पर भी परम ब्रह्म मुझको रमण रूप में प्राप्त कर चुकीं। उन सबके सङ्ग से अपरापर शतसहस्र व्यक्ति की भी उस प्रकार प्राप्ति हुई। इस प्रकार उक्त पद्य की योजना यथावत् हुई।
भा० १०।२२।४ में उक्त—

"कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधिश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि! पतिं ते कुरुते नमः॥"

बृहत् क्रमसन्दर्भ

"अथोढ़ानामनुरागं वर्णयित्वा अनूढ़ानामनुरागचेष्टामाह, हेमन्ते प्रथमे मासीत्यादि। हेमन्ते ऋतौ, प्रथमे मासि, मार्गशीर्षे, अनयैव लीलया मासोऽप्यसौ तस्य प्रिय आसीत्। अतएव वक्ष्यति (भा० ११।१६।२७) "मासानां मार्गशीर्षोऽस्मि" इत्यादि। कात्यायन्यर्चन व्रतमित्यस्यायं भावः। वयं कन्यकाः, पितृभ्रातृसङ्कोचाद् दूत्यन्तरं कर्त्तुं न शक्यते। तादृश्यः प्रौढ़ा वयस्या अपि न सन्ति, सन्तु वा तासु स्वानुरागं प्रकटयितुं न शक्यते। ताश्च कन्यकानामस्माकमनुरागः कात्यायन्यैव दूती भावेन चेत् सफलीक्रियते, तदैव स्यादिति दूतीत्वेन त्वामाराधयितुं तद्व्रतमारब्धम्, नतु तत् प्रसादलिप्सया, स्वतः सिद्धत्वात्। सिद्धत्वेनावतीर्णा अप्यग्रिमवयस्य तादृश स्वभावतया स्वतः प्राकट्ये ग्राम्यतापत्तेः, परकृतसाहाय्यमौचित्येनैवोपरुन्धन्ति ॥२-३॥

व्रताचरणे स्वकृतमेव मन्त्रं जपन्तः प्रार्थयन्ते—कात्यायनीत्यादि। हे देवि! कात्यायनि! ते तुभ्यं नमः। ननु किमर्थोऽयं नमस्कारः? तत्राह—नन्दगोपसुतं पतिं मे कुरु कारय। प्रत्येकमन्त्र पाठादेकवचनम्।

अथवा, प्रतिवशादभिन्नता वा। ननु दुर्घटोऽयमर्थः, कथमस्मच्छक्त्या भवितुमर्हति? तत्राह महायोगिनि, महायोगो भक्तियोगः स विद्यते यस्या इति तथा। सा त्वं परमवैष्णवी। तथा च 'धन्यासि कृत पुण्यासि विष्णुभक्तासि पार्वती' इति श्रीरुद्रवाक्यम्। तेन तत् प्रसादादेवायमर्थः, सुघटः। एवं चेदनयैवोपासनया किमहंपरितुष्टा भवानीत्याशङ्क्याह—हे अधिश्वरि! ईश्वराणामधिके, त्वं सर्वेश्वरी, तव किमस्मद् वित्तबहुवित्तसाध्योपचारैः ॥४-५॥

अन्यत्र विवाहित गोपाङ्गनागण का श्रीकृष्णानुराग का वर्णन भा० १०।२१। में करने के पश्चात् भा० १०।२२ में कन्यकागण का अनुराग वर्णन करते हैं। यह व्रत श्रीकृष्णेच्छा प्रेरित चिच्छक्तिरूपिणी कात्यायनी का था, श्रीकृष्ण प्रसन्नता उन सबमें स्वतः सिद्ध रही, अन्यालम्बन से ग्राम्यता-दोष प्रसङ्ग ही होगा।

सङ्कल्पसिद्धिरेव श्रीभगवता कृता, तत्रैव हि स्वयमङ्गीकृतम् (भा० १०।२२।२७)—"याताबला व्रजं सिद्धाः" इति। तदेतत्पक्षेऽपि पूर्व्ववदेव गुप्तपतित्वाज्जारमिव जारमिति सङ्गमनीयम्। तस्माच्च श्रीगोपालोत्तरतापन्यां ताः प्रति दुर्व्वाससा यदुक्तं तदेव निगमनीयम् (गो० ता० उ० २३)—"जन्मजराभ्यां भिन्नः स्थाणुरयम्" इत्यादौ "स वो हि स्वामी भवति" इति॥

श्रीभगवान् उद्धवम्॥

१७८। पूर्व्वोक्त एवाप्रकटलीलाप्रवेश–प्रकटलीलाविष्काररूपोऽर्थस्तदनन्तरप्रश्नोत्तराभ्यामप्यभिप्रेतोऽस्ति। प्रश्नस्तावत् श्रीउद्धव उवाच (भा० ११।१२।१६)—

व्रताचरण में मन्त्र जप का प्रदर्शन करते हैं, हे देवि! हे कात्यायनि, हे महामाये, हे महायोगिनि, हे अधिश्वरि! नन्द गोपसुतं पतिं मे कुरु, कारय', इस प्रकार मन्त्र जप परायणा कुमारीगण की इष्टसिद्धि हुई थी। तद्भिन्न अपर व्रजाङ्गनागण की सङ्कल्प-सिद्धि भी भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा हुई। वहाँ पर हि श्रीभगवान् ने अङ्गीकार वचन को कहा था।

भा० १०।२२।२७ में उक्त है—

याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्य्यार्चनं सतीः॥

"हे सती अबलागणः जिस उद्देश्य से व्रताचरण, एवं कात्यायनी अर्चन, तुम सबने किया है, वह अभीष्ट सिद्ध होगा। तुम सब सिद्ध मनोरथ हो, सम्प्रति व्रज में जाओ, आगामिनी रजनी में मेरे साथ विहार होगा"। इस श्लोक में 'सिद्धाः' सिद्ध हो, एवं 'मया रंस्यथ' मेरे साथ विहार होगा, पदद्वय ये अङ्गीकार सूचित हुआ है।

अतएव श्रीव्रजसुन्दरीवृन्द की अवशेष में रमणरूप में श्रीकृष्ण प्राप्ति सुसङ्गत है। कारण, कात्यायनी व्रतपरायणा कुमारीगण की अभीष्टसिद्धि– "हे देवि! पति रूप में नन्द गोप पुत्र को प्रदान करो" इस मन्त्र जप से हुई, तो अनिन्द्यभाववती व्रजललनावृन्द की भी सङ्कल्पसिद्धि अवश्य होगी। कारण, श्रीकृष्ण स्वयं कात्यायनी रूप में देवी होते हैं, अनुष्ठान का प्रेरणकर्त्ता भी स्वयं होते हैं, स्वयं सन्तुष्ट होकर यदि सब कुछ करते हैं, तब व्रजललनागण की प्राप्ति रमण रूप में क्यों नहीं करायेंगे।

इस पक्ष में भी प्रथम तो गुप्त पति होने के कारण—श्रीकृष्ण, जारप्राय थे, कारण, स्वयं श्रीकृष्ण ही स्वरूपाभिन्न प्रियावर्ग को अवतारितकर नित्य सम्बन्ध विस्मृत करवाकर कौतुकमयी लीला करते हैं। इस प्रकार "मत्कामा रमणं जारं" श्लोक में उल्लिखित जार पदार्थ का समन्वय करना कर्त्तव्य है। अतएव गोपालोत्तर तापनी में श्रीदुर्वासा ने जो कुछ कहा था उसका समन्वय भी करना आवश्यक है, "जन्म जरा से अतीत श्रीकृष्ण अचल एवं अविनश्वर हैं, वह ही तुम सबका स्वामी है।

श्रीभगवान् कृष्ण उद्धव को कहे थे—॥१७७॥

इतः प्राक् कथित हुआ है कि श्रीकृष्ण कुछ काल भूतल में सपरिकर प्रकट बिहार करने के पश्चात् सपरिकर अप्रकट लीला में प्रवेश करते हैं, उसमें प्रकट लीलागत स्वरूप रूप धाम परिकर लीला एवं भावादि एक प्रकार हैं, किसी अंश में भिन्नता नहीं है। इस प्रकार ही अप्रकट लीला से प्रकट लीला का आविष्कार होता है। इसमें भिन्नता नहीं है। श्रीजीवगोस्वामिपाद का यह मत है। उसका यथावत् प्रतिपादन श्रीकृष्ण ने उद्धव के सहित प्रश्नोत्तर में किया है।

(१७८) "संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर।
न निवर्त्तत आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः॥" ५३५॥

तव वाचं शृण्वतोऽवधारयतोऽपि ममात्मस्थः संशयो मयोदितेष्ववहित इत्यादिकाध्याय-त्रयगतमहावाक्यार्थपर्य्यालोचनासामर्थ्यं न निवर्त्तते। कुतः? येन यतो मनो भ्राम्यति। (भा० ११।१२।१०) "रामेण सार्द्धं मथुरां प्रणीते" इत्यादिकं तव वचनं श्रुत्वा हन्त तासामनेन सङ्गमः कुत्र कथं विद्यत इति चिन्तया न स्वस्थं वर्त्तत इत्यर्थः॥

भा० ११।१२।१६ में उक्त है— "संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वरः।
न निवर्त्तत आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः॥"

प्रश्नोत्तर में प्रकट अप्रकटगत लीला द्वय की ऐक्य परिपाटी सुव्यक्त है। प्रश्न—श्रीउद्धव ने कहा-यह प्रश्न— "मत्कामारमणं जारमस्वरूपोविदोऽबलाः ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छत सहस्रशः" श्रीकृष्णोक्ति श्रवण के बाद हुआ।

'हे योगेश्वर! मैं आपका वचन सुन रहा हूँ, किन्तु, मेरा हृदयस्थ संशयापोनोदन नहीं हो रहा है। उससे मेरा मन भ्राम्यमाण हो रहा है।

उक्त श्लोकार्थ इस प्रकार है—तुम्हारा वाक्य मनोयोग के सहित सुनने पर भी मेरा हृदयस्थित संशय विदूरित नहीं हो रहा है। अर्थात्—"मयोदितेष्ववहितः" इत्यादि श्लोक से आरम्भ कर १०, ११, १२, तीन अध्यायों में वर्णित महावाक्य की अर्थपर्य्यालोचना करने की असामर्थ्य विदूरित नहीं हो रही है, क्योंकि संशय विदूरित नहीं हो रहा है। उसको भी मैं कहता हूँ—"रामेण सार्द्धं मथुरां प्रणीते शाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः। विगाढ़ भावेन न मे वियोग तीव्राधयोऽन्यं दद्दशुः सुखाय। तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठ तमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण। क्षणार्द्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥

उक्त श्लोकद्वय में श्रीकृष्ण विच्छेद के अनन्तर प्रेयसीवृन्द की श्रीकृष्ण प्राप्ति किस रीति से हुई उसका विशद वर्णन है।

"अक्रूर जब बलदेव के साथ मुझको मथुरा ले आये थे, तब मुझमें अनुरक्तचित्त गोपीगण प्रगाढ़ प्रेमवशतः तीव्र विच्छेद दुःख से कातर होकर अपर किसी वस्तु को सुखहेतु नहीं मानती थीं। वृन्दावन में अवस्थान के समय प्रियतम मेरे साथ जो सब रजनी रासादि विचित्र विलास द्वारा अतिवाहित हुई थीं, वे सब रजनी क्षणार्द्धतुल्य हुई थीं, एवं मत् विच्छेद रजनी समूह कल्प समूह हुई थी।

यहाँ प्रगाढ़प्रेमवशतः तीव्र विच्छेद पीड़ा से कातर होकर व्रजदेवीगण मुझ कृष्ण को छोड़कर सखीगण को भी सुखकर नहीं मानती थीं, अधुना सुखरूप देख रही हैं। कारण, उद्धव के सहित वाक्यालाप के समय यदि विच्छेद वर्त्तमान होता तो "दद्दशुः" अतीत क्रिया का निर्देश न कर वर्त्तमान क्रिया का प्रयोग करते। सुतरां विच्छेद रजनीसमूह कल्पसम हुई थीं, सम्प्रति उस प्रकार नहीं हैं, सुतरां विच्छेद नहीं है, अन्यथा 'बभूवुः' अतीत क्रिया का निर्देश न कर वर्त्तमान क्रिया का प्रयोग ही करते। तज्जन्य प्रकट अप्रकट लीलाद्वय की अप्रतिपत्ति हेतु—अर्थात् उभय लीला का स्थापन विभिन्न रूप में करना असम्भव होने से ही अप्रकट भाव प्राप्ति पूर्वक निज-निज यथावस्थित नामरूप में वे सब अवस्थित हैं, उसमें दृष्टान्त नदी जिस प्रकार समुद्र में नामरूप को छोड़कर मिलती है, समाधि में मुनिगण जिस प्रकार परमात्मा के सहित मिलते हैं नामरूप को छोड़कर।"

उक्त वियोग विधुरा व्रजसुन्दरीगण के सहित श्रीकृष्ण का सङ्गम कहाँ किस प्रकार से विद्यमान है, इसकी समन्वय चिन्ता से मेरा मन अस्थिर है। उक्त संशय प्रकाशक वाक्य का यह प्राञ्जल अर्थ है॥१७८॥

१७८। अथोत्तरम्—तत्र तस्य संशयमपनेतुं द्वाभ्यां तावत्तच्चित्तं स्वस्थयन् श्रीभगवानुवाच भा० ११।१२।१७)

(१७८) "स एष जीवो विवरप्रसूतिः, प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं, मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥" ५३६॥

स एष मल्लक्षणो जीवो जगतां जीवनहेतुः, विशेषतो व्रजस्य जीवनहेतुर्वापि परमेश्वरः प्राणेन मत्प्राणतुल्येन घोषेण व्रजेन सह विवरप्रसूतिर्विवरादप्रकटलीलातः प्रसूतिः प्रकटलीलायामभिव्यक्तिर्यस्य तथाभूतः सन् पुनर्गुहामप्रकटलीलायामेव प्रविष्टः। कीदृशः सन्, किं कृत्वा? मात्रा मम चक्षुरादीनि, स्वरो भाषागानादीनि वर्णो रूपम्, इति इत्थं स्थविष्ठः स्वपरिजनानां प्रकट एव सन्। वहिरङ्गभक्तानामन्येषां सूक्ष्ममज्ञेयं मनोमयं कथञ्चिन्मनस्येव गम्यं यद्रूपं प्रकाशस्तदुपेत्य॥

अनन्तर उक्त प्रश्न का उत्तर—उक्त अध्याय में श्रीउद्धव का संशय अपनोदन निबन्धन श्लोकद्वय के द्वारा उनके चित्त को प्रकृतिस्थ 'निरुद्विग्न' कर श्रीकृष्ण कहे थे—(भा० ११।१२।१७)—

स एष जीवो विवर प्रसूतिः, प्राणेन घोषेण गुहांप्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥

विवर प्रसूति रूप में वह जीव प्राण तुल्य घोष के सहित गुहा में प्रविष्ट हुआ है, उस समय वह रूप, मात्रा, स्वर एवं वर्ण विशिष्ट स्थविष्ठ एवं मनोमय सूक्ष्मावस्था को प्राप्त किया है।

व्रजसुन्दरीवृन्द का प्राणकोटि प्रियतम तुम्हारे सम्मुख में विद्यमान मैं हूँ श्रीकृष्ण, श्रीकृष्णरूप जीव, जगत् के जीवन हेतु हैं, किम्बा विशेष रूप से व्रजवासी के जीवनहेतु हैं, वह परमेश्वर हैं। विशेष रूप से कहने का तात्पर्य यह है कि—जीवन रक्षा के अनेक उपाय हैं, उसमें से किसी एक को वर्जन करने पर भी जीवन रक्षा होती है, किन्तु जो विशेष उपाय है, उसको छोड़ा नहीं जा सकता है। श्रीकृष्ण को छोड़कर व्रजवासीगण जीवित रह नहीं सकते हैं, तज्जन्य ही श्रीकृष्ण व्रजवासीगण के जीवन हेतु हैं।

मेरा प्राणतुल्य घोष व्रज के सहित, विवर—अप्रकट लीला से, प्रसूति—प्रकट लीला में अभिव्यक्ति जिसका है, तादृश रूप में, पुनर्वार गुहा—अप्रकट लीला में प्रविष्ट होता हूँ।

किस रूप में एवं कैसे उसका सम्पादन करते हैं—उसको कहते हैं मात्रा—मेरी चक्षु प्रभृति इन्द्रिय-समूह, स्वर—भाषा एवं गान प्रभृति, वर्ण—रूप, उक्त समुदय समन्वित स्थविष्ठ—निज परिजनगण के निकट प्रकट रूप, अपर व्यक्तिगण के निकट सूक्ष्म, एवं वहिरङ्ग भक्तगण के निकट मनोमय—कथञ्चिद्रूप में मनोमध्य में स्फूर्त्ति प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार रूप की जो अभिव्यक्ति—उस रूप में उक्त लीला सम्पादनकारी मैं हूँ।

सारार्थ यह है कि—श्रीकृष्ण ने कहा—मैं विशेष रूप से व्रजवासीवृन्द का जीवन स्वरूप हूँ। व्रज भी मेरा जीवनतुल्य है, व्रज के सहित मेरा विच्छेद कभी भी नहीं हो सकता है। मैं व्रज के सहित अप्रकट लीला से प्रकट लीला में आविर्भूत होता हूँ, एवं उन सबके सहित ही अप्रकट लीला में प्रवेश करता हूँ। प्रकट लीला में जिस रूप में विहार करता हूँ, अप्रकट लीला में अविकल उस रूप में ही प्रवेश करता हूँ। उस समय मेरी इन्द्रिय का व्यतिक्रम नहीं होता है, एवं भाषा रूप प्रभृति का भी व्यतिक्रम नहीं होता है। अप्रकट लीला में प्रविष्ट होने पर भी उक्त लीलास्थित परिकरगण के सहित अविकल प्रकट लीला विलसित रूप में ही विहार करता हूँ। उस समय वहिरङ्ग जनगण मुझको देख नहीं पाते, किन्तु साधन परायण जनगण के चित्त में कमी-कभी उस रूप की स्फूर्त्ति होतीं है॥१७९॥

१८० । प्रकटलीलाविष्कारञ्च सदृष्टान्तं स्पष्टयति (भा० ११।१२।१८)—

(१८०) "यथानलः खेऽनिलबन्धुरुष्मा, बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः ।
अणुः प्रजातो हविषा समेध्यते, तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी ।।" ५३७।।

दृष्टान्तोऽयं गर्भगतादिक्रमेणाविर्भावमात्रांशे । तृतीयेऽपि तदुक्तं श्रीमदुद्धवेनैव (भा० ३।२।१५)—
"अजोऽपि जातो भगवान् यथाग्निः" इति; व्यक्तिराविर्भावः ; हि यस्मादियं स्वरहस्यैकविज्ञस्य
ममैव वाणी । नात्रासम्भावना विधेयेत्यर्थः । ततश्चानन्तरं वक्ष्यमाण (भा० ११।१२।१९)

अनन्तर दृष्टान्त के सहित सुस्पष्ट रूप से प्रकटलीलाविष्कार का वर्णन करते हैं । (भा० ११।१२।१८)

"यथानलः खेऽनिलबन्धुरुष्मा, बलेनदारुण्यधिमन्थमानः ।
अणुः प्रजातो हविषा समेध्यते, तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी ।"

जिस प्रकार आकाश में उष्मा रूप में व्यक्त अग्नि काष्ठ में स्थित होती है, अधिक मन्थन से वायु की सहायता से वह सूक्ष्मस्फुलिङ्ग रूप में उद्भूत होता है, उसके बाद घृत संयोग से परिवर्द्धित होता है, उस रूप में ही मेरी व्यक्ति, अभिव्यक्ति है— यह ही मेरी वाणी है ।

एकदेशी दृष्टान्त है, गर्भादि क्रम से आविर्भाव मात्रांश में यह दृष्टान्त प्रयुक्त हुआ है । तृतीय स्कन्ध में (३।२।१५) इस प्रकार आविर्भाव का विवरण श्रीउद्धव महाशय ने कहा है । "अजोऽपि जातो भगवान् यथाग्निः" श्रीभगवान् काष्ठस्थित अग्नि के समान जन्म ग्रहण करते हैं । व्यक्ति शब्द का अर्थ आविर्भाव है, श्रीकृष्ण का कहने का तात्पर्य्य यह है—मेरा आविर्भाव का वृत्तान्त का कथन जो मैंने किया है, वह ही यथार्थ है । कारण, यह ही मेरी वाणी है, अर्थात् इसका रहस्य को मैं ही जानता हूँ, कोई भी नहीं जानते हैं । सुतरां लीलारहस्य के सम्बन्ध में जो कुछ मैंने कहा है, उसमें असम्भावना की आशङ्का नहीं है ।

इसके परवर्त्ती श्लोक का अनुसन्धान करना आवश्यक है । (भा० ११।१२।१९)—

"एवंगदिः कर्मगतिर्विसर्गो घ्राणोरसोदृक्स्पर्श श्रुतिश्च ।
सङ्कल्प विज्ञानमथाभिमानः सूत्रं रजः सत्वतमोविकारः ।।"

वाक्य, कर्म, गति, विसर्ग, घ्राण, रसन, दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, सङ्कल्प, विज्ञान, अभिमान, सूत्र, रजः, सत्व, तमः गुणत्रय विकार की जिस प्रकार अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् वाक्पाणि, पाद, पायुउपस्थ रूप कर्मेन्द्रिय का कार्य्य क्रमशः—वाक्य, कर्म, गमन, विसर्ग (मलमूत्रादि विसर्जन), नासिका, जिह्वा, चक्षु, त्वक कर्ण, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय कार्य्य- क्रमशः घ्राण, रसन, दर्शन, स्पर्श, श्रवण है । मन का कार्य्य— सङ्कल्प, बुद्धि— चित्त का विज्ञान कार्य्य, अहङ्कार का कार्य्य— अभिमान, प्रधान का कार्य्य—सूत्र, एवं गुणत्रय का कार्य्य—विकार प्रपञ्च है ।

जिस प्रकार इन्द्रियसमूह से इन्द्रिय वृत्तिसमूह की अभिव्यक्ति होती है, प्रधान से सूत्र की एवं गुणत्रय से प्रपञ्च की अभिव्यक्ति होती है, उस प्रकार अप्रकट प्रकाश से प्रकटलीला की अभिव्यक्ति होती है । यह ही श्लोक का अभिप्राय है । पूर्वोक्त संशय दूरीकरणार्थ ही प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या करना कर्त्तव्य है । भा० ११।१२।१८ में उक्त श्लोक में कथित "तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी" एवं भा० ११।१२।१९ श्लोक में उक्त "गदिः" शब्द का प्रयोग अर्थभेद प्रयुक्त हुआ है, श्लोकोक्त 'गदिः' शब्द का अर्थ— लौकिक भाषण को भी जानना होगा । अर्थात् मनुष्यवाणी की भी उत्पत्ति है, यह जानना होगा ।

'वाणी' एवं 'गदिः' शब्द का एक अर्थ होने पर भी यहाँ अर्थ पार्थक्य है । पूर्व श्लोकस्थ 'वाणी'

"एवं गदिः" इत्यादिग्रन्थस्तु संशयापनोदने-व्याख्येयः। एवं पूर्व्वोक्तवाक्यद्वयस्यैवार्थभेदेन गदिर्लौकिकं भाषणमपि ज्ञेयम्। तस्याप्युत्पत्तिर्ज्ञेयेत्यर्थः। स च सतात्पर्य्यकोऽर्थष्टीकायामेव दृश्य इति ॥ श्रीशुकः ॥

१८१। तदेवं श्रीमद्भागवते पुनर्व्रजागमनादिरूपोऽयमर्थो बहुधा लब्धोऽपि पाद्मोत्तर-खण्डवद्यन्न स्पष्टतया वर्णितः, तत् खलु निजेष्टदेवतत्त्वस्य वहिर्मुखान् प्रत्याच्छादनेच्छया अन्तर्मुखान् प्रत्युत्कण्ठावर्द्धनेच्छयेति गम्यते। यत एवोक्तम् (भा० ११।२१।३५)—"परोक्षवादा ऋषयः परोक्षन्तु मम प्रियम्" इति।

शब्द का अर्थ—श्रीभगवान् का वाक्य है। प्रस्तुत श्लोक में 'गदिः' शब्द का अर्थ—मनुष्य वाक्य है। अर्थात् मनुष्य का वाक्य जिस प्रकार वागिन्द्रिय से अभिव्यक्त होता है, श्रीकृष्ण भी उस प्रकार अप्रकट प्रकाश से प्रपञ्च में अभिव्यक्त होते हैं। सदृष्टान्त श्रीकृष्ण ने उक्ताभिप्राय को प्रकट किया है।

श्लोकद्वयस्थ 'वाणी' एवं 'गदिः' शब्दद्वय का तात्पर्य्य के सहित अर्थ पार्थक्य का उल्लेख स्वामि-टीका में है।

"अव्यक्तस्य सतः सूक्ष्ममध्यमक्रमेणाभिव्यक्तौ दृष्टान्तः यथेति। यथा अग्निः खे उष्मा अव्यक्तोष्म रूपः दारुण्यधिकं मथ्यमानोऽनिल सहायः सन् अणुः सूक्ष्म विस्फुलिङ्गादि रूपो भवति। पुनः प्रकृष्टोजातो हविषा संवर्द्धते तथैवेयं वाणी मम अभिव्यक्तिः ॥१७॥

उक्तां वाग् वृत्तिमुपसंहरन् इतरेन्द्रिय वृत्तिष्वतिदिशति एवं गतिर्गदनं भाषणं मे व्यक्तिरित्युपसंहारः। कर्म—हस्तयोर्वृत्तिः, गतिः पादयोः, विसर्गः—पायूपस्थयोरिति कर्मेन्द्रियानाम्। घ्राणोऽवघ्राणं रसो रसनं, दृक् दर्शनं, स्पर्शः—स्पर्शनं, श्रुतिः—श्रवणमिति—ज्ञानेन्द्रियाणाम्। सङ्कल्पो मनसः, विज्ञानं—बुद्धिचित्तयोः, अभिमानोऽहङ्कारस्य सूत्रं प्रधानस्य सत्त्वरजस्तमसांविकारो अधिदेवादिस्त्रिविधः प्रपञ्च मे व्यक्तिरिति पूर्वेणान्वयः ॥१६॥

प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥१८०॥

संशय हो सकता है कि—पाद्मोत्तर खण्ड में जिस प्रकार श्रीकृष्ण का व्रज में प्रत्यागमन वर्णन सुस्पष्ट रूप से है, उस प्रकार वर्णन सुस्पष्ट रूप से श्रीमद्भागवत में क्यों नहीं हुआ? प्रश्न का समाधान करते हैं—वर्णनकर्त्ता श्रीशुकदेव ने श्रीकृष्ण वहिर्मुख जनगण के निकट आच्छादन करने की इच्छा से एवं अन्तर्मुखी व्यक्तिगण की कृष्ण विषयक उत्कण्ठा वर्द्धनहेतु श्रीकृष्ण का पुनर्व्रजागमन का सुस्पष्ट वर्णन नहीं किया है। इस प्रकार लीला वर्णन रीति श्रीकृष्णानुमोदित है। भा० ११।२१।३५ में श्रीकृष्ण ने स्वयं ही कहा है—

"वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्ड विषया इमे।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षञ्च ममप्रियम्।

वेदसमूह कर्मकाण्ड, देवताकाण्ड, एवं ब्रह्मकाण्डात्मक काण्डत्रय का वर्णन करते हैं, उसमें ब्रह्मात्म विषय भी वर्णित है। मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण परोक्षवादी हैं, परोक्ष ही मेरा प्रिय है।

टीका—"तदेवं वेदानां प्रवृत्ति परत्वं निराकृत्य प्रकृतं निवृत्त परत्वमेव उपसंहरति वेदा इति। कर्मब्रह्म देवता काण्ड विषया इमे वेदा ब्रह्मात्म विषयाः ब्रह्मैवात्मा न संसारीत्येतत् पराः। तत् परत्वा प्रतीतौ च फल श्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम्। श्रेयो विवक्षया प्रोक्तं यथा भैसज्यरोचनमित्युक्तमेव कारण मनुस्मारयतिपरोक्षेति। ऋषयो मन्त्रास्तद् द्रष्टारो वा। तत् किमिति। यतः परोक्षमेव—मम च

यदेतत्तु मया क्षुद्रतरेण तरलायितम् । क्षमतां तत् क्षमाशीलः श्रीमान् गोकुलवल्लभः ॥५३८॥

तदेतच्च श्रील-वृन्दावने लीलाद्वयस्य मिलनं सावसरमेव प्रस्तुतम्; द्वारकायान्तु प्रसिद्धमेव । तत्र मौषलादिलीला मायिक्येवेति पूर्व्वमेव दर्शितम् । वस्तुतस्तु द्वारकायामेव सपरिकरस्य श्रीभगवतो निगूढ़तया स्थितिः । यादवानाञ्च नित्यपरिकरत्वात्तत्त्यागेन स्वयं भगवत एवान्तर्द्धाने तैरतिक्षोभेणोन्मत्तचेष्टैरुपमर्द्दिता पृथिव्येव नश्येदिति प्रथमं तेषामन्तर्द्धापनम् । अतएवोक्तम् (भा० ।११।१।३)—

"भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य, गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः ।
मन्येऽवनेर्नन्नु गतोऽप्यगतं हि भारं, यद्यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते ॥" ५३९॥ इति ।

प्रियम् । अयं भावः । शुद्धान्तःकरणैरेव एतद्बोद्धव्यं नान्यैरनधिकारिभिः वृथाकर्म परित्यागेन भ्रंशप्रसङ्गा-दिति ।

वेदोक्त उपदेशसमूह—सांसारिक विषय में संलिप्त कराने के निमित्त नहीं हुये हैं, किन्तु स्वाभाविक संस्कार प्राप्त आसक्ति से निवृत्त कराने के निमित्त हैं, कर्म, ब्रह्मदेवात्मक काण्डत्रय रूप में विभक्त वेद ब्रह्मात्मक विषयक हैं, सांसारिक विषय पर नहीं है, निवृत्ति पर वेद का अनुभव क्यों नहीं होता है ? कारण को कहते हैं— रोचकता में रुचि संसारी को अधिक होती है, किन्तु औषधि सेवन का फल रोगारोग्य है, किन्तु सम्पुटस्थ मिष्टता का आस्वादन नहीं है, उस प्रकार ही फलश्रुति को जानना होगा इस प्रकार गूढ़ रीति को क्यों अपनाते हैं ? कहते हैं, मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण, परोक्षप्रिय होते हैं, ऐसा क्यों ? मेरा परोक्ष ही प्रिय है । तात्पर्य्य यह है—शुद्धान्तःकरण सम्पन्न व्यक्तिगण इसको जान सकेंगे, विषयासक्त व्यक्तिगण का बोध नहीं होगा । अतएव अनधिकारी व्यक्तिगण ईश्वरानुशासन से कर्मानुष्ठान करें, अनधिकार वशतः कर्म त्याग करने पर अवश्य पतन होगा ।

अतएव श्रीमद्भागवत में पारकीय लीला का ही वर्णन है, कारण, श्रीकृष्ण का वह अतीव आस्वाद-नीय है, श्रीकृष्ण प्रसन्नता हेतु श्रीशुकदेव ने भी उसका वर्णन अस्पष्टरूप से ही किया, किन्तु सन्दर्भकर्त्ता श्रीजीवगोस्वामि रूप मैं उसका वर्णन सुस्पष्ट करके श्रीकृष्ण का अप्रसन्नताभाजन अवश्य बनूँगा । अतएव भीतचित्त से प्रार्थना करता हूँ—

'यदे तत् मया क्षुद्रतरेण तरलायितम् ।
क्षमतां तत्क्षमाशीलः श्रीमान् गोकुलवल्लभः ।"

मैं अतिशय क्षुद्रतर हूँ किन्तु गाढ़तम विषय को तरल कियाहूँ, तज्जन्य क्षमाशील श्रीमान् गोकुलवल्लभ मुझको क्षमा करेंगे ।

उट्टङ्कित प्रमाणसमूह से प्रतीत होता है कि श्रीमद्भागवत में प्रकटाप्रकट लीला का मिलन सुस्पष्ट रूप में वर्णित न होने पर भी अवसर क्रम से स्थान स्थान में वर्णित है । द्वारका में लीलाद्वय का मिलन सुप्रसिद्ध ही है । द्वारका में अनुष्ठित मौषलादि लीलासमूह मायिक हैं, उसका प्रदर्शन पूर्वग्रन्थ में हुआ है ।

वस्तुतः, सपरिकर श्रीकृष्ण, द्वारका में निगूढ़ रूप में सदा अवस्थित हैं, किन्तु मौषललीलाच्छल से यदुगण को अन्तर्हित करने का कारण यह है—यादवगण श्रीकृष्ण के अतिशय प्रेमवान् नित्य परिकर हैं । उन सबको परित्याग कर श्रीकृष्ण, यदि स्वयं अन्तर्द्धान करते हैं, तो श्रीकृष्ण विरह दुःख से अत्यन्त दुःखी होकर उन्मत्तप्राय वे सब हो जायेंगे, उससे पृथिवी विनष्ट होगी । एतज्जन्य प्रथम यदुगण को अन्तर्द्धान कराया गया है । अतएव श्रीशुकदेव ने भा० ११।१।३ में कहा है—

अत्र तेषामधार्म्मिकतया तु पृथिवीभारत्वं न मन्तव्यम्, (भा० ११।१।८)—

"ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम् ।
विप्रशापः कथमभूद्वृष्णीनां कृष्णचेतसाम् ॥" ५४०॥ इत्यादौ,

(भा० १०।९०।४६)—"शय्यासनाटनालाप-क्रीड़ारनानादिकर्म्मसु ।
न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ॥" ५४१॥

इत्यादौ च परमसाधुत्वप्रसिद्धेः । पृथ्वा भारश्च व्यक्तिबाहुल्यमात्रेण नेष्यते, पर्व्वत-समुद्रादीनामनन्तानां विद्यमानत्वात् । तथा (भा० ११।७।५) "न वस्तव्यम्" इत्यादि-भगवद्वाक्यस्य तात्पर्य्यमिदम् । माययापि यदूनां तादृशत्वदर्शनं ममानन्दवैभवधाम्नि मदीयजनसुखदमद्विलासैकनिधौ द्वारकायां नोचितम्, प्रभासे तु तत्तद्योगादुचितमिति । तथा (भा० ११।६।३४)

"भूभारराज भृतना यदुभिर्निरस्य, गुप्तैः स्वबाहुभिरन्ति यदप्रमेयः ।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं, यद् यादव कुलमहो अविषह्यमास्ते ।"

"अप्रमेय श्रीकृष्ण, स्वीय बाहुबल से परिरक्षित यादवगण के द्वारा पृथिवी के भार स्वरूप ससैन्य राजन्यवृन्द को विनष्ट करने के पश्चात् चिन्ता किये थे—अहो ! पृथिवी का भार विनष्ट होकर भी विनष्ट नहीं हुआ है, कारण, दुर्दमनीय यदुकुल अद्यापि विद्यमान है ।

अधार्मिकगण ही पृथिवी के भारस्वरूप होते हैं, इस श्रेणी मुक्त यादवगण नहीं हैं, कारण, भा० ११।१।८ में उक्त है— "ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम् ।
विप्रशापः कथमभूद् वृष्णीनां कृष्णचेतसाम् ।"

(भा० १०।९०।४६) "शय्यासनाटनालाप क्रीड़ास्नानादिकर्मसु ।
न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ।"

यदुगण परम धार्मिक थे, निम्नोक्त विवरण ही उसका द्योतक है । परीक्षित् महाराज ने कहा—ब्राह्मण भक्ति वर्जित, अदाता, ज्ञानवृद्धगण की सेवा रहित, श्रीकृष्ण बहिर्मुख व्यक्तिगण—शापग्रस्त होते हैं, किन्तु ब्राह्मण भक्त, दानशील, नित्य वृद्धसेवापरायण एवं कृष्णगत चित्त यदुगण कैसे ब्रह्मशापग्रस्त हुये?

श्रीकृष्णगत चित्त कृष्णगण शयन, उपवेशन, गमन, आलाप, स्नान भोजनादि में व्यापृत होने पर भी निज को स्वतन्त्र नहीं मानते थे । अर्थात् वे सब निरन्तर भगवत् प्रेरणा से ही समस्त कार्य्य निर्वाह करते थे, स्वयं कुछ भी नहीं करते थे, एवं अनुसन्धान करने में भी वे सब असमर्थ थे । कारण, जिस चित्त से अनुसन्धान होता है, वह चित्त श्रीकृष्ण में निबद्ध था । उक्त श्लोक द्वय के द्वारा यदुगण की परम धार्मिकता स्थापित हुई है ।

संख्या आधिक्य वशतः यदुगण पृथिवी के भार थे, यह भी नहीं हो सकता है, पृथिवी में असंख्य पर्वत समुद्र वर्त्तमान हैं, उसको पृथिवी का भार नहीं कहा जाता है ।

भा० ११।७।५ में वर्णित है— "न वस्तव्यं त्वयैवेह मयात्यक्ते महीतले ।
जनोऽधर्मरुचिर्भद्र भविष्यति कलौयुगे ।"
"न वस्तव्यमिहास्माभि र्जिजीविषुभिरार्य्यकाः ।
प्रभासं सुमहत् पुण्यं यास्यामोऽद्यैव माचिरम् ।" ११।६।३४

श्रीकृष्ण यदुवृद्धगण को कहे थे—यदि जीवित रहने की इच्छा हो तो, यहाँ रहना उचित नहीं है, आज ही महापुण्य तीर्थ प्रभास को जायेंगे, विलम्ब नहीं करेंगे ।"

"जिजीविषुभिः" इत्युक्त्वा (भा० ११।६।३८) "वृजिनानि तरिष्यामः" इति चोक्त्वा वस्तुतस्तु तेषां तादृशत्वं न भविष्यतीत्येवोक्तम्। तत्र "अस्माभिः" इति "वयम्" इति चोक्त्वा स्वेनैक्यसूचनया स्वात्मवदन्यथाभावत्वमेकगतित्वञ्च व्यञ्जितमिति।

तदेवं स्थिते तैः साकं श्रीभगवतो द्वारकायामेव नित्यां स्थितिमाह (भा० ११।३१।२३-२४)—

"द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात्।
वर्ज्जयित्वा महाराज श्रीमद्भगवदालयम् ॥५४२॥
नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः
स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्व्वमङ्गलमङ्गलम् ॥"५४३॥

मौषललीला मायिक होने से, द्वारका में उपद्रव की आशङ्का नहीं हो सकती है, श्रीकृष्ण की उक्ति में आशङ्का का विवरण है। उत्तर यह है—यदुकुल ध्वंस वृत्तान्त का प्रदर्शन यद्यपि मायिक था, तथापि श्रीकृष्ण की धारणा थी—आनन्द वैभवधाम, जन प्राण का सुखद एवं मेरा विलास निकेतन है। वह द्वारका है, उसमें यदुकुल ध्वंस—मायिक होने पर भी अनुष्ठान उचित नहीं है। प्रभास—आनन्द वैभवधाम भी नहीं है। निज-जन-गण सुखद भी नहीं है, एवं मेरा विलास निकेतन भी नहीं है। अतएव प्रभास में ही मायिक-यदुवंश-ध्वंस लीला प्रदर्शन समुचित होगा। भा० ११।६।३४ में वर्णित "जिजीविषुभिः" जीवित रहने का अभिलाषी हो तो, एवं भा० ११।६।३८ में उक्त है—

तेषु दानानि पात्रेषु श्रद्धयोप्त्वा महान्ति वै।
वृजिनानि तरिष्यामो दानैर्नौभिरिवार्णवम् ॥

सत्पात्र रूप ब्राह्मण वर्ग को दान प्रदान कर नौका द्वारा समुद्रोत्तरण के समान पापराशि से उत्तीर्ण हो जाऊँगा।" यहाँ "वृजिनानि तरिष्यामः" "पापराशि से उत्तीर्ण हो जाऊँगा" कहने से प्रतीत होता है कि यदुकुल का ध्वंस नहीं होगा। अर्थात् 'जीवित रहने का अभिलाषी' कहने पर बोध होता है कि, प्रभास गमन से विनाश की आशंका नहीं है। 'पापराशि से उत्तीर्ण हो जाऊँगा' कहने से प्रतीत होता है कि, स्थान प्रभास से यदुगण भी ब्रह्मशाप-मुक्त हो जायेंगे। अतएव यदुवृन्द का वास्तविक विनाश असम्भव है।

एवं प्रभास गमन प्रस्ताव में उक्त है कि—'न वस्तव्यमित्यस्माभिः' इस श्लोक में 'अस्माभिः' 'हम सबके द्वारा कहा गया है।

"वयञ्च तस्मिन्नाप्लुत्य तर्पयित्वा पितॄन् सुरान्।
भोजयित्वोशिजो विप्रान् नानागुणवतान्धसा ॥"

हम सब उक्त तीर्थ में स्नानपूर्वक पितृदेव तर्पण कर विप्रवृन्द को विविध गुण सम्पन्न अन्न भोजन करायेंगे। यहाँ 'वयञ्च' 'हम सब' कहकर श्रीकृष्ण ने स्वयं के सहित यदुगण का ऐक्य सूचित किया है। उससे स्वयं के समान यदुगण में जन्मादि षड्विकार नहीं हैं, सूचित हुआ है, एवं गतित्व भी सूचित हुआ है।

इस प्रकार स्थिर होने से यदुवर्ग के सहित श्रीकृष्ण की द्वारका में नित्यस्थिति सुव्यक्त हुई है। (भा० ११।३१।२३-२४) द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत् क्षणात्।
वर्ज्जयित्वा महाराज श्रीमद्भगवदालयम् ॥
नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् मधुसूदनः।
स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्व्वमङ्गलमङ्गलम् ॥

"हे महाराज! श्रीकृष्ण परित्यक्त भगवदालय को छोड़कर द्वारका को तत्काल समुद्र ने आप्लावित

लोकदृष्ट्यैव हरिणा त्यक्तामत्यक्तामिति वा नित्यं सन्निहित इति वा वक्ष्यमाणात् । ततश्चोभयथाप्याप्लावनं परितो जलेन परिखावदावरणम् । तज्जलमज्जनञ्च समुद्रेणैव श्रीभगवदाज्ञया त्यक्तभूमिलक्षणस्य हस्तिनापुरप्रस्थापित-बहिर्जनगृहाद्यधिष्ठानबहिरावरणस्यैव। तथा रचनं विश्वकर्म्मणा तस्यैव प्रकटलीलायाः प्रापञ्चिकमिश्रत्वात् । अतः सुधर्म्मादीनां स्वर्गादागमनञ्च युज्यते । अप्रकटलीलायां ततोऽपि दिव्यतरं सभान्तरादिकमपि स्यात्, श्रीमान् यादवादिगृहवृन्दलक्षणशोभोपशोभावान् यो भगवदालयस्तं वर्जयित्वा तदेवमद्यापि समुद्रमध्ये कदाचिदसौ दूरतः किञ्चिद्दृश्यत इति तत्रत्यानां महती प्रसिद्धिः । अत्र महाराजेति सम्बोधनं दृष्टान्तगर्भम्; यद्वा, महान्तो राजानो यादवलक्षणा यत्र तथाभूतं श्रीमत्तदालयं श्रीकृष्णनित्यधामस्वरूपं द्वारकापुरम् । न केवलं पुरमात्रास्तित्वम्, तत्र च श्रीमति भगवदालये मधुसूदनः श्रीकृष्णो नित्यमेव सन्निहितः; अर्थात्तु तत्रत्यानाम् । किंवान् तत्र सन्निहितः ?

किया था । कारण, उस आलय में भगवान् मधुसूदन नित्य सन्निहित हैं, उसका स्मरण करने से निखिल अशुभ विनष्ट होते हैं, भगवद्धाम, सर्वमङ्गलस्वरूप है ।

लोक दृष्टि से श्रीहरि कर्तृक त्यक्ता, अथवा अत्यक्त्वा अर्थ करना विधेय है । कारण, इसके बाद वर्णित है—वहाँ मधुसूदन नित्य सन्निहित हैं । उभय अर्थ में प्लावन का बोध होता है । भगवदालय के चतुर्दिक में परिखा के समान जलावरण को जलमज्जन कहा गया है । जहाँ जलमग्न हुआ था वहाँ वहिरङ्ग लोकों की आवास भूमि थी, भगवदाज्ञा से तत्रत्यजनवृन्द को हस्तिनापुर ले जाया गया था । अनन्तर श्रीकृष्ण कर्तृक परित्यक्त उक्त स्थान समुद्र के द्वारा प्लावित हुआ । सुतरां द्वारका का वहिरावरण ही जलमग्न हुआ था, यह स्थान विश्वकर्मा रचित था, श्रीद्वारकाधाम नित्य है, प्रकट लीला में प्रापञ्चिक मिश्रण की व्यवस्था है, अतः विश्वकर्मा के द्वारा उक्त वहिरावरण की रचना हुई थी । प्रकट लीलावसान में वहिरावरण जलमग्न होने पर भी नित्यधाम की हानि नहीं होती है, उसका निर्माण उस रूप से हुआ था ।

अतएव प्रकट लीला में प्रापञ्चिक मिश्रण व्यवस्था स्वीकृत होने के कारण, स्वर्ग से सुधर्मासभा का आगमन सम्भव है । अप्रकट लीला में उक्त सभा से भी दिव्यतर अन्य सभा प्रभृति विद्यमान है ।

'श्रीमद्भगवदालय' शब्द से श्रीमान् यादवादि गृहवृन्द लक्षण, शोभोपशोभावान् जो भगवदालय है, उसको छोड़कर समुद्र ने प्लावित किया था । तज्जन्य अद्यापि समय समय में समुद्र मध्य में द्वारकापुरी का किञ्चिदंश दृष्ट होता है । उक्त प्रदेशवासिगण के मध्य में महती प्रसिद्धि रूप में उक्त वृत्तान्त है ।

भा० ११।३१।२३ में उक्त "वर्जयित्वा महाराज श्रीमद्भगवतालयम्" श्लोक 'महाराज' पद दृष्टान्त गर्भ विशेषण है, अर्थात् महान् विशेषण । जिस प्रकार राजन्य वर्ग के मध्य में श्रीपरीक्षित् का श्रेष्ठत्वसूचक है, उस प्रकार श्रीमान् विशेषण भी भगवदालय का निरतिशय शोभाशालित्व का प्रकाशक है ।

अथवा, महाराज पद, श्रीमद्भगवदालय का विशेषण है । कर्मधारय समास में उभय का एकपदी भाव हुआ है । महान् यादववर्ग लक्षण राजन्यवृन्द जहाँ हैं, उस प्रकार उनका आलय है, अर्थात् श्रीकृष्ण का नित्यधाम रूप द्वारकापुर है ।

केवल द्वारकापुर ही अवस्थित है, यह नहीं किन्तु उक्त श्रीभगवदालय में मधुसूदन श्रीकृष्ण नित्य ही सन्निहित हैं, अथात् धामवासिगण के सान्निध्य में नित्य अवस्थित श्रीकृष्ण हैं । तत्रत्य सामग्रीसमूह की भी

भगवान् यादवादिलक्षणाखिलनिजैश्वर्य्यवानेव । तदालयमेव विशिनष्टि—स्मृत्येति । साक्षादधुना व्यक्त-तद्दर्शनाभावात् स्मृत्येत्युक्तम् । यः स्वयमेवम्भूतस्तस्य त्वन्यथा सम्भावितत्वमपि नास्तीति भावः । एवमेव श्रीविष्णुपुराणे (५।३८-११)—

"प्लावयामास तां शून्यां द्वारकाञ्च महोदधिः । यदुदेवगृहं त्वेकं नाप्लावयत सागरः ॥५४४॥
नात्याक्रामत्ततो ब्रह्मं स्तदद्यापि महोदधिः । नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान् केशवो यतः ॥५४५॥
तदतीव महापुण्यं सर्व्वपापप्रणाशनम् । विष्णुक्रीड़ान्वितं स्थानं दृष्ट्वा पापात् प्रमुच्यते ॥"५४६॥ इति

तथैव श्रीहरिवंशे यादवान् प्रतीन्द्रप्रेषितस्य नारदस्य वाक्यम् (विष्णु-प० १०२।३२)—

"कृष्णो भोगवतीं रम्यामृषिकान्तां महायशाः । द्वारकामात्मसात् कृत्वा समुद्रं गमयिष्यति ॥"५४७॥
इत्यत्र 'आत्मसात् कृत्वा' इति, न तु त्यक्त्वेति ॥ श्रीशुकः ॥

१८२। तदेवमप्रकट-प्रकटलीलयोः समन्वयो दर्शितः । एते एव पाद्मोत्तरखण्डे भोगलीला-शब्दाभ्यामुच्येते—"भोगो नित्यस्थितिस्तस्य लीलां संहरते कदा" इत्यादिना यां कदाचित्

नित्यता है, कारण, अनित्य वस्तु के सहित सम्पर्क श्रीकृष्ण का नहीं है । अनित्य वस्तु का नित्य सान्निध्य भी असम्भव है । मधुसूदन भगवान् वहाँ नित्य विराजित हैं, अर्थात् यादवादि लक्षण अखिलैश्वर्य्यवान् हैं । भगवदालय का विशेष वर्णन करते हैं । (भा० ११।३१।२४) "स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम्" जिसका स्मरण से निखिल अशुभ विनष्ट होते हैं, वह द्वारका सर्वमङ्गलमङ्गल स्वरूप है । साक्षाद् व्यक्त रूप से सम्प्रति दर्शन न होने के कारण ही 'स्मृत्या' स्मरण करने से कहा गया है । उक्त श्रीमद्भगवदालय उस प्रकार नित्य है, उसके सम्बन्ध में अन्य रूप कल्पना नहीं की जा सकती है, अर्थात् धाम विनष्ट होता है, इस प्रकार कल्पना की सम्भावना नहीं है, श्रीमद्भागवतोक्त श्लोक का यह ही भावार्थ है ।

श्रीविष्णुपुराण में भी उस प्रकार वर्णन है । "शून्या द्वारकापुरी को समुद्र ने प्लावित किया, किन्तु यदुदेव गृह को प्लावित नहीं किया । हे ब्रह्मन् ! वहाँ भगवान् केशव नित्य सन्निहित हैं, तज्जन्य महासागर अद्यापि उसको आक्रमण करने में असमर्थ है । अतिशय पवित्र सर्व पाप प्रणाशन उस श्रीविष्णु क्रीड़ान्वित स्थान का दर्शन करने से मानव समस्त पापों से मुक्त होता है । (५४४-५४६)

उस प्रकार श्रीहरिवंश में यादवों के प्रति इन्द्र प्रेषित नारद का वाक्य भी लिखित है । "महायशाः कृष्ण, रम्या ऋषिकान्ता भोगवती द्वारका को आत्मसात् कर समुद्रस्थ करेंगे ।" यहाँ पर 'आत्मसात् कृत्वा' कहा गया है, किन्तु 'त्यक्त्वा' परित्याग कर, इस प्रकार नहीं कहा है । प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥१८१॥

उक्त रीति से प्रकट अप्रकट लीला का समन्वय प्रदर्शित हुआ । प्रकटाप्रकट लीलाद्वय का वर्णन पाद्मोत्तर खण्ड में भोग एवं लीला शब्द से हुआ है । "भोगोनित्यस्थितिस्तस्य लीलां संहरते कदा" भगवान् की नित्य स्थिति को भोग कहते हैं, एवं समय विशेष में उपसंहार योग्य को लीला कहते हैं । अर्थात् नित्य प्रवाहमयी लीला योग शब्द वाच्य है, एवं समय विशेष में अवसान प्राप्त को लीला कहते हैं ।
यहाँ पर अवश्य ज्ञातव्य तथ्य यह है कि, प्रकट लीलागत भाव—विरह संयोगादि लीला वैचित्री भरवाही हेतु बलवत्तर है । तज्जन्य प्रकटाप्रकट उभयलीला एकीभावापन्न होने पर भी परिकरवृन्द का प्रकट लीलागत भावमय अभिमान निश्चय ही अनुवर्त्तित होता है । मूलस्थ 'अनुवर्त्तन एव' शब्दस्थ अनुवर्त्तमान शब्द का अर्थ अनुवृत्ति विशिष्ट है ।

संहरते सा लीलेत्यर्थः । तत्र प्रकटलीलागतभावस्य विरह-संयोगादि-लीलावैचित्रीभरवाहित्वेन बलवत्तरत्वादुभयलीलैकीभावानन्तरमपि तन्मयस्तेषामभिमानोऽनुवर्त्तत एव । तत्रैश्वर्य्यज्ञान-सम्बलित-भावानां श्रीयादवानां स तावन्नूनमेवं सम्भवति,—अहो सर्व्वदैवानन्यजीवातूनामस्माकमीशिता श्रीकृष्णाख्यो भगवानयं नानालीलामृतनिर्झरैः सान्द्रानन्दचमत्कारमास्वादयितुं यादवशिखामणेर्नित्यमेव पितृभावसमृद्धस्य श्रीमदानकदुन्दुभेर्गृहे स्वजन्मना स्वानस्मानलञ्चकार । ततश्च साधितास्मदानन्दसत्रप्रधानविविधकार्य्यः परमबान्धवोऽसौ परमेश्वरस्तत्तद्रूपानेवास्मान् पुनर्ब्रह्माद्यैरपि दुरधिगमे श्रीमथुरानाम्नि श्रीद्वारकानाम्नि वा परमधाम्नि नानामाधुरीधुरीणाभिरात्मलीलाभिरनुशीलित एव विभ्राजित इति । सोऽयमभिमानः श्रीवृन्दावने तु निजनिजसम्बन्धसन्धायकप्रेमैकानुसारिणां श्रीव्रजवासिनां नूनमेवं समुज्जृम्भते। अहो योऽसौ गोकुलकुलभागधेयपुञ्जमञ्जुलप्रकाशो मादृशां दृशां जीवनसञ्चयनिर्म्मञ्छनीय-पादलाञ्छनलेशो वाञ्छातीतसुखसन्तति-सन्तानको महावनव्रज-महाखनिजनि-नीलमणिराविरासीत्, योऽसौ दुष्टभोजराजविसृष्टैः पूतनादिग्रहसमूहैरुपरक्तोऽपि मुहुरनुकूलेन विधिना तेषां स्वयमेव विनाशपूर्व्वकं चकोरेभ्यश्चन्द्रमा इवास्मभ्यमवतीर्ण एवासीत्, योऽसौ तादृश-तदीयमहागुणगणादेव परितुष्यद्भिर्मुनिदेवैरिव दत्तेन केनापि प्रभावेण मुहुरपि विपद्गणादात्मक्लेशमगणयन्नेव नः परित्रातवान्, योऽसौ निजशील-रूपलावण्य-गुणविलासकेलि-विनिगूढ़सौहृद्यप्रकटनचातुरी-गुम्फितमाधुरीभिरस्मान् सुष्ठु पुष्टांश्चकार, योऽसौ लघुनापि गुणाभासेनास्माकमानन्दसन्दोहमभिविन्दमानो यद्यदपि मादृशामभिलषितं वा तदतीतं वा

श्रीकृष्ण परिकरों के मध्य में श्रीयादवगण ऐश्वर्य्य ज्ञान सम्बलित हैं, उन सबके अभिमान की स्थिति भी निश्चय ही सम्भवपर है । प्रकटाप्रकट लीलाद्वय का ऐक्य साधित होने पर उन सब में अभिमान जिस प्रकार विद्यमान होता है, उसका वर्णन करते हैं । 'अहो ! सर्वदा एक मात्र कृष्णगत प्राण हमारे प्रभु श्रीकृष्णाख्य भगवान् विविध लीलामृत निर्झरसमूह द्वारा प्रगाढ़ आनन्द चमत्कार प्राप्ति कराने के निमित्त नित्य पितृमातृ भाव समृद्ध यादव शिखामणि श्रीवसुदेव के गृह में हमारे निज निज अभिमान को वर्द्धित करते हैं । अर्थात् उनके सम्बन्ध में हम सब यादवगण की जो आत्मीय बुद्धि है, श्रीवासुदेव गृह में प्रकट विहार के समय मनुष्योचित चेष्टा के द्वारा तत्सम्बन्धीय पुत्रादि भाव को प्रगाढ़ करते हैं ।

अनन्तर हमारे आनन्द सत्रप्रधान विविध कार्य्य साधित होने पर परम बान्धव वह परमेश्वर पुनर्बार ब्रह्मादि का दुरधिगम्य मथुरा एवं द्वारका नामक परमधाम में नाना माधुरी विशिष्ट निज विविध लीला निरत होकर प्रकट लीला में जिस प्रकार विहार करते हैं, उस उस रूप विशिष्ट होकर ही हम सबको उल्लसित करते हैं ।'

उल्लिखित अभिप्राय से प्रतीत होता है कि—श्रीयादवगण, श्रीकृष्ण को परमेश्वर मानते हैं किन्तु श्रीकृष्ण के प्रति उन सबकी परम बान्धव बुद्धि भी है । किन्तु व्रजवासिगण, श्रीकृष्ण को प्रभु, सखा, पुत्र, प्राणबन्धु रूप में ही जानते हैं । व्रजवासिगण, उक्त सम्बन्धानुगत प्रेम का ही एक मात्र अनुसरण करते हैं, निज निज प्रेमानुरूप श्रीकृष्णरस में वे सब व्रजवासिगण आविष्ट हैं । श्रीयादवगण के समान श्रीवृन्दावन में

तत्तदपि प्रतिलवमप्याश्चर्य्यभूतं निजमाधुर्य्यवर्य्यमुल्लासितवान्, योऽसौ सकलसाधुजनावनाय विख्यापितयादवसम्बन्धस्तद्द्वारा स्वयमपि च राजन्यासुरसङ्ग-संहरणाय यदुपुरीं प्रस्थितवान्, योऽसौ कार्य्यानुरोधेन तत्रैव चिराय तिष्ठत आत्मनो विप्रयोगेन सन्तप्तबुद्धीनुद्धवादिभिरस्मानसकृदाश्वासयामास, योऽसौ पुनरुत्कण्ठाकोटिसमाकृष्टमूर्त्तिभिरतीर्थव्रज्याव्याजेन कुरुक्षेत्रं प्रगतैरस्माभिः श्वासमात्रावशिष्टैरिवामृतवारिधिरुपलब्धो बभूव, योऽसौ तथाविधानस्मानात्मसन्निधौ मासकतिपयं संवास्य परमस्वजनतया मुधैव कृताभिमानेभ्यो यादवेभ्यो निगूढ़ां कामपि स्नेहमुद्रामस्मासु समुद्घटय्य भवतामेवाहमिति व्यञ्जनया मुहुरेवास्मानभितः सन्धुक्षितवान्, योऽसौ श्रीवृन्दावनमेवास्माकमात्मनोऽपि परमभीष्टमिति निष्टङ्क्य शपथादिना निजझटित्यागमने विस्रम्भ्य साग्रहमस्मानत्रैव प्रस्थापितवान्, सोऽयमहो अकृतापरकर्त्तव्यशेष

भी श्रीव्रजवासिगण में प्रकट लीलागत भावमय अभिमान—अर्थात् उक्त सम्बन्धानुगत अभिमान निश्चय ही सम्यक् रूप से प्रस्फुटित है।

प्रकट अप्रकट लीला का ऐक्य साधित होने पर श्रीव्रजवासिवृन्द का मनोभाव इस प्रकार होता है—श्रीकृष्ण, गोकुल कुलभाग्य राशि का मञ्जुल प्रकाश हैं, जिनके चरण चिह्न का निर्मञ्छन, हम सब जीवन कोटि के द्वारा करते है, जो कृष्ण, वाञ्छातीत सुख सन्तति का विस्तारक हैं, जो महावन नामक व्रज रूप महाखनि जात नीलमणि के समान आविर्भूत हुये हैं, जो श्रीकृष्ण, दुष्ट कंस प्रेषित पूतनादि ग्रह समूह द्वारा उपरक्त (गृहीत) हुये थे। तथापि विधाता अनुकूल होने से स्वयं उक्त प्रतिकूल असुर समूह विनष्ट हुये थे, एवं श्रीकृष्ण चकोरसमूह के निकट चन्द्र के समान हम सबके समीप में प्रकाशित हुये थे। जो श्रीकृष्ण तादृश तदीय महागुणगण द्वारा परितुष्ट मुनिगण एवं देवगण प्रदत्त किसी अनिर्वचनीय प्रभाव से बारम्बार निज क्लेश को गण्य न कर विपद्राशि से हम सबको उद्धार किये हैं। जो श्रीकृष्ण निज सौशील्य लावण्य रूप गुण विलास केलि समूह में विनिगूढ़ सौहृद्य प्रकटन चातुरी ग्रथित माधुरी राशि के द्वारा हम सबको सुचारु रूप से पुष्ट किये हैं।

हम सबके सामान्य गुणाभास से जो श्रीकृष्ण, प्रचुर आनन्द लाभ पूर्वक हम सबके वाञ्छित एवं वाञ्छातीत जो माधुर्य्य है, उक्त सर्वोत्तम निज माधुर्य्य को उल्लसित प्रतिलव में आश्चर्य्य रूप से किये हैं।

जो श्रीकृष्ण, समस्त साधुजन निबह की रक्षा के निमित्त यादव सम्बन्ध प्रचार पूर्वक तद् द्वारा एवं स्वयं राजन्यवृन्द रूप असुर कुल का संहार हेतु यदुपुरी में प्रस्थान किये हैं।

जो कृष्ण, कार्य्यानुरोध से यदुपुरी में दीर्घकाल निवास करने के पश्चात् विच्छेद कातर हम सबको उद्धवादि द्वारा बारम्बार आश्वासन प्रदान किये थे।

जो श्रीकृष्ण, पुनर्वार उत्कण्ठा कोटि द्वारा समाकृष्ट मूर्त्ति, तदीय विच्छेद दुःख से हम सब अवसन्न थे, चलने की सामर्थ्य हम सब में नहीं रही, किन्तु श्रीकृष्ण दर्शनोत्कण्ठा ही हम सबको बलपूर्वक आकर्षण कर समीपस्थ कर चुकी है। तीर्थ भ्रमणच्छल से कुरुक्षेत्र में समुपस्थित, श्वासमात्रावशिष्ट हम सबके समीप में अमृत वारिधि रूप में उपलब्ध हैं।

जो श्रीकृष्ण, निज सान्निध्य में कतिपय मास हम सबको निज समीप में रखकर, नितान्त निज जन रूप में जिन सबका अभिमान है, उन सबके समीप में निगूढ़ स्नेह चिह्न समुद्घाटन पूर्वक—"मैं आप सबका ही हूँ" इस अभिप्राय को व्यक्त कर बारम्बार हम सबको सर्वतोभावेन उत्साहित किये हैं।

एवास्मान् निजागमनं विना समारब्धप्राणकोटिमोचनव्यवसायानाशङ्क्य झटिति स्वयमेव गोकुलं साम्प्रतमागम्य निजविरहकालव्यालमुखान्निष्कास्य च स्वावलोकनामृतपूरेण सिञ्चन्नेवास्ते। तत्र च प्रतिक्षणमपि नवनवीकृतेनानन्यसाधारणेन केनापि स्नेहसन्दोहमयेन केवलेन निजस्वभावविशेषेण, तत्रापि निजसौन्दर्य्यवर्य्यामृतपूरप्रपाचय-चयनेन, तत्रापि विविधमणिपुष्पादिभूषणपरभागपराभोगेन, तत्रापि विलासमाधुरीधुराविशेषाधानेन, तत्रापि विचित्रगुणगणोल्लासचमत्कारविद्याविनोदेन, तत्रापि गोपालन-गवाकारण-बाल्यतुल्यक्रीड़न-मोहनमन्त्रायितमुरलीवादनादिविभ्रमेण, तत्रापि गोकुलनिर्गमनप्रवेशादिलीलाचातुरी-माधुर्य्याडम्बरेण, तत्रापि सुहृदां यथायथमनुसन्तर्पणकेलिकलाविशेषप्रकाशित-स्नेहातिशयेना-स्मानुपलालयन्नेवास्ते, येन वयमहो समयगमनागमनमपि सम्भालयितुं न पारयाम इति। एतनुसारेण द्वारकातः समागते श्रीकृष्णे केषाञ्चिद्व्रजवासिनामेव तदानीन्तनमुल्लासवचनम्, (भा० १०।९० ४८)—"जयति जननिवासः" इत्यादिकं श्रीशुकमुखादाविर्भूतमिति व्रजैकान्त-भक्ता व्याचक्षते। अक्लेशेनैवार्थविशेषपरिस्फूर्त्तेः सम्भवति च श्रीभागवतस्य विचित्रार्थत्वम्, विद्वत्कामधेनुरूपत्वात्। तथाहि (भा० १०।९०।४८)—

जो श्रीकृष्ण, श्रीवृन्दावन—हम सबका एवं उनका परमाभीष्ट है, यह निश्चय कर, शपथादि द्वारा सत्वर निज गमन संवाद से आश्वस्त कर आग्रह के सहित हम सबकी श्रीवृन्दावन में प्रेरणा किये थे। अहो! वह श्रीकृष्ण—'उनका आगमन के बिना हम सब प्राण कोटि परित्याग करने में प्रवृत्त हैं। इस आशङ्का से अपर कर्त्तव्य समाप्त न करके ही झटिति स्वयं गोकुल में आकर निज विरह काल सर्प के मुख से हम सबको निष्कासित कर निज दर्शन दान रूप अमृत राशि सिञ्चन कर रहे हैं। उसमें भी प्रतिक्षण में नवनवीकृत अनन्य साधारण स्नेह सन्दोह मय केवल निज स्वभाव विशेष के द्वारा, निज सौन्दर्य्यवर्य्यामृतपूर नदी सञ्चयन के द्वारा, विविध मणि पुष्पादि भूषण प्रभृति सुसम्पत्ति सेवनजनित सर्वोत्तम सुख के द्वारा, अर्थात् विविध कुसुम भूषण, गुञ्जा, शिखिपिच्छ, गोरोचना, प्रभृति श्रीकृष्ण की सम्पत्ति है, अर्थात् सम्पत्ति जिस प्रकार मानव का वैशिष्ट्य व्यक्त करती है, उस प्रकार वृन्दावनीय कुसुम भूषणादि भी श्रीकृष्ण का विशिष्ट लक्षण है। श्रुति में उक्त है—"वनमालिनमीश्वरम्" उक्त वेश से विभूषित होकर श्रीकृष्ण व्रजवासिवृन्द को परम सुखी करते हैं। यह उक्त कथन का तात्पर्य्य है। विलास माधुरी स्थापन के द्वारा, विचित्र गुण-गणोल्लासकारी चमत्कार विद्याविनोद द्वारा, गो-पालन, गो-आह्वान, बाल-क्रीड़ा, मोहन मन्त्रवत् मुरली वादनादि चेष्टा के द्वारा, गोकुल से निर्गमन प्रवेशादि लीला चातुरी माधुर्य्य जनित हर्ष द्वारा, सुहृद्गण के यथायोग्य परितोष साधन, एवं केलि कला विशेष प्रकाशित स्नेहातिशय द्वारा हम सबका अतिशय रूप से प्रतिपालन परायण होकर ही विराजित हैं।

अधुना श्रीकृष्ण, हम सब ईदृश स्नेह विह्वल किये हैं, जिससे हम सब समय का गमनागमनानुसन्धान करने में अक्षम हैं। प्रकटाप्रकट लीलाद्वय का ऐक्य होने पर व्रजवासि निकट का यह ही मनोभाव है।

पूर्वोक्त निर्णयानुसार ही द्वारका से श्रीकृष्ण का व्रजागमन होने पर कतिपय व्रजवासि का उल्लास वचन, "जयति जननिवासः" (भा० १०।९०।४८) इत्यादि श्लोक—श्रीशुक मुख से आविर्भूत हुये हैं। व्रजैकान्त भक्तवृन्द का यह अभिमत है। यह असङ्गत नहीं है। कारण, अक्लेश से ही उस प्रकार अर्थ लाभ होता है। श्रीमद्भागवत भक्तिमान विद्वानगण के निकट कामधेनु सदृश हैं। अर्थात् भावपौषक विविध अर्थ

(१८२) "जयति इत्यादि ।

कोऽपि सोऽयमस्माकं जीवनकोटिप्रियतमो विभवप्रचारेण श्रीवृन्दावनस्यैव विशेषतः स्थावराणां जङ्गमानाञ्च तद्विरहाद्यद्दुःखं तन्निहन्ता जयति सर्व्वोत्कर्षेण वर्त्तते, अर्थात् श्रीवृन्दावन एव; श्रीवृन्दावनस्य स्थावराणामपि भावो वर्णित एव, (भा० ११।१२।८) "केवलेनैव भावेन" इत्यादिना । केन विशिष्टः ? सुस्मितेन श्रीमुखेन;— एतेन सदातनमानन्दैकरसत्वम्, स्वेषु सदैव सुप्रसन्नत्वञ्च तस्य प्रकाशितम् । किं कुर्व्वन् ? व्रजरूपं यत् पुरं तत्सम्बन्धिन्यो या वनिता जनितानुरागाः कुलबध्वस्तासां कामदेवं सर्व्वप्रेमानन्दोपरिविराजमानत्वात्तासां कामस्तु देवः परमदिव्यरूपस्तं वर्द्धयन् । ननु देवक्याः पुत्रोऽयमित्येवं वदन्ति,

प्रदान में समर्थ है। अतएव श्रीमद्भागवत का अर्थ वैचित्र्य सम्भवपर है। व्रजवासी का उल्लासमय वचन, (भा० १०।९०।४८) "जयति जननिवासः" श्लोक की व्याख्या जिस प्रकार हो सकती है, उसका प्रदर्शन श्रीजीव गोस्वामि चरण करते हैं।

"जयति जननिवासो देवकी जन्मवादो
यदुवर परिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।
स्थिरचर वृजिनघ्नः सुस्मित श्रीमुखेन
व्रजपुरवनितानां वर्द्धयनकामदेवम् ।।"

"जो निखिल जीवों का एक मात्र आश्रय हैं, जिन्होंने देवकी से जन्म ग्रहण किया है, इस प्रकार ख्याति जिनकी है, यादव श्रेष्ठगण, जिनके परिकर हैं, जिन्होंने स्वीय बाहुसमूह के द्वारा अधर्म निरसन पूर्वक स्थावर जङ्ग का दुःख नाश किया है, जिन्होंने सुस्मित श्रीमुख के द्वारा व्रजपुर वनिता का कामदेव वर्द्धित किया है, वह श्रीकृष्ण, जययुक्त होकर विराजित हैं।" वह यह हमारे जीवन कोटि प्रियतम, उनका विरह हेतु श्रीवृन्दावन में सर्वव्यापी, विशेषतः तत्रस्थ स्थावर जङ्गम का जो दुःख, उसका निरसनकारी होकर सर्वोत्तम रूप में विराजित हैं। अर्थात् श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्ण तादृश सर्वोत्तम रूप में विराजित हैं। इससे श्रीकृष्ण के प्रति, श्रीवृन्दावनस्थ स्थावर जङ्गमों की जो प्रीति है, उसका वर्णन हुआ। भा० ११।१२।८ में वर्णित है— "केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः"
"येऽन्ये मूढ़धियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा"

टीका—तत्र वृत्रादीनां भवतु नाम कथञ्चित् साधनान्तरं गोपीप्रभृतीनान्तु नान्यदस्तीत्याह—केवलेनेति । सत् सङ्गलब्धेन केवलेनैव भावेन प्रीत्या । नगा—यमलार्जुनादयः । यद्वा, तदानीन्तनानां सर्व तरुगुल्मादीनामपि भगवति भावोऽस्तीति गम्यते । तदुक्तं भगवतैव । अहो अतीदेववरामरार्च्चितं पादाम्बुजं ते समनः फलार्हणम् । नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मन, स्तमोऽपहत्यै तरु जन्मयत्कृतमित्यादि । सिद्धाः—कृतार्थाः, सन्तः ईयुः प्रापुः ।।"

निखिल साधन सम्पत्ति हीन होकर भी केवल भाव के द्वारा ही—गोपीगण, धेनुवृन्द, वृक्षलता मृग प्रभृतियों ने साक्षात् रूप से अनायास श्रीकृष्ण को प्राप्त किया। किस प्रकार जययुक्त हैं ? सुस्मित श्रीमुख से सर्वदा विराजमान हैं। इससे परम प्रियतम का सतत आनन्दैकर सत्व एवं व्रजवासिवृन्द के प्रति सर्वदा सुप्रसन्नत्व प्रकाशित हुआ।

कैसे जययुक्त हैं ? व्रज रूप जो पुर, तत्सम्बन्धी जो वनिता, अति अनुरागवती कुलबधू, उनका

तत् कथं युष्माकमत्रास्मदीयत्वेनाभिमानः ? तत्राहुः—देवक्यां जन्मेति वादो मिथ्यैव लोक-ख्यातिर्यस्य सः। तर्हि कथं वासुदेव इति तस्य नामेत्याशङ्क्याहुः—जननिवासो जनानां स्वजनानामस्माकं निवासत्वादाश्रयत्वादेव तथाभिधीयत इत्यर्थः; स्वजनेष्वस्मासु कृतवास-त्वादेव वा। ततश्चाधिकरणे कर्त्तरि वौणादिको वासुः, स च दीव्यति क्रीड़तीति देवश्च स इति विग्रहः; (भा० १०।८।१४) "प्रागयं वसुदेवस्य" इत्यादिका श्रीगर्गोक्तिरपि नास्माकं भातीति भावः। किमर्थमसौ देवकीजन्मवादोऽभूदित्याकाङ्क्षायामाहुः—यदुवराः परिषत् सहायरूपा यत्र तादृशं यथा स्यात्तथा, स्वैर्दोर्भिर्भुजप्रायैरर्जुनादिभिरधर्म्मं तत्प्रचुरं दुष्टकुलं अस्यन्निहन्तुम्,-

कामदेव, सर्व प्रेमानन्दोपरि विराजमान हेतु उन सबका काम ही देव—परम दिव्य रूप, उसको वर्द्धितकर जययुक्त हैं।

कह सकते हैं—श्रीकृष्ण देवकी पुत्र हैं, लोक प्रसिद्धि भी वैसी है, निज जन रूप से उनको मान लेना तुम सबके पक्ष में कैसे समीचीन होगा ? उत्तर में कहते हैं, देवकी में जन्म हुआ है, यह वाद है, अर्थात् लोकसमाज में इस प्रकार मिथ्या प्रसिद्धि प्रचलित है, तब 'वासुदेव' नाम कैसे होगा ? प्रश्नोत्तर में कहते हैं, जन—निवास हैं, स्वजन हम सब हैं, हम सबका निवास—आश्रय हेतु—उनको वासुदेव कहते हैं। अथवा हम सब स्वजन के मध्य में निवास करते हैं, तज्जन्य आप वासुदेव हैं।

अधिकरण वाच्य में अथवा कर्त्तारि वाच्य में औणादिक प्रलय वस+उन योग से वासु-पद निष्पन्न है। दिव् धातु का अर्थ—क्रीड़ा, क्रीड़ा करते हैं तज्जन्य आप देव हैं, जो वासु, वह देव हैं, यह वासुदेव। कर्मधारय समास का न्यास वाक्य है। (भा० १०।८।१४) में उक्त, 'प्रागयं बसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः' इस प्रकार गर्गोक्ति भी हमारी तान्यता प्राप्त नहीं है, कारण, श्रीकृष्ण कभी वासुदेवपुत्र हुये थे, इस प्रकार हम सब सोच नहीं सकते हैं। तब 'देवकी+नन्दन' रूप प्रवाह को आपने क्यों अङ्गीकार किया है ? उत्तर में कहते हैं, यदुश्रेष्ठगण-परिषत् अर्थात् जिसके सहायक बनेंगे, तज्जन्य ही आपने 'देवकी से उत्पन्न हुये हैं,' इस प्रवाह को अङ्गीकार किया है। व्रजवासिवृन्द की ध्रुव धारणा है कि—श्रीकृष्ण, यशोदानन्दन ही हैं, अपर किसी का नन्दन नहीं हैं। किन्तु कार्य्योद्धार हेतु यादवगण को सहायक करना आवश्यक है, वह कार्य देवकीनन्दन नाम से परिचित होने से ही होगा, कारण, लोक स्वजाति का समर्थन करते हैं। यदुश्रेष्ठगण से सहायता लेने का प्रयोजन ही क्या रहा ? निजभुज द्वारा, अर्थात् निजभुज रूप अर्जुनादि द्वारा अधर्म—अधर्म बहुल राजन्यवृन्द को विनष्ट करने के निमित्त उन सबकी सहायता की आवश्यकता रही। लक्षण एवं हेतु अर्थ में क्रिया के उत्तर शतृ प्रत्यय होता है, अतः अस्यन् क्रिया का विनाश अर्थ होता है। यहाँ 'हेतु' में शतृप्रलय हुआ है। देवकी से जन्म प्रसिद्ध होने से यादवगण एवं उनके कुटुम्बादि अर्जुनादि सहायक बनेंगे; इस प्रकार अनुसन्धान करके अपने को देवकीपुत्र नाम से प्रचार किये थे। अर्थात् उक्त प्रवाद को स्वीकार किये थे। श्रीकृष्ण ने कंस-बध के अनन्तर श्रीव्रजराज को स्वयं ही कहा था, 'सुहृद्गण को सुखी करके ज्ञाति वर्ग आप सबको देखने के निमित्त आयेंगे ? (भा० १०।४५।२३) "ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्"। श्रीनन्दप्रभृति को 'ज्ञाति' शब्द से एवं श्रीवसुदेवप्रभृति को 'सुहृद' शब्द से उल्लेख करने से स्पष्टतः बोध होता है कि—श्रीकृष्ण, गोप कुल में ही जन्म ग्रहण किये हैं। कारण, जन्म सम्पर्क में ही ज्ञाति शब्द का प्रयोग होता है।

किन्तु संशय यह है कि—उक्त 'जयति जननिवासः" श्लोक में श्रीकृष्ण का विवरण है, इस प्रकार कथन सम्भवपर नहीं है, कारण, विशेष्य पद का स्पष्टतः उल्लेख उक्त श्लोक में है ही नहीं ? समाधान हेतु

लक्षणहेत्वोः क्रियायाः शतृप्रत्ययस्मरणात्। तस्यामात्मजन्मनि ख्यापिते ते ते सहाया भविष्यन्तीत्येवमनुमन्त्रायेत्यर्थः । तथोक्तं कंसबधानन्तरं श्रीकृष्णेन श्रीव्रजेश्वरं प्रति (भा० १०।४५।२३) "ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्" इति। अत्र विशेषणेनैव श्रीकृष्णरूपं विशेष्यपदमुपस्थाप्यते, साहित्यदर्पणे (६।६) "अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनाम्" इतिवत्।। श्रीशुकः ।।

१८३ । अथ तेषां तेन परमानन्देन समयाननुसन्धानमप्युक्तम् (ब्र० सं० ५।५६)–व्रजति न हि यत्रापि समयः" इति । अतस्तेषां श्रीकृष्णागमनपरमानन्दमत्तानामद्यैवायमागत इतीव सदा हृदि वर्त्तते । स एष यद्वदप्रकटस्वारसिक्यां प्रकटलीलागतभावप्रवेशस्तथा तद्वैभवरूपासु मन्त्रोपासनामयीष्वपि स्वस्वप्राक्तनतद्भावप्रवेशो ज्ञेयः, गङ्गाया भावस्तदीयह्रदश्रेणीष्वेव ।

कहते हैं, "देवकी जनवाद" प्रभृति विशेषण के द्वारा ही विशेष्य पद श्रीकृष्ण का समाकर्षण होता है, जिस प्रकार साहित्य दर्पण—६।६ में लिखित है—"अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनाम्" 'यह पद्मिनीवृन्द का मुद्रा भञ्जनकारी उदित हुआ।' इस वाक्य में पद्म प्रस्फुटनकारी सूर्य्य का नामोल्लेख नहीं है। किन्तु पद्मिनी मुद्राभञ्जन रूप विशेषण के द्वारा विशेष्य का बोध होता है, प्रस्तुत स्थल में भी उस प्रकार जानना होगा।। प्रवक्ता श्रीशुक हैं।।१८२।।

श्रीकृष्ण का पुनर्वार व्रजागमन होने से परमानन्दाप्लुत व्रजवासियों का समयानुसन्धान भी नहीं रहता है, उसका वर्णन ब्रह्मसंहिता ५।५६ में इस प्रकार है, "निमिषार्द्धाख्यो वा व्रजति नहि यत्रापि समयः" अर्थात् "तदावेशेन ते व्रजवासिनः कालमपि न जानन्तीति भावः" । व्रज के परिकर वर्ग निजेष्ट सेवा में इस प्रकार आविष्ट रहते हैं कि समय का अनुसन्धान उन सबका नहीं रहता है। अतएव श्रीकृष्णागमन हेतु परमानन्द मत्त व्रजवासिगण के हृदय में आज ही श्रीकृष्ण का आगमन हुआ है। यह भाव सर्वदा जागरूक है। उसके प्रति लक्ष्य करके ही प्रकट लीलागत भाव विशेष का प्रवेश अप्रकट लीला में होने के कारण, प्रकट अप्रकट लीलाद्वय का ऐक्य वर्णित हुआ है।

अर्थात् अप्रकट लीला से ही प्रकट लीला का प्रकाश, एवं उसमें जब उसका अवसान है, तब प्रकट अप्रकट लीलाद्वय का ऐक्य कथन कैसे सम्भव है? स्वभावतः समागत सन्देह निरसन निबन्धन कहते हैं—प्रकट लीलागत भाव विशेष का प्रवेश, अप्रकट प्रकाश में होने के कारण - प्रकटाप्रकट लीलाद्वय का ऐक्य कथन हुआ है। अप्रकट लीला में परिकर वृन्द श्रीकृष्ण सन्निधान में निरन्तर अवस्थित होने पर भी प्रकट लीलावसान के पश्चात् वे सब मानते हैं, हमारे प्राण कोटि प्रियतम मथुरा गये थे, आज ही आप आये हैं, इस प्रकार कैसे सम्भव होगा? प्रकट प्रकाशगत परिकरवृन्द का वियोगान्त में मिलनानन्दोच्छ्वास, नित्य संयोगजन्य आनन्द को अभिभूत करके निज प्रभाव विस्तार करता है। अतिक्रान्त समयानुसन्धान उन सबका नहीं रहता। अतएव नित्य ही व्रजवासियों के मन में यह भाव है कि—आज श्रीकृष्ण आये हैं।

अप्रकट लीला में यद्यपि पहले भी अनादिकाल से "श्रीकृष्ण आज ही आये हैं" यह भाव निरन्तर विद्यमान है। तथापि उस भाव नित्य नव नवायमान कर समुद्दीप्त करने के निमित्त बारम्बार अवतीर्ण होते हैं। इस प्रकार जानना होगा।

प्रकट लीलागत भाव का प्रवेश, जिस प्रकार अप्रकट स्वारसिकी लीला में होता है, उस प्रकार स्वारसिकी लीला का वैभव रूपा मन्त्रमयी लीला में भी निज निज प्राक्तन भाव का प्रवेश होता है।

उभयत्राप्यसौ समान एव दर्शितः। पाद्मपातालखण्डे "गोगोपगोपिकासङ्गे यत्र क्रीड़ति कंसहा" इति, "गोविन्द गोपीजनवल्लभेश कंसासुरघ्न" इत्याभ्याम्। एवं यथा स्वारसिक्यामिव मन्त्रमय्यामपि नन्दनन्दनत्वमनुगच्छेदेव; श्रूयते—"सकललोकमङ्गलो नन्दगोपतनयो देवता" इत्यत्र गौतमीयतन्त्रे द्वितीयाध्याये "नन्दनन्दन इत्युक्तः" इत्यत्र च। तदेवं प्रकटलीलागत-भावविशेषस्याप्रकटलीलायां प्रवेशाद्वहिरन्तर्द्धानलीलाद्वितयस्यैक्यं वर्णितम्। तत्र यद्यपि पूर्व्वपूर्व्वमपि तादृशभावस्तेषामनादित एवानुवर्त्तते, तथापि तमेव नवनवीकृत्य समुद्दीपयितुं पुनः पुनरवतार इति ज्ञेयम्। तदेवं श्रीकृष्णस्य स्वयंभगवत्त्वं दर्शितम्। तत्रापि श्रीगोकुले तत्प्रकाशातिशयो दृश्यते। स चैश्वर्य्यगतस्तावत् सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तिब्रह्माण्ड-कोटीश्वरदर्शनादौ, कारुण्यगतश्च पूतनाया अपि साक्षान्मातृगतिदाने, माधुर्य्यगतश्च (भा० १०।८३।४३)—

"व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः।
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः॥" ५४८॥

इति श्रीपट्टमहिषीप्रार्थनादौ। अत्र स्थितेऽपि सर्व्वतोऽपि प्रेमवरीयसीनां तासां तत्पादस्पर्श-

लीलारहस्य में इस प्रकार अभिन्नता को जानना विशेष आवश्यक है। जिस प्रकार गङ्गा की सत्ता गङ्गा की ह्रदश्रेणी में अविच्छिन्न रूप में रहती है, उस प्रकार ही प्रकटलीलागत स्वारसिकी की स्थिति अविच्छिन्न रूप में अप्रकट प्रकाशगत लीला में रहती है। प्रकट एवं अप्रकट लीला में स्वरूप, रूप, स्थान, परिकर, लीला प्रभृति एक रूप ही है, भिन्न भिन्न नहीं हैं। इसका प्रतिपादन इसके पहले हुआ है।

पद्मपुराण के पाताल खण्ड में वर्णित है—"गो गोप गोपिका सङ्गे यत्र क्रीड़ति कंसहा" गो गोप गोपिका के सहित जहाँ कंस निसूदन श्रीकृष्ण निरन्तर क्रीड़ा करते रहते हैं। "गोविन्द गोपीजनवल्लभेश कंसासुरघ्न" हे गोविन्द ! हे गोपीजनवल्लभेश ! कंसासुरघ्न ! इस प्रमाण द्वय से प्रकटाप्रकटगत स्वरूपादि का ऐक्य विहित हुआ है। नन्दनन्दन एक व्यक्ति हैं, स्वारसिकी लीला में जिस प्रकार नन्दनन्दनत्व सम्बन्ध अपरिहार्य्य रूप से है, उस प्रकार ही मन्त्रमयी लीला में भी नन्दनन्दनत्व का अवस्थान होता ही है। सुनने में आता है—"सकल लोकमङ्गलो नन्दगोपतनयो देवता" गौतमीय तन्त्र के द्वितीयाध्याय में लिखित है—"नन्दनन्दन इत्युक्तः"

तज्जन्य प्रकटलीलागत भाव विशेष का प्रवेश अप्रकट लीला में होने के कारण—'वहिरन्तर्द्धानलीला' आविर्भाव एवं तिरोभाव लीलाद्वय का ऐक्य वर्णित हुआ है। उस प्रकार भाव परिकरों में अनादिकाल से विद्यमान होने पर भी उस भाव को नूतन रूप से उद्दीप्त कर आस्वादन करने के निमित्त पुनः पुनः श्रीकृष्ण आविर्भूत होते हैं। अतएव श्रीकृष्ण का स्वयं भगवत्ता प्रतिपादित हुआ। उसमें भी श्रीगोकुल में श्रीकृष्ण की भगवत्ता का असमोर्द्ध्व प्रकाश है। कारण, भगवत्ता का प्रकटन ऐश्वर्य्य एवं माधुर्य्य के द्वारा होता है, ऐश्वर्य्य का प्रकटन व्रज में—सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्ति ब्रह्माण्ड कोटीश्वर दर्शनादि में हुआ है। माधुर्य्य का प्रकटन (भा० १०।८३।४३)—

"व्रजस्त्रियो यद्वाच्छन्ति पुलिन्द्यस्तृण वीरुधः।
गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्श महात्मनः॥"

सौभाग्ये तन्माधुर्य्यप्रकाशातिशयवैशिष्ट्याभिप्रायेणैव तथोक्तिः सङ्गच्छते । तथैवोक्तम् (भा० १०।२९।४०)—"त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं, यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्"

श्रीपट्टमहिषीवृन्द की प्रार्थनादि में है—'व्रजस्त्रीगण, पुलिन्दीगण, वृन्दावन के तरलतावृन्द, किंवा गोचारण समय में गोपगण महात्मा श्रीकृष्ण के जिस पादस्पर्श की वाञ्छा करते हैं, हम सबकी वाञ्छा वह ही है।" भा० १०।८३।४३ में श्रीपट्टमहिषीवृन्द की इस प्रार्थना में निखिल भक्तगण से भी प्रेम वरीयसी श्रीमहिषीगण का श्रीकृष्ण-पादस्पर्श सौभाग्य विद्यमान होने पर भी श्रीवृन्दावनविहारी में माधुर्य्यप्रकाश का प्रचुर वैशिष्ट्य को जानकर उन्होंने उस प्रकार प्रार्थना की है। उससे ही उस प्रकार वचन सङ्गत होता है।

वृहत् क्रमसन्दर्भ

ननु कथं नोद्यते, तत्तु सुलभमेव भवतीनाम् । तत् किं कामयामह इत्युच्यते ? तत्राहुः—व्रजस्त्रिय इत्यादि । व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति, यथा व्रजस्त्रियो महात्मनोऽस्य पादस्पर्शं वाञ्छन्ति, तथा वाञ्छाम इत्यर्थः ।

ननु तासां सौभाग्यमन्यदेव, तत् कथमन्यासां भवेदित्याशङ्क्याहुः—पुलिन्द्य इत्यादि । ननु वृन्दावन सम्बन्धात्ता अपि सौभाग्यवत्य इत्याहुः—तृणवीरुधः । तृण वीरुधत् सामान्येनापि तत्रापि भूत्वा तद् वाञ्छामइत्यर्थः । महात्मनः कीदृशस्य ? गावश्चारयतः, गाः पालयतः । सर्वाः कीदृश्यः ? अगोपाः, गोपनं-गोपः, न विद्यते गोपो यासाम्, स्वप्रसिद्धा इत्यर्थः । तेनासां द्वारका विलासाद् वृन्दावन विलसितमेवातिप्रेय इतिमन्तव्यम् ।

हे साध्वि ! हम सब षोड़शसहस्र महिषी वर्ग की कामना साम्राज्य लक्ष्मीभार में नहीं है, स्वाराज्य भोज्यादि में भी नहीं है, श्रीहरिधाम प्राप्ति में भी नहीं है, किन्तु कामना है, इन महात्मा की चरणरज की, वह किस प्रकार है, जो श्रीराधिका कुचकुङ्कुम गन्धाढ्य है, किस निमित्त ? मस्तक के द्वारा वहन करने निमित्त । मस्तक में वहन क्यों नहीं करती हैं, आप सबके समीप में वह अति सुलभ है ? उसकी कामना की आवश्यकता क्या है ? उत्तर में कहती हैं, "व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृण वीरुधः । गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ।" जिस प्रकार व्रजस्त्रीगण महात्मा श्रीकृष्ण के पादस्पर्श करना चाहती हैं, उस प्रकार हम सब चाहती हैं।

उन सबका सौभाग्य पृथक् है, उस प्रकार सौभाग्य अपर के पक्ष में कैसे सम्भव होगा ? कहती हैं— पुलिन्द्य रमणी होकर भी उस वस्तु को प्राप्त करने की कामना है, वृन्दावन सम्बन्ध में पुलिन्द्य रमणीवृन्द भी सौभाग्यवती हैं ? उत्तर में कहती हैं, सामान्य तृण वीरुध, वृन्दावन में होकर उसकी प्राप्त करने की वाञ्छा है। वह महात्मा किस प्रकार है ? गोपालनकारी हैं। व्रजस्थ रमणीवृन्द कैसी हैं ? अगोपाः, गोपनं गोपः, न विद्यते गोपो यासाम्, जो सब स्वतः प्रसिद्ध हैं। अतएव महिषीवृन्द का द्वारका विलास से श्रीवृन्दावन विलास अति ममत्वास्पद है।

श्रीव्रजसुन्दरीगण की उक्ति में भी श्रीवृन्दावन विहारी का माधुर्य्य प्रकाशातिशय का वैशिष्ट्य सुव्यक्त हुआ है।

"का स्त्र्यङ्गते कलपदायत वेणुगीत
सम्मोहितार्य्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्य सौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुम मृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥" (भा० १०।२९।४०)

इत्यादिषु, अतो लीलागतश्चासौ श्लाघ्यते (भा० १०।८।४७)—"पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णो-दारार्भकेहितम्" इत्यादिषु। अतस्तदीयानामप्युत्कर्ष उक्तः (भा० १०।११।३६) "वृन्दावनं गोवर्द्धनं यमुनापुलिनानि च" इत्यादौ; ततः परिकराणान्तु सुतराम् (भा० १०।१४।३२) "अहो भाग्यमहो

हे कृष्ण ! दीर्घमूर्च्छनायुक्त कलपदमय तुम्हारे वेणु गीत से सम्मोहित होकर लोकत्रय के मध्य में कौन रमणी निज धर्म से विचलित नहीं होती हैं ? अपितु तुम्हारे त्रैलोक्य सौभग (सौभगं—सौभाग्यं—जनप्रियत्वं सौन्दर्य्यं वा) रूप को देखकर धेनु, मृग, पक्षी एवं वृक्षसमूह पुलक मण्डित हो जाते हैं। त्रैलोक्य शब्द से ऊर्द्ध्व, मध्य, अधः—लोकत्रय के मध्य में जहाँ जितना सौन्दर्य्य है, अर्थात् निखिल भगवत्स्वरूप से आरम्भकर जीवगण पर्य्यन्त जहाँ जितना सौन्दर्य्य है, श्रीवृन्दावनीय श्रीश्यामसुन्दर में उस सौन्दर्य्य का केवल समावेश ही नहीं है, अपितु पराकाष्ठा है।

बृहत् क्रमसन्दर्भ

ननु यद्येवं भवत्यः स्वभाव सिद्धाभिमानिन्यः, तदा कथं मद् वचसामभिप्रायानभिज्ञाः सत्यः किं तथ्यथ ? तत्राप्यन्यथा आहुः— का स्त्रीत्यादि। हे अङ्ग ! ते तव कलपदायत वेणु गीत सम्मोहितासती आर्य्यस्य तव चरिताद्धेतोर्न चलेन्न भ्रमेत्। एवमेव तव श्रामकं चरितम्, येन त्रिलोक्यां का स्त्री न चलेत् ? सर्वैव चलति। अत्र स्त्रीणां न दूषणम्, तवैवेत्यर्थः। न केवलं तव चरितादेव, इदं रूपं निरीक्ष्य च, यतो रूपाद् गो द्विज द्रुम—मृगा अपि पुलकान्यबिभ्रन् पुलकिनोभवन्ति।

लीलागत वैशिष्ट्य— भा० १०।८।४७ में वर्णित है—

"पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितम्"
गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकशमलापहम्॥"

टीका—"ययोः प्रसन्नोऽवतीर्णस्तौ पितरावपि यं नान्वविन्देतां न प्राप्नुताम्। कृष्णस्योदारं महदर्भकेहितं बाललीलाम् यच्च कवयो गायन्ति तद्योऽविन्दत् स किं श्रेयोऽकरोदिति॥" अर्थात्— मथुरा में श्रीवासुदेवदेवकी जिस लीलामाधुरी आस्वादन करने में असमर्थ थे। श्रीव्रजराज दम्पति उसका सम्यक् आस्वादन किये हैं। इस वाक्य में श्रीगोकुल में प्रकाशमान लीला का वैशिष्ट्य सूचित हुआ है। अतएव श्रीगोकुल में श्रीकृष्ण का प्रकाशातिशय्य हेतु श्रीगोकुलविहारी सम्बन्धीय वस्तुनिचय का उत्कर्ष भी वक्ष्यमाण श्लोक में वर्णित है— (भा० १०।११।३६)

"वृन्दावनं गोवर्द्धनं यमुनापुलिनानि च।
वीक्षासीदुत्तमाप्रीती राम माधवयोर्नृप॥

वैष्णव तोषणी

तच्च वृन्दावनं भेदत्रयात्मकमेव श्रीकृष्णस्यापि परम मनोहरमित्याह वृन्देति। वृन्दावनमिति केवलस्य सौष्ठवम्। गोवर्द्धनं तत्रत्यविशेषाणाम्, उत्तमेति वैकुण्ठाद्यपेक्षया। 'अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी' इति प्राप्त तादृश माहात्म्य मधुवन महावनाद्यपेक्षया च, अतएव माधव शब्द-प्रयोगः सर्व लोक रमण हेतोरपि रामस्येत्येव किं वक्तव्यं, तस्याप्यालम्बन रूपस्य सर्व सम्पत्ति देव्याः पत्युरपीत्यर्थः। एवमाश्चर्य्येण प्रहर्षेण चाह—हे नृपेति।"

हे नृप ! वृन्दावन, गोवर्द्धन एवं यमुनापुलिन समूह दर्शन कर राममाधव की उत्तमा प्रीति हुई थी। तदन्तर व्रज-परिकर-वृन्द का उत्कर्ष वक्ष्यमाण श्लोकसमूह में वर्णित है, (भा० १०।१४।३२)—

"अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्। यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्मसनातनम्॥"

भाग्यम्" इत्यादौ, (भा० १०।१२।११) "इत्थं सताम्" इत्यादौ, (भा० १०।४४।१४) "गोप्यस्तपः

नन्द गोप निवासियों का कैसा आश्चर्य्यजनक भाग्य है। जिनका पूर्णब्रह्म परमानन्द सनातन मित्र हैं।
(भा० १०।१२।११) "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यंगतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेन सार्द्धं विजह्रुः कृतपुण्य पुञ्जाः॥

श्रीकृष्ण, ज्ञानिगण के निकट ब्रह्मसुखानुभूत्ति रूप में, भक्तगण के निकट परम देवता रूप में एवं मायाश्रित व्यक्तिगण के निकट नर-बालक रूप में प्रतीयमान होते हैं, किन्तु गोप-बालकगण उनके सहित साक्षात् विहार करते हैं, अतएव वे सब निश्चय ही तदीय प्रसाद-हेतुस्वरूप सर्वोत्तम कार्य्यानुष्ठान किये थे।

बृहत् क्रमसन्दर्भ

"एवं भगवताऽसह क्रीड़तो व्रजबालान् प्रशंसयन्नाह—इत्थं सतामित्यादि। मायाश्रितानां मायया कैतवेनाश्रितानां निष्कैतवानां सतामुत्तमानां दास्यं गतानां भक्तानां मध्ये कृत पुण्य पुञ्जाः, कृतं कारितं पुण्यपुञ्जं यैः, अर्थविद् द्रष्टॄणां श्रोतॄणाञ्च, ते गोपबाला नरदारकेन–नरदारकाकारेण तेन कृष्णेन सममित्थं विजह्रुः। कीदृशेन? ब्रह्म सुखानु भूत्या, ब्रह्म सुखानुस्वरूपेण, अथवा, एकदेशस्त्रीत्वात् स्वमत्यै पुरुषायेतिवत् पुंलिङ्गेऽपि स्त्रीवद्रूपम्, नरदारकाकृतिना ब्रह्मानन्द ज्ञानेन—(भा० ७।१०।४८।७।१५।७५) 'गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" इत्यद्युक्तेः। पुनः कीदृशेन ? परदेवतेन—देवतानां परोपदेवताधिदेवेन, अथवा, परदैवतेन सार्द्धं विजह्रुः। ब्रह्म सुखानुभूत्येति करणे तृतीया। तत्र विहारे तेषां च आनन्द आसीत्, सैव ब्रह्म सुखानुभूतिस्तया विशेषणे वा तृतीया। कीदृशेन नरदारकेण ? 'नृ विक्षेपे' नरो विक्षेपः, तस्य दारकेण खण्डकेन। अथवा, सतां ज्ञानिनां ब्रह्मसुखानुभूत्या, तेऽपि तदतिरिक्त मन्यद् ब्रह्मेति न जानन्तीत्यर्थः। दास्यं गतानां परदैवतेन—परमेश्वरेण, पूर्ववन्मायाश्रितानां रागिणां नरदारकेण विक्षेपखण्डकेन परम निर्वृतिकारिणां नरबालक पक्षेऽनुत्कर्षादचमत्कारः॥"

भगवान् श्रीकृष्ण के सहित क्रीड़ापरायण गोपबालकों का सौभाग्य वर्णन करते हैं, कपटपूर्वकाश्रित एवं निष्कैतवाश्रत सत्‌गण के मध्य में जो सद्‌वृन्द हैं, वे सब दासभक्त होते हैं। उन सबों से भी गोपबालक गण अतिशय पुण्यात्मा हैं, उत्तम वस्तु अभिज्ञ एवं श्रवण परायणों में गोपबालकगण ही श्रेष्ठ हैं। कारण, वे सब गोपबालकगण, नरबालक रूपी श्रीकृष्ण के सहित क्रीड़ा करते रहते हैं। नरबालकाकृति ब्रह्मानन्दज्ञान के सहित ही वे सब क्रीड़ा करते हैं। श्रीकृष्ण को निगूढ़ नराकृति परब्रह्म कहा गया है। वह किस प्रकार है। समस्त देवताओं के अधिदेव हैं, उनके सहित खेलते हैं। अथवा, परदैवत के सहित ही क्रीड़ा करते हैं। 'ब्रह्मसुखानुभूत्वा'—कारण में तृतीया विभक्ति है। श्रीकृष्ण के सहित क्रीड़ा में जो आनन्द है, गोपबालकों का वह ही ब्रह्मानन्द है। अथवा विशेषण में तृतीया है। किस प्रकार नरबालक के सहित खेलते हैं ? नृ विक्षेपार्थक है, विक्षेप विनाशक के सहित खेलते हैं। किंवा, ज्ञानिगण ब्रह्मासुखानुभूति व्यतीत अपर को ब्रह्म नहीं मानते हैं। दास्यभावाक्रान्त व्यक्तिगण—परमेश्वर को मानते हैं। मायाश्रित अर्थात् कपटपरायण नश्वर वस्तु में तृष्णातुर व्यक्तिगण नश्वर नरबालक से परमानन्दित होते हैं, उन सबके समक्ष में नराकृति परब्रह्म सुखद नहीं है, रक्षा वह भी नहीं हैं, इन नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण के सहित गोप-बालकगण खेलते हैं। भा० १०।४४।१४ में उक्त है—"गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्यरूपं।
लावण्यसार मसमोदूर्ध्व मनन्य सिद्धम्।
दृग्भिः पिवन्त्यनुसवाभिनवं दुराप
मेकान्त धाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥"

किमचरन्" इत्यादौ, (भा० १०।८।४६) "नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन्" इत्यादौ, (भा० १०।३३।६) तत्रातिशुशुभे ताभिः" इत्यादौ तासु प्रकाशातिशयसीमा दर्शिता। ततः सर्व्वास्वपि तासु

टीका—अहो कष्टम्, अल्पपुण्या वयं यतोऽस्माभिरनवसरे दृष्टोऽयम्। गोप्यस्तु बहुपुण्या इत्याहुस्त्रिभिः गोप्य इति। अमुष्य श्रीकृष्णस्य रूपमङ्गं लावण्येन सारं श्रेष्ठम्। किञ्च असमोर्द्ध्वं न विद्यते सममूर्द्ध्व मधिकञ्च यस्य तत्। तदपि नान्येनाभरणादिना सिद्धं किन्तु स्मृत एव। ऐश्वरस्य—ऐश्वर्य्यस्य च एकान्त धाम, अव्यभिचारि स्थानम्। ईश्वरस्येति पठे अमुष्य ईश्वरस्येत्यन्वयः। एवम्भूतं नित्यं नवीनं रूपं या नेत्रैः पश्यन्तीति।

गोपिकाओं ने कौनसी तपस्या की, जिससे नवनवायमान असमोर्द्ध्व स्वतःसिद्ध लावण्य समूह का एक मात्र आश्रय श्रीकृष्ण के अङ्ग को निज नयनों से वे सब देखती रहती हैं। भा० १०।८।४६ में उक्त है—

"नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम्। यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः॥"

टीका—"अति विस्मयेन पृच्छति नन्द इति। महोदयं महानुदयोद्भवो यस्य तत्।" श्रीपरीक्षित् महाराज ने अति विस्मय से पूछा—हे ब्रह्मन्! नन्द ने किस प्रकार सौभाग्यवर्द्धक कार्य्य किया, यशोदा ने भी महाभाग्योचितकार्य्य क्या किया, जिसका स्तन-पान हरि ने किया!

भा० १०।४७।५८ में उक्त है—

"एताः परं तनुभृतो भुवि गोपबध्वो
गोविन्द एवमखिलात्मनि रूढ़ भावाः।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च
किं ब्रह्म जन्मभिरनन्त कथा रसस्य॥"

टीका—"एताः इति। एताः परं केवलम्, तनुभृतः सफल जन्मानः। रूढ़ भावाः परमप्रेमवत्यः। यदित्यव्ययम्। यं रूढ़ं भावं भवभियो मुमुक्षवो मुनयो मुक्ता अपि वाञ्छन्ति, वयञ्च भक्ताअपि अतोऽनन्तस्य कथासु रसो रागो यस्य तस्य ब्रह्म जन्मभिर्विप्रसम्बन्धिभिः शौक्र सावित्रयाज्ञिकैस्त्रिभिर्जन्मभिः किं कोऽतिशयः। यत्र तत्र जातः, स एव सर्वोत्तम इत्यर्थः। यद्वा अनन्त कथासुरसोयस्य तस्य ब्रह्मजन्मभिश्चतुर्मुखजन्मभिरपि किमित्यर्थः॥"

पृथिवी में केवल व्रजवासिनी श्रीकृष्णप्रेयसी गोपीगण का देहधारण सफल है। कारण निरुपाधि प्रेमास्पद सर्वावतारी श्रीकृष्ण में आप सब अनिर्वचनीय अद्भुत रूढ़ाख्य महाभावशालिनी हैं। संसार भीरु मुनि, मुक्त एवं श्रीकृष्ण के नित्यसहचर हम सब जिस सर्वोत्तम भाव का अभिलाषी हैं, किन्तु प्राप्त करने में अक्षम हैं। उस महाभाव सम्पत्ति का एक मात्र अधिकारिणी व्रजबधूगण हैं। जिसकी रुचि अपरिसीम माधुर्य्ययुक्त श्रीहरिकथा में नहीं है, उसका ब्रह्मजन्म, अर्थात् ब्राह्मण सम्बन्धीय शौक्र, साविव्य एवं याज्ञिक जन्म से क्या लाभ है? अथवा, जिसकी श्रीकृष्ण-कथा में रुचि नहीं है, उसका चतुर्म्मुख ब्रह्म जन्म से क्या प्रयोजन है? इस प्रकार अनेक श्लोकों के द्वारा श्रीउद्धव ने व्रजबधूगण की सर्वाधिक महिमाख्यापन किया है। उसमें भी भा० १०।३।२२ में वर्णित है—

"तत्राति शुशुभे ताभिर्भगवान् देवकी सुतः।
मध्ये मणीनां हैमानां महामारकतोयथा।"

स्वर्णमणि समूह के मध्य में नीलमणि जिस प्रकार शोभित होती है। रासमण्डल में गोपिकागण कर्तृक आलिङ्गित भगवान् देवकीसुत भी उस प्रकार अतिशय शोभित हुये थे।

(भा० १०।३०।२८) "अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः" इत्यादिभिः प्रेमवरीयस्त्वेन प्रसिद्धायां श्रीराधिकायान्तु किमुतेति ज्ञेयम् । अत्र चेदं तत्त्वम्—द्वितीये सन्दर्भे खलु परमत्वेन श्रीभगवन्तं निरूप्य तस्य शक्तिद्वयी निरूपिता । तत्र प्रथमा श्रीवैष्णवानां श्रीभगवद्वदुपास्या तदीयस्वरूपभूता, यन्मय्येव खलु तस्य सा भगवत्ता । अथ द्वितीया च तेषां जगद्वदुपेक्षणीया मायालक्षणा, यन्मय्येव खलु तस्य जगत्ता । तत्र पूर्व्वस्यां शक्तौ शक्तिमति भगवच्छब्दव-ल्लक्ष्मीशब्दः प्रयुज्यत इति द्वितीय एव दर्शितम् । ततोऽस्मिन् सन्दर्भे तु श्रीभगवान् श्रीकृष्णाख्य एवेति निर्द्धारिते तदीया स्वरूपशक्तिस्तु किमाख्येति निर्द्धार्य्यम् । तत्र द्वयोरपि पुर्य्योः श्रीमहिष्याख्या ज्ञेया । मथुरायामप्रकटलीलायां श्रुतौ रुक्मिण्याः प्रसिद्धेरन्यासामुपलक्षणात् । श्रीमहिषीणां तदीयस्वरूपशक्तित्वं स्कान्द-प्रभासखण्डे श्रीशिवगौरी-संवादे गोप्यादित्य-माहात्म्ये दृष्टम् (११८।४-५, १०-१६)—

इस श्लोक में गोपीगण के मध्य में श्रीकृष्ण का प्रकाशातिशय की सीमा का प्रदर्शन "अतिशुशुभे" पद से हुआ है । उसके मध्य में अर्थात् समस्त गोपीगणों के मध्य में भा० १०।३०।२८ में वर्णित है—

अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो या मनयद्रहः ।।

श्रीरास रजनी में श्रीकृष्णान्वेषणरता गोपीगण कही थीं—"यह रमणी निश्चय ही भगवान् हरि ईश्वर की आराधना की है । कारण, गोविन्द, हम सबको छोड़कर प्रीति के सहित उसको निर्जन में ले गये हैं ।" इत्यादि वर्णन के द्वारा प्रेमोत्कर्षवती रूप में जिनकी प्रसिद्धि है, उन श्रीराधिका में ही श्रीकृष्ण का प्रकातिशय की चरमसीमा विन्यस्त है, उसका बोध सहजतया होता है ।

श्रीकृष्ण-प्रेयसी-वृन्द का स्वरूप—

भगवत् सन्दर्भ नामक द्वितीय सन्दर्भ में श्रीभगवान् का परम तत्त्व रूप से निरूपण करके उनकी शक्तिद्वय का निरूपण किया गया है । तन्मध्ये अन्तरङ्गानामिका प्रथमाशक्ति, श्रीवैष्णववृन्द की श्रीभगवान् के समान ही उपास्या है, एवं वह शक्ति श्रीभगवान् की स्वरूपभूता है । श्रीभगवान् की भगवत्ता भी स्वरूप शक्तिमयी है । वहिरङ्गा नामिका द्वितीया शक्ति, श्रीवैष्णवगण के निकट जगत् के समान उपेक्षणीया है । यह शक्ति माया लक्षणा है । श्रीभगवान् की जगत्ता अर्थात् जगद्रूप में परिणति माया शक्तिमयी है ।

एतदुभय के मध्य में शक्तिमान् में जिस प्रकार भगवच्छब्द का प्रयोग होता है पूर्वोक्त स्वरूपभूता शक्ति में भी उस प्रकार लक्ष्मी शब्द प्रयुक्त होता है । इसका भी विशेष विश्लेषण भगवत् सन्दर्भ नामक द्वितीय सन्दर्भ में हुआ है । श्रीकृष्ण सन्दर्भ नामक प्रस्तुत सन्दर्भ में उक्त श्रीभगवान् श्रीकृष्ण नाम से निर्द्धारित हुये हैं । सुतरां उनकी स्वरूपशक्ति किस नाम से अभिहिता है, उसका निर्द्धारण करना आवश्यक है । श्रीमथुरा एवं द्वारका में उक्त शक्ति की महिषी आख्या है । प्रकट-लीला में मथुरा में श्रीमहिषीवृन्द की अवस्थिति का उल्लेख न होने पर भी अप्रकट-लीला में तापनीश्रुति में श्रीरुक्मिणी की स्थिति सुप्रसिद्ध है । यह उपलक्षण है, इससे अन्यान्य महिषी वर्ग की उपस्थिति भी स्वीकार्य्य है ।

श्रीमहिषीवृन्द तदीय स्वरूपशक्ति हैं, इसका प्रमाण, स्कान्द प्रभासखण्डस्थ श्रीशिव-गौरी-संवाद के गोप्यादित्य माहात्म्य में देखने में आता है । (११८।४-५, १०-१६)

"पुरा कृष्णा महातेजा यदा प्रभासमागतः। सहितो यादवैः सर्व्वैः षट्पञ्चाशत्प्रकोटिभिः ॥५४९॥
षोड़शैव सहस्राणि गोप्यस्तत्र समागताः। लक्षमेकं तथा षष्टिरेते कृष्णसुताः प्रिये ॥" ५५०॥

इत्युपक्रम्य—

"ततो गोप्यो महादेवि विद्या याः षोड़श स्मृताः। तासां नामानि ते वक्ष्ये तानि ह्येकमनाः शृणु ॥५५१॥
लम्बिनी चन्द्रिका कान्ता क्रूरा शान्ता महोदया। भीषणी नन्दिनी शोका सुपूर्व्व-विमला क्षया ॥५५२॥
शुभदा शोभना पुण्या हंसस्यैताः कलाः क्रमात्। हंस एव मतः कृष्णः परमात्मा जनार्द्दनः ॥५५३॥
तस्यैताः शक्तयो देवि षोड़शैव प्रकीर्त्तिताः। चन्द्ररूपी मतः कृष्णः कलारूपास्तु ताः स्मृताः ॥५५४॥
सम्पूर्णमण्डला तासां मालिनी षोड़शी कला। प्रतिपत्तिथिमारभ्य सञ्चरत्यासु चन्द्रमाः ॥५५५॥
षोड़शैव कला यास्तु गोपीरूपा वरानने। एकैकशस्ताः संभिन्नाः सहस्रेण पृथक्पृथक् ॥५५६॥
एवं ते कथितं देवि रहस्यं ज्ञानसम्भवम्। य एवं वेद पुरुषः स ज्ञेयो वैष्णवो बुधः ॥"५५७॥ इति।

अत्र गोप्यो राज्ञ्य इत्यर्थः,—"गोपो भूपेऽपि" इति नामलिङ्गानुशासनात्। लम्बिनी—अवतारशक्तिः; सुपूर्व्वविमला सुविमला; हंसस्येत्यत्र प्राप्तस्य हंस-शब्दस्य वाच्यमाह—हंस एवेति। स च चन्द्ररूपी चन्द्रदृष्टान्तेनोद्देश्य इत्यर्थः। कलारूपा इति ताश्च शक्तयश्चन्द्रस्यामृतेत्यादिकलादृष्टान्तेनोद्देश्या इत्यर्थः। अनुक्तामन्तिमां महाशक्तिमाह—सम्पूर्णेति। सेयन्तु कलासमष्टिरूपा ज्ञेया। दृष्टान्तोपपादनाय चन्द्रस्य तादृशत्वमाह—प्रतिपदिति। आसु

"पूर्व समय में महातेजा श्रीकृष्ण का जब प्रभास आगमन हुआ था, तब उनके सहित छापान्न कोटि यादव एवं षोड़श सहस्र गोपिकाओं का भी आगमन हुआ था। हे प्रिये! एक लक्ष षाट हजार श्रीकृष्ण-पुत्र भी आये थे।" (५४९-५५०)

इस प्रकार उपक्रम कर कहते हैं—"अनन्तर हे महादेवि! विद्या रूपिणी षोड़श गोपिका हैं। उनका नाम मैं कहता हूँ, एकाग्र चित्त से सुनो। (५५१)

लम्बिनी १, चन्द्रिका २, कान्ता ३, क्रूरा ४, शान्ता ५, महोदया ६, भीषणी ७, नन्दिनी ८, शोका ९, सुविमला १०, क्षया ११, शुभदा १२, शोभना १३, पुण्या १४, हंसशीता १५, हंसा १६, परमात्मा हंसस्वरूप श्रीजनार्दन हैं। (५५२-५५३)

हे देवि! उनकी षोड़श शक्ति हैं। श्रीकृष्ण, चन्द्र सदृश हैं, शक्तिसमूह—कलास्वरूपिणी हैं। (५५४) उनके मध्य में सम्पूर्ण मण्डला मालिनी १६ कला हैं। प्रतिपद निशि से आरम्भ कर चन्द्रमा समस्त कला में विचरण करते हैं। (५५५) हे वरानने! गोपीरूपा षोड़श कला की कथा कही गई है, उनके प्रत्येक में पृथक् सहस्र संख्यक भेद हैं। (५५६) हे देवि! मैंने ज्ञानसम्भव रहस्य का वर्णन किया है। जो पुरुष इसको जानता है, पण्डितगण उसको वैष्णव कहते हैं। (५५७)

यहाँ गोपी शब्द का अर्थ राज्ञी है। नामलिङ्गानुशासन में गोप शब्द का 'भूप' अर्थ दृष्ट होता है। उक्त गोप शब्द का लक्ष्मी लिङ्ग में गोपी शब्द होता है। लम्बिनी—अवतार शक्ति है। हंसशीता—यहाँ समागत हंस शब्द का अर्थ करते हैं, "हंसएव जनार्दनः" इत्यादि। अथात् हंसः—श्रीकृष्ण हैं, उनकी शीता, शीतलकारिणी–आनन्ददायिनी हंसशीता है। श्रीकृष्ण, चन्द्र रूप हैं। चन्द्र दृष्टान्त के द्वारा उनको परिचित कराया जाता है। शक्ति समूह, कला रूपा है। अर्थात् चन्द्र की अमृता प्रभृति कला दृष्टान्त से उन सबको परिचित कराया जाता है। दृष्टान्त प्रतिपादन निमित्त श्रीकृष्ण साहश्य का कथन 'प्रतिपद' इत्यादि श्लोकार्द्ध में हुआ है। अर्थात् चन्द्र जिस प्रकार प्रतिपदादि षोड़श तिथि का भोग करते हैं, श्रीकृष्णचन्द्र भी उस

एतत्तुल्यासु कलासु। विवक्षितमाह—षोड़शैवेति, षोड़शानामेव विद्यारूपत्वादेतदुपदेशस्य ज्ञानसम्भवरहस्यत्वात्, तज्ज्ञानस्य वैष्णवतानुमापकलिङ्गत्वाच्च, क्रूराभीषणीशोकानामपि भगवत्स्वरूपभूतानामेव सतीनाम्, (भा० १०।४३।१७) "मल्लानामशनिः" इतिवत् श्रीकृष्णस्य कठिनत्वप्रत्यायकत्वात्; (भा० १०।४३।१७) "मृत्युर्भोजपतेः" इतिवद्दुर्जनवित्रासकत्वात्; "असतां शास्ता" इतिवत्तदीयशोकहेतुत्वादेव च तत्तन्निरुक्तिरुपपद्यते। यथा प्रकाशैकरूपाया एव सूर्य्यकान्तेरुलूकेषु तमआदिव्यञ्जकतेति। अतः "चन्द्ररूपी मतः कृष्णः कलारूपास्तु ताः स्मृताः" इति स्फुटमेव स्वरूपभूतत्वं दर्शितम्। तदेवं तासां स्वरूपशक्तिभूतत्वे लक्ष्मीत्वं सिध्यत्येव। तदेवमभिप्रेत्य लक्ष्मीत्वमाह (भा० १०।५९।४३)—

प्रकार उक्त षोड़श शक्ति के सहित विहार करते हैं। 'सञ्चरत्यासु' यहाँ के 'आसु' पद से षोड़श शक्ति के तुल्य षोड़श चन्द्र-कला का बोध होता है। अनन्तर षोड़शैव कला इत्यादि श्लोक के द्वारा शक्ति-समूह की कन्या वर्णित है। यह षोड़श शक्ति, विद्या रूपा है। यह षोड़श विद्यारूप है, यह उपदेश—ज्ञान सम्भव रहस्य में है। यह शक्ति तत्त्वज्ञान, वैष्णवता का अनुमापक 'लक्षण' है। जो इसको जानता है, पण्डितगण उसको वैष्णव संज्ञा प्रदान करते हैं।

श्रीकृष्ण में स्वरूप शक्ति रूपा 'क्रूरा, भीषणी, शोका' नामधारिणी की सार्थकता किस प्रकार होती है, उसका वर्णन करते हैं।

भा० १०।४३।१७ में उक्त है—

"मल्लानामशनि र्नृणां नर वरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्बिराड़विदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां पर देवतेति विदितो रङ्गंगतः साग्रजः॥"

टीका—"तत्र श्रृङ्गारादि सर्व रस कदम्बमूर्त्तिर्भगवान् तत्तदभिप्रायानुसारेण बभौ न साकल्येन सर्वेषामित्याह मल्लानामिति। मल्लादीनामज्ञानां द्रष्टॄणाम् अशन्यादिरूपेण दशधा विदितः सन् साग्रजो रङ्गं गत इत्यन्वयः। मल्लादिष्वभिव्यक्ता रसाः क्रमेण—श्लोकेन निबध्यन्ते। रौद्रोऽद्भुतश्च श्रृङ्गारोहास्यं वीरोदया तथा। भयानकश्च बीभत्सः शान्तः सप्रेमभक्तिकः॥ अविदुषां विराट् विकलः अपर्य्याप्तो राजत इति तथा। अनेन बीभत्स रस उक्तः, विकलत्वश्च क्व वज्रसारसर्वाङ्गाविरयादिना वक्ष्यते।"

मल्लगण के समक्ष में 'वज्र' इस वाक्य में श्रीकृष्ण का काठिन्य, "भोजपति का मृत्युस्वरूप" इस वाक्य में तदीय दुर्ज्जन वित्रासकत्व एवं "असद्गण का शासनकर्त्ता" इस वाक्य से श्रीकृष्ण का शोक हेतुत्व व्यक्ति विशेष के पक्ष में जिस प्रकार प्रतिपन्न होता है, उस प्रकार स्वरूपशक्तिगण की क्रूरा इत्यादि नाम भी उत्पन्न होती है।

आनन्द रूप शक्ति विशेष भी स्वरूपशक्ति अधिकारी विशेष में क्रूरा इत्यादि रूप में प्रतीत होता है, वह आश्चर्य्यजनक नहीं है। अन्यत्र भी उस प्रकार दृष्टान्त है। जो सूर्य्यरश्मि, यावतीय वस्तु का प्रकाशक है, वह उलूक के निकट अन्धकारादि का प्रकाशक है। अतएव श्रीकृष्ण को चन्द्ररूपी, एवं लम्बिनी प्रभृति शक्तिसमूह को कला रूप में वर्णित करने से स्पष्टतः ही उन सबका स्वरूप शक्तित्व सिद्ध हुआ है। इस अभिप्राय से ही वे सब लक्ष्मी नाम से अभिहित हैं। उसको लक्ष्य करके ही श्रीमद्भागवत १०।५९।४३

(१८३) "गृहेषु तासामनपाय्यतर्कक्,-न्निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः ।
रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतो, यथेतरो गार्हकमेधिकांश्चरन् ॥"५५८॥

टीका च—"रमाभिर्लक्ष्म्या अंशभूताभिः" इत्येषा। स्वरूपशक्तित्वादेव रेम इत्युक्तम्। अतएव निजः स्वीयः परमानन्दशक्तिवृत्तिविशेषोदयरूपप्रेमविशेषस्वरूपो यः कामस्तेन संप्लुतो व्याप्त इति ॥ श्रीशुकः ॥

१८४। इत्थमष्टानां श्रीपट्टमहिषीणान्तु तत्तत्स्वरूपशक्तित्वं कैमुत्येनैव सिध्यति। तत्र श्रीसत्यभामाया भूशक्तिरूपत्वं पाद्मोत्तरखण्डादौ प्रसिद्धम्; श्रीयमुनायाः कृपाशक्तिरूपत्वं स्कान्द यमुनामाहात्म्यादावित्याद्यन्वेषणीयम्। किन्तु श्रीसत्यभामाया हरिवंशादौ सौभाग्यातिशयस्य विख्यातत्वात् प्रेमशक्तिप्रचुरभूशक्तित्वं ज्ञेयम्। स्वयं लक्ष्मीस्तु श्रीरुक्मिणी; (भा० १०।५४।६०)—

"द्वारकायामभूद्राजन् महामोदः पुरौकसाम्।
रुक्मिण्या रमयोपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिम् ॥"५५९॥

में कहा गया है— "गृहेषु तासांमनपाय्यतर्कक्रुन्निरस्तस म्यातिशयेष्ववस्थितः।
रेमे रमाभिर्निजकामसंप्लुतो तथेतरो गार्हमेधिकांश्चरन् ॥"

स्वामी टीका—रमा—लक्ष्मी की अंशभूता। वे सब महिषीवर्ग स्वरूप शक्तिरूपा होने से उन सबके सहित श्रीकृष्ण रमण करते हैं। अतएव श्रीकृष्ण निज स्वीय परमानन्द शक्ति वृत्ति ह्लादिनीसारविशेषोदय रूप प्रेमविशेष स्वरूप जो काम है, तद्द्वारा संप्लुत व्याप्त है। अर्थात् यह काम प्राकृत मनसिज नहीं है। वह अन्नविकार स्वरूप है। किन्तु स्वरूप शक्तिरूप जो निज जन हैं, उन सबमें जो प्रेमविशेष—निविड़—ममत्व—वह ही है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥१८३॥

षोड़शसहस्र संख्यक द्वारका महिषीगण जब श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति रूप में सुनिश्चित हैं, तब अष्ट पट्ट महिषी का स्वरूप शक्तित्व है ही यह कैमुत्य से सिद्ध होता है। इस विषय में पृथक् विचार करना अनावश्यक है। तन्मध्य में श्रीसत्यभामा का भू शक्ति रूपत्व पाद्मोत्तर खण्डादि में सुप्रसिद्ध वर्णन है।

श्रीयमुना का कृपाशक्ति रूपत्व—स्कन्दपुराणस्थ यमुना माहात्म्य प्रभृति में अन्वेषणीय है। किन्तु श्रीहरिवंश प्रभृति में श्रीसत्यभामा का सौभाग्यातिशय की कथा सुप्रसिद्ध है।

"कुटुम्बेश्वरी सासीद्रुक्मिणी भीष्मकात्मजा।
सत्यभामोत्तमा स्त्रीणां सौभाग्ये चाधिकाभवत् ॥"

भीष्मकात्मजा रुक्मिणी कुटुम्बादि की अधिश्वरी थी एवं सत्यभामा महिषीगण के मध्य में अतिशय सौभाग्यवती थी, अर्थात् श्रीकृष्ण की अतीव प्रेमपात्री रही। कारण, स्वामी का प्रीति लाभ ही स्त्रीजन का सौभाग्य का परिचायक है। तज्जन्य सत्यभामा को प्रेमशक्ति प्रचुर भू शक्ति स्वरूपिणी जानना होगा। श्रीरुक्मिणी देवी किन्तु स्वयं लक्ष्मी हैं। भा० १०।५४।६० में उक्त है—

"द्वारकायामभूद्राजन् महामोदः पुरौकसाम्।
रुक्मिण्या रमयोपेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिम् ॥"

"हे राजन्! द्वारका में लक्ष्मी रुक्मिणी के सहित मिलित श्रीकृष्ण को देखकर पुरवासिगण परम-

इत्यादिषु तस्यामेव भूरिशः प्रसिद्धेः। अतः स्वयं लक्ष्मीत्वेनैव परस्परयोग्यतामाह (भा० १०।५३।३७)

(१८४) "अस्यैव भार्य्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा।

असावप्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः ॥"५६०॥

स्पष्टम् ॥ विदर्भपुरवासिनः परस्परम् ॥

१८५। तथा (भा० १०।६०।१९) —

(१८५) "तां रूपिणीं श्रियम्" इत्यादौ, "या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा" इति।

स्पष्टम्। अतः स्वयं-भगवतोऽनुरूपत्वेन स्वयं-लक्ष्मीत्वं सिद्धमेव। अतएव (भा० १०।५२।१६) "वैदर्भीं भीष्मकसुतां श्रियो मात्रां स्वयम्वरे" इत्यत्र माति अन्तर्भवत्यस्यामिति मात्रापदं

आनन्दित हुये थे।" भा० १०।५४।६० श्लोक में रुक्मिणी में लक्ष्मी शब्द का भूरि प्रयोग है। अतः स्वयं लक्ष्मीत्व हेतु विदर्भ पुरवासिगण पारस्परिक योग्यता का वर्णन किये हैं। (भा० १०।५३।३७)—

"अस्यैव भार्य्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा।
असावप्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः ॥"

"रुक्मिणी श्रीकृष्ण की भार्य्या होने की योग्या है, अपर कोई रमणी नहीं। अनिन्द्यस्वरूप श्रीकृष्ण ही रुक्मिणी का समुचित पति हैं।"

विदर्भ पुरवासियों का परस्पर कथन सुस्पष्ट है ॥१८४॥

उस प्रकार भा० १०।६०।१९ में उक्त है—

"तां रूपिणीं श्रियमनन्यगतिं निरीक्ष्य,
या लीलयाधृत तनोरनुरूप—रूपा।
प्रीतः स्मयन्नलक कुन्तल—निष्क कण्ठ
वक्त्रोल्लसत् स्मितसुधां हरिराबभाषे ॥"

जो लीलागृहीत विग्रह श्रीकृष्ण की अनुरूप रूपधारिणी लक्ष्मी हैं, उन रुक्मिणी को अलका के सहित कुन्तल एवं कण्ठहार की शोभा से उल्लसित वदना, सुधामय हास्यविशिष्टा एवं अनन्य गति को देखकर श्रीकृष्ण अतिशय प्रीति से हँस-हँसकर कहते थे।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के अनुरूप रूपत्व हेतु श्रीरुक्मिणी देवी का स्वयं लक्ष्मीत्व के विषय में कोई संशय नहीं है। अतएव भा० १०।५२।१६ में उक्त है—

"भगवानपि गोविन्द उपयेमे कुरुद्वह।
वैदर्भीं भीष्मकसुतां श्रियो मात्रां स्वयम्बरे ॥"

हे कुरुश्रेष्ठ! भगवान् गोविन्द भी श्री मात्रा भीष्मक राजतनया रुक्मिणी को स्वयम्बर में विवाह किये थे। श्लोकोक्त 'मात्रा' पद—उणादि प्रत्ययनिष्पन्न है, 'हु-या-मा-श्रु-भसिभ्यस्त्रन्।" हु, या, मा, श्रु, भस् धातु के उत्तर में 'त्रन्' होता है। यथा—होत्रम्। यात्रा, मात्रा, श्रोत्रम्, भस्त्रा।

"क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिद प्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधे र्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥"

व्याकरण शास्त्रोक्त पारिभाषिक शब्द बाहुल्य है। उक्त चार प्रकार से नियम व्यवस्थापित होने से वैयाकरणिकगण बाहुल्य प्रयोग कहते हैं। कहीं पर होना, कहीं न होना, कहीं निषेध होना, कहीं अन्यविध

बाहुल्यादधिकरण एवौणादिकं ज्ञेयम्, कार्त्स्न्येऽवधारणे मात्रमितिवत् । ततश्च वैकुण्ठे प्रसिद्धाया लक्ष्म्या अन्तर्भावास्पदत्वाद्देषैव लक्ष्मीः सर्व्वतः पूर्णेत्यर्थः यत्तु (भा० १०।६०।३४)—

"नन्वेवमेतदरविन्दविलोचनाह, यद्वै भवान् भगवतोऽसदृशी विभूम्नः ।

क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः, क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादा ।।" ५६१।।

इति तस्या एवोक्तिस्तत्र निजांशाभासमेव दैन्येन स्वं मत्वोक्तमिति मन्तव्यम् । यद्वा, गुणा गौणी प्रकृतिः स्वभावो यस्याः सा अपकृष्टरूपेत्यर्थः । यथा तत्रैव (भा० १०।६०।४३) "स्यान्मे तवाङ्घ्रिररणं सृतिभिर्भ्रमन्त्याः" इति मनुष्यावतारताभिनिवेशात्तस्या एव दैन्योक्तिः । अत्र दैवप्रेरितो वास्तवार्थस्त्वेवम्,-हे अरविन्दविलोचन भगवतस्तवासदृश्यहमित्येतत् । यद्वै भवानाह

होना को बाहुल्य कहते हैं । उक्त स्थल में अधिकरण वाच्य में त्रन् होने की योग्यता नहीं है, तथापि बाहुल्य हेतु अधिकरण वाच्य में त्रन् प्रत्यय हुआ है । श्रियो मात्रा का अर्थ है—श्री की मात्रा, श्री शक्ति की आश्रय स्वरूपा । अर्थात् लक्ष्मी वर्ग उनमें अन्तर्भुक्त हैं । कात्स्न्र्य एवं अवधारण के समान ही मात्र पद द्वारा अर्थ निष्पत्ति होगी । सुतरां वैकुण्ठनाथ की प्रेयसीरूपा प्रसिद्धा लक्ष्मी का अन्तर्भ वास्पद अर्थात् अंशिनी होने के कारण यह लक्ष्मी रुक्मिणी ही सर्वतोभावेन परिपूर्णा हैं ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—श्रीरुक्मिणी देवी यदि स्वयं लक्ष्मी होती हैं, तब भा० १०।६०।३४ में उक्त—

"नन्वेवमेतदरविन्दविलोचनाह, यद्वै भवान् भगवतोऽसदृशी विभूम्नः ।
क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः, क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञ गृहीतपादा ।।"

"हे कमलनयन ! आपने कहा है, मैं विभु भगवान् आपकी असदृशी हूँ, वह सत्य है, कारण, स्वीय-महिमा में अभिरतत्त्र्यधीश भगवान् आप कहाँ ? और अज्ञगण कर्तृक गृहीत पादा, मैं कहाँ ?" उनकी इस उक्ति से अंशत्व की प्रतीति होती है, उसका समाधान क्या होगा ? अर्थात् स्वयं लक्ष्मी की अंशाभासरूपा जो गुणमयी प्रकृति है, इस उक्ति से रुक्मिणी की गुणमयी प्रकृति प्रतीति होती है, इस विरोध का समाधान क्या होगा ?

उत्तर—रुक्मिणी दैन्य के कारण उस प्रकार कही थी, यह जानना होगा । अथवा, गुणा—गौणी प्रकृति स्वभाव है जिसका वह गुण प्रकृति है, अर्थात् अपकृष्ट रूपा है । मनुष्यावतार में अभिनिवेश हेतु श्रीरुक्मिणी देवी ने अपने को अपकृष्ट रूपा मानी थी, उसका विवरण रुक्मिणी परिहास प्रकरण में है ।

"तं त्वानुरूपमभजं जगतामधीशमात्मानमत्र च परत्र च कामपूरम् ।।
स्यान्मे तवाङ्घ्रिररणं सृतिभिर्भ्रमन्त्या यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्गः ।।"

अतएव जगत् का अधीश्वर ऐहिकपारत्रिक अभीष्ट पूरक, भजन योग्य आत्मा स्वरूप आपका भजन मैंने किया । जो जन आपका भजन करता है, आप उसका संसार ताप विदूरित करके उसको आत्मसात् करते हैं । संसारत्म में भ्रमणशीला मैं हूँ आपका चरणाश्रय की प्राप्ति मेरी हो, अर्थात् जन्मजन्मान्तर में भी जैसे आपकी चरण सेवा कर सकूँ ।" इस श्लोक में रुक्मिणी नित्य प्रेयसी सच्चिदानन्द विग्रह स्वरूपा होकर भी जन्म-जन्म में श्रीकृष्ण-सेवा प्रार्थना करती है, संसार भ्रमण की कथा कहती है, वह भी उक्त मनुष्यावतारवेश निबन्धन उनकी दैन्योक्ति है ।

यहाँ दैव प्रेरित वास्तवार्थ इस प्रकार है—"हे अरविन्द लोचन ! मैं, भगवान् आपकी असदृशी हूँ"

ननु निश्चितम्, नन्वेवं वक्ष्यमाणप्रकारकम्, न त्वन्यप्रकारकम्। तथैवाह—स्वे स्वरूपभूते महिम्नि ऐश्वर्य्यादावभितो रतो भगवान् क्व कुत्रान्यत्र। तथाहं वा ते गुणा ऐश्वर्य्यादय एव प्रकृतिः स्वरूपं यस्यास्तथाभूता क्व कुत्रान्यत्र। किन्तु न कुत्रचिदन्यत्रेति द्वयोरेकत्रैव स्वरूपे स्थितिरित्यर्थः। अतएव न विद्यते ज्ञो विज्ञो येभ्यस्तैर्गृहीतौ सेवितौ पादौ यस्यास्तथाभूताहम्। तस्माच्छक्ति-शक्तिमतोरत्यन्तभेदाभावादेवोपमानोपमेयत्वाभावेन साद्दश्या भाव इति भावः। एवं सृतिभिर्भ्रमन्त्या इत्यत्रापि हि त्वदीयपदवीभिरित्येव वास्तवोऽर्थः। तदुक्तम् (वि० पु० १।९।१४३)—"देवत्वे देवरूपा सा मानुषत्वे च मानुषी" इति; एवमेव (भा० १०।६०।४६)—

"अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग, आत्मन् रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः।
यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो, मामीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा॥"५६२॥

इत्यत्रापि तस्याः प्रकृतित्वं दैन्यजेनाभेदोपचारेणैव व्याख्येयम्। यद्वा, अस्य गार्हस्थस्य

इस प्रकार आपने कहा है, वह ठीक ही है। किन्तु वह वक्ष्यमाण प्रकारक है, अन्य प्रकारक नहीं है। वह किस प्रकार है, उसको कहती हैं, स्वरूपभूत महिमा– ऐश्वर्य्यादि में अभितः सर्वतोभावेन रत, अभिरत भगवान् आप कहाँ, वह अन्यत्र कहाँ है। तद्रूप गुण–ऐश्वर्य्यादि ही प्रकृति–स्वरूप जिसका, तथा भूता मैं कहाँ—अन्यत्र? किन्तु कहीं अन्यत्र नहीं है। अर्थात् उभय की स्वरूप में एकत्र स्थित है। अतएव 'न विद्यते ज्ञो विज्ञोयेभ्यः" श्रीविष्णु, जिनसे ज्ञानवान् अपर कोई नहीं है, आपके तत्त्वज्ञगण के द्वारा गृहीत,– सेवित चरण जिसका, तथाभूता मैं हूँ। अतएव शक्ति शक्तिमान में अत्यन्त भेदाभाव निबन्धन उभय में उपमान उपमेय सम्बन्ध नहीं हो सकता है। तज्जन्य उभय के मध्य में साद्दश्य का अभाव है। यह ही असदृशी पद का अर्थ है। अर्थात् भिन्न वस्तुद्वय के मध्य में एक अपर का सदृश हो सकता है। किन्तु द्वय में पार्थक्य का अभाव विद्यमान होने पर उभय में साद्दश्य नहीं रहता है, अतएव एकत्व है। श्रीरुक्मिणी एवं श्रीकृष्ण, शक्ति शक्तिमान् रूप में अभिन्न तत्त्व हैं, तज्जन्य उभय में साद्दश्य की सम्भावना नहीं है, एकत्व ही सम्भव है, असदृशी पद से यह सूचित हुआ है।

इस प्रकार "सृतिभिर्भ्रमन्त्या—संसार पथ में भ्रमणशीला" यहाँ 'आप की पदवी को अनुसरण कर भ्रमणशीला" इस प्रकार वास्तव अर्थ है। अर्थात् विचित्र लीला विनोद हेतु श्रीकृष्ण जिस प्रकार देव मनुष्यादि विभिन्न रूप में आविर्भूत होते हैं, श्रीरुक्मिणी भी उस प्रकार आविर्भूत होती हैं। श्रीविष्णुपुराण १।९।१४३ में इस विषय में लिखित है—"देवत्वे देव रूपा सा मानुषत्वे च मानुषी" देवरूप में लीलाकारी श्रीविष्णु के सहित देवी, मनुष्यवपु में लीलाकारी विष्णु के सहित श्रीरुक्मिणी—मानुषी होती हैं। भा० १०।६०।४६ में श्रीरुक्मिणी देवी की उक्ति भी इस प्रकार है—

"अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग, आत्मन् रतस्य मयि चानतिरिक्त दृष्टेः।
यर्ह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो, मामीक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा॥"

"हे कमल-नयन! आप आत्माराम हैं, मुझमें आपकी अनतिरिक्त दृष्टि है, आपके चरण-कमलों में मेरा अनुराग हो। इसको वर्द्धित करने के निमित्त अतिशय रजः को अवलम्बन कर मुझको जो निरीक्षण करते हैं, वह आपका परम अनुग्रह है।" इस श्लोक की व्याख्या भी उक्त रीति से होगी।

"जगत् को वर्द्धित करने के निमित्त आप अतिशय रजोगुण को अवलम्बन कर मुझको निरीक्षण करते हैं"—इस वाक्य में श्रीरुक्मिणी देवी ने अपने को गुणमयी प्रकृति रूप में उल्लेख किया है। कारण,

उपात्ता अङ्गीकृता रजोऽतिमात्रो सर्व्वभूतानुरञ्जनातिशयो येन सः। वास्तवार्थश्चैवम्,—यदुक्तम् (भा० १० ६०।२०) "उदासीना वयम्" इत्यादि श्रीभगवता, तत्राह—अस्त्विति। हे अम्बुजाक्ष, आत्मन् आत्मनि मयि च रतस्य ते चरणानुरागो ममास्तु। मयि रतत्वञ्चोक्तं श्रीभगवता (भा० १०।५३।२) "तथाहमपि तच्चित्तो निद्राञ्च न लभे निशि" इति स्वयमेवेति भावः। नन्वात्मरतस्य मम कथं त्वयि रतिः? तत्राह—अनतिरिक्तदृष्टेः शक्तिमत्यात्मनि शक्तौ मयि चानतिरिक्ता पृथग्भावशून्या दृष्टिर्यस्य। शक्तिशक्तिमतोरपृथग्वस्तुत्वाद्द्वयोरपि मिथो विशिष्टतयैवावगमाद्वा युज्यत एव मय्यपि रतिरिति भावः। तदेवं सत्यामपि स्वाभाविक्यां रतौ विशेषतस्तु यर्हचस्य रत्याख्यस्य भावस्य वृद्धये उपात्तो रजोऽतिमात्रा रागातिशयो येन तथाभूतस्त्वं मामीक्षसे सभावमालोकयसि, तदासौ नोऽस्मान् प्रति परमेवानुकम्पेति। एवमुदासीनत्वं तव साक्षान्मत्सम्बन्धादन्यत्रैवेति मम सुदृढ़ एव विश्वास इति भावः। तस्मात् साधूक्तम्—'या लीलया धृततनोः' इत्यादिना श्रीरुक्मिणीदेव्याः स्वयं-लक्ष्मीत्वम् ॥ श्रीशुकः ॥

जागतिक सृष्टि प्रवाह वर्द्धन निबन्धन पुरुष रजोगुण को अङ्गीकार पूर्वक गुणमयी प्रकृति को निरीक्षण करते हैं। इस वाक्य में श्रीरुक्मिणी देवी ने गुणमयी प्रकृति के सहित अपना अभेद कल्पना की है। अथवा गृहस्थ धर्म वृद्धि हेतु आप रजः—सर्वभूतरञ्जनातिशय को अङ्गीकार करते हैं। इस श्लोक का वास्तवार्थ इस प्रकार है। इतः प्राक् श्रीकृष्ण कहे थे,—"हम उदासीन हैं—

"उदासीना वयं नूनं नस्त्र्यपत्यार्थकामुकाः।
आत्मलब्ध्यास्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः।" भा० १०।६०।२०

हम उदासीन हैं, स्त्री-पुत्र-अर्थ की कामना नहीं है। देहगेह चेष्टाशून्य, साक्षीमात्र हेतु क्रिया-रहित दीपशिखा के समान आत्म लाभ के निमित्त वर्त्तमान हैं।

उत्तर में श्रीरुक्मिणी देवी बोली थीं—हे कमलनयन! आत्मा, अपने में एवं मुझमें अनुरक्तचित्त जो आप हैं, उसका प्रकाश आपने स्वयं ही किया है। मेरे द्वारा प्रेषित ब्राह्मण के निकट आपने (भा० १०। ५३।२) "तथाहमपि तच्चित्तो निद्राञ्च न लभे निशि" स्वयं ही कहा है। मेरा चित्त भी रुक्मिणी में अर्पित है, अतः रात्रि में मुझको निद्रा नहीं आती है।" कहा जा सकता है कि—आत्मरत आप हैं, आपमें अनुरक्ति कैसे हो सकती है? उत्तर में कहते हैं—आप अनतिरिक्त दृष्टि हैं, शक्तिमान् आपमें एवं शक्ति, मुझमें अतिरिक्ता पृथक भावशून्या दृष्टि आपकी है। अर्थात् शक्ति एवं शक्तिमान् अपृथक् वस्तु होने के कारण, उभय सत्वा में उभय प्रकाशमान हैं, अतः मेरे प्रति अनुराग सम्भव है। स्वाभाविक रति विद्यमान् होने पर भी उसमें वैशिष्ट्य यह है कि, रति नामक स्थायी भाव बर्द्धित करने की जब इच्छा आपकी होती है, तब आप रजः को अङ्गीकार करते हैं, उससे रागातिशय होता है। उस प्रकार होकर आप मेरा निरीक्षण करते हैं। अर्थात् भावपूर्ण निरीक्षण जब करते हैं, तब हमारे प्रति परमानुग्रह प्रकाशित होता है।

आपने निज औदासीन्य की जो कथा कही है, वह औदासीन्य, मेरा सम्बन्ध जहाँ नहीं है, वहाँ है। अर्थात् मेरा सम्बन्ध शून्य स्थान में ही आपका औदासीन्य प्रकाशित होता है। यह मेरा सुदृढ़ विश्वास है। सुतरां 'लीलयाधृततनोः' इत्यादि श्लोक के द्वारा श्रीरुक्मिणी देवी का स्वयं लक्ष्मीत्व कहा गया है, वह कथन अत्युत्तम है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं ॥१८५॥

१८६। अथ वृन्दावने तदीयस्वरूपशक्तिप्रादुर्भावाश्च श्रीव्रजदेव्यः ; यथा ब्रह्मसंहितायाम् (८।३७)—

"आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि,-स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभि ।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥" ६६३॥ इति ।

ताभिः श्रीगोपीभिर्मन्त्रे तच्छब्दप्रयोगात् । कलाभिः शक्तिभिः ; निजरूपतया स्वस्वरूपतया; शक्तित्वञ्च तासां पूर्व्वोक्तोत्कर्षेण परमपूर्णप्रादुर्भावानां सर्व्वासामपि लक्ष्मीत्वमेव; तदुक्तं तत्रैव (ब्र० सं० ५।३९)--"लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम्" इति, (ब्र० सं० ५।५६)

श्रीव्रजदेवीवृन्द का तत्त्व

श्रीवृन्दावन में श्रीव्रजदेवीगण—श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति से प्रादुर्भूत हैं। श्रीब्रह्मसंहिता ५।३७ में उक्त है—

"आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः ।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो
गोविन्दमादिपुरुषंतमहं भजामि ॥"

श्रीगोविन्द की प्रेयसीवर्ग की तन्मयता से जो एकात्मभाव है। उससे परम श्रीवर्ग का साहित्य होता है, एवं श्रीगोविन्द का गोलोक में अवस्थित होना सम्भव होता है। श्रीगोविन्द सबके आत्मवत् प्रिय होने पर भी आनन्द चिन्मयरस प्रतिभावित प्रेयसीवर्ग के साथ ही रहते हैं। कारण, प्रीति में वे सब सर्वाधिक हैं प्रेयसीवर्ग ह्लादिनीशक्ति की वृत्तिरूपा हैं। जो सब निजरूपता के कारण, तदीय कला है। उन सबके सहित निखिल जगत् के आत्मास्वरूप जो भगवान् गोलोक में ही निवास करते हैं, उन आदि-पुरुष श्रीगोविन्द का मैं (ब्रह्मा) भजन करता हूँ। इस श्लोक से बोध होता है कि श्रीकृष्ण, गोपीगण के सहित श्रीगोलोक में अवस्थान करते हैं। कारण, उक्त श्लोक में उक्त है—"ताभिः" उन सबके सहित। 'तद्' शब्द का वाच्य गोपीगण ही हैं। कारण—ब्रह्मसंहिता ५।२४ में उक्त है—

"काम कृष्णाय गोविन्द ङे गोपीजन इत्यपि।
वल्लभाय प्रिया वह्ने रयं ते दास्यति ते प्रियम् ॥"

इस मन्त्र में गोपीजन पद का उल्लेख है। कला—शक्ति। निज रूपता—स्व स्वरूपता है। यह १८३ अनुच्छेद में वर्णित "श्रीभगवान् निखिल परिपूर्ण शक्तिमत्तत्त्व हैं, प्रधान रूप में उनमें अन्तरङ्ग-बहिरङ्गा शक्तिद्वय हैं, उनमें प्रथमा शक्ति श्रीवैष्णवगण की उपास्या है, वह श्रीभगवान् की स्वरूपभूता है, भगवत्ता भी उक्त शक्तिमयी है। द्वितीया शक्ति—माया लक्षणा है, उससे जगत् निर्म्माण कार्य्य होता है। वह श्रीवैष्णवगण के पक्ष में उपेक्षणीया है। अतएव अन्तरङ्गा परमोत्कर्षता निबन्धन परमपूर्ण प्रादुर्भाववती शक्तिवृन्द की लक्ष्मीत्व संज्ञा है। वे सब लक्ष्मी हैं, इसका वर्णन ब्रह्मसंहिता ५।२९—५।५६ में इस प्रकार है—

"चिन्तामणिप्रकटसद्मसुकल्पवृक्ष
लक्षावृतेषु सुरभिरभिपालयन्तम् ।
लक्ष्मी सहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानम् ।
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥"

लक्ष लक्ष कल्पवृक्ष के द्वारा समावृत चिन्तामणिमय मन्दिर में अनन्त लक्ष्मीगण के द्वारा (व्रजसुन्दरीगण के द्वारा) ससम्भ्रम से सेवित आदि पुरुष गोविन्द का भजन मैं करता हूँ।

"श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः" इति च। एतदभिप्रायेणैव स्वायम्भुवागमेऽपि श्री-भू-लीला-शब्दैस्तत्प्रेयसीविशेषत्रयमुपदिष्टम्। तस्माल्लक्ष्मीत्वेऽप्यासां कुरुपाण्डवन्यायेन (भा० १०।४७।६०) "नायं श्रियोऽङ्ग" इत्यादौ लक्ष्मीतोऽप्युत्कर्षवर्णनं परमव्योमादिस्थिताभ्य-स्तन्नाम्नैव प्रसिद्धाभ्यो लक्ष्मीभ्य आधिक्यविवक्षयेति मन्तव्यम्। श्रीवृन्दावनलक्ष्म्यस्त्वेता एव। एवमेव (भा० १०।३३।७) "पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः" इत्यादौ "कृष्णवध्व" इत्युक्तम्।

"श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।
कथागानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी
चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च॥"

जिस स्थान में परम लक्ष्मी स्वरूपा श्रीकृष्ण प्रेयसी श्रीव्रजसुन्दरीगण ही कान्तावर्ग हैं, परम पुरुष भगवान् श्रीगोविन्द ही कान्त हैं। समस्त पदार्थ समर्थ यथार्थ कल्पतरुगण ही वृक्षसमूह हैं। भूमि चिन्तामणि गणमयी है, वाञ्छितार्थ प्रदायिनी है, जल अमृत तुल्य सुस्वादु है। कथा ही गान है, गमन ही नाट्य है, वंशी प्रियसखी है, चिदानन्द ज्योति है, वह ही परम आस्वाद्य है।

उक्त अभिप्राय से ही स्वायम्भुवागम में श्री, भू, लीला शब्द द्वारा श्रीकृष्ण-प्रेयसी विशेषत्रय उपदिष्ट हैं। सुतरां श्रीकृष्ण प्रेयसीवर्ग श्री, भू, लीला का लक्ष्मी से भी उत्कर्ष कुरु पाण्डव न्याय से— अर्थात् कुरु कुलोत्पन्न पाण्डवगण होने पर भी श्रीकृष्ण प्रीति के कारण उन सबका अतीव उत्कर्ष है, उस प्रकार लक्ष्मी के मध्य में शक्तिवर्ग की गणना होने पर भी श्री, भू, लीला शक्ति का उत्कर्ष अत्यधिक है। वैकुण्ठादि में प्रसिद्ध श्री, भू, लीला नाम से प्रसिद्धा लक्ष्मीगण से उक्त श्री, भू, लीला शक्ति का उत्कर्ष है, इस प्रकार जानना होगा। अर्थात् श्रीभगवत् प्रेयसीगण के मध्य में श्री, भू, लीला नाम्नी शक्तित्रय का श्रेष्ठत्व है। भा० १०।४७।६० में वर्णित विवरण के अनुसार—

"नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीत कण्ठ—
लब्धाशिषां च उदगाद् व्रजसुन्दरीणाम्॥"

टीका—"अत्यन्तापूर्वश्चायं गोपीषु प्रसाद इत्याह—नायमिति। अङ्गे वक्षसि उ अहो नितान्तरतेरेकान्त रतिमत्याः श्रियोऽपि नायं प्रसादोऽनुग्रहोऽस्ति। नलिनस्येव गन्धो रुक् कान्तिश्चयासां तासां स्वर्गाङ्गनानामप्सरसामपि नास्ति अन्याः पुनर्दूरतो निरस्ताः। रासोत्सवे कृष्णभुजदण्डाभ्यां गृहीत आलिङ्गितः कण्ठस्तेन लब्धा आशिषो याभिस्तासां गोपीनां च उदगात् आविर्बभूव॥"

गोपीयों के प्रति श्रीकृष्ण का अत्यन्त अपूर्व प्रसाद है, अन्यत्र उस प्रसाद की सम्भावना ही नहीं है। वक्षोविलासिनी लक्ष्मी भी उक्त प्रसादाधिकारी नहीं है, स्वर्गस्थ अप्सरा एवं अपर रमणीगण की कथा तो विदूरगता है। उक्त प्रसाद रासोत्सव में श्रीकृष्ण के भुजदण्ड के द्वारा गृहीत कण्ठ द्वारा प्रकाशित हुआ।

पर व्योमस्थ श्री, भू, लीला लक्ष्मी के द्वारकास्थ श्री, भू, लीला रूपिणी लक्ष्मी का उत्कर्ष है, उससे श्रीवृन्दावनस्थ श्री, भू, लीला स्वरूपा प्रेयसीवर्ग (गोपीवर्ग) का श्रेष्ठत्व है। यह सब गोपीगण श्रीवृन्दावन लक्ष्मी ही हैं। भा० १०।३३।७ में वर्णित है—

अतएव (गो०ता०पू० ८) "गोपीजनाविद्याकलाप्रेरकः" इत्यत्र तापनी-वाक्ये श्रीमद्दशाक्षरस्थ-नाम-निरुक्तौ ये गोपीजनास्ते आ सम्यग् या विद्या परमप्रेमरूपा तस्याः कला वृत्तिरूपा इति व्याख्येयम्, (गो० ९।२) "राजविद्या राजगुह्यम्" इत्यादि श्रीगीताप्रकरणात्, 'अविद्याकला'

"पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै
र्भज्यन्मध्यश्चलकुचपटैः कुन्तलै र्गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कवर रसनाग्रन्थयः कृष्णबध्वो
गायन्तस्तं तड़ित इव ता मेघचक्रे विरेजुः॥"

पदन्यास, कर चालन सस्मित भ्रूविलास, कृशता एवं नृत्यहेतु भग्नप्राय कटिदेश, चञ्चल वक्षोवास, गण्डस्थल में दोलायमान कुन्तल द्वारा कृष्ण बधूगण अधिक शोभिता थीं। उन सबके मुख-मण्डल स्वेद-बिन्दुयुक्त एवं कवरी एवं काञ्ची ग्रन्थिसमूह शिथिल हो गई थीं। वे सब मेघमण्डल में विद्युत के समान शोभित थीं। व्रजगोपीगण का लक्ष्मीत्व का स्मरण कराने के निमित्त श्रीशुकाचार्य्य ने 'कृष्णबधू' शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् लक्ष्मीनारायण के समान स्वरूपशक्ति भूता गोपीगण के सहित श्रीकृष्ण का नित्य प्रियता सम्बन्ध है, आनुष्ठानिक अनित्य दाम्पत्य सम्बन्ध नहीं है। गोपीगण, लक्ष्मीगण वन्दिता परम पतिव्रता शिरोमणि हैं।

यहाँ द्रष्टव्य हो सकता है कि—गोपीगण यदि श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति भूता हैं, तब गोपाल तापनी में उक्त जो श्रीमद्दशाक्षरमन्त्र की व्याख्या है "गोपीजना विद्याकला प्रेरकः" उसका समाधान कैसे होगा? उत्तर में कहते हैं—श्रीगोपीगण श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति स्वरूपा हैं, इसमें सन्देह का अवकाश नहीं है। अतएव जो गोपीगण हैं, वे सब आ—सम्यक् प्रेमरूपा जो विद्या, उसकी कला-वृत्तिरूपा हैं। उक्त श्रुति की व्याख्या इस प्रकार करनी होगी। श्रीमद्भगवद्गीतास्थ ९।२ में प्रेमरूपा शक्ति को 'राजविद्या राजगुह्य' कहा गया है—

"राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्॥

इस ज्ञान को राजविद्या, समस्त गुह्यतत्त्व अपेक्षा गुह्य, अत्यन्त पावित्र्यसाधक, आत्मप्रत्यक्षानुभव स्वरूप, समस्त धर्म साधक, निर्गुण एवं सुखसाध्य जानना होगा।

टीका—राज विद्येति। विद्यानां शाण्डिल्य वैश्वानर दहरादि शब्दपूर्वाणां राजा—राज विद्या। गुह्यानां—जीवात्म याथात्म्यादि रहस्यानां राजा, राज गुह्यमिदं भक्ति रूपं ज्ञानम्, "राजदन्तादित्वा-दुपसर्जनस्य परनिपातः" तथात्वं प्रतिपादयितुं विशिनष्टि, उत्तमं पवित्रं—लिङ्ग देह पर्य्यन्त सर्वं पाप प्रशमनात्, यदुक्तं पाद्मे "अप्रारब्धं फलंपापं कूटं बीजं फलोन्मुखम्। क्रमेणैव प्रलीयते विष्णुभक्ति-रतात्मनाम्॥" इति, क्रमोऽत्र पर्णशतक वेधवद्बोध्यः। प्रत्यक्षावगमम्। अवगम्यते—इति अवगमोविषयः। स यस्मिन् प्रत्यक्षेऽस्ति, श्रवणादिके अभ्यस्तमाने तस्मिंस्तद्विषयः पुरुषोत्तमो अहमाविर्भवामि। एवमाह सूत्र-कारः "प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्" इति। धर्म्यं धर्मादनपेतं—गुरुशुश्रूषादि धर्मैर्नित्यं पुष्यमाणम्; श्रुतिश्च—'आचार्य्यवान् पुरुषोवेदः इत्याद्या" कर्त्तुं सुसुखं—सुखसाध्यम्—श्रोत्रादिव्यापारमात्रत्वात् तुलसी-पात्राम्बुचुलुकमात्रोपकरणत्वाच्च। अव्ययमविनाशि, मोक्षेऽपि तस्यानुवृत्तेः। एवं वक्ष्यति। "भक्त्या मामभिजानाति" इत्यादिना; कर्मयोगादिक तु नेदृशमतोऽस्य राजविद्यात्वम्। तत्राहुः राज्ञां विद्या, राज्ञां गुह्यमिति, राज्ञाभिवोदार चेतसां कारुणिकानामिव दिवमिव तुच्छीकुर्वतामियं विद्या, नतु क्षीद्रं पुत्रादि लिप्सया देवानभ्यर्च्चतां दीनचेतसां कर्म्मिणाम्; राजानो हि महारत्नादि सम्पदप्यनिह्नुवानाः स्वमन्त्रं

शब्देन अविद्यैव कला वृत्तिर्यस्याः सा सर्व्वेन्द्रियविमोहकारिणी प्रेमशक्तिरेवाख्याता, भगवत्यविद्यासंश्लेषाभावात् । तदुक्तम् (भा० दी० १।७।६)—

"ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः ।
स्वाविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः ॥" ५६४॥

इति स्वामि-सूक्तौ; तथा (वि० पु० १।१२।६९)—

"ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित्त्वय्येका सर्व्वसंश्रये । ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ॥"५६५॥

इत्यादि विष्णुपुराणे च। अथवा वैभवमात्राभिज्ञान् प्रति विराडुपासनावत् गोपीजनशब्दस्यान्य-निरुक्तिरियम्। यथा तत्रैव गोपालपदनिरुक्तौ गोपान् जीवानां सृष्टिपर्य्यन्तमालातीत्युक्तम् तत्राविद्याकलाशब्देन मायैवोच्यत इति । अतस्तासां प्रेरकस्तत्तत्क्रीड़ायां प्रवर्त्तकः, स च पतित्व एव विश्रान्त इति वल्लभ-शब्देनैकार्थ्यमेव (गो० ता उ० २३) "स वो हि स्वामी भवति" इति तस्यामेव श्रुतौ ताः प्रति दुर्व्वाससो वाक्यात् । यच्च तासां क्वचित् पूर्व्वजन्मनि

यथातियत्नान्निह्नुयते तथान्यां विद्यामनिह्नुवानामद्भक्ता एतामतियत्नान्निह्नुवीरन्निति; समानमन्यत् । (६१२)

तापनी श्रुति की व्याख्या में अकार प्रश्लेष के द्वारा अविद्याकला का बोध होता है, अर्थ उससे इस प्रकार होगा—"अविद्यैव कला वृत्तिर्यस्याः, सा सर्वेन्द्रिय विमोहकारिणी प्रेमशक्तिरेव आख्याता, भगवत्य-विद्यासंश्लेषाभावात्" अविद्या जिसकी वृत्ति है, वह सर्वेन्द्रिय विमोहकारिणी प्रेमशक्ति है। कारण—श्रीभगवान् में अविद्या संश्लेष नहीं है। गोपीजन+अविद्या इस प्रकार अर्थ करने से श्रीभगवान् में अविद्या संश्लेष दोष उपस्थित होगा। श्रीधरस्वामिपाद ने भा० भा० दी० १।७।६ में कहा है—

"ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः ।
अविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः ॥"

सच्चिदानन्द ईश्वर, ह्लादिनी एवं सम्वित् आश्लिष्ट हैं, सम्यक् क्लेशसमूह का आकर स्वरूप जीव—अविद्या संवृत है। उस प्रकार विष्णुपुराण में उक्त है—

"ह्लादिनी सन्धिनी सम्वित्त्वय्येका सर्वसंश्रये ।
ह्लादतापकरीमिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ॥"

'सर्व संश्रयस्वरूप आप में ह्लादिनी, सन्धिनी एवं सम्वित् विद्यमान हैं, किन्तु ह्लादकारी सत्त्व, तापकारी तमः, एवं मिश्रा रजः, की स्थिति गुणवर्जित आप में नहीं है।'

अथवा वैभवमात्र अभिज्ञ के प्रति जिस प्रकार विराडुपासना कही गई है, इस प्रकार गोपीजन शब्द का भी अन्य अर्थ होता है। वहाँ पर गोपाल शब्द का अर्थ है,गोपान् जीवानां सृष्टि पर्य्यन्तं आलातीत्युक्तम्। उस अर्थ में अविद्याकला शब्द का अर्थ माया ही है। "गोपीजनाविद्याकला प्रेरकः" शब्द से गोपीजन का प्रेरक—अर्थात् श्रीकृष्णाभिमान क्रीड़ा समूह का प्रवर्त्तक, गोपीजन स्वरूप शक्ति होने के कारण श्रीकृष्ण उन सबका प्रवर्त्तक हैं। उसका विश्राम पतित्व में है। तज्जन्य वल्लभ शब्द एवं प्रेरक शब्द एकार्थ वाचक है। गोपाल तापनी में उक्त है—"स वोहि स्वामी भवति" उस श्रुति में दुर्वासा का वाक्य प्रसिद्ध है। कहीं पर गोपिका का पूर्वजन्म वृत्तान्त में साधकत्व संवाद प्राप्त होता है। उसका समाधान यह है—साधकचरी

साधकत्वमिव श्रूयते, तत्तु पूर्व्वेषामिव व्याख्येयम्। तास्तु नित्यसिद्धा एव। अत इदमित्थमेव व्याख्येयम् (भा० १०।३२।१०)—

(१८६) "ताभिर्विधुतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा॥"५६६॥

यथा यथावत्; अतएवाधिकं व्यरोचतेत्युक्तमुपपद्यते॥

१८७। स्वशक्तिविलासत्वाच्च श्रीभगवतः (भा० १०।३३।१४)—

(१८७) "गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम्।
गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे॥"५६७॥

गोप्य एव श्रियः, कान्तं मनोहरम्; एकान्तवल्लभं रहोरमणम्, अपाणिग्राहकत्वात्॥ श्रीशुकः॥

१८८। आसां महत्त्वन्तु ह्लादिनीसारवृत्तिविशेष-प्रेमरससारविशेषप्राधान्यात्; तदुक्तम्

गोपीगण का ही साधनानुष्ठान था, स्वरूपसिद्धा नित्यसिद्धा स्वरूपा श्रीराधा चन्द्रावली प्रभृति हैं, उन सबमें साधन प्रवृत्ति की सम्भावना नहीं है।

गोपीगण श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्तिरूपा होने के कारण, (भा० १०।३२।१०) रासलीला प्रसङ्ग में कथित—

"ताभिर्विधुतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः।
व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिभिर्यथा॥"

श्रीशुक ने बोला, "हे वत्स! पुरुष—परमात्मा, शक्तिगण परिवृत होकर जिस प्रकार शोभित होते हैं, विधुतशोका गोपीवृन्द परिवृत होकर श्रीभगवान् अच्युत उस प्रकार अधिक शोभित हुये थे।

व्याख्या—यथा-यथायोग्य, अतएव अधिकतर शोभित होते हैं, इस प्रकार प्रतिपन्न होता है, कारण, श्रीभगवान् केवल स्वरूपशक्ति के द्वारा प्रकाशमान हैं, तज्जन्य उक्त शक्ति समूह के योग से श्रीभगवान् परिपूर्ण प्रकाशित होते हैं। स्वरूपशक्तिरूपा गोपीगण जिनके संसर्ग में श्रीकृष्ण का कृष्णत्व सम्यक् अभिव्यक्त होता है। रासमण्डल में उन सबके द्वारा परिवृत होकर श्रीकृष्ण सम्यक् शोभित हुये थे॥१८६।

स्वशक्ति विलास के कारण—भा० १०।३३।१४ में उक्त है—

"गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम्।
गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे॥"

गोपीगण ही लक्ष्मी हैं, उन्होंने कान्त—मनोहर श्रीकृष्ण को एकान्तवल्लभ—रहोरमण रूप में प्राप्त कर तदीय बाहुयुगल के द्वारा कण्ठ में आलिङ्गन किया एवं श्रीकृष्ण का गुणगान करते-करते विहार किया कारण, श्रीकृष्ण—पाणिसंस्काराक्रान्त गोपाङ्गनाओं का पति नहीं थे, किन्तु रहोरमण थे। अतः रासलीला का अनुष्ठान सम्भव हुआ। अन्यथा जायापती सम्बन्ध में विभाव वैरूप्य के कारण रासरस का आस्वादन नहीं होता। श्रीकृष्ण गोपाङ्गनाओं का निगूढ़ पति हैं, गोपाङ्गनागण उनकी प्रेयसी हैं। विवाहित पत्नी नहीं। आनुष्ठानिक पति-पत्नी भाव श्रीकृष्ण के सहित व्रजसीमन्तिनीगण का नहीं है। नित्य सम्बन्ध है। प्रवक्ता श्रीशुक हैं॥१८७॥

श्रीगोपी का माहात्म्य इस प्रकार है—स्वरूपशक्ति ह्लादिनी सारवृत्ति विशेष जो प्रेमरस है, उसका

(ब्र० सं० ५।३७)—"आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभिः" इति। आनन्दचिन्मयरसेन प्रेमरसविशेषेण प्रतिभाविताभिस्तत्प्रधानाभिरित्यर्थः। अतएव तत्प्राचुर्य्यप्रकाशेन श्रीभगवतोऽपि तासु परमोल्लासप्रकाशो भवति, येन ताभी रमणेच्छा जायते। तथैवाह (भा० १०।२९।१) —

(१८८) "भगवानपि ता रात्रीः शारदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥"५६८॥

योगमायां दुर्घटसम्पादिकां स्वरूपशक्तिं तत्तल्लीलासौष्ठवघटनायाश्रित इति तस्मै तां प्रवर्त्त्येत्यर्थः॥ श्रीशुकः॥

१८९। अथ तासां नामानि च श्रूयन्ते भविष्योत्तरे मल्लद्वादशीप्रसङ्गे श्रीकृष्ण-श्रीयुधिष्ठिर-संवादे—

"गोपीनामानि राजेन्द्र प्राधान्येन निबोध मे। गोपाली पालिका धन्या विशाखा ध्याननिष्ठिका।
राधानुराधा सोमाभा तारका दशमी तथा॥" ५६९॥ इति।

सार विशेष का प्राधान्य निबन्धन श्रीगोपिका का महत्त्व सर्वाधिक है। ह्लादिनी का सार का नाम प्रेम है, प्रेम का सार भाव है। भाव की परमकाष्ठा को महाभाव कहते हैं। महाभावस्वरूपा ही श्रीराधा हैं। सर्वगुणाकर एवं कृष्णकान्ता-शिरोमणि हैं। श्रीराधा की रसपुष्टि हेतु व्रजदेवीगण कायव्यूह रूप में प्रकाशित हैं। ब्रह्मसंहिता ५।३७ में उक्त है—"आनन्दचिन्मय रस प्रतिभाविताभिः" 'आनन्द चिन्मयरस प्रतिभाविता' आनन्द चिन्मयरस, प्रेमरस का अपर नाम है। उक्त प्रेमरस विशेष के द्वारा गोपाङ्गनागण प्रतिभाविता हैं। अतएव गोपीगण में प्रेमरस निर्य्यास का प्राचुर्य्य निबन्धन श्रीभगवान् में भी परमोल्लास प्रकटित होता है, जिससे गोपाङ्गनागण के सहित स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण की रमणेच्छा होती है, अर्थात् महाभाववती श्रीव्रजसुन्दरीवृन्द का भाव माधुर्य्यावलोकन से स्वरूप सुख सम्पन्न श्रीकृष्ण भी उन सबके सहित रमणाभिलाषी हुये थे। उसका वर्णन भा० १०।२९।१ में इस प्रकार है—

"भगवानपि ता रात्रीः शारदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥"

श्रीभगवान् होकर भी शरत्कालीन प्रफुल्लमल्लिका सुशोभित रजनीसमूह को अवलोकन कर योगमाया के उपाश्रय से रमण करने के निमित्त मनस्थ किये थे।

दुर्घटकार्य्यसम्पादिका स्वरूपशक्ति को योगमाया कहते हैं। उक्त लीलासौष्ठव सम्पादन हेतु श्रीकृष्ण-इच्छारूपिणी चिच्छक्ति को उपाश्रय-तज्जन्य प्रवर्त्तित किये थे। अर्थात् श्रीव्रजलक्ष्मीवृन्द के सहित श्रीकृष्ण का रमण को सुचारुरूप से सम्पन्न करने के निमित्त श्रीकृष्ण योगमाया रूपिणी चिच्छक्ति को नियुक्त किये थे। श्रीकृष्णेच्छा रूपिणी योगमाया शक्ति अघटनघटन पटीयसी हैं, अतः ईप्सित कार्य्य सम्पादन में कोई भी विघ्न उपस्थित नहीं होगा किन्तु सुष्ठुरूपेण निर्वाह होगा। यह नियोग के प्रति हेतु है॥१८८॥

अनन्तर गोपीवृन्द के नामसमूह का निरूपण करते हैं। भविष्यपुराण के उत्तर खण्ड में मल्लद्वादशी प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण-युधिष्ठिर-संवाद है, उसमें गोपीवृन्द का नामोल्लेख है। "हे राजेन्द्र! गोपीवृन्द के नामसमूह का श्रवण आप करें। १ गोपाली, २ पालिका, ३ धन्या, ४ विशाखा, ५ ध्याननिष्ठिका, ६ राधा, ७ अनुराधा, ८ सोमाभा, ९ तारका, एवं तन्नाम्नी दश संख्यक गोपी हैं, अर्थात् उनका नाम भी तारका है।

दशम्यपि तारकानाम्न्येवेत्यर्थः। स्कान्दे प्रह्लादसंहितायां द्वारकामाहात्म्ये (१२।२५-३३) मयनिर्मितसरःप्रस्तावे श्रीललितोवाचेत्यादिना ललिता श्यामला धन्या विशाखा राधा शैव्या पद्मा भद्रेत्येतान्यष्टैव गृहीतानि। अथ "वनिताशतकोटिभिः" इत्यागमप्रसिद्धेरन्यान्यपि लोकशास्त्रयोरवगन्तव्यानि। अत्र शतकोटित्वान्यथानुपपत्त्यादिना तासां तन्महाशक्तित्वमेवावगम्यते। तदेवं परममधुरप्रेमवृत्तिमयीषु तास्वपि तत्सारांशोद्रेकमयी श्रीराधिका, तस्यामेव प्रेमोत्कर्षपरमकाष्ठाया अत्रैव दर्शितत्वात् प्रीतिसन्दर्भे दर्शयिष्यमाणत्वाच्च। यत्र यत्र च तत्प्रेमवैशिष्ट्यम्, तत्रैव (भा० ५।१८।१२) "यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना" इत्यादिवत् सर्व्वा अप्यैश्वर्य्यादिरूपा अन्याः शक्तयो नात्यादृता अप्यनुगच्छन्तीति श्रीवृन्दावने श्रीराधिकायामेव स्वयंलक्ष्मीत्वम्। यत्तु मात्स्ये देव्या दक्षं प्रति—

स्कन्दपुराण की प्रह्लाद संहिता का द्वारका माहात्म्य में उक्त है—(१२।२५-३३) मयनिर्मित सरः प्रस्ताव में श्रीललिता उवाच, इत्यादि वाक्य में ललिता श्यामला धन्या विशाखा राधा शैव्या पद्मा भद्रा—यह आठ व्यक्ति का नामोल्लेख है। "वनिता शत कोटिभिः" 'शत कोटि वनिता के सहित' इत्यादि आगम वाक्य से प्रतीत होता है, अनेक संख्यक गोपिका थीं, उन सबका नाम शास्त्र एवं लोक प्रसिद्धि से प्राप्त है। वनिता शब्द से अनुरागवती रमणी का बोध होता है। श्रीगोपीवृन्द में अनुराग की पराकाष्ठा निबन्धन यहाँ वनिता शब्द गोपी गृहीत है। शतकोटित्व की अन्यथा न हो अतः वे सब गोपीगण स्वरूपशक्ति स्वरूपा हैं।

प्रत्येक गोपी ही परम मधुर प्रेमवती हैं, प्रत्येक ही श्रीलक्ष्मी से भी रूप गुण प्रेम में परमोत्कर्षवती हैं। तज्जन्य श्रीकृष्ण की निखिल लीलाओं में रासलीला ही असमोर्द्ध्व है। रासलीला में गोपीवृन्द ही प्रधान अवलम्बन हैं। संख्याधिक्य के कारण वे सब श्रीकृष्ण की महाशक्ति स्वरूपिणी हैं। साधारण शक्ति से श्रीकृष्ण वशीकरण असम्भव है एवं विपुल रूप से लीला-सम्पादन भी दुष्कर है।

श्रीराधा-तत्त्व का वर्णन करते हैं—परम मधुर प्रेममयी वृत्ति परायण गोपीगण के मध्य में परम मधुर वृत्तिमयी का सारांश की उद्रेकमयी श्रीराधा हैं। अर्थात् प्रेम की पराकाष्ठास्वरूप मादनाख्य महाभाव की स्थिति एकमात्र श्रीराधिका में ही है। उसमें ही प्रेम की पराकाष्ठा है। इस ग्रन्थ के १८३ अनुच्छेद के स्वरूपभूता शक्ति विवरण में उसको दर्शाया गया है। श्रीप्रीति सन्दर्भ में भी इसका प्रदर्शन होगा। भा० ५।१८।१२ में उक्त है—

"यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा-
मनोरथेनासति धावतोबहिः॥"

टीका—मानसमलापगमफलमाह यस्येति। अकिञ्चनः-निष्कामा, मनः शुद्धौ हरेर्भक्तिर्भवति, ततश्च तत् प्रसादे सतिसर्वे देवाः सर्वैः गुणैश्च धर्मज्ञानादिभिः यह यत्र सम्यगासते, नित्यं वसन्ति। गृहाद्यासक्तस्य तु हरिभक्त्य सम्भवात् कुतो महतां गुणा ज्ञान वैराग्यादयो भवन्ति? असति विषयसुखे मनोरथेन बहिर्धावतः।

श्रीहरिभक्त सङ्ग से श्रीहरि-कथा श्रवण होता है, उससे श्रीहरि में श्रद्धा होती है, मानस मलापगम भी होता है, उससे भक्ति होती है, यह भक्ति निष्कामा है। मन शुद्ध होने से ही हरिभक्ति का आविर्भाव होता है। श्रीहरिभक्ति होने से समस्त देवतागण, निज-निज गुण धर्म ज्ञान प्रभृति के सहित भक्त शरीर में नित्य निवास करते हैं। गृहादि में आसक्तचित्त व्यक्ति के हृदय में श्रीहरि-भक्ति का उदय नहीं होता है।

"रुक्मिणी द्वारवत्यान्तु राधा वृन्दावने वने । देवकी मथुरायान्तु पाताले परमेश्वरी ।
चित्रकूटे तथा सीता विन्ध्ये विन्ध्यनिवासिनी ।।" ५७० ।।

इत्यादिना स्वरूपशक्तिव्यूह-रुक्मिणी-राधा-देवकी-सीतानां मायांशरूपेण स्वेन सहाभेदकथनम्, तत् खलु यथा देवेन्द्रः प्रतर्द्दनं प्रति "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा" इत्यादिकम्, यथा वा "वामदेवश्चाहं मनुरभवं सूर्य्यश्च" इत्यादिकं परमात्मना सहाभेदं मत्वावादीदिति । न वक्तुरुपदेशादि

श्रीहरिभक्ति का अभाव से महत् के गुणादि—ज्ञान वैराग्य प्रभृति उदय कैसे होगा ? नश्वर विषयसुख लिप्सा से धावित व्यक्ति महान् गुण सम्पन्न नहीं हो सकता है । उस प्रकार हो जिसमें प्रेम-वैशिष्ट्य है, उसमें ऐश्वर्य्यादि रूपा अन्य निखिल शक्ति, अतिशय आदृता न होने पर भी उक्त प्रेम विशिष्ट व्यक्ति का अनुसरण करती रहती हैं । अतएव श्रीराधिका में ही स्वयं लक्ष्मीत्व विद्यमान् है । अर्थात् श्रीराधा परम प्रेमोत्कर्षिणी होने के कारण—अन्य निखिल शक्ति उनकी अनुगता हैं । श्रीराधा—सर्व शक्ति वरीयसी, सर्वाश्रय स्वरूपा हैं । अतः श्रीराधा ही स्वयं लक्ष्मी हैं । प्रेमाधिक्य वशतः निखिल व्रजसुन्दरी से श्रीराधा का श्रेष्ठत्व स्वतः सिद्ध है । अतएव अन्यान्य प्रेयसी विद्यमान होने पर भी श्रीराधा का मुख्यत्व स्थापन निबन्धन 'श्रीवृन्दावनाधिकारिणी' नामकरण हुआ है ।

स्कन्दपुराण में उक्त है—"वाराणस्यां विशालाक्षी विमला पुरुषोत्तमे रुक्मिणी द्वारवत्याञ्च राधा वृन्दावने वने" वाराणसी में विशालाक्षी, पुरुषोत्तम में विमला, द्वारावती में रुक्मिणी, एवं वृन्दावन में श्रीराधिका हैं । मत्स्यपुराण में भी इस प्रकार उक्ति है—"रुक्मिणी द्वारावती में, श्रीवृन्दावन में श्रीराधा, मथुरा में देवकी, पाताल में परमेश्वरी, चित्रकूट में सीता, विन्ध्याचल में विन्ध्यवासिनी हैं ।" (५७०)

इस श्लोक में यद्यपि महाधिष्ठात्री श्रीदुर्गा शक्ति के सहित श्रीलक्ष्मी-सीता प्रभृति का एकत्र उल्लेख है, तथापि श्रीदुर्गा शक्ति के सहित तुल्यत्व मननसङ्गत नहीं है । श्रीदुर्गा बहिरङ्गा शक्ति हैं एवं श्रीलक्ष्मी प्रभृति अन्तरङ्गा—स्वरूपशक्ति हैं । शक्तित्व रूपेण सभी श्रीभगवत् शक्ति हैं । इस तात्त्विक दृष्टि से ही श्रीदुर्गा के सहित—लक्ष्मी, सीता, रुक्मिणी, राधा प्रभृति का उल्लेख हुआ है ।

वस्तुतस्तु—जिस प्रकार देवेन्द्र ने प्रतर्द्दन को कहा—"मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ" इस प्रकार जानना होगा । जिस प्रकार वामदेव ने कहा था मैं मनु सूर्य्य हुआ" इस प्रकार कथन परमात्मा के सहित अभेद बुद्धि से होता है । जिस प्रकार राजकर्मचारी अपने को राजा मानकर कहता है मैंने कहा, किया इत्यादि । वस्तुतः इस प्रकार उपदेश वक्ता का उपदेश नहीं होता है, किन्तु अधिकारी व्यक्ति अभिन्न मनन से कार्य्य निर्वाह करता है । वेदान्त सूत्र १।१।३० में इसका समाधान है "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्"

श्रीभागवत भाष्य— अंशांशास्ते देवमरीच्यादय एते
ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्र पुरोगाः ।
क्रीड़ाभाण्डं विश्वमिदं यस्यविभूमं
स्तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम ।। भा० ४।७।४३
दुष्टा हे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्ड धृक् । भा० १०।३०।२२

वक्ता का आत्मोपदेश कैसे सम्भव होता है ? उत्तर में कहते हैं—सूत्रस्थ 'तु' शब्द सन्देह नाशक है, विज्ञात जीवभाव इन्द्र, ब्रह्म रूप में अपने को मानकर जो उपदेश करते हैं, "मेरी उपासना करो" वह शास्त्र दृष्टि से है । जो जिसका अधीन होता है, वह अपने को वह ही मानता है, इन्द्रियसमूह की वृत्ति प्राणाधीन है, अतः इन्द्रिय अपने को प्राण कहती है । जीव की वृत्ति ब्रह्मायत्त होने से इन्द्र ने अपने को उपास्य कहा है । दृष्टान्त यह है—ऋषि वामदेव ने कहा, मैं मनु, सूर्य्य हुआ था । यहाँ 'मैं' शब्द से आयत्त

वेदान्तसूत्रेषु (१।१।३०) "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इत्यनेन विचारितम्, तद्वदिहापीति गम्यते। शास्त्रं खलु चतुर्द्धा परावरयोरभेदं दर्शयति; यथा (छा० ३।१४।१) "सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म" इति कार्य्यस्य कारणादनन्यत्वेन, यथा (छा० ६।८।७) "तत्त्वमसि" इति परमात्म-जीवयोश्चित्साम्येन, यथा (गी० ११।४०) "सर्व्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व्वः" इत्यधिष्ठाना-धिष्ठात्रोरभेदोपचारेण; यथा च रामोऽहमित्यादिकमहंग्रहोपासनेनेति। एवमत्रापि यथास्वं मन्तव्यम्। विशेषतः श्रीराधायाः स्वयंलक्ष्मीत्वं बृहद्गौतमीये श्रीबलदेवं प्रति श्रीकृष्णवाक्यम्-

"सत्त्वं तत्त्वं परत्वञ्च तत्त्वत्रयमहं किल। त्रितत्त्वरूपिणी सापि राधिका मम वल्लभा ॥५७१॥

प्रकृतेः पर एवाहं सापि मच्छक्तिरूपिणी। सात्त्विकं रूपमास्थाय पूर्णोऽहं ब्रह्म चित्परः ॥५७२॥

ब्रह्मणा प्रार्थितः सम्यक् सम्भवामि युगे युगे। तया सार्द्धं त्वया सार्द्धं नाशाय देवताद्रुहाम् ॥"५७३॥ इत्यादि

सत्त्वं कार्य्यत्वं तत्त्वं कारणत्वं ततोऽपि परत्वञ्चेति यत्तत्त्वत्रयं तदहमित्यर्थः। अतएव श्रीराधिकाया एव प्रसङ्गे तदग्रिमग्रन्थे—

"देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। सर्व्वलक्ष्मीमयी सर्व्वकान्तिः सम्मोहिनी परा ॥"५७४॥ इति।

वृत्ति हेतु ब्रह्म को जानना होगा। गन्धर्वों ने कहा था, "हे देव यह मरीचि प्रभृति, ब्रह्मारुद्र प्रभृति आपके अंशांश हैं। विभूमन्! यह विश्व, आपकी क्रीड़ाभूमि है, अतः हम आपको प्रणाम करते हैं।

कृष्णान्वेषण कातर गोपियों ने भगवान् की उन लीलाओं का अनुसरण कर कहा—"दुष्ट सर्प! यहाँ से चला जा, खलों को दण्ड देने वाला मैं हूँ।" इस रीति से ही उक्त कथन का समाधान विधेय है।

शास्त्र—चार प्रकार से प्रभु भृत्य में अभेद को दर्शाता है। (छा०उ० ३।१४।१) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इससे कार्य्य का कारण से अभिन्न बोध होता है। (छा० ६।८।७) "तत्त्वमसि" यहाँ चित् साम्य से परमात्मा एवं जीव में अभेद मननोपदेश है। (गीतोपनिषद— ११।४०) "सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥" यहाँ अधिष्ठान एवं अधिष्ठाता में अभेद मनन है। "रामोऽहं" यह अहंग्रहमननोपदेश है।

इस प्रकार प्रस्तुत दृष्टान्त स्थल में समन्वय करना आवश्यक है। विशेषतः श्रीराधा का ही स्वयं लक्ष्मीत्व है, इसका वर्णन बृहद् गौतमीय में श्रीबलदेव के प्रति श्रीकृष्ण कथन से हुआ है। श्रीकृष्ण वाक्य यह है—"मैं निश्चय ही सत्त्व, तत्त्व, परत्व— यह त्रितत्व स्वरूप हूँ। मेरी वल्लभा प्रिया श्रीराधा भी त्रितत्त्वरूपिणी है। सात्त्विक रूप में अवस्थित होकर पूर्ण चित् परब्रह्म मैं हूँ। ब्रह्मा कर्तृक प्रार्थित होकर युग-युग में मैं आविर्भूत होता हूँ। श्रीराधा के सहित एवं तुम्हारे सहित आविर्भूत होकर मैं देवशत्रु असुर को विनष्ट करता हूँ।" (५७१-७२-७३)

सत्त्व—कार्य्यत्व, तत्त्व-कारणत्व, तदुभय से हो परत्व-श्रेष्ठत्व, यह तत्त्वत्रय ही मैं हूँ। यह अर्थ— 'सत्त्वं' श्लोकार्द्ध का है। अतएव श्रीराधा का स्वरूप शक्ति निबन्धन, उक्त बृहद् गौतमीय तन्त्र के उत्तर-भाग में कथित हैं—श्रीराधा सर्वलक्ष्मीमयी है, सर्वकान्ति, सम्मोहिनी, परा है।"

"देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका पर देवता।
सर्व्वलक्ष्मीमयी सर्व्वकान्तिः सम्मोहिनी परा ॥"

देवी—द्योतमाना परमा सुन्दरी, श्रीकृष्ण क्रीड़ा प्रजा की वसति नगरी। कृष्णमयी— अन्तर बाहर श्रीकृष्ण हैं। एवं नेत्रदृष्टि में श्रीकृष्ण ही हैं। प्रेमरसमय श्रीकृष्ण स्वरूप का अभिन्न शक्तिरूपा। राधिका—श्रीकृष्ण वाञ्छा पूर्त्ति हेतु जिनकी आराधना है। अतः राधिका नाम है।

ऋक्परिशिष्टश्रुतिश्च तथैवाह—"राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका। विभ्राजन्ते जनेष्वा"—विभ्राजन्ते विभ्राजते आ सर्व्वत इति श्रुतिपदार्थः। अतएव तस्याः सर्व्वोत्तमत्वं सौभाग्यातिशयत्वश्चादिवाराहे तत्कुण्डप्रसङ्गे द्रष्टव्यम्, श्रीभागवते (१०।३०।२८)—"अनयाराधितो नूनम्" इत्यादौ च। एतत् सर्व्वमभिप्रेत्य मूर्द्धन्यश्लोके तादृशोऽप्यर्थः सन्दधे।

परदेवता—अतः परमपूज्या परमदेवता सर्वपूज्या सर्व जगत् पालिका सर्व जगत् की माता।
सर्व लक्ष्मी—सर्व लक्ष्मीवृन्द का मूलाश्रय। श्रीकृष्ण के षड़् विध ऐश्वर्य्य की अधिष्ठात्री देवी, समस्त शक्तिवृन्द के मध्य में श्रीशक्ति।
सर्व कान्ति—सर्व सौन्दर्य्य कान्ति का मूलाधार, समस्त लक्ष्मीवृन्द की शोभा जिससे होती है। श्रीकृष्ण की समस्त वाञ्छा एवं उस वाञ्छा का एकमात्र आकार। श्रीराधिका-श्रीकृष्ण की इच्छा पूर्त्तिकारिणी है।
सम्मोहिनी—जगन्मोहन कृष्ण की मोहनकारिणी।
परा—अतएव सर्वश्रेष्ठ पूज्या श्रीराधिका हैं।

ऋक् परिशिष्ट श्रुति में उक्त है—"राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका। विभ्राजन्ते जनेष्वा" निजजन समूह में श्रीराधा द्वारा क्रीड़ाशील द्युतिमान् माधव एवं माधव द्वारा राधिका सर्वतोभावेन सुदीप्त हैं।" यह है श्रुति का अर्थ। अतएव वराहपुराणस्थ राधाकुण्ड प्रसङ्ग में श्रीराधा का सर्वोत्तमत्व एवं सर्वसौभाग्यातिशयत्व प्रतिपादित हुआ है। श्रीमद्भागवत के १०।३०।२८ में भी वर्णित है—

'अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः॥"

"इसने अवश्य ही भगवान् हरि ईश्वर की आराधना की है, जिससे गोविन्द, सन्तुष्ट होकर हम सबको परित्याग कर उसको लेकर एकान्त में चले गये।"

बृहद् वैष्णवतोषणी

पश्चाच्च श्रीराधादेव्यास्तानि पदानि परिचित्य आश्वस्तास्तन्नाम निरुक्ति द्वारा तस्या भाग्यं सहर्षमाहुः-अनयेति—नूनं वितर्के निश्चये वा, हरिः—सर्व दुःखहर्त्ता, भगवान् श्रीनारायणः, ईश्वरो भक्तेष्ट प्रदान समर्थः, स्वतन्त्रोऽपि वा, अनयैवाराधित आराध्य वशीकृतः, नत्वस्माभिः; नत्वस्माकमेतद्विरहार्त्त्याद्य सम्भवः। राधयति—आराधयतीति श्रीराधेति नामकरणं च दर्शितम्, यद् यस्माद् गोविन्दो गोकुलेन्द्रत्वेन तस्या अस्माकञ्च तुल्योऽप्यसौ वोऽस्मान् विशेषेण हित्वा दूरतो निशि वनान्तस्त्यक्त्वा तत्रापि रहोऽस्मद-गम्ये एकान्त स्थाने यामनयत्। यद्वा, गोविन्द एवासावनया आराधितः। तस्याः परमभाग्य बोधनार्थं गोविन्दमेव विशिषन्ति—भगवान् निजाशेषैश्वर्य्य प्रकटनपरः, अतो हरिः, सर्वार्त्तिहर्त्ता, किंवा रूपगुणादिना सर्व मनोहरः, ईश्वरो व्रज-प्राणनाथः, अतस्तदनुभवस्तस्यैव कृत इति भावः। अन्यत् समानम्। यच्छब्दद्वयं हेतोस्तस्यैव दाढ्यार्थम्, किं वा यत् प्रीतः, तस्माद् यामनयदिति वाक्यद्वय कल्पनया योज्यम्, एवमग्रेऽप्यूह्यम्; यद्वा, यन् रहो गच्छन्॥"

अन्वेषण परायण गोपीगण—श्रीराधादेवी का पदचिह्न को देखकर आश्वस्ता हुई थीं, एवं श्रीराधा नामार्थ प्रकाशक वाक्य के द्वारा उसका भाग्य की प्रशंसा करने लगीं। निश्चय कर गोपियों ने कही, इसने अवश्य ही सर्वदुःखहर्त्ता हरि, श्रीनारायण भगवान् भक्तेष्ट प्रदान समर्थ—स्वतन्त्र को आराधना के द्वारा वशीभूत किया है। हम सबने वैसा नहीं किया है। नहीं तो हम सबको इस प्रकार विरहार्त्ति प्रभृति का लाभ नहीं होता। राधयति—आरायतीति—श्रीराधा, आराधना परायणता के कारण ही उसका राधा

तत्र तयोर्महामहैश्वर्य्यप्रतिपादकोऽर्थः पूर्व्ववत् स्वयमनुसन्धेयः। परममाधुरी-प्रतिपादकोऽर्थस्तु यथा (भा० १।१।१) —

(१८९) "जन्माद्यस्य" इति।

यतोऽन्वयात्—अन्वेति अनुगच्छति सदा निजपरमानन्दशक्तिरूपायां तस्यां श्रीराधायामासक्तो भवतीत्यन्वयः श्रीकृष्णः, तादृशात् यस्मात्; तथा इतरत इतरस्याश्च तस्य सदाऽद्वितीयायाः श्रीराधाया एव। यतो यस्या आद्यस्य आदिरसस्य जन्म प्रादुर्भावः। यावेवादिरसविद्यायाः परमनिधानमित्यर्थः। अतएव तयोरत्यद्भुतविलासमाधुरीधुरीणतामुद्दिशति—योऽर्थेषु तत्तद्विलासकलापेष्वभिव्यक्तो विदग्धः; या च स्वेन तथाविधेनात्मना विराजते विलसतीति स्वराट्। अतएव सर्व्वतोऽप्याश्चर्य्यरूपयोस्तयोर्वर्णने मम तत्कृपैव सामग्रीत्याह—आदिकवये, प्रथमं तल्लीलावर्णनमारभमाणाय मह्यं श्रीवेदव्यासाय हृदा अन्तःकरणद्वारैव

नाम है। कारण—गोकुलेन्द्र गोविन्द उसके एवं हम सबके पक्ष में तुल्य होने पर भी हम सबको विशेषरूप से उपेक्षा कर रात्रि में वन में हम सबको छोड़कर हम सबका अगम्य एकान्त स्थान में उसको ले गये हैं। अथवा, इसने गोविन्द की आराधना की, इसका परम भाग्य है, कारण, गोविन्द—भगवान् हैं, सर्वैश्वर्य्य प्रकटन परायण हैं। अतः सर्वार्त्तिहर्त्ता, रूप गुणादि के द्वारा सर्व मनोहर हैं, व्रजप्राणनाथ रूप ईश्वर हैं, अतः गोविन्द का अनुभव इसने ही किया है। यच्छब्द का प्रयोग हेतु को पुष्ट करने के निमित्त, अथवा, प्रसन्नता के कारण ही एकान्त में ले जाना सम्भव हुआ। इस प्रकार वाक्य योजना है।

उक्त तात्पर्य्य समूह को देखकर श्रीमद्भागवत के प्रथम श्लोक में उस प्रकार श्रीराधामाधव माधुरी प्रकाशक अर्थानुसन्धान कर रहा हूँ। इस श्लोक का महामहैश्वर्य्य प्रतिपादक अर्थ का पूर्व वर्णित रीति से स्वयं करना विधेय है। अर्थात् जहाँ पर जन्माद्यस्य श्लोक व्याख्या श्रीकृष्ण पक्ष में हुई है, वहाँ श्रीराधा पक्ष में भी समस्त शब्दार्थ योजित होगा। श्रीराधामाधव का परममाधुरी प्रतिपादक अर्थ इस प्रकार है।

"जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्महृदा य आदि कवये मुह्यन्ति यत् सूरयः॥
तेजो वारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं सत्यं परं धीमहि॥ भा० १।१।१

जन्माद्यस्य यतः अन्वयादितरतश्च—निज परमानन्द शक्तिरूपा श्रीराधा की सर्वथा अनुगति करते हैं, आसक्त होते हैं, अतः श्रीकृष्ण अन्वय श्रीकृष्ण की सर्वदा इतरा द्वितीया श्रीराधा है, जिस अन्वय एवं इतर से आद्य आदि रस का जन्म हुआ है, अर्थात् श्रीराधा एवं कृष्ण ही आदि रसविद्या का परम निधान है। तदुभय का हम सब ध्यान करते हैं। अतएव श्रीराधाकृष्ण की अद्भुत विलास माधुरी राशि का आविष्कार करते हैं। जो अर्थ—उस उस विलास समूह में अभिज्ञ विदग्ध हैं। एवं जो रमणीरत्न—स्वेन राजते इति स्वराट्—उस प्रकार विलासविदग्ध स्वरूप में विराजित हैं। एवं विलास करते हैं—अतः स्वराट् हैं। एतज्जन्य सर्वतोभावेन आश्चर्य्यरूप तदुभय का वर्णन में उभय की कृपा ही मेरा एक मात्र अवलम्बन है। तज्जन्य कहते हैं—आदि कवये,—आदि कवि सर्वप्रथम उभय की लीला का वर्णनारम्भकारी श्रीवेदव्यास रूप मुझको, अन्तःकरण के द्वारा ही ब्रह्म-लीला प्रतिपादक विस्तृत शब्द ब्रह्म संक्रमित किये थे

ब्रह्म निजलीलाप्रतिपादकं शब्दब्रह्म यस्तेने, आरम्भसमकालमेव युगपत् सर्व्वमिदं महापुराणं मम हृदि प्रकाशितवानित्यर्थः। एतच्च प्रथमस्य सप्तम (भा० १।७।६) एव व्यक्तम्। यच्चस्याञ्च सूरयः शेषादयोऽपि मुह्यन्ति, स्वरूपसौन्दर्य्यगुणादिभिरत्यद्भुता केयमिति निर्व्वक्तुमारब्धा निश्चेतुं न शक्नुवन्ति। एवम्भूता सा यदि मयि कृपां नाकरिष्यत्, तदा लब्धमाधवताद‍ृश-कृपस्यापि मम (भा० १०।३०।२६) —

"तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः।
बध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्त्ताः समब्रुवन्॥" ५७५॥

इत्यादिना तस्या लीलावर्णनलेशेऽपि साहससिद्धिरसौ नाभविष्यदेवेति भावः। तयोराश्चर्य्य-रूपत्वमेव व्यनक्ति (भा० १।१।१)—"तेजोवारिमृदाम्" अचैतन्यानामपि यथा येन प्रकारेण परस्परं स्वभावविपर्य्ययो भवति, तथा यो विभ्राजत इति शेषः। वाक्यशेषश्च भावाभिभूतत्वेन

अर्थात् जिन्होंने आरम्भ समकाल में ही युगपत् समग्र श्रीमद्भागवत मेरा हृदय में प्रकाशित किया है। तदुभय राधामाधव रूप का ध्यान हम सब करते हैं। उक्त विवरण श्रीमद्भागवत प्रथम स्कन्ध सप्तम अध्याय के भक्ति योगेन मनसि प्रभृति श्लोक से आरम्भ कर सात्वत संहिता पर्य्यन्त श्लोक में लिखित है।

"मुह्यन्ति यत् सूरयः" श्रीराधा के विषय में सूरिगण शेष प्रभृति मुग्ध होते हैं। अर्थात् स्वरूप सौन्दर्य्यादि गुणसमूह द्वारा अत्यद्भुता श्रीराधा को निश्चय रूप से कहने के निमित्त आरम्भ कर निश्चय करने में सक्षम नहीं होते हैं। इस प्रकार श्रीराधा की कृपा यदि नहीं होती तो श्रीकृष्ण-कृपा प्राप्त मेरे पक्ष में भी (भा० १०।३०।२६)—"तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोबलाः।
बध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोक्यार्त्ताः समब्रुवन्॥"

गोपीगण श्रीकृष्ण पदचिह्न के द्वारा उनका पथान्वेषण करते करते बधू के पद चिह्न मिश्रित पदाङ्क समूह को देखकर दुःख के सहित कही थीं" इत्यादि श्लोक समूह के द्वारा श्रीराधा की लीला की वर्णन साहससिद्धि की सम्भावना ही नहीं होती।

बृहद् वैष्णवतोषणी

तैस्तैर्ध्वजादि लक्षितैः, वीप्सा बाहुल्यस्य कैवल्यस्य वा विवक्षया, अबलाः—विरहान्वेषणाभ्यां बलहीना अपि तस्य कृष्णस्य पदवीं वर्त्म अग्रतोऽन्विच्छन्त्यो मृगयमाणाः, अग्रतो विलोक्येति वा, बध्वाः कस्याश्चिद् गोप्याः, यद्वा स्वभावत एव लज्जाशीलत्वात् स्नुषावत् सर्वतः सङ्कोचितत्वेन, किंवा श्रीयशोदा मनोरथ विशेषेण बधूरिति कदाचित् तन्मुखोद्गतया गोकुले बधूत्वेन प्रसिद्धायाः श्रीराधाया एव तन्नामाग्रहण कारणं लिखितमेव, बधूपदलक्षणमुक्तं श्रीविष्णुपुराणे (५।१३।३२)—

'क्वापि तेन समं याता कृत पुण्या मदालसा।
पदानि तस्या चैतानि घनान्यल्प तनूनि च॥'

इति सुष्ठु पृक्तानि मिलितानि पदानि, असंन्यस्त प्रकोष्ठत्वात्, एवं आत्मारामत्वादिना तासां मानतोऽसूयया वार्त्ताहितइति निरस्तम्, तासामेकस्या नयनात्। तच्च तत्रैव ताभिःसह स्थितया तया केनापि सङ्केतेन ततो निःसारितया तदर्थं दूरे प्रादुर्भूतस्याग्रे कियत्पद प्रयाणानन्तरं मिलनादित्यूह्यम्। आर्त्ताः स्व- परित्यागेन तदेक परिग्रहात्; यद्वा विरहेणार्त्ता अपि सम्यग्विचारादि पूर्बकमब्रुवन्, अन्योन्यमूचुः॥"

राधाकृष्ण का आश्चर्य्यरूपत्व का वर्णन करते हैं—(भा० १।१।१) "तेजो वारि मृदां यथा विनिमयः" तेज, वारि, मृत्तिका का विनिमय—परस्पर स्वभाव विपर्य्यय होता है, 'तथा यो विभ्राजते' उस प्रकार ही

न वक्तुं शक्तवानिति गम्यते। तत्र तेजसश्चन्द्रादेस्तत्पदनखकान्तिविस्फारतादिना वारि-मृद्वन्निस्तेजस्त्वधर्म्मावाप्तिः; वारिणो नद्यादेश्च वंशीवाद्यादिना वह्न्यादितेजोवदुच्छूनताप्राप्तिः, पाषाणादिमृद्वच्च स्तम्भप्राप्तिः, मृदश्च पाषाणादेस्तत्कान्तिकन्दलीच्छुरितत्वेन तेजोवदुज्ज्वलता-प्राप्तिर्वंशीवाद्यादिना वारिवच्च द्रवताप्राप्तिरिति। तदेतत् सर्व्वं तस्य लीलावर्णने प्रसिद्धमेव। यत्र यस्याञ्च विद्यमानायां त्रिधा-सर्गः श्रीभूलीलेति-शक्तित्रयीप्रादुर्भावो वा, द्वारकामथुरा-वृन्दावनानीति-स्थानत्रयगतशक्तिवर्गत्रय-प्रादुर्भावो वा, वृन्दावन एव रसव्यवहारेण सुहृदु-दासीन-प्रतिपक्षनायिकारूप-त्रिभेदानां सर्व्वासामपि व्रजदेवीनामेव प्रादुर्भावो वा मृषा वृथैव। यस्याः सौन्दर्य्यादिगुण-सम्पदा तास्ताः कृष्णस्य न किञ्चिदिव प्रयोजनमर्हन्तीत्यर्थः। तद्धीमहीति यच्छब्दलब्धेन तच्छब्देनान्वयः। परमभक्तिशक्तिमत्त्वेनातिशयित-महाभावरसेन वा परस्परभिन्नतां गतयोरनयोरैक्येनैव विवक्षितं तदिति। अतएव सामान्यतया परामर्शा-न्नपुंसकत्वञ्च। कथम्भूतम्? स्वेन धाम्ना स्वप्रभावेन सदा निरस्तं स्वलीलाप्रतिपक्षजरती-प्रभृतीनां प्रतिपक्षनायिकानाञ्च प्रतिबन्धकानां कुहकं माया येन तत्। तथा सत्यं तादृशत्वेन

श्रीकृष्ण विराजित हैं। 'तथा यो विभ्राजते' वाक्य का शेष अंश का उल्लेख करना भावाविभूत श्रीवेदव्यास के पक्ष में असम्भव था। इस प्रकार अनुमित होता है।

उक्त विनिमय प्रकार इस प्रकार है। तेज पदार्थ—चन्द्र प्रभृति—श्रीकृष्ण की नखरकान्ति के द्वारा वारि मृत्तिका का निस्तेजस्त्व धर्म को प्राप्त करते हैं। वारि—नद्यादि, जिनके संसर्ग सम्पर्कित वंशी वाद्यादि द्वारा वह्न्यादि तेज पदार्थ के समान उद्र्ध्व गमनशीलता को एवं पाषाणादि मृत् पदार्थ के समान स्तम्भ भाव को प्राप्त करते हैं। मृत् पदार्थ पाषाणादि, जिनसे विच्छुरित कान्तिसमूह के द्वारा तेज पदार्थ की उज्ज्वलता एवं वंशी वाद्यादि द्वारा वारिवत् द्रवता को प्राप्त करते हैं। उन श्रीकृष्ण की आश्चर्य्यरूपता के सम्बन्ध में क्या सन्देह हो सकता है? यह सब विषय श्रीकृष्ण लीला वर्णन में प्रसिद्ध हैं।

श्रीकृष्ण की आश्चर्य्यरूपता का वर्णन करने के पश्चात् श्रीराधा की आश्चर्य्यरूपता का वर्णन करते हैं। यत्र त्रिसर्गोमृषा—श्रीराधा के वर्त्तमान में, त्रिसर्ग—श्री, भू, लीला—शक्तित्रय का प्रादुर्भाव, अथवा द्वारका—मथुरा—वृन्दावन, धामत्रयगत शक्तिवर्गत्रय का प्रादुर्भाव, अथवा, वृन्दावनीय रसव्यवहार में सुहृद्, उदासीन, प्रतिपक्ष नायिकारूप त्रिविध भेद प्राप्त समस्त व्रजदेवी का प्रादुर्भाव मृषा—मिथ्या, अर्थात् सौन्दर्य्यादि गुणसम्पद् के द्वारा उक्त शक्तिवर्ग अथवा प्रेयसीवर्ग, श्रीकृष्ण के प्रयोजन में नहीं आते हैं। एकमात्र श्रीराधा के द्वारा ही श्रीकृष्ण का सर्वाभीष्ट पूर्ण होता है। उनका ध्यान करते हैं। श्लोक में तद् शब्द का प्रयोग न होने पर भी यद् शब्द की स्थिति से तद् शब्द का अन्वय होता है। कारण, यद् तद् का नित्य सम्बन्ध है। इस प्रकार ध्येय पदार्थ में श्रीराधामाधव उभय का ही ग्रहण हुआ है।

एकवचनान्त ब्रह्मलिङ्ग तद् शब्द के द्वारा श्रीराधाकृष्ण—उभय का ग्रहण कैसे होगा? संशय निरसन हेतु कहते हैं—परमशक्ति एवं शक्तिमान् रूप में, किंवा, महाभाव रस में परस्पर अभिन्नता प्राप्त श्रीराधाकृष्ण की एकत्व विवक्षा से एक वचनान्त तद् शब्द का प्रयोग हुआ है। अतएव स्त्री पुरुष का विशेष उल्लेख न करके साधारण रूप से निर्देश होने के कारण तत् शब्द ब्रह्म लिङ्ग हुआ है।

कैसा? "धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकम्" निज प्रभाव से निजलीला प्रतिबन्धकीभूत जरती प्रभृति एवं प्रतिपक्ष नायिकागण की कुहक माया, श्रीराधामाधव के द्वारा निरस्त हुई है। 'सत्यं परं धीमहि'

नित्यसिद्धम्; यद्वा, परस्परं विलासादिभिरनवरतमानन्दसन्दोहदाने कृतसत्यमिव जातम्; तत्र निश्चलमित्यर्थः। अतएव परमन्यत्र कुत्राप्यदृष्टगुणलीलादिभिर्विश्वविस्मापकत्वात् सर्व्वतोऽप्युत्कृष्टम्। अत्रैकोऽपि धर्म्मो भिन्नवाचकतया वाक्ययोर्निर्दिष्ट इत्युभयसादृश्यावगमात् प्रतिवस्तूपमानामालङ्कारोऽयम्। इयञ्च मुहुरुपमितमिति मालाप्रतिवस्तूपमा। तेन तैस्तैर्मिथो योग्यतया निबद्धत्वात् समतामापि। एतदलङ्कारेण च अहो परस्परं परस्मात् परमपि तन्मिथुनभूतं किमपि तत्त्वं मिथो गुणगणमाधुरीभिः समतामेव समवाप्तमिति सकलजीव-जीवातुतम-रसपीयुषधाराधाराधरतासम्पदा कस्मै वा निजचरणकमलविलासं न रोचयतीति स्वतः सम्भवि वस्तु व्यज्यते। तदाहुः (साहित्यदर्पणः १०।६८)—

"वस्तु वालङ्कृतिर्वापि द्विधार्थः सम्भवी स्वतः। कवेः प्रौढ़ोक्तिसिद्धो वा तन्निबद्धस्य वेति षट् ॥५७७॥
षड़्भिस्तैर्व्यज्यमानस्तु वस्त्वलङ्काररूपकः। अर्थशक्त्युद्भवो व्यङ्गो याति द्वादशभेदताम् ॥५७८॥ इति।

तद्रूप सत्य है, तादृश रूप में नित्यसिद्ध हैं। परस्पर विलासादि द्वारा आनन्द सन्दोह प्रदान में उभय कृत सत्य—कृत संकल्प हैं। अर्थात् परस्पर आनन्द सन्दोह प्रदान में स्थिर हैं। अतएव अन्यत्र कहीं पर अदृष्ट गुणलीलादि द्वारा विश्वविस्मापक हेतु सर्वोत्कृष्ट श्रीराधामाधव का ध्यान हम सब करते हैं।

व्याख्या का सारार्थ यह है, श्रीराधा, श्रीकृष्ण की परमानन्द शक्ति स्वरूपा हैं। श्रीराधा-कृष्ण एकात्मा होने पर भी प्रेमविलासास्वादन निमित्त उभय देह स्वीकार किये हैं। सुतरां श्रीराधा, श्रीकृष्ण का द्वितीय स्वरूप हैं। श्रीकृष्ण सर्वदा उनके प्रति अनुरागी हैं, श्रीराधा-कृष्ण उभय से ही आदि रस का अपर नाम शृङ्गार-रस का उद्भव हुआ है। उभय ही आदि रस का विविध विलास में सुनिपुण हैं। उन दोनों की कृपा व्यतीत कोई भी व्यक्ति उनकी लीला का वर्णन करने में समर्थ नहीं है। श्रीराधा कृष्ण कृपा पर वश होकर श्रीवेदव्यास के हृदय में श्रीराधा-कृष्ण लीलापूर्ण श्रीमद्भागवत का प्रकाश किये हैं। श्रीमद्-भागवत हृदय में प्रकाशित होने पर भी श्रीराधा की कृपाव्यतीत कोई भी लीला वर्णन में सक्षम नहीं होता है। कारण, उक्त विषय का वर्णन में प्रवृत्त होकर शेषादि मुग्ध हो जाते हैं। श्रीराधा की कृपा श्री वेदव्यास के प्रति हुई है, अतः रास-प्रसङ्ग में उनकी लीला का वर्णन श्रीवेदव्यास ने किया है।

श्रीराधामाधव अनिर्वचनीय वस्तु है, उन दोनों के सम्पर्क से तेज, वारि, मृत्तिका धर्म में विपर्य्यय होता है, अर्थात् अङ्गद्युति से ज्योतिष्मान् वस्तु हीनप्रभ होती है, तेजोहीन वस्तु ज्योतिष्मान् होती है, वंशी ध्वनि से जल उच्छलित होता है, पाषाण द्रवीभूत होता है। सङ्ग प्रभाव से अचेतन वस्तु में धर्म विपर्य्यय जिस प्रकार होता है, उस प्रकार परस्पर धर्म विपर्य्यय भी होता है अर्थात् नायक-नायिका धर्म—नायिका नायक प्राप्त होते हैं। श्रीकृष्ण एकक श्रीराधा के द्वारा निखिल नायिकागत रसास्वादन प्राप्त होते हैं। राधा कृष्ण उभय ही निजेच्छाशक्ति योगमाया द्वारा संघटित परकीया भावादि हेतु लीला में जो प्रतिबन्धक था सबको विदूरित करके स्वच्छन्द परमानन्द से विहार करते हैं। इस प्रकार विचित्र विहार द्वारा परस्पर को अपार आनन्द प्रदान में कृतसङ्कल्प होकर सङ्कल्प साधन करते रहते हैं। महाभाव प्रभाव से निर्धूत भेदभ्रम प्राप्त हुये हैं, उन श्रीराधामाधव ही रसिक भक्तगण का ध्येय हैं। श्रीवेदव्यास निजान्तरङ्ग शिष्या-नुशिष्य श्रीशुकादि के सहित ईदृश श्रीराधामाधव का ध्यान करते हैं।

अनन्तर "जन्माद्यस्य श्लोकस्थ अलङ्कार का विचार करते हैं। प्रस्तुत श्लोक में प्रति वस्तूपमालङ्कार है। एकधर्मो भिन्न वाचकतया वाक्ययोर्निर्दिष्ट इत्युभय सादृश्यावगमात् प्रति वस्तूपमालङ्कारोऽयम्। अर्थात् सादृश्य विशिष्ट वाक्यद्वय में पृथक् रूप से एक साधारण धर्म निर्दिष्ट होने पर प्रतिवस्तूपमा-

अतः सर्व्वतोऽपि सान्द्रानन्दचमत्कारकर-श्रीकृष्णप्रकाशे श्रीवृन्दावनेऽपि परमाद्भुतप्रकाशः श्रीराधया युगलितस्तु श्रीकृष्ण इति। तदुक्तं श्रुत्या—"राधया माधवो देवः" इत्यादिना। तदुक्तमादिपुराणे "वेदान्तिनोऽपि" इति पद्यानन्तरम्; यथा—

"अहमेव परं रूपं नान्यो जानाति कश्चन। जानाति राधिका नित्यमंशानर्च्चन्ति देवताः ॥५९६॥ इति।

तयोर्नित्यविलासस्त्वित्थं यथा वर्णितोऽस्मदुपजीव्यचरणाम्बुजैः (भ०र०सि० २।१।२३१)—

अलङ्कार होता है। प्रतिवस्तूपमा बारम्बार उपमित होने से माला प्रतिवस्तूपमालङ्कार होता है। प्रशंसा योग्य वस्तु का आनुरूप्य होने पर सम नामक अलङ्कार होता है।

प्रति वस्तूपमा का लक्षण – उपमान वाक्ये उपमेय वाक्ये समानस्य साधारण धर्मस्य यदा स्थितिरित्यर्थः। (अलङ्कार कौस्तुभ)

उपमान एवं उपमेय वाक्य में यदि साधारण धर्म की स्थिति होती है, उसको प्रतिवस्तूपमा कहते हैं। जन्माद्यस्य श्लोकस्थ "तेजोवारिमृदां यथा विनिमय" तथा यो विभ्राजते" स्थल में प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है। साधारण धर्म का विनिमय—तेज, वारि एवं मृत्तिका के सहित बारम्बार उपमित होने से माला प्रतिवस्तूपमालङ्कार हुआ है। अथवा, "तेजो वारिमृदां यथा विनिमयः" "यत्र त्रिसर्गोमृषा" वाक्यद्वय में "आश्चर्य्यरूपता" रूप साधारण धर्मस्थिति हेतु प्रतिवस्तूपमालङ्कार हो सकता है।

'सम'—अलङ्कार— "श्लाघ्यत्वेन भवेद् योग्यो यदि योगस्तदासमम्"— अं० कौ० श्रीराधामाधव का आश्चर्य्यरूपता रूप श्लाघ्यत्व— "तेजोवारि मृदां यथा विनिमयः, "यत्रत्रिसर्गोमृषा" वाक्यद्वय में क्रमशः—श्रीकृष्ण एवं श्रीराधा का श्लाघ्यत्व प्रदर्शित हुआ है। अथवा, समग्र श्लोक ही श्रीराधाकृष्ण का महामहैश्वर्य्य प्रतिपादनरूप श्लाघ्यत्व का प्रकाशक है एवं अनुरूप संयोग-वर्णक है।

अलङ्कार निर्णय के अनन्तर साहित्यदर्पण की रीति से ध्वनि निर्णय करते हैं— उक्त श्लोक में अर्थ शक्त्युद्भव ध्वनि है, अर्थशक्त्युद् भव ध्वनि—त्रिविध हैं—स्वतः सम्भवी, कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध एवं कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढ़िक्ति सिद्ध। त्रिविध ध्वनि—वस्तु एवं अलङ्कार द्विविध भेद हेतु षड् विध भेद प्राप्त हैं। षट् प्रकार भेद के मध्य में वस्तु के द्वारा वस्तु अथवा अलङ्कार, अलङ्कार के द्वारा अलङ्कार अथवा वस्तु व्यञ्जित होने से अर्थ शक्त्युद् भव ध्वनि द्वादश विध हैं। प्रस्तुत श्लोक में अलङ्कार के द्वारा स्वतः सम्भवि वस्तु व्यञ्जित है।

अतएव सर्वापेक्षा सान्द्र नन्द चमत्कार श्रीकृष्ण प्रकाश में श्रीवृन्दावन में भी परमाद्भुत प्रकाश श्रीराधा के सहित युगलित विग्रह श्रीकृष्ण हैं। अर्थात् निखिल भगवत् स्वरूपों के मध्य में श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं। द्वारका, मथुरा, वृन्दावन धामत्रय में श्रीकृष्ण का त्रिविध प्रकाश है। तन्मध्य में वृन्द वनीय प्रकाश श्रेष्ठ है। वृन्दावन में भी विचित्र लीलाविनोद निबन्धन विविध प्रकाश हैं। तन्मध्य में श्रीराधा सम्बलित श्रीकृष्ण ही परमाद्भुत प्रकाश हैं। श्रुति भी कहती है "राधया माधवो देवः" आदिपुराण में "वेदान्तिनोऽपि" पद्य के पश्चात् उक्त है—

"अहमेव परं रूपं नान्यो जानाति कश्चन। जानातिराधिका नित्यमंशानर्च्चन्ति देवताः ॥" (५९६)

हे पार्थ ! मैं ही परम रूप हूँ, अपर कोई नहीं जानते हैं। केवल राधिका जानती हैं, देवगण अंशसमूह की अर्च्चना करते हैं।

अनन्तर श्रीराधाकृष्ण का नित्यविलासी स्वरूप का वर्णन ग्रन्थकार करते हैं—जिनका चरणकमल ही मेरा एकमात्र अवलम्बन है, मदीय श्रीगुरुचरण श्रीपाद श्रीरूप गोस्वामिचरण, श्रीराधाकृष्ण का नित्यविलास का वर्णन इस प्रकार किये हैं—(भक्तिरसामृतसिन्धु २।१।२३१)

"वाचा सूचितशर्व्वरीरतिकलाप्रागल्भ्यया राधिकां, व्रीड़ाकुञ्चितलोचनां विरचयन्नग्रे सखीनामसौ। तद्वक्षोरुहचित्रकेलिमकरीपाण्डित्यपारं गतः, कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरिः ॥५८०॥

तदेवं सन्दर्भचतुष्टयेन सम्बन्धो व्याख्यातः। तस्मिन्नपि सम्बन्धे श्रीराधामाधवरूपेणैव प्रादुर्भावस्तस्य सम्बन्धिनः परमः प्रकर्षः। एतदर्थमेव व्यतानिषमिमाः सर्व्वा अपि परिपाटीरिति पूर्णः सम्बन्धः॥

गौरश्यामरुचोज्ज्वलाभिरमलैरक्ष्णोर्विलासोत्सवै-
र्नृत्यन्तीभिरशेषमादनकलावैदग्ध्यदिग्धात्मभिः।
अन्योन्यप्रियतासुधापरिमलस्तोमोन्मदाभिः सदा
राधामाधवमाधुरीभिरभितश्चित्तं ममाक्रम्यताम् ॥५८१॥

"वाचासूचितशर्व्वरीरतिकलाप्रागल्भ्यया राधिकां,
व्रीड़ाकुञ्चितलोचनां विरचयन्नग्रे सखीनामसौ।
तद्वक्षोरुहचित्रकेलिमकरीपाण्डित्यपारं गतः,
कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरिः॥" (५८०)

अन्तरङ्गा सखी कहती है—"श्रीकृष्ण, ललितादि सखीगण के सम्मुख में श्रीराधिका को उपवेशन कराकर वेशविन्यास कर रहे थे। एवं नैशलीला में राधिका की रति-विदग्धता का कीर्त्तन कर रहे थे। उसमें श्रीराधिका की प्रगल्भता प्रकाशित हुई। सखीगण के निकट वृत्तान्त वर्णित होने से श्रीराधा लज्जा से कुञ्चित नयना होगई। इस समय श्रीकृष्ण, उनके वक्षोजयुगल में केलिमकरी की रचना कर पाण्डित्य की पराकाष्ठा का प्रदर्शन किये थे। इस प्रकार कुञ्ज में विहार कर श्रीकृष्ण कैशोर को सफल किये थे।"

यहाँ श्रीकृष्ण—धीरललित हैं, एवं श्रीराधा,-स्वाधीनभर्त्तृका नायिका हैं।

अमल प्रमाण श्रीमद्भागवतस्थ सम्बन्ध, अभिधेय प्रयोजन त्रिविध विषय आलोच्य हैं। षट् सन्दर्भ नामक सन्दर्भान्तर्गत तत्त्व भगवत् परमात्म एवं श्रीकृष्ण सन्दर्भात्मक सन्दर्भ चतुष्टय में सम्बन्ध तत्त्व का वर्णन हुआ। पञ्चम सन्दर्भ—भक्ति (अभिधेय) सन्दर्भ है, एवं षष्ठ सन्दर्भ प्रीति सन्दर्भ है, इसमें प्रयोजन-तत्त्व का वर्णन होगा।

सम्बन्ध तत्त्व श्रीभगवान् श्रीकृष्ण, अभिधेय—भक्ति, प्रयोजन—प्रेम है। सम्बन्ध तत्त्व-रूप श्रीभगवान् के विविध प्रकाश हैं। उसके मध्य में श्रीराधामाधव रूप में जो प्रादुर्भाव है, उसमें ही परमोत्कर्ष विद्यमान है। तज्जन्य श्रुति कहती है—"राधया माधवो देवः" राधा द्वारा माधव दीप्तिमान् हैं। श्रीराधामाधव का परमोत्कर्ष स्थापन के निमित्त ही विचार परिपाटी का विन्यास हुआ, सम्प्रति श्रीवृन्दावन में युगलित अर्थात् कुञ्ज क्रीड़ाशील श्रीराधामाधव परम स्वरूप एवं सर्वपरतत्त्व रूप में निश्चित होने से श्रीमद्भागवतस्थ सम्बन्ध तत्त्वविचार सम्पूर्ण हुआ।

निजेष्टदेव श्रीराधामाधव युगलित विग्रह का स्वरूप वर्णन के समय श्रीविग्रहमाधुरी में लुब्धचित्त होकर ग्रन्थकर्त्ता श्रीजीवगोस्वामिचरण प्रार्थना करते हैं,—'मेरा चित्त, राधामाधव की माधुरी समूह के द्वारा सर्वदा आक्रान्त हो, माधुरी समूह का निरूपण करते हैं, गौर-श्याम की दीप्ति के द्वारा उज्ज्वल, लोचनयुगल के समान विलास उत्सव से नृत्यशील, अशेष मादन कला विदग्धता द्वारा संलिप्तात्मा, एवं अन्योन्य प्रियता सुधा परिमल समूह के द्वारा परमामोदित है।

इति कलियुगपावन-स्वभजन-विभजनप्रयं जनावतार-श्रीश्रीभगवत्कृष्णचैतन्यदेव-चरणानुचर-विश्ववैष्णव-राजसभा-सभाजन-भाजन-श्रीरूप-सनातनानुशासनभारतीगर्भे षट्सन्दर्भात्मके श्रीश्रीभागवतसन्दर्भे श्रीकृष्णसन्दर्भो नाम चतुर्थः सन्दर्भः ॥४॥

श्रीभागवतसन्दर्भे सर्व्वसन्दर्भगर्भगे। श्रीकृष्णसन्दर्भनामा सन्दर्भोऽभूच्चतुर्थकः ॥

समाप्तोऽयं श्रीश्रीकृष्णसन्दर्भः ॥

मूलम्—१८८ ; लेख्याः ३१७५ श्लोकाः

माधुरी शब्द लक्ष्मी लिंग है, मधुर शब्द के उत्तर ष्ण, ईप प्रत्यय से निष्पन्न होता है, अर्थ मधुरता है, माधुर्य्य शब्द ब्रह्मलिङ्ग है, मधुर शब्द के उत्तर ष्य प्रत्यय से निष्पन्न होता है, अर्थ, मिष्टता एवं सौन्दर्य्य है, अतः माधुरी एवं माधुर्य्य, पर्य्याय शब्द हैं। माधुर्य्य का लक्षण श्रीउज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ में इस प्रकार है—'रूपं किमप्यनिर्वाच्यं तनोर्माधुर्य्य मुच्यते" शरीरस्थ अनिर्वचनीय रूप को माधुर्य्य कहते हैं।

उक्त कथन का तात्पर्य्य यह है—अन्योन्य सम्मिलित श्रीराधामाधव का अनिर्वचनीय रूप की स्फूर्त्ति मेरा हृदय में इस प्रकार हो, जिससे अपर विषयक स्फूर्त्ति विलुप्त हो जाय। आक्रान्त-शब्द का अर्थ—अतिक्रान्त, अभिभूत, अधिष्ठित, अधिगत एवं व्याप्त है। चित्त, उस माधुरी स्फूर्त्ति से व्याप्त होकर रहे, अवकाश प्राप्त न हो। वह गौर श्रीराधा, एवं श्याम—श्रीकृष्ण की द्युति से उज्ज्वल है। अर्थात् श्रीराधा अङ्गद्युति गौर-वर्ण है, एवं श्रीकृष्ण की अङ्गद्युति श्याम-वर्ण है। यह ही मधुर-रस की अधिष्ठात्री देवता है। उभय में प्रियता सम्बन्ध है। प्रियसङ्ग हेतु श्रीराधा का दक्षिण नयन, एव श्रीकृष्ण का वाम लोचन की विचित्र भङ्गी से तरङ्गायित होकर उभय की रूप-माधुरी मानो नृत्य कर रही है। श्रीराधा-कृष्ण के अनुपम तनु मादनाख्य महाभाव के निखिल विलास नैपुण्य से परिवृत है। अर्थात् रतिरूप स्थायी भाव से आरम्भ कर महाभाव पर्य्यन्त ममत्व की निविड़ता निबन्धन निखिल भावोद्रेक हेतु परमानन्द निधान स्वरूप महाभाव है। जिससे अनन्त लीला की अभिव्यक्ति होती है। उसकी मादनानुभावरूप अनन्त अद्भुत लीला द्वारा उक्त तनुयुगल मण्डित हैं। "यत्र त्रिसर्गो मृषा" की व्याख्या में उक्त है, श्रीराधा की उपस्थिति में अपर किसी नायिका का प्रयोजन श्रीकृष्ण का नहीं होता है। श्री, भू, लीला, द्वारका-महिषी एवं निखिल व्रजसुन्दरीगत रसास्वादन एकमात्र श्रीराधा के द्वारा ही सम्पन्न होता है। श्रीराधा के द्वारा ही श्रीकृष्ण का सर्वाभीष्ट पूर्ण होता है। उक्त सर्वाभीष्ट पूर्णता का दृष्टान्त रूप में कहते हैं—"अशेष मादनकला वैदग्ध्य" प्रभृति। केवल श्रीराधा में ही मादनाख्य महाभाव की स्थिति है, सर्वभावोद्गमोल्लासी को मादन कहते हैं, उसमें निखिल भक्तगत, परिकरगत, एवं प्रेयसीगत भावों का समावेश है। मादन के विलास रूप में ही अनन्त नित्यलीला विराजित हैं, अतः अनन्त भक्तगत, अनन्त लीलागत रसास्वादन श्रीकृष्ण का एकमात्र मादन के द्वारा ही निर्वाहित होता है। उक्त मादन की अभिव्यक्ति, श्रीराधामाधव को संयोगमयी स्थिति में होती है। सुतरां ईदृशी स्थिति में श्रीकृष्ण की स्वयं भगवत्ता की पूर्णतम अभिव्यक्ति होती है। अशेष स्वरूप शक्ति की अधिष्ठात्री स्वरूप प्रेयसीवर्ग से श्रीराधा का अखण्ड रसवल्लभात्व का प्रकट भी उससे होता है। यह ही नहीं, किन्तु रसिकशेखर श्रीकृष्ण की रसास्वादन परिपाटी का चरमोत्कर्ष भी मादनाख्य महाभाव में विद्यमान है। अतएव, मादनाख्य महाभाव समन्विता श्रीराधा के सहित मिलित श्रीमाधव की माधुरी जिस हृदय में स्फुरित होती है, वहाँ सर्वाभीष्ट सिद्धि होती है। तज्जन्य ही अशेष मादनकला वैदग्ध्यदिग्ध श्रीराधामाधव माधुरी स्फूर्त्ति की प्रार्थना ग्रन्थकर्त्ता करते हैं। उक्त माधुरी, श्रीराधामाधव की अन्योन्य प्रियता (सुधा) लेपन निबन्धन जनमनोहर (परिमल) गन्ध समूह से आमोदित है। सुधा शब्द का एक अर्थ—लेपन है, एवं जनमनोहर गन्ध को परिमल कहते हैं जो विमर्दन से उत्थित होता है।

अलङ्कार ग्रन्थ में अङ्ग में कुङ्कुमादि लेपन की उक्ति है, पारस्परिक अङ्ग सङ्ग जनित विमर्दन से उक्त गन्ध विकीर्ण होती है, जिससे अन्य सखीगण भी आमोदित होती हैं, यह प्रौढ़ोक्ति है।

किन्तु श्रीराधामाधव के श्रीअङ्ग, परस्पर की प्रीति के द्वारा कुङ्कुमादिलिप्तवत् लिप्त हैं। अर्थात् प्राकृत स्थल में कुङ्कुमादि जिस प्रकार उद्दीपन विभाव है, उस प्रकार अप्राकृत श्रीराधामाधव के अङ्ग में अभिव्यक्त पारस्परिक प्रीति चिह्न ही उद्दीपन विभाव होता है। अर्थात् प्रीति चिह्न ही अनुभाव, सात्त्विक एवं सञ्चारित भाव रूप में रूपायित होकर उभय की रति को उद्दीप्त करता है।

प्रौढ़ोक्ति प्रसिद्ध अङ्गलिप्त कुङ्कुम विमर्द्दित होकर जिस प्रकार कुङ्कुम गन्ध को विकीर्ण करता है, उस प्रकार वास्तविक श्रीराधामाधव की अङ्गलिप्त प्रियता ही राधामाधव के सङ्गजनित विमर्द्दन से प्रियता को विकीर्ण करती है, श्रीराधामाधव की पारस्परिक प्रीति ही सखीवृन्द को आनन्दित करती है। सुतरां पारस्परिक प्रियता सुधा परिमल समूह से आमोदित माधुरी जिनके हृदय में बिराजित है, उनका हृदय भी श्रीराधाकृष्ण की प्रेम-सुरभी से उन्मादित होता है। यह भागवत धर्म है, "निर्मत्सराणां सतां वेद्यः" है। पूर्व चर्च्चित उपासना पद्धति का निष्कर्ष प्रतिपादन उपसहार श्लोक द्वारा हुआ है, मन्त्रमयी एवं स्वारसिकी भेद से उपासना पद्धति आपाततः दृष्टि से द्विविध हैं, मन्त्रमयी हृदवत् स्वारसिकी अविरल स्रोतवत् है। स्रोत का ही हृद होता है। अतः एकत्र अवस्थित होकर लीला सास्वादन को मन्त्रमयी उपासना कहते हैं, इससे परिकरवर्ग साधकवर्ग निश्चलान्तः करण से इष्ट की सेवा में आत्म नियोग कर सकते हैं।

मन्त्रमयी में नित्य स्थिति स्वीकृत है, किन्तु यह स्थिति में श्रीराधामाधव परव्योम नाथ के समान सतत सिंहासनारूढ़ होकर नहीं रहते हैं। न तो हृटकेश्वरवत् अनवच्छिन्न सम्भोग परायण होकर ही रहते हैं। कारण, श्रीभगवान् एवं तदनुगत महर्षिवृन्द संयोग विप्रलम्भ के द्वारा ही रसास्वादन करते हैं।

मन्त्रमयी उपासनापर नाम नित्यसंयोगमयी स्थिति में भी विभिन्न प्रकार लीला में निरत श्रीराधामाधव रहते हैं, तज्जन्य ही "अशेषमादन कला वैदग्ध्यदिग्धात्मभिः" वाक्य का प्रयोग हुआ है। मादनाख्य महाभाव का अनुभावरूप गाढ़ निकुञ्जविलास ही प्रेमरसास्वादन का परावधित्व है। यह मन्त्रोपासनामयी है, किन्तु नित्य संयोगमयी लीला के अभ्यन्तर में विप्रलम्भमयी लीला का सतत अवस्थान सर्वथा स्वीकार्य्य है। संयोग एवं विप्रलम्भ का यौगपद्यव्यतीत रसास्वादन की विचित्रता असम्भव है, नित्यस्थिति में ही साधक की साध्य प्राप्ति, निकुञ्जसेवा प्राप्ति एवं रसास्वादन की पर्य्याप्ति है। इसमें मानादि बहुविध लीला रसास्वादन की वैचित्री उद्भावित अनवरत होती रहती है। इस प्रकार नित्यस्थिति में स्वारसिकी लीला का व्याघात नहीं होता है, हृद एवं स्रोत का जिस प्रकार नित्य सम्बन्ध है, तद्रूप मन्त्रमयी एवं स्वारसिकी अनवच्छिन्न रूप से अन्योन्य मिलित होकर रहती है। यह निरुपद्रवपूर्ण नित्यसंयोगमयी स्थिति है।(५८१)

कलियुग पावन जो निज भक्ति स्वरूप भजन, उसका वितरण जीव जगत् में करने के निमित्त श्रीकृष्णाविर्भाव विशेष श्रीश्रीभगवान् श्रीकृष्णचैतन्यदेव अवतीर्ण हुये हैं। उनका चरणानुचर एवं विश्व-वैष्णव राजसभा के पूज्यपात्र श्रीरूपसनातन हैं, उनके उपदेश जिसमें विद्यमान हैं, उस भागवत-सन्दर्भ के मध्य में श्रीकृष्णसन्दर्भ नामक यह चतुर्थ सन्दर्भ है ॥१८९॥

समस्त षट्सन्दर्भ जिसके अभ्यन्तर में वर्त्तमान हैं, उसमें यह कृष्णसन्दर्भ नामक चतुर्थ सन्दर्भ है।

समाप्तोऽयं श्रीश्रीकृष्णसन्दर्भः ॥४॥

मूलम्—१८९; लेख्याः—३१७५ श्लोकाः

अष्टम्यां विमले पक्षे श्रीराधिका जनेर्द्दिने, श्रीगान्धर्वाप्रसादेन टीकेयं पूर्णतागता।
शास्त्रिणा हरिदासेन वृन्दारण्यनिवासिना पूरिता हरिता टीका सज्जनसुखदायिनी।
चन्द्रे ग्रहेशरे शून्ये नभस्ये हरिभास्वरे बुधज्येष्ठासमायुक्ते टीकेयं पूरितामया ॥

श्रीचैतन्याब्द ४९७

श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम्

श्रीहरिदासशास्त्री सम्पादिता ग्रन्थावली

१। वेदान्तदर्शनम् "भागवतभाष्योपेतम्"	६०.००
२। श्रीनृसिंह चतुर्दशी,	२.००
३। श्रीसाधनामृतचन्द्रिका	४.००
४। श्रीगौरगोविन्दार्चन पद्धति	३.५०
५। श्रीराधाकृष्णार्चन दीपिका	२.००
६-७-८। श्रीगोविन्दलीलामृतम्	८०.५०
९। ऐश्वर्यकादम्बिनी,	५.००
१०। संकल्पकल्पद्रुम	५.००
११। चतुःश्लोकी भाष्यम् १२। श्रीकृष्णभजनामृत	५.००
१३। श्रीप्रेमसम्पुट,	५.००
१४। भगवद्भक्तिसार समुच्चय	५.००
१५। व्रजरीतिचिन्तामणि,	५.००
१६। श्रीगोविन्दवृन्दावनम्	१.५०
१७। श्रीराधारससुधानिधि(मूल,)	१.००
१८। ,, (सानुवाद)	५४.००
१९। श्रीकृष्णभक्तिरत्नप्रकाश,	६.००
२०। हरिभक्तिसारसंग्रह	१५.००
२१। श्रुतिस्तुति व्याख्या,	२०.००
२२। श्रीहरेकृष्णमहामन्त्र	१.००
२३। धर्मसंग्रह,	४.००
२४। श्रीचैतन्य सूक्तिसुधाकर	४.००
२५। सनत्कुमार संहिता,	२.५०
२६। श्रीनामामृतसमुद्र	०.५०
२७। रासप्रबन्ध,	५.००
२८। दिनचन्द्रिका	२.००
२९। श्रीसाधनदीपिका,	१५.००
३०। चैतन्यचन्द्रामृतम्	५.००
३१। स्वकीयात्वनिरास परकीयात्वप्रतिपादन,	२०.००
३२। श्रीगौराङ्गचन्द्रोदयः,	६.००
३३। श्रीब्रह्मसंहिता	२७.००
३४। प्रमेयरत्नावली, ३५। नवरत्न	१३.००
३६। भक्तिचन्द्रिका,	१२.००

३७। वेदान्तस्यमन्तक
३८। श्रीभक्तिरसामृतशेषः,
३९। दशश्लोकी भाष्यम्
४०। गायत्री व्याख्याविवृतिः,
४१। श्रीचैतन्यभागवत
४२। श्रीचैतन्य मङ्गल
४३। श्रीचैतन्यचरितामृतमहाकाव्यम्
४४। तत्त्वसन्दर्भः,
४५। भगवत्सन्दर्भः
४६। परमात्मसन्दर्भः,
४७। कृष्णसन्दर्भः
४८। श्रीगौराङ्गविरुदावली
४९। सत्सङ्गमः
५०। श्रीचैतन्यचरितामृतम्
५१। नित्यकृत्यप्रकरणम्
५२। श्रीमद्भागवत-प्रथमश्लोक
वङ्गाक्षर में मुद्रित
५३। श्रीबलभद्र-सहस्रनामस्तोत्रम्
५४। दुर्लभसार
५५। माधवोल्लासः
५६। भक्तिचन्द्रिका
५७। श्रीराधारससुधानिधि (मूल)
५८। ,, (सानुवाद)
५९। भगवद्भक्तिसार समुच्चय
६०। भक्तिसर्वस्व
६१। मनःशिक्षा
६२। पदावली
६३। श्रीसाधनामृतचन्द्रिका

प्रकाशनरत ग्रन्थरत्न—

१। श्रीहरिभक्तिविलासः।
२। श्रीहरिनामामृत-व्याकरणम्, ३। भक्तिम
४। प्रीतिसन्दर्भः ५। श्रीचैतन्यचरितामृत
(श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी कृत)
६। अलङ्कार-कौस्तुभ (प्रभृति)

सद्ग्रन्थ प्रकाशन **श्रीहरिदास शास्**
श्रीगदाधरगौरहरि प्रेस, श्रीहरिदास निव